कृषकों पर ऋण इतना बढ़ा हुआ है कि ग्राम्यजीवन से संबन्धित आर्थिक बातों पर ध्यान देने के लिये एक शाखा अलग बनाई गई है। खेती की उन्नति करने वाली रीतियों, ग्रामों की स्वच्छता, उपज को उपयुक्त बाजारों में लेजाने के ठीक उपाय, पानी लगाने का कार्य और समय पर प्राप्त होने वाली वस्तुएं, ये सब बातें अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आती हैं। धनवानों और श्रमजीवियों का यह झगड़ा कि वेतन अधिक मिले, अवकाश का समय अधिक हो, जिससे श्रमजीवियों की दशा ठीक होजाय, ये सब बातें राजशास्त्र से लेता है। जितना राजशास्त्र और अर्थशास्त्र का परस्पर घनिष्ठ संबंध इस युग में है उतना कदाचित् ही किसी युग में रहा होगा। आधुनिक काल में राज्य की बहुत सी बातें आर्थिक नीति पर अवलम्बित हैं। पूंजीपतियों और श्रमजीवियों में क्या संबन्ध है? और क्या होना चाहिये? देश की सम्पत्ति की किस प्रकार वृद्धि की जाय? किस किस वस्तु पर कैसे कैसे कर लगाये जायें? देश के लिये संरक्षण लाभदायक है अथवा अबाध्यावणिज्य नीति? ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिनका संबंध अर्थशास्त्र और राजशास्त्र, दोनों से है। अतः यह बात स्पष्ट है कि राजशास्त्र का अर्थशास्त्र से घनिष्ट संबंध है।

राजशास्त्र और समाजशास्त्र—समाजशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत है और उसका संबंध समाज की भिन्न भिन्न बातों से है। समाजशास्त्र में मनुष्य की सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन होता है और यह बात राजशास्त्र में भी पाई जाती है परन्तु अन्तर इतना है कि राजशास्त्र में राजनैतिक संस्थाओं के वर्तमान

सामाजिक संगठनों को स्थापित करना तथा अनुचित सामाजिक संगठनों को, जिन से समाज का पतन हो, नष्ट करना राज्य का कर्तव्य है। इन बातों से पता चलता है कि राजशास्त्र का समाजशास्त्र से कितना घनिष्ट संबंध है।

राजशास्त्र और आचारशास्त्र (Ethics)—आचारशास्त्र में हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि बुराई क्या है? और भलाई क्या है? मनुष्य को बुराइयों से बचना चाहिये; भले कार्य करने चाहिये। मनुष्य को ईश्वर से डरकर अनुचित कार्य नहीं करने चाहिये। आत्मोन्नति के कार्य करने चाहिये। इन सब बातों पर विचार करते हुए हमको पता चलता है कि इनमें से कितनी बातों का सम्बन्ध राजशास्त्र से है। मनुष्य के जीवन में कार्य करने के दो पार्श्व हैं—एक व्यक्तिगत दूसरा सामाजिक। ऊपर लिखी बातों का जहाँ तक मनुष्य का व्यक्तिगत सम्बन्ध है वहाँ तक राजशास्त्र का इन बातों से कोई संबंध नहीं है, परन्तु जहाँ मनुष्य का समाज से संबंध है वहाँ ऊपर लिखी सब बातें राजशास्त्र से संबंध रखती हैं। राज्य का यह कर्तव्य है कि समाज को बुराई और भलाई का भेद बताये। बुरी बातों के लिये राज्य दंड देता है। यदि कोई मनुष्य अपने घर के भीतर जुआ खेलता, शराब पीता तथा अन्य इस प्रकार की बुराई करता है तो वह उसका व्यक्तिगत विषय हो जाता है। परन्तु जब मनुष्य अपने घर के बाहर किसी सार्वजनिक स्थान अथवा मार्ग पर इस प्रकार के कार्य करता है तो वह राज्य की विधि (क़ानून) के अन्तर्गत दंड का भागी हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने घर, मंदिर मस्जिद, गिरजा आदि में किसी प्रकार की धार्मिक बातें कर सकता है और वह उसका व्यक्तिगत विषय समझा जायगा। परन्तु जब वही मनुष्य अपने धर्म के अनुसार किसी जन साधारण के स्थान, मार्ग अथवा किसी दूसरे धर्म के पूजा अथवा प्रार्थना-स्थान पर कोई ऐसा कार्य करता है जो दूसरों को घृणित प्रतीत हो तो वह राज्यविधि के अन्तर्गत दंड का भागी हो जाता है। राज्य का यह उद्देश्य होना चाहिये कि जिस प्रकार हो सके मनुष्यों के आचार की उन्नति करे, जनता को सदाचारी बनाये। सब श्रेष्ठ राज्यों में इन बातों की ओर ध्यान दिया जाता है। इन बातों से प्रकट होता है कि राजशास्त्र का आचारशास्त्र से कितना घनिष्ट संबंध है। प्लैटो का मत है कि "राज्य को चाहिये कि मनुष्यों को सदाचार की शिक्षा दे" वह राजशास्त्र और आचारशास्त्र को पृथक् पृथक् नहीं समझता था। उसके लिये यह दोनों शास्त्र एक ही थे। उसके शिष्य अरस्तू ने राजशास्त्र और आचारशास्त्र को पृथक् पृथक् समझा। परन्तु वह इन दोनों का घनिष्ट संबंध

※ विषय-सूची ※

भाग २

अध्याय | विषय | पृष्ठ

राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त

अध्याय १

विषय-प्रवेश

सृष्टि के आदि में मानव-जाति की उत्पत्ति के प्रारम्भ से ही मानव-ज्ञान की निरन्तर उन्नति होती चली आ रही है। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, दार्शनिक तथा जन साधारण द्वारा जो मानव-ज्ञान की वृद्धि हुई है उसका अनुभव आज हम भली भाँति कर सकते हैं। तत्ववेत्ताओं ने इस ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्राकृतिक विज्ञान, दूसरा सामाजिक विज्ञान। प्राकृतिक विज्ञान क्षेत्र के अन्तर्गत रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, गणित, भूगर्भ विद्या, इत्यादि हैं। इतिहास, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि, सामाजिक विज्ञान क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इस पुस्तक में हम अपने विषय को राजशास्त्र तक ही सीमित रखेंगे। परन्तु जिस प्रकार एक मुद्रा के दो पार्श्व होते हैं उसी प्रकार विज्ञान के प्रत्येक विषय के दो पार्श्व हैं—एक सैद्धान्तिक, दूसरा व्यावहारिक। अतः राजनैतिक विज्ञान के व्यावहारिक पार्श्व का साधारण वर्णन करते हुए हम उसके सैद्धान्तिक पार्श्व की विशेष रूप से विस्तृत विवेचना करेंगे।

राजशास्त्र का महत्व—प्रथम महासमर (१९१४–१८) के अन्त से संसार में मानव जाति के दैनिक जीवन में बड़ा परिवर्तन हो गया है। मनुष्य समाज के साधारण जीवन में कोई इतना महत्वपूर्ण तथा आकर्षक विषय प्रतीत नहीं होता जितना राजनीति। उदाहरणार्थ, अपने ही देश को लीजिए। इस महासमर से पूर्व हमारे देशवासी राजनैतिक विषय पर कभी इतना ध्यान नहीं देते थे। हमारे देश की ९० प्रतिशत जनता ग्रामीण है। ये ग्राम निवासी शताब्दियों से एक सी दशा में रहते चले आ रहे थे। भारतवर्ष पर अनेकों आक्रमण हुए, अनेक बार राज्य परिवर्तन हुए तथा क्रान्तियाँ हुईं, परन्तु यहाँ की साधारण ग्रामीण जनता के ऊपर इन घटनाओं का कोई विशेष प्रभाव न

पड़ा और ज्यों की त्यों अपनी सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति में अचल रही परन्तु प्रथम महासमर (१९१४-१८) के अन्त से भारत की जनता की दशा बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। प्रत्येक भारतवासी समाचारपत्रों को सुनना, देखना, पठन-पाठन करना तथा उनके राजनैतिक विषयों पर आलोचना करना अपना कर्तव्य समझने लगा है। जो बात नगर के निकट के ग्रामों में दृष्टिगोचर होती है वही बात नगर अथवा रेल के स्टेशनों से सैकड़ों मील दूरस्थ ग्रामों की जनता में भी दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य अपने जीवन के दोनों पार्श्वों (व्यक्तिगत तथा सामाजिक) को भली प्रकार जान गया है। अपने व्यक्तिगत अधिकार और कर्त्तव्यों को समझता हुआ मनुष्य अपने को समाज का एक मुख्य अंग समझता है, और समाज का मुख्य अंग समझते हुए वह समाज के प्रति अपने अधिकार तथा कर्त्तव्यों को भली प्रकार समझता है केवल समाज का अंग ही नहीं बल्कि वह अपने को एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित समाज का अंग समझता है। सारांश यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति अपने को राजनैतिक समुदाय का एक मुख्य अंग समझता है।

प्रथम महासमर के पश्चात् रूस में जो समाजवाद की लहर उठी उसके प्रभाव से यूरोप और एशिया का कोई विरला ही देश वंचित रहा होगा। संसार में शान्ति स्थापित रखने तथा राष्ट्रों में परस्पर मित्र-भाव की वृद्धि करने के प्रयोजन से स्थापित की गई "लीग आफ नेशन्स" केवल मृगतृष्णा के रूप में परिवर्तित हो गई, और जापान का चीन पर आक्रमण तथा इटली का अबीसीनिया पर अत्याचार प्रारम्भ होते ही लीग का अन्त हो गया।

द्वितीय महासमर (१९३९–१९४५) के अन्त में मनुष्य के राजनैतिक विचारों में और अधिक परिवर्तन हुआ। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की लहर सारे संसार में बिजली की भांति फैल गई। इसी लहर में संसार के अधीन देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना तथा मित्र-भाव की स्थापना तथा वृद्धि करने के लिये "संयुक्त राष्ट्र" की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य विश्व में शान्ति रखना है। सब मनुष्यों में समान व्यवहार की भावना जागृत हो गई है। [illegible] अब [illegible] अपने को एक ग्राम अथवा नगर का [illegible] ही नहीं समझता है बल्कि वह अपने को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति समझता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में उतना ही ध्यान देता है जितना कुछ वर्ष पूर्व वह अपने देश के विषयों में देता था। अब इस बात को [illegible] है कि संयुक्त-राष्ट्र में आजकल क्या हो रहा है? [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुधारने

के लिये संयुक्त राष्ट्र क्या कर रहा है ? रूस के विचार अमरीका के प्रति कैसे हैं ? अमरीका की जापान में क्या नीति बरती जा रही है ? इत्यादि । मनुष्य के विचार में अब ऐसी बातें अधिक आती हैं । अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर उसका ध्यान अधिक दौड़ता है । इन बातों से प्रतीत होता है कि मनुष्य का विचार क्षेत्र अब कितना विस्तृत हो गया है । एक समय ऐसा आवेगा जब प्रत्येक व्यक्ति अपने को सार्वभौमिक-राष्ट्र का एक सदस्य समझेगा क्योंकि यातायात के साधन इतनी उन्नति कर चुके हैं और कर रहे हैं कि संसार का कोई भी देश कुछ घंटों की यात्रा की दूरी पर रह जायगा और रेडियो, तार-यन्त्र तथा दूरभाष द्वारा आज भी हम यहां बैठे हुए संसार के किसी भाग में स्थित व्यक्ति से क्षण भर में वार्तालाप कर सकते हैं ।

राजशास्त्र क्या है ?—राजशास्त्र, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, समाजशास्त्र का एक अंग है । समाजशास्त्र में मनुष्यजीवन के प्रत्येक पार्श्व का वर्णन आ जाता है । मनुष्य जीवन की प्रत्येक घटना, प्रत्येक कार्य तथा दशा का संबन्ध समाजशास्त्र से है । मनुष्य के जन्म से मरण-पर्यन्त उसके जीवन से सम्बद्ध जितने कार्य हैं वे सब समाजशास्त्र के अन्तर्गत हैं । अतः मनुष्य की आर्थिक अवस्था, धार्मिक अवस्था, राजनैतिक अवस्था, रहन-सहन, यह सब विषय समाजशास्त्र के भीतर आजाते हैं । मनुष्य की राजनैतिक अवस्था, अर्थात् मानव समाज का एक विशेष ढंग से शासक और शासित के रूप में संगठित होना राजशास्त्र से सम्बन्ध रखता है । राजशास्त्र का सम्बन्ध राज्य से है, राज्य का शासक और शासित से घनिष्ट सम्बन्ध है । शासक और शासित के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन राजशास्त्र में किया गया है । शासक के शासित के प्रति तथा शासित के शासक के प्रति क्या-क्या अधिकार और कर्त्तव्य हैं ? शासक कितने प्रकार के होते हैं ? आदर्श शासक किसे कहते हैं ? आदर्श शासक के क्या गुण है ? कौन सी बातें राज्य के लिये आवश्यक हैं ? राज्य के कौन कौन से मूलतत्व हैं ? इन सब बातों का वर्णन राजशास्त्र में किया गया है । राजशास्त्र वह शास्त्र अथवा विज्ञान ह जिसमें राज्य (State) के शासन, गुण, कर्म, धर्म तथा उसके भिन्न-भिन्न रूपों की विवेचना की जाती है ।

प्राचीन यूरोपीय राजशास्त्र वेत्ताओं ने राजशास्त्र संबन्धी विषयों के लिये शब्द 'पोलिटिक्स' (Politics) प्रयोग किया है । यूनान के प्रसिद्ध राजशास्त्र वेत्ता अरस्तू ने 'पोलिटिक्स' नाम की एक पुस्तक लिखी है जिसमें उसने राज्य सम्बन्धी सब विषयों का वर्णन किया है । शब्द 'पोलिटिक्स' 'पोलिस' (Polis) शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है 'नगर-राज्य' (City-

State) । जेलिनेक (Jellinek), होल्जन्डोर्फ़ (Holtzendorff), और सिजविक (Sidgwick) आदि लेखकों ने वर्तमान काल में प्रचलित शब्द "राजनैतिक विज्ञान" (Political Science) के स्थान पर केवल शब्द "राजनीति" (Politics) ही प्रयोग किया है। प्रसिद्ध जर्मन राजशास्त्र वेत्ता ब्लंशली (Bluntschli) लिखता है कि "राजशास्त्र उस शास्त्र का नाम है, जिसमें राज्य के तत्त्वों का, उसकी मूल प्रकृति का, उसके गुणधर्म का, उसके विविध रूपों और विकास का वर्णन रहता है।" गैरियस (Garics) नाम का जर्मन राजशास्त्र वेत्ता लिखता है कि 'राजशास्त्र राज्य की शक्ति की संस्था, राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य और आदर्श पर विचार करता है।" फ्रान्स का प्रसिद्ध राजशास्त्र वेत्ता पाल जैनेट (Paul Janet) लिखता है कि "राजशास्त्र समाजशास्त्र का वह भाग है जो राज्य के मूल और शासन के तत्वों पर विचार करता है।" प्रोफेसर सीली (Seeley) लिखता है कि "राजशास्त्र शासन के सिद्धान्तों और कार्यों का उसी प्रकार विवेचन करता है जिस प्रकार अर्थशास्त्र संपत्ति का, जीवनशास्त्र जीवन का और बीजगणित संख्यों का।"

इन सब मतों पर विचार करके हम यह परिणाम निकालते हैं कि राजशास्त्र वह शास्त्र अथवा विज्ञान है जो राज्य अथवा शासक तथा शासित सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर प्रकाश डालता है और राज्य की उत्पत्ति, मूल प्रकृति, स्वरूप तथा उसके विविध रूपों तथा विकास की विवेचना करता है।

सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Frederick Pollock) ने राजशास्त्र को दो भागों में विभाजित किया है—

(१) सैद्धान्तिक राजशास्त्र (Theoretical Politics) और

(२) व्यावहारिक राजशास्त्र (Applied Politics)।

सैद्धान्तिक राजनीति

(१) राज्य के सिद्धान्तों का अर्थात् उनके मूलतत्त्व, गुण, धर्म और आदर्शों की व्याख्या।

(२) शासन सिद्धान्त अर्थात् शासन-सम्बन्धी संस्थाओं, विभाग-व्यवस्था, राज्यकर, विधि (कानून) आदि के सिद्धांतों की व्याख्या।

(३) विधि निर्माण सिद्धान्त अर्थात् इसमें क़ानून की उत्पत्ति, उद्देश्य, विकास आदि की व्याख्या की जाती है।

व्यावहारिक राजनीति

(१) राज्य के व्यावहारिक तथा प्रत्यक्षरूप अथवा शासन की व्याख्या।

(२) शासन के व्यावहारिक और प्रत्यक्ष रूप की व्याख्या जिसमें पृथक्-पृथक् शासन प्रणालियों का वर्णन तथा विश्लेषण होगा।

(३) विधि (क़ानून) का व्यावहारिक प्रयोग।

सैद्धान्तिक राजशास्त्र और व्यावहारिक राजशास्त्र में यह अन्तर है कि सैद्धान्तिक राजशास्त्र में राज्य के मूलतत्त्वों, लक्षणों, उद्देश्य तथा आदर्शों और गुणों का वर्णन किया जाता है और व्यावहारिक राजशास्त्र में यह बताया जाता है कि इन मूलतत्वों, लक्षणों, उद्देश्यों तथा आदर्शों और गुणों को किस प्रकार एक राज्य में कार्य रूप में परिणत कर सकते हैं, किस प्रकार इन बातों का प्रयोग किसी राज्य में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जनतन्त्रवाद में उसके सिद्धान्तों की विवेचना का उल्लेख है। उसमें यह वर्णन किया गया है कि जनतंत्रवाद के क्या क्या मूलतत्व हैं, उसके क्या क्या उद्देश्य हैं; जनतन्त्रवाद में शासन की क्या प्रणाली है? इन सब बातों की व्याख्या जनतन्त्रवाद में वर्णन की गई है। जब जनतन्त्रवाद के सिद्धांतों पर राज्य-शासन किया जाता है और उसके मूलतत्व, शासन-व्यवस्था, विधि तथा अन्य बातों को जब राज्य में कार्य रूप में परिणत किया जाता है तो वह व्यावहारिक राजशास्त्र कहलाता है।

राजनैतिक-दर्शन (Political Philosophy)—ऊपर बताया जा चुका है कि राजशास्त्र वेत्ताओं ने राजशास्त्र को दो भागों में विभक्त किया—एक सैद्धान्तिक, दूसरा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक भाग में राजशास्त्र के सब सिद्धांत,

ईसाई धर्म का मानने वाला ही इनके मत के अनुसार एक आदर्श नागरिक है । सेण्ट आगस्टाइन ने अच्छे राज्य (State) को 'ईश्वर का नगर' (City of-God) बताया है । राजशास्त्र के मूलतत्व और लक्षण धर्म के आधार पर निश्चित किये हैं । एक्वाइनस ने राज्य (State) के मूलतत्वों का वर्णन करते हुए विधि (Law) को सबसे अधिक महत्त्व दिया है । उसके अनुसार राज्य का सबसे महत्वपूर्ण आधार विधि है । विधि के चार विभाग किये हैं—(१) अनन्त विधि, (२) प्राकृतिक विधि, (३) ईश्वरीय विधि, और (४) मानव विधि ।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में मैकियावेली (Machiavelli) सबसे प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक हुआ है । उसने अपनी 'प्रिंस' (Prince) नाम की पुस्तक में राज्य-शास्त्र के सिद्धांतों का वर्णन किया है । उसने शासक और शासित के सम्बन्ध को कुटिल-नीति पर अवलम्बित किया है और उसकी कुटिल नीति में आत्मिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों को कोई स्थान नहीं है ।

आधुनिक काल के अन्य सबसे प्रसिद्ध राजनीति के दार्शनिक ग्रीन और मार्क्स (Green and Marx) हैं । ग्रीन ने आदर्शवादी सिद्धांतों का समर्थन किया है और राज्य का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति ही बताया है । मार्क्स ने मनुष्य के आर्थिक जीवन को ही राज्य में सबसे महत्वपूर्ण बताया है । राज्य का आधार मनुष्य का आर्थिक जीवन है । उसने आदर्शवाद और धर्म को तिलांजलि दे दी है । धर्म को उसने 'मनुष्यों की अफीम' (Opium of the people) बताया है । महात्मा गांधी राजनीति के दार्शनिक थे । इनके मत के अनुसार राज्य का आधार सत्य और अहिंसा है । इन्होंने प्राचीन वैदिक सिद्धांतों का अनुकरण किया है और 'राम-राज्य' की आधारशिला, व्यक्ति की महत्ता, समता, आध्यात्मिक उन्नति को माना है । इनका कथन है कि इन्हीं सिद्धांतों को राज्य के आधार बनाने पर ही विश्व में शान्ति स्थापित रह सकेगी ।

राजनीति विज्ञान (Political Science)—जब हम राज-शास्त्र के व्यावहारिक पार्श्व की विवेचना करते हैं, राज्य की रचना, राज्य के कर्त्तव्य, राजनैतिक संस्थाओं की प्रकृति आदि पर विचार करते हैं तथा राज-शास्त्र के सिद्धांतों को राज्य में व्यवहार में लाते हैं तो हम राजशास्त्र को राजनीति विज्ञान समझकर उसका विन्यास करते हैं । राजनीति-विज्ञान की परिभाषा पालजैनेट ने इस प्रकार की है "राजनीति-विज्ञान समाजशास्त्र का वह भाग है जो राज के मूल और शासन के तत्वों पर विचार करता है ।"

बतलाते हुए लिखता है कि 'मनुष्य के उच्च सदाचार का राजनैतिक प्रश्नों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।' अरस्तू के मतानुसार राज्य का उद्देश्य है जनता की भलाई करना तथा मनुष्यों के जीवन को आनन्दमय बनाना। मैकियावेली ने लिखा है 'धर्म और सदाचार राज्य के स्वामी अथवा अभय पथ प्रदर्शक नहीं हैं अपितु राज्य के उपयोगी सेवक तथा घटक (agent) हैं।' लार्ड-ऐक्टन (Lord Acton) कहता है कि 'महत्वपूर्ण प्रश्न तो इस बात का अन्वेषण करता है कि राज्य-शासन को क्या निर्धारित करना चाहिये ? न कि यह कि वह क्या निर्धारित करता है ?'। आइवर ब्राउन (Ivor Brown) कहता है कि राजनीति आचारशास्त्र का केवल दीर्घ स्वरूप है। राजनैतिक सिद्धान्तों के बिना नैतिक (ethical) सिद्धान्त अपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह भली प्रकार अकेला नहीं रह सकता। बिना नैतिक सिद्धान्त के राजनैतिक सिद्धान्त में अकर्मण्यता आजाती है। राजनैतिक अध्ययन का फलित होना हमारी आचारिक योजना अर्थात् हमारे भले बुरे विचारों पर ही निर्भर हैं।' कैटलिन का मत है कि 'नैतिक शास्त्र (ethics) से एक राजशास्त्रवेत्ता यह शिक्षा ले सकता है कि कौनसा कार्य करना वाञ्छनीय होगा और राजनैतिक-विज्ञान से यह शिक्षा ले सकता है कि कौनसा कार्य करना संभव होगा'।

राजशास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology)—मनोविज्ञान हमको यह बतलाता है कि हमारा मन वाह्य उत्तेजनाओं को पाकर क्या प्रतिक्रिया करता है ? हमारी विचारशक्ति किस प्रकार कार्य करती है ? जिस परिस्थिति मे हम रहते हैं उसका हमारे चित्त पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कौन कौन सी बातें हम आन्तरिक प्रेरणा (Instinct) से करते हैं ? कैसी कैसी बातों का अज्ञात रीति से हम अनुकरण करते हैं। वाह्य संकेतों (suggestions) का हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है ? मनोविज्ञान का अधिक घनिष्ट संबंध मनुष्य के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन से है परन्तु राजशास्त्र से भी इसका बड़ा घनिष्ट संबंध है। मनोविज्ञान बहुत प्राचीन विज्ञान नहीं है। आधुनिक काल में मानव समाज प्रत्येक विषय को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है। 'ई, बारकर (E. Barker) का कथन है कि मानव जीवन के प्रत्येक कार्य को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखना आधुनिक काल का रिवाज होगया है।' समय समय पर राजनीतिज्ञों ने मनोविज्ञान की सहायता से राजनैतिकक्षेत्र में बड़े बड़े लाभ उठाये हैं। मैकियावेली ने तत्कालीन इटली की दशा को सुधारने में इटली वालों की मनोवृत्ति से

मनोविज्ञान द्वारा लाभ उठाकर देश की दशा कुछ से कुछ करदी, उसने इटली का उद्धार करदिया। गार्नर (Garner) का कथन है कि 'शासन को स्थिर और लोकप्रिय बनाने के लिये प्रजा की मनोवृत्ति और सामाजिक भावना पर विमर्श करना और उनको कार्य रूप में परिणत करना आवश्यक है।' हिटलर ने जर्मनी वालों के मनोभाव को जाना और उनकी मनोवृत्ति से लाभ उठाकर द्वितीय महायुद्ध का बीजारोपण किया। महात्मा गान्धी को हम बड़ा योग्य मनोविज्ञानवेत्ता कह सकते हैं। उन्होंने अंग्रेजों की मनोवृत्ति को भली भांति समझा था। वे जानते थे कि उनके आचार विचारों में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकते थे। उन्होंने भारतवासियों के मनोविज्ञान को समझा। उन्होंने भली प्रकार इस बात को जान लिया कि सत्य और अहिंसा के भाव भारत की ग्रामीण जनता में अधिक शीघ्र और सफलतापूर्वक उत्पन्न किये जा सकते हैं। अतः उन्होंने ग्राम ग्राम में भ्रमण किया और ग्रामीणों के सम्पर्क में आकर अपने सिद्धान्तों के बीज उनके हृदय में बोये। इनसे पूर्व किसी ने मनोविज्ञान से इतना लाभ नहीं उठाया। किसी देश के लोग स्वभाव से प्रजातंत्रवादी होते हैं, और किसी देश के लोग स्वभाव से समाजवादी होते हैं। किसी राष्ट्र की शासन पद्धति तथा रीति-रिवाज उस राष्ट्र के मनोविज्ञान से घनिष्ट संबंध रखते हैं। जैसी जनता की मनोभावना होती है उसी प्रकार के परिवर्तन राज्यशासन-प्रणाली में होते चले जाते हैं।

ई. बार्कर ने मनोवैज्ञानिक प्रणाली में कुछ त्रुटियाँ बतलाई हैं। वह कहता है कि मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में किसी वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। वह मनुष्य के मस्तिष्क को एक यंत्र के समान समझाता है। जैसे किसी यंत्र में एक बटन दबाने से एक विशेष कार्य होने लगता है उसी प्रकार बाह्य उत्तेजनाओं (Stimuli) का प्रभाव पड़ने पर मनुष्य का मस्तिष्क एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। अतः राजनैतिक क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रणाली सफल नहीं हो सकती। बार्कर का दूसरा तर्क मनोविज्ञान के विरुद्ध यह है कि मनोविज्ञान असभ्य आन्तरिक प्रेरणाओं के आधार पर सभ्य जीवन का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करता है, यह विकासवादी प्रणाली के अनुसार ठीक नहीं है। तीसरे तर्क में बार्कर कहता है कि एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडोगल (Mac Dougall) ने समाज में आन्तरिक प्रेरणाओं की उत्पत्ति का पूर्ण विवरण दिया है परन्तु इस बात को स्पष्ट नहीं किया है कि ये आन्तरिक प्रेरणाएँ समाज में क्या प्रभाव उत्पन्न करती हैं? बार्कर का यह

प्रयोजन है कि मनोविज्ञान का समाज पर कोई राजनैतिक प्रभाव नहीं पड़ता है। बार्कर अन्तिम तर्क में कहता है कि कैटलिन (Catlin) के मतानुसार मनोविज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक कार्यों से है अर्थात व्यक्तिगत मस्तिष्क से है, और यह मानसिक कार्य वस्तु निरीक्षण तक ही सीमित है। राजनीति का सम्बन्ध सामाजिक मनोवृत्ति से है।

बार्कर के इन तर्कों पर विचार करके हम यह कह सकते हैं कि यह बातें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती हैं। मनोविज्ञान राजशास्त्र में बड़ा महत्व रखता है। आधुनिक काल में शासन प्रणाली जनसाधारण की मनोवृत्ति के अनुसार निर्धारित की जाती है।

राजशास्त्र और न्यायशास्त्र (Jurisprudence)—न्यायशास्त्र को विधिशास्त्र अथवा विधान शास्त्र भी कह सकते हैं। संविधानशात्र (Constitutional Law) राज्य के अंग और उपांगों की व्याख्या करता है तथा इन अंग और उपांगों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट करता है। भिन्न-भिन्न न्यायशास्त्रवेत्ताओं ने विधि (Laue) की भिन्न प्रकार से परिभाषा की है। राज्य के अधिपति अथवा सर्वप्रधान की आज्ञा 'विधि' है। राजकार्यों का संचालन विधान द्वारा होता है। प्रत्येक राज्य के लिये उसका अपना निजी विधान होता है। चाहे वह विधान लिखित हो चाहे रीति रिवाज पर निर्भर हो। प्रत्येक राज्य का कार्य इन्हीं विधि विधान द्वारा किया जाता है। छोटे से छोटे व्यक्ति से लेकर बड़े से बड़े तक विधान को कोई नहीं तोड़ सकता। उसके तोड़ने वाले को विधि के अनुसार दंड मिलता है। विधि-विधान राज्य द्वारा बनाये जाने पर राज्य के संचालक उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते। विधि अथवा न्यायशास्त्र स्वयं एक पूर्ण शास्त्र है परन्तु उसका राजशास्त्र से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। राजशास्त्र और न्यायशास्त्र एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक सफलतापूर्वक तभी कार्य कर सकता है जब दूसरा पूर्णरूप से उसके साथ सहयोग करे। अतः राजशास्त्र और न्यायशास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध है।

राजशास्त्र और भूगोल—भूगोल पढ़ने से हमको यह पता चलता है कि जैसी भूमि और जलवायु में मनुष्य रहता है उस प्रकार का उसका रहन-सहन तथा स्वभाव होजाता है। संसार के जलवायु के हिसाब से तीन विशेष भाग हैं—शीत, शीतोष्ण तथा उष्ण। शीत और उष्ण जलवायु में रहनेवाले मनुष्यों के स्वभाव, रहन-सहन आदि में बड़ा अन्तर है। साधारणतया शीत जलवायु के लोग अधिक स्वस्थ और क्रियाशील होते हैं। उष्ण जलवायु के

लोग निर्बल और आलसी होते हैं। शीतोष्ण जलवायु वाले स्थानों के मनुष्यों की दशा इन दोनों प्रकार के लोगों के मध्य की है। शीत जलवायु के लोगों का स्वभाव स्थिर और शान्त होता है, इसके विपरीत उष्ण जलवायु वाले लोगों का स्वभाव चंचल और उत्तेजित होता है। इसी प्रकार लोगों के स्वभाव का प्रभाव उनकी शासन-प्रणाली पर पड़ता है। अरस्तू ने सबसे पहले इस बात को स्पष्ट किया कि मनुष्य की राजनैतिक संस्थाओं और राष्ट्रीय आचारों पर भूगोल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बोदां (Bodin) ने सोलहवीं शताब्दी में इस बात का समर्थन किया और भिन्न भिन्न प्रकार की जलवायु के लोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की शासन-प्रणाली बतलाई। रूसो (Rousseau) ने भी भिन्न भिन्न प्रकार की जलवायु को भिन्न भिन्न प्रकार की शासनप्रणालियों से संबद्ध किया है। रूसो ने उष्ण जलवायु वाले लोगों के लिये स्वेच्छाचारी-शासन अत्यन्त स्वाभाविक बतलाया है। शीत देशों के लिये बर्बरता (barbarism) और साधारण जलवायु के लोगों के लिये जनतन्त्र-शासन ठीक बतलाया है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में थोमस बकल (Thomas Buckle) ने बतलाया कि किसी राष्ट्र के आचार विचारों पर वहाँ की भौगोलिक दशा का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। वह कहता है कि मनुष्य की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर और उनकी संस्थाओं पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। हमारा भी यही विश्वास है कि मनुष्य की राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं पर भूगोल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। किसी देश के व्यवसाय तथा उद्योग धंधों पर भी भूगोल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। राज्य का मनुष्यों के व्यवसाय तथा उद्योग धंधों से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। राज्य को भिन्न भिन्न प्रकार के नियम इनके सम्बन्ध में बनाने पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि राज्यशास्त्र का भूगोल से घनिष्ट सम्बन्ध है।

राजशास्त्र और नागरिकशास्त्र—नागरिकशास्त्र में यह बतलाया गया है कि एक मनुष्य के उसके कुटुम्बियों पड़ोसियों ग्राम तथा नगर निवासियों के प्रति क्या क्या कर्तव्य और अधिकार हैं? मनुष्य किस प्रकार एक आदर्श नागरिक बन सकता है? आदर्श नागरिक बनने में कौन कौन सी बातें सहायक होती हैं? और कौन कौन सी बाधक होती हैं? एक नागरिक किस प्रकार अपनी उन्नति करता हुआ समाज की उन्नति कर सकता है? समाज की उन्नति और व्यक्तिगत उन्नति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है? एक आदर्श नागरिक का अपने देश के प्रति क्या कर्तव्य है? देशभक्त किसे

कहते हैं ? सच्चे देशभक्त के क्या क्या कर्तव्य हैं ? इन सब और अन्य ऐसी ही बातों की शिक्षा हमें नागरिकशास्त्र से मिलती है। ई० एम० ह्वाइट (E. M. White) के शब्दों में नागरिकता न्यूनाधिक मानवज्ञान की काम में आने वाली वह शाखा है जिसका सम्बन्ध प्रत्येक उस वस्तु (जैसे सामाजिक, परोपकारिक धार्मिक, आर्थिक राजनैतिक) से होता है जो एक नागरिक के भूत वर्त्तमान और भविष्य में उसके स्थानीय, जातीय सम्वन्ध से सम्वन्धित हो। अतः नागरिकशास्त्र मनुष्य की सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाओं से सम्बन्ध रखता है। नागरिकशास्त्र की वे सब बातें जो एक नागरिक को आदर्श नागरिक बनाने, उसका राज्य के प्रति अधिकार तथा कर्त्तव्य बताने, देशभक्ति का पाठ सिखाने, राज्य के नियमों पर चलाने और नियमों को समझाने आदि से सम्बन्ध रखती है, नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत आती हैं। ऊपर वर्णन की गईं सब बातें राज्यशास्त्र में पाई जाती हैं तथा इनसे और अधिक भी। इसलिये राज्यशास्त्र नागरिकशास्त्र राज्यशास्त्र का वृहत्-रूप है. अथवा यों कह सकते हैं कि नागरिकशास्त्र राजशास्त्र की छोटी बहिन है। जितनी समानता नागरिकशास्त्र और राजशास्त्र में है उतनी अन्य शास्त्रों में बहुत कम प्रतीत होगी। अतः नागरिक-शास्त्र का राज्यशास्त्र से बड़ा घानिष्ट सम्बन्ध है।

राजशास्त्र की अध्ययनविधि—विज्ञान की किसी विशेष शाखा के अध्ययन में पहिले हम उस शाखा के सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं तत्पश्चात् हम उन सिद्धांतों को व्यावहारिक कार्यों में उपयोजन करते हैं। जब हम एक विशेष नियम का विशेष परिस्थिति में उपयोजन करते हैं तो सदैव एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं। रसायन-शास्त्र के अध्ययन में जब हम जलतत्व वायु (Hydrogen) के दोनों भाग और प्राणवायु अर्थात् औक्सीजन (Oxygen) का एक भाग मिलाते हैं तब सदैव जल बन जाता है। इसी प्रकार एक में एक का योग करने से सदैव दो हो जाते हैं। इस कारण बहुत से विद्वानों का यह मत है कि विज्ञान उसी को कहना चाहिये जिस में इस प्रकार के सदैव एक से ही परिणाम निकलें। परन्तु हमारा विचार तो यह है कि सब विज्ञानों के अध्ययन के इतने पूर्ण और शुद्ध परिणाम नहीं निकलते हैं। भौतिक विज्ञान में हमको 'निकटतम' परिणाम निकालने पड़ते हैं। गणित में भी, जहां विद्वानों का मत है कि दो और दो सदैव चार होते हैं, हमें निकटतम मूलनिरूपण करना पड़ता है। इस वात से यह सिद्ध हुआ कि विज्ञान में भी सदैव तथा सभी स्थितियों में हम पूर्ण निश्चित् परिणाम पर

नहीं पहुँचते हैं, और सापेक्ष सत्य के आधार पर पहुँचते हैं। कुछ विद्वानों का भी मत है कि जैसे हम शुद्ध विज्ञान सम्बन्धी विषयों में प्रयोग करते हैं वैसे राजशास्त्र सम्बन्धी विषयों में नहीं कर सकते। शुद्ध विज्ञान सम्बन्धी विषयों में प्रयोगात्मक रीति पर कार्य करना पड़ता है। भिन्न भिन्न प्रकार के प्रयोग करके एक विशेष परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसा राजशास्त्र में नहीं हो सकता। हमारे विचार में राजशास्त्र में ठीक उसी प्रकार प्रयोग किये जा सकते हैं जैसे विशुद्ध विज्ञान (गणित, भौतिक और रसायन)। आधुनिक काल में हमारे भारतवर्ष में विदेशी शासकों ने शासन-प्रणाली सम्बन्धी कितने प्रयोग किये? भारतीय राजनीतिज्ञों ने उनके परिणामों का ठीक उसी प्रकार पूर्वनिरूपण किया जैसे विज्ञान में किया जाता है।

अतः यह धारणा कि राजशास्त्र में विज्ञान की भाँति प्रयोग नहीं किये जा सकते और विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक रीति का प्रयोग नहीं आ सकता, हमारी समझ से बाहर है। पर्यवेक्षण विशुद्ध वैज्ञानिक विषयों में हो सकता है उसी प्रकार राजशास्त्र में भी हो सकता है। सैम्युअल बटलर (Samuel Butler) कहता है कि "भौतिकशास्त्र में पूर्वनिरूपण बिल्कुल निश्चित और ठीक हो सकता है, राजशास्त्र में वह केवल सम्भाव्य होगा" यह मत ठीक नहीं है। भौतिक और रसायनशास्त्रों में पूर्वनिरूपणों की हम राजशास्त्र से तुलना नहीं कर सकते हैं हमको यह बात ध्यान में रखनी होगी कि भौतिक और रसायन आदि शास्त्रों में हमारा सम्बन्ध जड़ वस्तुओं से होता है जो केवल बाह्य प्रभावों पर अवलम्बित रहती है और उनकी अपनी आन्तरिक उत्तेजना (inner stimulus) का प्रश्न नहीं उठता। इनमें प्रत्येक वस्तु का एक विशेष गुण होता है और प्रत्येक दशा अथवा परिस्थिति में वह गुण वैसा ही प्रकट होता है। परन्तु राजशास्त्र में हमको जीवित पदार्थों के साथ प्रयोग करने पड़ते हैं। विध्यात्मक तथा निगमात्मक पद्धति के अनुसार पर्यवेक्षण करने पड़ते हैं और यह देखने में आता है कि युक्तिरूपी आन्तरिक उत्तेजना (inner stimulus) के होने पर भी विशेष दशा और परिस्थितियों में मनुष्यों के कार्यों का परिणाम समान निकलता है और इतना सच्चा, शुद्ध और ठीक बैठता है जैसा विज्ञान में निर्जीव वस्तुओं के साथ प्रयोगों का परिणाम। राजनीति सम्बन्धी चमत्कारों को एकत्रित करने तथा उनका वर्गीकरण करने के कुछ ढंग राजशास्त्रवेत्ताओं ने निश्चित किये हैं। औगस्टस कोम्टी (Augustus Comte) ने तीन पद्धतियों का वर्णन किया है। वे

ये हैं—पर्यवेक्षण, प्रयोग और तुलना। ब्लंशली (Bluntschli) के अनुसार दार्शनिक और ऐतिहासिक पद्धति ही ठीक है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि राजनीतिविज्ञान में ठोक ठीक परिणामों पर पहुँचने के लिये निगमात्मक रीति से व्याप्तिमूलक रीति अधिक श्रेष्ठ है। आधुनिक राजशास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार भिन्न भिन्न पद्धतियों का वर्णन यहाँ किया जाता है—

प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)—जब हम उन वैज्ञानिक क्षेत्रों में प्रयोगात्मक निरीक्षण करते हैं जहाँ हमें जड़ पदार्थों से विन्यास करना पड़ता है तो हमको अनुभव होता है कि जब उन जड़ पदार्थों के ऊपर वाह्य वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है तो परिणाम निश्चित् रूप से एक अथवा समान होता है। प्रत्येक जड़ पदार्थ एक विशेष वाह्य उत्तेजना अथवा वस्तु के सम्पर्क में आकर अपने गुणानुसार एक विशेष नवीन अथवा परिवर्तित रूप धारण करता है। भविष्य में जब ऐसा होगा, ठीक वही परिणाम निकलेगा। इस प्रकार प्रयोग करके एक निश्चित परिणाम निकाल लिया जाता है और वह नियम बन जाता है। फिटकिरी, नमक, चूना और नीलाथोथा के घोलों में पृथक् पृथक् एक एक छुरी लोहे की ओर से डाल दी गई। कुछ घंटों के पश्चात् प्रत्येक को निकाल कर देखा तो नीलाथोथा के घोल में जो छुरी डाली गई वह ऐसी दिखाई पड़ी मानों ताँबे की है उसके ऊपर ताँबे का पत्र चढ़ गया। परिणाम निकला कि नीलाथोथा के घोल में जब लोहा डाला जायगा तो उस पर ताँबा आ जायगा। यह परिणाम सदैव के लिये निश्चित हो गया। यह नियम बन गया। इसी प्रकार अन्य भौतिक रसायनिक तथा अन्य विषयों में भी होता है। जहाँ जहाँ प्रयोग किये जयँगे कुछ न कुछ परिणाम अवश्य निकलेगा। उन परिणामों में समानता होगी।

इसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्रों में भी वड़ बड़े प्रयोग किये गये हैं। इन प्रयोगों के परिणाम सदैव एक से ही निकले हैं। इंगलैंड में चार्ल्स प्रथम (Charles 1) की नीति से असन्तोष फैला, कारण यह था कि चार्ल्स प्रथम ने प्रजा पर अत्याचार किया, जनहितों को कुचला, आतंक से राज्य किया। परिणाम यह हुआ कि प्रजा ने उसकी हत्या कर डाली। जार्ज प्रथम (George 1) ने अमरीका निवासियों के साथ उचित रीति से शासन नहीं किया, उनपर मनमानी कर लगाये और स्वेच्छा से शासन किया, परिणाम यह हुआ कि अमरीका निवासी स्वतन्त्र हो गये। भारतवर्ष में अंग्रेजों ने अपने शासन काल में वही भूलें की जैसी अन्य असफल शासकों ने भूतकाल में की थी। उन्होंने भारतवर्ष में वड़े वड़े प्रयोग किये। कभी आतंकवाद का प्रयोग

किया, कभी सुधारों का लालच देकर फुसलाने का प्रयोग किया। ज्यों ज्यों भारतवर्ष में राजनैतिक प्रयोग अंग्रेज़ों ने किये भारत के राजनीतिवेत्ताओं ने पूर्वनिरूपण किया और उन्हीं परिणामों पर पहुँचे जिनका पूर्वनिरूपण किया गया था। भारतवर्ष में अंग्रेज़ों के सब राजनैतिक प्रयोग, जो उन्होंने भारत में राज्य स्थापित रखने के लिये किये निष्फल रहे। पूर्वकालीन राजनैतिक प्रयोगों के निष्फल परिणामों से कम से उन्होंने लाभ उठाया। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में अराजकता की सी स्थिति होने से पूर्व ही शान्तिपूर्वक अंग्रेज भारत से चले गये। यदि ऐसा न होता तो आज अंग्रेज़ों और भारत-वासियों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना मित्रवत न होता।

२ ऐतिहासिक पद्धति—ऐतिहासिक पद्धति भी एक प्रकार की प्रयोगात्मक पद्धति है। इतिहास पढ़ने से हमको प्राचीनकाल से लेकर अब तक के संसार के सब सभ्य देशों के राजाओं के इतिहास का पता चलता है। इससे पता चलता है कि अमुक देश के राजाओं ने अपनी प्रजा पर किस प्रकार शासन किया? किन किन स्थितियों में उन्होंने क्या क्या कार्य किये? उन कार्यों में उन्हें कहां तक सफलता प्राप्त हुई? उनके पश्चात् जो राजा हुए उन्होंने वे कार्य नहीं दुहराये जिनमें उनके पूर्व होने वाले राजाओं को असफलता मिली थी। सदैव इसी प्रकार राजाओं ने अपने से पूर्व होने वाले राजाओं के सफल कार्यों से लाभ उठाया और ऐसे कार्यों से सदा बचने का प्रयत्न किया जिनमें प्राचीन काल के राजाओं को असफलताएँ हुई थीं। आज हम इसी प्रकार राजनैतिक संस्थाओं के आरम्भ, विकास और उनकी उन्नति के विषय में इतिहास से ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनके परिणामों पर मनन करते हैं। ये परिणाम हमको पथप्रदर्शन करते हैं और अपनी परिस्थिति के अनुसार हम उन परिणामों पर कार्य करते हैं। ये ऐतिहासिक परिणाम हमको भविष्य की राजनैतिक बातों को निश्चित् करने में हमारी सहायता करते हैं।

इतिहास में विशेषकर व्याप्तिमूलक पद्धति का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास को लीजिये। अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता से काम लिया, उसको अपने शासन में बड़ी सफलता मिली। उसकी प्रजा के सब सम्प्रदाय के लोग उसे बहुत प्रेम करते थे। उसके शासनकाल में देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक सब प्रकार की उन्नति हुई। जहाँगीर ने भी अपने पिता की नीति का अनुकरण किया और वही परिणाम हुआ। व्याप्तिमूलक रीति के अनुसार यह परिणाम निकला कि जो शासक धार्मिक सहिष्णुता का अनुसरण करेगा उसका परिणाम अच्छा

नकलेगा। औरंगजेब ने इसके विपरीत कार्य किया। उसने हिन्दुओं के ऊपर अत्याचार किये, सिक्खों को सताया, दक्षिण के शिया राज्यों का नाश किया। परिणाम वही निकला जो निकलना चाहिये था। मुगल साम्राज्य स्वयं नष्ट हो गया। ऐतिहासिक और प्रयोगात्मक पद्धति में कोई भेद नहीं है। इतिहास का अध्ययन करके व्याप्तिमूलक पद्धति द्वारा एक राजशास्त्रवेत्ता कुछ निश्चित परिणाम निकालता है। वे परिणाम वैज्ञानिक प्रयोगात्मक परिणामों की भाँति बिल्कुल ठीक होते हैं। वही राजशास्त्र अपने समय की राजनैतिक परिस्थिति में उन परिणामों का निगमात्मक (Deductive) पद्धति द्वारा प्रयोग करता है और निश्चित फल प्राप्त करके उनसे पूर्ण लाभ उठाता है। अरस्तू और मैकियावेली ऐतिहासिक पद्धति के समर्थक हैं और उन्होंने इस पद्धति का अनुकरण किया है। परन्तु ऐतिहासिक पद्धति के अनुसार राजशास्त्र का अध्ययन करने में इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि वाह्य सादृश्य और वाह्य समता का अवलम्बन न किया जाय, केवल भूतकाल के परिणामों पर ही अपने वर्तमान और भविष्य के राजनैतिक प्रयोगों को अवलंबित न किया जाय बल्कि नवीन परिस्थितियों (जनता के मनोभाव, नवीन आविष्कार आदि) के आधार पर भूतकाल के परिणामों को व्यवहार में लाया जाय। पूर्व धारणा की पुष्टि के लिये इतिहास को प्रयोग करने के प्रलोभन से बचाया जाय, सदैव यह नहीं निश्चित करना चाहिये कि क्योंकि ऐसा पूर्वकाल में हो चुका है अतः उसी स्थिति में पुनः वैसा ही होगा। क्योंकि सम्भव है उस स्थिति का वाह्यरूप वैसा ही प्रतीत हो परन्तु वास्तव में वैसा न हो। परिस्थिति में तनिक भी भेद हो जाने पर परिणाम में बड़ा भारी परिवर्त्तन हो जायगा।

५ **तुलनात्मक पद्धति**—तुलनात्मक पद्धति के अनुसार कार्य करने में हम राजशास्त्र में भिन्न भिन्न राजनैतिक घटनाओं की तुलना करते हैं। तुलना करके सादृश्य स्थापित करते हैं। सादृश्य स्थापित हो जाने पर हम उन घटनाओं को प्रयोग में लाते हैं और इस प्रकार यदि हमारा निर्णय ठीक होता है तो हमको राजनैतिक कार्यों में सफलता प्राप्त होती है। इस प्रकार की तुलनात्मक पद्धति का टौकविल (Tocquevill) ब्राइस (Bryce) आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने अनुकरण किया है। इस पद्धति का अनुकरण करने के लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि राजनैतिक घटनाओं की समा बातों की ही तुलना की जाय। तुलनात्मक पद्धति द्वारा प्रयोग कर वाले राजनीतिज्ञ के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि घटनाओं की समा

तथा विभिन्न, दोनों प्रकार की बातों की तुलना की जाय। यह देखा जाय कि इन घटनाओं में किन किन बातों में समानता है और किन किन में विभिन्नता। ऐसा करने से इस बात का निर्णय हो जायगा कि दोनों घटनाओं में कहाँ तक समानता है और यदि इनका प्रयोग किया जायगा तो कहाँ तक इन प्रयोगों में सफलता प्राप्त होगी। परन्तु तुलनात्मक पद्धति द्वारा राजशास्त्र का अध्ययन करने में एक भूल हो जाने की सम्भावना है। तुलनात्मक पद्धति से उसका अध्ययन करने में सादृश्य स्थापित करना पड़ता है। यदि सादृश्य (analogy) स्थापित करने में भूल हो जाती है तो एकरूपता (identity) हो जाता है, अतः सादृश्य और एकरूपता के भेद को ध्यान में रखते हुए सदैव तुलनात्मक पद्धति से राजशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। तुलनात्मक पद्धति का ऐतिहासिक पद्धति से घनिष्ट संबन्ध है क्योंकि इतिहास के अध्ययन में इसका बहुत प्रयोग होता है।

✓ पर्यवेक्षण पद्धति (Observation Method)—ऐतिहासिक, तुलनात्मक और पर्यवेक्षण पद्धतियां व्याप्तिमूलक हैं। इन पद्धतियों से राजशास्त्र का अध्ययन करने में व्याप्तिमूलक (inductive) सिद्धान्तों के अनुसार प्रयोग करना पड़ता है। पर्यवेक्षण पद्धति द्वारा राजशास्त्र का अध्ययन करने में राज्य के प्रत्येक लक्षण, अंग, रूप आदि का निरीक्षण करना पड़ता है और निरीक्षण करने के पश्चात् परिणाम पर पहुँचना पड़ता है। फ्रांस का प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता मोन्टेस्क्यू (Montesquieu) इंगलैण्ड गया और वहाँ जाकर उसने बड़े ध्यान से अंग्रेजी शासन-पद्धति का पर्यवेक्षण किया। इंगलैण्ड की शासन-पद्धति में शक्ति-विभाजक सिद्धान्त को देखकर वह चकित रह गया। यूरोप लौटकर उसने वहाँ शक्ति-विभाजक सिद्धान्त (Principle of Separation of Powers) का संस्थापन किया। इससे ज्ञात होता है कि राजशास्त्र के अध्ययन में पर्यवेक्षण पद्धति बड़ा महत्व रखती है। इसके द्वारा राजशास्त्र का अध्ययन करने से राजनीतिज्ञ स्वयं राज्य के प्रत्येक भाग का तथा शासन-प्रणाली का निरीक्षण करके उचित परिणाम निकाल सकता है परन्तु इस प्रणाली का अनुकरण करने के लिये कुछ बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति किसी राज्यशासन का पर्यवेक्षण द्वारा अध्ययन करने को जाय तो उसे राज्य-शासन के प्रत्येक पार्श्व पर दृष्टि डालना आवश्यक है। यदि वह किसी एक ही पार्श्व पर दृष्टिपात करेगा तो यह सम्भव है वह ठीक परिणाम पर न पहुँच सके और उसे अपने कार्य में सफलता न प्राप्त हो।

४. दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)—दार्शनिक पद्धति द्वारा राजशास्त्र का अध्ययन करने में सबसे प्रथम यह निश्चित करते हैं कि राज्य की प्रकृति और उद्देश्य क्या हैं ? प्रकृति और उद्देश्य निर्धारित करने के पश्चात् यह प्रयत्न किया जाता है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किस प्रकार की शासन-प्रणाली उचित होगी। यह एक प्रकार का आदर्शवादी सिद्धान्त है जिसमें निगमात्मक (deductive) रीति का प्रयोग किया जाता है। यूरोप के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेता प्लटो, कान्ट (Kant), हैगिल (Hegel), रूसो, ग्रीन (Green) आदि आदर्शवादी दार्शनिक थे इन्होंने राजशास्त्र में दार्शनिक पद्धति का अनुकरण किया है। इन दार्शनिकों ने पहले यह निश्चित किया कि राज्य का उद्देश्य मनुष्यमात्र की सब प्रकार की उन्नति करना है—आचारिक, आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक इत्यादि। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर ये दार्शनिक राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। आदर्शवादी सिद्धान्त होने के कारण यह आवश्यक नहीं है कि इन दार्शनिकों द्वारा स्थापित किये सभी सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत किये जा सकें। कुछ ऐसी भी बातें इन सिद्धान्तों में हो सकती हैं जो प्रत्यक्ष रूप से श्रेष्ठ प्रतीत होती हैं परन्तु प्रयोग में नहीं आ सकतीं। प्लेटो का साम्यवाद किसी भी राज्य में कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता जर्मन दार्शनिकों ने राज को देवतुल्य समझा है। जिन पद्धतियों का ऊपर वर्णन किया गया है उन पद्धतियों को यहाँ कोई स्थान नहीं है। ऐतिहासिक, तुलनात्मक, प्रयोगात्मक तथा पर्यवेक्षण पद्धतियों में निरीक्षण प्रयोग और तुलना की जाती है। इन सब पद्धतियों में व्याप्ति-मूलक पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया जाता है जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं। परन्तु दार्शनिक पद्धति में व्याप्तिमूलक पद्धति को कोई स्थान नहीं है। दार्शनिक पद्धति में निगमात्मक पद्धति (Deductive Method) का प्रयोग किया जाता है। सिद्धान्त निर्धारित करके उनके अनुसार राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। दार्शनिक पद्धति आदर्शवादी होने के कारण पूर्णतया कार्य रूप में परिणत नहीं की जा सकती।

अतः राजशास्त्र के अध्ययन के लिये न केवल व्याप्तिमूलक पद्धति के अनुसार ही कार्य करना उचित है, और न केवल निगमात्मक पद्धति के अनुसार ही। राजशास्त्र के अध्ययन के लिये ऐसी पद्धित का अनुसरण करना चाहिए जिसमें व्याप्तिमूलक और निगमात्मक पद्धतियों का

इतिहासक्रम हो। अतः ऐतिहासिक दर्शन के अनुसार राज्य के विविध रूपों का प्रयोगों द्वारा अध्ययन करके सर्वोत्तम परिभाषाओं को निष्कर्षानुसार निगमनात्मक पद्धति द्वारा प्रयोग में लाया जाय तभी राजशास्त्र का अध्ययन सफल हो सकता है।

विशेष अध्ययन के निमित्त देखिये—

जे. डब्ल्यू. गार्नर—पोलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेंट।
जी. ई. जी. कैटलिन—साइन्स एण्ड मेथड आफ़ पोलिटिक्स।
एच. ई. बार्न्स—सोश्योलोजी एण्ड पोलिटिकल थ्योरी।
आर. जी. गेटिल—इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल साइन्स। और रीडिंग्ज़ इन पोलिटिकल साइन्स।
डब्ल्यू. डब्ल्यू. विलोबी—नेचर आफ़ दी स्टेट।
एच. सिजविक—एलीमेन्ट्स आफ़ पोलिटिक्स।
एस. सीली—इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल साइन्स।
जी. पोलक—इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आफ़ दी साइन्स आफ़ पोलिटिक्स।
एस. लीकाक—एलीमेन्ट्स आफ़ पोलिटिकल साइन्स।
आर. एन. गिलक्रिस्ट—प्रिंसिपल्स आफ़ पोलिटिकल साइन्स।
ब्लंटस्ली—थ्योरी आफ़ दी स्टेट।
जेन्क्स—हिस्ट्री आफ़ पोलिटिक्स।
मुनरो स्मिथ—डोमेन आफ़ पोलिटिकल साइन्स।
ई. बार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड फ्राम स्पेन्सर टू टु डे।
महाभारत—शान्तिपर्व।
कौटिल्य—अर्थशास्त्र।
शुक्राचार्य—शुक्रनीति।

अध्याय २

राज्य और उसकी प्रकृति

राज्य की परिभाषा—पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ताओं ने अरस्तू को 'राजशास्त्र का आचार्य' और 'राजनैनिक विज्ञान का पिता' की उपाधि दी है। सर फ्रेडरिक पौलक ने तो यहाँ तक कहा है कि "जिस प्रकार हिन्दू लोग प्रत्येक शुभ कार्य करने से पूर्व गणेशजी की पूजा करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक राजशास्त्र तत्ववेत्ता को कोई भी राजनीति सम्बन्धी कार्य करने से पूर्व अर का स्मरण करना चाहिये।" राजनैतिक विज्ञान के ऐसे महान् आचार्य ने राज्य की यह परिभाषा की है "प्रत्येक राज्य एक समुदाय है, प्रत्येक समुदाय का उद्देश्य कोई न कोई सद्कार्य करना है अतः राज्य का उद्देश्य सर्वश्रेष्ठ कार्य करना है" * सम्पूर्ण मानव-समुदायों में राज्य अत्यन्त सार्वभौमिक तथा सर्वशक्तिशाली समुदाय है। प्रसिद्ध जर्मन राजशास्त्रवेत्ता शुल्ज (Schulze) का कथन है कि राज्य की इतनी व्याख्याएँ हो सकती हैं कि उसकी गणना करना कठिन है। राजशास्त्रवेत्ता हॉलैन्ड (Holland) ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है "राज्य मनुष्य जाति का वह विशाल समुदाय है जो भूमि (Territory) के किसी विशेष भाग में निवास करता है और जिसमें या तो अधिकांश लोगों की सम्मति कार्य करती है, अथवा कुछ विशेष लोग बहुमत के बल पर शासन करते हैं और उन लोगों पर अपनी इच्छा का आरोप करते है जो उनके विरोधी है।" हाल (Hall) के अनुसार स्वतंत्र राज्य के लक्षण ये हैं "जिस समुदाय (Community) से वह संगठित हुआ है, उसके कुछ विशेष राजनैतिक ध्येय रहते हैं, उसके अधिकार में निश्चित भूमि रहती है और वह किसी वाह्य शक्ति के दवाव से स्वतंत्र रहता है।" जर्मन राजनीतिज्ञ सिडेल (Seydel) कहता है कि "राज्य का अस्तित्व उसी समय से आरम्भ हो जाता है जब कई

---

* "Every State is an association. The object of every association is some Good. Therefore the object of the State is Supreme Good."

मनुष्य जिन्होंने भूमि के किसी विशेष भाग पर अधिकार कर लिया है, किसी उच्च शक्ति (Higher will) के नीचे सुसंगठित हो जाते हैं।" ग्रोशस (Grotius) राज्य की यह परिभाषा करता है "राज्य स्वतंत्र मनुष्यों का वह सांगोपांग समाज है, जो न्याय और सर्वसाधारण उपयोगिता (common utility) का उपभोग करने के लिये सुसंगठित है।" ब्लंशली (Bluntschli) ने राज्य की व्याख्या इस प्रकार की है 'किसी भूमि विशेष के राजनैतिक सुसंगठित लोगों का ही नाम राज्य है।" वैटिल (Vattel) के मतानुसार "राज्य मानव समाज का अथवा राजनीतिक-संस्था (body politic) का वह समुदाय है जो अपनी शक्तियों के सम्मिलन (Combination of Forces) से सर्व साधारण के हित और कल्याण की अभिलाषा करता है।" अमरीका के संयुक्त राज्य की सुप्रीम कोर्ट ने एक बार राज्य की व्याख्या करते हुए यह लिखा था —"राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों का वह समुदाय है जो सर्वसाधारण लाभ के लिये सुसंगठित है तथा जो अपने ही पदार्थों पर अधिकार रखता हुआ दूसरे के अधिकारों को न्याय की दृष्टि से देखता है।" अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रसिद्ध लेखक फिलिमोर (Phillimore) ने लिखा है कि "राज्य लोगों का वह समुदाय है जो स्थायी रूप से भूमि के किसी विशेष भाग पर निवास करता है, और जो समान विधान तथा समान रीतिरिवाजों से बंधकर सुचारु रूप से सुसंगठित है, और जो नियमबद्ध शासन (organized government) के माध्यम (medium) द्वारा उस विशेष भूमि पर निवास करने वाले लोगों पर तथा उस विशेष भूमि के सब पदार्थों पर अधिकार रखता है तथा जिसे पृथ्वी के किसी देश से युद्ध अथवा संधि करने का तथा अन्य किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार है।" एक फ्रेंच विद्वान् के मतानुसार "राज्य और कुछ नहीं, केवल मनुष्यजाति के आध्यात्मिक समुदाय का दृश्यरूप है।" जर्मन आदर्शवादी राजशास्त्रवेत्ता हेगिल (Hegel) कहता है कि "राज्य लोगों की इच्छा का दृश्यरूपी बाहरी संघ है।" अमरीका के भूतपूर्व प्रेज़िडेन्ट डाक्टर विलसन (Dr. Wilson) राज्य की परिभाषा इस प्रकार करते हैं "राज्य लोगों का वह समुदाय है, जिनका मूल एक है और जिनका एक सर्व सामान्य शासन (Common Government) है।" गार्नर (Garner) ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—"राज्य शब्द से राजनैतिक और विधि-विधान (Constitutional Law) की भावना की कल्पना आती है। राज्य उन बहुसंख्यक अथवा अल्पसंख्यक लोगों का

समुदाय है, जो भूमि के किसी विशेष भाग पर निवास करते हैं, जो वाह्य शासन से मुक्त है और जिनके पास ऐसा सुसंगठित शासन है जिसकी आज्ञा अधिकांश लोग मानते हैं।" हमारे प्राचीन हिन्दू राजनीतिज्ञों ने जो राज्य की परिभाषा की है उसका सारांश यह है—"किसी देश विशेष अथवा भूभाग पर प्रभुत्व और उसके निवासियों का शासन राज्य है।"

राज्य और समाज—साधारणतया मानव-विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार मानव जाति को रंग के अनुसार चार समाजों में विभक्त किया है—(१) भारत तथा यूरोप की गौरवर्ण जाति, (२) यूथोपिया की श्यामवर्ण जाति (३) चीन तथा जापान की पीतवर्ण जाति, और (४) अमरीका की रक्तवर्ण जाति।

(१) भारत तथा यूरोप की गौरवर्ण जाति—गौरवर्ण जाति की दो शाखाएँ मुख्य हैं—एक सैमिटिक; दूसरी आर्य। सैमिटिक लोगों ने अपने धार्मिक जीवन पर अधिक ध्यान दिया और धर्म-प्रचार किया। मुसलमान, यहूदी और ईसाई इन्हीं लोगों में से है। आर्य जाति न संसार की सब जातियों से अधिक उन्नति की। धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण आदि में भारत के आर्यों ने संसार का बहुत उपकार किया है। जब इनकी एक शाखा यूरोप में पहुँची तो परिस्थिति के अनुसार इन्होंने राजशास्त्र, रासायनिक तथा भौतिकविज्ञान की विशेष प्रकार से उन्नति की।

(२) यूथोपिया की श्यामवर्ण जाति—प्राचीन काल में ये लोग यूरोप तथा एशिया के दक्षिणी भाग में निवास करते थे। जब अन्य जातियों ने इन्हें इधर उधर से धकेला तो ये लोग अफ्रीका में स्थायी रूप से बस गये। इस जाति के लोगों ने अभी तक किसी प्रकार की उन्नति नहीं की है और अब भी वैसे ही असभ्य हैं जैसे सहस्त्रों वर्ष पूर्व थे।

(३) चीन और जापान की पीतवर्ण जाति—पीतवर्ण के लोगों की एक शाखा मलाया, और दूसरी शाखा मंगोलिया की ओर गई। इस जाति के लोगों ने एशिया में अपना साम्राज्य स्थापित किया। इस जाति के लोग बड़े वीर और बुद्धिमान हैं। हूण, शक, यूची, तुर्क, चीनी, जापानी आदि इसी जाति के लोग थ जिन्होंने राजनीति तथा दर्शन शास्त्रों में बड़ी उन्नति की थी। कृषि, व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा तथा प्रबन्ध आदि के लिये संसार के लोग इनके कृतज्ञ हैं।

(४) अमरीका की रक्तवर्ण जाति—अमरीका के रक्तवर्ण के लोग, अफ्रीका के श्यामवर्ण के लोगों से अधिक सभ्य तथा उन्नत दशा में रहे हैं।

परन्तु सौन्दर्य और शौर्य में दोनों के समान मनुष्य अभी नहीं हो पाये। इन लोगों के रीति-रिवाज बहुत कुछ उस दशा में भारतीय आर्यों के समान थे। यूरोप की गौरवर्ण जातियों के सम्पर्क में आने से इन्होंने यूरोपीय संस्कृति तथा सभ्यता को अपनाया और इसी प्रकार की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक उन्नति करने में संलग्न है।

हमारे विचार से रंग के आधार पर संसार की जातियों की व्याख्या युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती है। मनुष्य के रूप रंग तथा शारीरिक बनावट पर किसी स्थान की जलवायु, भूमि तथा उपज का बड़ा प्रभाव पड़ता है। सहस्रों वर्षों से विशेष प्रकार की भूमि तथा जलवायु के कारण मनुष्यों के रूप रंग में इस प्रकार का परिवर्तन हो गया है। आज के राजनीतिज्ञों ने मनुष्यों के साधारण सम्मिलन या संघ का नाम 'समाज' दिया है; जैसे, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज इत्यादि। एक राष्ट्र में राजनीति के आधार पर संगठित मनुष्यों को आधुनिक विद्वानों ने 'जाति' कहा है। 'जाति' शब्द में राजनीतिक भाव सन्निहित है परन्तु 'समाज' शब्द में नहीं। समाज विधान निर्माण का कार्य नहीं करती परन्तु जाति करती है।

जाति तथा समाज में परस्पर भेद होते हुए भी दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। राष्ट्र या जाति भिन्न समाजों के लिये भिन्न-भिन्न नियम बनाती है और उनकी रक्षा करती है। समाज राष्ट्र के लिये ऐसा नहीं कर सकता। कभी-कभी समाज अपने एक ऐसे स्वार्थ को पूरा करना चाहता है जो राष्ट्र अथवा राज्य के लिये अभीष्ट नहीं होता।

समाज का जनता के साथ भी सम्बन्ध है परन्तु वह सम्बन्ध इतना घनिष्ट नहीं है जितना राष्ट्र और जाति का है। जनता की भाषा तथा-शैली अपनी होती है और समाज जनता का एक अंग है। जनता अनेक राष्ट्रों में विभक्त हो सकती है परन्तु समाज में ऐसा नहीं हो सकता।

राज्य और समाज एकात्मक (identical) नहीं है। परन्तु प्राचीन यूनान के सर्वश्रेष्ठ राजशास्त्रवेत्ता अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध राजशास्त्र 'पोलिटिक्स' (Politics) के प्रथम पुस्तक के प्रथम अध्याय को इस प्रकार आरम्भ किया है—"प्रत्येक राज एक समुदाय है" समुदाय का तात्पर्य यहाँ समाज से ही है। इसका कारण यह है प्राचीनकाल में यूनान में छोटे-छोटे नगर-राज्य थे। प्रत्येक नागरिक (हैलट्स और विदेशियों के अतिरिक्त) नगर के शासन प्रबन्ध में भाग लेता था। न्याय करने के लिये सब मिलकर पंचायत के रूप में एकत्रित होते थे। वे नगर आजकल के बम्बई, कलकत्ता,

कार तथा शक्तियाँ नहीं हैं। उसके पास जो कुछ है वह राज्य से उसके संगठन द्वारा दिया हुआ है।" अतएव 'राज्य और शासन' इस शब्दों का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इन दोनों में क्या अन्तर है।

राज्य और राष्ट्र – जिस प्रकार राज्य और शासन समान नहीं हैं उसी प्रकार राज्य और राष्ट्र भी समान नहीं। राजशास्त्रवेत्ताओं ने इन दोनों शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। राज्य कहने से हमारे मन में उस समाज का चित्र खिच जाता है जो राजनैतिक ढंग से सुसंगठित हो। राष्ट्र कहने से इससे कुछ भिन्न कल्पना का आविर्भाव होता है। यूरोपीय विद्वानों का मत है कि राष्ट्र अपने अर्थ में मनुष्य समाज का अंश है, अपनी भौगोलिक परिस्थिति के कारण शेष संसार से पृथक है, और जिसमें निवास करने वालों का जातीयमूल एक होकर जिनकी भाषा सभ्यता, साहित्य, रीति रिवाज तथा स्वभाव और प्रकृति एक सी है। राजशास्त्र-वेत्ता बर्गेस (Burgess) के मतानुसार राष्ट्र उस लोक समुदाय का नाम है जिसकी भाषा, साहित्य, इतिहास और रीति रिवाज एक हैं जो पृथ्वी के उस भाग में बसा हुआ है जिसकी भौगोलिक परिस्थिति समान है। बर्गेस के अनुसार एक राष्ट्र में बसने वाली जातियों की समानता की आवश्यकता नहीं है। वह भौगोलिक परिस्थिति और भाषा की समानता को अधिक महत्व देता है। फ्रांस के एक प्रसिद्ध विधानवेत्ता का मत है कि राष्ट्र एक ही देश में बसनेवाले उन लोगों के समाजों का संघ है जो एक ही भाषा बोलते हैं, एक ही विधान के आधीन हैं तथा जिनका जातीयमूल भी एक होकर जिनके रूप रंग में और जिनके स्वार्थ और भावनाओं में समानता पाई जाती है। एक स्थान पर उसने यह भी कहा है कि "जातीय सादृश्य, भाषा, रीति-रिवाज़ और धर्म की एकता आदि तत्व ही राष्ट्र को बनाते हैं।" ब्लंश्ली लिखता है " राष्ट्र भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले और भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति के एसे मनुष्यों का संघ है, जो समान भावना तथा समान जाति से बद्ध है, और जो भाषा, सभ्यता और रीतिरिवाज में भी समान है।" काल्वो (Calvo) ने अपनी "अन्तर्राष्ट्रीय विधान" नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि "राष्ट्रीय कल्पना का जातीय समानता तथा भाषा सम्बन्धी समानता से घनिष्ट सम्बन्ध है। जातीय समानता से मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रेमपूर्ण और अधिक दृढ होता है तथा भाषा की समानता से लोगों को एक ऐसा सर्व सामान्य माध्यम प्राप्त हो जाता है जिसके

ताकि एक राष्ट्र के सब लोग परस्पर अपने विचार सरलता से एक दूसरे पर प्रकट कर सकें।

गार्नर लिखता है कि 'भाषा की समानता सम्भवतः बौद्धिक और सामाजिक व्यवहार का एक ऐसा प्रबल तत्व है जो जनता में ऐक्य उत्पन्न कर उनकी राजनैतिक भावनाओं के विकास का मार्ग खोल देता है।' सुप्रसिद्ध विधानवेत्ता गम्प्लाविज (Gumplorviez) राष्ट्र की परीक्षा केवल सभ्यता की समानता (community of civilization) से करता है, उसका अभिप्राय यह है कि जहाँ लोगों के किसी विशेष समुदाय में सभ्यता की समानता पाई जाती है वह समुदाय राष्ट्र में परिणत हो जाता है। उसका यह भी कहना है कि सभ्यता की यह समानता उस समुदाय के जातीय गुण को प्रकट करने के साथ इतिहास की एकता को भी प्रकट करती है, अर्थात् भाषा तथा सभ्यता की समानता भूतकालिक इतिहास की समानता का फलस्वरूप होती है।

एक समय में यूरोप के कुछ विद्वानों का यह विचार था कि धर्म की समानता राष्ट्र के अस्तित्व का एक आवश्यक अंग है। परन्तु ज्यों-ज्यों यूरोप में धार्मिक स्वतन्त्रता के भाव बढ़ते गये त्यों त्यों इस कल्पना की असंगति होती गई। वर्तमान काल में तो यह दशा है कि राष्ट्र संगठन में धार्मिक एकता की कुछ भी आवश्यकता नहीं समझी जाती है और यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि भिन्न भिन्न धर्मों का पालन करते हुए भी मनुष्य एक राष्ट्रीय झण्डे के नीचे राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर बड़े प्रेम से इकट्ठे रह सकते हैं। एक राज्य में अनेक जातियाँ तथा राष्ट्र हो सकते हैं। तथा एक राष्ट्र में कितने ही राज्य भी हो सकते हैं। अतः यह बात स्पष्ट है कि राज्य और राष्ट्र एक नहीं हैं।

राज्य की व्यापकता—यूनान के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता अरस्तू का कथन है, कि मनुष्य स्वभाव से ही राजनैतिक प्राणी (political animal) है, मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति ही ऐसी है कि बिना राज्य के उसका कार्य नहीं चल सकता। मनुष्य समाज के लिये राज्य का अस्तित्व आवश्यक है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स में एक स्थान पर लिखा है कि "गृहस्थ जीवन मानव जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है राज्य मानव जीवन की मानसिक और नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है"। इस राजशास्त्रवेत्ता के मतानुसार राज्य और कुटुम्ब अथवा एक व्यक्ति में वही भेद है जो एक पूर्ण वस्तु और उसके किसी भाग में है।

उदाहरणार्थ, राज्य शरीर की भाँति एक पूर्ण वस्तु है और एक कुटुम्ब अथवा एक व्यक्ति शरीर के एक अंग (हाथ, पैर सिर इत्यादि) के समान है। जिस प्रकार बिना शरीर के अंग स्वयं जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार बिना राज्य के एक कुटुम्ब अथवा व्यक्ति का जीवन व्यर्थ है मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् होकर मनुष्य नहीं रह सकता। राज्य सब से श्रेष्ठ समाज है अतः बिना राज्य के मानव जीवन की कभी उन्नति नहीं हो सकती है। समाज अथवा राज्य से पृथक् हुआ मनुष्य वास्तव में एक देवता अथवा पशु है।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है राज्य एक पूर्ण वस्तु है और कुटुम्ब अथवा व्यक्ति उसका एक भाग है। जिस प्रकार भाग का नाम लेने से पूर्ण वस्तु का बोध होता है (जैसे हाथ कहने से पूर्ण शरीर का बोध होता है। बिना शरीर के हाथ स्वयं कोई वस्तु नहीं है न कुछ कार्य कर सकता है) अर्थात् शरीर पहली वस्तु है और उसका अंग का विचार उसके पश्चात होता है उसी प्रकार पहले राज्य है फिर मनुष्य है। इसका यह प्रयोजन नहीं है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य से पृथक् है। दोनों के उद्देश्य एक ही हैं उनमें कोई विभिन्नता नहीं है। दोनों का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व की उन्नति करना है। मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ उन्नति राज्य में रह कर ही हो सकती है।

राज्य एक व्यक्ति का मस्तिष्क है, राज्य ही उसके हाथ पैर हैं। राज्य नागरिकों की चित्तवृत्ति का एक पूर्ण स्वरूप है। जिस प्रकार के किसी राज्य के मनुष्य होंगे, जैसा उनका स्वभाव होगा, उसी प्रकार का उनके राज्य का संगठन होगा। उसी प्रकार की शासन-प्रणाली का राज्य में प्रयोग किया जायगा। उस शासनप्रणाली को कार्य रूप में परिणत करने के लिए शक्ति की आवश्यकता है। राज्य बल का प्रयोग करता है। जो व्यक्ति राज्य के नियमों के अनुसार कार्य नहीं करता है, राज्य उससे बलपूर्वक वह कार्य कराता है। अतः हेगिल ने ठीक कहा है कि राज्य को 'अपराधी को दंड देने का अधिकार है"

राज्य सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि संगठन है। वह किसी विशेष समुदाय का पक्षपाती नहीं होता, वह संपूर्ण राष्ट्रका स्वरूप है। एक राज्य में अनेक धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व राजनैतिक समुदाय हो सकते हैं। प्रत्येक समुदाय में राज्य के सम्पूर्ण व्यक्ति भाग नहीं लेते हैं ऐसा हो सकता है कि एक व्यक्ति एक से अधिक समुदायों का सदस्य हो परन्तु न तो ये समुदाय सब मनुष्यों से संबंध रखते हैं और न सब मनुष्यों का इनमें से प्रत्येक समुदाय से

विशेष संबंध हो सकता है। परन्तु इन सब समुदायों का तथा सब मनुष्यों का राज्य से घनिष्ट संबंध है। ये समुदाय ऐसे नियम नहीं बना सकते जिन से अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचे। राज्य का यह अधिकार है कि वह इन समुदायों को राज्य के विधान का उल्लंघन करने पर दंड दे सकता है। वह इन समुदायों को तोड़ भी सकता है।

जैसा कि वर्णन किया गया है एक राज्य में अनेक समुदाय होते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के समुदायों में उचित संबंध स्थापित रखने के लिये तथा समुदायों और जनता में ठीक ठीक संबंध स्थापित रखने के लिये राज्य को प्रयत्न करना पड़ता है। राज्य ऐसे विधान बनाता है जिनसे राज्य में शान्ति रहती है और भिन्न भिन्न समुदाय उन विधानों पर चलते हुए अनुशासन में रहते हैं। जब कभी इनमें से कोई समुदाय किसी अंश में भी विधान का उल्लंघन करता है अथवा ऐसे कार्य करता है जिनसे राज्य में अशान्ति फैलने की सम्भावना हो तो राज्य उनको अपराध के अनुसार दंड देता है और इस प्रकार राज्य के व्यक्तियों तथा समुदायों में ठीक ठीक संबंध स्थापित रहता है।

राज्य कभी एक विशेष समुदाय अथवा व्यक्ति को विशेष सहायता नहीं दे सकता। यदि किसी राज्य में तीन या चार प्रकार के धर्मों के अनुयायी हैं तो राज्य किसी विशेष धर्म वालों के साथ कभी पक्षपात नहीं करेगा, राज्य की दृष्टि में सब धर्म तथा मनुष्य समान हैं। राज्य में सबके साथ समानता का बर्ताव होता है। प्रत्येक समुदाय अपनी अपनी उन्नति के लिये प्रयत्न करता है। परन्तु राज्य का यह कर्तव्य है कि जितने भी समुदाय अथवा समाज उस राज्य में हैं उन्हें अपने अपने समुदाय अथवा समाज के सदस्यों की उन्नति करने दे। परन्तु जब कभी ये समुदाय किसी दूसरे समुदाय के अधिकारों पर आक्रमण करें अथवा दूसरे व्यक्तियों के निजी कार्यों में बाधा डालें तो उन्हें ऐसा करने से रोका जाय।

राज्य का मनुष्य के साथ नैतिक संबंध भी है। मनुष्य के आचरण अच्छा बनाना राज्य का कर्त्तव्य है। ग्रीन (Green) का कथन है कि 'राज्य को केवल ऐसे ही कार्य करने अथवा न करने देना चाहिये जिनका करने देना अथवा न करने देना समाज के नैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक हो।' इसका अभिप्राय यह है कि राज्य केवल ऐसे ही कार्यों को करने की आज्ञा दे जिन से जनता की भलाई हो। जिन कार्यों के करने से जनता में किसी प्रकार की बुराई फैले ऐसी बातें राज्य कभी नहीं होने दे। परन्तु राज्य केवल

उन्हीं विषयों में मनुष्य को बाध्य कर सकता है जो अन्य मनुष्यों अथवा समाज से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य के किसी भी निजी कार्य का यदि समाज अथवा अन्य व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है तो राज्य उस कार्य में अवश्य बाधक होगा। यदि मनुष्य के किसी निजी कार्य से समाज अयवा अन्य मनुष्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तो राज्य उसमें किसी प्रकार से बाधक नहीं हो सकता परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि एक मनुष्य आत्महत्या अथवा कोई अन्य ऐसा निजी कार्य कर सकता है। ऐसा नहीं हो सकता। मनुष्य को अपने जीवन पर ऐसा अधिकार नहीं है। जब उसको अपने ही जीवन पर यह अधिकार प्राप्त नहीं है तो वह दूसरों के जीवन पर भी यह अधिकार नहीं रखता है चाहे उसका पुत्र पुत्री अथया स्त्री ही क्यों न हो।

सारांश यह है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्यमात्र की उन्नति करना और उनके जीवन को आनन्दमय बनाना है। राज्य में ही मनुष्य शान्तिपूर्वक रहता हुआ सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। राज्य के सब संगठन और समुदाय अथवा समाज तभी ठीक ठीक कार्य कर सकते हैं जब उनके ऊपर राज्य का भय हो अन्यथा कदापि शान्ति स्थापित नहीं रह सकती। राज्य न्यायपूर्वक अपने बल का प्रयोग करता हुआ जनता को सुखी और संतुष्ट रखता है। अच्छे राज्य में व्यक्तित्व को दबाया नहीं जाता। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य के नियमों पर चलते हुए पूर्ण उन्नति करने का अधिकार है।

राज्य के तत्व—राज्य का मूल क्रम वा विक्रम है। किसी वंश में पुरुषानुक्रम से राज्य का चला आना और उत्तराधिकार रूप से राज्य का मिलना क्रम है। विक्रम का अर्थ शौर्य है। जो राज्य किसी की वीरता के कारण आक्रमण द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से प्राप्त किया जाता है वह विक्रम मूलक राज्य कहलाता है। इंगलैण्ड में राज्य का मूल क्रम है। ईरान के रज़ाशाह के राज्य का मूल विक्रम है।

प्राचीन हिन्दू राजनीति के आचार्यों ने राज्य से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति बतलाई है। इसीलिये शुक्राचार्य ने अपनी दण्ड नीति के आरम्भ में ही राज्य रूपी उस वृक्ष को नमस्कार किया है, जिसकी शाखाएँ षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) है और जिसके फूल (साम, दाम, भेद और दण्ड) तथा फल त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम हैं।

हमारे प्राचीन हिन्दू राजशास्त्रवेताओं (मनु, वृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य आदि) ने राज्य के सात अङ्ग या प्रकृतियां मानी हैं। वे ये:—

१—स्वामी अथवा राजा। २—अमात्य अथवा मंत्री। ३—पुर या राजधानी। ४—राष्ट्र। ५—कोष। ६—दण्ड अथवा बल। ७—सुहृद् अथवा मित्र*। ये सात प्रकृतियां राज्य रूपी शरीर के अङ्ग हैं। यद्यपि सप्तांग राज्य के सभी वर्णनों में स्वामी या राजा का उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है तथापि वास्तव में राज्य का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग राष्ट्र है, क्योंकि राजा के बिना तो राज्य हो सकता है, परन्तु राष्ट्र के बिना यह असम्भव है।

सप्तांग राज्य के विषय में शुक्रनीतिसार का रूपक बड़ा ही अद्भुत है। वह यह है—राज्याङ्गों में मन्त्री तो नेत्र हैं, मित्र कान हैं, कोष मुख, बल मन, दुर्ग हाथ और पैर राष्ट्र हैं†। राष्ट्र इस लिये पैर कहा गया है कि वह राज्य का मूलाधार है। उसी के सहारे राज्य रूपी शरीर खड़ा होता है। इसी लिए राज्याङ्गों में राष्ट्र का मुख्य स्थान है।

दूसरा स्थान बल का है, क्योंकि बल मन के समान बताया गया है। शरीर में इन्द्रियों का राजा मन है क्योंकि उन्हें किसी कार्य में प्रवृत्त अथवा उससे निवृत्त वही करता है। राज्य में भी यदि बल या सेना न हुई, तो यह कुछ नहीं कर सकता। कोष की उपमा मुख से दी गई है और इसलिये इसका तीसरा स्थान है। जैसे मुख खाता है और सारा शरीर उससे पुष्ट होता है वैसे ही राज्य-कोष में धन संचित होने से सभी कार्यों की पुष्टि होती है। कौटिल्य ने कहा है कि कोष और बल ही राजा की शक्ति है‡। महाभारत में कहा गया है कि राजा का मूल कोष बल है और कोष का मूल बल है। वही सब धर्मों का मूल है और धर्म का मूल प्रजा है। मंत्री को आंख इस लिये बताया है कि राज्य का प्रायः समस्त व्यवहार मंत्रियों के परामर्श से होता है। जैसे अपने ऊपर आक्रमण होने से हाथ ही सबसे प्रथम ऊपर को प्रहार रोकने के लिये उठता है उसी प्रकार राज्य पर जब आक्रमण होता है तो दुर्ग को ही सहना पड़ता है। इसलिये दुर्ग की हाथ से उपमा दी गई है।

---

* स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥ २९४, मनु० अ० ९।

† दृगममात्या सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।
हस्तपादौ दुर्गं राष्ट्रं राज्यागांनि स्मृतानिह ॥
(६२, अ० १ शुक्रनीति सार)

‡ कोश दंड बलं हि प्रभु शक्तिः ॥
(अर्थशास्त्र, अधि० ६, अ० २)

(१) राष्ट्र--राष्ट्र राज्य का मूल आधार है, क्योंकि राज्य की सब प्रकृतियों में सबसे पहले राष्ट्र ही उत्पन्न हुआ था (जिस भूभाग पर पशु, अन्न, सोना आदि सम्पदा शोभायमान हो, उसका नाम राष्ट्र है)। इसके पश्चात् बल की उत्पत्ति हुई। अथर्ववेद में बताया गया है कि कल्याण की कामना करते हुए ऋषियों ने दीक्षा स्वीकार की और तप किया, जिससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुए। राष्ट्र अनेक प्रकार के होते हैं, कोई छोटे, कोई बड़े और कोई बहुत बड़े। छोटे राष्ट्र एक नगर के होते हैं, जैसे प्राचीन काल में यूनान में थे। प्राचीन भारत में बहुत से छोटे बड़े राज्य थे। बहुत बड़े राज्य का उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी का ब्रिटिश साम्राज्य है। छोटे राष्ट्रों की सीमा किसी नदी, पर्वत, वृक्ष से निर्धारित होती थी व बड़े राष्ट्रों की काल्पनिक होती थी अथवा समझौते द्वारा निश्चित् की जाती थी। वर्तमान काल में वह देश वा भूभाग एक राष्ट्र समझा जाता है जिसमें एकसी राज्य व्यवस्था प्रचलित हो। एक धर्म जाति और भाषा राष्ट्र की एकता के लक्षण माने जाते हैं। परन्तु इनके अभाव से राष्ट्रीयता की हानि नहीं होती है। अमरीका के संयुक्त राज्यों में अनेक जातियों और धर्म सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं और फिर भी संयुक्त राज्य एक राष्ट्र है। स्विटज़रलैंड में तीन भाषाएँ बोली जाती हैं और उनमें राज-काज होता है परन्तु वह एक राष्ट्र है। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी और आस्ट्रिया दोनों ट्यूटन जाति के होने पर भी दो स्वतन्त्र राष्ट्र थे। इसी प्रकार भारत और नैपाल के धर्म, संस्कृति और जाति एक हैं परन्तु राष्ट्र दो हैं।

(२) दंड—जिस उपाय से मनुष्य असदाचार से निवृत्त और सदाचार में प्रवृत्त किया जाता है, उसे दंड कहते हैं और जिससे जन्तु का दमन किया जाता है इस उपाय को भी दंड ही कहते हैं। दंड दो प्रकार का है। एक किसी पूर्व-कृत अपराध के लिये शान्ति देता है, दूसरा भविष्य में कोई अपराध होने की रोक करता है। महाभारत में दंड के दो रूप बताये हैं एक भीतरी और दूसरा बाहरी। भीतरी रूप यह है कि दण्ड परमेश्वर है और अग्नि के समान उसका रूप है अर्थात् दुष्ट को सन्तप्त करने के लिये क्रूरता में अग्नि के सदृश है। बाहरी रूप यह है कि नील कमल के समान वह श्याम है। उसकी चार दाढ़ें, चार भुजाएँ, आठ पैर, अनेक नेत्र, सशंक कान और खड़े रोम हैं, वह जटाधारी और दो जीभों वाला है; उसका चेहरा तांबे का सा है और वह वाघम्बर पहने है। नीलकंठ ने इस बाहरी रूप का अर्थ इस प्रकार समझाया है कि चार दाढ़ों का अर्थ चार प्रकार का दंड अपमान, जुर्माना, शारीरिक

दंड और प्राण-दंड है। चार भुजाओं का अर्थ चार प्रकार से धन ग्रहण है, यथा प्रजा और सामन्तों से कर लेना, अर्थी की भाषा (बयान); दिव्य से दूना अर्थ दान, दमानन, प्रत्यर्थी से भाषा के द्रव्य के बराबर दिव्य दान और सम्पत्तिहरण। आठ पैरों से मामले की आठ गतियों से प्रयोजन है; जैसे, अर्थी या वादी का आवेदन (अर्जीदावा); भाषा (प्रत्यर्थी के सामने अर्थी का बयान), सम्प्रतिपत्ति (प्रत्यर्थी का ऋण लेना स्वीकार करना); मिथ्योत्तर (जवाब दावा कि दावा झूठा है), कारणोत्तर (जवाब दावा कि ऋण लिया था पर चुका दिया), प्राङ्न्यायोत्तर (जवाब दावा कि वही मामला खारिज हो चुका है), प्रतिभूः क्रिया (अर्थी या प्रत्यर्थी के जामिनों का यह कहकर रुपया देना कि हम मामले में हार गये) और फल सिद्धि या निर्णय। अनेक नयनों का अर्थ राजा, मंत्री, पुरोहित, पार्षद आदि है। शंकुकर्ण का अर्थ तीक्ष्ण कान है, अर्थात् उसे अवश्य ही सुनाई देगा। खड़े रोम का अभिप्राय सर्वदा उत्साहपूर्ण रहना है। जटाधारी का अर्थ मामले के पेच है। दो जीभों का कारण अर्थी-प्रत्यर्थी के वचनों का वैषम्य है तथा ताम्रास्य का अर्थ है अग्नि के समान चेहरा तथा व्याघ्राम्बर पहने हुए है अर्थात् बाघ की भांति भयप्रद है। इस वर्णन के पश्चात् भीष्म ने बताया है कि दंड ही भगवान् विष्णु तथा दण्ड ही नारायण और प्रभु है और नित्य महत्‌रूप धरने के कारण वह महापुरुष कहाता है। शुक्रनीतिसार के अनुसार निर्भर्त्सन (झिड़कना), द्रव्य हरण, नाशन, बन्धन, ताड़न, निर्वासन, उल्टी हजामत बनवा देना, असत्‌यान (गधे पर सवार कर घुमाना), अङ्ग काटना, वध करना, अंकन (दागना) और युद्ध-दण्ड के भेद हैं।

मनुस्मृति के अनुसार राजा की सहायता के लिये परमेश्वर ने पहिले ही अर्थात् राजा के जन्म के पहिले ही अपनी आत्मा से ब्रह्मतेजोमय धर्म या दण्ड को उत्पन्न किया, जिस पर सब कुछ अवलम्बित है। इसी दण्ड के भय से चराचर प्राणिमात्र अपने धर्म से नहीं डिगते। कौटिल्य का कहना है कि पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुसार जो राजा ठीक दण्ड देता है वही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है *। दण्ड के द्वारा राजा चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों को अपने अपने धर्म कर्म से ठीक रख कर

---

* दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथा दोषं समं धृतः॥

अर्थ० अधि० ३ अ० १

उचित मार्ग से चलाता है * । कौटिल्य ने दंड के तीन भेद करके उनके फल भी बताये हैं। एक, नीति शास्त्र के ज्ञाता का दिया हुआ दण्ड है जिसका फल प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में लगाता है। दूसरा काम, क्रोध और अज्ञान से दिया हुआ दण्ड है जिससे वानप्रस्थ और संन्यासी भी कुपित होते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या है। तीसरा जहां दण्ड देना चाहिए वहां न देना है। इसका फल मात्स्यन्याय है; दण्डधर के अभाव में सबल निर्बल को खाते हैं। जब दण्ड द्वारा सबल से निर्बल की रक्षा की जाती है तो यह भी सबल हो जाता है।

अब तक जो बताया गया है उससे दण्ड के तीन रूप सिद्ध होते हैं। एक केवल दंड, दूसरा बल, और तीसरा व्यवहार। बल का प्रयोग कामन्दक ने दण्ड अर्थ में किया है। महाभारत के अनुसार दण्ड का ही नाम धर्म और व्यवहार है। अतः दण्ड के तीन अर्थ हुए—१-बल व सेना, २-व्यवहार व धर्म व्यवस्था और ३-दुष्टों का नियंत्रण, निग्रह वा दमन।

बल दो प्रकार का होता है—एक स्वराष्ट्र में प्रजा की त्रुटियों वा अपराधों के लिये दण्ड देने की शक्ति और दूसरा परराष्ट्र से युद्ध करने का बल वा सेना। सैन्यबल के दो रूप हैं—एक चतुरंग बल और दूसरा अष्टांग बल। गज, रथ, अश्व और पैदल चतुरंग बल है और इसके सहित नाव, विष्टि, दैशिक और चर मिलकर अष्टांग बल होते हैं। नाव का अर्थ नावों के बेड़े का है जिसे आजकल नौबल कहते हैं। दैशिक योद्धाओं के शौर्य को उत्तेजन और उन्हें कर्तव्य पालन का उपदेश देते हैं। विष्टि माल ढोने वाले होते हैं। चर भेदिये होते हैं।

(३) राजा—'राजा' शब्द का अर्थ है प्रजा का रंजन करने वाला', राज्य व्यवस्था को भली प्रकार चलाने के लिये प्रजा जिसको अपना नेता निर्वाचित करती है वही राजा है। पहिले राजा न था। पीछे लोगों ने अपनी कठिनाइयां दूर करने के लिये अपने ही में से एक आदमी को अपनी शक्ति देकर राजा बना दिया। अथर्ववेद में लिखा है कि आरम्भ में यह राष्ट्र विराट् (राजा से रहित) था। उसे देकर लोग भयभीत हुए कि क्या ऐसा ही रहेगा। †

---

* चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दंडेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥ अर्थ०, अधि० १ अ० ४

† विराड् वा इदमग्र आसीत।
तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति॥ १ सू० १० कांड ८॥

ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि जब असुरों और देवताओं के युद्ध में देवता हार गये, तब इन्होंने सोचा कि हमारा कोई राजा न होने से हम हार जाते हैं, आओ हम सब मिलकर एक राजा निर्वाचित करें। सबने इस बात को स्वीकार किया और सोम को राजा बनाया। मनुस्मृति में अराजक अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि इस अराजक देश में सब लोग भय से चारों ओर भागने लगे, तब इनकी रक्षा के लिये परमेश्वर ने इन्द्र, वायु, यम सूर्य, अग्नि वरुण, चंद्र और कुबेर के अंश लेकर राजा की सृष्टि की। महाभारत में जब युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि सब मनुष्यों के हाथ, पैर, नाक, कान, गर्दन, भुजाएँ और बुद्धि होती है और सभी समान भाव से सुख दुःख भोगते हैं, तब उन एक मनुष्य में ऐसी क्या विशेषता होती है जो औरों पर शासन करता है? भीष्म ने उत्तर दिया कि हे नरशार्दूल! सुनो, जिस प्रकार सत्युग में राज्य उत्पन्न हुआ। पहले न राज्य था न राजा था, न दंड था न दंड देने वाला, धर्म से ही सब प्रजा एक दूसरे की रक्षा करती थी।

महाभारत के शान्तिपर्व के ५९ वें अध्याय में लिखा है कि धर्म से परस्पर की रक्षा करते जब लोग थक गये और मोह में फंस गये तो पहले ज्ञान फिर धर्म ने उनका साथ छोड़ दिया। मोह के कारण वे लोभी, विषयाभिलाषी और कामी हो गये। विषयानुरक्त होने के कारण उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न रहा। अगम्यागमन और भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान न रहने से यज्ञ और वेद लुप्त हो गये। देवताओं को यज्ञ का भाग न मिलने से उन्होंने ब्रह्मा से पुकार मचाई। ब्रह्मा न उन्हें आश्वासन देकर एक लाख अध्याय का नीतिशास्त्र बना दिया जिसमें धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का वर्णन किया। इसके पश्चात् देवता प्रजापति विष्णु के पास गये और बोले कि मनुष्यों में कौन एक मनुष्य श्रेष्ठ होगा यह बतलाये। विष्णु ने विरजा नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया। राजा के निर्वाचन के विषय में एक और आख्यायिका शान्तिपर्व के ६७ वें अध्याय में है। इसमें भी युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने सुना हुआ इतिहास बताया। वे कहते हैं कि अराजक राज्य की प्रजा वैसे ही नष्ट हुई थी, जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। इस प्रकार लोगों का नाश होने लगा तब सबने मिलकर निश्चय किया हम लोगों में जो कटुभाषी, उद्दंड, परस्त्रीगामी और परधनहारी होगा, वह त्याज्य या बहिष्कृत समझा जायगा। इस प्रकार सब वर्णों में विश्वास स्थापन करने के लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि हम लोगों में राजा न रहने से हमारा

दोनों के कर्म करते थे। केरल की धर्म भूमि पर इस प्रकार के प्रतिनिधित्व से राजकाज चलने में जब गड़बड़ मची और अत्याचार हुआ तब सब ग्रामों के ब्राह्मणों ने एकत्र होकर यह निश्चय किया कि प्रति चार ग्राम मिलकर एक संरक्षक अधिकारी चुने और उस अधिकारी तथा उसके नीचे काम करने वाले अधिकारियों के खर्च के लिये उन चार ग्रामों की उपज का छठा भाग दिया जाय। परन्तु कालान्तर में ये अधिकारी जब अत्याचार करने लगे तब ब्राह्मणों ने फिर सभा की और उन चार ग्रामों के लोगों को राजा चुनने के लिये कहा। इसके अनुसार उन्होंने केयपेरुमाल नामक एक पहाड़ी राजा चुना। इन बातों से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में राजा चुना जाता था।

(४) कोष—शुक्र का कथन है कि आपत्ति काल में और विशेष कर संकट काल में जो राजा की सेना चलाता है उसे कोष कहते हैं। कोष की उत्पत्ति राजा के साथ हुई है, क्योंकि प्रजा ने पशुओं और सुवर्ण का पचासवां, पुण्य का दसवां और धान्य का दसवांश वैवस्वत मनु को देने की प्रतिज्ञा की थी। धनधान्य सुवर्ण रत्नादि के भण्डार को कोष कहते हैं। प्रजा के कृषि गोरक्षा और वाणिज्य में तो राजा का भाग था ही, परन्तु राजा अन्य राजाओं पर चढ़ाई करके उन्हें करद बना लेता था और इस प्रकार आय का एक और मार्ग निकल आता था। राजा आजकल की भाँति नकद रुपया नहीं लेता था। धान्य का भाग धान्य में, पशुओं का पशुओं में, हिरण्य का हिरण्य में और रत्नादि का रत्नादि में लिया करता था। कोष की बड़ी महिमा है। कोष राजाओं का जीवन है। कोष है तो राजा को सेना सेवक आदि सब कुछ सुलभ हैं। कोष वही अच्छा है जो विपत्ति के आने पर व्यय किया जा सके और जो हिरण्यादि संयुक्त हो। सोमदेव सूरि ने कोष की व्याख्या इस प्रकार की है—जिसमें सोना चांदी बहुत हो और व्यवहारिक नाणकों या प्रचलित सिक्कों की बहुतायत हो और जो आपत्काल में बहुत व्यय करने में समर्थ हो, वह कोष उत्तम होता है। वशिष्ठ का कथन है कि सब आय को व्यय नहीं कर देना चाहिए। कोष में कुछ अवश्य डालना चाहिए क्योंकि आपत्काल में वह राज्यरक्षक होता है। राजा को क्षीणकोष कभी न रहना चाहिए। उसे सदैव भरने का प्रयत्न करना चाहिए।

(५) दुर्ग—दुर्ग वह स्थान है जो शत्रु के लिये दुर्गम हो। शुक्राचार्य का कहना है कि जिसको प्राप्त करने में शत्रुओं को दुःख उठाना पड़े और जो आपत्काल में राजा की रक्षा करे, वही दुर्ग है। प्रत्येक राष्ट्र में एक मुख्य स्थान होता है जहाँ राजा और राज्य की व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले

अधिकारी रहते हैं। कहीं इस स्थान की रचना दुर्ग के समान होती है और कहीं नगर के समान। कहीं नगर में दुर्ग होता है, कहीं दुर्ग में नगर होता है। ऋग्वेद में आयसीपुरः' अर्थात् लोहनिर्मितपुर की चर्चा है। शुक्राचार्य ने दुर्ग को बड़ा महत्व दिया है। वे कहते हैं कि राजा उसके बिना वैसे ही शत्रु के लिये गम्य हो जाता है, जैसे विष की दाढ़ के बिना सर्प और मद के बिना हाथी। दुर्ग हीन राजा सहज में ही शत्रु के वश में हो जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में युधिष्ठिर को दुर्ग संपन्नपुर के विषय में यह उपदेश दिया है कि उसके दृढ़ आकार और खाई हों, उसमें धान्य और आयुध हों तथा हाथी, घोड़े और रथ बहुत हों। दुर्ग के छः भेद बताये गये हैं—धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग मनुष्यदुर्ग, मृदुर्ग और वनदुर्ग। कौटिल्य ने चार प्रकार के दुर्ग माने हैं—औदक, पर्वत, धान्वन और वनदुर्ग। चारों ओर नदियों और झीलों से घिरा हुआ अथवा टापू औदकदुर्ग है। बड़े बड़े पहाड़ी टीलों से घिरा हुआ अथवा प्राकृतिक गुफाओं के रूप में पार्वतदुर्ग होता है। ऊपर या मरुभूमि में जो दुर्ग होता है उसे धान्वनदुर्ग कहते हैं और चारों ओर दलदल या काँटेदार झाड़ियों से घिरा हुआ वनदुर्ग होता है। मानसार के मतानुसार आठ प्रकार के दुर्ग होते हैं शिविर, वाहिनीमुख, स्थानीय, द्रोणक, संमिद्ध, कोलक, निगम और स्कन्धावार। शिविर पड़ाव हैं जहाँ पर कुछ समय के लिये राजा सेना सहित जाकर रहता है। वाहिनीमुख उस सैन्यसमूह को कहते हैं जिसमें ८१ हाथी, ८१ रथ; २४३ घोड़े और ४०६ पैदल होते हैं। स्थानीय जनपद का मुख्य स्थान व नगर है। द्रोड़क ग्राम का गढ होता है। संमिद्धि, कोलक और निगम सैन्यदल के ही भेद हैं। स्कन्धावार उसे कहते हैं जहाँ सेना रक्खी जाती है। ये छावनी हैं।

(६) मन्त्री—अमात्य राज्य-व्यवस्था ठीक रखने में राजा को सहायता देता है। मनुस्मृति में लिखा है कि राज्य-कार्य का निर्वाह बिना मन्त्रियों के नहीं हो सकता। कौटिल्य ने कहा है कि जैसे एक पहिये का रथ निकम्मा रहता है वैसे ही राजत्व भी सहाय साध्य है। अतः राजा सचिव नियुक्त करे और उनका मत सुने। मनु के अनुयायी कहते हैं कि मन्त्रिपरिषद में १२ मन्त्री होने चाहिये। वृहस्पति के अनुयायी १६ और शुक्र ने २० बतलाये हैं। कौटिल्य का मत है कि जितने मन्त्रियों की आवश्यकता हो उतने रखने चाहिए। मन्त्री राज्य की प्रकृति है। शुक्रनीतिसार में उसे राजा की प्रकृति भी कहा गया है। अतः मन्त्री के दो रूप हैं—एक तो राज्यांग होने के कारण राज्य के कार्यों को चलाना है इसलिये राज्य की प्रकृति कहा गया है, और दूसरे

राजा के उत्तरदायित्व को ग्रहण करने और उसे परामर्श देने के कारण राजा की प्रकृति बताया गया है।

(७) मित्र या शत्रु—सुहृद् या मित्र वह राजा या राष्ट्र कहलाता है जो दूसरे राजा या राष्ट्र के सुख दुःख में सहायता करे। कौटिल्य का मत है कि जो सुख-दुःख में स्नेह करे वह मित्र और इसके विपरीत आचरण करने वाला शत्रु है। महाभारत में भीष्म ने चार प्रकार के मित्र बताये हैं—सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम। जब किसी का राज्य आपस में बाँटने के लिये दो राजा मित्र बन जाते हैं तो सहार्थ अर्थात् समान स्वार्थ वाले मित्र कहाते हैं। पीढ़ी दर-पीढ़ी के मित्र भजमान, नातेदार सहज मित्र और धनादि के लोभ से बने हुए मित्र कृत्रिम होते हैं। महाभारत में जो चार प्रकार के मित्र बताये गये हैं उनमें भजमान और सहज श्रेष्ठ हैं। भीष्म ने कहा है कि मित्रों की रक्षा के काम में राजा कभी असावधानी न करे, क्योंकि प्रमादी राजा का लोग पराभव करते हैं। मनुष्य का मन स्वभाव से ही चंचल होता है। कभी अच्छा बुरा और कभी बुरा अच्छा हो जाता है, अतः किसी का पूर्ण विश्वास न करे और आवश्यक कार्य स्वयं करे।

शुक्र नीति के अनुसार शत्रु वह है जो अपने इष्ट की हानि करे। कामन्दक का मत है कि जिस पदार्थ को लेने की अपनी इच्छा हो और वही पदार्थ दूसरा लेना चाहे, तो वह पुरुष शत्रु कहाता है और जिस शत्रु में विजयाकांक्षी के गुण हों उसे दारुण शत्रु समझना चाहिए। जिसकी सहायता से स्वार्थ सिद्ध होता है वह मित्र और जिससे उसमें बाधा पड़ती है वह शत्रु है।

यूरोप के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता ब्लंश्ली ने राज्य के निम्नलिखित सात तत्त्व माने हैं—(१) जनसंख्या; (२) स्थान; (३) संगठन; (४) शासक शासित में भेद; (५) जीवन; (६) सदाचार के सिद्धान्त; (७) नर-गुण प्रधानता।

(१) जन-संख्या—वर्तमान काल में राज्य की जन-संख्या बहुत बड़ी होती है। प्राचीन काल में यूनान में छोटे-छोटे नगर होते थे। जन-संख्या अधिक नहीं होती थी। राज्य के सब नागरिक शासन-कार्य में भाग लेते थे। रूसो (Rousseau) ने राज्य की अल्प से अल्प जनसंख्या दसहजार प्रकट की है। प्रसिद्ध व्यष्टि-वादी वर्ड्सवर्थ डानिस्थ्रोप (Wordsworth Donisthrope) कहता है कि "मैं साहस के साथ कहता हूँ कि प्राथमिक राज्य में एकमात्र माता तथा उसके बाल ही सम्मिलित थे।" प्राचीनकाल की दशा और

वर्तमानकाल की दशा में बड़ा अन्तर है। आधुनिक काल के आविष्कारों, शीघ्र यातायात के साधन, रेडियो, टेलीग्राफ़, टेलीफोन तथा उद्योग-व्यवसाय के धन्धों की उन्नति के कारण बहुत बड़े-बड़े नगरों की स्थापना हो गई है और जनसंख्या बहुत बढ़ गई है। बिना मनुष्यों के राज्य संभव नही है, अतः राज्य के लिये जनसंख्या आवश्यक समझी गई है।

(२) स्थान—मनुष्यों के रहने के लिये एक निश्चित स्थान का होना आवश्यक है। भ्रमणशील जातियाँ उस समय तक राज्य के रूप में नहीं आ सकती जब तक वे एक स्थान पर स्थायी रूप से स्थापित न हो जायँ। प्राचीन काल में राज्य के लिये निश्चित भूमि आवश्यक थी। आधुनिक काल में जल और आकाश दोनों राज्य की सीमा में आते हैं। वायुयानों के आविष्कार ने आकाश को भी राज्य की सीमा के अन्दर कर दिया है।

(३) संगठन—संगठन का राज्य में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। एक राज्य में भिन्न-भिन्न जाति और भिन्न-भिन्न धर्मो के अनुयायी रह सकते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के लोग भी एक राज्य में रह सकते हैं। इतने प्रकार की विभिन्नता होने पर भी वे एक राजनैतिक सूत्र में संगठित हो सकते हैं अतः राज्य के लिये संगठन भी एक आवश्यक अंग समझा गया है।

(४) शासक और शासितों में भेद—प्रत्येक राज्य में शासक और शासितों का भेद भी आवश्यक है। राज्य के सब मनुष्य एक साथ शासन नहीं कर सकते। वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन करते हैं। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि जिनके हाथ में शासन की बागडोर है उनकी आज्ञा का पालन करे। यदि ऐसा न होगा तो अराजकता फैल जायगी और राज्य में शान्ति स्थापित न रह सकेगी। जिस राज्य में यह भेद-भाव लुप्त हो जाय और प्रत्येक मनुष्य उच्छृङ्खल विचरने लगे तो राज्य की प्रतिभा छिन्न-भिन्न हो जायगी। समष्टिवादियों में कम्यूनिस्ट लोग राज्य के इस स्वरूप के विरुद्ध हैं। सामाजिक बन्धनों द्वारा ही वे सम्पूर्ण कार्य चलाना चाहते हैं उनके विचारों की असत्यता इसी से स्पष्ट है कि वे अपने विचारों के अनुसार अभी तक किसी समाज के निर्माण में समर्थ नहीं हो सके है। बिना शासक-शासितों के भेद के कोई राज्य स्थिर नहीं रह सकता और न कोई कार्य सफलतापूर्वक हो सकता है।

(५) जीवन—राज्य का विकास और ह्रास चेतन प्राणियों से मिलता

फूलता है। राज्य एक जीवित वस्तु है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के भिन्न-भिन्न अंग होते हैं उसी प्रकार राज्य के भी भिन्न भिन्न अंग होते हैं। राज्य संगठन, नियम, न्यायालय, सेना, पुलिस तथा अन्य संस्थाएँ सब राज्य के अंग हैं। राज्य का भी शैशव काल, यौवनावस्था तथा वृद्ध काल होता है। जिस प्रकार राज्य का जन्म होता है उसी प्रकार राज्य की मृत्यु (अन्त) भी होती है। जिस प्रकार जीवन की दीर्घता तथा न्यूनता उसके शरीर की स्वस्थता तथा अंगों के ठीक-ठीक कार्य करने पर निर्भर है उसी प्रकार राज्य की भी दशा है। यदि राज्य का प्रत्येक अंग (विभाग) ठीक-ठीक कार्य करता रहेगा तो राज्य दीर्घकाल तक चलेगा अन्यथा नष्ट हो जायगा।

(६) सदाचार सिद्धान्त—ऊपर बताया गया है कि राज्य एक जीवित वस्तु है। राज्य पशु-पक्षी के समान जीवित वस्तु नहीं है। राज्य मनुष्य के समान एक जीवित वस्तु है। राज्य मनुष्यों का संगठन है। राज्य में सदाचार के वही सिद्धान्त कार्य करते हैं जो एक मनुष्य के जीवन में करते हैं। राज्य समाज के अनुभवों तथा विचारों को नियम द्वारा कार्य में लाता है। शासन का उद्देश्य यह है कि राज्य अपनी इच्छाओं को सफलतापूर्वक काम में ला सके। वैयक्तिक इच्छाओं की अपेक्षा राज्य की इच्छाएँ उच्च समझी जाती है। राज्य एक उत्कृष्ट शरीर है। यदि राज्य के अंग अपने उचित आचरणों से गिर जायेंगे तो अवश्यमेव राज्य नष्ट हो जायगा।

(७) नर-गुण प्रधान—मानव समाज में नर-नारी का भेद है। राज्य का स्वरूप नरगुण प्रधान माना गया है। धार्मिक संस्थाओं के हाथ में शासन आ जाने से राज्य में कोमलता आ जाती है। दयाभाव अधिक हो जाता है। परिणाम यह होता है कि अनर्थ और अत्याचार बढ़ने पर कठोर दंड नहीं दिये जाते और इस प्रकार राज्य नाश को प्राप्त होता है। अतः ब्लंशली के अनुसार राज्य में नरगुण की प्रधानता की आवश्यकता है। उसमें कठोरता, धैर्य और सहिष्णुता का होना आवश्यक है। ब्लंशली के मतानुसार राज्य के ये तत्त्व उचित प्रतीत होते हैं परन्तु आधुनिक राजशास्त्रवेत्ताओं ने राज्य के तत्त्व केवल चार ही माने हैं। इनके मतानुसार अन्य सब तत्त्व इन्हीं चार तत्त्वों के अन्तर्गत हैं। ये चार तत्व हैं—(१) जनसंख्या; (२) राज्य भूमि; (३) प्रभुता अथवा सर्वोच्च सत्ता; और (४) शासन।

आधुनिक काल के राजशास्त्रवेत्ताओं में से गार्नर (Garner) ऐसे हैं जिनकी 'राज्य' की परिभाषा अत्यन्त संतोषजनक प्रतीत होती है। गार्नर के मतानुसार "पर्याप्त संख्या में एक मानव समुदाय, स्थायी रूप से किसी

निश्चित भू-भाग पर निवास करता हो, जो बाहरी शक्ति के दबाव से स्वतंत्र हो, उस (मानव समुदाय) में सुसंगठित शासन हो और (उस राज्य के) निवासियों की बहुत बड़ी संख्या स्वभावतया उस शासन की आज्ञा पालन करती हो" † यह राज्य की परिभाषा है। इस परिभाषा के विश्लेषण करने पर ऊपर वर्णन किये गये चार तत्व स्पष्ट हैं जिनका उल्लेख एक-एक करके नीचे किया जाता है—

(१) जन संख्या—राज्य एक मानव समुदाय (संघात) है। अतः राज्य में जनसंख्या का होना आवश्यक है। प्लैटो, अरस्तू, रूसो आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने राज्य के लिये जनसख्याएँ निश्चित की है। प्लैटो ने अपनी पुस्तक 'लाज' (Laws) में एक आदर्श राज्य के लिये ५०४० जनसंख्या निश्चित की है। अरस्तू के मतानुसार १००००० जनसंख्या अत्यधिक है। अरस्तू ने लिखा हैं कि किसी राज्य के सुसंगठन के लिये यह आवश्यक हैं कि उसमें लोकसंख्या और भूविस्तार की कुछ सीमा होनी चाहिए। जनसंख्या न तो अत्यधिक होनी चाहिये न अति न्यून। वह इतनी होनी चाहिये कि जिससे वह स्वतः परिपूर्ण होकर अच्छी तरह शासित हो सके। रूसो ने एक स्थान पर लिखा है कि राज्य के अस्तित्व के लिये जनसंख्या की कोई सीमा निर्धारित न होकर भूमि विस्तार और जनसख्या में एक अनुपात होना चाहिये। अरस्तू का कथन है कि राज्य की माप दो बातों से की जा सकती है। एक भूमिविस्तार से, दूसरी उसकी जनसंख्या से। इन दो मापों के बीच जो संबंध है उसी से किसी राज्य का वास्तविक विस्तार (Dimension) समझना चाहिये। भूमिविस्तार ऐसा हो कि उसके निवासियों को भोजन वस्त्र का कष्ट न हो। वे अपने जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत करने के लिये साधन पैदा कर सकें। अरस्तू ने यह भी कहा है कि जनसंख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही वैयक्तिक स्वाधीनता कम होगी। उसने उदाहरण देकर बताया है कि यदि किसी राज्य में १०००० नागरिक है तो प्रत्येक नागरिक का राज्य

† State is a Community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite Portion of territory, independently or nearly so of external control and Possessing an organised government to which the great body of inhabitants render habitual obedience." (Garner)

सत्ता में [illegible] वाँ भाग होगा और इसी प्रकार घट जायगा। अतः राज्य में जनसंख्या इतनी होनी चाहिये जिससे शासनकार्य में बाधा न पड़े।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्राचीन काल में यूनान में नगर-राज्य थे जिनमें प्रत्येक नागरिक शासन कार्य में भाग लेता था। यूनान के नगर-राज्यों में दो प्रकार के लोग थे—एक नागरिक, दूसरे प्रजाजन। नागरिक वे लोग थे जो शासन कार्यों में भाग लेते थे। सब नागरिक मिलकर राज्य के लिये विधान बनाते थे, न्याय के लिये एकत्रित होते थे, तथा राज्य-कर्मचारियों के अपराधों पर उनके विरुद्ध फैसला करके उन्हें दंडित कर देते थे। दूसरे थे प्रजाजन जिनको राज्य में सब अधिकार प्राप्त थे, अर्थात् राज्य के न्यायालयों में अपने मुकद्दमे ले जा सकते थे, राज्य में व्यापार तथा अन्य व्यवसाय कर सकते थे, परन्तु वे राज्य के शासन प्रबन्ध में कोई भाग नहीं ले सकते थे। ऐसे लोग अधिकतर विदेशी व्यापारी होते थे। यूनान में दासों को किसी प्रकार के राजनैतिक नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे।

वर्तमान समय में भी राज्यों में दो प्रकार के लोग होते हैं—नागरिक और प्रजाजन। नागरिक वे हैं जिन्हें वोट देने का और निर्वाचित होने का अधिकार प्राप्त है। प्रजाजन वे हैं जिन्हें निर्वाचित होने अथवा निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है; इनमें वे विदेशी सम्मिलित हैं जिन्होंने राज्य की नागरिकता प्राप्त न की हो अथवा केवल व्यापार आदि के लिये राज्य में निवास करते हों तथा वे लोग जो किसी दण्ड न्यायालय से किसी अपराध पर दंड पा चुके हों अथवा विक्षिप्त हों।

(२) राज्यभूमि—भूमि राज्य का एक आवश्यक अंग है। ब्लंटश्ली का कथन है कि जिस प्रकार राज्य का वैयक्तिक आधार उसमें बसनेवाले लोगों पर है उसी प्रकार उसका नैसर्गिक आधार उस भूमि पर है जिसमें वे लोग निवास करते हैं, जो उस राज्य के प्रजागण हैं। जब तक मनुष्यों का समुदाय किसी निश्चित् भूमि को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह राज्य की स्थापना नहीं कर सकता। जिन मनुष्यों का एक स्थान पर निवास नहीं है, जो लोग घूमने फिरने वाले हैं, उनका कोई निश्चित राज्य नहीं हो सकता। राज्य के लिये निश्चित जनसंख्या की भाँति निश्चित भूमि भी आवश्यक है। इन दो चीजों के बिना राज्य का अस्तित्व असम्भव है।

राज्य-भूमि में केवल भूमि ही नहीं होती। उस भूमि की सरिताएँ,

तालाव, नहरें, झीलें आदि सब वस्तुएँ उस राज्य-भूमि के भाग हैं। राज्य की सीमा के भीतर भूमि, भूमि के ऊपर का वायुमंडल भी सम्मिलित है। यदि इस भूमि से मिला हुआ कोई समुद्र है तो उस समुद्र का भूमि से १२ मील की दूरी तक का भाग भी उस राज्य में सम्मिलित है (पहिने केवल तीन मील की दूरी का समुद्र ही सम्मिलित था। तीन मील की दूरी इसलिये रक्खी गई थी कि पहले तोप और वन्दूक की मार केवल तीन मील तक की होती थी। अव इनकी मार वहुत लम्बी हो गई है अतः यह दूरी अव अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार १२ मील तक मान ली गई है।)

प्रोफ़ेसर ईलियट (Elliott) के मतानुसार "वर्त्तमान राज्य-जीवन का मूल-सिद्धान्त प्रदेश प्रभुता अथवा राज्य सीमा के भीतर राज्य का सव पर प्रभुत्व तथा वाह्य दवाव से वचाव है।"* संघ राज्य में एक ही राज्य पर दो विवानों का अधिकार होता है। ऐसा नही समझना चाहिए कि संघ राज्य कोई दूसरा राज्य है। वास्तव में सदस्य-राज्य संघ का एक भाग है। विवान के अनुसार केवल उन्हीं विषयों में संघराज्य के विधान सदस्य राज्य पर लागू हो सकते हैं जहां सदस्य राज्य का सम्वन्ध संघ राज्य से लिखित विधान द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है।

प्राचीन हिन्दू राज्यशास्त्रवेत्ताओं ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राज्य का भूमि पर वैयक्तिक सम्पत्ति जैसा अधिकार नहीं है, केवल साधारण अधिकार है। महाभारत से हमको पता चलता है कि उस समय राज्य को भूमि-कर धान्य के रूप में दिया जाता था। परन्तु भूमि पर ग्राम वालों का ही स्वामित्व रहता था। ग्रामों की सीमायें निश्चित् रहती थीं। ग्रामों की सम्पूर्ण उपजाऊ भूमि पर ग्रामीणों का अधिकार रहता था। लोग अपने भाग की भूमि का स्वतन्त्रतापूर्वक क्रय-विक्रय कर सकते थे। भूमि का उस समय भी मूल्य था। भूमिदान करने में बड़ा पुण्य समझा जाता था।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता टाड ने अपने ग्रन्थ "राजस्थान" में मेवाड़ का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि वहां कृषक भूमि का स्वामी

---

† "Territorial sovereignty or the superiority of the State over all within its boundaries and complete freedom from external control, has been a fundamentle principal of the modern state life" Elliott.

समझा जाता था। मनु के इस सिद्धान्त के अनुसार कि "स्थाणुच्छेदस्य केदारम्" (अर्थात् भूमि का स्वामी वही है जो इसे साफ कर तैयार करता है) कृषक को यहाँ भूमि का स्वामी माना जाता था। मालगुजारी के बारे में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "भोगरा धनी राज हैं; भूमिरा धनी हम हैं" (अर्थात् राजा कर का अधिकारी है; हम भूमि के स्वामी हैं)।

मुस्लिम धर्म के अनुसार भी भूमि की स्वामिनी प्रजा है। हुल्नकेनेडी का कथन है कि प्रायः सभी मुस्लिम कानून-विशारदों का भी यही मत है। सन् १६६८ ई० में औरंगजेब ने एक फरमान द्वारा भूमि पर प्रजा का स्वामित्व स्वीकार किया था। सन् १७०४ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ते की कोठी के पास ३८ गावों की मालगुजारी मोल लेने के लिये तत्कालीन बादशाह के पास एक प्रार्थनापत्र भेजा था। इस पर बादशाह ने उत्तर दिया था कि लोगों से मोल लेलो, मेरा भूमि पर कोई अधिकार नहीं है। मध्यकालीन यूरोप में भूमि का स्वामी राजा समझा जाता था परन्तु वर्तमान काल में ऐसा नहीं है। आधुनिक राज्य अपने अधिकार की भूमि पर प्रजा का स्वामित्व मानते हैं। यदि किसी देश पर दूसरे राज्य का अधिकार हो जाय तो भूमि का स्वामी वही व्यक्ति रहेगा जो पहिले था।

आधुनिक राजनीतिज्ञ केवल भूमि के विस्तार को ही महत्वपूर्ण नहीं समझते। वे भूमि विस्तार के साथ-साथ संगठन, जातीय एकता, भौगोलिक परिस्थिति की श्रेष्ठता और अन्य कितने ही साधनों को राज्य की महत्ता के लिये आवश्यक समझते हैं। राज्य के लिये किसी विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है। परन्तु भूमि की भौगोलिक एकता का ध्यान रखते हुए राज्यों का संगठन होना चाहिए। जलवायु और नैसर्गिक परिस्थिति की समानता का भी विचार करना चाहिये। संस्कृति, सभ्यता तथा भाषा का विचार करते हुए ही राज्यों का संगठन करना आवश्यक है।

(२) प्रभुता अथवा प्रभुत्व-शक्ति (Sovereignty)—प्रभुत्व अथवा सर्वोच्च सत्ता राज्य का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। एक राज्य में बहुत सी संस्थाएँ और समाज हो सकते हैं। श्रम समिति, व्यवसाय समिति, ब्रह्मसमाज, देवसमाज, आर्यसमाज इत्यादि अनेक प्रकार के संगठनों के अपने-अपने पृथक्-पृथक् नियम भी होते हैं। इनके पास कुछ थोड़ी सी निश्चित् भूमि भी हो सकती है। इन संगठनों के प्रबन्ध के लिये, प्रधान, मंत्री, कोषाध्यक्ष इत्यादि अनेक पदाधिकारी हो सकते हैं, परन्तु इन में से प्रत्येक संस्था पृथक्-पृथक् अथवा सब मिलकर सामूहिक रूप में राज्य

हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तरीय विषयों में राज्य की शक्ति अपरिमित है।†

बाह्य विषयों में राज्य की सर्वोच्च शक्ति पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। कोई दूसरा राज्य उसमें किसी प्रकार से बाधक नहीं हो सकता। सर्वोच्च सत्ता को पूर्ण अधिकार है कि जिस प्रकार चाहे वह अन्य देशीय राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करे। युद्ध, संधि, व्यापारिक समझौता आदि करने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के अनुसार प्रत्येक राज्य को दूसरे राज्य से व्यवहार रखना पड़ता है परन्तु वह ऐसा करने को बाध्य नहीं है।

राज्य की सर्वोच्च सत्ता विभक्त नहीं की जा सकती है। इस शक्ति के काम में लाने के अधिकार को भिन्न-भिन्न राजकीय विभागों में विभाजित करते हुए भी राज्य की शक्ति एक है। राज्य की सत्ता वहाँ ही है जहाँ सर्वोच्च सत्ता पूर्णरूप से विद्यमान है। राज्य के नियमों के अनुसार राज्य की सर्वोच्च सत्ता पूर्ण, अपरिमित तथा अभेद्य है।‡

(४) शासन (Government)—राज्य (State) और शासन (Government) का भेद हम पहले वर्णन कर चुके हैं। राज्य और शासन में बड़ा भेद है। राज्य एक सत्ताधारी समुदाय है जो जन साधारण के हित के लिये राजनैतिक दृष्टि से सुसंगठित है और शासन राज्य के उस कार्यवाहक का नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा को प्रदर्शित करता है और अपनी इच्छा की पूर्ति कराता है। शासन राज्य का एक विशेष अंग है। शासन में परिवर्तन होते रहते हैं परन्तु इससे राज्य में परिवर्तन नहीं होता। राज्य का अस्तित्व वैसा ही रहता है। रूस में जारशाही का अन्त हो गया परन्तु रूस राज्य का अन्त नहीं हुआ। राज्य अपनी सर्वोच्च सत्ता और शक्ति से शासन को मंडित करता है। शासन राज्य की शक्तियों का संचालन करता है। सीली का कथन है कि शासन वह व्यवस्था है जिसके द्वारा राज्य की शक्तियाँ प्रकट की जाती हैं। शासन स्वयं सर्वोच्च-सत्ताधारी नहीं, उसके पास अपने निजी अधिकार तथा शक्तियां नहीं हैं, उसके पास जो कुछ है वह राज्य से उसके संगठन द्वारा दिया हुआ है। बिना शासन के राज्य का विचार ध्यान में नहीं आ सकता। किसी राज्य का शासन वहाँ के लोगों की प्रकृति, स्वभाव और राजनैतिक उन्नति पर निर्भर है। शासन कैसा ही हो

---

† गैटेल—इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटीकल साइन्स।

‡ लीकाक—एलीमेंण्ट्स आफ़ पौलिटीकल साइन्स।

राज्य में शान्ति रखने के लिये शासन अत्यन्त आवश्यक है। शासन सुसंगठित होना चाहिये और उसके पास पर्याप्त शासन का कार्य देश के भीतर शान्ति अन्तर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करना, अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में योग देना उसमें सफलता अथवा असफलता प्राप्त करना, शासन का ही कार्य है।

अध्याय ३

राज्य की उत्पत्ति

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? इस बात को जानने के लिये हमें दो सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ता है—एक ऐतिहासिक दूसरा काल्पनिक। राज्य की उत्पत्ति के विषय में हमें इतिहास से कुछ ठीक पता नहीं चलता है। यूरोपीय राजशास्त्रवेत्ता गिलक्रिस्ट (Gilchrist) का कथन है कि 'राजनैतिक-चेतना के उदय के समय क्या परिस्थिति थी, इस बात का हमें इतिहास से कुछ पता नहीं चलता है।' † इतिहास का प्रारम्भ उस समय से होता है जब समाज सभ्य हो गया था और राजनैतिक ढंग से सुसंगठित हो चुका था। इतिहास से हमें सभ्य समाज की राजनैतिक उन्नति का पता चलता है और यह कि आरम्भ में किस प्रकार का राजनैतिक संगठन था। ज्यों-ज्यों समाज में सभ्यता की उन्नति हुई और समय बीतता गया त्यों-त्यों विविध प्रकार के राजनैतिक संगठन परिस्थिति के अनुसार बनते चले गये। संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद समझे जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार राज्यों के ये नाम वैदिक काल में प्रयोग हुए हैं। राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, महाराज्य, पारमेष्ठ्य, आधिपत्य और सार्वभौम। इसी प्रकार राजाओं के लिये विराट्, सम्राट्, स्वराट्, अधिपति, सर्वराट् आदि शब्द प्रयोग हुए हैं। इससे विदित होता है कि वैदिक काल से बहुत पहिले राज्य की उत्पत्ति हो चुकी थी। इतिहास से हमें इससे पूर्वकाल के राजनैतिक संगठन का कुछ पता नहीं चलता है। अत स्पष्ट है कि एक काल इतिहास में ऐसा भी है जिसे 'इतिहास से पूर्व' या प्रागैतिहासिक (pre-historic) काल कहते हैं। राज्य की उत्पत्ति

---

† "of the circumstances surrounding the dawn of political consciousness from History we know little or nothing." Gilchrist.

इसी काल में हुई विदित होती है। इस काल की बातों को जानने के लिये हमें कल्पना का आश्रय लेना पड़ता हैं। कल्पना द्वारा विद्वानों ने राज्य की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न कारण बताये है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) शक्ति-सिद्धान्त (Force Theory)
(२) ईश्वरांश-सिद्धान्त (Divine Origin Theory)
(३) सामाजिक अनुबन्ध (इकरार)-सिद्धान्त (SocialContract Theory)
(४) पैतृक तथा मातृक-सिद्धान्त (Patriarchal and Matriarchal theory)
(५) विकास-सिद्धान्त (Evolutionary Theory)
(६) सावयव- सिद्धान्त (Organic Theory)

आधुनिक राजशास्त्रवेत्ता इन सब भिन्न भिन्न सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखते हैं, परन्तु प्रत्येक सिद्धान्त में कोई न कोई ऐसी विशेष बात है जिससे हम सब आकर्षित होते हैं। इतिहास से पूर्व तथा इतिहास काल में मानव समाज का ऐसा राजनैतिक संगठन रहा हैं कि जिसमें ऊपर लिखे सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया है। अत: प्रत्येक सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन दिया जाता है।

(१) शक्ति सिद्धान्त (Force Theory)—कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति के कारण हुई है। प्राचीन काल में एक शक्तिशाली व्यक्ति अपनी भौतिक शक्ति के बल के सहारे उन लोगों पर अपना अधिकार जमा लेता था जो राजनैतिक रूप से संगठित नहीं होते थे। वह उन पर शासन करने लगता था और अपना राज्य स्थापित कर लेता था। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। प्रसिद्ध यूरोपीय राजशास्त्रवेत्ता ह्यूम (Hume) ने अपने "Original Contract" में लिखा है कि 'राज्य की उत्पत्ति उसी समय हुई होगी जब किसी मानव दल के नेता ने शक्तिशाली और प्रभावशाली होकर अपने अनुयायियों पर अधिकार जमा कर उन पर अपनी हुकूमत लादी होगी।" शक्ति सिद्धान्त के मानने वालों के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। इनका मत है कि बड़े-बड़े साम्राज्य, जिनका प्रताप आज संसार में छाया हुआ है, शक्ति द्वारा ही स्थापित हुए हैं और शक्ति के आधार पर ही उनका संगठन है। ब्लंश्ली के अनुसार राज्य-संगठन में शक्ति अत्यन्त आवश्यक तत्व है। शक्ति-

सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति अत्याचार, स्वार्थ तथा युद्ध द्वारा हुई। शक्तिशाली लोगों ने दुर्बल लोगों को और शक्तिशाली जातियों ने दुर्बल जातियों को दबाकर प्रभुत्व स्थापित किया। बड़े राष्ट्रों का छोटे राष्ट्रों पर प्रभुत्व और कृषकों पर ज़मींदारों का अत्याचार इसी सिद्धान्त के आधार पर हो रहा है। दो जातियों में परस्पर युद्ध हुआ, युद्ध में जिस जाति के नेता की विजय हुई उसने दूसरी जाति के लोगों को दास बना लिया और उनकी भूमि पर अधिकार कर लिया। इस भूमि को अपने छोटे सेनानायकों को सौंप दिया। ये छोटे सेनानायक कुछ समय पश्चात् ज़मींदार बन गये। इनकी तरह विजयी जाति का नेता राजा बन बैठा। आरम्भ में विजयी जाति के लोगों ने पराजित जाति पर अत्याचार और कठोर शासन किया फिर उन्हें सान्त्वना देकर उन्हें अपने साथ मिलाकर स्वजाति के लोगों पर भी कठोर अनुशासन स्थापित कर दिया। इसी प्रकार राजा, नवाब और सम्राट् बन गये। मध्यकाल में यूरोप में पादरियों ने जनता को राजाओं के विरुद्ध भड़काने के लिये इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया। सन् १०८० में ग्रेगरी सप्तम ने लिखा था कि "यह बात किस से छिपी है कि राजा तथा ताल्लुकदारों की उत्पत्ति उन लोगों से सम्बद्ध है जिन्होंने ईश्वर को भूलकर अभिमान, विश्वासघात और हत्या द्वारा अपने ही लोगों पर शासन करने का प्रयत्न किया।"

आधुनिक काल में भी कुछ राजनीतिज्ञ इस सिद्धान्त को सत्य समझते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) का कथन है कि राज्य पाप तथा अधर्म का परिणाम है। अब तक उन पर उनके पापमय उद्भव की छाया बनी हुई है। अराजकवादी लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विशेष भक्त हैं। उन्होंने शक्ति सिद्धान्त के आधार पर राज्यों को खूब कलंक लगाया है। साम्यवादियों ने पूंजीपतियों तथा राज्यों को पापी सिद्ध करने के लिये इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx), ऐन्जल्ज़ (Engels), तथा अन्य जर्मन साम्यवादियों का कथन है कि राज्य (State) दुर्बलों की दुर्बलता से लाभ उठाने के उद्देश्य से स्थापित हुए हैं। पूंजीपति राज्य की कृपा से ही श्रमिकों के श्रम का मुफ्त में लाभ उठा रहे हैं। पूंजीपतियों के लाभ के लिये युद्ध किये जाते हैं और उनमें श्रमिकों को कटवाया जाता है। ऐसा कोई अत्याचार नहीं है जो पूंजीपतियों के निमित्त राज्य न करता हो। वास्तव में बात तो यह है कि आधुनिक काल में शक्ति ही राज्य का आधार है।

हमारे विचार से शक्ति सिद्धान्त ठीक नहीं है। जिस वस्तु का आधार

शक्ति होती है, शक्ति का ह्रास होने पर उस वस्तु का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जिस राज्य का आधार शक्ति है, शक्ति का ह्रास हो जाने पर वह राज्य नाश को प्राप्त होगा। अत: राज्य का आधार, जैसा कि गांधी जी ने कहा है, सत्य और अहिंसा पर होना सर्व श्रेष्ठ है। इस आधार पर राज्य करने से विश्व में शान्ति स्थापित रह सकती है अन्यथा नहीं।

(२) **ईश्वरांश-सिद्धान्त (Divine Theory)**—मानवजाति की अपने बाल्यकाल में ईश्वरीय सत्ता और प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों पर निर्भर रहने की अत्यधिक प्रवृत्ति थी। लोगों का विश्वास यहाँ तक था कि ईश्वर मनुष्यों द्वारा अपना सन्देश भेजता है। प्राचीन काल के लोग राज्यसत्ता को ईश्वरीय मानते थे और राजा को ईश्वर का अंश या प्रतिनिधि समझते थे। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में राजा को देवताओं के अंश से उत्पन्न होना माना गया है। यह इसी सिद्धान्त का दूसरा रूप है। अन्य हिन्दू शास्त्रों में राजा को विष्णु का अवतार भी कहा है। अस्तु यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। बहुत से राजनीतिज्ञों का तो यह विचार है कि राज्य के जन्म के साथ ही इस सिद्धान्त का जन्म हुआ है। जिस युग में धर्म तथा राज्य नियमों में कोई भेद नहीं समझा जाता था, उस युग में ईश्वरांश सिद्धान्त का विशेष प्रचार था। 'राज्य तथा राजा ईश्वर के पुत्र हैं' यह विचार ईश्वरांश सिद्धान्त का आधार है। यहूदियों का तो यह विश्वास था कि ईश्वर राज्य कार्य में विशेष भाग लेता है। यूनान और रोम में भी लोग इस सिद्धान्त के अनुयायी थे। वे भी राज्य का उद्भव ईश्वरीय समझते थे। मध्य काल में जब चर्च की प्रधानता यूरोप में हुई तो ईश्वरांश सिद्धान्त ने अधिक उन्नति की। प्राचीन काल से लोगों का यह विश्वास था कि ईश्वर ही शासनशक्ति देता है। पोप की शक्ति की वृद्धि होने पर ईश्वरांश सिद्धान्त ने यह विवाद खड़ा किया कि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से शासन की शक्ति पोप को देता है अथवा राजा को? धर्म-परिवर्तन के युग में जनता तथा राजा के बीच यह विवाद खड़ा हुआ। राजाओं ने अपने स्वेच्छाचारी शासन की पुष्टि करने के लिये इस सिद्धान्त का आश्रय लिया और जनता के राजनैतिक विचारों के दबाने का प्रयत्न किया। सर राबर्ट फिल्मर तथा जेम्स प्रथम ने अपने लेखों द्वारा ईश्वरांश सिद्धान्त को पुष्ट किया और राजा तथा राज्य शक्ति को ईश्वरीय ठहराया। उनका यह विचार था कि ईश्वर ने प्रारम्भ में आदम को शासन की शक्ति दी थी, उसी से यूरोप के राजाओं ने इस शक्ति को प्राप्त किया।

सारांश यह है कि इस सिद्धान्त के अनुयायी कहते हैं कि ईश्वर ने राज्य की स्थापना की है। ईश्वर स्वयं अथवा किसी महान् शक्ति द्वारा शासन करता है। राज्य ईश्वर–सत्तात्मक है जिस पर ईश्वर स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा किसी अन्य राजा द्वारा (जो ईश्वर का प्रतिनिधि होता है) अप्रत्यक्ष रूप से राज्य करता है। मिस्र में राजा को 'सूर्य-पुत्र' समझा जाता था। जापान में आज भी जापानी लोग अपने राजा मिकाडो को 'सूर्य देव का पुत्र' समझते हैं। सन् १५३० ई० में आग्सबर्ग स्वीकरण (Augsburg-Confession) में यह घोषित किया गया था कि "संसार का शासन, विधान और व्यवस्था सम्बन्धी सर्वसत्ता ईश्वर द्वारा उत्पन्न तथा स्थापित हुई।" ईश्वरांश सिद्धांत के चार विशेष लक्षण थे—

(१) राजसत्ता ईश्वर द्वारा प्रदान की गई है।

(२) राजसत्ता वंशागत और पैत्रिक है।

(३) राजा प्रेक्षा (reason) का महान् स्वरूप है और केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है।

(४) वैधानिक (न्यायसंगत) राजा का विरोध करना पाप है।

आजकल के जनतंत्रवादी ईश्वरांश सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते। इस सिद्धान्त को सबसे बड़ा आघात ग्रोशस (Grotius), हाब्स (Hobbes) और लौक (Locke) ने पहुँचाया। आधुनिक राजशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि राज्य मनुष्यकृत तथा मनुष्यों के प्रतिनिधि द्वारा संचालित होता है। ईश्वर का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है।

गिलक्रिस्ट (Gilchrist) ने ईश्वरांशसिद्धान्त के असफल होने के तीन कारण बताये हैं—(१) सामाजिक अनुबन्ध (इकरार) सिद्धान्त की स्थापना। (२) ईसाई धर्म और राज्य का वियोजन, और (३) जनतन्त्रवाद द्वारा स्वेच्छाचारी शासन का विरोध तथा खण्डन।

वर्तमान राजशास्त्रवेत्ता इस सिद्धान्त को मिथ्या तथा अनर्गल समझते हैं, परन्तु मध्यकालीन यूरोप में यह सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस सिद्धान्त ने उस समय यूरोप के समाज को नष्ट होने से बचाया और शान्ति स्थापित रखने का प्रयत्न किया। उस समय यूरोप की जातियाँ पूर्ण-रूप से सभ्य नहीं हो पाई थीं। लोग शासन शक्ति को कुछ नहीं समझते थे ऐसे समय में ईश्वर के नाम से लोगों के हृदय में भय उत्पन्न करके राजाओं ने वहाँ शान्ति स्थापित रखी और जन साधारण की सम्पत्ति तथा उनके प्राणों की रक्षा की। इस सिद्धान्त के आधार पर लोगों में अनुशासन के भाव

जागृत रहे और किसी प्रकार की अराजकता न फैल सकी। स्वेच्छाचारी शासक ईश्वर से भयभीत होता हुआ प्रजा को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करता था क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार वह ईश्वर प्रति उत्तरदायी था। शासन प्रबन्ध नैतिक आधार पर अवलम्बित रहा।

(३) सामाजिक-अनुबन्ध (इकरार) सिद्धान्त (Social Contract Theory)—सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के माननेवालों का यह मत है कि एक समय ऐसा था जब कि राज्य नाम की कोई संस्था विद्यमान न थी और लोग राजनैतिक जीवन को जानते ही न थे। प्रकृति माता की गोद में पलते हुए वे प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलते थे। चिरकाल तक मनुष्य प्राकृतिक दशा में न रह सके। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि वह जीवन इतना सुखमय था कि उसका देर तक रहना असम्भव था या यह कि वह जीवन स्वार्थ तथा मात्स्य न्यायरूपी भयंकर तूफानों से इतना दुःखमय होगया कि उसे राज्यरूपी छत्र की शरण लेनी पड़ी। प्राकृतिक तथा नैतिक नियम राज्य के विधानों और जन समाज के भिन्न भिन्न राजनैतिक समुदायों में परिवर्तित हो गये। राज्य की उत्पत्ति इन्हीं राजनैतिक समुदायों से संबद्ध है। राजनैतिक समुदायों के साथ साथ शासक प्रकट हुए। लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता को नियमबद्ध किया और बहुत से अधिकार शासकों को दे दिये। शासकों का समुदाय बन जाने पर उनके कार्यक्षेत्र का निश्चय किया गया। यही सामाजिक-अनुबन्ध अथवा इकरार सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त का आविष्कार सब से प्रथम भारतवासियों ने किया था। महर्षि व्यास ने शान्तिपर्व में लिखा है कि पृथु महाराज को इसी सिद्धांत के अनुसार राज्य प्राप्त हुआ था। उसी के नाम पर भूमि का नाम पृथ्वी पड़ा। शान्तिपर्व के ६७ वें अध्याय में यह वर्णन है कि पहले राजा के न रहने से बली निर्बल को जल की मछलियों के समान खाने लगे, तब सब लोगों ने मिल कर नियम किया कि "जो कोई किसी से कटुभाषण करेगा, उसे मारेगा या किसी की स्त्री अथवा द्रव्य का हरण करेगा, उसे हम त्याग देंगे।" यह नियम सब लोगों के लिये एक सा था परन्तु जब इसका पालन न हुआ तब सारी प्रजा ब्रह्मा के पास गई और कहा कि हमारा प्रतिपालन करने वाला कोई अधिपति हमें दीजिये, तब ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी। उस समय मनु ने कहा "मैं पाप कर्म से डरता हूं। असन्मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों पर राज्य करना पाप है।" तब लोगों ने कहा राष्ट्र में जो पाप होगा वह कर्ता को लगेगा। तू मत डर, तुझे हम पशुओं का पचासवां भाग और अन्न का दशमांश

देंगे। अस्त्र शस्त्र और वाहन लेकर हमारे मुखिया लोग तेरे साथ रहेंगे। तू सुख और आनन्द से राज्य कर, हम अपने धर्माचरण का चतुर्थ भाग भी तुझे देंगे।" इसको स्वीकार कर मनु राज्य करने लगे। अधर्मी और दानू को दंड देकर धर्म के समान उसने राज्य किया। इस कथा में सामाजिक अनुबन्ध सम्बन्धी यह कल्पना की गई है कि राजा धर्म के अनुसार प्रजा पर राज्य करे तथा पापियों को दण्ड दे और प्रजा उसे कर दे मुख्यतः भूमि की उपज का दशमांश और पशु तथा व्यापार आदि का पचासवां भाग दे।

यूरोप में इस सिद्धान्त का उदय यूनानियों से ही माना जाता है। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व यूनान में सोफ़िस्टस (Sophists) नाम के दार्शनिक हुए हैं। इनका मत है कि स्वभाव से मनुष्य स्वार्थी और शक्ति पर निर्भर था। राज्य की स्थापना या तो इस प्रकार हुई कि बली लोगों ने आपस में यह समझौता कर लिया कि निर्बलों पर अत्याचार करना चाहिये अथवा इस प्रकार हुई कि निर्बलों ने बली लोगों से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिये आपस में समझौता कर लिया। सोफ़िस्ट्स का विश्वास था कि मनुष्य स्वभावतया सामाजिक प्राणी नहीं है और राज्य कृत्रिम है, व्यक्तित्व के आधार पर इस की रचना हुई है और राजनैतिक अधिकार का उद्देश्य वास्तव में में स्वार्थपूर्ण है। इनका विश्वास था कि राज्य की स्थापना अनुबन्ध के अनुसार हुई है। प्लैटो और अरस्तू ने भी इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने इसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि वे सामाजिक तथा राजनैतिक बन्धन को नैसर्गिक समझते थे। एपीक्युरियन सम्प्रदाय के लोगों (Epicurians) का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य के नियमों पर इसलिये चलता है कि इसी में उसका विशेष हित है। रोम वालों ने राज्य के नियमों की उन्नति की। इसी समय में ईसाइयों ने स्वर्ण-युग की कल्पना लोगों के सन्मुख रक्खी और राज्य को एक 'बुराई' बताया। यूरोप में जब विद्या का प्रसार हुआ तब ईश्वरीय और मानुषी नियमों को सर्वथा पृथक् करने का प्रयत्न किया गया। नैसर्गिक नियमों के आधार पर सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की उन्नति की गई।

आधुनिक काल के आरम्भ में कुछ यूरोपीय राजशास्त्रवेत्ताओं ने भी सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के विषय में कुछ लिखा है। इंगलैंड के पादरी रिचार्ड हूकर (Richard Hooker) ने सन् १५९४ में "Ecclesiastical Polity" नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें उसने पोपों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करते हुए सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का समर्थन किया। उसने

लिखा है कि राजा के अधिकार प्रजा की सम्मति पर निर्भर है तथा राज्य की उत्पत्ति प्रजा द्वारा हुई है। लोगों ने इस सिद्धान्त को सहर्ष स्वीकार किया। इसके पश्चात् अन्य यूरोपीय विद्वानों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया। ग्रोशस (Grotius) ने 'लॉ आफ़ वार ऐन्ड पीस' (Law of War and Peace) में मिल्टन ने 'टैन्योर आफ़ किंग्स एन्ड मजिस्ट्रेट' (Tenure of Kings and Magistrate) में, प्यूकेनडार्फ़ ने 'ला आफ़ नेचर ऐन्ड नेशन्ज़ (Law of Nature and Nations) में, स्पाइन्शा ने ट्रैक्टैटस पालिटिक्स' (Tractatus Politics) में, इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। इंगलैंड में लाक (Locke) तथा हाब्ज़ (Hobbes) और फ्रान्स में रूसो (Rousseau) ने इस सिद्धान्त को अत्यधिक वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण बना दिया। सत्रहवीं और अठारहवी शताब्दी के राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों ने यूरोप में हलचल मचादी और यह सिद्धान्त वहां बहुत लोकप्रिय हो गया। यूरोप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में तीन राजशास्त्रवेत्ताओं का हाथ है। इनके नाम हैं—हाब्ज, लाक, रूसो। प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

(१) टामस हाब्ज़ (Thomas Hobbes) १५८८ से १६७९ तक—
—हाब्ज चार्ल्स द्वितीय (Charles II) का शिक्षक रह चुका था। इसने अनेक नैतिक तथा राजनैतिक ग्रंथ लिखे हैं। उसने अपने लैवियाथन (Leviathan) नामक ग्रंथ में सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का वर्णन किया है। उसका विचार था स्वार्थ ही मनुष्य का नैसर्गिक धर्म है। इन्द्रियों को संतुष्ट करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। यदि मनुष्य दया दिखाता है तो इस लिये दिखाता है कि मनुष्य उसकी प्रशंसा करें। प्रशंसारूपी स्वार्थ ही उसकी दया का मूल है। कभी कभी उसमें दया इस भय से भी उत्पन्न होती है कि "कदाचित इसी वेग का कष्ट मुझको भी कभी आ घेरे।" मनुष्य एक प्रकार का सामाजिक प्राणी है जो स्वार्थ ही के कारण सब कार्य करता है। मात्स्य न्याय ही नैसर्गिक या प्राकृतिक नियम है। मात्स्य न्याय से भयभीत होकर लोगों ने राजा की शरण ली और राज्य स्थापित किया। जिस अनुबन्ध से मनुष्य अपने ऊपर राजा का अंकुश रखने को तत्पर हुये उस सामाजिक अनुबन्ध का राजा अंग नहीं है। लोगों ने राजा की शरण में अपने आपको एक दूसरे के स्वार्थ के घातक प्रभावों से बचाने का निर्णय किया। यदि राजा कुछ अधिक अधिकार काम में लाना चाहे तो ला सकता है। जनता के साथ उसकी कोई प्रतिज्ञा नहीं है न कोई उसका जनता के प्रति उत्तरदायित्व है।

हाब्ज के इस सिद्धान्त ने स्टूअर्ट राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन का समर्थन किया।

(२) जान लाक (John Locke) १६३२ से १७०४ तक—लॉक के विचार हाब्ज से भिन्न थे। लॉक मात्स्य न्याय को नैसर्गिक नियम नहीं समझता था। उनका कथन है कि नैसर्गिक नियमों को जानना बड़ा कठिन है। राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्यों का जीवन सामाजिक था। मनुष्य प्राकृतिक नियमों का पालन करते थे। हाब्ज का विचार था कि राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्यों का जीवन सामाजिक न था। प्रत्येक मनुष्य असभ्य और भयंकर था। लॉक का मत है कि उन दशा में मनुष्य शान्तिपूर्वक रहता था। किसी प्रकार का अनुबन्ध (इकरार) न था। मनुष्यों को राजा बनाने और राज्य स्थापित करने की आवश्यकता इस लिये हुई कि मनुष्य अपने नैतिक स्वभाव को छोड़ कर स्वार्थ व अन्यायपूर्ण व्यवहार करने लगा यह विचार उत्पन्न हुआ कि यदि कोई राजा होगा तो वह पारस्परिक झगड़ों का न्याय पूर्ण निर्णय करेगा और विधान का ठीक अर्थ बतायेगा। मनुष्यों ने राजा बनाया और उसे नैसर्गिक नियम पालन करने के लिये भी बाधित किया। राजा सामाजिक अनुबन्ध का अंग था। यदि राजा उस अनुबन्ध के विरुद्ध काम करे तो वह दण्ड का भागी है। हाब्ज का राजा सब कुछ कर सकता है। वह दंड से परे है। लॉक के इस सिद्धान्त ने परिमित एक तन्त्र राज्य का समर्थन किया। सन् १६८८ की राज्यक्रान्ति में लॉक के सिद्धान्त ने बड़ा काम किया।

(३) जीन जैकस रूसो (Jean Jacques Rousseau) १७१२ से १७७८ तक—सन् १७६२ में रूसो ने सामाजिक अनुबन्ध (Social Cntract) नामक एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने राज्य की स्थापना का वर्णन इस प्रकार किया है। प्राकृतिक दशा में लोग सुखी थे, शान्त थे और भ्रातृभाव से रहते थे। बड़ा आनन्दमय जीवन था। पदार्थों की अधिकता से मनुष्यों को सब प्रकार का सुख था। ज्यों-ज्यों जन संख्या बढ़ी पदार्थों की कमी के प्रश्न ने विकट रूप धारण करना आरम्भ किया। 'मेरे', 'तेरे' का भाव उत्पन्न हुआ। चालाकी, मक्कारी और चोरी के भाव उत्पन्न हुए। लाचार होकर लोगों ने अपने अपने अधिकारों को एक समिति को सौंप दिया। अन्तिम निर्णय लोगों ने अपने हाथ में रक्खा। लोक समिति के हाथ में ही सर्वोच्च सत्ता थी। प्रतिनिधि को भी बुरा समझा जाता था। अठारहवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त ने लोगों को राज्यक्रान्ति करने के लिये उत्तेजित किया।

राष्ट्र तथा राज्य में भेद स्थापित किया। अमरीका ने राज्यक्रान्ति करने में इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया। जैफर्सन (Jefferson) और मैडिसन (Madison) रूसो के अनुयायी थे।

अठारहवीं शताब्दी में सबसे प्रथम डेविड ह्यूम (David Hume) ने इंगलैण्ड में इस सिद्धान्त का खंडन किया। उन्नीसवी शताब्दी में प्रभावशाली राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस सिद्धान्त का विरोध किया। ल्यूडविग (Ludwig) जेरमी बन्थम (Jeremy Bentham), सर हैनरीमेन (Sir Henry Maine), टी. ऐच. ग्रीन (T. H. Green), एडमन्ड बर्क (Edmond Burke), ब्लंश्ली (Bluntchli), सर फ्रेडरिक पालक (Sir Frederick Pollock) आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस सिद्धान्त की निस्सारता प्रकट करने का प्रयत्न किया। जैरमी बैन्थम ने तो यहां तक कह दिया कि 'मै सामाजिक अनुबन्ध को सदा के लिये प्रणाम करता हू, अच्छा है कि वही लोग इसमें अपना समय व्यतीत करें जिन्हें इसकी आवश्यकता हो।" ब्लंश्ली इस सिद्धान्त को बड़ा दूषित समझते है क्योंकि इसके अनुसार राज्य व्यक्तिगत स्वार्थ का परिणाम सिद्ध होता है।

सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की आलोचना—सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की आलोचना विद्वानों ने तीन दृष्टिकोणों से की है—ऐतिहासिक, वैधानिक और दार्शनिक—

(क) ऐतिहासिक दृष्टिकोण से—(१) इतिहास हमको यह बतलाता है कि सबसे पहले मनुष्य असभ्य थे। कुटुम्ब के कुटुम्ब साथ-साथ रहते थे। एक अनुबन्ध के अनुसार राज्य स्थापित कर लेना ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं प्रकट होता है। एक अनुबन्ध द्वारा राज्य की कल्पना असामाजिक और असंगठित जीवन व्यतीत करने वाले लोगों में नहीं उत्पन्न हो सकती। असभ्यों के जीवन की छान-बीन करने पर भी ऐसा कहीं नहीं प्रकट हुआ कि उनके जीवन में कोई ऐसा समय आया हो जब उन्होंने सामाजिक अनुबन्ध किया हो ऐसा तो हो सकता है कि राजनैतिक जीवन में पले हुए लोग जब राज्य से पृथक होकर कहीं उपनिवेशों में निवास करने जाते हैं तो इस प्रकार के अनुबन्ध द्वारा राजनैतिक संगठन बनाकर राज्य का निर्माण कर सकते हैं। सन् १६२० में ११ नवम्बर को 'मेफ्लावर' जहाज में बैठे हुए प्यूरिटन लोगों ने आपस में प्रण करके एक अनुबन्ध स्थापित किया था कि 'हम लोग शान्ति और सुख से जीवन व्यतीत करने के अभिप्राय से आगे चलकर राजनैतिक जीवन व्यतीत करेंगे।' सन् १६३८ में न्यूहैवन में जमींदार समिति और

१६३६ में अमरीकन संगठन (Providence Agreement), इस प्रकार के सामाजिक अनुबन्ध के जीवित उदाहरण हैं। परन्तु ये अनुबन्ध सभ्य दशा में स्थापित किये गये थे न कि उस अवस्था में जब कि लोगों को राजनैतिक चेतना ही न थी। ये लोग राज्य में रहे थे और इन्होंने नवीन राज्य स्थापित करने के लिये अनुबन्ध स्थापित किया था।

(२) इस प्रकार के अनुबन्ध जैसे हौब्ज, लॉक और रूसो ने स्थापित किये एक असभ्य समाज में जिन्हें राजनैतिक चेतना नहीं है कभी आरम्भ नहीं हो सकते। इन अनुबन्धों से राज्य का आरम्भ ऐतिहासिक दृष्टि से निर्मूल प्रतीत होता है। इन अनुबन्धों में राजा और प्रजा का सम्बन्ध स्थापित करके उनके परस्पर अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन किया है। राज्य स्थापित होने के पश्चात् अथवा राजनैतिक अवस्था में इस प्रकार के अनुबन्ध स्थापित हो सकते हैं अन्यथा नहीं। अतः सामाजिक अनुबन्ध केवल कल्पनामात्र है।

(३) इतिहास हमको बताता है कि आरम्भ में मनुष्य सामाजिक जीवन व्यतीत करता था। यह बात युक्तिसंगत भी है, क्योंकि हम देखते हैं कि संसार में प्राणीमात्र का जीवन सामाजिक है। पशुओं में देखो तो हिरन कुत्ते, भेड़िये, हाथी आदि सब वन में समुदायों में दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार पक्षियों को देखो तो वे भी झुण्ड के झुण्ड दिखाई पड़ते हैं। कौए गिद्ध सारस, बगुले, तोते आदि सब पक्षी झुण्ड में ही दिखाई पड़ते हैं। कीड़े-मकोड़ों को देखो तो गिजाई, टिड्डी, चींटी आदि के गुच्छे के गुच्छे दिखाई देते हैं। झुण्ड अथवा गिरोह (समुदाय) में रहना प्राणीमात्र की प्रकृति का एक नियम है। मनुष्य भी एक प्राणी है भला यह कैसे इस नियम से बच सकता है। जब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है तो समाज में रहते हुए मनुष्य को समाज स्थापित करने के लिये सामाजिक अनुबन्ध का आश्रय किस प्रकार लेना पड़ा होगा? सामाजिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में असामाजिक बताया गया है। यह बात बिलकुल मिथ्या है, क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में असामाजिक दशा में रहता हुआ मनुष्य एक साथ किसी अनुबन्ध द्वारा व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक जीवन में एक साथ परिवर्तन नहीं कर सकता। अतः इस सिद्धान्त में ऐतिहासिक सत्य नहीं है।

वैधानिक दृष्टिकोण से—(१) किसी अनुबन्ध को निभाने के लिये राज्य के विधान की सहायता की आवश्यकता होती है। जिस अनुबन्ध को

मानने अथवा मनवाने के लिये जब किसी विधान का भय नहीं है तो लोग उसे क्यों मानेंगे ? सामाजिक अनुबन्ध को मानने या मनवाने के लिये कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसका आश्रय लिया जा सके, अतः विधान के विचार से यह सिद्धान्त बिल्कुल मिथ्या है। राज्य का अनुबन्ध से पूर्व स्थापित होना तो सम्भव प्रतीत होता है परन्तु यह कल्पना कि अनुबन्ध द्वारा अथवा अनुबन्ध के पश्चात् राज्य स्थापित हुआ नितान्त कल्पना है। टी० ऐच० ग्रीन (T. H. Green) का कथन है कि 'ऐसा अनुबन्ध जिसके द्वारा कोई राजनैतिक शक्ति स्थापित की जाय कभी न्यायोचित तथा सप्रमाण नहीं हो सकता। ऐसी दशा में लोगों को अनुबन्ध स्थापित करने का अधिकार ही नहीं है।

(२) जब यह सिद्ध हो गया कि प्राकृतिक दशा में अर्थात् असामाजिक तथा अराजनैतिक दशा में लोगों को अनुबन्ध स्थापित करने का अधिकार ही नहीं है तो जो अनुबन्ध भी ऐसी दशा में स्थापित किया जायगा वह विधान के विरुद्ध होगा। उसके उल्लघन करनेवाले को कोई दण्ड भी नहीं दिया जा सकता। न कोई मनुष्य उसे मानने के लिये बाध्य किया जा सकता है। ऐसे अनुबन्ध द्वारा स्थापित किये गये सब अधिकार भी मिथ्या हैं और उनके प्राप्त करने के लिये किसी विधि तथा विधान अथवा न्यायालय का आश्रय नहीं लिया जा सकता है।

(३) साधारणतया अनुबन्ध जिन लोगों के बीच में स्थापित किया जाता है उन्हीं लोगों पर बाध्य होता है। सामाजिक अनुबन्ध में यह विशेषता है कि यह जिनके बीच में हुआ उन पर बाध्य था, उनकी सन्तानों पर बाध्य रहा और उनकी सन्तान की सन्तानों पर भी बाध्य रहेगा। लॉक ने इस बन्धन को इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है कि जो लोग राज्य में रहते हैं उन्होंने निर्विकल्प रूप से (tacitly) उस अनुबन्ध को स्वीकार कर लिया है। नियम तो यह है कि जब अनुबन्ध के लोगों की मृत्यु हो जाती है अथवा वे कहीं चले जाते हैं तो अनुबन्ध टूट जाता है परन्तु सामाजिक अनुबन्ध अटूट, स्थायी और अमर है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से—(१) सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार राज्य और मनुष्य का व्यक्तिगत सम्बन्ध ऐच्छिक है। किसी बाह्य शक्ति ने मनुष्यों को यह अनुबन्ध स्थापित करने के लिये बाध्य नहीं किया। मनुष्यों ने देखा कि प्राकृतिक, असामाजिक अवस्था में उनको असुविधा होती है, अतः शान्तिपूर्वक रहने के लिये उन्होंने एक अनुबन्ध द्वारा राज्य की स्थापना की। व्यक्ति और राज्य के बीच ऐसे एक ऐच्छिक अनुबन्ध की स्थापना दार्शनिक

दृष्टिकोण से युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होते। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का स्वभावतः सदस्य है, राज्य का एक अंश है। जिस प्रकार एक व्यक्ति कुटुम्ब का स्वभावतः एक अंग होता है उसी प्रकार वह राज्य का भी एक अंग है। एक बालक पैदा होते ही एक कुटुम्ब का सदस्य बन जाता है। बालक का कुटुम्ब के अन्य व्यक्तियों के साथ एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। माता-पिता, भाई-बहिन के प्रति उसके कुछ अधिकार तथा कर्तव्य स्थापित हो जाते हैं। माता पिता का बालक के प्रति यह कर्तव्य है कि वे उसे भली प्रकार से रक्खें, भोजन वस्त्र दें उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करें, तथा बालक का भी यह कर्तव्य है कि वह अपने माता पिता की सेवा करे, उनकी आज्ञा का पालन करे और विद्या पढ़ने में ध्यान दे। जैसे माता-पिता और बालक का एक दूसरे के प्रति कर्तव्य है उसी प्रकार उनका एक दूसरे के प्रति अधिकार भी है। माता पिता का अपने बालक पर इस बात का अधिकार है कि यदि बालक उचित कार्य नहीं करता है तो वे उसे उसके लिये बाध्य करें, उसकी ताड़ना करें, और उसे ठीक रास्ते पर लायें। बालक का अपने माता पिता पर यह अधिकार है कि वह अपने माता पिता को इस बात के लिये बाध्य कर सकता है कि वे उसे भोजन-वस्त्र दें तथा उसकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध करें। बालक कुटुम्ब का एक स्वाभाविक (प्राकृतिक) सदस्य है। इसी प्रकार मनुष्य भी राज्य का स्वाभाविक (प्राकृतिक) सदस्य अथवा अंश है। प्लैटो और अरस्तू ने राज्य की इकाई क्रमशः एक पुरुष और एक कुटुम्ब माना है। प्लैटो के अनुसार राज्य एक व्यक्ति का दीर्घरूप है। अरस्तू के मतानुसार कुटुम्ब से ग्राम और ग्राम से राज्य की स्थापना हुई। इन बातों से प्रकट होता है कि राज्य और पुरुष का सम्बन्ध कृत्रिम नहीं अपितु स्वाभाविक है। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ ऐडमन्ड बर्क (Edmund Burke) का कथन है कि राज्य को मिर्च, क़हवा, कैलिको तम्बाकू अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य क्षुद्र व्यापारिक संगठन के समान एक अनुबन्ध नहीं समझना चाहिये— जो अस्थायी रूप से लाभ प्राप्त के लिये स्थापित कर लिया जाता है और सदस्यों की इच्छानुसार जब चाहें तब उसका अन्त कर दिया जाता है। राज्य को यदि इसी प्रकार का एक अनुबन्ध समझा जाय तो यह एक बड़ी उच्च कोटि का स्थायी अनुबन्ध (संगठन) है। वह सम्पूर्ण विज्ञान, कला, सद्गुण (सदाचार) तथा सर्वश्रेष्ठता का संयुक्त संगठन है। इस संगठन का उद्देश्य एक अथवा बहुत सी पीढ़ियों में ही प्राप्त नहीं हो सकता, यह तो ऐसा अनुबन्ध (संगठन) है जो अमर है। यह अनुबन्ध केवल वर्त्तमान काल के

जीवित पुरुषों के बीच मे ही नहीं है बल्कि जो भविष्य में उत्पन्न होंगे उनके बीच में भी है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का राज्य के साथ ऐच्छिक सम्बन्ध नहीं है। यह एक अटूट और अमर सम्बन्ध है और मनुष्य राज्य में ही उत्पन्न होता है और राज्य में ही उसकी मृत्यु होती है। वह जन्म से ही राज्य का सदस्य है जन्म से मरण पर्यन्त उसके राज्य के प्रति अधिकार और कर्तव्य हैं। यदि इन अधिकारों और कर्तव्यों की एक सूची तैयार की जाय तो एक बड़ी पुस्तक बन जायगी। मनुष्य और राज्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत तथा सामाजिक भिन्न-भिन्न प्रकार की (सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, इत्यादि) उन्नति करने के अभिप्राय से स्थापित है। राज्य की स्थापना का आधार जनसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा लोक उपयोगिता है।

(२) सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुयायियों का यह मत है कि जब से राज्य स्थापित हुआ है तब से विश्व की सब वस्तुओं में कृत्रिमता आ गई है। राज्य स्थापित होने से पूर्व प्रत्येक वस्तु स्वाभाविक (प्राकृतिक) दशा में थी। राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्य नैसर्गिक विधान के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते थे। हाब्ज के अनुसार यह जीवन मत्स्य न्याय के आधार पर था, बली और निर्बल दोनों भयभीत रहते थे। बली का विचार था कि कोई भी बलवान मनुष्य इतना बलवान नहीं है कि जो दूसरों के अत्याचारों से अपनी रक्षा कर सके, और न कोई इतना निर्बल ही है जो दूसरों पर अत्याचार नहीं करेगा। अर्थात् दोनों की ऐसी ही दशा थी। लॉक के अनुसार मनुष्य सामाजिक अवस्था में तो था परन्तु कोई इस बात का ठीक ठीक निर्णय करने वाला नहीं था कि कौन सी बात उचित है और कौन सी अनुचित। रूसो के अनुसार प्राकृतिक दशा में लोगों में युक्ति (प्रेक्षा) का विकास नहीं हुआ था। नैसर्गिक विधान के अनुसार भ्रातृभाव पूर्ण, आनन्दमय, स्वर्गीय जीवन व्यतीत किया जाता था। किसी वस्तु की कमी नही थी। 'मेरे' 'तेरे' का विचार लोगों में नहीं आया था। जब मनुष्यों में युक्ति (reason) का विकास हुआ, 'मेरे 'तेरे' का विचार आया, राज्य की स्थापना की गई, तो प्रत्येक वस्तु में कृत्रिमता आ गई। इस प्रकार का सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त जो इतिहास को दो भागों में विभाजित करता है युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, राज्य की स्थापना किसी अनुबन्ध अथवा समझौते द्वारा नहीं हुई है। मानव समाज की स्वाभाविक उन्नति के साथ साथ क्रमशः भिन्न भिन्न स्तरों में राजनैतिक उन्नति होती गई और वर्तमान दशा पर आ पहुँची है। टी. एच. ग्रीन का कथन है कि ऐसा समाज जो नैसर्गिक नियमों के

अनुसार शासित है और जिसमें राजनैतिक चेतना के भावों का विकास नहीं हुआ है, उसका एकसाथ एक अनुबन्ध द्वारा राजनैतिक अवस्था में परिवर्तित हो जाना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। ऐसे समाज में कभी राज्य स्थापित करने के विचार उत्पन्न नहीं हो सकते। यदि यह मान भी लिया जाय कि सामाजिक अनुबन्ध स्थापित किया गया, तो जिस समय इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया होगा उस समय वास्तव में समाज का कोई राजनैतिक संगठन अवश्य होगा। बिना राजनैतिक संगठन के अथवा राजनैतिक चेतना के इस प्रकार का अनुबन्ध स्थापित करने की कल्पना ही उत्पन्न नहीं हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि सभ्य समाज में कभी राजनैतिक चेतना का अभाव नहीं रहा होगा। हाँ यह बात अवश्य है कि असभ्य दशा में इसी का अभाव सम्भव है परन्तु असभ्य मनुष्यों को सामाजिक अनुन्बध की कल्पना का अनुभव ही नहीं हो सकता। अतः यह सिद्धान्त निर्मूल है।

(३) सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुयायियों के मतानुसार मानव समाज की प्राकृतिक दशा में मनुष्यों के स्वाभाविक अधिकार थे। यह बात हमारी समझ से बाहर है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के कुछ स्वाभाविक अधिकार रहे होंगे। कर्तव्य और अधिकार तो केवल एक सुसंगठित समाज में ही हो सकते हैं। एक असभ्य समाज में कर्तव्य और अधिकार के विचार नहीं आ सकते। सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुसार 'मनुष्य के स्वाभाविक अधिकार' का विचार बिल्कुल मिथ्या है। टी. ऐच. ग्रीन का कथन सत्य है कि इस सिद्धान्त में वास्तविक दोष केवल यही नहीं है कि यह अन-ऐतिहासिक है बल्कि यह भी है कि असामाजिक दशा में वह सिद्धान्त मनुष्यों के अधिकार और कर्त्तव्यों को स्वीकार करता है। कर्तव्य और अधिकारों का स्वीकार कर लेना ही सामाजिक अवस्था का स्वीकार कर लेना है। यदि प्राकृतिक दशा में मनुष्यों के कुछ कर्तव्य और अधिकार थे तो वास्तव में मनुष्य सामाजिक अवस्था में थे। अधिकार और कर्तव्य का आभास मनुष्य को तभी होता है जब उसमें प्रेक्षा (reason) हो अन्यथा उसमें यह विचार कभी नहीं आ सकते। समाज से स्वतंत्र होकर कर्तव्य और अधिकार की कल्पना करना असंभव है। स्वतन्त्रता का संबंध नियंत्रण के साथ है राज्य ही में सब लोग स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकते हैं। जहां निरंकुश स्वतन्त्रता हो वहां किसी की भी स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकती अतः सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के मूल में जो नैसर्गिक विधान तथा नैसर्गिक अधिकार की कल्पना कार्य कर रही है वह दोषपूर्ण है।

सामाजिक अनुवन्ध सिद्धान्त के अनुसार एक प्रकार के समझौते द्वारा राज्य की स्थापना बताई गई हैं। हाब्ज़ के अनुसार यह अनुवन्ध केवल मनुष्यों के बीच स्थापित हुआ और राजा इससे परे था। लॉक के अनुसार राजा और प्रजा दोनों ही प्रतिबन्ध के स्थापित करने वाले हैं। यदि राजा उसके विरुद्ध कोई कार्य करता है तो प्रजा को उसका विरोध करने तथा उसे गद्दी से उतारने का अधिकार है। रूसो के अनुसार तो प्रजा के बीच एक ऐसा अनुवन्ध है कि शासनशक्ति प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथ में रहते हुए भी प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में है। रूसो के अनुसार जनसम्मति (general will) राज्य की शासक है। इस सिद्धान्त पर विचार करते समय हमें उस समय की और उस देश की राजनैतिक स्थिति को ध्यान में रखना चाहिये जब कि इन तीनों व्यक्तियों ने अपने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था। यद्यपि ये सिद्धान्त व्यर्थ और निर्मूल है तथापि हमें इस बात को मानना पड़ेगा कि अपने समय में इन सिद्धान्तों ने महत्वपूर्ण कार्य किया। जिस समय यूरोप में ईश्वरांश सिद्धान्त के अनुसार राजा स्वेच्छाचारी शासन कर रहे थे, प्रजा को भिन्न भिन्न प्रकार से यह कहकर दबाते थे कि 'राजा ईश्वर का दूत अथवा प्रतिनिधि हैं।' और प्रजा ईश्वर के भय से राजाओं का विरोध नहीं कर सकती थी। उस समय इन सिद्धान्तों ने मनुष्यों को यह विश्वास बैठाया कि राज्य तथा राजा मनुष्यों द्वारा निर्मित किये गये हैं। प्रजा की इच्छानुसार शासन होना चाहिये और अत्याचारी राजा के विरुद्ध क्रान्ति करना अनुचित नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप में क्रान्तियाँ हुई। अत्याचारी राजाओं की हत्या करके प्रजातन्त्र राज्य स्थापित किये गये और ऐसे ही विचारों के अनुसार सारे विश्व में प्रजातन्त्रवाद की लहर फैल गई। इस सिद्धान्त ने संसार का बड़ा उपकार किया है।

(४) पैतृक तथा मातृक सिद्धान्त (Patriarchal and Matriarchal theory)—समाजशास्त्रवेत्ताओं ने इस बात की खोज करने का प्रयत्न किया है कि अति प्राचीन समाज के संगठन का क्या रूप था? तथा उनकी राजनैतिक दशा क्या थी? इतिहास द्वारा इस बात का पता चलता है कि अति प्राचीन काल में लोग भिन्न भिन्न परिवारों में विभक्त थे। कुल तथा जाति का भाव उनमें प्रबल था कुलपति की आज्ञा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कार्य करता था। कुलपति ही परिवार के सब प्रकार के झगड़ों का निर्णय करता था। कुलपति तथा परिवार में प्राचीन समाज को संगठित देखकर राजशास्त्रवेत्ताओं का विश्वास है कि राज्य का विकास परिवार से ही

हुआ है। पारिवारिक संगठन उन्नति करके राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया है।

(क) पैतृक सिद्धान्त—समाजशास्त्रवेत्ता ज० ऐफ० मेकलेनन का कथन है कि "राजकीय संस्था की उत्पत्ति के विषय में जो पैतृक सिद्धान्त है उसका अभिप्राय यह है कि परिवार के विकास का परिणाम समाज में परिणत हुआ और पहिलेपहल एक मनुष्य, एक स्त्री और कुछ बच्चों के संयोग से परिवार-संस्था का आरम्भ हुआ।" सबसे पहले एक ही परिवार होगा। विवाह आदि संबंध से नवीन परिवारों की उत्पत्ति हुई होगी। बढ़ते बढ़ते ये जाति, समुदाय तथा समाज आदि में परिणत हो गये होंगे। इस प्राचीन अवस्था में घर का बड़ा बूढ़ा घर के सब व्यक्तियों पर शासन करता था। कुटुम्ब अधिक बड़ा हो जाता था तो वह फिर छोटे छोटे कुटुम्बों में विभक्त हो जाता था। जब इस प्रकार कुटुम्बों की संख्या अधिक हो गई और समाज का विकास होने लगा तो इसी पारिवारिक पद्धति के अनुसार राज्य की स्थापना की गई। कई कुटुम्ब मिल गये और सब कुटुम्बों में जो सबसे अधिक वृद्ध पुरुष था उसे सबने अपना नेता स्वीकार कर लिया और सब उसी की आज्ञा मानने लगे और अपने झगड़ों का निर्णय कराने के लिये उसी के पास जाते थे। एक छोटे कुटुम्ब पर पिता का पूर्ण अधिकार होता था, यहां तक कि वह अपने अधीन कुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति के प्राण तक ले सकता था। पैतृक सिद्धान्त के अनुसार परिवारों के नेता अथवा राजा को अपने अधीन व्यक्तियों पर पूर्णरूप से अधिकार था। सर हैनरी मेन (Sir Henry Maine) का कथन है कि 'समाज आरम्भ में कुटुम्बों में विभाजित था और कुटुम्ब के सबसे वृद्ध पुरुष ने उन कुटुम्बों को अपनी रक्षा और अपने अधिकार से संगठित कर रक्खा था।' उसका विचार है कि कुटुम्ब का ही वृहत् रूप राज्य है। उसका कथन है कि सबसे पहले मनुष्य, स्त्री और उनके बच्चों का एक कुटुम्ब था। जब इस कुटुम्ब की वृद्धि हुई और अनेक कुटुम्ब बन गये तो पहल कुटुम्ब का वृद्ध पुरुष सब का रक्षक और शासक बन गया और इस प्रकार पैतृक शासन की प्रथा का आरम्भ हुआ। राज्य बहुत से कुटुम्बों का एक समुदाय है। कुटुम्ब से राज्यों का विकास इस प्रकार हुआ कि कुटुम्ब बढ़कर अनेक कुटुम्बों के रूप में परिवर्तित हो गया। बहुत से कुटुम्ब स्थापित हो जाने पर उनमें से कुछ कुटुम्बों के वंशों ने अपना अपना अस्तित्व एक दूसरे से पृथक रक्खा। इस प्रकार जातियाँ (Tribes) बन गईं। जातियों के बढ़ जाने से राज्य स्थापित हो गये। पैतृक सिद्धान्त के तीन विशेष लक्षण हैं—

(१) पैतृक सिद्धान्त विवाह-सम्बन्ध के आधार पर स्थापित है। क्योंकि मनुष्य, उसकी स्त्री और उसके बच्चे मिलकर कुटुम्ब बनता है। इससे स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त विवाह पर निर्भर है।

(२) एक ही कुटम्ब बढ़ते बढते पहले जाति और फिर राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया।

(३) कुटुम्ब का अथवा जाति का सबसे वयोवृद्ध पुरुष उस कुटुम्ब अथवा जाति का नेता, शासक वा रक्षक होता था। वह युद्ध में नेतृत्व करता था और शान्ति के समय न्याय करता था। उसे अपने अधीन कुटुम्ब वा जाति के लोगों पर पूर्ण अधिकार था यहां तक कि वह उनमें से किसी के भी प्राण तक ले सकता था। जब उसकी मृत्यु होती थी तो वह अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित कर जाता था। साधारणतया वह उत्तराधिकारी आयु में सबसे वृद्ध होता था।

इस प्रकार के पैतृक राज्यों के उदाहरण हमें इतिहास में अनेक मिलते हैं। यहूदी, यूनानी, रोम निवासी तथा प्राचीन भारतवर्ष में आर्य लोगों में इस प्रकार की शासन पद्धति का रिवाज था।

(ख) मातृक सिद्धान्त—उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि अति प्राचीन काल में जबकि मनुष्यों में विवाह संबंध की प्रथा नहीं थी उस समय में भी लोगों में राजनैतिक संगठन विद्यमान था। वह संगठन मातृक सिद्धान्त के आधार पर था। उस अति प्राचीन काल में माता के आधार पर वंश चलते थे। प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता मैक लेनन (Mc Lennan) मातृक सिद्धान्त का अनुयायी है। इसके मतानुसार जब मनुष्यों को विवाह-संबंध का ज्ञान न था बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित थी। ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया एक पत्नीत्व के भाव मनुष्यों में आते गये और अन्त में विवाह की प्रथा प्रचलित हुई। इस समय मातृक सिद्धान्त पैतृक-सिद्धान्त में परिवर्तित हो गया। जिस समय मनुष्यों में विवाह पद्धति अथवा पति पत्नी का भाव न था उस समय माता ही वंश का आधार समझी जाती थी। एक माता से उत्पन्न बच्चे अपने आप को भाई भाई तथा सगे संबंधी समझते थे। जेन्क्स (Jenks) का कथन है कि आस्ट्रेलिया तथा मलाया के प्राचीन लोगों में अभी तक यह प्रथा चली आती है। उनमें सम्पूर्ण सम्बन्ध मातृ-वंश से आरम्भ होते हैं। मातृ-कुल में उत्पन्न स्त्रियों तथा लड़कियों के साथ ही लोग विवाह करते हैं। उनमें पितृ वंश का तो पता ही नहीं चलता। अभी तक संसार के बहुत से भागों में ऐसी जातियां हैं जिनमें बहुपतित्व तथा अस्थायी

विवाह सम्बन्ध की प्रथाएँ प्रचलित हैं। इस से प्रतीत होता है कि प्रथाएँ अति प्राचीनकाल से अभी तक चली आती हैं और विवाह पद्धति सदा से अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से ही प्रचलित नहीं है। पैतृक सिद्धान्त की पृथा उसी समय प्रचलित हुई जब लोगों ने विवाह करना आरम्भ किया। मातृक सिद्धान्त के विशेष लक्षण निम्न लिखित हैं—

(१) स्थायी रूप से विवाह सम्बन्ध स्थापित करने का उस समय लोगों में विचार न था। स्त्री-पुरुष का अस्थायी विवाह सम्बन्ध स्थापित हो जाता था।

(२) जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है स्त्री द्वारा वंश चलते थे। मातृ वंश के अनुसार सम्बन्ध स्थापित किये जाते थे, और समझे जाते थे।

(३) माता का अधिकार संतान पर समझा जाता था। माता ही कुटुम्ब की कर्ता धर्ता तथा स्वामिनी समझी जाती थी।

(४) उस समय केवल स्त्रियों को ही मातृक सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार था। पुरुषों को सम्पत्ति में अधिकार नहीं मिलता था। जिस प्रकार आधुनिक काल में केवल पुरुषों को ही हिन्दू जाति में पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार होता है उसी प्रकार उस समय केवल स्त्रियों को ही मातृक सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार था। प्राचीन काल की हिन्दू जातियों में अब भी यह प्रथा प्रचलित है। इसके उदाहरण दक्षिण की असभ्य जातियों तथा हिमालय प्रदेश के भीतरी भागों में रहने वाली जातियों में अब भी विद्यमान हैं।

कुछ राजनीतिज्ञों का विचार है कि ऐसा सम्भव है कि सम्पत्ति के विषय में मातृक अधिकार प्रचलित हो और सम्बन्ध भी मातृक सिद्धान्त के अनुसार स्थापित किये जाते हों परन्तु शासन सम्बन्धी विषयों में मातृक सिद्धान्त प्रचलित न था। हमारे विचार में यह युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि इतिहास में मातृक सिद्धान्त द्वारा राज्य स्थापित किये जाने का उदाहरण हमें दिखाई नहीं देता है। यदि स्त्रियों का राज्य किसी रूप में भी संसार के किसी भाग में दिखाई देता तो हम उसे ऐसा समझ लेते कि वही मातृक सिद्धान्त की शासन प्रथा अभी तक चली आ रही है। परन्तु ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। अतः यही मानना पड़ेगा कि स्थापना पैतृक सिद्धान्त के अनुसार ही हुई होगी क्योंकि इसके उदाहरण अब भी देखने में आते हैं।

पैतृक तथा मातृक सिद्धान्तों के विषय में हमें लीकाक (Leacock) के विचार पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। उसका विचार है कि 'किसी एक

juxtaposition) को छोड़ कर वह अपने आस पास के मनुष्यों से स्वतन्त्र रहता है। इन दोनों सिद्धान्तों के बीच में एक सिद्धान्त और है। जिसे द्वैध कल्पना (dualistic conception) कहते हैं। इस सिद्धांन्त के अनुसार व्यक्ति का समाज के साथ थोडा सा सम्बन्ध है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को कुछ बातों में समाज के आश्रित रहना पड़ता है और कुछ बातों में वह बिल्कुल स्वतन्त्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार न तो व्यक्ति का अस्तित्व समाज में विलीन है और न वह समाज से अथवा अपने आपस के सामाजिक वातावरण से बिल्कुल पृथक् अथवा स्वतन्त्र है।

सावयव सिद्धान्त के अनुयायियों ने राज्य की तुलना मनुष्य के शरीर के साथ की है,और यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि शरीर के रक्त कणों (cells) का जो सम्बन्ध शरीर के साथ है ठीक वही सम्बन्ध मनुष्य का राज्य के साथ है। जेलिनेक (Jellinek) का कथन है कि 'राज्य से सम्बन्ध रखने वाला यह सावयव सिद्धान्त बहुत ही पुराना और लोकप्रिय है।' प्लैटो ने 'डी रिपब्लिका' (De Republica) नामक ग्रन्थ में गणराज्य (Republic) की तुलना एक विराट मनुष्य से की है और बड़े जोर से यह प्रतिपादन किया है कि सर्वोपरि सुव्यवस्थित 'समानतन्त्र' (commonwealth) वही है जिसकी बनावट तत्वतः मनुष्य शरीर की बनावट से समानता रखती है। प्लैटो का कथन है कि जिस प्रकार शरीर के सदस्य रूपी किसी अवयव को चोट लग जाने से सारे शरीर को कष्ट होता है और वह उस दुखित अवयव के साथ सहानुभूति दिखाता है, ठीक उसी प्रकार राजनैतिक समाज जिन व्यक्तियों से बना है, उनमें से किसी को चोट पहुंचने से सारे समाज को धक्का लगता है। यूनानी राजशास्त्रवेत्ता सिसरो (Cicero) ने राज्य और व्यक्ति की तुलना की है। उसने राज्य के प्रधान की उस आत्मा से तुलना की है जो मानव शरीर को संचालित करती है। अठारहवी शताब्दी के यूरोपीय लेखकों ने इस तुलना को बड़ा महत्व दिया है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् इस सिद्धान्त का महत्व घटने लगा और इस विचार की पुष्टि होने लगी कि राज्य केवल एक कृत्रिम चीज है। इस विचार से [illegible]-सिद्धान्त को बड़ा आधार पहुँचा। परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में जर्मन के दार्शनिकों से इस विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और इस विचार को पुनः विशेष प्रोत्साहन मिला कि राज्य एक शरीर (organism) है। जर्मनी के राजशास्त्र वेत्ता ब्लंट्श्ली (Bluntchli) ने अपने ग्रन्थ 'थियोरी आफ दी स्टेट' (Theory of the State) में

सावयव-सिद्धान्त की पुष्टि की है। उसने बताया है कि राज्य मानव शरीर (human organism) का प्रतिबिम्ब है। इन दोनों में सादृष्य है। जिस प्रकार शरीर के अवयव कार्य और जीवन क्रिया करते हैं वैसी ही क्रियायें राज्य में भी होती हैं। उसने राज्य की बनावट और जीवन क्रिया की मानव शरीर से बड़ी मनोरंजक तुलना की है। वह कहता है कि राज्य केवल निर्जीव कृत्रिम यंत्र नहीं है। वह एक सजीव, बौद्धिक सेन्द्रिय पदार्थ है। जिस प्रकार तैल चित्र तेल के बिन्दुओं के समुदाय से कुछ अधिक है, जिस प्रकार मनुष्य रक्तबिन्दु या अस्थियों के सम्मिश्रण से कुछ अधिक है वैसे ही राज्य राष्ट्रीय लोगों के केवल समुदाय से तथा बाह्य विधि विधान के संग्रह से कुछ अधिक है।

जिस प्रकार प्राणी का शरीर अपने सजीव अवयवों तथा रक्त कणों (Cells) से बना है और जिस प्रकार ये अवयव एक दूसरे पर परस्पर निर्भर रहते हुये अपना अपना व्यक्तिगत कार्य करते हैं ठीक उसी प्रकार राज्य-रूपी शरीर में भी होता है। यह राज्य-रूपी शरीर व्यक्ति रूपी अवयवों से बना है। इन अवयवों की दशा शरीर के अवयवों की सी है। शरीर के अवयवों के समान ये व्यक्ति भी, (जो राज्य-रूपी शरीर के अवयव हैं) अपना अपना व्यक्तिगत पृथक् पृथक् कार्य करते हुये भी एकदूसरे पर अथवा समाज पर निर्भर हैं। इनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का अस्तित्व कृत्रिम साधनो के अतिरिक्त नैसर्गिक साधनों से आरम्भ होता है। रूसो ने मानव शरीर के साथ राज्य की बड़ी मनोरंजक तुलना की है। मनुष्य के सिर की तुलना राज्य की सर्वोच्च सत्ता से, मानव मस्तिष्क की राज्य के विधान और रीति रिवाजों से, इच्छाओं की न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों से, व्यापार, खेती और उद्योग धन्धों की मुख और पेट से, तथा सार्वजनिक अर्थकोष की रक्त से की है। इंगलैंड के दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स आफ सोश्यालजी' (Principles of Sociology) में सुसंगठित समाज और प्राणी-शरीर की बड़ी सुन्दर तुलना की है। उसने दिखलाया है कि प्राणी-शरीर और समाज शरीर दोनों का आरम्भ पहले पहल कीटाणुओं (germs) के रूप में होता है। इन दोनों में समान रूप से निरन्तर वृद्धि क्रिया होती है। ज्यों-ज्यों इनके अंगों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उनका असादृश्य बढ़ता जाता है और उनकी बनावट में विशेष जटिलता आती जाती है। सबसे क्षुद्र प्राणी के शरीर की बनावट बिल्कुल साधारण होती है। उसमें पेट श्वास-नली अथवा पसली के अतिरिक्त

और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार समाज अपनी अन-उन्नत दशा में केवल बहादुरों, शिकारियों और भद्दे औजार बनाने वालों का एक समुदाय था। ज्यों ज्यों समय बीतता गया समाज का विकास होता गया और उसमें जटिलता बढ़ती गई। ज्यों-ज्यों जटिलता बढ़ती गई उसमें श्रम-विभाग होने लगा। प्राचीन काल में भारतवासियों का जाति-भेद इसी श्रम-विभाग के आधार पर था। जिन तत्वों से प्राणियों के शरीर का विकास होता है उन्हीं तत्वों के आधार पर समाज-शरीर का भी विकास होता है। इस प्रकार की समानता दिखाते हुए स्पेन्सर ने प्राणी-शरीर और समाज-शरीर में एक तुलनात्मक भेद प्रकट किया है। वह यह है कि प्राणी शरीर की बनावट सुसंगठित है, प्राणी-शरीर का प्रत्येक अंग परस्पर बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध के साथ एक दूसरे मे संबद्ध है। इसके विपरीत समाज-शरीर असम्मिश्रित है। उसके अवयव अधिक स्वतन्त्र होने के कारण अधिक पृथक् तथा बिखरे हुये हैं। स्पेन्सर इस भेद को तात्विक भेद मानता है। वह कहता है कि इस भेद के रहते हुये भी दोनों की समानता की जा सकती है, क्योंकि समाज-शरीर असम्मिश्रित होने पर भी सम्पूर्ण चैतन्य है। स्पेन्सर का कथन है कि समाज शरीर और प्राणी-शरीर के उद्देश्यों में विभिन्नता है। समाज का अस्तित्व उसके सदस्यों के लाभ के लिये है, सदस्यों (मनुष्यों) का अस्तित्व समाज के लाभ के लिये नहीं है। इसके विपरीत मनुष्य शरीर में पृथक् पृथक् अवयवों का उद्देश्य अपना अपना कार्य करते हुये सम्पूर्ण शरीर की सेवा करना है, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है शरीर के अवयवों का लाभ शरीर के लाभ पर ही निर्भर है। स्पेन्सर के व्यक्तिवाद का आधार यही भेद है। आस्ट्रिया के प्रसिद्ध न्यायशास्त्रवेत्ता ऐलबर्ट शेफ़ले (Albert Shaffle) ने प्राणी-शरीर और समाज-शरीर की तुलना अपने ग्रंथ 'दी स्ट्रक्चर एन्ड लाइफ् आफ् दी सोशल बोडी' (The Structure and Life of the Social Body) में की है। उसने प्राणी-शरीर और समाज शरीर की शरीर शास्त्र, जीव-विज्ञान और मानस-शास्त्र की दृष्टि से तुलना करके दोनों में आश्चर्य-जनक सादृश्य दिखलाया है। उसने यह बतलाया है कि समाज एक शरीर है जिसका जीवन-तत्व अथवा अंग मनुष्य है। रूस के प्रसिद्ध समाजशास्त्रवेत्ता पॉल वॉन लीलियन फेल्ड ने भी दोनों की तुलना करके समाज शरीर को सजीव सिद्ध किया है। उसने अपनी पुस्तक 'थाट्स कनसर्निंग दी सोशल साइन्स आफ् दी फ्यूचर' (Thoughts Concerning the Social Science of the Future) में सावयव सिद्धान्त का

पूर्ण रूप से समर्थन किया है। उसने समाज के मनोविज्ञान और समाज शरीर को भली प्रकार से समझा कर उसकी प्राणी-शरीर के साथ तुलना की है और दोनों की समानता का स्पष्टीकरण किया है। आगस्ट कामटे (August Comte), टार्ड (Tarde), लिटार्नो (Letourneau), डिग्रेट (De Great), फौली (Fowllee) और रनवर्म्स (Rene-worms) आदि फ्रेंच दार्शनिकों तथा जर्मन राज-शास्त्र वेत्ताओं ने भी सावयव-सिद्धान्त का समर्थन किया है।

जो लोग इस सिद्धान्त के विरोधी हैं उनका यह कहना है कि प्राणी के शरीर के तत्वों की और सुसंगठित राजनैतिक समाज-शरीर के तत्वरूप मानव-प्राणियों की तुलना करना, कदापि ठीक नहीं है। प्राणी-शरीर के रक्तकण केवल द्रव्य (Matter) के टुकड़े हैं जिनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, न इनमें कोई स्वतन्त्र इच्छा शक्ति ही है। ये जीवन की सहायता करते हैं। यदि इन्हें शरीर से पृथक् कर दिया जाय तो ये जीवित नहीं रह सकते। राजनैतिक समाज के तत्वों की दशा इसके बिलकुल विपरीत है। इसके तत्वों (व्यक्तियों) को यदि संगठन से पृथक् कर दिया जाय तो ये जीवित रह सकते हैं। इनमें इच्छा शक्ति है, दूरदृष्टि है, आत्मसंयम की शक्ति है; इनमें स्वतन्त्र जीवन और गति है। इनमें उस शरीर से जिसके यह अङ्ग हैं स्वतन्त्र आविभौतिक जीवन हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपना जीवन व्यतीत करने की शक्ति रखता है। उसके अपने निजी कार्य समाज के केन्द्रीय अवयवों से संचालित नहीं होते। प्राणी शरीर के रक्तकणों में इस प्रकार की शक्तियां नहीं हैं। इनमें व्यक्ति के समान गुण, बुद्धि, प्रतिभा, स्वतन्त्रगति आदि नहीं हैं। एक व्यक्ति समाज से पृथक् होकर भी व्यक्ति ही रहता है परन्तु यह बात प्राणी शरीर के तत्वों के लिये नहीं कही जा सकती। शरीर से पृथक् होने पर शरीर के तत्वों का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। वृद्धि, विकास, विनाश और मृत्यु के जो नियम प्राणी शरीर में कार्य करते हैं वे राजनैतिक समाज-शरीर में कार्य नहीं करते। इसी प्रकार की बहुत सी बातें हैं जिनके कारण प्राणी-शरीर और समाज-शरीर की तुलना करना कठिन हो जाता है और इन सब बातों पर विचार करते हुए सावयव सिद्धान्त निराधार प्रतीत होता है।

राज्य की उत्पत्ति पर टिप्पणी—राज्य की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। कुछ राजशास्त्र वेत्ताओं ने शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास बतलाया है। जैन्क्स का विचार है कि राज्य

और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार समाज अपनी अन-उन्नत दशा में केवल बहादुरों, शिकारियों और भद्दे औजार बनाने वालों का एक समुदाय था। ज्यों ज्यों समय बीतता गया समाज का विकास होता गया और उसमें जटिलता बढ़ती गई। ज्यों-ज्यों जटिलता बढ़ती गई उसमें श्रम-विभाग होने लगा। प्राचीन काल में भारतवासियों का जाति-भेद इसी श्रम-विभाग के आधार पर था। जिन तत्वों से प्राणियों के शरीर का विकास होता है उन्ही तत्वों के आधार पर समाज-शरीर का भी विकास होता है। इस प्रकार की समानता दिखाते हुए स्पेन्सर ने प्राणी-शरीर और समाज-शरीर में एक तुलनात्मक भेद प्रकट किया है। वह यह है कि प्राणी शरीर की बनावट सुसंगठित है, प्राणी-शरीर का प्रत्येक अंग परस्पर बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध के साथ एक दूसरे से संबद्ध है। इसके विपरीत समाज-शरीर असम्मिश्रित है। उसके अवयव अधिक स्वतन्त्र होने के कारण अधिक पृथक् तथा बिखरे हुये हैं। स्पेन्सर इस भेद को तात्विक भेद मानता है। वह कहता है कि इस भेद के रहते हुये भी दोनों की समानता की जा सकती है, क्योंकि समाज-शरीर असम्मिश्रित होने पर भी सम्पूर्ण चैतन्य है। स्पेन्सर का कथन है कि समाज शरीर और प्राणी-शरीर के उद्देश्यों में विभिन्नता है। समाज का अस्तित्व उसके सदस्यों के लाभ के लिये है, सदस्यों (मनुष्यों) का अस्तित्व समाज के लाभ के लिये नहीं है। इसके विपरीत मनुष्य शरीर में पृथक् पृथक् अवयवों का उद्देश्य अपना अपना कार्य करते हुये सम्पूर्ण शरीर की सेवा करना है, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है शरीर के अवयवों का लाभ शरीर के लाभ पर ही निर्भर है। स्पेन्सर के व्यक्तिवाद का आधार यही भेद है। आस्ट्रिया के प्रसिद्ध [illegible] ऐलबर्ट शेफ्ले (Albert Shaffle) ने प्राणी-शरीर और समाज-शरीर की तुलना अपने ग्रंथ 'दी स्ट्रक्चर ऐन्ड लाइफ आफ दी सोशल बॉडी' (The Structure and Life of the Social Body) में की है। उसने प्राणी-शरीर और समाज शरीर की शरीर शास्त्र, जीव-विज्ञान और मानव-शास्त्र की दृष्टि से तुलना करके दोनों में आश्चर्य-जनक सादृश्य दिखलाया है। उसने यह बतलाया है कि समाज एक शरीर है जिसका [illegible] अंग मनुष्य है। इस के अतिरिक्त [illegible] में भी दोनों की तुलना करके समानता दिखाने का प्रयत्न किया है। उसने अपनी पुस्तक 'थाट्स कनसर्निंग दी सोशल साइंस आफ दी फ्यूचर' (Thoughts Concerning the Social Science of the Future) में समाज विज्ञान का

हैं। आधुनिक राष्ट्रों का संगठन बहुत ही पेचीदा है। उनकी शक्ति भी अधिक विस्तृत है। परन्तु इस विकास को किसी एक नियम के अनुसार क्रमबद्ध दिखाना असम्भव है। बहुत से राज्यों ने जिस बात को बड़े प्रयत्न से सहस्रों वर्षों में प्राप्त किया, दूसरे राज्यों ने उसकी नक़ल कुछ ही दिनों में करके वैसे ही बन गये। अतः इस प्रकार राज्य का विकास होने का केवल एक यही कारण नहीं माना जा सकता।

जैसा कि विकास सिद्धान्त के अनुयायियों का मत है कि शनैः शनैः पारिवारिक जीवन की उन्नति होती गई और अन्त में वह राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो किसी अंश तक स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि इस सिद्धान्त का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। वास्तव में मनुष्यों का प्राचीन काल का जीवन बहुत साधारण था। ज्यों-ज्यों मनुष्य के जीवन में जटिलता आती गई मनुष्य की सब बातें जटिल होती गई। मनुष्य का राजनैतिक जीवन भी जटिल होता गया और होते होते वर्तमान दशा को प्राप्त हुआ है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो सम्भव सा प्रतीत होता है।

सावयव सिद्धान्त के अनुयायियों ने राजनैतिक समाज की मनुष्य के शरीर से तुलना करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जिस प्रकार मनुष्य का शरीर एक पूर्ण वस्तु है और शरीर के अवयव उसके अभिन्न अंश हैं इसी प्रकार राजनैतिक समाज भी एक पूर्ण वस्तु है और उस समाज का अवयव अर्थात् मनुष्य उस समाज का अभिन्न अंश है। 'इन दोनों की तुलना करने में जो समानता दिखाई गई है वह भी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। दोनों में इतनी अधिक समानता तो नहीं है परन्तु हाँ थोड़ी बहुत सामानता अवश्य मानी जा सकती है। यह सिद्धान्त भी किसी अंश तक युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

इन सब सिद्धान्तों पर दृष्टि डालने से प्रकट होता है कि किसी एक सिद्धान्त द्वारा राज्य के विकास को दिखाना उचित नहीं है। इसमें सन्देह भी नहीं है कि आज्ञापालन का भाव लोगों में उत्पन्न होने के पश्चात् राज्य का विकास हुआ हो। राज्य का विकास भी सामाजिक परिवर्तनों का एक अंश है। एकस्वार्थ, भौगोलिक एकता, सहनिवास, समान-जाति समान-भय आदि अनेक कारण मिलकर मनुष्यों को संगठित करते हैं। ये ही राज्य के उद्भव के मोटे मोटे कारण हैं।

आधुनिक कालके कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं का मत इन सिद्धातों से भिन्न

के विकास का युद्ध कौशल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक काल के प्रत्येक राज्य का विकास युद्ध द्वारा ही हुआ है। निस्सन्देह आधुनिक राज्यों को आत्मरक्षण के लिये युद्ध करना पड़ता है। परन्तु उनको युद्ध का परिणाम समझना भूल है।

कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं का विचार है कि राज्य का विकास ईश्वरांश—सिद्धान्त के अनुसार हुआ। इतिहास में ऐसा भी समय आ चुका है जब राजा देवताओं के सदृश माना जाता था। उसे ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था और देवताओं की भांति पूजा जाता था। ऐसी स्थिति में राजाओं ने ईश्वरीय प्रतिनिधि बनकर प्रजा पर भांति भांति के अत्याचार किये और परलोक के भय के कारण प्रजा ने इस लोक में अनेकों कष्ट सहे। यदि कोई श्रेष्ठ राजा सिंहासन पर बैठता था तो समझते थे कि ईश्वर प्रजा से प्रसन्न है इसलिये अच्छा राजा भेजा गया है। यदि राजा अत्याचारी होता था तो प्रजा सोचती थी कि उनके पापों के कारण ऐसा अत्याचारी शासक भेजा गया है और शान्ति पूर्वक उसके अत्याचारों को सहन करते थे। यह सिद्धान्त भी निर्मूल प्रतीत होता है।

सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुयायियों का यह मत है कि प्राकृतिक दशा में मनुष्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे। एक दूसरे पर मात्स्य-न्याय के अनुसार अत्याचार करते थे, अथवा शान्तिपूर्वक श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करते थे। हाब्स के अनुसार मात्स्य न्यायानुसार जीवन व्यतीत होता था। लॉक के अनुसार मनुष्य सामाजिक दशा में तो थे परन्तु आपसी झगड़ों का निर्णय करने के लिये और प्राकृतिक विधानों का ठीक ठीक अर्थ समझाने वाली कोई शक्ति न थी, अतः राज्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। रूसो के अनुसार मनुष्य में उस समय तर्क बुद्धि (reason) का विकास नहीं हुआ था। वह आनन्दमय जीवन था। भ्रातृभाव से जीवन व्यतीत करते थे। 'मेरे' 'तेरे' के भाव लोगों में न थे। जब से मनुष्यों में युक्ति (reason) ने प्रवेश किया, लोगों में चालाकी आई और राज्य स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। एक अनुबन्ध में बंध कर राज्य स्थापित किया गया। यह सिद्धान्त भी [illegible] समझ में नहीं आता यद्यपि इस सिद्धांत के [illegible] हुये हैं।

कुछ लोगों का यह मत है कि पैतृक तथा मातृक सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास हुआ है। [illegible] प्रतीत होता है। प्राचीन काल के [illegible] राज्यों से आधुनिक काल के राज्य बिल्कुल भिन्न

प्रकार मिलकर सब धार्मिक कार्यों को करते थे। पारिवारिक सिद्धान्त (पैतृक तथा मातृक) के अनुसार रुधिर-सम्बन्ध और धर्म को राज्य की उत्पत्ति का महत्व पूर्ण कारण बताया जाता है।

(३) राजनैतिक चेतना—राज्य की उत्पत्ति का तीसरा आधार राजनैतिक चेतना समझी जाती है। मानव जीवन की दैनिक आवश्यकताओं तथा रक्षा और शान्तिमय जीवन व्यतीत करने की इच्छाओं ने मनुष्य को अवश्य राजनैतिक संगठन स्थापित करने के लिये प्रेरित किया होगा। अति प्राचीन काल में लोगों का जीवन अति साधारण था। जब इन लोगों में एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास करके जीवन व्यतीत करने की भावना हुई होगी तब वास्तविक राजनैतिक चेतना का उद्भव हुआ होगा। इसी के साथ साथ उनके राजनैतिक संगठन में जटिलता आती चली गई होगी। एक स्थान पर मकान बनाकर स्थायी रूप से निवास करना, भोजन प्राप्त करने के साधन निश्चित तथा स्थापित करना, अपनी रक्षा के लिये एक पृथक् संगठन स्थापित करना, इत्यादि ऐसी बातें है जो शनैः शनैः मनुष्य को अनुभव हुई होंगी और इसी प्रकार की राजनैतिक चेतना बढ़ती गई जो आज हमें इतनी जटिल दिखाई देती है।

रुधिर-सम्बन्ध, धर्म तथा राजनैतिक चेतना के अतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं जिन्होंने राज्य की उत्पत्ति में सहायता की है। उपरोक्त छः सिद्धान्तों ने (शक्ति, ईश्वरांश, सामाजिक अनुबन्ध, पैतृक मातृक विकास और सावयव) पृथक् पृथक् राज्य की उत्पत्ति और रूप को समझाने में सहायता की है। परन्तु यह जानने के लिये कि इस उत्पत्ति में कौनसा सिद्धान्त कितना सत्य है हमें ऐतिहासिक दृष्टि कोण से प्रत्येक का अध्ययन करना चाहिये। ध्यान पूर्वक प्रत्येक के पढ़ने से हमको ज्ञात होगा कि राज्य की उत्पत्ति के वास्तविक कारण क्या है और किस-किस कारण का इस कार्य में कितना हाथ है।

है। कार्लमार्क्स (Karl Marx) ने राज्य को आर्थिक कारणों का परिणाम कहा है। उसका कथन है कि सामाजिक संस्थाओं के सदृश राज्य का विकास आर्थिक आधार पर हुआ है। वर्तमान राज्य उस प्रकार के संगठन को विशेषता दे रहे हैं जिसके द्वारा पूंजीपति श्रमिकों के श्रम का फल स्वयं भोग रहे हैं। सारांश यह है कि राज्य का उदय इतना जटिल है कि केवल एक ही कारण उसके रहस्य को सुलझाने में असमर्थ है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य के उदय होने के पश्चात् कभी आर्थिक कारण और कभी युद्ध आदि राज्य की उत्पत्ति करने में मुख्य कारण रहे हों। परन्तु राज्य की उत्पत्ति के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये हमें इतिहास की ही शरण लेनी चाहिये और ऐतिहासिक दृष्टि से ही उसकी उत्पत्ति का कारण निर्धारित करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि यही एक ऐसा आधार है जो न्याय संगत तथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

राज्य की उत्पत्ति का आधार निश्चित करन के लिये हमें निम्नलिखित इन बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—(१) रुधिर-सम्बन्ध, (२) धर्म और (३) राजनैतिक चेतना।

(१) रुधिर-सम्बन्ध—इतिहास से हमको पता चलता है कि अति प्राचीन काल में मनुष्य किसी एक स्थान पर नहीं रहते थे। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य समुदायों में रहते थे और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते रहते थे। मनुष्य कुटुम्ब में रहते थे। जो कुटुम्ब आपस में निकट सम्बन्ध रखते थे वे साथ-साथ रहते। इस प्रकार मनुष्य समाज का अति प्राचीन काल का जीवन एक पारिवारिक जीवन था जो रुधिर सम्बन्ध पर निर्भर था। मकईवर (Mc Iver) ने ठीक कहा कि "रुधिर सम्बन्ध से समाज की स्थापना हुई और समाज से राज्य की।"

(२) धर्म—जिस प्रकार रुधिर-सम्बन्ध का राज्य की स्थापना से घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी प्रकार धर्म का भी राज्य की उत्पत्ति में विशेष हाथ रहा है। गैटिल (Gettell) का कथन है कि रुधिर-सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप हैं। एक साथ मिलकर देवता की पूजा करने से मनुष्य में अनुशासन और ऐक्य की भावना का उद्भव होना रुधिर-सम्बन्ध से अधिक महत्व रखता है। जो लोग इस धार्मिक संगठन से पृथक थे उनको शत्रुओं के समान समझा जाता था। जेन्क्स का कथन है कि पारिवारिक संगठन में मनुष्य एक ही देवता की पूजा करते थे, एक ही धर्म को मानते थे और इस

भारत के युद्ध में उस समय के राजाओं को निमन्त्रण दिया गया था। महाराजा युधिष्ठिर चक्रवर्ती राजा थे, अतः उन्होंने अपने अधीन राजाओं को युद्ध में लड़ने के लिये बुलाया था। उस युद्ध में बहुत से राजाओं ने भाग लिया था। चीन, जापान, रूस तथा अमरीका तक के राजाओं ने युद्ध में भाग लिया था। अमरीका के राजा बभ्रुवाहन ने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था। उस समय भारतवर्ष में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिनपर कौरव तथा पाण्डवों का अधिकार था। वार्षिक कर देने के अतिरिक्त वे राज्य पूर्ण स्वतन्त्र थे। उनका शासन प्रबन्ध अच्छा था। राज्य-प्रबन्ध धर्म के आधार पर था। उसी समय में मैक्सिको और पेरू आदि अमरीकी राज्य उन्नत दशा में थे और वहां के लोग सुख से अपना जीवन व्यतीत करते थे। व्यास के पश्चात् हमको शुक्राचार्य तथा चाणक्य के समय की राजनैतिक दशा का पता चलता है। उस समय एकतन्त्र राज्य-पद्धति के अनुसार शासन प्रबन्ध होता था, प्रजा सुखी थी चाणक्य ने शासन-विज्ञान की बड़ी उन्नति की। उसका अर्थशास्त्र बहुत प्रसिद्ध है। महाभारत काल के पश्चात् बौद्ध काल की राजनैतिक दशा का हमको इतिहास से विस्तृत हाल मालूम होता है। बौद्ध-ग्रन्थों से पता चलता है कि एशिया में भारतवर्ष और चीन आदि अन्य देशों में राजनैतिक स्थिति अच्छी थी। इसके पश्चात् असीरिया, फ़ारिस और मिस्र देशों में राज्य स्थापित हुये और उन सब पर भारतवर्ष की सभ्यता का प्रभाव था। उन देशों ने भारत से ही दर्शन, गणित, ज्योतिष, वेदान्त आदि की शिक्षा ग्रहण की थी।

२—यूनान के नगर राज्य—पीकॉक लिखित 'इण्डिया इन ग्रीस' पुस्तक के पढ़ने से पता चलता है कि जैन तथा बौद्ध काल में भारत के भिक्षुओं ने धर्म-प्रसार के विचार से विदेशों का देशाटन किया। विदेशों को प्रस्थान करने के पश्चात् उन लोगों ने विदेशों में ही उपनिवेश स्थापित किये और वहीं बस गये। 'पीकाक' महाशय ने उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि यूनान में भारतवासी गये और वहां बस गये। यूनान के प्राचीन दार्शनिक विचार भारतवासियों के विचारों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। प्राचीन यूनान निवासियों का देवताओं में विश्वास उसी प्रकार था जैसा भारतवासियों का। प्राचीन काल के यूनानियों का भारतवासियों के समान 'जीव के आवागमन' में विश्वास था। उस समय यूनान में छोटे छोटे नगर राज्य थे।

यूरोप में सबसे प्रथम यूनान में राज्य सम्बन्धी विचार प्रकट हुये। यूनानियों का उद्देश्य उच्च और आचरण स्पृहणीय था। इसका उनके राष्ट्रीय

अध्याय ४

राज्य का विकास

पिछले अध्याय में राज्य की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जा चुका है। शक्ति-सिद्धान्त के अनुयायियों ने राज्य का आधार शक्ति को ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया। ईश्वरांश सिद्धान्त के समर्थकों ने राज्य की स्थापना ईश्वर के प्रतिनिधि द्वारा बतलाई। सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुयायियों ने विशेषकर हाब्ज, लॉक और रूसो ने १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में यूरोप में हलचल मचादी। कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने पैतृक तथा मातृक सिद्धान्तों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इन आधारों से सन्तुष्ट न होकर कुछ राजनीतिज्ञों ने डार्विन (Darwin) के विकास-सिद्धान्त (Theory of Evolution) से प्रभावित होकर उस सिद्धान्त को राज्य की उत्पत्ति समझाने में प्रयोग किया और कुछ अंश तक वे लोग इसमें सफल भी हुये। मानवशास्त्रवेत्ताओं के सावयव सिद्धान्त को कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने राजनैतिक संगठन के समझाने में प्रयोग करके राज्य का रूप सावयव सिद्धान्त पर स्थिर करने का प्रयत्न किया। इन सब सिद्धान्तों पर हम विचार कर ही चुके हैं। अब हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राज्य के विकास का वर्णन करेंगे। राज्य के विकास का ऐतिहासिक वर्णन क्रमशः निम्नलिखित है—

१—अति प्राचीन काल के प्राच्य साम्राज्य—संसार में अति प्राचीन काल में भारतवर्ष सबसे प्रमुख देश था। सबसे प्रथम राजनैतिक विचारों का उदय भारतवर्ष में हुआ। महर्षि व्यास ने महाभारत में राजनीति के चार पांच सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। उनके विचार में भारतवर्ष में राज्य सामाजिक अनुबन्ध का परिणाम है। महाभारत काल को व्यतीत हुए लगभग ५००० वर्ष हो चुके हैं। महाभारत में संसार के बहुत से राज्यों का वर्णन आया है। परन्तु उस समय में यूरोप के किसी देश का वर्णन नहीं किया गया है इससे ज्ञात होता है कि उस समय यूरोप में राजनैतिक चेतना न थी। हाँ, महाभारत में महाराजा युधिष्ठिर का चक्रवर्ती राजा होना वर्णन किया गया है। महा-

ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि नागरिकों की शारीरिक उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता था। नागरिकों के स्वास्थ्य की उन्नति करते हुये उनकी मानसिक तथा आत्मिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। यूनान में उस समय छोटे छोटे नगर राज्य थे। प्रत्येक नागरिक राज्य के शासन-कार्य में भाग लेता था। नगर का विधान बनाने तथा अन्य विशेष कार्य करने के लिये नगर के सब नागरिक एकत्रित होकर सभा में बैठते थे और विधान बनाते तथा शासकों का निर्वाचन करते थे। यूनानियों का शासन प्रबन्ध बड़ी उन्नत दशा में था। यूनान के नगर-राज्य एक दूसरे से पृथक तथा स्वतन्त्र थे। उनमें आपस में किसी प्रकार का संगठन न था। वे आपस में युद्ध भी करते थे उनमें परस्पर मित्रता न थी और एक-दूसरे से वे द्वेष मानते थे। परिणाम यह हुआ कि जब विदेशियों का आक्रमण हुआ तो वे मिल कर न लड़ सके और अन्त में एक एक करके पराजित हुये। यूनान में इन नगर राज्यों में एक विशेष दोष यह था कि वहां सब नागरिकों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। यूनान की प्रजा साधारणतया तीन भागों में विभाजित थी हैलन्स, हैलट्स और ऐल्यन अर्थात् यूनानी, दास और अदेशी। इनमें यूनानियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। ये लोग कोई विशेष व्यवसाय नहीं करते थे। इनकी शिक्षा केवल राज्य-कार्य अथवा राज्य-रक्षा के लिये होती थी। इनका कार्य केवल राज्य-प्रबन्ध करना अथवा युद्ध में लड़ना था। राज्य की ओर से इनकी जीविका का प्रबन्ध होता था। दूसरी श्रेणी के लोग दास कहलाते थे, इनका कार्य धन उपार्जन करना तथा अन्य दस्तकारी आदि कार्य करना था। तीसरी श्रेणी के लोग विदेशी थे जो व्यापार के लिये यूनान में रहते थे। ये राज्य-प्रबन्ध में भाग नहीं ले सकते थे, न शासकों को निर्वाचित कर सकते थे। परन्तु न्यायालयों में नागरिकों की भांति अपने मुकद्दमे लड़ सकते थे। ये दास नहीं समझे जाते थे। सरांश यह है कि यूनानियों के छोटे छोटे नगरराज्यों के आपस के द्वेष तथा आन्तरिक प्रजा-विभाग के कारण विदेशियों के आक्रमण के समय शीघ्र संगठन न होने से ये परतन्त्रता के बन्धन में जकड़ गये। मैसिडन तथा रोम वालों ने इन पर आक्रमण करके इनकी स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया, और अन्त में रोम साम्राज्य के प्रान्तों में इन छोटे राज्यों का परिवर्तन हो गया।

३—रोम का सार्वभौम साम्राज्य—रोम साम्राज्य का विकास यूनान के छोटे छोटे नगर राज्यों के समान हुआ। आरम्भ में इटली की टाइबर नदी

विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। प्लैटो का कथन है कि 'अतिशय उन्नत राष्ट्र वही है जो मनुष्य के बहुत पास तक पहुँचे।' एक अङ्ग में कष्ट होने से जिस प्रकार सारे शरीर को कष्ट पहुँचता है उसी प्रकार उन्नत राज्य में, राज्य रूपी शरीर पर उसके मनुष्य रूपी अङ्गों पर सुख दुःख का प्रभाव पड़ता है। प्लैटो राज्य को चेतन शरीर मानता था। उसने सावयव सिद्धान्त की पुष्टि की। उसके मतानुसार राज्य की उन्नति और पूर्णता ही नागरिकों का अन्तिम ध्येय होना चाहिये। इसी उद्देश्य की पूर्ति में नागरिकों को अपनी सब शक्ति लगा देनी चाहिये। बुद्धिमान, दूरदर्शी, राजनीति में निपुण व्यक्तियों का कर्त्तव्य राज्य में शासन करना है। वीर क्षत्रियों का धर्म राज्य का संरक्षण करना है। धनोपार्जन में लगे हुये व्यक्तियों का कार्य ऊपर लिखी दोनों श्रेणियों के पुरुषों की सेवा करना और उनके अधीन रहना है। सारांश यह है कि राज्य रूपी शरीर के प्रत्येक अङ्ग को अपनी अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार राज्य की सेवा करनी चाहिये।

अरस्तू ने भी अपने गुरु प्लैटो के समान नागरिकों का अन्तिम उद्देश्य 'राज्य की उन्नति' ही समझा था। उसका विचार था कि मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है। राज्य मनुष्यों द्वारा ही बना है। राज्य एक स्वतन्त्र शरीर है। राज्य मनुष्यों के स्वार्थ का साधन नहीं है। उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य है। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि यूनानी राज्यों में राज्य की शक्ति अपरिमित सीमा तक पहुँच गई। नागरिकों का अस्तित्व राज्य के सम्मुख कुछ भी न था। यूनान के सम्पूर्ण नागरिक अपने आपको राज्य का एक अंग समझते थे और राज्य के लिये अपने जीवन को न्योछावर करने के लिये सर्वदा उद्यत रहते थे। यूनान में स्पार्टा और ऐथन्स राज्यों ने बड़ी उन्नति की थी। स्पार्टा में नागरिकों के स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान दिया जाता था। सैनिक शिक्षा सबके लिये अनिवार्य थी। जीवन कठोर था। पैदा होते ही बच्चे को एक रात के लिये बाहर रख दिया जाता था अगर वह जीवित रह जाता था तो उसको पाल लिया जाता था और ऐसा विचार था कि इस प्रकार का बालक भविष्य में स्वस्थ रहेगा और जीवन की कठिनाइयों का सफलता पूर्वक सामना कर सकेगा। बालकों को बारकों में रहना पड़ता था। सब साथ साथ सामान्य आवास में रहते थे और सामान्य (common) रसोई में भोजन करते थे। शारीरिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। मानसिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। इसके विपरीत ऐथन्स में मानसिक उन्नति की

ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि नागरिकों की शारीरिक उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता था। नागरिकों के स्वास्थ्य की उन्नति करते हुये उनकी मानसिक तथा आत्मिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। यूनान में उस समय छोटे छोटे नगर राज्य थे। प्रत्येक नागरिक राज्य के शासन-कार्य में भाग लेता था। नगर का विधान बनाने तथा अन्य विशेष कार्य करने के लिये नगर के सब नागरिक एकत्रित होकर सभा में बैठते थे और विधान बनाते तथा शासकों का निर्वाचन करते थे। यूनानियों का शासन प्रबन्ध बड़ी उन्नत दशा में था। यूनान के नगर-राज्य एक दूसरे से पृथक तथा स्वतन्त्र थे। उनमें आपस में किसी प्रकार का संगठन न था। वे आपस में युद्ध भी करते थे उनमें परस्पर मित्रता न थी और एक-दूसरे से वे द्वेष मानते थे। परिणाम यह हुआ कि जब विदेशियों का आक्रमण हुआ तो वे मिल कर न लड़ सके और अन्त में एक एक करके पराजित हुये। यूनान में इन नगर राज्यों में एक विशेष दोष यह था कि वहां सब नागरिकों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। यूनान की प्रजा साधारणतया तीन भागों में विभाजित थी हैलन्स, हैलट्स और ऐल्यन अर्थात् यूनानी, दास और अदेशी। इनमें यूनानियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। ये लोग कोई विशेष व्यवसाय नहीं करते थे। इनकी शिक्षा केवल राज्य-कार्य अथवा राज्य-रक्षा के लिये होती थी। इनका कार्य केवल राज्य-प्रबन्ध करना अथवा युद्ध में लड़ना था। राज्य की ओर से इनकी जीविका का प्रबन्ध होता था। दूसरी श्रेणी के लोग दास कहलाते थे, इनका कार्य धन उपार्जन करना तथा अन्य दस्तकारी आदि कार्य करना था। तीसरी श्रेणी के लोग विदेशी थे जो व्यापार के लिये यूनान में रहते थे। ये राज्य-प्रबन्ध में भाग नहीं ले सकते थे, न शासकों को निर्वाचित कर सकते थे। परन्तु न्यायालयों में नागरिकों की भांति अपने मुकद्दमे लड़ सकते थे। ये दास नहीं समझे जाते थे। सरांश यह है कि यूनानियों के छोटे छोटे नगरराज्यों के आपस के द्वेष तथा आन्तरिक प्रजा-विभाग के कारण विदेशियों के आक्रमण के समय शीघ्र संगठन न होने से ये परतन्त्रता के बन्धन में जकड़ गये। मैसिडन तथा रोम वालों ने इन पर आक्रमण करके इनकी स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया, और अन्त में रोम साम्राज्य के प्रान्तों में इन छोटे राज्यों का परिवर्तन हो गया।

३—रोम का सार्वभौम साम्राज्य—रोम साम्राज्य का विकास यूनान के छोटे छोटे नगर राज्यों के समान हुआ। आरम्भ में इटली की टाइबर नदी

के किनारे पर छोटे छोटे राज्य थे। यूनान के समान इनकी भूमि भी पहाड़ी थी। इन छोटे छोटे राज्यों के शासक तथा प्रजा मिलकर एक देवता की पूजा किया करते थे। यहां राजतन्त्रीय शासन की प्रथा थी। राज्य में एक राजा होता था जो युद्ध में सेना का नतृत्व करता था, धार्मिक त्योहारों पर पुजारी का कार्य करता था और शान्ति के समय न्याय तथा राज्य-प्रबन्ध करता था। रोम में भी प्रजा दो भागों में विभाजित थी—पैट्रीशियन्ज़ और प्लैबियन्ज़। पैट्रीशियन्ज़ उच्च जाति के धनी लोग थे जो शासन प्रबन्ध में भाग लेते थे और नागरिक थे। प्लैबियन्ज़ को नागरिता के अधिकार प्राप्त न थे और न ये शासनकार्य में भाग ले सकते थे। बहुत काल तक पैट्रीशियन्ज़ और प्लेबियन्ज़ का इस विषय पर झगड़ा होता रहा। अन्त में प्लैबियन्ज़ पर से सब प्रकार का राजनैतिक प्रतिबन्ध उठा लिया गया और किसी प्रकार का भेद-भाव न रहा। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व राजतन्त्रीय शासन का वहां अन्त होगया और गणराज्य (Republic) की स्थापना होगई। दो पुरुशासक (Magistrates) नियुक्त किये गये जो बाद में कौन्सल्ज़ (Consuls) के नाम से प्रसिद्ध हुये। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व पैट्रीशियन्ज़ और प्लैबियन्ज़ के झगड़े का अन्त हो गया और दोनों एक होगये। अब दोनों श्रेणियों के लोगों में से शासक निर्वाचित होने लगे।

आन्तरिक शान्ति होने पर रोम वालों ने अपने शासन-प्रबन्ध में उन्नति की। इटली के छोटे छोटे राज्यों को मिलाकर एक सुसंगठित साम्राज्य स्थापित किया। अच्छी अच्छी सड़कें बनवाई और सुदूर राज्यों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया। इस संगठन के स्थापित करने में कुछ राज्यों ने विद्रोह भी किया परन्तु अन्त में विद्रोह दबा दिया गया और सम्पूर्ण इटली में रोम साम्राज्य की स्थापना हो गई। साम्राज्य के प्रत्येक नागरिक को नागरिकता के अधिकार दे दिये गये। किसी बात का भेद भाव प्रजा में न रहा। बहुत काल से रोम निवासी अफ्रीका यूनान आदि देशों में व्यापार करने के लिये जाया करते थे और व्यापार के लिये अन्य देशों में निवास भी करते थे। ऊपर बताया जा चुका है कि यूनान में अदेशी (aliens) थे जिन्हें नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। इन अदेशियों में अधिकतर रोम निवासी थे। जिस प्रकार मध्यकाल में अंग्रेज़ लोग नाविक जाति (sailors) के नाम से प्रसिद्ध थे उसी प्रकार प्राचीन काल में रोम वाले प्रसिद्ध 'नाविक' थे। उनकी नौशक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। भूमध्य सागर के किनारे के सब देशों से रोम वाले व्यापार करते थे और वहां उन्होंने अपने व्यापार-केन्द्र भी स्थापित कर

रखते थे। सम्पूर्ण इटली में साम्राज्य स्थापित करने के पश्चात् रोम वालों ने अपनी सेना का संगठन किया। समुद्रतट तक बहुत अच्छी अच्छी सड़कें बनवाई और विश्व विजय करने के लिये निकल पड़े। सबसे प्रथम उन्होंने अफ्रीका के कार्थेज राज्य को विजय किया। इस विजय में सिकन्दर के साम्राज्य का बहुत बड़ा भाग उनके अधिकार में आगया और उनकी भी शक्ति बहुत बढ़गई। शनैः शनैः उन्होंने यूनान आदि सब यूरोपीय सभ्य देशों पर अपना अधिकार कर लिया। इन देशों पर अधिकार करने के पश्चात् उन्होंने विदेशों पर अपने आक्रमण बन्द कर दिये और विजय किये हुए देशों को संगठित करना आरम्भ कर दिया। ईसा से लगभग १०० वर्ष पूर्व रोम वालों ने अपने साम्राज्य को पूर्ण रूप से सुसंगठित कर लिया। सम्पूर्ण साम्राज्य केन्द्रीय शासन द्वारा शासित होता था। साम्राज्य का सबसे बड़ा शासक सम्राट कहलाता था। सम्राट स्वयं अन्य प्रान्तों के शासक नियुक्त करता था तथा उनका परिवर्तन (Transfer) करता था। जब साम्राज्य की स्थापना हुई तो शासन-प्रबन्ध में भी परिवर्तन हुआ। गण-राज्य के स्थान पर सैनिक स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हुआ। सम्राट (Emperor) ही सर्व-सर्वा था। लोक सभायें तो थीं परन्तु उनको कोई विशेष अधिकार न थे। राष्ट्रीय सभा (Senate) के हाथ में बहुत अधिकार थे परन्तु उसकी रचना का अधिकार सम्राट को था। अतः सम्राट के विरुद्ध सीनेट भी शक्ति हीन थी। सम्राट की आज्ञा ही विधान थी।

दूसरी शताब्दी के अन्त में साम्राज्य पूर्ण रूप से शक्तिशाली हो गया था। सम्राट की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। सैनिक शक्ति भी बहुत बढ़ गई थी। साम्राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता का अधिकार प्राप्त था। इस समय रोम में ईश्वरांश सिद्धांत का उद्भव हुआ सम्राट ईश्वरीय प्रतिनिधि समझा जाने लगा। यहाँ तक कि वह देवता के समान पूजा जाने लगा। जब ईसाई धर्म राज्य-धर्म घोषित कर दिया गया तब लोगों का यह विश्वास हो गया कि सम्राट पृथ्वी पर ईश्वर का दूत है। इस प्रकार प्राचीन काल का जनतन्त्र नगर-राज्य सार्वभौम-साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। यूनानियों का स्वाधीनता, जनतन्त्र तथा स्थानीय स्वतन्त्रता का आदर्श रोम वालों के ऐक्य, व्यवस्था, सार्वभौम-विधान तथा विश्वबन्धुता के आदर्श में परिणत हो गया। रोम वालों ने संसार के सामने एक बड़ा सुन्दर राजनैतिक-संगठन रक्खा। उनकी शासन-प्रणाली बड़ी उच्च कोटि की थी। उन्होंने अपने साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से सुसंगठित किया था। उस समय में रोम

वालों की शासन प्रणाली सभ्य संसार में सबसे अच्छी समझी जाती थी। रोम वालों ने लगभग ५०० वर्ष पाश्चात्य प्रदेशों में तथा १५०० वर्ष प्राच्य देशों में राज्य किया। नियम तथा राजनीति में रोम वाले तत्कालीन सम्पूर्ण जातियों से आगे बढ़ गये। राजनीति को कार्य रूप मे प्रयोग करने में वे ही सबसे प्रथम समर्थ हुये। यही कारण है कि रोम के लोगों का संसार पर यूनानियों से अधिक प्रभाव पड़ा। आरम्भ में रोम वालों ने राष्ट्रीय विचारों में यूनानियों का अनुकरण किया। सिसरो ने राजशास्त्र लिखते समय यूनानियों को अपना आदर्श बनाया था। रोम के न्यायाधीश तथा विधान-निर्माता यूनानी दार्शनिकों के अनुगामी थे। सिसरो की सम्मत्ति में 'राज्य' ही एक ऐसा सात्मिक चेतन शरीर है जिसके बनाने में मनुष्य समाज ईश्वर के कुछ समीप तक पहुँच गया है।

सिसरो ने राज्य की सात्मिकता का समर्थन किया है। रोम वाले राष्ट्रीय विचारों में यूनानियों से बहुत आगे बढ गये। रोम वालों ने नैतिक नियमों को राजनैतिक नियमों से पृथक् किया। देश-प्रथा, सदाचार तथा धर्म से राजनैतिक नियमों को पृथक करके रोम वालों ने वैयक्तिक तथा पारिवारिक स्वतन्त्रता के भाव मनुष्यों में उत्पन्न किये। परन्तु नागरिकों का अन्तिम ध्येय राज्य की उन्नति ही स्थिर किया। राज्य की इच्छा और शक्ति का विरोध कोई नागरिक नहीं कर सकता था। रोम वालों ने जन-समाज और राज्य का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से समझाया। उन्होंने बतलाया कि जन-समाज ही राज्य है और उसकी इच्छा ही राज्य-विधान का स्रोत है। इस प्रकार नागरिक राज्य के स्थान पर जातीय राज्य की स्थापना की। रोम वालों ने सबसे प्रथम नागरिक नियमों के साथ साथ अन्तराष्ट्रीय नियमों का निर्माण किया। रोम को राजधानी बनाकर एक सार्वभौम राज्य की स्थापना की। यूनानियों के राज्य नगर ही से सम्बद्ध थे। इनको सार्वभौम राज्य-निर्माण का ज्ञान न था। ऐसा प्रतीत होता है कि सार्वभौम राज्य-निर्माण की योजना रोम वालों को भारतवासियों से प्राप्त हुई होगी क्योंकि भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल में सार्वभौम राज्य की प्रथा प्रचलित थी सार्वभौम राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से भारतीय सम्राट अश्वमेध किया करते थे।

रोम वालों ने सभ्य संसार को विधान दिया और लगभग १५०० वर्ष तक संसार के बहुत बड़े भाग पर राज्य किया। उनकी राजनैतिक संस्थाओं का प्रभाव आज तक संसार में व्याप्त है। शासन-प्रबन्ध में रोम वालों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। परन्तु फिर भी रोम वालों का राज्य

स्थायी रूप से स्थिर न रह सका। इसके पतन के अनेक कारण थे। पहला कारण तो यह था कि ऐक्य स्थापित करने के ध्यान में वे लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को भूल गये। ऐक्य के लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का वलिदान किया गया। दूसरा कारण यह था कि उनके शासन प्रवन्ध का विशेष लक्षण राज्य-शासन की सुव्यवस्था था। इस सुव्यवस्था में नैतिक सिद्धान्तों को ठुकराया गया। परिणाम यह हुआ कि उच्चश्रेणी के लोगों में दुराचार वढ गया, दुराचार और दुश्चरित्रता के कारण शासन प्रवन्ध कलुषित हो गया और रोम साम्राज्य का पतन हो गया। तीसरा कारण यह था कि उनके शासन काल के अन्त में यूरोप में भयंकर प्लेग फैला जिसमें सहस्रों मनुष्यों की मृत्यु हो गई। शासक और शासित दोनों मृत्यु को प्राप्त हुए चौथा कारण यह था कि साम्राज्य की आर्थिक दशा सुसंगठित तथा दृढ़ न रही। आर्थिक दशा के विगड़ने से शासन प्रवन्ध दूषित हो गया और साम्राज्य का अन्त हुआ। पांचवा कारण यह था कि सम्राटों के उत्तराधिकार के विषय में कोई विशेष विधान न था। परिणाम यह हुआ कि शक्ति-सिद्धान्त के अनुसार ही अन्त के शासकों ने राज्य किया। जब शासक की शक्ति में कमी हुई प्रजा ने विद्रोह किया और एक एक करके अधीन राज्य स्वतन्त्र हो गये। छठा कारण यह था कि ईसाई धर्म में विकिरण हुआ। धार्मिक विभाजन होने के कारण फूट पड़ गई और जब उत्तर की ओर से वर्वर टघूटन जाति के आक्रमण हुए तो ये लोग उन्हें न रोक सके और अन्त में पराजित हुए। यूनान और रोम के दोषों और गुणों की तुलना करते हुए गैटिल ने कहा है कि "यूनानियों ने विना ऐक्य के लोकतन्त्र की उन्नति की, रोम वालों ने विना लोकतन्त्र के ऐक्य स्थापित किया।"

टघूटन लोगों के राजनैतिक विचार—टघूटन लोगों ने रोम के भिन्न भिन्न प्रान्तों को एक एक करके विजय किया। कहीं कहीं रोम के सम्राटों ने विपत्ति के समय टघूटन राजाओं से सहायता ली। मध्यकाल में यूरोप में टघूटन लोगों का वोलवाला हो गया, टघूटन लोगों का स्वभाव रोम वालों से भिन्न था। उन्होंने रोम साम्राज्य की शक्ति को नष्ट करके यूरोप में वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रतिनिधि शासन की नींव डाली। टाइटिस ने लिखा है कि जर्मन राजा जन-सभा तथा जन-समिति के परामर्श से सव कार्य करते थे। टघूटन लोग वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रेमी थे। अतः वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये वे सदैव युद्ध करने के लिये उद्यत रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्यकाल में व्यक्ति, परिवार, व सभासमितियों को

पूर्वापेक्षा अधिक स्वतन्त्रता मिल गई। टयूटन लोग जातीय कार्यों में भी राज्य की शक्ति को निरंकुश न मानते थे। साम्राट का ईश्वरीय रूप उनको स्वीकार न था। सम्राट् की आज्ञा पर चलने से पूर्व वे अपनी इच्छा प्रकट कर देना आवश्यक समझते थे। सावयव सिद्धान्त को वे नहीं मानते थे। उनका यह विचार था कि बिना जनता की सम्मति लिये राजा कोई विधान नहीं बना सकता। राज्य की सत्ता का स्रोत वे व्यक्तियों को ही समझते थे। इसीलिये राज्य की शक्ति को उन्होंने भिन्न भिन्न नागरिक तथानागरिक संघों में विभाजित कर दिया था। प्रत्येक नागरिक तथा नागरिक संघ एक दूसरे की शक्ति को निरंकुश होने से रोकता था।

४—सामन्तिक राज्य (Feudal State)—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के भावों की उन्नति होने से व्यक्तियों के राजनैतिक अधिकार भी बढ़ गये। प्रांतों पर व्यक्तियों का वंशागत स्वत्व स्थापित हो गया। राज्य कार्यों का करना भार समझा जाने लगा। सामन्ती राजुलों (Feudal Lords) के समुत्थान से यूरोप में रोमन काल के समान राजनैतिक एकता न रही। भिन्न भिन्न यूरोपीय राज्यों का रोम के साथ एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो गया। पोप की स्थिति के कारण यूरोप की धार्मिक एकता नष्ट न हुई। रोम यूरोप की राजनैतिक राजधानी न रहने पर भी चिरकाल तक धार्मिक राजधानी बना रहा।

जब रोमन साम्राज्य का अन्त हुआ तो भिन्न भिन्न प्रान्तों के शासकों ने अपने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। यही राज्य सामन्तिक राज्यों में परिवर्तित हो गये। प्रान्तीय शासक सामन्तो राजुल बन बैठे। अपनी शक्ति को स्थिर बनाने के लिये उन्होंने अपने राज्य के छोटे छोटे भाग करके उन्हें अपने विश्वासपात्र सैनिक और सरदारों को सौंप दिया। उन्हें भूमि पर पूर्ण अधिकार दे दिया, केवल यही शर्त थी कि विपत्ति के समय वे अपने शासक (सामन्ती राजुल) को धन-जन से सहायता करेंगे। इन सरदारों ने अपनो अपनी भूमि को छोट छोटे भागों में विभाजित करके अपने से छोटे सरदारों और ज़मींदारों को दे दिया। इन ज़मीदारों ने किसानों को दिया और किसानों ने दासों से भूमि जोतने अथवा बोने का कार्य लिया। इस प्रकार सामन्ती राजुलों से लेकर दासों तक राज्य भिन्न भिन्न भागों में विभाजित हो गया। इस प्रकार शासक और शासितों की क्रमबद्ध श्रेणियाँ बन गईं जिनमें सबसे उच्चश्रेणी में सामन्ती राजुलों और सबसे छोटी श्रेणी में दासों की गणना होती थी। दासों की भलाई बुराई बड़े बड़े कृपकों के हाथ में थी। यदि ये कृपक

दासों के साथ भला व्यवहार करते थे तो दास इनके लिये आपत्ति के समय जीवन तक न्यौछावर कर सकते थे वरना ऐसा भी अवसर आ जाता था कि वे बुरा बर्ताव करने पर दासों द्वारा मार डाले जाते थे। अच्छाई इसी में थी कि अपने अधीन दासों के साथ सद्व्यवहार किया जाये और ऐसा ही होता था। इस प्रकार कृषकों का जीवन सुखी रहता था। ये कृषक इसी प्रकार अपने जमींदारों के अधीन थे। आपत्ति के समय उनकी धन जन से सहायता करते थे। जमींदार इसी प्रकार अपने से बड़े ताल्लुकदारों के अधीन थे जिस प्रकार ये जमींदारों से सेवा लेते थे वैसे ही अपने स्वामी सामन्ती राजुलों की आवश्यकता पड़ने पर सेवा तथा सहायता करते थे। मध्यकाल में यूरोप में यह सामन्त-प्रणाली बड़ी प्रबल तथा शक्तिशाली थी। जिस समय यूरोप में कोई सर्वमान्य सत्ता (common power) यूरोपीय राज्यों को संगठित तथा सुरक्षित रखने वाली न थी उस समय इस सामन्ती प्रणाली ने यूरोप में शान्ति स्थापित रक्खी और जनता की सब प्रकार से रक्षा की। सामन्ती शासन-प्रणाली का आधार व्यक्तिगत भक्ति था। व्यक्ति अथवा जाति अपने स्वामी के आधीन रहते थे और इस प्रकार समाज पूर्णरूप से राजनैतिक बन्धन में बंधा हुआ था। यह एक प्रकार का सैनिक संगठन था जिसमें सैनिक अनुशासन के अनुसार सब कार्य होते थे। इस प्रकार की शासन-प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्तन और उन्नति करना सम्भव न हो सकता था। क्योंकि तत्कालीन विद्यमान व्यवस्था से सब का हित बँधा हुआ था यदि किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विचार फैलाया जाता तो इसका यही प्रयोजन हो सकता था कि सामन्त शासन-प्रणाली की जड़ पर कुठाराघात किया जाय। सामन्त-प्रणाली कहीं कहीं (उदाहरणार्थ इंगलैण्ड) राजतन्त्र में परिवर्त्तित हो गई। पहले स्वेच्छाचारी राजतन्त्र और फिर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई।

ईसाई धर्म तथा सामन्तिक राज्य—तीसरी शताब्दी के अन्त तथा चौथी शताब्दी के आरम्भ में यूरोप में ईसाई धर्मका प्रचार हुआ। जिस प्रकार ईसाई धर्म-प्रचार के आरम्भ काल में भारतवर्ष में नीची श्रेणी के लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया था वैसा ही उस समय यूरोप में हुआ। आरम्भ में नीची श्रेणीं के लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया। परन्तु सन् ३२७ में रोमन सम्राट् कॉन्स्टेन्टाइन (Constantine) ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। उसने ईसाई धर्म को राज-धर्म घोषित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म का प्रचार बड़ी शीघ्रता से हुआ। सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य में

ईसाई धर्म फैल गया। मध्यकाल में ईसाई धर्म ने यूरोप में बड़ी उन्नति की। ईसाई पोप और पादरियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। यूरोप की भूमि का बहुत कुछ भाग धार्मिक कार्यों के लिये उनको सौंप दिया गया। पोप ईसाई संगठन का सबसे बड़ा अधिकारी, नेता तथा शासक था। सम्पूर्ण यूरोप में ईसाइयों के धार्मिक संसार का पोप सम्राट् बन गया। लौकिक और राजनैतिक शासक तो केवल अपने अपने देश तथा राज्यों के ही शासक थे परन्तु पोप तो संसार भर के सब ईसाइयों तथा धर्मार्थ प्रदान की हूई यूरोप की सम्पूर्ण भूमि का स्वामी था। इस प्रकार पोप बहुत शक्तिशाली हो गया था। रोमन साम्राज्य के पतन तथा सामंत प्रथा स्थापित होने के पश्चात् यूरोप में पोप से बढ़ कर कोई सर्वोच्च सत्ता राजनैतिक तथा धार्मिक विषयों में नहीं थी। सामन्तिक राज्यों की स्थिति ने पोप की शक्ति बढ़ाने में बड़ी सहायता की। पोप ने सामन्तिक शासन-प्रणाली से लाभ उठाया। एक सामन्त को दूसरे सामन्त के विरुद्ध भड़का कर उनमें कभी ऐक्य स्थापित न होने दिया और इस प्रकार उनमें विच्छेद करके पोप अपने स्वार्थों की पूर्ति करता रहा। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में कुछ यूरोपीय राजाओं ने पोप का विरोध करने का प्रयत्न किया। पोप ने उन्हें विधर्मी घोषित करके प्रजा को उनके विरुद्ध भड़काया और इस कार्य में सफल हुआ। चौदहवी शताब्दी के आरम्भ में फ्रान्स के राजा ने पोप का घोर विरोध किया। यहाँ तक कि पोप को रोम से हटाकर फ्रान्स ले गया। उसे आविग्नान (Avignon) में बन्दी की भांति रक्खा और पोप के स्थान पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रौटेस्टैन्ट (protestant) धर्म का प्रचार हुआ। इसी बीच में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई और पोप का प्रभुत्व सदा के लिये उठ गया। धार्मिक भावों के स्थान पर मनुष्यों में राष्ट्रीय भाव जाग्रत हुए। राष्ट्रोन्नति को धर्म से अधिक प्रिय समझा जाने लगा। समय के साथ विचारों में परिवर्तन हुआ।

५—आधुनिक काल के राष्ट्रीय राज्य—यूरोप में प्रौटेस्टैन्ट धर्म फैला। इसके साथ साथ यूरोप में जागृति आरम्भ हुई। प्राचीन शिल्पकला चित्रकला, विद्या तथा विज्ञान का पुनरुद्धार हुआ। जब विद्या का प्रचार हुआ तो जनता को बहुत सी बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ। मध्यकाल में जो अराजकता यूरोप में फैली उसे रोकने के लिये देश के शासकों को बल प्रयोग करना पड़ा। साधारण जनता तथा व्यापार करने वाले अपने जीवन और धन की रक्षा के लिये शान्ति चाहते थे। इन लोगों ने शान्ति

स्थापित करने में अपने अपने देश के राजाओं को पूर्णरूप से सहायता दी। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। राजाओं की शक्ति प्रबल हो गई। कुछ राजाओं ने रोम के सम्राटों की नकल करके बड़े साम्राज्य स्थापित करने चाहे। इसके विरुद्ध भिन्न भिन्न देशों के राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता स्थायी रूप से स्थिर रखनी चाही। लोगों में एक जाति, एक देश, एक भाषा तथा एक सभ्यता के आधार पर राष्ट्रीय एकता के भाव उत्पन्न किये गये। भौगोलिक, जातीय तथा सांस्कृतिक एकता के आधार पर राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय में मैकिआवेली (Machiavelli), बोदां (Bodin), ग्रोशस (Grotius) आदि राजनीतिज्ञ उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने अपने देशवासियों के हृदय में राष्ट्रीयता के भाव कूट कूटकर भरे। इनके लेखों और ग्रन्थों ने मनुष्यों को राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया और अपने देश और राष्ट्र के लिये न्योछावर होना सिखाया। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। फ्रान्स, इटली, जर्मनी आदि देशों के शासकों ने अपने राज्यों को संगठित किया और प्रजा की सब प्रकार की उन्नति की। लोगों की आर्थिक तथा सामाजिक दशा में सुधार किया। रूस में पीटर महान्, आस्ट्रिया में विलियम आदि राजाओं ने बड़े बड़े सुधार किये। इसमें से अधिकतर स्वेच्छाचारी राजा थे जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक शासन किया। कुछ स्वेछाचारी शासकों ने प्रजा को सताया और लोगों पर अत्याचार किये। परिणाम यह हुआ कि लोगों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के भाव जागृत हुए। यदि स्वेच्छाचारी राजाओं ने लोगों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आघात न किया होता तो कभी जनता उनका विरोध न करती और राजनैतिक क्रान्तियाँ न होतीं। ज्यों-ज्यों शासकों ने जनता के वैयक्तिक अधिकारों में हस्तक्षेप किया त्यों-त्यों जनता उनके विरुद्ध होती गई। अन्त में परिणाम यह हुआ कि यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में क्रान्तियाँ हुई। कुछ शासकों को गद्दी से उतार कर और कुछ का वध कर प्रजातन्त्र राज्य स्थापित किये गये। कहीं कहीं प्रजातन्त्र राज्य पुनः साम्राज्यों में परिवर्तित हो गये किन्तु इस बार राष्ट्रीयता के आधार पर साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।

६—विश्वव्यापी राज्य—मानव प्रकृति का अन्वेषण तथा पर्य्यवेक्षण करने से विदित होता है कि उसकी स्वाभाविक प्रकृति एकता की ओर रहती है। सृष्टि की विभिन्नताओं और विविधताओं में भी स्वभाव से ही वह एकता को दर्शन करने के लिये प्रवृत्त होती है। संसार में अनेक विभिन्नताओं तथा

विविधताओं से घिरी रहने पर भी वह आदर्श "एकता" रखती है। संसार में अनेक मत-मतान्तर हैं परन्तु उन सबका लक्ष्य एक ही है। विभिन्नताओं से निकल कर संसार एकता की ओर दौड़ रहा है। विज्ञान भी इसी बात का अन्वेषण कर रहा है कि प्रकृति के भिन्न भिन्न नियमों में एकता का तत्व निकल आवे। सब दार्शनिक, तथा उच्चकोटि के कवि "एकता" ही की ओर दौड़ रहे हैं। यह प्रवृत्ति सृष्टि के आरम्भ काल से चली आ रही है। वैज्ञानिकों ने बड़े परिश्रम के पश्चात् अलेक्ट्रन और ऐटम रूपी तत्वों का अन्वेषण किया है। संसार के सब धर्म एक सर्वसामान्य सर्वव्यापी तत्व की खोज कर रहे हैं। मनुष्य को तब तक शान्ति न मिलेगी जब तक वह एकता के दर्शन नहीं कर लेगा। राजनैतिक संसार में भी सहस्रों वर्षों से इस एकता को स्थापित करने का पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है। प्राचीनकाल के राजशास्त्र-वेत्ताओं ने एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था और आज भी अनेकों इस एकता को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह बात अत्यन्त आवश्यक समझी जा रही है कि मानव समाज को भयंकर युद्धों और नाश से बचाने के लिये किसी प्रकार की राजनैतिक एकता स्थापित की जाय। आधुनिक काल में जो मानसिक क्रान्ति हो रही है वह इसी हेतु हो रही है। संसार के बड़े बड़े दार्शनिक तथा राजशास्त्रवेत्ता एकता स्थापित करने के प्रयत्न में एक बार असफल हो चुके हैं। लीग आफ़ नेशन्स की स्थापना इस लिये की गई थी परन्तु लीग एकता स्थापित न कर सकी। संयुक्त राष्ट्र (United Nations) की स्थापना भी इसी हेतु हुई है और अब देखना यह है कि एकता स्थापित करने में इसे कहाँ तक सफलता प्राप्त होती है।

७—सार्वभौमिक राज्य—यूनान के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता अरस्तू (Aristotle) का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से ही राजनैतिक प्राणी है। मनुष्य की किसी विशेषता के कारण राज्य की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसकी प्रकृति ही ऐसी है कि बिना राज्य के वह रह नहीं सकता। मानव समाज को राज्य की अत्यन्त आवश्यकता है। अनेक राजनैतिक दार्शनिकों के सम्मुख प्रश्न है कि क्या भूमण्डल के विभिन्न देश एक राजसंघटन में अपने आपको नहीं बाँध सकते? मनुष्य-जाति उसके समष्टि रूप में एकतामय है। वह किसी न किसी प्रकार की सर्वसामान्य भावना से प्रेरित होती है। ऐसी दशा में क्या संसार की सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिये एक सर्वमान्य राज्य का आदर्श असंगत है? यह सत्य है कि संसार में अनेक ऐसे राज्य हैं जो राष्ट्रीय हैं। वे

अपने राष्ट्र में एकता रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु राजनीति के उदार दार्शनिकों को इसमें सन्तोष नहीं होता। उनका विचार है कि राज्य की सर्वोत्तम और सर्वोच्च कल्पना की सिद्धि इन राज्यों से नहीं होती। उनके विचार में सार्वभौमिक राज्य ऐसा होना चाहिये जिसमें सम्पूर्ण मानव जाति के विचार, भावनायें व इच्छायें मूर्त हो उठें। उनके कथनानुसार सार्वभौमिक राज्य ही मानवी प्रगति का आदर्श है। इतिहास को देखने से ज्ञान होता है कि प्राचीन तथा मध्यकाल में भी सार्वभौमिक राज्य स्थापित करने के असफल प्रयत्न किये गये थे। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वर्तमान तथा भविष्य में भी इस प्रकार के प्रयत्न असफल होंगे। संसार विकासमय है मनुष्य के दिव्य गुणों का ज्यों-ज्यों विकास होता जायगा त्यों त्यों इस राजनैतिक आदर्श में सफलता मिलती जायगी। इस उद्देश्य की असफलता का कारण यह रहा है कि वाहरी कृत्रिम साधनों द्वारा एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इसकी सफलता के लिये मनुष्य जाति के अन्तःकरण की एकता की आवश्यकता है। जब तक मनुष्य को आत्मैक्य का दिव्य अनुभव नहीं होगा और वह सृष्टि में ऐक्य का अनुभव न करेगा तब तक राजनैतिक विश्वव्यापी एकता का—सार्व-भौमिक राज्य का—सफलता के साथ स्थापित होना असम्भव है। यदि कोई प्रबल राष्ट्र अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये कोई सार्वभौमिक सत्ता या राष्ट्रीय संघ स्थापित करके संसार में शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करेगा तो कदापि सफल न होगा। वाहरी शक्ति के बल पर स्थापित किया हुआ सार्वभौमिक राज्य कभी स्थायी नहीं रह सकता।

सार्वभौमिक-राष्ट्र-निर्माण का सबसे प्रथम प्रयत्न यूरोप में सिकंदर ने किया था। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने सूसा पर विवाह के द्वारा यूरोप तथा एशिया को संगठित करने का प्रयत्न किया था। प्राचीन काल की राष्ट्रीय शासन-पद्धति प्रजा-सत्तात्मक थी, परन्तु छोटे छोटे नागरिक राष्ट्रों को 'राष्ट्र संगठन' का ध्यान न था। राष्ट्र-संगठन के अतिरिक्त अन्य कोई विधि सार्वभौमिक राष्ट्रनिर्माण में सहायक नहीं हो सकती। राष्ट्र-संगठन विधि की अज्ञानता से ही यूनानियों को सिकन्दर के एक सत्तात्मक राज्य में संगठित होना पड़ा था। भारतवर्ष में भी यूनान के ही सदृश आर्यों को समुद्र-गुप्त तथा चन्द्रगुप्त के एकमात्र आधिपत्य में संगठित होना पड़ा। एक सत्तात्मक राज्य दूरस्थ राष्ट्रों को संगठित कर सकता है, परन्तु वह संगठन चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकता। रोमन लोगों ने प्राचीन काल में अन्य

जातियों की अपेक्षा राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने में किसी अंश तक सफलता प्राप्त की। परन्तु वे साम्राज्य की सब जातियों को 'रोमन' बनाना चाहते थे। यह बात उन्हें स्वीकार न थी। अतः पूर्ण रूप से चिरकाल तक सार्वभौमिक राज्य स्थापित करने में रोमन लोग असफल रहे। अमेरिका ने राष्ट्र संगठन की नवीन विधि अर्थात् संघ शासन अपना कर संसार के सम्मुख एक नवीन राजनीतिक आदर्श रक्खा है और उससे अन्य देशों का उपकार भी हुआ है। इसी विधि के अनुसार फ्रांस, जर्मनी तथा स्विट्ज़रलैंड ने संगठन किया है और भारतवर्ष ने भी अपना नवीन विधान बनाने में बहुत कुछ सहायता अमेरिका के विधान से ली है।

बहुत से राजशास्त्रवेत्ताओं का मत है सार्वभौमिक राष्ट्रका विचार अस्वाभाविक है। वे निम्न कारणों से इसे अस्वाभाविक समझते हैं—

(१) सार्वभौमिक-राष्ट्र-संगठन की शासन पद्धति को वे राजात्मक समझते हैं। ऐसी शासन पद्धति प्रभुत्व शक्ति के विपरीत है।

(२) व्यक्तियों तथा राष्ट्रों में भेद होता है। मनुष्य राजनैतिक प्राणी हैं क्योंकि दुर्बल तथा शक्तिहीन है। एक देशीय राष्ट्र सशक्त होने के कारण राजनैतिक जीव नहीं है। ऐसी स्थिति में मनुष्यों को संगठन की आवश्यकता होते हुये भी 'एकदेशीय राष्ट्र को सार्वभौमिक राष्ट्र का सदस्य होने की आवश्यकता नहीं।

(३) मनुष्य शक्तिहीन होने के कारण राज्य की प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार करने के लिये वाध्य है। राष्ट्र सशक्त होने के कारण सार्वभौमिक राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार करने को वाध्य नहीं है।

(४) यदि सार्वभौमिक राष्ट्र किसी राष्ट्र को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिये वाध्य करता है तो यह अन्याय है और उस राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात है।

(५) मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति के लिये राष्ट्र पर्याप्त है। सार्वभौमिक राष्ट्र की कोई आवश्यकता नहीं है।

सार्वभौमिक राष्ट्र के समर्थक निम्नलिखित युक्तियों द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं—

(१) सार्वभौमिक राष्ट्र की शासन-पद्धति राजात्मक होने के स्थान पर प्रधान सत्तात्मक हो सकती है। इससे राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्ति संरक्षण हो सकती है वर्तमान काल के अन्तर्राष्ट्रीय नियम सार्वभौमिक राष्ट्र संगठन के नियमों के आधार कहे जा सकते हैं।

(२) व्यक्तियों के समान जातियाँ भी दोषपूर्ण और दुर्बल हैं। जिस प्रकार व्यक्तियों को राष्ट्र की आवश्यकता है, उसी प्रकार ऐसी जातियों को भी सार्वभौमिक राष्ट्र की आवश्यकता है।

(३) जिस प्रकार व्यक्तियों पर राष्ट्र प्रबल है उसी प्रकार सार्वभौमिक राष्ट्र, राष्ट्र पर प्रबल होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति राष्ट्र की प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार करने को बाध्य है उसी प्रकार एक राष्ट्र भी सार्वभौमिक राष्ट्र की प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार करने के लिये बाध्य है।

(४) सम्पूर्ण राष्ट्रों के सार्वभौमिक-राष्ट्र संगठन में संगठित हो जाने पर भी सदस्य राष्ट्रों की स्वतन्त्रता पूर्ववत् बनी रहेगी।

(५, संसार में रेडियो, वायुयान, वायरलैस इत्यादि के आविष्कारों न राष्ट्रों का सम्पर्क इतना घनिष्ठ कर दिया है कि अब राष्ट्रों का एक दूसरे से पृथक् रहना असम्भव है। अतः सार्वभौमिक राष्ट्र की स्थापना अनिवार्य है।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

विलोबी, डब्ल्यू० डब्ल्यू०—*नेचर आफ़ दी स्टेट।*

गैटिल, आर० जी०—*रीडिंग्ज़ इन पोलीटिकल साइन्स।*

गैटिल, आर० जी०—*इंट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइन्स।*

जैन्क्स, ई०—*शिप आफ़ दी स्टेट।*

लोवी, आर० ऐच०—*ओरीजिन आफ़ दी स्टेट।*

रूसो, जे० जे०—*सोशल कौंट्रैक्ट।*

ब्लंश्ली—*थ्योरी आफ़ दी स्टेट।*

अध्याय ५

राज्य का ध्येय और आवश्यकता

प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में राजनीति को 'राजधर्म' के नाम से सम्बोधित किया गया है। अति प्राचीन काल में हमारे जीवन का प्रत्येक कार्य धर्म के अनुसार किया जाता था और उसका करना धर्म समझा जाता था। मनुष्यों को वर्णों के अनुसार अपने अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। मनुष्य के कार्यों का नाम 'मनुष्य धर्म', स्त्री के कार्यों का नाम 'स्त्रीधर्म', गृहस्थ पुरुषों के कार्यों का नाम 'गृहस्थ धर्म' कहलाता था। राजकार्य अथवा शासनकार्य 'राजधर्म' कहलाता था। वेदों और शास्त्रों में भी राजधर्म का वर्णन आया है। महाभारत में शान्तिपर्व के अन्तर्गत एक पर्व का नाम 'राजधर्मानु-पर्व' है। इस पर्व में राजाओं के कर्तव्यों तथा अन्य राजनैतिक विषयों का वर्णन है। उसमें बताया गया है कि राजा कैसा होना चाहिये ? उसे प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ? अच्छे राजा का क्या धर्म है ? राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को राजधर्म कहा गया है। यदि राजा अच्छा होता है तो प्रजा सुखी रहती है और राज्य में सब प्रकार की उन्नति होती है। यदि राजा बुरा होता है तो प्रजा को कष्ट मिलता है और राज्म में सब प्रकार की बुराइयाँ फैलती है। यह कहावत प्रसिद्ध है "यथा राजा तथा प्रजा" अर्थात् जैसा राजा होगा, जैसी उसकी वृत्ति और भावना होगी, प्रजा भी वैसी ही हो जायगी। अतः राजा आदर्श पुरुष होना चाहिये जिससे राज्य प्रबन्ध भी आदर्श हो। उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं होना चाहिये तभी प्रजा का जीवन सुखी हो सकता है अन्यथा नहीं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में राज्य के उद्देश्य बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत रूप से वर्णन किये गय हैं। उनमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि राज्य केवल प्रजा की इहलौकिक उन्नति के लिये ही नहीं है, वह तो पारलौकिक उन्नति के लिये भी उत्तरदायी है। इन शास्त्रों में राज्य के उद्देश्य और लक्ष्य बताये गये हैं। प्राचीन यूनानी लोगों का भी राज्य के सम्बन्ध में यही विचार था। वे राज्य को मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य समझते थे। वे राज्य को अन्तिम

आदर्श पर पहुँचने का केवल साधन ही नहीं वरन् स्वतः राज्य ही को अन्तिम आदर्श मानते थे। मनुष्यों को वह राज्य का अंशमात्र ही समझते थे। व्यक्तियों के स्वतन्त्र अस्तित्व को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। वे सावयव सिद्धान्त के अनुसार राज्य को एक शरीर की भांति समझते थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार शरीर के अवयवों का कार्य शरीर की सेवा करना है उसी प्रकार व्यक्तियों का कार्य राज्य रूपी शरीर की सेवा करना है। व्यक्तियों को अपना अस्तित्व राज्य के अस्तित्व में विलीन कर देना चाहिये। अति प्राचीन काल से अब तक भिन्न-भिन्न कालों में राजशास्त्रवेत्ताओं ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार राज्य के भिन्न-भिन्न ध्येय बतलाये हैं। इस विषय पर अति प्राचीन काल में हिन्दुओं के विचारों का, प्राचीन काल के यूनानी और रोमन लोगों के विचारों का, मध्यकालीन ईसाई धर्मानुयायी राजशास्त्रवेत्ताओं के विचारों का तथा आधुनिक काल के राजनीतिज्ञों के विचारों का हम पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार राज्य का ध्येय—प्राचीन काल में हिन्दू समाज में धर्म की बड़ी महिमा थी। उसके प्रत्येक कार्य का धर्म से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध था। जब कभी धर्म पर आघात होता था और समाज उसकी रक्षा नहीं कर सकता था तब जो महापुरुष अपने बाहुबल से धर्म पर आघात करनेवालों का दमन करके समाज को पूर्ववत् व्यवस्थित करता था वह मनुष्य अत्यन्त श्रेष्ठ समझा जाता था। ऐसे मनुष्य को ईश्वर की विभूति समझा जाता था। यहाँ तक कि लोग उसे साक्षात् परमेश्वर ही समझने लगते थे और उसे अवतार मानने लगते थे। अतः श्रेष्ठ राजा के राज्य में राज्य की व्यवस्था अच्छी होती थी और सब प्रकार से प्रजा की भलाई तथा उन्नति की ओर ध्यान दिया जाता था। महाभारत में शान्ति पर्व के अन्तर्गत राज-धर्मानुशासन पर्व में राज्य के ध्येय तथा उद्देश्यों का वर्णन किया गया है। महाभारत काल से लेकर चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक काल तक राज्य के ध्येय एक ही थे। वे ये हैं—

(क) सार्वजनिक सुख—हिन्दू राजशास्त्र दार्शनिकों के अनुसार प्रजा को सब प्रकार से सुखी रखना राज्य का सर्वप्रथम उद्देश्य था। इसके अतिरिक्त प्रजा के सब व्यक्तियों को धर्मानुसार आचरण करने का भी राज्य आदेश करता था। राज्य की ओर से प्रजा की भलाई के लिये बहुत से कार्य किये जाते थे। धनहीन और दरिद्री लोगों को राज्य द्वारा धन की सहायता दी जाती थी। मनुष्य के आचरणों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

राजा स्वयं प्रजा के लिये एक आदर्श होता था। राजा इस बात को समझता था कि 'मैं प्रजा का आदर्श हूँ, जैसा मैं करूँगा प्रजा भी वैसा ही करेगी!' इस बात को ध्यान में रखते हुये राजा प्रत्येक कार्य करता था। राजा का निजी अथवा सामाजिक जीवन प्रजा से छिपा नहीं रहता था। राजा हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, रामचन्द्र, कृष्ण, युधिष्ठिर, अशोक आदि सब ने प्रजा के हित के लिये जो कार्य किये वे किसी से छिपे नहीं हैं।

(ख) **राज्य में शान्ति**—राजा का कर्तव्य राज्य में शान्ति स्थापित रखना था। प्राचीन हिन्दू राजाओं का साधारणतया यह ध्येय रहता था कि राज्य की वाह्य आक्रमणों से रक्षा की जाय। वाह्य आक्रमणों से भी प्रजा का संहार होता था, खेती नष्ट होती थी तथा अराजकता फैलती थी। राज्य का उद्देश्य वाह्य आक्रमणों से रक्षा करना तथा आन्तरिक अराजकता तथा अनीति को रोकना था। मनुस्मृति के अनुसार राज्य में दण्ड की व्यवस्था थी। भिन्न भिन्न अपराधों के लिये भिन्न भिन्न दण्ड दिये जाते थे। ब्राह्मणों के साथ दया का वर्ताव दण्ड देने में भी किया जाता था। कुछ आनों के अर्थ-दण्ड (जुर्माने) से लेकर प्राणदण्ड तक दिया जाता था। महाभारत में दण्ड का अलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार राजा की सहायता के लिये ईश्वर ने राजा के जन्म से पहिले ही दण्ड को उत्पन्न किया। इसी दण्ड के भय से चराचर प्राणी-मात्र अपने धर्म से नहीं डिगते। देश, काल, शक्ति और विद्या का विचार करके राजा दण्ड को अन्यायियों पर चलाता था। दण्ड ही वस्तुतः राजा है, वही पुरुष है और वही मनुष्यों के चारों आश्रमों का ठीक रखनेवाला प्रति-भू समझा जाता था। दण्ड ही समस्त प्रजा को आज्ञा देता तथा रक्षा करता था। जब सब सोते हैं, तब दण्ड जागता है। दण्ड को ही बुद्धिमान् लोग धर्म कहते थे। जब समझ बूझ कर अच्छी तरह दण्ड ग्रहण किया जाता है, तब प्रजा में प्रसन्नता होती है। परन्तु जब विना विचारे ही दण्ड ग्रहण किया जाता है तब राज्य का नाश होता है जहां श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, पापनाशक दण्ड विचरता है, वहां प्रजा व्याकुल नहीं होती। दण्ड ही महत्तेज है, जिसका प्रयोग करना नीतिशास्त्रानभिज्ञ मनुष्य के लिये कठिन है, क्योंकि धर्म से विचलित राजा को भी वह बान्धवों सहित मार डालता है।*

कौटिल्य का भी कहना है कि पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के

* देखो मनुस्मृति अध्याय ९; श्लोक १४, १५, १६, १७, १८, १९, २५, २६।

अनुसार जो राजा ठीक दण्ड देता है, वही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है। * दंड के द्वारा राजा चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों को अपने अपने धर्म कर्म में ठीक रखकर उचित मार्ग से चलाता है। कौटिल्य ने दण्ड के तीन भेद करके उनके फल भी बताये हैं। एक सुविज्ञात प्रणीत अर्थात् नीतिशास्त्र के ज्ञाता का दिया हुआ दण्ड है जिसका फल प्रजा को धर्म,अर्थ और काम में लगाता है। दूसरा दुष्प्रणीत अर्थात् काम, क्रोध और अज्ञान से दिया हुआ दण्ड है जिससे वानप्रस्थ और संन्यासी भी कुपित होते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या है ? तीसरा अप्रणीत अर्थात् जहां दण्ड देना चाहिये वहां न देना है। इसका फल मत्स्यन्याय है। दण्डधर के अभाव में सबल निर्बल को खाते हैं। † परन्तु जब दण्ड द्वारा सबल से निर्बल की रक्षा की जाती है, तो यह भी सबल हो जाता है। दण्ड के तीन रूप हैं—एक दण्ड, दूसरा बल और तीसरा व्यवहार। बल का प्रयोग कामन्दक ने दण्ड अर्थ में किया। ‡ महाभारत के अनुसार दण्ड का नाम ही धर्म और व्यवहार है। अतः दण्ड के तीन अर्थ हुए (१) बल वा सेना, (२) व्यवहार वा धर्म व्यवस्था और (३) दुष्टों का नियन्त्रण वा दमन। बल के बिना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता इसीलिये महाभारत में इन्द्र मान्धाता से कहते हैं कि दुर्बल की रक्षा के लिये ब्रह्मा ने बल की सृष्टि की है। क्योंकि बलहीन की रक्षा करना बड़ा पुण्य है। + शुक्रनीतिसार की यह बात अक्षरशः सत्य है कि बलियों के वश में सभी रहते हैं और दुर्बल के सभी शत्रु होते हैं। छोटे लोगों

---

* दण्डोहि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथा दोषं समं धृतः॥ अर्थ० अधि० ३, अ० १॥

† सुविज्ञात प्रणीतो हि दण्डः प्रजां धर्मार्थकामैर्योजयति॥ १४॥ दुष्प्रणीतः काम क्रोधाभ्याम ज्ञाना वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्॥ १५॥ अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति॥ १६॥ बलीयानबलंहि ग्रसते दण्डधराभावे॥ १७॥ तेन गुप्तः प्रभवतीत॥ १८॥ अर्थ० अधि० १ अध्याय ४।

‡ स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारादि सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥ १॥ नीतिसार सर्ग ४ प्र० ७॥

\+ दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते।
अबलन्तु महद्भुते यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १२॥ शां० प० अ० ९१॥

की जब यह बात है, तब राजाओं का तो कहना ही क्या है। * शुक्राचार्य का वचन है कि धन और प्रिय वचनों से पहले का अपनाया हुआ आपत्तिकाल में जो राजा की रक्षा करता है, वह बल कहाता है। † ये विचार हिन्दू काल में राज्य तथा राज्य-दण्ड के विषय में थे।

(ग) प्रगति—(Progress)--हिन्दू राज्य का अन्तिम ध्येय सर्व प्रकार की उन्नति करना था। राज्य का यह ध्येय था कि मनुष्य-समाज की धार्मिक, आर्थिक. तथा आध्यात्मिक उन्नति हो। मनुष्य को सदाचारी बनाना और कलुषित प्रभावों से बचाना राज्य का कर्तव्य समझा जाता था। धर्म की उन्नति के लिये राजा की नियुक्ति होती हैं। धर्मोन्नति को सर्वसाधारण की उन्नति कह सकते हैं। गर्भिणी स्त्री जैसे अपने मन के अनुकूल कार्य न करके सदा गर्भ के हित का ध्यान रखती है वैसे ही राजा अपन मनमाने कार्य न करके, वे ही कार्य करता है जिसमें प्रजा की सब प्रकार की उन्नति तथा हित हो। ‡ ऐसा वर्णन अनेक स्थानों पर हमारे प्राचीन धर्म-शास्त्रों में राज्य के विषय में आया है।

(घ) सामाजिक उन्नति—हिन्दू शास्त्रों के अनुसार राज्य का ध्यय समाज की उन्नति करना और उसकी सब प्रकार की बुराइयों को दूर करना था। महाभारत के शान्ति पर्व में श्वेतकेतु ने बताया है कि राजा का सनातनधर्म प्रजा का रंजन, सत्य रक्षण और व्यवहारकी सत्यता (नीरक्षीर न्याय) है। धर्म-संकरता से प्रजा की रक्षा करना राजा का सनातन धर्म है। प्रजा में अच्छी भावनाओं को उत्पन्न करना राज्य का उद्देश्य तथा ध्येय था। हिन्दू काल में राज्य का सदैव यही ध्येय रहा कि समाज की उन्नति हो। मनुष्यों के सदाचार की उन्नति के लिये राज्य की ओर से शिक्षा का विशेप प्रबन्ध था। प्राचीन काल की शिक्षा और आधुनिक शिक्षा में बड़ा अन्तर है। प्राचीन-काल में धर्म के आधार पर शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों को नगर से दूर गुरुकुलों में रक्खा जाता था जहाँ धर्मशास्त्रों में निपुण वृद्ध-पुरुष ब्रह्म

---

* बलिनो वशगास्सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः।
भवन्त्यल्प जनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः ॥ ८६७ ॥ अ० ४

† धनेन प्रिय सम्भाषंर्यतश्चैव पुरार्जितम्।
आपद्भ्यः स्वामिनं रक्षे ततो बलमिति स्मृतम् ॥ शा० अ० ५६ ॥

‡ यथाहि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्य संशयम् ॥ ४५ ॥ शा० अ० ६७ ॥

चारियों को सब प्रकार की शिक्षा देते थे। समाज में स्त्रियों का बड़ा सत्कार होता था। इसका कारण यह था स्त्रियों को राज्य द्वारा सब प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। बालक और बालिकाओं की शिक्षा में कोई भेद न था। हाँ यह बात अवश्य थी कि उस समय बालिकाओं की शिक्षा नहीं होती थी। बालिकाओं के लिये पृथक् कन्या गुरुकुल थ। गार्गी लीलावती आदि बहुत-सी विदुषी और विद्वान् स्त्रियाँ हुई हैं। राज्य विशेष प्रकार से सामाजिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता देता था और समाज के उपकार के लिये राज्य द्वारा मार्ग, चिकित्सालय, धर्मशाला, पौशाला, पाठशाला आदि का प्रबन्ध होता था। उस समय समाज की उन्नति करना ही राज्य का परमधर्म समझा जाता था।

(ङ) न्याय—वैदिक काल में राजा राष्ट्र सभा में बैठकर व्यवहारों और विवादों का निर्णय किया करता था। संघ राज्यों में भी संघ-मुख्य व राष्ट्रपति यही कार्य किया करते थे। कालान्तर में धर्म सभा वा धर्माधिकरण * इन्हीं राष्ट्र सभाओं का कार्य प्रायः वैसे ही चलाने लगे, जैसे आजकल प्रिवी कौन्सिल की जुडीशल कमेटी अथवा संघ न्यायालय चलाता है। इन धर्मसभाओं में कितने और किस योग्यता के मनुष्य बैठने चाहिय इस विषय में धर्म शास्त्र वा स्मृति ग्रंथों में विस्तृत वर्णन किया गया है। ये धर्माधिकरण व्यवहार अर्थात् लेन देन, भूमि, सम्पत्ति आदि के विशेष रूप से और साधारण रूप से चोरी, गाली-गलोज और मारपीट के विषयों पर विचार करते थे। मौर्य साम्राज्य में ग्राम पंचायतें ग्राम के विवादों पर विचार करती थीं, जिनमें गोप वा ग्रामाधिकारी न्यायाधीश का आसन ग्रहण करता था। ग्राम-पंचायत चोर को ग्राम से बहिष्कृत कर देती थी। प्रत्येक नगर वा संग्रहण में न्यायालय होते थे, जिनमें आस पास के दस ग्रामों के विवादों पर विचार होता था। इन्हें परगना अदालत कह सकते हैं। इनके ऊपर ४०० ग्राम वाले नगरों वा द्रोणमुखों के न्यायालय थे, जो तहसील वा सब-डिवीज़न की अदालत कहे जा सकते हैं। इनके ऊपर स्थानीय व जिले का न्यायालय था। इनके ऊपर साम्राज्य के दो प्रदेशों के मध्य भाग के न्यायालय तथा इनके ऊपर पाटलिपुत्र के न्यायालय थे तथा सबसे ऊपर सम्राट् का न्यायालय था जिसमें न्यायकर्ताओं के साथ बैठकर सम्राट् व्यवहार पर विचार करता था। न्यायकर्ता को कौटिल्य ने धर्मस्थ कहा है और बताया

---

* जिस स्थान में धर्मशास्त्रानुसार व्यवहार के विवेचन का प्रस्ताव होता है, वह धर्माधिकरण (न्यायालय) कहाता है।

है— कि देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बालक, बूढ़े, रोगी तथा अपने दुःखों को कहने में असमर्थ अनाथों के कार्यों को धर्मस्थ स्वयं कर दें। देश काल का बहाना करके न तो उनके धन का अपहरण करें और न उन्हें तंग करें तथा जो पुरुष विद्या, वुद्धि, पौरुष, कुल आदि के कारण बढ़े हुय हों, उनकी सदा प्रतिष्ठा करें। इस प्रकार का धर्मस्थ छल कपट रहित होकर अपने सब कार्य करें और सबका बराबर निरीक्षण करते हुये जनता का विश्वासपात्र तथा लोकप्रिय बने। * राजधानी व पुर में जो धर्म सभा होती थी उसका सभापति राजा और उसकी अनुपस्थिति में प्राड्विवाक होता था। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक में जो लगभग ईस्वी ५ वीं शताब्दी में रचा गया था। तथा पीछे बने हुये धर्म शास्त्रों में कहा गया है कि न्यायाधीश की गद्दी पर प्राड्विवाक वैठे व धर्म सभा में न्याय करे। शकुन्तला नाटक से पता चलता है कि जब राजा दुष्यन्त धर्मसभा में नहीं गये तब ब्राह्मण मंत्री पिपुण को धर्मासन पर बैठने का आदेश दिया। वादी और विवादी से प्रश्न करने के कारण 'प्राट्' और सत्यासत्य का विवेचन करने के कारण 'विवाक' होता है, इसलिये उसका नाम 'प्राड्विवाक' लिखा गया है। अथवा सभ्यों के साथ वैठकर जो धर्माधर्म का विचार करता है वह प्राड्विवाक है। † प्राड्-विवाक के सिवा धर्मसभा में और भी सभासद होते थे। मनु का मत है कि प्राड्विवाक के अतिरिक्त तीन सभ्य सभा में होने चाहिये। ‡ कौटिल्य का कथन है कि जनपदसन्धि (सीमाप्रान्त), संग्रह, द्रोण मुख और स्थानीय में अमात्यवत् धर्मस्थ (जज) होने चाहिये। + शुक्रनीति के अनुसार धर्मस्थों

---

* देव ब्राह्मण तपस्वि स्त्री बालक वृद्ध व्याधितानामनाथानाभिसरतां धर्मस्थाः कार्याणि कुर्युः ॥ २८ ॥ न च देशकाल भोगच्छलेनातिहरेयुः ॥ २९ ॥ पूज्या विद्या वृद्ध पौरुषाभिजन कर्मातिशयतश्च पुरुषाः ॥ ३० ॥

† वादिनौ प्रच्छति प्राड् वा विवाको विविनक्त्यतः।
विचारयति सभ्यैर्वा धर्माधर्मौ विवक्ति वा ॥ ५८४ ॥ अ० ४ शुक्रनीतिसार

‡ यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥
सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥ अ० ८

\+ धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धि-संग्रहे-द्रोहमुख-स्थानीषु व्यावहारिकानर्थान कुर्युः ॥ ३८ ॥ अधि० ३ अ० १

की संख्या ऊन (odd numbers) रहनी चाहिये, चाहे सात हो या पांच या तीन। जिस सभा में ब्राह्मण बैठे हों, वह सभा यज्ञ समान होती है और राजा उस सभा में कार्यों के सुननेवाले, अच्छे पंडित वैश्यों को नियुक्त करे। राजा द्वारा नियुक्त हो वा अनियुक्त हो, धर्मज्ञाता सभा में बोल सकता है, क्योंकि जो धर्मशास्त्र जानता है, वह दैवी वाणी बोलता है।* शुक्रनीतिसार में बताया गया है कि यज्ञ के समान सभा के कुछ उपकरण भी हैं और यह बताया गया है कि सभा में किसका क्या कर्त्तव्य और क्या अधिकार है। राजा, अधिकारी (प्राड्विवाक), सभासद, धर्मशास्त्र, गणक, लेखक, सुवर्ण, अग्नि, जल और चपरासी ये दस कार्य सिद्धि के अंग बताये गये हैं। इनके सहित राजा जिस सभा में बैठकर न्याय का विचार करता है, वह सभा यज्ञ के तुल्य है। अध्यक्ष वा प्राड्विवाक तो अर्थी या वादी का लिखित अर्थ वा दावा पढ़कर सुनाये, सभासद व्यवहार की छानबीन करें, स्मृति निर्णय अर्थात् जयदान और दण्ड बतावे और राजा दण्ड दे। शपथ के लिये सोना और अग्नि, प्यासे और क्रोधी के लिये जल, द्रव्यादि गिनने के लिये गणक और निर्णय लिखने के लिये लेखक होना चाहिये। † बृहस्पति का मत है कि सभासद विवाद का विचार करें, प्राड्विवाक निर्णय करे और राजा दण्ड दे।

शुक्रनीतिसार में इस बात पर बड़ा जोर दिया गया है कि व्यवहार और विवाद का विचार एकान्त में न किया जाय और न राजा अकेला ही यह काम करे; वरंच मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण और प्राड्विवाक के साथ

* व्यवहार धुरं वोढुं ये सक्ता पुङ्गवा इव।
लोक वेदज्ञ धर्मज्ञाः सप्त पञ्चत्रयोऽपिवा ॥ ५४८ ॥
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदशी सभा।
श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्त्तव्याः सुविचक्षणाः ॥ ५४९ ॥
अनियुक्तो नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तु मर्हति।
दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति ॥ ५५० ॥ अ० ४

† नृपोऽधिकृत सभ्याश्च स्मृतिर्गणक लेखकौ ॥ ५५९ ॥
हेमाग्न्यम्बु स्वपुरुषाः साधनाङ्गानि वै दश।
एतद्दशाङ्गकरणं यस्य मध्यस्थ पार्थिव : ॥ ५६० ॥
वक्ताध्यक्षो नृपः शास्त्रा सभ्याः कार्यपरीक्षकाः।
स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रूते जयं दानं दमं तथा ॥ ५६१ ॥
शपथार्थे हिरण्याग्नी अम्बुतृषितक्षुब्धयोः।
गणको गणयेदर्थं लिखेन्न्यायं च लेखकः ॥ ५६२ ॥ अ० ४ शुक्रनीति

विचार करे। इसका कारण पक्षपात की सम्भावना है। पक्षपात के पांच कारण बताये गये हैं, प्रीति, भय, वैर, लोभ और एकान्त में वादी विवादी की बातें सुनना। * जब राजा धर्माधिकरण में न बैठे, तब वहाँ बैठने के लिये ऐसे ब्राह्मणों को नियत करे जो वेदों के ज्ञाता, जितेन्द्रिय, कुलीन, निरपेक्ष, अनुद्वगकारी स्थिर बुद्धि, परलोक से डरनेवाले, उद्युक्त और क्रोध रहित हों। यदि ब्राह्मण न मिलें, तो क्षत्रिय और क्षत्रिय न मिलें तो धर्मशास्त्रज्ञ वैश्यों को नियुक्त करे। इनके साथ ही व्यवहार के ज्ञाता, आचारवान्, गुणी, शत्रु-मित्र में समान भाव रखनेवाले, धर्मज्ञ, सत्यवादी, निरालस, क्रोध, काम और लोभ को जीते हुये प्रियवादी सभासद सब जातियों से नियुक्त करे। इससे यह बात प्रत्यक्ष है कि सभासद तो वर्तमान काल की जूरी का कार्य करते, वेद के ज्ञाता ब्राह्मण और उसके अभाव में धर्मशास्त्र के ज्ञाता क्षत्रिय आदि धर्मशास्त्र का मत बताते थे। †

* धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोध लोभ विवर्जितः।
सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मण पुरोहितः ॥ ५२८ ॥
समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात्।
नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः ॥ ६२६ ॥
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन।
पक्षपाताधिरोपस्य कारणानि च पञ्च वै ॥ ५३० ॥
रोगलोभ भयद्वेषावादिनोश्चरहः श्रुतिः। शुक्रनीति० अ० ४

† यदा न कुर्यान्नृपतिः स्वयं कार्यं विनिर्णयम्।
तदातत्र नियुञ्जीत ब्राह्मण वेद पारगम् ॥ ५३५ ॥
दान्तं कुलीनं मध्यस्थनुद्वेगकरं स्थिरम्।
परत्रभीरुं धर्मिष्ठमद्युक्तं क्रोध वर्जितम् ॥ ५३६ ॥
यदा विप्रो न विद्वान्स्यात् क्षत्रियं तन्नियोजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ५३७ ॥
व्यवहार विदः प्राज्ञा वृत्तिशीला गुणन्विताः।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥ ५३८ ॥
निरालसा जितक्रोध कामलोभाः प्रियम्वदाः।
राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥ ५३९ ॥
कीनाशाः कारुकाः शिल्पिकुसीद श्रेणिनर्तकाः।
लिङ्गिनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम् ॥ ५४० ॥
भर्तृ प्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथाऽपरः।
तस्माद् यः महितो दृष्टो भर्तृ प्रत्यय लक्षणः ॥ ५० ॥

धर्मशास्त्र का ज्ञाता सभापति होता था। सभासदों के विषय में बताया गया है कि जिन लोगों का विवाद हो, उन्हीं के समव्यवसायी ही सभासद बनाये जायें। जैसे किसानों के विवाद में किसान, कारुशिल्पियों के विवाद में कारुशिल्पी, व्याज लेने वालों के झगड़े में कुसीद जीवी, नाचने वालों के विवाद में नाचने वाले, संन्यासियों के झगड़े में संन्यासी और चोरों के झगड़े में चोर सभासद नियुक्त किये जायें। क्योंकि सम्प्रदाय वाले अपने सम्प्रदाय के नियमों के विषय में विचार कर सकते हैं। महाभारत में दण्ड के स्वरूप के वर्णन में व्यवहार की चर्चा की गई है। कहा गया है कि वादी प्रतिवादी से व्यवहार उत्पन्न होता है। वह दो प्रकार का है, एक कुल के आचरण का उल्लंघन और दूसरा शास्त्र की अवहेलना।

व्यवहार में चार बातें होती थीं पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रिया, और निर्णय। अतः इसकी संज्ञा चतुर्विध न्याय थी। जिनको आजकल वादी प्रतिवादी कहते हैं, उनके प्राचीन नाम थे अर्थी, प्रत्यर्थी। अर्जीदावे को आवेदन कहते थे। धर्माधिकरण में अपने पक्ष की पुष्टि में अर्थी जो वक्तव्य सुनाता था वह भाषा कहाता था। भाषा को पूर्वपक्ष और प्रत्यर्थी के जवाबदावे को उत्तरपक्ष कहते थे। विचार का नाम क्रिया और निष्कर्ष का नाम निर्णय था। अर्थी प्रत्यर्थी से भिन्न कार्य का ज्ञाता साक्षी कहाता था। व्यवहार के निर्णय में शपथ और साक्षी का भी प्रयोजन होता था। उस समय वकील न थे वकील का कार्य प्राड्विवाक करता था। उसे अर्थी वा प्रार्थी कुछ नहीं देता था। व्यवहार की उत्पत्ति सत्य और मिथ्या दोनों से होती है क्योंकि एक मनुष्य सत्य बोलता है और दूसरा असत्य। सत्यवादी को अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिये धर्माधिकरण की शरण में जाना पड़ता है। कभी अर्थी सत्य बोलता है और कभी प्रत्यर्थी। अतः व्यवहार के लिये साक्षी की आवश्यकता होती है। मनु के अनुसार साक्षी को गृहस्थ, पुत्रवान् अथवा पड़ोसी, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र होना चाहिये। जो पहले झूठा माना जा चुका हो, व्याधि पीड़ित हो, पाप से दूषित हो जिसका लेन देन का सम्बन्ध हो, जो मित्र, नातेदार, सहायक व शत्रु हो वह साक्षी नहीं हो सकता। राजा, कारीगर, नट, ब्रह्मचारी, संन्यासी श्रोत्रिय, संघ से निकाला हुआ, दस्यु, निषिद्ध कर्मों से आजीविका करनेवाला, बूढ़ा, बच्चा, अति शूद्र, अत्यन्त दुःखित वा मत्त, क्षुधा, पिपासा से पीड़ित,

---

व्यवहारस्तु वेदात्मा वेद प्रत्यय उच्यते।
मौनश्च नर शार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथाऽपरः॥ ५१॥ शां० प० अ० १२१

थका हुआ, कामातुर, पागल, क्रोधी और चोर मनुस्मृति के अनुसार साक्षी नहीं हो सकते। * एक साक्षी की बात की पुष्टि यदि कोई दूसरा न करता तो उसी पर निर्णय नहीं होता था। झूठ बोलने वाले साक्षी पर १०० से १००० पण तक दण्ड होता था। मनु के अनुसार ब्राह्मण अपनी सत्यता, क्षत्रिय अपने यान वा सवारी और शस्त्र की, वैश्य अपने अन्न, पशु और सोने की और शूद्र महा पापों को अपने सिर लेने की, शपथ लेता था। लेख्य साक्ष्य का उपयोग किया जाता था। विष्णु स्मृति में तीन प्रकार के लेख्य बताये गये हैं, राजकर्मचारियों द्वारा माने हुए, साक्षियों द्वारा माने हुये और न माने हुए। जिस लेख्य पर साक्षियों के हस्ताक्षर होते थे वह प्रमाणिक माना जाता था। अभियुक्त का दोष अथवा निर्दोषिता सिद्ध करने के लिये जल, अग्नि, तुला, और विष का प्रयोग किया जाता था। चीनी यात्री ह्यूनस्यांग ने बताया है कि अभियुक्त को एक बोरे में पत्थर और घड़े के साथ गहरे पानी में छोड़ दिया जाता था। यदि पत्थर डूब जाता था और वह तैरता रहता था तो निर्दोष और डूब जाता था तो दोषी समझा जाता था यह थी जल की परीक्षा। अग्नि की परीक्षा में अभियुक्त लोहे के तपे बर्तन में बैठाया जाता था। उस पर उसके पैर और हथेलियाँ रखवाई जाती थीं और वह बर्तन उसे चटाया जाता था। यदि जीभ में छाले पड़ जाते थे, तो दोषी वरना निर्दोष समझा जाता था। जो ऐसी परीक्षा से डरते थे, उन्हें फूल की एक कली आग में फेंकनी पड़ती थी। यदि फूल खिल जाता तो निर्दोष और जल जाता था तो दोषी समझे जाते थे। तुला की परीक्षा में एक पलड़े पर अभियुक्त बैठाया जाता था और दूसरे पलड़े पर पत्थर रखा जाता था। भार दोनों का समान होता था। यदि

---

* गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट् शूद्रयोनयः।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२ ॥
नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्त्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुक कुशीलवौ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥
नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥
नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥ अ० ८

अभियुक्त निर्दोष होता था, तो पत्थर वाला पलड़ा गिर जाता था और अभियुक्त वाला उठ जाता था। विषप्रयोग की विधि यह थी कि एक मेढ़े के अंग में घाव करके विष भर दिया जाता था। यदि मेढ़ा मर जाता था तो अभियुक्त दोषी और जीता रहता था तो निर्दोष समझा जाता था।

प्राचीन काल के राजशास्त्र के ग्रन्थों में वकील का वर्णन कहीं नहीं आया है परन्तु शुक्रनीतिसार में मुख्तार या वकील का वर्णन है। उसमें लिखा है कि जो अर्थी वा प्रत्यर्थी व्यवहार न जानता हो वा अन्य कार्य के कारण व्याकुल हो तो उसे व्यवहार के ज्ञाता प्रतिनिधि को सदा नियुक्त करना चाहिये। अप्रगल्भा (जो अपनी बात ठीक ठीक न समझा सके), जड़, उन्मत्त वृद्ध, स्त्री, बालक, और रोगी के पूर्वपक्ष वा उत्तरपक्ष को प्रतिनिधि अथवा पिता वा माता, मित्र, भ्राता अथवा सम्बन्धी कहें।* प्रतिनिधि का किया हुआ कार्य अर्थी व प्रत्यर्थी का ही समझा जाता था। ऐसे प्रतिनिधि को एक आना रुपया पारिश्रमिक वा वेतन मिलने की व्यवस्था की गई थी। धर्माधिकरण में प्रजा के मुक़दमे ही आते थे, चाहे वे दीवानी हों या फौजदारी अर्थात् क्रय-विक्रय, वस्तुविक्रय, लेन-देन, उपनिधि (safe custody), अप्राप्त व्यवहार (नाबालिग) व्यक्ति के वेचने, वेतन, डाके, गालीगलौज, धर्म की, निन्दा, और मारपीट के सभी मामलों पर वहां विचार होता था। कौटिल्य ने चोरी के मामले पर विचार के लिये कण्टकशोधन न्यायालय की व्यवस्था की है,परन्तु डाके के मामलों का विचार करने का स्थान धर्माधिकरण बताया है। अभियुक्त को दण्ड देने के लिये उसके अपराध का विचार कर लिया जाता था। जो अपराध खुल्लमखुल्ला डण्के की चोटपर किये जाते थे, उनकी

---

* व्यवहारानभिज्ञेन ह्यन्यकार्याकुलेन च ॥ ६२९ ॥
प्रत्यर्थिनार्थिना तज्ज्ञः कार्यः प्रतिनिधिस्तदा ।
अप्रगल्भजड़ोन्मत्तवृद्धस्त्री वालरोगिणाम् ॥ ६३० ॥
पूर्वोत्तरं वदेद् वन्धुर्नियुक्तो वाथवा नरः ।
पिता माता सुहृद् वन्धुर्भ्राता सम्वन्धिनोऽपि च ॥ ६३१ ॥
यदि कुर्युरुपस्थानं वादं तत्र प्रवर्त्तयेत् ।
यः कश्चित्कारयेत्किञ्चिन्नियोगाद्येन केनचित् ॥ ६३२ ॥
तत्तेनैव कृतं ज्ञेयमनिवर्त्यं हि तत्स्मृतम् ।
नियोगितस्यापि भृतिं विवादात् षोडशांशिकीम् ॥ ६३३ ॥

शुक्रनीतिसार अ० ४

संज्ञा 'साहस' थी । * छोटे साहस में छोटा दण्ड होता था परन्तु बड़े साहस के तीन भेद थे । प्रथम साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस। प्रथम साहस दण्ड ४८ से ९६ पण, मध्यम साहस दण्ड २०० से ५०० पण और उत्तम साहस में दण्ड ५०० से १००० पण होता था । साधारण अपराधों के लिये दण्ड की व्यवस्था साधारण थी । तांबा, पीतल, कांच तथा हाथीदांत के बर्तनों के लिये डाका डालने वाले को प्रथम साहस, बड़ेबड़े पशु मनुष्य, खेत, घर, हिरण्य, सुवर्ण, महीन वस्त्रों के लिये डाका डालने वाले को मध्यम साहस दण्ड, और स्त्री वा पुरुष को बलात्कार से बांधने वा बँधवाने वाले वा राजाज्ञा से बँधे हुये को छुड़ाने वाले को उत्तम साहस दण्ड की व्यवस्था थी । † कौटिल्य ने भी इसकी पुष्टि की है ।

चलती गाड़ी रोकने में जो बाधक होता है उसे कण्टक समझा जाता था । राज्य प्रबन्ध में बाधा डालने वाले को शासन का कण्टक समझा जाता था । राज्य के विरुद्ध जो षड्यन्त्र रचते थे वे राज्य के कण्टक समझे जाते थे । इनका नाश करने वाली संस्था का नाम कण्टक शोधन था । कण्टक दो प्रकार के बताये गये हैं । एक में धोबी, सुनार, दर्जी, ताँती आदि शिल्पी, दुकानदार, ब्याज खाने वाले और दूसरे में राज्य को आर्थिक हानि पहुँचाने वाले तथा राज्य के नियमों का उल्लंघन करने वाले थे । अग्नि, चूहे, सर्प, जल, महामारी और बाघ की गणना कण्टक में होती थी । पहले प्रकार के कण्टक प्रजा को ठगने वाले समझे जाते थे क्योंकि वे प्रजा को कष्ट देते थे । धोबी समय पर कपड़ा न देता, खराब कर देता या फाड़ देता था तो वह प्रजा को कष्ट देने वाला समझा जाता था । ताँती या जुलाहा कपड़ा बुनने के लिये अधिक सूत लेता था और उसकी सूचना सुवर्णाध्यक्ष को न देता था तो दण्ड का भागी होता था । थोड़े दामों पर अधिक का माल लेनेवाला चोरी का अपराधी समझा जाता था । ग्राहक के सोने चाँदी में जो मिलावट करता था, उससे कुछ चुरा लेता था या अच्छे माल के बदले में खोटा माल

---

* साहसमन्वयवत्प्रसभ कर्म ॥ १ ॥ अधि० ३ अ० १७

† ताम्रवृतकंसकाचन्दतभांडादीन स्थूल द्रव्याणामष्टचत्वारिंशतपणावरं षण्णवतिपरं पूर्वस्साहस दण्डः ॥ ८ ॥ महापशुमनुष्यक्षेत्रगृह हिरण्य सुवर्ण सूक्ष्म वस्त्रदीनां स्थूलद्रव्याणां द्विशतावरः पञ्चशतापरः मध्यमस्साहस दण्डः ॥ ९ ॥ स्त्रियं पुरुषं वाभिषह्य बध्नतोबन्धयतो बधं वा मोक्षयतः पञ्चशतावरः सहस्र परः उत्तमः साहस दंड इत्याचार्याः ॥१०॥ अधि० ३ अ० १७

देता था तो वह दण्ड का भागी होता था। कसेरों और वर्तन बनाने वालों के लिये वेतन, माल की छीजन और दण्ड आदि की व्यवस्था कौटिल्य ने की है। दुकानदार किसी प्रकार भी प्रजा को लूट नहीं पाते थे। दुकानदारी में भ्रष्टाचार के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई है।

सरकारी कोष में जाली सिक्के रखने वालों और वहाँ से चोरी करने वालों, गड़े हुए धन को बिना प्रमाण अपनाने वालों और राजा को बिना सूचना दिये रोगी की चिकित्सा करने वालों की गणना कण्टकों में की गई है। भलेमानस दिखाई देनेवाले चालाक और मक्कार बनियों, कारीगरों, नटों, भिखारियों और ऐन्द्रजालिकों से भी प्रजा की रक्षा की व्यवस्था की गई है। ऊपर लिखे कण्टकों के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कण्टक भी थे। ये लोग राजकर्मचारी थे। इनके सुधारने के लिये समाहर्त्ता को आदेश था कि समग्र जनपद में संन्यासी, तपस्वी, सिद्ध, निरन्तर घूमने वाले ऐन्द्रजालिक, नट, भांड, भाट, कलवार, हलवाई, पका हुआ मांस बेचनेवाले, रसोइया, आदि के वेष में गुप्तचर नियुक्त करें। ये ग्राम के अधिकारियों की ईमानदारी और बेईमानी का पता लगाकर उनको दण्ड दिलवाते थे। लोक में उपद्रव करने वाले १२ प्रच्छन्न वा अप्रत्यक्ष कण्टक ये बताये गये हैं—धर्मस्थ, प्रदेष्टा, ग्रामाध्यक्ष, झूठा साक्षी, अपने ऊपर भूत प्रेत बुलाने वाला, हत्यारा, विष देने वाला, बेहोश करने वाला, जाली सिक्के बनाने वाला, झूठे कागज तैयार करने वाला, वशीकरणकर्त्ता तथा नकली सोने के व्यापारी। इनसे प्रजा की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था। कण्टक पुरुषों का विचार कण्टक शोधन न्यायालय में होता था। आधुनिक काल के स्पेशल ट्राइब्यूनल के ढङ्ग पर यह न्यायालय था। निरपराध को दण्ड नहीं मिलता था। अर्थ दण्ड के अतिरिक्त शारीरिक दण्ड का विधान भी था। यह चार प्रकार का था—छः डण्डे या चार कोड़े मारना, हाथ पैर बांधकर उलटा लटकाना या नाक में नमक का पानी डालना। छोटे-छोटे अपराध करने वालों तथा बालक, वृद्ध, रोगी, भूखे प्यासे, थकेमांदे अथवा अफरकर खाये हुये अपराधियों को डण्डे या कोड़े मारने का निषेध था। ब्राह्मण वा तपस्वी को पकड़ कर इधर उधर घुमाना ही यथेष्ट दण्ड था। गर्भिणी वा एक माह की प्रसूता स्त्री को दण्ड नहीं दिया जाता था। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में चोरी नहीं होती थी। इसका यह कारण है कि कौटिल्य ने ऐसी दण्ड व्यवस्था की थी कि किसी को चोरी करने का साहस ही न होता था। राजकर्मचारियों को जनसाधारण से अधिक दण्ड दिया जाता था। व्यभि-

चारियों और चोरों के लिये नाक कान काटने के दण्ड के साथ ५०० पण दण्ड की व्यवस्था थी। कुटने दूना दण्ड पाते थे। अपने से उत्तम वर्ण के व्यक्ति वा गुरुजनों को हाथ वा पैर से मारने वाले, राजा के यान वा वाहन पर चढ़ने वाले का एक हाथ और एक पैर काट दिया जाता था अथवा ७०० पण दण्ड लिया जाता था। जो शूद्र अपने को ब्राह्मण कहता और देवता के उद्देश्य से दिये द्रव्य का अपहरण करता अथवा ज्योतिषी बनकर राजा का अनिष्ट बताता वा राजा का द्रोह करता वा किसी की दोनों आँखें फोड़ देता तो औषधियों द्वारा वह अन्धा कर दिया जाता वा उसको ८०० पण दण्ड दिया जाता था। स्त्रियों वा कन्याओं के साथ उनकी इच्छा से संग करता तो स्त्री पुरुष दोनों दण्ड के भागी होते थे और यदि अनिच्छा से करता था तो पुरुष दण्ड पाता था। चोर वा व्यभिचारी को छोड़ देने वाले, राजा की आज्ञा को न्यूनाधिक लिखनेवाले, कन्या व दासी को सगर्भ चुराने वाले, झूठा व्यवहार करने वाले और अभक्ष्य पशुओं का मांस बेचने वाले का बायां हाथ और दोनों पैर काट दिये जाते थे। देव सम्बन्धी पशु, प्रतिमा, मनुष्य, खेत, घर, सुवर्ण और रत्न बेचने वाले को प्राण दण्ड मिलता था। बलात्कार स्त्री या पुरुष की हत्या करने, या उसे उठा ले जाने वाले को, नाक कान काटने वालों को नगर या ग्राम से द्रव्य अपहरण करने वाले को, सेंध लगाने वा धर्मशाला से चोरी करने वाले या राजा की कोई वस्तु चुराने वालें को सूली पर चढ़ाने का दण्ड कौटिल्य ने बताया है। सूली पर चढ़े हुए शव को उठा ले जाने वाले को भी यही दण्ड बताया है। लड़ाई झगड़े में यदि कोई किसी को मार डालता था तो उसे कष्ट देकर मार दिया जाता था। चोट खाया मनुष्य यदि ७ दिन में मर जाता था तो अभियुक्त को बिना कष्ट के प्राणदण्ड दिया जाता था। यदि १५ दिन में मरता तो प्रथम साहस दंड और तीन मास पश्चात् मरता तो ५०० पण दण्ड दिया जाता था और चिकित्सा आदि का व्यय भी अभियुक्त से लिया जाता था। किसी स्त्री को मार कर गर्भ गिरा देने वाले को उत्तम साहस दण्ड, औषधि द्वारा गिराने वाले को मध्यम साहस दण्ड और कठोर काम कराके गिराने वाले को प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था। किसी पुरुष का अचानक वध करने वाले या [illegible] दस पशुओं वा घोड़ों को चुराने वाले को प्राण दण्ड दिया जाता था। जल रोकने वाले, पुल अथवा बांध को तोड़ने वाले को कौटिल्य ने यही सजा देने की व्यवस्था की है। यदि पुल बिना जल का हो तो उत्तम साहस दण्ड और पानी में टूटा फूटा हो तो मध्यम साहस दण्ड दिया जाता था। यदि

कोई माता, पिता, पुत्र, भाई, आचार्य या तपस्वी की हत्या का अपराधी होता था तो उसके सिर की खाल उतार ली जाती थी या वह जीवित जला दिया जाता था। यदि कोई उन्हें कोसता था तो उसकी जीभ काट ली जाती थी। यदि नोचता खसोटता था तो जिस अंग से ऐसा करता था वह अंग काट दिया जाता था। स्त्री को विष देकर जो पुरुष मार डाले उसे तथा पुरुष को विष देकर मार डाले उस स्त्री को जल में डुबाया जाता था। स्त्री गर्भिणी होती थी तो बच्चा होने के एक मास पश्चात् उसे डुबाया जाता था।

कौटिल्य ने राजकीय अपराधों के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। राज्य लेने का अभिलाषी, रनवास में झगड़ा पैदा करने वाले, जंगलियों और शत्रुओं को उभारने वाले, दुर्ग वा राष्ट्र को राजा से कुपित कराने वाले के सिर और हाथ पैर अंगारों पर रखकर शिरच्छेदन करा दिया जाता था। ब्राह्मण को ऐसे अपराधों के लिये कालकोठरी का दण्ड दिया जाता था। जो व्यक्ति चरागाह, खेत, खलिहान, घर, लकड़ी तथा हाथियों के सुरक्षित जंगलों में आग लगाता था तो उसे आग में जला दिया जाता था। राजा को गाली देने, गुप्त रहस्य प्रकट करने, राजा का अनिष्ट प्रचार करने तथा ब्राह्मण की रसोई से बलात् भोजन लेकर खाने पर उसकी जीभ कटवा दी जाती थी। कौटिल्य ने लिखा है कि अपराधी को एकांग वध अथवा एक उंगली काटने से प्राण वध तक दण्ड दिया जा सकता था। जो अधिकारी निरपराधों को दण्ड देते थे उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। यदि राजा अपराध करता था तो वह भी दण्ड का भागी होता था। कौटिल्य के मतानुसार राजा अदण्ड्य नहीं है। कौटिल्य ने लिखा है कि यदि राजा अदण्ड्य को दंडित करे तो उस पर ३० गुना दण्ड हो और दण्ड का यह धन राजा देवता को अर्पण करके ब्राह्मणों को बांट दे। ऐसा करने से ठीक दंड न देने के कारण उत्पन्न राजा का पाप मिट जाता है, क्योंकि मिथ्या व्यवहार करने वाले राजाओं का शासन वरुण ही करता है।* यहां केवल अर्थ दंड की व्यवस्था ही है।

प्राचीन यूनानियों के मतानुसार राज्य का ध्येय—प्राचीन काल के

---

* अदण्ड्यदण्डने राज्ञो दण्डस्त्रिंशद्गुणोऽम्भसि।
वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम् ॥ ५८ ॥
तेन नत्पूयते पापं राज्ञो दण्डापचारजम्।
शास्ताहि वरुणो राजा मिथ्या व्याचरतां नृषु ॥ ५९ ॥ अधि० ४ अ० १३

यूनानियों का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त हमें बतलाता है कि यूनानियों का विचार राज्य के उद्देश्य तथा ध्येय के विषय में बड़ा उच्च था। वे लोग राज्य को मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट ध्येय समझते थे वे राज्य को अन्तिम आदर्श पर पहुँचने का केवल साधन ही नहीं वरन् स्वतः राज्य ही को अन्तिम आदर्श मानते थे।

१—सार्वजनिक सुख—यूनान के सबसे प्रसिद्ध राजनैतिक दार्शनिक प्लैटो और अरस्तू ने राज्य का ध्येय स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। प्लैटो के मतानुसार राज्य का ध्येय मनुष्य को न्यायपरायण तथा सद्गुणी बनाना था। प्रजा को सब प्रकार से सुखी बनाना था। नगर के अधिकारियों का यह कर्त्तव्य था कि वे लोगों का प्रबन्ध इस प्रकार से करें कि जिससे सार्वजनिक सुख की प्राप्ति हो। अतः प्लैटो ने राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुधारने का आदेश किया है क्योंकि उसका विचार था कि जब तक राज्य में धन की कमी होगी अथवा धन का सदुपयोग न होगा तब तक प्रजा सुखी नहीं रह सकती। सार्वजनिक सुख के हेतु उसने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में साम्यवाद पर जोर दिया है। उसका विचार है कि प्रजा को सुखी रखने के लिये शासकों तथा देश के रक्षकों में साम्यवाद का होना आवश्यक है। धन और कुटुम्ब का साम्यवाद स्थापित हो जाने पर देश के शासकों और रक्षकों को पक्षपात करने का संयोग प्राप्त न होगा और राज्य-कार्य में सफलता होगी। राज्य-कार्य की सफलता पर ही जन साधारण का सुखी होना निर्भर है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिये जिसके लिये वह योग्य है। राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना कार्य सफलतापूर्वक करके ही सुख-पूर्वक रह सकता है। यदि कोई व्यक्ति उस कार्य को न करके जिसके वह योग्य है, कोई दूसरा कार्य करता है तो वह दो अपराध करता है एक तो यह कि वह दूसरे के कार्य को उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकता जैसा कि वह करता दूसरा यह कि वह एक अच्छे तथा योग्य व्यक्ति को उस कार्य को करने से वंचित रखता है। इस प्रकार प्रजा के सुखी रहने में बाधा पड़ती है। अतः उसने ऐसी बातों का निषेध किया है। उसके अनुसार राज्य का ध्येय प्रजा को शिक्षित बनाकर तथा शासक और रक्षकों में साम्यवाद की स्थापना करके सर्वसाधारण को सुखी बनाना है। अरस्तू के मतानुसार राज्य का ध्येय नागरिकों में सद्गुण उत्पन्न करना है। उसका विचार है कि राज्य प्रकृति से स्वतन्त्र तथा धन धान्य से परिपूर्ण होना चाहिये। राज्य को आत्म रक्षा के लिये अन्य राज्य तथा व्यक्तियों पर निर्भर न रहना

चाहिये। राज्य में सब प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करनी चाहिये जिससे नागरिकों की सब आवश्यकतायें पूरी होती रहें और किसी वस्तु की कमी न रहे। राज्य का ध्येय केवल राज्य में धन की अधिकता तथा शान्ति ही नहीं है। राज्य का वास्तविक ध्येय प्रजा का सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना है। राज्य में सर्वसाधारण के सुख को ही अरस्तू ने राजा का ध्येय बतलाया है। उसका कथन है कि राज्य का ध्येय मनुष्यों की उच्चतम मानसिक तथा नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है (The state exists to satisfy higher and moral and intellectual needs of man)। गृहस्थ, मनुष्यजीवन की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और राज्य सर्वसाधारण को सुख पहुँचाने के लिय है।

२—राज्य में शान्ति—यूनानियों का विचार था कि राज्य का उद्देश्य तथा ध्येय राज्य में शान्ति स्थापित रखना था। राज्य म शान्ति स्थापित रखने की व्यवस्था प्लैटो ने भी की है। इसका कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के मुख्य भाग तीन हैं—मस्तिष्क, हाथ, पैर तथा पेट। उसी प्रकार राज्य के भी मुख्य अङ्ग तीन हैं—दार्शनिक शासक, सैनिक दल तथा भोजन वस्त्रादि उत्पन्न करने वाले व्यक्ति प्लैटो के विचार से राज्य में शान्ति तभी रह सकती है जब शासकों को शासन कार्य करने के अतिरिक्त और कोई कार्य न हो। सैनिक दल केवल देश की रक्षा का ही कार्य करे, इसके अतिरिक्त उसे और कुछ न करना पड़े। तीसरी श्रेणी के लोग उत्पादक हैं जिनका कार्य राज्य की आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु का उत्पादन करना है। उसका विचार है कि इस प्रकार की वर्ण व्यवस्था द्वारा ही राज्य में शान्ति स्थापित रह सकती है। अतः राज्य का ध्येय यह है कि शान्ति स्थापित की जाय और दुष्टों तथा राज्य के विधानों का उल्लंघन करनेवालों को कठोर दण्ड दिया जाय। अरस्तू के मतानुसार राज्य का ध्येय राज्य में शान्ति स्थापित रखना है। राज्य का यह कर्तव्य है कि शासकों द्वारा नैतिक तथा राजनैतिक नियमों के अनुसार प्रजा को अच्छे कार्य करने के लिये बाध्य किया जाय और पूर्णरूप से शान्ति रखी जाय।

३—प्रगति—प्राचीन काल के यूनानियों का विचार था कि मनुष्य मात्र की उन्नति राज्य में ही रह कर हो सकती है। राज्य का ध्येय प्रजा की सब प्रकार की उन्नति करना था। प्लैटो का कथन है कि राज्य वृक्ष से उत्पन्न नहीं होता है वह तो राज्यों मे रहने वाले मनुष्यों का ही संगठन है। राज्य प्रजा से पृथक् कोई अन्य वस्तु नहीं समझा जाता था। राज्य एक नागरिक

का ही विराट् रूप था । नागरिकों के समूह को ही राज्य नाम से सम्बोधित किया जाता था । प्लैटो ने कहा है कि यदि किसी राज्य के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो वहां के व्यक्तियों का निरीक्षण करलो । यदि राज्य के मनुष्य सुखी तथा उन्नत दशा में हैं और उन्नति करते जा रहे हे तो समझना चाहिये राज्य अपने ध्येय को समझता है और अपने कर्तव्य का उचित रूप ने पालन कर रहा है राज्य का उद्देश्य अरस्तू ने प्रजा की व्यक्तिगत उन्नति करना बताया है । अरस्तू का विचार है कि वही राज्य अपने वास्तविक ध्येय को समझता है जिसकी प्रजा सब प्रकार से उन्नति करती चली जाती है ।

४–सामाजिक उन्नति–प्राचीन यूयानी दार्शनिक राजशास्त्रज्ञों का विचार है कि एक अच्छे राज्य का ध्येय प्रजा की सामाजिक उन्नति करना है । प्लैटो और अरस्तू ने प्रजा की सामाजिक उन्नति का आधार अच्छी शिक्षा बतलाया है । अतः दोनों ने लोगों की सामाजिक उन्नति के लिये शिक्षा की बड़ी अच्छी योजनाएँ हमारे सामने रखी हैं । उनका विचार है कि किसी राज्य की सामाजिक दशा तभी अच्छी हो सकती है जब मनुष्यों की प्रारम्भिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो । इसलिये प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षा पर जोर दिया गया है । मनुष्य समाज को प्लैटो ने तीन भागों में विभाजित किया है । एक दार्शनिक शासक, दूसरे सैनिक, तीसरे उत्पादन करने वाले । इस प्रकार तीन भागों में प्रजा को विभाजित करके एक प्रकार की वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की थी । इस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयोजन समाज की सब प्रकार की उन्नति करना था । अरस्तू ने भी प्रजा जनों को कई भागों में विभाजित किया है । दासों का होना भी आवश्यक बताया गया है । समाज की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वर्ण के लोग अपने अपने निश्चित कार्य करें । राज्य की ओर से स्त्रियों की शिक्षा का भी विशेष प्रबन्ध था । इन दार्शनिकों का मत है कि सामाजिक उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि स्त्रियों को मनुष्यों के समान अधिकार दिये जायें । राज्य ने इसीलिये मनुष्यों के समान स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था भी कर रखी थी । स्त्रियों को शासन कार्य में भी भाग लेने का अधिकार था ।

५–न्याय—न्याय के विषय में यूनानियों के विचार आजकल के विचारों से भिन्न थे । प्लैटो के अनुसार न्याय का अर्थ था कि प्रत्येक मनुष्य अपने उस कार्य को करे जिसके वह योग्य हो । अतः राज्य का ध्येय यह था कि मनुष्य अपने अपने कार्यों को सफलतापूर्वक करते रहें । जो अपने कार्य

को छोड़कर दूसरे का कार्य करता था वह अपराधी समझा जाता था यूनान में न्याय कठोर था। छोटे छोटे अपराधों के लिये कठोर दण्ड दिये जाते थे। चोरी बहुत बुरा अपराध समझा जाता था। राज्य का ध्येय अरस्तू के मतानुसार राज्य के विधानों का पूर्णरूप से पालन कराना था। राज्य ध्येय का न्याय था। न्याय करने के लिये न्यायाधीशों का निर्वाचन प्रजा द्वारा होता था। यूनानियों का विश्वास था कि जिस राज्य में विधानों का उल्लंघन किया जाता है वहां शान्ति कदापि नहीं रह सकती। अतः न्याय की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था।

जब रोम वालों ने यूनान को विजय कर लिया तो उन्होंने यूनान को अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया। नगर राज्यों का अन्त हुआ और साम्राज्य की स्थापना हुई। रोम वालों ने यूनान के राजनैतिक विचारों से लाभ तो उठाया परन्तु रोम वालों के समय में साम्राज्यवाद की उन्नति हुई। रोम वालों ने राज्य के ध्येय पर विशेष ध्यान न देकर केवल साम्राज्य स्थापित करने का ही प्रयत्न किया। हम यह कह सकते हैं कि रोमन लोगों के विचारानुसार राज्य का ध्येय संगठन करना तथा छोटे छोटे नगर राज्यों को संगठित करके साम्राज्य स्थापित करना था। रोम वालों ने आधुनिक संसार को विधान दिया है। रोमन लॉ संसार में प्रसिद्ध है। अपने समय में रोमन लोग शासन कार्य में बड़े निपुण थे, जैसा बतलाया गया है रोमन लोगों का ध्यान साम्राज्य स्थापित करने की ओर था। साम्राज्य स्थापित करने के लिये भी कुछ विशेष बातों की आवश्यकता थी, अतः रोम वालों का ध्येय अच्छी अच्छी सड़कें बनाना था जिससे साम्राज्य के प्रत्येक भाग में शीघ्रता से पहुँचा जा सके। उनके राज्य का ध्येय था शासन को केन्द्रित करना। केन्द्रीय शासन बड़ा शक्तिशाली था। केन्द्र (रोम) ही से सम्पूर्ण शासन प्रबन्ध का संचालन होता था। प्रान्तों के शासकों का एक प्रान्त से दूसरे प्रान्तों का स्थानान्तर किया जाता था जिससे एक स्थान पर रहकर कोई प्रान्तीय गवर्नर अधिक शक्तिशाली न हो जाय और विद्रोह न कर दे। अतः रोमन लोगों का राज्य का ध्येय केवल शासन कार्यों तक ही सीमित रहा। वह था ऐक्य, अनुशासन (Discipline), सार्वभौमिक नियम तथा वसुधैव कुटुम्बकं की की मनोवृत्ति (Cosmopolitanism)।

मध्यकालीन राजशास्त्रवेत्ताओं में सेन टामस ऐक्वाइनस (St. Thomas Aquinas १२२७—१२७४) और दांते (Dante १२६५—१३२१) अधिक प्रसिद्ध हैं। सेन टामस ने राज्य का ध्येय ईसाई धर्म की

प्रकार संगठन किया जाना चाहिये जो यथा सम्भव व्यक्ति की सर्वोच्च स्वाधीनता के अनुकूल हो। दूसरी बात यह है कि भिन्न भिन्न राष्ट्रों की प्रतिभा का विकास किया जाय और उसे पूर्णता पर पहुँचाने का प्रयत्न किया जाय। लॉक का कथन है कि राज्य का उद्देश्य अथवा ध्येय मनुष्य मात्र की भलाई करना है। हाब्ज के मतानुसार राज्य का ध्येय व्यवस्था स्थापित करना है। रूसो के मतानुसार राज्य प्रजाजनों की संयुक्त इच्छा है और का राज्य उद्देश्य मनुष्यों की व्यक्तिगत सुख-शान्ति है। प्रोफ़ेसर रिशी (Ritchie) मनुष्य जाति के सर्वोत्कृष्ट जीवन के आविष्करण को राज्य का प्रधान ध्येय समझता है। एक आधुनिक फ्रान्सीसी राजशास्त्रवेत्ता का कथन है कि "सबसे पहले राज्य का यह कर्तव्य है कि वह वाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की स्वाधीनता की रक्षा करे, आन्तरिक सुख शान्ति और सुव्यवस्था रखे। इसके पश्चात् राष्ट्रीय जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करे।" लेबुले (Laboulaye) नाम के फ्रांसीसी राजशास्त्रवेत्ता का मत है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसके पूर्ण विकास का मार्ग खोल दे, वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे मनुष्य की शारीरिक मानसिक और नैतिक शक्ति का पूर्ण विकास हो, विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को वह हटादे, दरिद्र से दरिद्र और अज्ञानी से अज्ञानी मनुष्य के द्वार पर ज्ञान और शिक्षा का प्रकाश कर सर्वसाधारण को उन्नति के पथ पर आगे बढावे।" अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक गार्नर इन बातों का विश्लेषण कर यह सार निकालते हैं कि "राज्य का वास्तविक, प्रारम्भिक और तत्कालिक ध्येय यह है कि वह शान्ति, व्यवस्था, रक्षा और न्याय की व्यवस्था करे।" इनमें कानून का राज्य स्थापित करने की बात भी आ गई है, जिससे वैयक्तिक स्वत्वों की रक्षा की जा सके। कोई समाज, या कोई सरकार दूसरे की वैयक्तिक स्वाधीनता में बाधा न डाल सके। यदि राज्य इन उद्दश्यों को, इन ध्येयों को, पूर्ण करने में असफल होता है तो समझना चाहिये कि उसका अस्तित्व न्याययुक्त नहीं है। वह अन्य बातों की कुछ अंशों में उपेक्षा कर सकता है पर इन अत्यन्त आवश्यक बातों की नहीं कर सकता। राज्य को वैयक्तिक तथा सामाजिक हित और आवश्यकताओं पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। उसे ऐसे कार्य करने चाहिये जो लोगों के हित के लिये आवश्यक हों। इन सब प्रारम्भिक और मूल कर्तव्यों के अतिरिक्त राज्य का अन्तिम कर्तव्य और सर्वोत्तम ध्येय मनुष्य जाति की सभ्यता और संस्कृति का विकास करना है।

जर्मन आदर्शवादी राजशास्त्रवेत्ताओं ने राष्ट्रीय संगठन पर अधिक

जोर दिया है। इमैन्युअल कैन्ट (Immanuel-kant १७२४–१८०४) फिख्टे (Fichet १७६२-१८१४)। और जार्ज विल्हैल्म हेगल (George Wilhelm Hegel—१७७०–१८३१) ने राज्य-को स्वयं ध्येय वतलाया है। इन लोगों का मत है कि राज्य के लिये ही राज्य की सब वस्तुएं है। राज्य अथवा राष्ट्र की उन्नति के लिये सब कुछ वलिदान कर देना उचित है। व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा राष्ट्र के हितों पर अधिक ध्यान देना चाहिये! राष्ट्र ही सब कुछ है। यहां तक कि इन आदर्शवादियों ने राज्य की तुलना ईश्वर से की है। ये लोग राज्य को देवता की भांति पूज्य समझते हैं। इसके विपरीत अंग्रेज आदर्शवादियों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर अधिक जोर दिया है। ये लोग (जिनमें ग्रीन, ब्रैडले और बोसांके नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं) कहते हैं कि राज्य का ध्येय प्रजा के व्यक्तिगत हितों की रक्षा करना है। व्यक्तिगत उन्नति के लिये राज्य की स्थापना की गई है।

अंग्रेज उपयोगितावादियों (Utilitarians) ने राज्य की उपयोगिता को अधिक महत्वपूर्ण समझा है। ये लोग कहते हैं कि राज्य का ध्येय होना चाहिये "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" (Greatest happiness of the greatest number)। इन लोगों का मत है कि राज्य के ध्येय को राज्य के कार्यों से समझ सकते हैं। यदि राज्य में अधिक मनुष्य सुखपूर्वक रहते हैं तो राज्य अच्छा है अन्यथा नहीं। राज्य को ऐसे नियम वनाने चाहिये जिससे मनुष्यों के हितों की रक्षा हो। राज्य का ध्येय मनुष्यों के सामूहिक हितों की रक्षा करना है। इन उपयोगितावादियों में वेन्थम (Bentham १६४८-१८३२) और जेम्समिल (James Mill १७७३-१८३६) अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उपयोगितावाद सिद्धान्त की स्थापना सबसे प्रथम रिचर्ड कम्बरलैण्ड (Richard Cumberland) ने की थी और "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" इस कहावत का सबसे प्रथम प्रयोग फ्रांसिस हसिचन (Francis Hulcheson) ने किया था तथापि वेन्थम ही को उपयोगितावाद सिद्धान्त का प्रवर्त्तक कहा जाता है। उसने अपनी पुस्तक "The Fragment on Government" में राज्य के ध्येय का वर्णन किया है। उसका कथन है कि मनुष्य के सर्वोच्च शासक (sovereign masters) दो हैं— 'सुख' और 'दुख' (pleasure & pain)। मनुष्यों का प्रत्येक कार्य इन्हीं दो भावों द्वारा संचालित होता है। मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणायें प्राकृतिक होती हैं और उनकी अच्छाई और बुराई उनके परिणामों पर निर्भर

है। उपयोगिता के अनुसार ही मनुष्य प्रत्येक कार्य करता है। मनुष्य उसी कार्य को करता है जिसके करने में अधिक से अधिक सुख मिले। बेन्थम का विश्वास था कि राज्य का ध्येय राज्य के लिये अच्छे विधान बनाना है। विधान की अच्छाई अथवा बुराई का माप उसका परिणाम है। यदि उन विधानों के परिणामस्वरूप 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' है तो विधान अच्छा है अन्यथा नहीं। राज्य की स्थापना का आधार उसकी उपयोगिता है। बेन्थम न्यायशास्त्र का पण्डित था। उसने इस बात पर अधिक जोर दिया कि न्याय तभी ठीक-ठीक हो सकता है जब कानून (विधि अथवा विधान) अच्छे हों। उसने फ़ौजदारी के कानूनों में सुधार किया और जेलों में सुधार करने की योजना तैयार की। उसके मतानुसार दण्ड का ध्येय 'अपराधों को रोकना' होना चाहिये। दण्ड का ध्येय होना चाहिये अपराधी को सुधारना। अतः उसने इस बात पर जोर दिया कि राज्य का यह कर्तव्य होना चाहिये कि जेल में बन्दियों को अच्छी शिक्षा दी जाय और उपयोगी कार्य सिखाये जायें ताकि बाहर निकलकर वे अपनी जीविका उपार्जन कर सकें और जीविका उपार्जन के लिये उन्हें अपराध न करने पड़ें।

जॉन स्टुआर्ट मिल (John Stuart Mill १८०६—१८७३) भी उपयोगितावाद सिद्धान्त का अनुयायी था। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद में थोड़ा सा परिवर्तन किया। उसका मत है कि सुख और दुःख के भावों में भी विभिन्नता होती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का सुख दुःख भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उसका कथन है कि "दुखी सुकरात सुखी मूर्ख से अच्छा है, एक दुखी मूर्ख एक सुखी सुअर से अच्छा है।" अर्थात् वह सुख में भी कई भेद देखता है। सुख दुःख भी ऊँच और नीच होते हैं। अतः उसने राज्य का ध्येय बताया है लोगों को उच्च सुखों की प्राप्ति कराना। दूसरी विशेष बात इसने यह की है इसने मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति पर अधिक ज़ोर दिया है। उसका कथन है कि राज्य का ध्येय मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति करना होना चाहिये। वही राज्य अच्छा है जिसमें मनुष्य की व्यक्तिगत भलाई हो। अतः राज्य का उद्देश्य होना चाहिये प्रजा की व्यक्तिगत भलाई और उन्नति के लिये सुचारु नियम अथवा विधान बनाना। उसका मत है कि यदि मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति की ओर ध्यान दिया जायगा तो सामूहिक उन्नति अपने आप हो जायगी। जॉन मिल का विचार है कि राज्य का ध्येय होना चाहिये 'प्रजा के आर्थिक विषयों तथा व्यापार में न्यून से न्यून विघ्न डालना तथा श्रमिकों की भलाई के लिये उचित विधानों का बनाना।'

भिन्न भिन्न काल के राजशास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार राज्य के भिन्न भिन्न ध्येयों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। सामाजवाद (Socialism) उग्र समाजवाद (Bolshevism) और साम्यवाद (Communism) का वर्णन करते समय हम इन मतों के अनुसार राज्य के ध्येयों को बतलायेंगे। अब यह बताना आवश्यक है कि राज्य की क्या आवश्यकता है ?

राज्य की आवश्यकता—मानुषिक संवासों (associations) में राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली तथा विश्वव्यापी संवास है। सभ्य मानव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण तथा आवश्यक वस्तु राज्य है। राज्य द्वारा ही मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा राजनैतिक उन्नति होती है। राज्य का कार्य केवल शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करना ही नहीं है, वरन् उन सब आवश्यक वस्तुओं को एकत्रित करना है जिनसे प्रजा की सब प्रकार की भलाई और उन्नति हो। सभ्यता का आरम्भ से ही राज्य का अस्तित्व रहा है। सभ्यता का राज्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। अति प्रचीन काल के आर्य तथा हिन्दू दार्शनिकों ने राज्य के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने अच्छे राज्य तथा अच्छे राजा की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने तो राजकार्य को राजधर्म तक बताया है। राजधर्म के विषय पर भारतवर्ष में प्राचीन काल के अब भी अनेक ग्रंथ विद्यमान हैं। इन ग्रंथों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। प्राचीन काल के यूरोपीय (यूनानी) दार्शनिकों ने राज्य की आवश्यकता की बड़ी महिमा गाई है। प्लैटो और अरस्तू ने मनुष्य की शारीरिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये राज्य को अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। मनुष्य के इहलौकिक तथा पारलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राज्य एक अनिवार्य साधन है। ज्यों-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती जाती है और मानव जीवन अधिक जटिल होता जाता है त्यों-त्यों राज्य की आवश्यकता अधिकाधिक प्रतीत होती है। सम्भव है कि जब मानव जीवन अत्यन्त साधारण रहा हो और सभ्यता आरम्भ ही हुई हो तब राज्य की इतनी आवश्यकता न प्रतीत होती हो परन्तु अब तो राज्य के बिना मनुष्य एक क्षण भी नहीं रह सकता। अरस्तू ने सत्य कहा है कि जो मनुष्य राज्य में रहना नहीं चाहता वह या तो पशु है या देवता। मनुष्य का तो बिना राज्य के निर्वाह हो ही नहीं सकता।

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। इतिहास के आरम्भ में मनुष्य का सबसे प्रथम संवास एक कुटुम्ब था। कुटुम्ब में न्यून से न्यून एक पुरुष, उसकी स्त्री तथा बच्चे होते हैं। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कुटुम्ब में

एक नौकर को भी सम्मिलित किया है। अरस्तू ने इस कुटुम्ब को राज्य का लघु रूप बतलाया है। वास्तव में राज्य का कार्य कुटुम्ब से ही आरम्भ होता है। कुटुम्ब में पिता राजा के तुल्य होता है, उसका शासन कुटुम्ब के सब सदस्यों पर होता है। परन्तु जैसा कि अरस्तू ने बतलाया है पिता का सम्बन्ध स्त्री, बच्चों और नौकर के साथ एक ही प्रकार का नहीं है। वह सम्बन्ध भिन्न भिन्न प्रकार का है। कुटुम्ब रूपी समाज अथवा संवास में रहकर मनुष्य की सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है। भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिये उसे भिन्न भिन्न व्यवसाय के व्यक्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। अन्न के लिये कृषक, तेल के लिये तेली, बरतनों के लिये कुम्हार, कपड़ों के लिये जुलाहे, मकान बनाने के लिये राज और बढ़ई की आवश्यकता होती है। अतः प्राचीन काल में एक ग्राम में ये सब लोग पाये जाते थे और वह ग्राम राज्य की सबसे छोटी इकाई होता था। अति प्राचीन काल के भारतीय ग्राम इसी प्रकार के होते थे। प्रत्येक ग्राम निवासी के जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध ग्रामों में था। उस समय में ग्रामीण जीवन बहुत ही साधारण था। प्राचीन काल में यूनान में भी ग्राम इसी ढंग के थे। ग्रामों के समूहों से मिलकर नगर राज्य बना हुआ था। नगर में उस काल की सब आवश्यक वस्तुएँ मिल सकती थीं।

जिस प्रकार सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये एक कुटुम्ब की आवश्यकता है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के व्यवसायों की उन्नति के लिये भिन्न भिन्न संवासों (associations) की आवश्यकता है। प्राचीन काल में भी भिन्न भिन्न प्रकार के संवास (associations) मनुष्य समाज में विद्यमान थे। व्यापार की उन्नति के लिये व्यापारिक संवास, शिक्षा की उन्नति के लिये शिक्षा संवास, विज्ञान की वृद्धि के लिये विज्ञान संवास होते थे। प्रत्येक संवास का प्रबन्ध संवास के सदस्य करते थे। प्रत्येक संवास को सफलतापूर्वक चलाने के लिये नियम बना लिये जाते थे। जो व्यक्ति इन नियमों के विरुद्ध कार्य करता था उसे नियमानुसार दण्ड संवास द्वारा दिया जाता था। यहाँ तक कि संवास से उसे निकाल दिया जाता था। आधुनिक समय में भी बहुत से इस प्रकार के संवास विद्यमान हैं। आजकल सभ्यता की अधिक उन्नति होने के कारण मनुष्यों का जीवन बहुत जटिल हो गया है। भाँति भाँति के आविष्कारों ने भी जीवन को अत्यधिक जटिल बना दिया है। अतः अनेकों संवासों की स्थापना भी हो गई है। राज्य इन सब संवासों तथा समाजों से ऊपर है। राज्य सबसे महत्वपूर्ण संवास

(association) है। अन्य सब संवासों का प्रबन्ध भिन्न भिन्न संवासों के सदस्यों के हाथ में होता है। उन संवासों का एक दूसरे से परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु राज्य एक ऐसा संवास अथवा समाज है जिसका अन्य सब संवासों अथवा समाजों पर पूर्ण अधिकार होता है। राज्य के विधानों का पालन सब संवासों तथा समाजों के सदस्यों को करना पड़ता है। जो व्यक्ति राज्य के नियमों का उल्लंघन करता है उसे अपराध के अनुसार दण्ड मिलता है।

संवास अथवा समाज मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। एक बालक बिना संवास के जीवित तो रह सकता है परन्तु जब वह बड़ा होगा तो उसमें मनुष्य के समान कोई गुण नहीं दिखाई देगा। वह एक पशु के समान होगा। बालक जब बड़ा होता है तब जैसे समाज में उसका पालन होता है वैसी ही बातें वह अनुकरण द्वारा सीखता है। आधुनिक काल के मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण को बालक के लिये सबसे महत्वपूर्ण बतलाया है। समाज को इस दशा पर पहुँचाने वाला अनुकरण ही है। मनोविज्ञान के आधार पर आधुनिक काल में पाठशालाओं में बड़े बड़े महत्वपूर्ण प्रयोग किये जा रहे हैं। सम्राट अकबर बड़ा प्रसिद्ध मुग़ल शासक था। यद्यपि वह स्वयं पढ़ा लिखा न था तथापि वह बड़ा विद्वान था। उसकी राजसभा में बड़े बड़े विद्वान् थे जो उसे सब धर्मों के तथा साहित्य और विज्ञान आदि के ग्रन्थ पढ़कर सुनाया करते थे। बालक पर समाज का प्रभाव जानने के लिये उसने एक प्रयोग किया था। उसने एक बालक को बहुत छोटी अवस्था से मनुष्य समाज से पृथक् कर दिया। उसे दूर एक कोठरी में रखा गया। वह कोठरी ऐसे स्थान पर थी जहां किसी मनुष्य की ध्वनि नहीं पहुँचती थी। लगभग ५ वर्ष तक उस बालक को इसी प्रकार पृथक् रखा गया और भोजन वस्त्र का प्रबन्ध इस प्रकार किया गया कि जो व्यक्ति उसे वह वस्तुएँ देने जाता था वह उससे कुछ न बोलता था पांच वर्ष के पश्चात् जब उसे वहां से निकाला गया तो वह बिल्कुल गूंगा बहरा सा दिखाई दिया। चूं चूं के अतिरिक्त और कोई बोली उसके मुख से न निकलती थी। कोठरी के द्वार के खुलने और बन्द होने में यह ध्वनि होती थी। बस इसी को उसने सीख लिया जिनके सहवास में बालक का पालन पोषण होता है उन्हीं के गुण दोषों को वह ग्रहण करता है। व्यक्ति के जीवन के लिये कुटुम्ब तथा समाज की बड़ी आवश्यकता है। मानव सभ्यता की उन्नति समाज में रहकर अनु-

करण द्वारा ही हुई है। समाज में रहकर ही मनुष्य की निहित शक्तियों तथा गुणों का विकास होता है।

(१) **धर्म के अनुसार राज्य की आवश्यकता**—अति प्राचीनकाल के आर्य लोग राज्य को बड़ा महत्व देते थे। वे राजनीति को राज धर्म कहते थे। श्रेष्ठ राजा को धर्मराज कहकर सम्बोधित करते थे। महाराज युधिष्ठिर को धर्मराज के नाम से सम्बोधित किया जाता था। राज्य-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये राजा को प्रजा निर्वाचित करती थी। 'राजा' शब्द का प्रयोग वेदों में हुआ है। भिन्न भिन्न राज्य सभाओं के नाम भी वेदो में आये हैं। 'यो रंजयति सः राजः' अर्थात् जो प्रजा का रंजन करे वही राजा है। प्रजा की भलाई तथा प्रजा का रंजन करना राज्य का कार्य था। राज्य की आवश्यकता प्रजा की भलाई के लिये थी। प्रजा में शान्ति स्थापित करने तथा प्रजाजनों की शारीरिक, मानसिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये राज्य की आवश्यकता आर्य लोग समझते थे। मनुस्मृति में परमेश्वर ने राजा की सृष्टि की परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि लोग राजा को चुनते थे। महाभारत के शान्तिपर्व के ५९ वें अध्याय में लिखा है कि धर्म से एक दूसरे की रक्षा करते करते जब लोग थक गये और मोह में फस गये, तो पहले ज्ञान फिर धर्म ने उनका संग छोड़ दिया। मोह के कारण वे लोभी, विषयाभिलाषी और कामी हो गये। विषयानुरक्त होने के कारण उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा। अगम्यागमन और भक्ष्या-भक्ष्य का ज्ञान न रहने से यज्ञ और वेद लुप्त हो गये। देवताओं को यज्ञ का भाग न मिलने से उन्होंने ब्रह्मा से पुकार मचाई। ब्रह्मा ने उन्हें आश्वासन देकर एक लाख अध्याय का नीति शास्त्र बना दिया, जिसमें धर्म, अर्थ काम, मोक्ष का वर्णन किया। फिर देवता प्रजापति विष्णु के पास जाकर बोले कि मनुष्यो में कौन एक श्रेष्ठ होगा बताइये। विष्णु ने विचार कर विरजा नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया...... । इससे स्पष्ट है कि राज्य की आवश्यकता राज्य में व्यवस्था स्थापित करने के लिये हुई।

राजा के निर्वाचन के विषय मे शान्तिपर्व के ६७ वे अध्याय में एक और वर्णन है। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा कि "अराजक राज्य की प्रजा वैसे ही नष्ट हुई जैसे जल में बड़ी मछली छोटी को खा जाती है। जब इस प्रकार लोगों का नाश होने लगा तब सबने मिलकर निश्चय किया कि हम लोगों में जो कटुभाषी उद्दण्ड- परस्त्रीगामी और परधन-हारी होगा वह त्याज्य या बहिष्कृत समझा जायगा। इस प्रकार'

सब वर्णों में विश्वास स्थापन करने के लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि हम लोगों में राजा न रहने से हमारा दुःख बढ़ रहा है; इसलिये आप हमें राजा दीजिये जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा प्रतिपालन करे। इस पर ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी और सब लोगों ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूँ और राज्य कार्य कठिन है। भीष्म ने कहा कि प्रजा मनु से बोली कि आप मत डरिये। पापाचरण करने वाला पाप का फल भोगेगा। हम लोग आपकी कोशवृद्धि के लिये आपको अपने पशुओं और सुवर्ण का पचासवां भाग और धान्य का दसवां भाग देंगे। जिस कन्या का सबसे अधिक यौतुक निर्दिष्ट होगा, उस सुन्दरी से आपका विवाह कर दिया जायगा। जैसे इन्द्र के पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम वाहनों पर चढ़े हुए शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ पुरुष आपके पीछे चलेंगे। जैसे कुबेर यक्षों की रक्षा करते हैं, वैसे ही बली, प्रतापी और दुराधर्ष आप हमारी रक्षा करें।" राजा से रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी उसका चतुर्थांश फल आपको मिलेगा। उसी धर्म से बलवान् होकर आप हम लोगों की रक्षा करें, जैसे इन्द्र देवताओं की रक्षा करते हैं। आप सूर्य की भांति शत्रुओं को तपाते हुए विजय के निमित्त यात्रा कीजिये और शत्रुओं का अभिमान नष्ट कीजिये। आपकी सदा जय हो। (देखो श्लोक १७ से २९ तक शान्ति पर्व अ० ६७)। कौटिल्य ने इसका समर्थन किया है। उसका कथन है कि मात्स्य न्याय से दुखी होकर लोगों ने राजा की खोज की। कौटिल्य ने मनु के निर्वाचन के विषय में ब्रह्मा को बीच में नहीं डाला। उसने स्पष्ट लिखा है कि जब प्रजा मात्स्य न्याय से अभिभूत थी, तब उसने वैवस्वत मनु को राजा बनाया *। शुक्रनीतिसार में भी राजा के कई देवताओं के रूप धारण करने का वर्णन आया है। अतः इन सब बातों से प्रतीत होता है कि राजा को धर्म का अंश, देवता का स्वरूप तथा ईश्वर के तुल्य समझा जाता था और राज्य की आवश्यकता मनुष्यों को धर्मानुसार आचरण करानें के लिये समझा गई थी। अधर्म और अव्यवस्था का नाश करके धर्माचरण सिखाने के लिये ही राज्य का जन्म हुआ।

प्राचीन काल के पाश्चात्य यूरोपीय दार्शनिकों के अनुसार भी राज्य की स्थापना ईश्वर द्वारा हुई और राज्य की आज्ञा पालन करना ही ईश्वर

---

* मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजनं चक्रिने॥ ६॥ अर्थशास्त्र अधि० १।

का आदेश बताया गया है। यहूदी लोग अपने को ईश्वर का प्रिय समझते थे और उनका विचार था कि वे ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ चुने हुए लोग हैं। अपने राज्य को वे ईश्वर द्वारा रक्षित समझते थे और राज्य को एक धार्मिक संस्था समझते थे। यूनानी लोगों का भी यही विचार था धर्म के लिये राज्य की आवश्यकता है। प्लैटो और अरस्तू के विचार भिन्न थे उनके विचार से राज्य एक प्राकृतिक तथा आवश्यक संस्था थी। इनका विचार था कि मानव जीवन का आधार ही राज्य है। राज्य में रह कर ही मानव जीवन की सब प्रकार की उन्नति हो सकती है ? अतः मनुष्य समाज के लिये राज्य अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है। यूनानियों के समान रोम वालों के भी विचार थे। राज्य की स्थापना का आधार धर्म था। राजा धार्मिक त्यौहारों पर पुजारी का कार्य करता था। वह सबसे बड़ा धार्मिक नेता था। रोमन सम्राट् को देवता के तुल्य समझा जाता था।

आधुनिक काल में सभ्यता की इतनी उन्नति हो गई है और मनुष्यों के विचार इतने उन्नत हो गये हैं कि अब इस प्रकार के सिद्धान्तों में लोगों का विश्वास नहीं है। अब हम लोगों का विश्वास है कि राज्य की स्थापना मनुष्य कृत है ईश्वर कृत नहीं। राज्य के ईश्वर कृत होने का हमारे पास कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है, अतः यह सिद्धान्त निराधार है।

(२) शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य की आवश्यकता—प्राचीन काल के सोफी लोगों (Sophists) का विचार था कि शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य की आवश्यकता हुई। या तो ऐसा हुआ कि शक्तिशाली व्यक्तियों ने निर्बलों पर अन्याचार करने के लिये राज्य की स्थापना की या निर्बल व्यक्तियों ने शक्तिशाली लोगों के अत्याचार के भय से एक संगठन बनाया जिससे वे उनके अत्याचारों से अपनी रक्षा कर सकें। ईसाई धर्म के अनुयायियों ने धर्म की उन्नति करने के लिये राज्य में धर्म का प्रभुत्व स्थापित किया। धर्म को राज्य से अधिक श्रेष्ठ तथा उच्च घोषित किया और धर्मानुसार राज्य को चलाने पर जोर दिया। पोप ग्रेगरी सप्तम (Pope Gregor VII) ने सन् १०८० में घोषित किया कि धर्म से अनभिज्ञ राजाओं ने लोगों पर बड़ा अत्याचार किया है। आधुनिक काल के कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य का आधार शक्ति है। शक्ति के आधार पर ही राज्य की आवश्यकता हुई। स्पिनोजा (Spinoza) का विचार ऐसा ही था। एंजिल (Angel) और मार्क्स (Marx) का विश्वास है कि जनता का शोषण करने के लिये जातियों ने राज्य के रूप में

ना संगठन किया है अर्थात् राज्य की आवश्यकता का आधार जनसाधारण शोषण करना बतलाया है। नीत्शे (Nietzsche) का विचार है कि र्वोच्च पुरुष' (Superman) की स्थापना शक्ति सिद्धान्त के आधार र ही हुई है। स्पेन्सर (Spencer) का कथन है कि पाशविक शक्ति का योग करने के लिये राज्य की स्थापना की गई है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की क्षा करने के लिये इस पाशविक शक्ति का नष्ट करना आवश्यक है।

रूसो ने कहा है कि यदि डाकुओं का गिरोह वन में मिल जाय, उनके ाथ में पिस्तौल हो और मेरे हाथ में रुपयों की थैली हो तो भयवश स्वयं स थैली को डाकुओं को दे दूंगा। इस प्रकार शक्ति के भय से मनुष्य वभावतः कार्य करता है। राज्य की स्थापना शक्ति के कारण हुई है। राज्य की आवश्यकता इसलिये हुई कि शक्तिशाली लोग निर्बलों से लाभ उठायें। लॉस्की (Laski) का विचार है कि शक्ति सिद्धांत नैतिक सिद्धांत के विरुद्ध है। राज्य की आवश्यकता का आधार जन साधारण की इच्छा का आज्ञा-पालन करना है। जनसाधारण के हितों की रक्षा के लिये राज्य स्थापित करने की आवश्यकता हुई। यदि इस सिद्धांत के आधार पर राज्य की स्थापना नहीं है तो वह राज्य नहीं है। उस राज्य में नागरिक नहीं बल्कि दासों का समूह है ग्रीन (Green) का कथन है कि राज्य की आवश्यकता जनता के अधिकारों की रक्षा करने के लिये हुई।

(३) सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार राज्य की आवश्यकता—पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुसार राज्य स्थापित करने की आवश्यकता इसलिये हुई कि मनुष्य समाज में अराजकता फैली हुई थी। लोगों ने देखा कि किसी विधान तथा सर्वोच्च सत्ता की अनुपस्थिति में लोग एक दूसरे पर अत्याचार करते थे। शक्तिशाली निर्बलों पर अत्याचार करते थे। अपनी इच्छानुसार लोग किसी बात को अच्छा या बुरा समझते थे। न कोई नियम था और न कोई विधान। मनुष्यों को यह बताने के लिये कि कौन सी बात उचित है और कौन सी अनुचित, एक सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता हुई। लोगों ने अपनी इच्छा से शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए राज्य की स्थापना की। अतः राज्य की स्थापना मनुष्यों की स्वेच्छा से हुई है इसलिये राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है।

परन्तु इस प्रकार राज्य की आवश्यकता बतलाना निराधार प्रतीत होता है। हमें इतिहास में इस बात का प्रमाण कहीं नहीं मिलता है कि

का आदेश बताया गया है। यहूदी लोग अपने को ईश्वर का प्रिय समझते थे और उनका विचार था कि वे ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ चुने हुए लोग हैं। अपने राज्य को वे ईश्वर द्वारा रक्षित समझते थे और राज्य को एक धार्मिक संस्था समझते थे। यूनानी लोगों का भी यही विचार था धर्म के लिये राज्य की आवश्यकता है। प्लैटो और अरस्तू के विचार भिन्न थे उनके विचार से राज्य एक प्राकृतिक तथा आवश्यक संस्था थी। इनका विचार था कि मानव जीवन का आधार ही राज्य है। राज्य में रह कर ही मानव जीवन की सब प्रकार की उन्नति हो सकती है? अतः मनुष्य समाज के लिये राज्य अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है। यूनानियों के समान रोम वालों के भी विचार थे। राज्य की स्थापना का आधार धर्म था। राजा धार्मिक त्यौहारों पर पुजारी का कार्य करता था। वह सबसे बड़ा धार्मिक नेता था। रोमन सम्राट् को देवता के तुल्य समझा जाता था।

आधुनिक काल में सभ्यता की इतनी उन्नति हो गई है और मनुष्यों के विचार इतने उन्नत हो गये हैं कि अब इस प्रकार के सिद्धान्तों में लोगों का विश्वास नहीं है। अब हम लोगों का विश्वास है कि राज्य की स्थापना मनुष्य कृत है ईश्वर कृत नहीं। राज्य के ईश्वर कृत होने का हमारे पास कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है, अतः यह सिद्धान्त निराधार है।

(२) शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य की आवश्यकता—प्राचीन काल के सोफी लोगों (Sophists) का विचार था कि शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य की आवश्यकता हुई। या तो ऐसा हुआ कि शक्तिशाली व्यक्तियों ने निर्बलों पर अत्याचार करने के लिये राज्य की स्थापना की या निर्बल व्यक्तियों ने शक्तिशाली लोगों के अत्याचार के भय से एक संगठन बनाया जिससे वे उनके अत्याचारों से अपनी रक्षा कर सकें। ईसाई धर्म के अनुयायियों ने धर्म की उन्नति करने के लिये राज्य में धर्म का प्रभुत्व स्थापित किया। धर्म को राज्य से अधिक श्रेष्ठ तथा उच्च घोषित किया और धर्मानुसार राज्य को चलाने पर जोर दिया। पोप ग्रेगरी सप्तम (Pope Gregor VII) ने सन् १०८० में घोषित किया कि धर्म से अनभिज्ञ राजाओं ने लोगों पर बड़ा अत्याचार किया है। आधुनिक काल के कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य का आधार शक्ति है। शक्ति के आधार पर ही राज्य की आवश्यकता हुई। स्पिनोजा (Spinoza) का विचार ऐसा ही था। एंजिल (Angel) और मार्क्स (Marx) का विश्वास है कि जनता का शोषण करने के लिये जातियों ने राज्य के रूप में

अपना संगठन किया है अर्थात् राज्य की आवश्यकता का आधार जनसाधारण की शोषण करना बतलाया है। नीत्शे (Nietzsche) का विचार है कि 'सर्वोच्च पुरुष' (Superman) की स्थापना शक्ति सिद्धान्त के आधार पर ही हुई है। स्पेन्सर (Spencer) का कथन है कि पाशविक शक्ति का प्रयोग करने के लिये राज्य की स्थापना की गई है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये इस पाशविक शक्ति का नष्ट करना आवश्यक है।

रूसो ने कहा है कि यदि डाकुओं का गिरोह वन में मिल जाय, उनके हाथ में पिस्तौल हो और मेरे हाथ में रुपयों की थैली हो तो भयवश स्वयं उस थैली को डाकुओं को दे दूंगा। इस प्रकार शक्ति के भय से मनुष्य स्वभावतः कार्य करता है। राज्य की स्थापना शक्ति के कारण हुई है। राज्य की आवश्यकता इसलिये हुई कि शक्तिशाली लोग निर्बलों से लाभ उठायें। लॅस्की (Laski) का विचार है कि शक्ति सिद्धांत नैतिक सिद्धांत के विरुद्ध है। राज्य की आवश्यकता का आधार जन साधारण की इच्छा का आज्ञा-पालन करना है। जनसाधारण के हितों की रक्षा के लिये राज्य स्थापित करने की आवश्यकता हुई। यदि इस सिद्धांत के आधार पर राज्य की स्थापना नहीं है तो वह राज्य नहीं है। उस राज्य में नागरिक नहीं बल्कि दासों का समूह है ग्रीन (Green) का कथन है कि राज्य की आवश्यकता जनता के अधिकारों की रक्षा करने के लिये हुई।

(३) सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार राज्य की आवश्यकता—पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुसार राज्य स्थापित करने की आवश्यकता इसलिये हुई कि मनुष्य समाज में अराजकता फैली हुई थी। लोगों ने देखा कि किसी विधान तथा सर्वोच्च सत्ता की अनुपस्थिति में लोग एक दूसरे पर अत्याचार करते थे। शक्तिशाली निर्बलों पर अत्याचार करते थे। अपनी इच्छानुसार लोग किसी बात को अच्छा या बुरा समझते थे। न कोई नियम था और न कोई विधान। मनुष्यों को यह बताने के लिये कि कौन सी बात उचित है और कौन सी अनुचित, एक सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता हुई। लोगों ने अपनी इच्छा से शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए राज्य की स्थापना की। अतः राज्य की स्थापना मनुष्यों की स्वेच्छा से हुई है इसलिये राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है।

परन्तु इस प्रकार राज्य की आवश्यकता बतलाना निराधार प्रतीत होता है। हमें इतिहास में इस बात का प्रमाण कहीं नहीं मिलता है कि

अमुक काल में किसी ऐसे अनुवन्ध की स्थापना की गई हो। राज्य की आवश्यकता मनुष्य की सभ्यता के विकास के साथ हुई और जब मनुष्यों में राजनैतिक चेतना हुई तभी मनुष्य समाज राजनैतिक संगठन में परिवर्तित हो गया। वेद में एक स्थान पर आया है "सोदक्रामत सा गार्हपत्येन्थ क्रामत" अर्थात् प्रजा उत्क्रान्त हुई और गृहपतियों की स्थापना हुई। इसी प्रकार राजा, सभा तथा समितियों की उत्पत्ति का वर्णन वेदों में किया गया है। दूसरी बात यह है कि यदि राज्य की स्थापना लोगों की स्वेच्छा के अनुसार हुई है तो राज्य के प्रत्येक नियम और विधान का निर्माण प्रत्येक व्यक्ति की सम्मति के अनुसार होना चाहिये। बहुमत के अनुसार राज्य नहीं होना चाहिये, अल्पमत की सम्मति भी लेनी चाहिये परन्तु देखा यह जाता है कि शासन प्रबन्ध में अल्पमत वालों की नहीं सुनी जाती है। बहुमत वाले अल्पमत वालों पर शासन करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) जो कट्टर व्यक्तिवादी था उसका यही मत था कि राज्य को केवल वही कार्य करने चाहिये जिन्हें जनता न कर सकती हो अथवा जनता की शक्ति से बाहर हो और जिनको उन्होंने राज्य को सौंप दिया हो जैसे बाह्य शत्रुओं से रक्षा, आंतरिक शत्रुओं से रक्षा, भूमि का राष्ट्रीयकरण परन्तु उसने इस बात को भी अपने मत के विरुद्ध स्पष्ट किया है कि इन विषयों पर सब लोग एकमत नहीं हो सकते। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्त के अनुयायी देश की रक्षा के लिये भी युद्ध का विरोध करेंगे। अपराधी तथा आततायी लोग देश के भीतर शान्ति रखने के विरुद्ध रहेंगे जमींदार लोग भूमि के राष्ट्रीयकरण का विरोध करेंगे। स्पेन्सर के मतानुसार सर्वसम्मति से राज्य में कार्य होना असम्भव है। परन्तु हमारा विचार तो यह है कि जिस प्रकार एक रोगी मनुष्य की सम्मति उसके पथ्य के विषय में नहीं लेनी चाहिये उसी प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थों का विचार भी राज्य कार्यों मे नहीं करना चाहिये। वही कार्य जो सर्वहितकारी हैं राज्य को करने चाहिये। तीसरी बात यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक कार्य सर्वसम्मति से होना चाहिये और हो सकता है, तो हमारे विचार से आधुनिक काल में यह बात बिल्कुल असम्भव है। प्राचीन काल के यूनानी नगर राज्यों में ऐसा सम्भव हो सकता था। आजकल के राज्य इतने विस्तृत हैं कि प्रत्यक्ष जनतन्त्रता के सिद्धान्त के अनुसार शासन हो ही नहीं सकता। चौथी बात यह है कि सामाजिक अनुवन्ध के अनुसार राज्य की आवश्यकता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। बिना किसी नियम अथवा विधान के अनुवन्ध स्थापित नहीं हो सकता। राजनैतिक चेतना

होने पर ही लोगों के हृदय में अनुबन्ध का विचार आया होगा। सामाजिक सिद्धान्त के अनुयायियों का यह विचार कि पहले सामाजिक अनुबन्ध का विचार लोगों को हुआ और उसके पश्चात् राजनैतिक चेतना हुई और विधान बना यह बात युक्तिसंगत नहीं है।

(४) उपयोगितावाद के अनुसार राज्य की आवश्यकता—उपयोगितावादियों का मत है कि समाज के व्यक्तिगत हितों की रक्षा करने, व्यक्तियों और समुदायों के बीच सुचारु सम्बन्ध स्थापित करने, साहित्य, कला और विज्ञान आदि की उन्नति करने, तथा बाह्य और आंतरिक शत्रुओं से जनसाधारण की रक्षा करने और अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त कराने के लिये राज्य की आवश्यकता है। लैस्की ने अपनी पुस्तक "Introduction to Politics" में लिखा है कि राज्य स्थापना की आवश्यकता उन कार्यों तथा विधानों से प्रतीत होती है जो राज्य अथवा विधान द्वारा किये जाते हैं। राज्य का अनेक प्रकार के हितों के ऊपर अधिकार है। व्यक्तिगत, सामूहिक, प्रतियोगिता सम्बन्धी तथा सहकारी हितों के ऊपर भी उसका अधिकार है। यदि यह मत राज्य का ध्येय तथा प्रयोजन प्रजा को सन्तुष्ट करने का है तो उसे अधिक से अधिक सार्वजनिक हित के कार्य करने चाहिये। उसके सर्वहितकारी नियम ऐसे श्रेष्ठ होने चाहिये कि किसी वैकल्पिक योजना से उनका स्थान न लिया जा सके।

राज्य की आवश्यकता उपयोगिता के आधार पर समझना राज्य की तुलना अन्य सार्वजनिक-उपयोगिता सम्बन्धी संवासों के साथ करना है। राज्य इस प्रकार की साधारण कम्पनी (जैसी व्यापार आदि की होती हैं) नहीं है। राज्य एक उच्चतम संस्था है। बर्क (Burke) के शब्दों में राज्य "सब सद्गुणों में साझेदारी है।" राज्य का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति करना है। राज्य समाज की एक प्राथमिक नैतिक संस्था है। राज्य सांसारिक वस्तु नहीं यह एक महान् संस्था है जिससे मानव समाज का इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण होता है। उपयोगितावाद सिद्धान्त के अनुसार राज्य व्यक्तिगत कल्याण का केवल साधनमात्र है। वास्तव में ऐसा नहीं है, राज्य साधन भी है और स्वयं साध्य भी है। राज्य केवल वर्तमान काल के जीवित मनुष्यों के हित का ही साधन नहीं है, यह भावी सन्तानों के कल्याण का अनिवार्य ध्येय है। अतः राज्य की समाज के लिये प्राथमिक आवश्यकता है, और वह एक अनिवार्य संस्था है।

(५) मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार राज्य की आवश्यकता—अरस्तू ने

मनुष्य को "एक राजनैतिक प्राणी" कहा है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य में एक आन्तरिक प्रेरणा होती है जिसके अनुसार स्वभावतः मनुष्य मनुष्य की आज्ञा का पालन करता है। यही राजनैतिक अन्तर्बोध है। मनुष्य की प्रकृति में यह बात सम्मिलित है कि वह किसी दूसरे मनुष्य की आज्ञा का पालन करे।

यदि यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सत्य है तो राज्य की उत्पत्ति के विषय में जितने भी सिद्धान्त हैं सब नितान्त मिथ्या हो जाते हैं। ऐतिहासिक तथा विकास सिद्धान्त के लिये भी कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि मनोवैज्ञानिकों का मत सत्य है तो संसार के सब भागों में मनुष्य किसी न किसी प्रकार के राजनैतिक संगठन में बंधे हुये पाये जाने चाहियें, परन्तु ऐसा नहीं है। एस्किमो (Eskimoes) लोगों के इतिहास पर दृष्टि डालने से विदित होगा कि उनमें कभी राजनैतिक चेतना नहीं रही है। उनमें कभी राजनैतिक संगठन स्थापित नहीं हुआ और न है। इसके अतिरिक्त यह विश्वास भी निर्मूल है कि राज्य मनुष्यों की आन्तरिक प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है। मनोविज्ञान हमको यह नहीं बतलाता कि शासन का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से क्या सम्बन्ध है। मनोविज्ञान के अनुसार राज्य की आवश्यकता का आधार मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।

(६) **आदर्शवाद के अनुसार राज्य की आवश्यकता**—आदर्शवादियों के मतानुसार राज्य हमारी स्वार्थ-रहित पवित्र इच्छाओं की अभिव्यक्ति है। राज्य की आज्ञा पालन करने में हम अपनी ही पवित्र इच्छाओं की आज्ञा पालन करते हैं। राज्य और व्यक्तिगत ध्येय भिन्न नहीं हैं एक ही हैं। हेगिल के शब्दों में राज्य स्वतन्त्रता का वास्तविक स्वरूप है। इन लोगों के विचार से राज्य हमारे आन्तरिक श्रेष्ठतम भाव व्यक्त होकर राज्य का रूप धारण करते हैं हमारी वैयक्तिक उन्नति तथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य परम आवश्यक संस्था है। राज्य में ही मनुष्य उच्च से उच्च आदर्श को प्राप्त कर सकता है जिस प्रकार मनुष्य के चित्त में उच्च वृत्तियाँ नीच वृत्तियों को दबाकर उसे श्रेय मार्ग पर बढ़ने में सहायता देती हैं वैसे ही राज्य, जो उन उच्च वृत्तियों की समष्टि है, व्यक्तियों को कल्याणकारी पथ पर अग्रसर करता है। राज्य एक नैतिक संस्था है जिसके द्वारा ही नैतिक जीवन सम्भव है। राज्य में रहकर ही मनुष्य स्वतन्त्रता पूर्वक सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है। राज्य ही मनुष्य के व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करता है। ग्रीन इस बात का समर्थन करता है कि राज्य की आज्ञा का पालन करना

मनुष्यमात्र का धर्म है। उसके विचार से नैतिक और राजनैतिक पराधीनता का एक ही स्रोत है। और वह है हमारी सद-सद विवेक बुद्धि राज्य के विधान का उद्देश्य सर्व साधारण की भलाई है। सर्व साधारण की भलाई में व्यक्तिगत भलाई है।

आदर्शवाद सिद्धान्त के विरोधियों का विचार है कि राज्य की स्थापना शक्ति के आधार पर हुई है और कालान्तर में मनुष्यों को राज्य की आज्ञा पालन करते करते ऐसा करने का स्वभाव होगया है। सम्भव है राज्य की स्थापना शक्ति और भय के आधार पर हुई हो परन्तु यह निश्चित है कि इनका परिणाम अच्छा हुआ है और इसमें निःस्वार्थता का तत्व भी दिखाई देता है। राज्य एक सर्वोच्च सत्ता है जो निःस्वार्थता के आधार पर जनसाधारण की भलाई का कार्य करती है। यह सत्ता लिखित अथवा प्राथत्मक विधानों के रूप में समाज पर शासन करती है। वास्तव में सर्व-साधारण की इच्छा ही शासन रूप में प्रकट होती है। जनतन्त्र राज्यों में यही इच्छा शासक है। जब तक देश अथवा राज्य में शान्ति और व्यवस्था है तब तक वास्तव में सर्वसाधारण की इच्छा विद्यमान दिखाई पड़ती है। इसके विपरीत दशा में सर्वसाधारण की इच्छा का ह्रास हो जाता है और राज्य में स्वार्थपरायणता आजाती है।

(७) अराजकतावाद के अनुसार राज्य की आवश्यकता—अराज-कतावादियों (Anarchists) के मतानुसार राज्य की आवश्यकता ही नहीं है, इससे मनुष्य का कोई युक्तिमूलक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। मनुष्यमात्र की उन्नति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि जितनी जल्दी हो सके राज्य का अन्त कर दिया जाय। क्रान्तिकारी अराजकतावादियों का तो यह विचार है कि हिंसात्मक उपायों द्वारा वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्त कर देना चाहिये। इनके अतिरिक्त टॉल्स्टॉय (Tolstoy) जैसे दार्शनिक अराज-कतावादी भी हैं जिनका विचार है मनुष्यों की नैतिक व आध्यामिक उन्नति में राज्य का अधिकार विघ्नकारी है। राज्य से मनुष्य की नैतिकता का ह्रास होता है। मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की आवश्य-कता है। राज्य पशुबल का प्रयोग करके मनुष्यों को भ्रष्ट, अनैतिक तथा दुराचारी बनाता है। शासन व्यर्थ और अनिष्टकारी है। राज्य का अस्तित्व केवल स्वेच्छाकृत संगठन के रूप में ही उचित है अन्यथा नहीं। विधान का प्रयोग सुझाव अथवा परामर्श के रूप में होना चाहिये। शासन का आधार प्रेम ोना चाहिये, शक्ति नहीं। मनुष्यमात्र को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि

सत्य बोलना, और भलाई करना उसका स्वभाव बन जाय। ये गुण उसकी प्रकृति में घुल मिलकर उसका अङ्ग बन जायें। निर्विघ्न व्यक्तिगत स्वराज्य ही सर्वश्रेष्ठ शासन है।

दार्शनिक अराजकतावादियों का राज्य के विषय में यह विचार उतोपीयन (Utopean) अर्थात् स्वप्नदर्शी प्रतीत होता है। राज्य सदैव-ही मनुष्य के नैतिक पतन का कारण नहीं होता। प्राचीनकाल के हिन्दू राज्य में मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति पर ध्यान दिया जाता था। प्राचीन काल में बड़े बड़े ऋषि, मुनि, विद्वान्, वैज्ञानिक, दार्शनिक और महात्मा हुए हैं। ये सब मनुष्य समाज की राजनैतिक व्यवस्था में हुये हैं, राज्य में ही हुए हैं, अराजकता की दशा में नहीं हुये हैं। अतः हम दार्शनिक अराजकतावादियों के सिद्धान्त से सहमत नहीं हो सकते। यदि राज्य में मानव समाज की इस प्रकार की उन्नति नहीं होती है तो समझना चाहिये कि वास्तव में राज्य की शासन प्रणाली दूषित है। उसके दोष को दूर करना चाहिये। आधुनिक काल में तो संसार के प्रत्येक भाग में अधिकतर प्रजातन्त्र राज्य हैं। जनसाधारण अपनी इच्छानुसार अपने कल्याण के लिये जैसे विधान चाहें बना सकते हैं। एक आदर्श जनतन्त्र राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को वहां तक पूर्ण स्वतन्त्रता है जहां तक वह दूसरे के हितों का घातक नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति करने और इहलोक व परलोक के कल्याण के लिये स्वेच्छापूर्वक कार्य करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र होता है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अवसर प्राप्त हो वास्तव में वही एक आदर्श राज्य है। राज्य में रहकर ही मनुष्य सब प्रकार की उन्नति कर सकता है, राज्य से पृथक् होकर नहीं।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

गिलक्रिस्ट आर० ऐन०—*प्रिंसिपिल्स आफ़ पौलीटिकल साइन्स*

गैटिल आर० ऐम०—*इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइन्स*

गार्नर जे० डब्ल्यू—*पौलीटिकल साइन्स ऐन्ड गवर्नमेंट*

विल्डे० ऐन०— *ऐथीकल बेसिस आफ़ दी स्टेट*

विल्सन० डब्ल्यू०—*स्टेट*

डोले—*डेवलपमेन्ट आफ़ दी स्टेट*

कौटिल्य—*अर्थशास्त्र*

सरकार० बी० के०—*पोलीटिकल इन्स्टीट्यूशन्स ऐन्ड थ्योरी आफ़ दी हिन्डूज़*

श्री वेंकटेश प्रेस—*शुक्रनीतिसार*

वंगवासी प्रेस, कलकत्ता—*महाभारत (शान्तिपर्व)*

वणिक् प्रेस, कलकत्ता—*मनुस्मृति*

अध्याय ६

राज्य के रूप

राज्य का वर्गीकरण करना सुगम कार्य नहीं है। जनसंख्या, भूमि, शासन और सर्वोच्च सत्ता का होना सभी राष्ट्रों में आवश्यक है। जनसंख्या तथा भूमि के विचार से राष्ट्रों का वर्गीकरण सम्भव है परन्तु राजशास्त्र में इसका महत्व नहीं है। राजशास्त्र नगर-राज्य जाति-राज्य तथा सार्वभौम-राज्य का वर्णन भी है। राज्य के रूप तथा विस्तार का उनकी शक्ति के साथ विशेष सम्बन्ध है। सिद्धान्त में चाहे सभी राज्य समान हों परन्तु वास्तव में वे समान नहीं होते। बड़े राज्यों की शक्ति छोटे राज्यों से कहीं अधिक होती है। यही एक बात राज्यों में समता सिद्धान्त का लोप करती है। एकता के आधार पर राज्य का वर्गीकरण नहीं हो सकता। सभी राज्यों में एकता का होना आवश्यक है संगठन एक ऐसी वस्तु है जिसमें राज्यों में परस्पर भेद दिखाई देता है। जितने भी राज्य हैं उतने ही प्रकार के उनके संगठन हैं। राज्य के रूप का प्राचीन काल में भी वर्गीकरण किया गया था, परन्तु वह वर्गीकरण अति सरल था। ज्यों ज्यों सभ्यता की उन्नति और साथ साथ राजनैतिक चेतना की अधिकाधिक वृद्धि होती गई त्यों त्यों राज्यों का वर्गीकरण जटिल होता गया। अति प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के राज्य के भिन्न भिन्न रूपों का हम यहाँ विस्तृत वर्णन करेंगें।

अति प्राचीन काल में राज्य के रूप—वैदिक तथा हिन्दू काल के राज्यों के रूप समझने के लिये पहले यह आवश्यक है कि कुछ शब्दों के निश्चित अर्थ ज्ञात कर लिये जायँ। समूह, संघ,गण,ग्राम,पौर, जानपद, श्रेणी, नैगम, श्रेष्ठि और कुछ शब्दों के निश्चित अर्थ जान लेना आवश्यक है। समूह का अर्थ वृन्द अथवा दल है। दल नियन्त्रित होता था। इसे एक संस्था का रूप प्राप्त था। समूह अनेक प्रकार के थे और उनके भिन्न भिन्न नाम थे। जैनों और बौद्धों के समूह संघ कहे जाते थे, वैश्यों के समूह पूग कहे जाते थे। कुलों के

समूह का नाम गण और पुरवासियों के समूह का नाम पौर था। * इसी प्रकार ग्राम और नगर भी समूहों के ही नाम थे। जनपद की संस्था जानपद कहाती थी। नैगम व्यापारियों की सभा थी। श्रेणी उन कारीगरों की संस्था थी जो एक ही प्रकार की वस्तुयें बनाते और बेचते थे। श्रेष्ठि नगरसेठ होता था। कदाचित् पौरका अध्यक्ष होने के कारण उसका नाम श्रेष्ठि था।

अति प्राचीन काल में जिन राज्यों में राजा नहीं होता था उन्हें राज्य कहते थे। संघ दो प्रकार के होते थे—एक कुल-संघ, दूसरे गण-संघ। कुल-संघ में कुल के और गण-संघ में कुलों के लोग होते थे। कुल संघ में उस कुल का वृद्ध पुरुष उनका राजा होता था। भारत, वैदेह, पञ्चाल आदि ऐसे ही कुल राज्य थे। महाभारत के समय तक अर्थात् ईसा से ७०० वर्ष पूर्व तक भारत में कुल-राज्य अधिक थे, कालान्तर में कुल-राज्यों के मिल जाने से साम्राज्यों की स्थापना हुई। पहले कुलों का समूह गण कहाता था। कालान्तर में अराजक राज्य के लिये गण शब्द का प्रयोग होने लगा। 'अवदान शतक' नामक बौद्ध ग्रन्थ से पता चलता है कि जब उत्तर के व्यापारी दक्षिण गये, तब दक्षिण के राजा ने उनसे प्रश्न किया कि उत्तर में राजा कौन है? उन्होंने उत्तर दिया कि कुछ देश गणाधीन और कुछ राजाधीन है। महाभारत में गण राज्य सभातन्त्र राज्य के अर्थ में प्रयोग हुआ है। अमरकोश में गण का अर्थ सहवासियों की सभा बताया गया है। पाणिनि ने भी संघ को गण अर्थवाची बताया है। परन्तु गण कुलों से बड़ा होता है तथा दो अथवा दो से अधिक कुलों के मिलने से बनता है, जैसे अन्धकवृष्णी संघ अन्धकों और वृष्णियों का था। वृष्णियों में राजा नहीं था। इसका पता महाभारत के सभापर्व के ५ वें अध्याय से चलता है। उनका संघ राज्य था। यह कौटिल्य की इस बात से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में द्वैपायन को असन्तुष्ट करने के कारण वृष्णि संघ का नाश हुआ था। ‡ महाभारत से पता चलता है कि अन्धक-वृष्णि संघ में दो दल थे।

---

* आर्हत सौगतानां तु समूहः सङ्घ उच्यते। कात्यायन विवाद रत्नाकर पृष्ठ ६६६

समूहः वाणिजादीनां पूगः परिकीर्त्तितः। विवाद रत्नाकर ६६६

कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्प्रकीर्त्तितः। वीरमित्रोदय पृ० ४२६

पौरः पुरवासिनां समूहः। वीरमित्रोदय पृ० ११

‡ हर्षाद्वातापिरगस्त्यमत्यासादयन् वृष्णिसङ्घश्च द्वैपायनमिति ॥ १३ ॥

अधि० : १ प्र० ६

वृष्णि संघ में दो दल थे। वृष्णियों का नेता आहुक और अन्धकों का अक्रूर था तथा वभ्रु, उग्रसेन और श्रीकृष्ण दोनो निर्वाचित संघ-मुख्य थे। पाणिनि और महाभारतकार दोनों ने गणों की चर्चा की है। महाभारत में लिखा है कि उत्सव-संकेत आदि सात पर्वतवासी दस्यु गणों को पाण्डव अर्जुन ने जीता। * अजातशत्रु की मृत्यु के २०० वर्ष पश्चात् कौटिल्य ने लिच्छवी, वृजी, मद्र, कुकर, कुरु, पाञ्चाल को राजशब्दोपजीवी के नाम से प्रसिद्ध बताया है। † इससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के आरंभ में भी उक्त जातियों के संघ थे। यूनानियों के लिखे हुए भारत-सम्बन्धी वर्णनों से पता चलता है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व और आक्रमण पश्चात् भी भारत में अनेक गणराज्य थे। मेगस्थनीज़ (Megasthenese) और एरियन (Arrian) † ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि 'भारत के लोग डायनिसस से सैन्ड्रकोटस (चन्द्रगुप्त) तक १५३ राजाओं और ६०४२ वर्षों का समय मानते हैं, पर इसी बीच में ३ बार प्रजातन्त्र स्थापित हुआ था।......दूसरी बार ३०० वर्षों तक और एक बार १२० वर्षों तक रहा था। भारतवासी कहते हैं कि डायनिसस (दक्ष) हिरेकेल्स से १५ पीढ़ी पहले हुआ था।' (हिरेकेल्स=हरिकुलेश=कृष्ण)। यदि २५ वर्षों की एक पीढ़ी मान ली जाय तो दक्ष से ३५५ वर्ष पश्चात् श्रीकृष्ण हुए थे। दक्ष के ४०० वर्ष पश्चात् श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण द्वापर के अन्त में हुये थे। चन्द्रगुप्त कलि सम्वत् २७८० में हुआ था। अतः दक्ष से चन्द्रगुप्त तक ३२०० वर्ष होते हैं। कलि सम्वत् ईसा से ३१०२ वर्ष पूर्व प्रचलित हुआ था। चन्द्रगुप्त के अभिषेक का समय ईसा से ३२० वर्ष पूर्व माना जाता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त तक २८०० वर्ष ही होते हैं। यूनानी लेखकों की गणना में कुछ भूल अवश्य है। इस गणना में चाहे भूल हो परन्तु इससे विदित होता है कि उस समय यहां प्रजातन्त्र राज्य अवश्य थे।

अध्यापक विनयकुमार सरकार ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि गणतन्त्रों वा प्रजातन्त्रों के तीन युग थे। एक ईसा से ६०० से ४५० वर्ष पूर्व, दूसरा ईसा से ३५० से ३०० वर्ष पूर्व और तीसरा ईसा से १५० वर्ष पूर्व से ईस्वी सन् ३५० तक। पहले युग में ११ गण वा संघ राज्य थे—

---

* गणन् उत्सव संकेतान् दस्यून् पर्वत वासिनः। अजयतसप्त पाण्डवः।
शान्तिपर्व अ० १०७

† प्राचीन भारत जैसा मेगस्थनीज और एरियन ने वर्णन किया। पृष्ठ २०

(१) सुमसुमर पहाड़ के भाग, (२) अल्लकप्पा के वुली, (३) केशपुत्त के कालाम, (४) पिप्पलीवन के मोरिया (मौर्य), (५) राम ग्राम के कोलिया, (६) कुशीनगर के मल्ल, (७) पावा के मल्ल, (८) काशी के मल्ल (९) कपिलवस्तु के शाक्य, (१०) मिथिला के विदेह और (११) विशाली के लिच्छवी। लिच्छवी, शाक्य, विदेह मल्ल आदि आठ जातियों का संयुक्त संघ वृजिक वा वज्जी संघ कहाता था। इसकी राजधानी वैशाली थी, जो अब मुज़फ्फरपुर ज़िले में बसाढ़ नामक ग्राम है। दूसरे युग के गणों में उन्होंने पटल, अराट, मालव-क्षुद्रक, सम्बष्टई, आगलस्सोई और निसाई संघों का वर्णन किया है। तीसरे युग के गणों में यौधेय, मालव, कुनिन्द और वृष्णि संघ बताये हैं। यौधेयों का प्रभुत्व पंजाब की सतलज नदी के दोनों किनारों पर था, परन्तु प्रभाव यमुना के पूर्वी किनारे और राजपूताने के कुछ भागों पर भी था। मालव, चम्बल और बेतवा नदियों के बीच में रहते थे। इनके पश्चिम में सिवी लोग थे। यौधेयों के पूर्व कुनिन्द लोग रहते थे। वृष्णी तो यादवों की शाखामात्र थे, जिनके नेता श्रीकृष्ण थे। दूसरे युग में अराट बहुत प्रसिद्ध थे और ये पंजाब में रहते थे। इन्होंने चन्द्रगुप्त की बड़ी सहायता की थी। प्रथम युग के गणों में शाक्य संघ बहुत प्रसिद्ध था क्योंकि गौतम बुद्ध ने शाक्य वंश में ही जन्म लिया था। प्रथम युग के संघ प्रायः सब व्रात्य क्षत्रियों के थे। गौतमबुद्ध कपिलवस्तु के शाक्य संघ के मुखिया शुद्धोदन के पुत्र थे। ये गणपति वा राष्ट्रपति थे और राजा कहाते थे। शाक्यों की संख्या १० लाख थी। उनका राज्य पूर्व से पश्चिम तक ५० मील लम्बा और हिमालय की तराई से ३०—४० मील चौड़ा था। राज-कपिलवस्तु में उनका सैन्थागार था, जहां राजकाज होता था।

इन सङ्घों का संगठन बौद्ध सङ्घ के संगठन के आधार पर था। 'महापरिनिब्बाण सुतन्त' से ज्ञात होता है कि लिच्छवी संघ की प्रशंसा करके बुद्ध ने राजगृह के प्रार्थना मन्दिर में उस नगर के पास के सब बौद्धों को एकत्रित करके समझाया था कि जिन गुणों की हमने प्रशंसा की है वे योग क्षेम की अभिलाषा रखनेवाले प्रत्येक संगठित संघ के लिये अनिवार्य हैं। विनयपिटक के 'पातिमोक्ख' के प्रकरण में उपसम्पदा संस्कार का जो वर्णन है, उससे लिच्छवी संघ के संगठन का कुछ पता चलता है। बौद्ध संघ में पहले एक कर्मचारी निर्वाचित किया जाता था, जो 'आसनप्रज्ञापक' कहलाता था। सबको यथास्थान बैठाना इसका काम था। लिच्छवी सङ्घ में भी बड़े बूढ़ों की प्रतिष्ठा की जाती थी, इसीलिये वहां भी आसन प्रज्ञापक की नियुक्ति

होती होगी। सब लोगों के यथास्थान बैठ जाने पर जिसे जो प्रस्ताव करना होता था, वह इसकी सूचना देता था। यह सूचना 'नत्ति' (ज्ञप्ति) कहलाती थी। नत्ति के उपरान्त प्रस्तावक उपस्थित भिक्खुओं से पूछता था, 'क्या आप प्रस्ताव पसन्द करते हैं'? यह प्रश्न एक वा तीन बार किया जाता था। एक बार का प्रश्न 'नत्ति दुतीय कम्म' (ज्ञप्ति द्वितीय कर्म) और तीन बार का नत्ति चतुत्थ कम्म' (ज्ञप्ति चतुर्थ कर्म) कहाता था। बुद्धदेव ने नत्ति का प्रकार भी बताया था। वह एक विद्वान् योग्य भिक्खु संघ के सामने निम्नलिखित घोषणा करे—'आदरणीय सज्जनो, संघ सुने। यह पुरुष देवदत्त पूजनीय यज्ञदत्त से (अर्थात् पूजनीय यज्ञदत्त को उपाध्याय बनाकर) उपसम्पदा लेना चाहता है। यदि संघ प्रस्तुत हो तो वह देवदत्त को यज्ञदत्त से उपज्झाय (उपाध्याय) रूप से उप सम्पदा दिलादे, यही नत्ति है'। आदरणीय सज्जनो संघ सुने। यह पुरुष देवदत्त पूजनीय यज्ञदत्त से उपसम्पदा लेना चाहता है। संघ देवदत्त को यज्ञदत्त उपज्झाय से उपसम्पदा मिलने के पक्ष में हो, वह मौन रहे और जो पक्ष में न हो, वह बोले'। दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार सूचना देकर अन्त में कहे, 'देवदत्त ने संघ से यज्ञदत्त उपज्झाय द्वारा उपसम्पदा प्राप्त की है। संघ इसके पक्ष में है, इसलिये वह मौन है यह मैं समझता हूँ।'

वादग्रस्त विषयों में सभाभवन में बड़े झगड़े होते थे और इनका निर्णय करने के लिये उभयपक्ष के मत लिये जाते थे। मतदाताओं को वोटिंग पेपर के स्थान पर लकड़ी की रंगी हुई शलाका दी जाती थी और शलाकासंग्रह करने के लिये एक सच्चा निरपेक्ष मनुष्य समस्त संघ द्वारा चुना जाता था। यह 'शलाकागाहक' (शलाकाग्राहक) कहाता था। शलाका गाहक में जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती थी, वे बुद्धदेव के मतानुसार ये थे—वह (१) निरपेक्ष हो, (२) द्वेपरहित हो, (३) मूर्ख न हो, (४) भीत न हो और (५) जानता हो कि कौन मत लिये गये हैं और कौन नहीं।' संघ के अनुपस्थित सदस्य का मत भी लिया जाता था। इस प्रकार के मत को ग्रहण 'खण्ड' कहते थे। मतसंग्रह करने की तीन रीतियां बुद्ध ने बतायी थीं। एक गुप्त, दूसरी कानाफ़ूसी की, और तीसरी खुलम-खुल्ला। गुप्त रीति से मत देने में मतदाता जब मत संग्राहक के पास जाता था, तब वह भिन्न-भिन्न रंगों की शलाकायें दिखाकर बताता था कि 'अमुक मत के मनुष्य के लिये यह शलाका है और अमुक के लिये वह, आप जो चाहें ले लें।' जब वह था, तब उससे ले लेता कहा जाता था कि इसे किसी को न दिखाना। कोरम की व्यवस्था भी थी, कोरम को देखने वाला 'गणपूरक' कहाता था।

उस समय कुल-संघ और गण-संघों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के राज्य भी थे। शुक्रनीतिसार के अनुसार भूसम्पत्ति, अधिकार तथा शक्ति के आधार पर राजा, सामन्त, माण्डलिक स्वराट् सम्राट् विराट् अथवा सार्वभौम आदि उपाधियों से विभूषित होता था। सामन्त और माण्डलिक तो राजा के आधीन होते थे। सामन्त छोटा होता था और माण्डलिक बड़ा। सामन्त राजा के अधीन होता था। माण्डलिक के अधीन कोई नहीं होता था। सम्राट् चक्रवर्ती अथवा माण्डलेश्वर कहलाता था। एक लाख से तीन लाख की आय वाला और सौ ग्रामों पर प्रभुत्व रखने वाला सामन्त कहाता था। चार से छः लाख तक वाला माण्डलिक, दस से बीस लाख तक वाला राजा, बीस से पचास लाख तक वाला महाराजा, पचास लाख से एक करोड तक वाला सम्राट् और ५० करोड़ वाला विराट् कहाता था। सप्तद्वीपा वसुन्धरा का अधिपति सार्वभौम कहाता था। सौ ग्रामों का अधिकारी अनुसामन्त, दस ग्रामों का नायक और १० हज़ार ग्रामों का आशापाल कहाता था। जिस एक कोस के भूभाग में राजा का भाग एक हज़ार रुपये हो. वह ग्राम कहाता था। ग्राम का आधा पल्ली, पल्ली का आधा कुम्भ कहाता था।* ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक की प्रतिज्ञा से जाना जाता है कि राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, महाराज्य, पारमेष्ठ्य, आधिपत्य और सार्वभौमत्व विविध प्रकार के राज्य थे। शुक्लयजुर्वेद में पांच मंत्र हैं, जिनसे पता चलता है कि इष्टका पूर्व दिशा की राज्ञी है जहां वसु देवता अधिपति हैं। दक्षिण दिशा में विराट् है, जहां रुद्र देवता अधिपति हैं। पश्चिम दिशा में सम्राट् है, जहां आदित्य देवता अधिपति हैं। तथा ऊर्ध्व दिशा में अधिपत्नी है जहां विश्वेदेवा देवता अधिपति हैं।† इससे ज्ञात होता है कि पूर्व के राजा, राजा; पश्चिम के सम्राट्, उत्तर के स्वराट् और उर्द्ध के अधिपति होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण से पता चलता है कि पूर्व के देशों के राजाओं का अभिषेक साम्राज्य के लिये दक्षिण देश के राजाओं का भौज्य के लिये, हिमालय के उत्तर के उत्तरकुरु और उत्तर मद्र के राजाओं का वैराज्य के लिये तथा मध्य देश के कुरु पांचाल और उशीनर के राजाओं का अभिषेक राज्य के लिये होता

---

* देखो शुक्रनीतिसार श्लोक १८२ से १८६ तक और १९० से १९२ तक—अ० १।

† देखो मंत्र १० से १४ तक।

था ।* अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि प्रजापति राजसूर्य यज्ञ करके राजा, वाजपेय करके सम्राट् अश्वमेध करके विराट्, पुरुषमेध करके स्वराट् और सर्वमेध करके सर्वराट् हुआ । सायणाचार्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की इन पदवियों के विषय में कहा है कि कोश का आधिपत्य राज्य, धर्म से पालित साम्राज्य, अपराधीनत्व स्वराज्य, अन्य राजाओं से वैशिष्ठ्य वराज्य है ।

महाभारत के समय में विदर्भ (बरार) के राजा कुन्तिभोज कहाते थे । मालवा की धारा नगरी के राजा भी भोज कहलाते थ । इससे यह सिद्ध होता है कि भोज दक्षिण देश के राजाओं की उपाधि थी और राज्य भोज्य कहाता था । कच्छ के पास भुज है वहां का राजा भी भोज कहाता होगा, अब उसका नाव भुज रह गया है । पश्चिम में सौराष्ट्र है । यही पहले सुराष्ट्र या स्वराट् कहलाता होगा जो अब बिगड़कर सुराट् व सूरत बन गया है । स्वराट् का अर्थ स्वयं शासन करनेवाला है यह वहां के राजा की पदवी थी, राज्य स्वराज्य कहाता था । स्वराज्य के विषय में ऋग्वेद में एक मंत्र है जिसका अर्थ है 'हे मित्रों, जिनकी दृष्टि विशाल हुई है तुम और हम सब विद्वान् मिलकर अनेकों की सहायता से पालन होने वाले स्वराज्य में भली भांति यत्न करें । † एक मन्त्र अथर्ववेद में भी आया है जिसका अर्थ है जो अज या वेता पहले उत्पन्न हुआ, उसी ने उस स्वराज्य को प्राप्त किया जिससे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है । ‡ इन दोनों मन्त्रों से पता चलता है कि स्वराज्य पद्धति के लिये बहुत कुशल मनुष्यों की अपेक्षा होती है जिनकी दृष्टि विशाल हुई हो । स्वराज्य शासन पद्धति से बढ़कर कोई पद्धति नहीं है । हिमालय पार के उत्तर कुरु और उत्तर मद्र राज्य वैराज्य कहाते थे । कदाचित् नैपाल का विराट नगर इनमें से किसी की राजधानी हो और यहीं से मत्स्य देश के विराट् राजा गये हों । हिमालय की तराई और उत्तर विराट् के संघ राज्यों के रूप जो वैराज्य थे, वे विराट् (बिना राजा के) थे, अतः

---

* देखो ऐतरेय ब्राह्मण ८ । १४ । २ । ३

† आयद वार्मीच चक्षसा मित्रं वयं मूरयः ।
व्यचिष्ठे वहुपाय्ये यते महि स्वराज्ये ॥८।६६।६॥

‡ यदजः प्रथमं संबभूव ।
सहतत् स्वराज्यमियाय ।
यस्मान्नान्यत् परमास्ति भूतम् ॥१०।७।३१॥

जिन राज्यों में राजा न हों वे ही वैराज्य थे। वैराज्य में जातियों को राज-शब्दोपजीवी कहा है। उसका अभिप्राय यही है कि उनमें सभी राजा कहाते थे। बौद्ध ग्रंथ महावत्यु (महावस्तु) में कहा गया है कि वैशाली में ८४ हजार से दूने राजा रहते थे अर्थात् वैशाली सभी लिच्छवी थे। एकपण्ण जातक में वैशाली के ७.७०७ राजाओं का वर्णन है। जयसवाल जी ने अपने ग्रन्थ * में पाणिनि के आधार पर मद्र, वृजी, राजन्य, अन्धक-वृष्णी और महाराज इन छः जातियों के संघ बताये हैं।

कौटिल्य के मत से सार्वभौम राजा के राज्य की सीमा हिमालय से कन्या-कुमारी तक थी। † उसने वैराज्य के साथ द्वैराज्य का भी वर्णन किया है। उसके मत से वैराज्य वह है जिसका कोई राजा हो और द्वैराज्य वह है जिसमें दो राजा हों। पूर्वाचार्यों के मतानुसार द्वैराज्य से वैराज्य अच्छा होता है। द्वैराज्य दोनों पक्षों के द्वेष से नष्ट हो जाता है। वैज्य प्रजा के विचारों के अनुसार चलने से भोगा जा सकता है। इसके विपरीत कौटिल्य का मत है कि द्वैराज्य पिता और पुत्र अथवा दो भाइयों का ही हो सकता है और उनका योगक्षेम समान ही होता है। इसलिये मन्त्रियों द्वारा दोनों का झगड़ा निबटाया जा सकता है। परन्तु वैराज्य में जीवित शत्रु का उच्छेदन करके भी कोई उसे अपना नहीं मानता, राजनैतिक संस्था का भाव ही नहीं रहता, चाहे जो देश को बेच सकता है। कोई अपने को उत्तरदायी नहींमानता और विरक्त होकर राज्य से चला जाता है। ‡ जैन आचारांग सूत्र में दो रज्जाणि (द्वैराज्य), और वैरज्जणि (वैराज्य) वा विरुद्ध रज्जाणि के अति-रिक्त अरायाणि (अराजक राज्य) गणरायाणि (गणराज्य), जुवरायाणि

---

* 'हिन्दू पालिटी' भाग १ पृ० ३९।

† देशः पृथिवी ॥ १७ ॥ तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदी चनं योजन सहस्त्र-परिमाणंतिर्यक् चक्रवर्त्तिक्षेत्रम् ॥१८॥ अधि० ९ अ० १ ॥

‡ द्वैराज्यवैराज्ययोर्द्वैराज्यमन्यपक्षे द्वेषानुराभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विन-श्यति ॥६॥वैराज्यन्तु प्रकृतिचित्त ग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत-इत्याचार्याः ॥७॥ नेति कौटिल्यः ॥८॥ पितापुत्रयोर्भ्रात्रोर्वा द्वैराज्यं तुल्य योगक्षेम मामत्यवग्रह वर्त्तयेतित ॥९॥ वैराज्ये तु जीविः परस्याच्छिद्य नैतन्ममेति मन्यमानः कर्षयत्यपवाहयति ॥१०॥ पण्यं वा करोति ॥११॥ विरक्तं वा परित्यज्यापगच्छतीति ॥१२॥ अधि० ८ अ० २।

(यौवराज्य) का भी वर्णन है। * उग्रकुल, भोजकुल, राजकुल, क्षत्रिकुल और इक्ष्वाकुल के नाम भी पाये जाते हैं। अराजक राज्य का वर्णन महाभारत में भी है। वहां वह मात्स्यन्याय रूप में दिखाया गया है। वास्तव में जब लोग मेल से न रहकर बली दुर्बल को पीड़ित करने लगे तब मात्स्य न्याय उत्पन्न होगया और फिर राज्य की स्थापना की गई। द्वैराज्य शासन पद्धति किसी समय अवन्ती में थी जहां बिन्दु और अनुबिन्दु राज्य करते थे। इन्हें दिग्विजय करते हुए सहदेव ने हराया था। † छठी और सातवीं शताब्दी ईस्वी में नैपाल में भी ऐसी शासन पद्धति थी। काठमांडू में लिच्छवी और ठाकुरी वंशों के लेख भी मिले हैं। ये एक राजधानी के दो स्थानों से प्रचारित आज्ञाएँ हैं, जिनकी तिथियों से ज्ञात होता है कि दोनों घरानों ने एक साथ शासन किया था। दोनो घरानों में कोई रक्त सम्बन्ध न था, फिर भी दोनों एक ही राज्य के राजा थे। यौवराज्य वह शासन पद्धति है जिसमें राजा अभिषिक्त होने से पूर्व युवराज रूप से शासन करता था। खारवेल ने ऐसे ही युवराज रूप से शासन किया था और राज्य 'यौवराजम् प्रसाशितम्' था। विरुद्ध राज्य का अर्थ वह शासन पद्धति है जिसमें बारी बारी से दलों का शासन होता था। ऐसा राज्य अन्धकवृष्णी संघ का था।

जिन जिन पदवियों का ऊपर वर्णन किया गया है वह राजाओं की केवल पदवियां ही न थीं, उन पदवियों में राज्यपद्धति का वैशिष्ट्य भी था। राज्य एकतन्त्री शासन, स्वराज्य प्रतिनिधिक शासन, साम्राज्य अधीन राजाओं पर शासन, वैराज्य प्रजातन्त्र शासन, पारमेष्ठ्य कुलपति-प्रभुत्वमूलक शासन, सामन्तपर्यायी सार्वभौमशासन अंग्रेजों द्वारा भारत के शासन सदृश था। साम्राज्य चक्रवर्तित्व है। चक्रवर्ती, परमेश्वर, परमभट्टारक, महा-राजाधिराज, अखण्ड भूमिप, राजराज, विश्वराज और चतुरन्तेश आदि पदवियां भी राजाओं की पाई जाती हैं। चक्रवर्ती का प्रयोग बौद्ध साहित्य में भी हुआ है। उसका अर्थ सार्वभौम राजा से है। संस्कृत में चक्रवर्ती के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि जिस राजा के रथ के चक्र वा पहिये बे रोक टोक सर्वत्र घूमते रहें, वह चक्रवर्ती अर्थात् संसार का अधिपति, चक्र का शासक, इस समुद्र से उस समुद्र तक जिसका राज्य विस्तार हो। दूसरा

---

* आचांगसूत्र दूसरा भाग ॥३।१०।१०

† ततस्तैनैवसहितो नर्मदामभितो ययौ।
विन्दानुविन्दा वा वन्त्यौसैन्येन महता वृतौ॥

अर्थ यह है कि जिस राजा के हाथ में चक्र का चिन्ह हो और जिसका पराक्रम देवता भी न सह सकें, वह चक्रवर्ती है।

प्राचीन काल में राज्य के रूप—अब से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व अरस्तू ने राज्य के रूपों का वर्णन किया था। प्रत्येक राज्य में एक मुख्य अङ्ग होता है जिसमें राज्य की शासन शक्ति संचित रहती है और वहां से ही अन्य भागों में प्रवाहित होती है। उस मुख्य अंग में कितने जन सम्मिलित हैं इसी को लक्ष्य बनाकर अरस्तू ने राज्य के रूपों का वर्गीकरण किया था। साथ ही उसने सम्पूर्ण राज्यों को स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक भागों में विभक्त किया था। राज्य का मुख्य अंग यदि अपनी शक्ति को राज्य के हित में प्रयुक्त करे तो स्वाभाविक राज्य और यदि राज्य के अहित और अपने स्वार्थ की सिद्धि में प्रयुक्त करे तो अस्वाभाविक राज्य होता है। राजा, कुल तथा प्रजा में से प्रभुत्व शक्ति (सर्वोच्चसत्ता) का संचय तथा स्रोत किस में है इस विचार से राज्य के तीन स्वाभाविक अथवा श्रेष्ठ और तीन अस्वाभाविक अथवा भ्रष्ट रूप बताये हैं। स्वाभाविक और श्रेष्ठ राज्य हैं—(१) राजतन्त्र (Monarchy), (२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy), और सुप्रजातन्त्र (Polity)। अस्वाभाविक अथवा भ्रष्ट रूप हैं—(१) स्वेच्छाचारी (Tyranny), (२) भ्रष्टकुलीनात्मक और (३) कुप्रजातन्त्र (Democracy)। वर्तमान काल में भी प्रधानतया ये ही तीन रूप माने जाते हैं परन्तु कुप्रजातन्त्र (Democracy) के अर्थ में विभिन्नता तथा विशेपता आ गई है। अरस्तू के समय में 'डिमाक्रेसी' का अर्थ दूषित समझा जाता था अब 'डिमाक्रेसी' का अर्थ प्राचीन काल के 'पालिटी' के अर्थ में समझा जाता है।

राजतन्त्र (Monarchy)—राजतन्त्र उस शासन प्रणाली का नाम है जिसमें किसी एक उच्चतम सत्ता की प्रेरणा से राज्य का कार्य संचालन होता है। साधारणतया इसका यह अर्थ है कि जहाँ एक राजा का राज्य हो, जहां राजा के हाथ में राज्य की बागडोर हो। जहाँ राजा के हाथ में राज्य की सब विधि द्वारा मर्यादित शक्तियाँ और अधिकार हों वहाँ के शासन को राजतन्त्र कहते हैं। अरस्तू का कथन है कि "वह राज्य राजतंत्रीय कहलाता है, जहाँ एक आदमी सर्वसाधारण के हित के लिये राज्य करता है।" अरस्तू का विचार है कि जहाँ राजा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये शासन करता है और प्रजा के हितों की ओर ध्यान नहीं देता है ऐसा शासन 'टिरैनी' (Tyranny) कहलाता है।

राजतन्त्र के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) और (२) संवैधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy)। निरंकुश राजतन्त्र उसे कहते हैं जहाँ "राजा करे सो न्याव और पासा पड़े सो दाव" की कहावत चरितार्थ होती है। जहाँ राजा की आज्ञा ईश्वरीय आज्ञा के तुल्य समझी जाती है, जहाँ राजा के अधिकार में किसी को कुछ कहने का अधिकार नहीं होता, जहाँ राजा ही सब कुछ है और जो चाहे सो कर सकता है। प्रजा की बात को मानना अथवा न मानना, प्रजा के भावों का आदर करना अथवा न करना राजा की स्वेच्छा पर निर्भर है। निरंकुश राजतन्त्र के भी दो भाग किये जा सकते हैं—(१) आदर्श निरंकुश राजतन्त्र (Ideal Monarchy) और दूसरा स्वेच्छाचारी अथवा अत्याचारी निरंकुश राजतन्त्र (Despotism or tyranny)। आदर्श निरंकुश राजा उसे कहते है जिसके हाथ में पूर्णसत्ता रहती है परन्तु वह प्रजा के भावों का आदर करता है, सदैव प्रजा के हित के कार्य करता है और प्रजा को पुत्रवत् समझते हुए उसी के हित में अपना हित भी समझता है। वह प्रजा की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक, और आध्यात्मिक उन्नति को अपना ध्येय समझता है। इसी प्रकार के उच्चातिउच्च तथा दिव्य राजाओं में हम श्रीरामचन्द्र को सबसे प्रथम स्थान देते हैं, जिन्होंने जनमत का आदर करने का और जनहित कार्य करने का सर्वोत्तम आदर्श हमारे सामने रखा। दूसरी श्रेणी में अत्याचारी और स्वेच्छाचारी निरंकुश राजा आते हैं। ये राजा प्रजा के हितों की ओर ध्यान नहीं देते, राज्य को अपनी बपौती समझते हैं, अपने को देवता का अंश मानते हैं अथवा विष्णु का अवतार समझते हैं। ये राजा प्रजा के मत की अवहेलना करते हैं और प्रजा के ऊपर मनमाना अत्याचार करते हैं। इनका विचार यह होता है कि ईश्वर ने इन्हें प्रजा पर शासन करने के लिये ही उत्पन्न किया है। रूस के मृत ज़ार की गणना ऐसे स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी शासकों में की जा सकती है। अरस्तू ने ऐसे ही शासन को 'टिरैनी' के नाम से सम्बोधित किया है।

संवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) उसे कहते हैं, जिसमें राजा की शक्तियां देश के किसी लिखित अथवा अलिखित विधान से अथवा जनमत से सीमित हों। इंगलैण्ड के आधुनिक राजा इसी श्रेणी में आते हैं। इंगलैण्ड के राजा का अधिकार देश के विधान से मर्य्यादित है। वह स्वेच्छाचारी नहीं है। यह तो हुए शासन की दृष्टि से राजतन्त्र के

भेद। परन्तु राजाओं के भी दो भेद हैं, एक वंशागत राजा, दूसरे प्रजा द्वारा निर्वाचित राजा। ऊपर बताया जा चुका है कि अति प्राचीनकाल में भारतवर्ष में राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित होता था। इसका वर्णन वेदों में भी आया है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। प्राचीन काल में रोम में भी राजा चुना जाता था। पोलैण्ड के इतिहास में भी राजाओं के चुने जाने का वर्णन है। पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) का प्रधान (head) भी चुना गया था। सन् १७७८ में बर्लिन की सन्धि के अनुसार बलगेरिया के राजा ने भी निर्वाचन द्वारा राजगद्दी प्राप्त की थी। परन्तु इस समय संसार में अनेक राजा निर्वाचित हैं और निर्वाचित राजाओं की प्रथा प्रति दिवस बढ़ती जा रही है।

अब हमें राजतन्त्र के गुण व दोषों पर विचार करना चाहिये। किसी विषय पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि उस विषय के दोनों पार्श्वों पर दृष्टि डाली जाय। यह कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है कि राजतन्त्र शासन प्रणाली संसार में अति प्राचीन है। संसार में इसका कब से प्रादुर्भाव हुआ, इसका ठीक ठीक प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता है। जो कुछ मिलता है वह विश्वसनीय नहीं है। अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक और इतिहासवेत्ता ह्यूम (Hume) का कथन है कि 'यद्यपि आधुनिक काल में सब प्रकार की राज्य-प्रणालियों में सुधार हुआ है, परन्तु (monarchical government) राजतन्त्र ने पूर्णता (Perfection) की ओर सबसे अधिक प्रगति की है। गणतन्त्र, 'रिपब्लिक (Republic) की भाँति विधि परिचालित राज्य होने लगे। उनमें व्यवस्था/पद्धति और स्थिरता दिखाई देने लगी। वहाँ धन सुरक्षित है। उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिल रहा है। कलाकौशल की उन्नति हो रही है। राजा लोग प्रजा के साथ वैसा वर्ताव करने लगे हैं जैसा पिता पुत्र के साथ करता है।" इस प्रकार कुछ अन्य राजशास्त्रवेत्ताओं ने भी राजतन्त्र शासन-प्रणाली की और उसके फलस्वरूप लाभों की प्रशंसा की है।

राजतन्त्र के गुण—जो लोग राजतन्त्र के समर्थक हैं वे इसके पक्ष की अनेक प्रकार से पुष्टि करते हैं। उनका मत है कि इसमें सारी शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित रहती है। अतः राज्य शासन में मत भेद हो जाने से शक्तियों के बिखर जाने का भय रहता है। जब तक कैसर के हाथ में जर्मनी की बागडोर थी तब तक वहाँ जिस एकता और पूर्णता से राज्य शासन चलता था वैसा कभी नहीं चला। राष्ट्र की शक्तियों का संगठन जितना श्रेष्ठ उसके समय में

था वैसा अब नहीं है। इन लोगो का मत है कभी कभी योग्य प्रजाप्रेमी और शासन निपुण राजा के राज्य में प्रजा की ऐसी उन्नति होती है जैसी प्रजातन्त्र में कदापि नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जिन देशों में सभ्यता का यथेष्ट विकास नहीं हुआ है, जहां की प्रजा सुसंस्कृत. योग्य तथा शासन कार्य में निपुण नहीं है, वहां सुयोग्य और परोपकारी राजतन्त्र जैसा सफल हो जाता है वैसा प्रजातन्त्र नहीं होता। जहां लोगों का यथेष्ट रूप से राजनैतिक विकास नहीं हुआ है, जहाँ की साधारण जनता शासन कार्य में भाग लेने की योग्यता नहीं रखती है, जहाँ राजनैतिक भावनायें अपूर्ण अथवा सुपुप्त अवस्था में हैं, वहाँ राजतन्त्र ही विशेष रूप से सफल हो सकता है। परन्तु यह बात प्रत्येक राजतन्त्र के लिये नहीं कही जा सकती। केवल वही राजतन्त्र ऐसी दशा में अच्छा है जो लोकप्रिय और जनसाधारण के हितों की रक्षा करने वाला और प्रजा की सब प्रकार से उन्नति करने वाला हो। अत्याचारी और स्वेच्छाचारी राजतन्त्र किसी भी दशा में श्रेष्ठ नही समझा जा सकता है। उसका समर्थन कभीं नहीं किया जा सकता। अमेरिका के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता गार्नर का कथन है कि मनुष्यों को असभ्य तथा जंगली अवस्था से निकाल कर सभ्य अवस्था में पहुँचाने के लिये और उनमें अनुशासन स्थापित करने के लिये जितना लाभदायक राजतन्त्र हो सकता है उतना कोई दूसरी प्रकार का शासन नही हो सकता। इंगलैण्ड के उपयोगितावादी दार्शनिक जान स्टुआर्ट मिल (John Stuart Mill) का कथन है कि "जंगली मनुष्यों के साथ व्यवहार करने के लिये एकतन्त्रीय शासन प्रणाली ही सर्वथा उपयुक्त है। हाँ, उन जंगली मनुष्यों को सुधार कर सभ्य बनाना उसका उद्देश्य होना चाहिये।" मिल ने एक स्थान पर यह भी लिखा है कि "जब तक मनुष्य-जाति इस अवस्था पर न पहुँच जाय कि वह गहनतम विषयों पर स्वतन्त्रतापूर्वक वादानुवाद न कर सके तब तक उन पर स्वतन्त्रता का तत्व कुछ नियमित मर्यादा में लगाना चाहिये।" अनेक पश्चात्य विद्वानों का मत है कि मध्ययुग अथवा प्राचीन युग के लिये राजतन्त्र शासन-प्रणाली ही उपयुक्त थी। उसका अस्तित्व उसी समय तक के लिये उचित था। उस समय की स्थिति में किसी अन्य शासन-प्रणाली का सफल होना कठिन था। राजतन्त्र शासन-प्रणाली ने ही अन्य शासन-प्रणालियों का पथप्रदर्शन किया है।

राजतन्त्र के दोष—सर्वोच्चसत्ताधारी राजतन्त्र (absolute monarchy) शासन-प्रणाली में जिन लोगों पर शासन किया जाता है उन लोगों का शासन प्रणाली में कोई हाथ नही होता। राजा अपनी स्वेच्छा

से, यदि वह चाहे तो प्रजा को शासन कार्य में हाथ बंटाने के लिये थोड़े बहुत अधिकार दे सकता है। जिन को राजा इस योग्य समझता है कि वे उसी की नीति के अनुसार कार्य करेंगे उन्हीं को नियुक्त करता है। वास्तव में ऐसे लोग राजा की ही इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं और इसी में उनका हित भी है, क्योंकि राजा की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने से उन्हें राजा के प्रकोप का परिणाम भुगतना पड़ता है और इस प्रकार उनका जीवन संकट में पड़ सकता है। अधिकतर राजतन्त्र में ऐसा होता है कि राजा अपने हित पर अधिक ध्यान देता है और प्रजा के हित पर कम। प्रजा के हित और स्वार्थ का बलिदान करके वह अपने ही हित को साधता है। प्रजा की कठिन कमाई के धन को अपने निजी सुखोपभोग में प्रयोग कर विलासपूर्ण निरर्थक जीवन व्यतीत करता है और अपनी नीच वासनाओं की पूर्ति करता है। 'Development of European Polity' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "सब राजतन्त्रों की प्रवृत्ति स्वेच्छाचारिता और उसके दोषों की ओर होती है। इनमें राजा के निजी हित और स्वार्थ को अधिक महत्व मिलता है। इस प्रकार के अनेक दोष राजतन्त्र में हैं। यदि हम यह भी मान लें कि किसी राजतन्त्र में नीत्यानुसार शासन हो रहा है, जनता सुखी है, राजकोष प्रजा की उन्नति के लिये व्यय किया जाता है, शासन बड़ी योग्यता से चलाया जाता है, तब भी इन सब गुणों के होते हुए आधुनिक काल में ऐसी शासन प्रणाली श्रेष्ठ नहीं समझी जा सकती। वास्तव में ऐसे धर्मशील और न्यायी राजा को आदर्श राजा अथवा धर्मावतार कहा जा सकता है परन्तु एकतन्त्रीय शासन चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो वह आदर्श नहीं कहा जा सकता। शासन-प्रबन्ध में प्रजा के भाग लेने से प्रजा पर प्रबन्ध के अच्छे या बुरे होने का उत्तरदायित्व रहता है। इससे प्रजा की राजनैतिक चेतना का विकास होता है। उनमें शासन-क्षमता उत्पन्न होती है। उसे स्व के तंत्र में रहने की आदत पड़ती है जो उसके चरित्र को उन्नत बनाती है यह बात केवल प्रजातन्त्र में ही संभव हो सकती है, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ राजतन्त्र में नहीं। शासन का उद्देश्य केवल प्रजा को सुखी और संतुष्ट करना ही नहीं बल्कि उसकी शक्तियों का विकास तथा उसकी प्रगति के लिये अवसर उपस्थित करना है। वर्तमान काल में शासन का वही रूप श्रेष्ठ समझा जाता है, जिसमें लोगों को भाग लेने का अवसर प्राप्त होता हो, और जिसके द्वारा शासन कार्य में निपुण लोग उत्पन्न हों सकें। केवल ऐसा ही शासन वास्तव में श्रेष्ठ है।

वंशागत राजतन्त्र की आलोचना—राजतंत्र के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका निष्कर्ष यही है कि पिता के अंश पुत्र में अवश्य आते हैं। अनेक वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया है परन्तु इस नियम में अपवाद भी हैं। श्रेष्ठ पिता के दुष्ट पुत्र और दुष्ट पिता के श्रेष्ठ पुत्र भी होते हैं। यह कोई निश्चित बात नहीं है कि गुणवान पिता के गुणवान पुत्र ही उत्पन्न हों। इसी प्रकार किसी श्रेष्ठ और बुद्धिमान राजा के श्रेष्ठ और बुद्धिमान पुत्र ही उत्पन्न होंगे, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सम्भव है कि उसके दुष्ट, लम्पट और अयोग्य पुत्र भी उत्पन्न हो जायें। अतः योग्यता तथा अयोग्यता, सदगुण अथवा दुर्गुण की परीक्षा बिना किये केवल इसी आधार पर कि वह राजा का पुत्र है, किसी को राजगद्दी दे देना और लाखों अथवा करोड़ों मनुष्यों के भाग्य की बागडोर उसके साथ में सौंप देना सर्वथा अनुचित है। इतिहास में अनेकों उदाहरण ऐसे दिखाई देते हैं कि वंशागत पद्धति के कारण राजगद्दी पर ऐसे अयोग्य राजा बैठे हैं जिन्होंने प्रजा पर बड़े बड़े अत्याचार किये हैं। फ्रांस में लगभग ५०० वर्ष तक निरन्तर नवयुवक राजा ही गद्दी पर बैठते रहे। हमारे देश में देशीय राज्यों की भी यही दशा थी। वंशागत के अनुसार केवल १८ वर्ष का बालक राजगद्दी पर बैठा दिया जाता था। अंग्रेजी राज्य में इन राजाओं की शिक्षा ऐसे वातावरण में होती थी कि वे संयमी तथा प्रजा के हितैषी बनने के स्थान पर लम्पट और विलासप्रिय हो जाते थे। राज्य को अपनी बपौती समझ बैठते थे और यह समझते थे कि वे अपने राज्य में जो चाहे कर सकते है। सारांश यह है कि वंशागत पद्धति में अनेक दोष हैं। इन दोषों के होते हुए भी अनेक गुण भी हैं। श्रेष्ठ राजाओं के श्रेष्ठ पुत्र भी होते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है कि पिता ने बहुत अच्छा शासन किया और उसके पुत्र ने उसी का अनुकरण किया। इन सब बातों पर विचार करते हुए हम यही ठीक समझते हैं। कि वंशागत प्रथा का त्याग देना ही प्रजा के हित के लिये कल्याणकारी है।

कुलीन तंत्र (Aristocracy) के गुण—जिस शासनप्रणाली में कुछ थोड़े से चतुर और बुद्धिमान लोगों के हाथ में सर्वोच्चसत्ता रहती है ऐसी शासन प्रणाली को कुलीन-तंत्र (Aristocracy) कहते है। इसे अल्पजन-सत्तात्मक राज्य भी कह सकते है। कुलीन तन्त्र भी कई प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमें सर्वोच्चसत्ता उच्च वंश के कुछ लोगों के हाथ में हो, दूसरे वह जिसमें सर्वोच्चसत्ता पंडितों और विद्वानों के हाथ में हो, और तीसरे वह जिसमें सर्वोच्चसत्ता कुछ धनवान लोगों के हाथ में हो।

अरस्तू का विचार है कि 'ऐरिस्टोक्रेसी' केवल उसी राज्य को कहते हैं जिसमें सर्वोच्चसत्ता कुछ थोड़े से पंडितों और विद्वानों के हाथ में हो, और वे प्रजा के हित के लिये शासन करते हों, अपने स्वार्थों की पूर्ति में न लगे रहते हों। राजशास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि यदि वे ही लोग इस शासन प्रणाली में शासन-कार्य का संचालन करें जो योग्यता और सद्गुणों से सर्वोत्तम श्रेणी के हों तो यह शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है। प्राचीन यूनानी लोगों की यही भावना थी कि राजसूत्र उन्हीं लोगों के हाथ में रहे जो नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से सर्वोच्च श्रेणी के हों। उन्होंने इस प्रकार के कुलीनतंत्र का नाम "सर्वोत्तम मनुष्यों का शासन" रखा है। पहले पहल इस शासन-प्रणाली का बड़ा आदर था। परन्तु पीछे जा कर इसका रूप विकृत होगया। सर्वोत्तम मनुष्यों का शासन "धनकुबेरों के शासन" (Oligarchy) में परिणत हो गया। धनवान अथवा राजवंश के लोग जन हित के कार्य न करके अपनी स्वार्थसिद्ध करने लगे। अतः इस शासन-प्रणाली का महत्व घट गया और इस प्रणाली को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। कुलीनतंत्र गुण को महत्व देता है, सख्या को नहीं। थोड़े गुणी मनुष्यों के शासन को यह जितना अभीष्ट समझता है उतना जनता के महाविशाल समूह के शासन को नहीं। कुलीनतंत्र के समर्थक भीड़-शासन (Mob-rule) को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुलीनतंत्र के समर्थकों का मत है कि कुछ मनुष्य अन्य मनुष्यों की अपेक्षा शासन करने में अधिक क्षमता रखते हैं। सब लोग अनुभवी तथा राजनीतिज्ञ नहीं हो सकते। यह प्रणाली प्राचीन है, इसे स्थिर रखना आवश्यक है क्योंकि यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। ये लोग वंशागत शासन प्रणाली का विरोध करते हैं किन्तु पुराने रीति-रिवाजों में परिवर्तन करना अनुचित समझते हैं। जो संस्थायें दीर्घकाल से चली आ रही हैं उनका ये लोग आदर करते हैं और एकाएक उनका नाश करना नहीं चाहते। कुलीनतंत्र, राजतंत्र (Monarchy) और प्रजातंत्र (Democracy) के बीच की प्रणाली है जो दोनों को सीमोल्लंघन करने से रोकता है। यह दोनों को उचित संयम में रखता है। मांटेस्क्यू (Montesquieu) के कथनानुसार यह शासन प्रणाली एक नर्म राज्य-पद्धति है जो सद्गुण पर निर्भर रहती है। कुलीनतंत्र अपने अधिकार और शक्ति का बेसमझी से उपयोग नहीं करता। यदि इसमें प्रतिभाशाली और योग्य मनुष्यों का निर्वाचन होता रहे तो इसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि लोक समूह की दृष्टि से विचार न करके

केवल शासन की उत्तमता की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि अशिक्षित और अज्ञानी लोक-समूह के शासन की अपेक्षा इसमें शक्ति और योग्यता के अधिक तत्व हैं। जान स्टुआर्ट मिल (John Stuart Mill) का भी कथन है कि जो शासन प्रणालियां अपनी संतुलित बुद्धिबल और दृढ़ता के लिये प्रसिद्ध हुई हैं उनमें अधिकतर कुलीनतंत्र की शासन प्रणाली ही है। यह आवश्यक है कि इस प्रणाली में वे ही लोग होने चाहिये जिन्होंने सार्वजनिक कार्य और सार्वजनिक जीवन ही को अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा हो।

कुलीनतंत्र के दोष—इसमें सन्देह नहीं है कि देखने में यह शासन-प्रणाली बड़ी भली प्रतीत होती है, परन्तु इसमें कुछ व्यावहारिक अड़चनें ऐसी हैं जिनका हल होना बड़ा कठिन है। पहली अड़चन तो है ऐसी निर्वाचन पद्धति बनाने की जिसमें राजनैतिक दृष्टि से सर्वोत्तम मनुष्यों को ही चुना जाय। दूसरी बात यह है कि यह उत्तरदायित्व कौन ले कि ये लोग शासन में अपने अधिकारों का प्रयोग अपने लाभ और स्वार्थ की पूर्ति के लिये न करेंगे। यह बात तो सर्वसम्मत है किसी विशेष कुटुम्ब पर राजनैतिक योग्यता की मुहर लगा देने से कार्य नहीं चलता। क्योंकि जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है बुद्धिमान पिता का पुत्र मूर्ख हो सकता है। और अयोग्य पिता का पुत्र योग्य हो सकता है। इस प्रकार के अकारण भेद (spontaneous variation) बहुत होते हैं। अतएव किसी राजशास्त्रवेत्ता पिता अथवा कुटुम्ब की भावी संतानें भी उसी योग्यता की होंगी, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, इतना होने पर भी कुछ प्रसिद्ध लेखकों ने वंशागत तत्व के आधार पर कुलीनतंत्र को समर्थन करने का प्रयत्न किया है। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) का कथन है कि "वंशागत राज्य कार्य करने वाले लोगों में राज्य कार्य के योग्य उतने ही मनुष्य संभवतः मिल सकते हैं, जितने सर्वसाधारण के चुनाव (popular election) से मिल सकते हैं। प्रोफेसर सीली (Seeley) का कथन है कि "वह मनुष्य जो राजनीतिज्ञ का पुत्र है, कुछ न कुछ राज्य सम्बन्धी विषयों से परिचय रखता ही है, क्योंकि वह दिन रात राजनैतिक वातावरण में रहता है। इंगलैंड के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता लेकी ने बेन्जमिन फ्रैंकलिन के इस कथन का खंडन किया है कि न्यायज्ञों के न्यायज्ञ अथवा शासकों के शासक ही पुत्र होते हैं। यह बात उतनी ही भद्दा है जितनी यह कि महान गणितज्ञ का पुत्र भी महानगणितज्ञ होता है।" यह बात निर्मूल है कि प्रतिभाशाली

पिता की प्रतिभा सर्वदा और सर्वत्र पुत्र में उतनी ही होती है। लेकी का कथन है कि यदि हम पांच सौ ऐसे कुटुम्बों को लें जिनका वंशागत धन्धा राज्य कार्य है, और जिनकी स्वाभाविक रुझान भी राजनैतिक हैं, तो क्या हमें इन कुटुम्बों में अधिक राजनीतिज्ञ और शासन में प्रवीण पुरुष नहीं मिलेंगे ? इसी संख्या के अन्य कुटुम्बों की अपेक्षा उपरोक्त में अधिक राजनीतिज्ञ मिलेंगे। सफल राजनैतिक जीवन के लिये तत्वज्ञान और कविता की भांति असाधारण बुद्धि और प्रतिभा की उतनी आवश्यकता नहीं है। इसके लिये केवल निर्णय शक्ति, उद्योग, चतुराई और मानव स्वभाव के ज्ञान की आवश्यकता है। ये गुण असाधारण बौद्धिक शक्ति के बिना भी पूर्णता पर पहुँच सकते हैं। यद्यपि लेकी के इस कथन में सत्य का अंश है पर साथ ही उनके इस कथन में अनेक त्रुटियां भी हैं। यह प्रश्न नहीं है कि कौन कौन से कुटुम्बों में शासन करने के योग्य अधिक मनुष्य मिल सकते हैं। संभव है कि जिन कुटुम्बों का परंपरा से ही धन्धा राज्यकार्य है उनमें अधिक राजकार्य में योग्य पुरुष निकल जायें। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा निश्चित नियम है कि राज्यकार्य में निपुण कुटुम्ब में राज्यकार्य में निपुण संतान ही उत्पन्न हो। क्या कोई ऐसे उदाहरण नहीं मिलत कि बड़े भारी राजनीतिज्ञों के ऐसे भी पुत्र हैं कि जिनमें राजकार्य संचालन करने की योग्यता साधारण पुरुष की योग्यता के बराबर भी नहीं है। इसी प्रकार धन, सम्पत्ति अथवा व्यक्तित्व भी राजनैतिक योग्यता के विशेष चिह्न नहीं हैं। जो लोग इन बातों से राजनैतिक योग्यता की परीक्षा करते हे वे भारी भूल करते हैं। इन बातों का राजनैतिक योग्यता से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। जेफरसन (Jefferson) नामक प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता का कथन है कि वह 'ऐरिस्टोक्रेसी' जिसका आधार धन और जन्म है, केवल दुष्कृति से भरी हुई ही नहीं है बल्कि साथ ही भयंकर भी है। वह उस कुलीन-तंत्र शासन प्रणाली को, जो सद्गुण और योग्यता पर निर्भर है, सर्व श्रेष्ठ समझता है। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो (Rousseau) के मतानुसार निर्वाचित 'ऐरिस्टोक्रेसी' सर्व-श्रेष्ठ शासन-प्रणाली है, जहां सबसे अधिक बुद्धिमान मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये नहीं वरन् जनता के हित के लिये शासन करते हैं। इस प्रकार की शासन-प्रणाली को जिसमें जनता द्वारा चुने हुए सबसे अधिक बुद्धिमान और योग्य-मनुष्य शासन करते हैं कुछ आधुनिक राजशास्त्रवेत्ता एक उत्तम शासन-प्रणाली समझते हैं।

जनतन्त्र (Democracy)—अरस्तू के मतानुसार जनतंत्र राज्य

दो प्रकार का है, एक 'पालिटी' (Polity) अथवा 'माडरेट-डिमोक्रेसी' (Moderate Democracy) जिसका अर्थ है सुप्रजातन्त्र और दूसरा 'ऐक्सट्रीम डिमाक्रेसी' (Extreme Democracy) अर्थात् कुप्रजातन्त्र। अरस्तू ने सुप्रजातन्त्र की बड़ी प्रशंसा की है। उसके मतानुसार सुप्रजातन्त्र राज्य में राज्य कार्य का संचालन राज्य के सब नागरिक मिलकर करते हैं। प्राचीन काल में यूनान में छोटे छोटे नगर-राज्य थे जिनमें सब नागरिक मिलकर राज्य के शासकों का निर्वाचन करते थे। पुरशासकों (magistrates), न्यायाधीशों (Judges), सेनापतियों तथा विधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन सब नागरिक मिलकर वोट द्वारा करते थे। ये शासक एक निश्चित काल के लिये निर्वाचित किये जाते थे। जो अधिकारी अथवा शासक भ्रष्टाचार के दोषी होते थे उनके पदच्युत करने के लिये भी नागरिक एकत्रित होकर वोट द्वारा अपना मत प्रकट करते थे। जब जनतन्त्र राज्य दूषित हो जाता था और लोगों में भ्रष्टाचार फैल जाता था तब शासक जनता के हित पर ध्यान न देकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करने थे और प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे तो ऐसे जनतन्त्र को वे कुप्रजातन्त्र (Democracy) के नाम से संबोधित करते थे। कुप्रजातन्त्र में लोग अपने स्वार्थ का ही ध्यान रखते थे। धन उपार्जन करने के लिये भ्रष्टाचरण करते थे। आधुनिक काल में कुप्रजातन्त्र को भीड़ शासन (Mob rule) कहते हैं। सुप्रजातन्त्र को आधुनिक काल में केवल 'जनतन्त्र' अथवा 'लोकतन्त्र' (Democracy) के नाम से संबोधित करते है। आधुनिक काल में जनतन्त्र राज्य को ही सर्व श्रेष्ठ राज्य समझते हैं। अर्वाचीन जनतन्त्र का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

अर्वाचीन काल में राज्य के रूप—मान्टेस्क्यू (Montesquieu) अर्वाचीन राजनीति का जन्मदाता समझा जाता है। उसने सन् १७४८ में एकतन्त्र राज्य, स्वेच्छाचारी राज्य, तथा लोकतन्त्र राज्य नाम से राज्य के विभिन्न रूप बतलाये। उसके विचार से लोकतन्त्र राज्य वह राज्य था जिसमें जनता निर्वाचकों द्वारा प्रभुत्वशक्ति का प्रयोग करती है। इसी प्रकार स्वेच्छाचारी राज्य में बिना राजनियमों के सहारे और एकतन्त्र राज्य में एक ही व्यक्ति लोक-नियमों के सहारे शासन का कार्य करता है। रूसो को यह वर्गीकरण पसन्द न था। यही कारण है कि उसने एकतन्त्र राज्य, कुलीनतन्त्र राज्य तथा लोकतन्त्र राज्य में राज्य का वर्गीकरण किया। इसके सदृश ही उसने मिश्रित राज्य की भी आवश्यकता प्रकट की। रूसो के पश्चात्

ब्लन्शली (Bluntchli) ने राजशास्त्र को बहुत उन्नत किया। उसने जो ईश्वरांश राज्य की कल्पना की उसको अर्वाचीन राजनीतिज्ञों ने नहीं माना। वान माहल (Von Mohal) का वर्गीकरण तो आरम्भ से ही सर्वप्रिय न हुआ। अर्वाचीन लेखकों का ध्यान राज्यों की वास्तविक दशा पर है। यही कारण है कि संगठन को आधार बनाकर ही वे राज्यों का वर्गीकरण करते हैं। इतिहास को देखने से पता चलता है विभिन्न राज्य समय समय पर भिन्न भिन्न राज्यपद्धति द्वारा शासित होते रहे हैं। उसका संक्षेप में परिगणन किया जाता है।

(१) शासन की स्थिरता तथा संगठन की पूर्णता को सामने रखते हुए संपूर्ण राज्य, स्वेच्छाचारी राज्य तथा लोकतन्त्र राज्य में विभक्त किये जा सकते हैं।

(क) स्वेच्छाचारी राज्य—वे राज्य जो कुछ स्वेच्छाचारी व्यक्तियों के हाथ में हैं, जहां राज्य-नियमों के बनाने में जनता का कुछ हाथ भी नहीं है और न वह अपनी इच्छा के अनुसार शासन चलवा सकती है। इस वर्ग में आते हैं प्रथम महायुद्ध से पहले के टर्की तथा रूस।

(ख) लोकतन्त्र राज्य वे राज्य हैं जहां राजकाज जनता के बहुमत के अनुसार होता है और निर्वाचन का अधिकार अधिक से अधिक जन-संख्या तक विस्तृत हो। अमेरिका, फ्रांस, स्विटजरलैंड और भारतवर्ष इसी ढंग के उदाहरण हैं।

(२) शासकों की नियुक्ति तथा निर्वाचन को सामने रखते हुए राज्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(क) वंश-प्रधान राज्य—विशेष वंश के व्यक्ति ही जब किसी राज्य का राज्यकार्य चलाते हैं तो उनका राज्य वंश-प्रधान-राज्य कहलाता है। वंश प्रधान राज्य के दो भेद हैं। एक में तो स्त्रियों को भी राज्य कार्य करने का अवसर मिलता है और दूसरे में नहीं। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न वंशप्रधान राज्यों में व्यक्तियों के शासक पद पर नियुक्त होने का भिन्न भिन्न क्रम है।

(i) पुरुष राज्य—ऐसे राज्यों में पुरुषों को ही राज्यपद मिलता है। मृत पुरुष के वंश में जो सबसे बड़ा हो और यदि वह अपुत्र हो तो जो सब से अधिक समीप का हो वही राजगद्दी पर बैठाया जाता है।

(ii) स्त्री राज्य—ऐसे राज्यों में पुरुषों के सदृश स्त्रियां भी

राजगद्दी पर बैठा दी जाती हैं। इंगलैण्ड में आवश्यकता पड़ने पर स्त्रियों को भी राज-काज सौंप दिया जाता है।

(iii) नियुक्ति स्वातन्त्र्य—बहुत से राज्यों में शासकों का यह अधिकार है कि वे अपना उत्तराधिकारी राजवंश में से किसी एक व्यक्ति को चुनें।

(ख) निर्वाचित राज्य—निर्वाचित-राज्य वे हैं जिनमें शासकों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है। निर्वाचन प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो प्रकार के होते हैं।

(i) प्रत्यक्ष निर्वाचन—प्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता स्वयं उपस्थित होकर प्रत्यक्ष रूप से शासकों का निर्वाचन करती है।

(ii) परोक्षनिर्वाचन—परोक्ष निर्वाचन में जनता प्रतिनिधियों के द्वारा ही शासकों का निर्वाचन करती है।

अर्वाचीन लोकतन्त्र राज्यों में निर्वाचन के दोनों प्रकार प्रचलित हैं। राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति में परीक्षा तथा चुनाव द्वारा प्रायः कार्य किया जाता है।

शक्ति विभाग के सिद्धान्त को सामने रखते हुए अर्वाचीन राष्ट्र निम्नलिखित दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

(१) एकात्मक तथा द्वित्वराज्य—इसमें राज्य के भिन्न भिन्न अंगों का पारस्परिक संबन्ध ही सामने रखा जाता है।

(२) सचिवतन्त्र तथा असचिवतन्त्र राज्य—नियामक विभाग तथा शासक विभाग के संबन्ध पर ही इस विभाग का आधार है।

(१) एकात्मक तथा द्वित्वराज्य

(क) एकात्मक राज्यों में राज्य-शक्ति एक संस्था अथवा एक ही व्यक्ति के पास होती है। अन्य सब गौण राजकीय संस्थायें उसी से शक्ति प्राप्त करके कार्य करती हैं और यदि वे शक्ति न दें तो उनको कार्य छोड़ना पड़ता है। सुगमता के लिये राज्य, स्थानीय तथा मांडलिक शासन संस्थाओं को पृथक् पृथक् कनिष्ठ श्रेणी के प्रान्तिक वा स्थानीय शासन कार्य सौंप सकता है और उनको कुछ कुछ अधिकार भी दे सकता है। परन्तु यदि वह उनको अधिकार देना या उनका पृथक् अस्तित्व उचित न समझे तो वह उनको नष्ट भी कर सकता है। साधारणतया निम्नलिखित दशाओं में ही एकात्मक शासन उत्तम रीति से कार्य करता है।

(१) यदि राज्य के सभी अंग भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से एक सूत्र में बंधे हों।

(२) यदि राज्य की जन-संख्या में भिन्न भिन्न परस्पर विरोधी मनुष्य हों और आपस में मिलकर कार्य करने के लिये उद्यत न हों।

(३) यदि राज्य की जनता राजनीति में भाग न लेती हो और स्थानीय स्वराज्य के योग्य न हो।

(ख) द्वित्वराज्य—द्वित्वराज्य उन्हीं राज्यों में होता है जहां राज्य के भिन्न भिन्न अंग शक्ति-सम्पन्न हों और उनमें चिरकाल से राजनैतिक जीवन विद्यमान हों। द्वित्वराज्य के दो भेद हैं:—

(i) अपूर्ण-संघ राज्य (Confederate)—इस ढङ्ग के राज्य में बहुत से भिन्न भिन्न राज्य आवश्यकतानुसार एक दूसरे राज्य से अपूर्ण-संघ राज्य के रूप में मिल जाते हैं।

(ii) संघ राज्य (Federal)—इस प्रकार के राज्य में राज्य तो एक ही होता है परन्तु वह राज्य के भिन्न भिन्न कार्यों तथा अधिकारों को सदस्य राज्य तथा संघ राज्य के रूप में विभक्त कर दिया जाता है। जैसे अमेरिका का संयुक्त-राज्य और भारतवर्ष।

अपूर्ण संघ राज्य में सर्वोच्च सत्ता प्रत्येक राज्य की पृथक् पृथक् होती है। परन्तु संघ राज्य में यह बात नहीं है। उसकी सर्वोच्चसत्ता संघ राज्य के हाथ में होती है। उसके सदस्य राज्य उसी से शक्ति तथा अधिकार प्राप्त करके कार्य करते हैं। अपूर्ण संघ राज्य चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता। ऐसे राज्यों के ऐतिहासिक विकास का यह एक क्रम है कि या तो उसके राज्य पुनः एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं या फिर वे संघराज्य के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। आधुनिक काल में अपूर्ण संघ राज्य का एक भी अच्छा उदाहरण नहीं मिलता।

(२) सचिवतन्त्र तथा असचिवतन्त्र राज्य

(क) सचिवतन्त्रराज्य—सचिवतन्त्रराज्य वे राज्य हैं जिनमें कार्यकारी सत्ता निर्बन्धकारी सत्ता के अधीन होती है। सचिव मण्डल के द्वारा ही ऐसे राज्यों का कार्य होता है। यही कारण है कि उनका नाम सचिवतन्त्रराज्य रखा गया है। ऐसे राज्यों में विधान-सभाओं की स्वीकृति तथा अनुमति के अनुसार ही सचिव मंडल कार्य करता है और उसी को उत्तरदायी रहता है। आजकल बहुधा राज्यों में दो सभाओं द्वारा कार्य होता है।

प्रायः राज्यशक्ति दो सभाओं में से द्वितीय सभा के पास रहती है। जनता के प्रतिनिधि भी इसी सभा में बैठते हैं। इंगलैंड सचिवतन्त्र राज्य है।

(ख) असचिवतन्त्र राज्य—असचिवतन्त्र राज्य को अध्यक्षात्मक राज्य के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। इसमें कार्यकारी सत्ता अर्थात् मुख्य शासक तथा शासक विभाग विधान सभा के अधीन नहीं होता। शासक विभाग की शक्ति इतनी अधिक होती है कि वह निर्बन्धकारी सत्ता की ज्यादतियों से अपनी रक्षा कर सकता है। निर्बन्धकारी सत्ता जो कुछ कर सकती है वह यही है कि दोषारोपण द्वारा वह शासक विभाग के किसी व्यक्ति को पद से हटा सकता है अध्यक्ष का अस्तित्व, स्थान और कार्यकाल विधानमण्डल की इच्छा पर अवलम्बित नहीं होता। अमेरिका इसी प्रकार का राज्य है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार यदि अर्वाचीन राज्यों का वर्गीकरण किया जाय तो राज्यों का पारस्परिक वैषम्य प्रत्यक्ष हो जाता है। पहला वर्गीकरण स्वेच्छाचारी शासकतन्त्र तथा लोक तन्त्र राज्य का था। यद्यपि अगस्त सन् १९४७ से पूर्व भारतवर्ष में इंगलैंड जैसे लोकतन्त्रराज्य का प्रभुत्व था तो भी भारतवासियों की दृष्टि में भारत के शासन का रूप स्वेच्छाचारी था। भारतीय अपनी इच्छा के अनुसार राज्य के चलाने के लिये, इंगलैंड को बाधित नहीं कर सकते थे। प्रथम महायुद्ध से पूर्व ऐसे ही शासन से शासित रहा था।

इंगलैंड, अमेरिका, भारतवर्ष आदि लोकतन्त्र राज्य हैं। एकात्मक तथा द्वित्वराज्य के वर्गीकरण को सामने रखते हुए अर्वाचीन राज्यों का विभाग इस प्रकार किया जा सकता है। इंगलैंड तथा फ्रांस एकात्मक राज्य हैं। अमेरिका, स्विटजरलैंड मैक्सिको, ब्राजील, अर्जेन्टाइना, रिपब्लिक तथा वेनेजुएला में द्वित्वराज्य अथवा राष्ट्रात्मक राज्य का ही प्राधान्य है। संयुक्त राज्य अमेरिका असचिवतन्त्र राज्य है। संसार के भिन्न भिन्न राज्यों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि अमेरिका और फ्रांस में आधुनिक काल में निर्वाचन द्वारा ही मुख्य शासक का चुनाव होता है। परन्तु इंगलैंड में यह बात नहीं है। इंगलैंड में सम्राट् वंशागत है। इंगलैंड एकात्मक और फ्रांस तथा अमेरिका राष्ट्रात्मक अथवा द्वित्वराज्य है। इंगलैंड तथा फ्रांस का शासन सचिवतन्त्र और अमरीका असचिवतन्त्र है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व जर्मनी में सम्राट् वस्तुतः शासक था। इंगलैंड में सम्राट् नाम-मात्र को है। अमरीका में निर्वाचन द्वारा चुना गया प्रधान सत्ता शक्तिशाली और फ्रांस

में वह सर्वथा शक्तिहीन है। अर्वाचीन राज्यों में जनता तथा राज्य का सम्बन्ध तथा राज्य का कार्यक्रम वहुत अंशों में समान हैं। प्रत्येक राज्य में जनता की इच्छा के अनुसार ही कार्य होता है और व्यक्तियों को उचित सीमा तक स्वतन्त्रता प्राप्त है। राज्यों का विस्तार भिन्न भिन्न होते हुए भी व्यक्तियों से उनका सम्बन्ध तथा उनका कार्यक्रम वहुत अंशों तक एक दूसरे से मिलता है।

(३) अर्वाचीन जनतन्त्र—(Modern Democracy) जे० आर० लॉवेल (J. R. Lowell) का कथन है कि जनतन्त्र शासन कार्य में केवल एक प्रयोगमात्र "experiment" है। लिन्कन (Lincoln) ने जनतन्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है "जनता के लिये, जनता द्वारा जनता का शासन"। सीली (Seeley) कहता है कि जनतन्त्र एक ऐसा "शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता है।" डाइसी (Dicey) का कथन है कि जनतंत्र वह शासन है जिसमें शासक सम्पूर्ण राष्ट्र की जनसंख्या का एक वड़ा भाग होते हैं। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "माडर्न डिमाक्रेसीज़" (Modern Democracies) में जनतन्त्र को "केवल एक शासन का स्वरूप" वतलाया है।

जनतंत्र, शासन का केवल एक रूप ही नहीं है वलिक जहाँ जनतन्त्र शासन है वहाँ राज्य जनतन्त्र है। वास्तव में जनतन्त्र राज्य का अर्थ जनतन्त्र शासन नहीं हैं। जनतन्त्र राज्य में जनतन्त्र, स्वेच्छाचारी अथवा राजतन्त्रीय किसी भी प्रकार का शासन हो सकता है। अमेरिका जनतन्त्र राज्य है परन्तु राजनैतिक संकट-काल में वहाँ के प्रधान का अधिकार इतना वढ़ जाता है कि वास्तव में वह अमेरिका का सर्वेसर्वा (Dictator) वन जाता है। हर्नशा (Hearnshaw) का विचार है कि जनतन्त्र एक ऐसा राज्य है जिसमें उस देश के लोगों को शासकों को नियुक्त करने, उन पर नियंत्रण रखने तथा उन्हें पदच्युत करने का अधिकार है।" शासन के इन भिन्न भिन्न स्वरूपों के अतिरिक्त जनतन्त्र समाज एक ऐसा समाज है जिसमें भ्रातृभाव और समानता के भाव विद्यमान हैं। मुसलमानों का धर्म उन्हें समानता तथा भ्रातृभाव की शिक्षा देता है। मुसलिम समाज का संगठन जनतन्त्र सिद्धान्त के आधार पर है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि राज्य अथवा शासन का ही रूप जनतन्त्रीय हो समाज का संगठन भी समान अधिकारों के आधार पर होना चाहिये। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि जनतन्त्र एक राज्य, शासन अथवा समाज का ऐसा रूप है जिसमें उद्योग, व्यवसाय, रहन-सहन

तथा धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक समानता और भ्रातृभाव विद्यमान हो। जनतन्त्रवाद और समाजवाद में कोई वास्तविक विभिन्नता नहीं प्रतीत होती है। पूर्णरूप से जनतन्त्र राज्य केवल समाजवाद के सिद्धान्तों पर ही स्थापित हो सकता है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जनतन्त्र—जनतन्त्र राज्य तथा शासन के विचारों का पता हमको भारतवर्ष के अति प्राचीन काल के ग्रंथों से चलता है। हमारे देश में जनतन्त्र गण तथा संघ राज्य थे। इस बात को हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। प्राचीनकाल में यूनान में भी जनतन्त्र राज्य थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है यूनान में प्राचीनकाल में छोटे छोटे नगर राज्य थे। उन नगर राज्यों में सब लोगों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। केवल सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त तथा सैनिक लोगों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। नगर के व्यापारी, कृपक, उद्यमी तथा कलाकौशल के व्यवसाइयों और प्रदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। यूनान में सब नागरिक एक स्थान पर एकत्रित होकर अपनी विधान सभा के सदस्यों, शासकों, सेनापतियों तथा न्यायाधीशों को चुनते थे। ये चुनाव बहुमत द्वारा होते थे। इस प्रकार सब नागरिकों का शासन-कार्य में भाग लेना यूनान के ऐथिन्स (Athens) और स्पार्टा (Sparta) से नगर राज्यों के लिये संभव था परन्तु आधुनिक काल के बड़े बड़े राज्यों के शासन-प्रबन्ध देश के सब नागरिकों का शासन प्रबन्ध में भाग लेना असम्भव है। जिस देश में राज्य के सब लोग शासन कार्य में भाग लेते हैं (जैसा यूनान के नगर राज्यों में होता था) इस प्रकार की शासन प्रणाली को प्रत्यक्ष जनतन्त्र (Direct Democracy) कहते हैं। इस प्रकार की जनतन्त्र-प्रणाली मध्यकाल में इटली में प्रचलित थी। स्विट्ज़रलैण्ड में भी यह प्रथा अभी तक किसी किसी ग्राम में प्रचलित है। अठारहवीं शताब्दी में रूसो ने इस प्रकार की शासन-प्रणाली का समर्थन किया था। रूसो ने इस प्रणाली को 'शुद्ध जनतन्त्र' के नाम से सम्बोधित किया है और उसने यह अनुभव किया कि आधुनिक काल में इस प्रणाली को व्यवहार में परिणत करने में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य सामने आवेंगी। शुद्ध जनतन्त्र के लिये निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(१) राज्य इतना छोटा हो कि मनुष्य बिना किसी कठिनाई के थोड़े से समय में एकत्रित हो सकें और उस राज्य के लगभग सब नागरिक एक दूसरे से परिचित हों।

(२) राज्य की जनता का जीवन आडम्बर रहित तथा अति साधारण हो।

(३) उस राज्य में मनुष्यों के जीवन में समानता हो अर्थात् कोई अति धनी और कोई अति दरिद्री न हो।

(४) उस राज्य के लोग संयम से रहते हों।

आधुनिक काल में वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मानव जीवन बड़ा जटिल हो गया है। नगरों की जन-संख्या भी प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, छोटे छोटे नगर बड़े बनते जा रहे हैं। ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जायगा त्यों त्यों ये नगर उत्तरोत्तर उन्नति करते जायेंगे। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष-जनतन्त्र की स्थापना करना सर्वथा असम्भव है। अब तो केवल अप्रत्यक्ष जनतन्त्रीय शासन प्रणाली ही सफलतापूर्वक कार्य रूप में परिणत की जा सकती है। निर्वाचनक्षेत्र बनाकर प्रतिनिधियों को निर्वाचित करके जनता अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व द्वारा शासन का संचालन कर सकती है। ऐसी स्थिति में अप्रत्यक्ष शासन प्रणाली ही जनतन्त्र राज्यों में प्रचलित हो रही है और सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। ब्राइस (Bryce) का कथन है कि वर्तमान काल में दो प्रकार की जनतन्त्र शासन-प्रणालियाँ दिखाई देती हैं, एक ऐसा जनतन्त्र जिसमें केवल नाममात्र को राजा होता है, शासन की बागडोर पूर्णतया प्रजा के हाथ में होती है। इस प्रकार का राज्य इंगलैंड का है। दूसरा दृढ़बद्ध (rigid) अथवा लचीले (flexible) संविधान द्वारा शासित जनतन्त्र। दृढ़बद्ध जनतन्त्र का उदाहरण संयुक्त राज्य (अमेरिका) और लचीले जनतन्त्र का फ्रांस है।

साधारणतया जनतन्त्र "एक राजनैतिक परिस्थिति", "एक नैतिक कल्पना" अथवा "एक सामाजिक स्थिति" है। लिन्डसे (Lindsay) का कथन है कि जनतन्त्र का अर्थ है कि सब लोगों में योग्यता है और कोई भी व्यक्ति दूसरे के लिये केवल साधनमात्र ही नहीं है। कैन्ट (Kant) का कथन है कि जनतन्त्र का अभिप्राय यह है कि "मनुष्यमात्र के प्रति ऐसा व्यवहार होना चाहिये कि जिससे सदैव मानवता को, अपने व्यक्ति में या दूसरे के केवल साधनमात्र न समझकर, साध्य समझा जाय"। एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक का कथन है कि "इंगलैण्ड के दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति का जीवन एक बड़े से बड़े धनी के जीवन के समान है।" परन्तु कभी इस पर विश्वास नहीं करना चाहिये कि वास्तव में सब व्यक्ति बराबर और समान हैं। पर-

मात्मा ने इस संसार में सब मनुष्यों को समान उत्पन्न नहीं किया है। प्रकृति में ही असमानता है। प्राकृतिक असमानता के होते हुए भी मनुष्यमात्र को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्त के अनुसार आत्मवत् समझना ही वास्तविक जनतन्त्र भाव है। सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि "व्यावहारिक रूप से जनतन्त्र में श्रेष्ठ पुरुषों की खोज करने के लिये इस कल्पना का प्रयोग किया जाता है कि सब मनुष्य समान हैं।" प्रोफेसर स्मिथ (Prof. Smith) का विचार है कि जनतन्त्र एक धार्मिक सिद्धान्त है और जनतन्त्रीय जीवन व्यतीत करने का अभिप्राय है धार्मिक जीवन व्यतीत करना। इस विचार से कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट चरित्र प्राप्त कर सके 'जनतन्त्र', स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृभाव के सिद्धान्तों की बाहर से दिखाई देने वाली पारस्परिक विपरीतता को मिटाने का एक संकलित प्रयत्न है ' परन्तु सर फिट्जेजेम्स (Sir Fitzjames) का मत बिल्कुल विपरीत है। उसका कथन है कि स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृभाव के विचारों की कल्पना केवल भ्रान्ति है। राजशास्त्रवेत्ताओं ने जनतन्त्र की पुष्टि निम्नलिखित युक्तियों द्वारा की है—

(१) पूर्वविधारणात्मक युक्ति (Precautionary Reason)-जनतन्त्र राष्ट्र को इस विषय की प्रत्याभूति (Guarantee) प्रदान करता है कि जनसमुदाय की इच्छानुसार कार्य किया जायगा और शासन कार्यों में किसी व्यक्ति की उपेक्षा न की जायगी। इसका यह प्रयोजन नहीं है कि प्रत्येक के इच्छानुसार कार्य किया जायगा। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति को भी अपने विचार प्रकट कर दूसरों को अपने अनुकूल बनाने का उतना ही अधिकार होगा जितना कि एक बड़े से बड़े धनी को है। एक जनतन्त्र शासन से यह अभिप्राय नहीं है कि उसमें सफलतापूर्वक राज-प्रबन्ध होता है। एक निरंकुश शासन अथवा नौकरशाही में भी अत्यन्त सफलतापूर्वक शासन कार्य हो सकता है। परन्तु ऐसे शासन में जनसाधारण के हितों पर ध्यान नहीं दिया जाता। ऐसे शासन का ध्येय केवल राज्य अथवा शासकों के हितों की रक्षा करना होता है। जनतंत्र शासन का उद्देश्य जन-साधारण के हितों की रक्षा करना तथा प्रजा की व्यक्तिगत उन्नति की ओर ध्यान देना है। जनतन्त्र शासन द्वारा ही वास्तव में मनुष्यों की शारीरिक, मानसिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति पूर्णरूप से हो सकती है। प्रोफेसर हाकिंग (Prof. Hocking) का कथन है कि जनतन्त्र, राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति में तन्तुबन्धन के समान पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है। ए० ऐल० लावेल

(A. L. Lowell) का मत है कि एक पूर्ण जनतन्त्र में कोई यह अनुयोग (शिकायत) नहीं कर सकता कि "मेरी नहीं सुनी गई"।

(२) मनोवैज्ञानिक युक्ति (Psychological Reason)-शासन-प्रवन्ध में केवल कर्म कौशल ही पर्याप्त नहीं है। शासन-प्रबन्ध में विशेष योग्यता प्राप्त पुरुष कुशलतापूर्वक शासन चला सकते हैं परन्तु शासन की कुशलता ही ध्येय नहीं होता। शासन में प्रवीण पुरुष अपने विचारों के अनुसार बहुत अच्छा कार्य करते हैं, वे केवल शासन की उत्तमता को अपना ध्येय समझते हैं। शासितों की चित्तवृत्ति को वे नहीं समझते न वे उसे समझने का प्रयत्न ही करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके कार्यों का प्रजा पर क्या प्रभाव पड़ेगा। उनको हानि होगी अथवा लाभ। अच्छे शासन में शासक का उद्देश्य शासितों के हितों की रक्षा करना होता है अतः अत्यन्त शिक्षित शासक भी प्रजा के हितों के विचार से सम्भवतः प्रजा के लिए उपयोगी सिद्ध न हों। शासक ऐसे होने चाहिये जो प्रजा की चित्तवृत्ति को समझें, प्रजा के बहुमत के भावों तथा उनकी इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए शासन कार्य करें जिससे शासन लोकप्रिय तथा सर्व हितकारी समझा जाय। जनतन्त्र में जनसाधारण को अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अवसर दिया जाता है, शासन कार्यों में जन साधारण की सम्मति ली जाती है और शासन कार्य का संचालन जनता के प्रतिनिधि ही करते हैं। जनतन्त्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने को शासक समुदाय का एक अंश समझता है।

(३) शिक्षा संबंधी युक्ति (Educational Reason)-जनतन्त्र एक सार्वजनिक शिक्षा संस्था है। जनतन्त्र में नागरिकों को नागरिकता की शिक्षा मिलती है। जनता में राजनैतिक विषयों को समझने तथा उन पर अपने विचार प्रकट करने की रुचि उत्पन्न होती है। वे लोग राजनैतिक प्रश्नों पर वाद विवाद करते हैं, भाषण तथा लेखों द्वारा अपने विचार प्रकट करते हैं। शासन के गुणदोषों की परीक्षा करते हैं। प्रत्येक जनतन्त्र राज्य में जनसाधारण की राजनैतिक चेतना अन्य प्रकार के राज्यों से अधिक होती है। जनता की मानसिक शक्तियों का विकास होता है। सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि "सम्पूर्ण शासन एक शिक्षा पद्धति है परन्तु स्वार्जित शिक्षा (self education) सर्वश्रेष्ठ शिक्षा है, अतः सर्वश्रेष्ठ शासन स्वशासन है और स्वशासन का नाम ही जनतन्त्र है।"

(४) नैतिक युक्ति (Moral Reason)—जे० ऐस० मिल (J. S. Mill) का कथन है कि जनतन्त्र में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है वह

अन्य तन्त्रों की अपेक्षा "उत्तम तथा उच्चतम राष्ट्रीय चरित्र का अभिवर्धन करता है।" वास्तव में जनतन्त्र मनुष्यों को श्रेष्ठ बनाता है। जनतन्त्र का आधार है मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति। जनतन्त्र में ही मनुष्य आत्मपरायणता और आत्मनिर्भरता का पाठ सीखता है। जनतन्त्र में ही मनुष्य की प्रेरणाशक्ति की उन्नति होती है और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के भाव उत्पन्न होते हैं। इसी से मनुष्यों में मानवी सहानुभूति की वृद्धि होती है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में जनतन्त्र के विकास के कारण ही वहाँ की जनता में परोपकारणीय भावों की वृद्धि हो रही है। प्रेजीडेंट लावेल (President-Lowell) का कथन है कि शासन की श्रेष्ठता की कसौटी शासन में व्यवस्था, मितव्यय, समृद्धि तथा न्याय ही नहीं वल्कि शासनपद्धति नागरिकों का चरित्र ऐसा बनाती है कि जिससे शासन दृढ़ बने। सर्वश्रेष्ठ शासन का ध्येय मनुष्यों को सच्चरित्र, न्यायनिष्ठ, श्रमी, आत्मपरायण तथा वीर बनाना है। ब्राइस (Bryce) का कथन है कि राजनैतिक मताधिकार प्राप्त होने से वयस्क व्यक्तियों को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। जनतन्त्र से मनुष्य की सर्व प्रकार की उन्नति होती है। आत्मोन्नति केवल जनतन्त्र में ही सम्भव है।

(५) व्यावहारिक युक्ति (Practical Reason)—एक जनतन्त्र में मनुष्यों में देशभक्ति की भावता रहती है। वे शासन सम्बन्धी विषयों में ध्यान देते हैं। फ्रेंच राजशास्त्रवेत्ता लैवले (Laveleye) का कथन है कि फ्रेंच लोगों को फ्रांस से प्रेम तभी हुआ जब क्रांति के पश्चात् लोगों ने शासन में भाग लिया। एक जनतन्त्र राज्य में विद्रोह अथवा क्रान्ति की बहुत कम सम्भावना होती है। जनतन्त्र में ही मनुष्यों को भाषण देने, सभा करने तथा सामूहिक कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जे० डब्ल्यू० गार्नर (J. W. Garner) का कथन है कि जनतंत्र में अन्य "शासनों की अपेक्षा लोक-निर्वाचन, लोक-नियंत्रण तथा सार्वजनिक-उत्तरदायित्व द्वारा अधिकतम कर्मकौशल की प्राप्ति हो सकती है। यदि जनमत (General Will) वास्तव में कोई वस्तु है तो उसकी अभिव्यक्ति केवल जनतन्त्र संस्था द्वारा ही हो सकती है। वास्तव में जनतन्त्र राज्य ही एक ऐसा राज्य है जिसमें जनता की सब प्रकार की व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति हो सकती है।

जनतन्त्र शासन के दोष—जनतन्त्र-शासन के विरोधियों का कथन है कि जनतन्त्र का आधार गुण नहीं है, उसका आधार तो संख्या है अर्थात् यह गुणवान् मनुष्यों का शासन नहीं वल्कि जनसमुदाय का शासन है। यह

इस बात की उपेक्षा करता है कि जिस प्रकार अन्य कार्यक्षेत्रों में विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है वैसी ही राज्य कार्य में भी होती है। जनतन्त्र इस दूषित सिद्धान्त पर कार्य करता है कि सब मनुष्यों में शासन करने की क्षमता बराबर है अर्थात् जितनी शासन करने की योग्यता एक मनुष्य में है उतनी ही दूसरे में है। जेम्स (James) का कथन है कि "सुशासन के लिए विशेष ज्ञान की, विविध प्रकार की मानसिक शक्ति के विकास की और शान्ति तथा संयमयुक्त निर्णय-शक्ति की आवश्यकता है।" अज्ञानता और अयोग्यता को जितनी घरेलू कार्यों में टालने की आवश्यकता है उतनी ही राज्य-शासन में भी टालने की आवश्यकता है। अज्ञानता, अयोग्यता तथा संयमहीनता का जैसा कलुषित परिणाम घरेलू कार्यों में होता है, उससे कई गुना अधिक भयंकर परिणाम राज्यकार्यों में होता है। मिल और मांटेस्क्यू ने भी जनतन्त्र की प्रशंसा करते हुए इतना संकेत तो अवश्य किया है कि जनतन्त्र वहीं व्यावहारिक रूप से सफल हो सकता है जहाँ की सर्व-साधारण जनता बुद्धि, योग्यता और चरित्र में उच्च श्रेणी की हो। बर्क (Burke) ने प्रजातन्त्र की कड़ी समालोचना करते हुए लिखा है कि इस शासनप्रणाली में उत्तरदायित्वहीन लोगों के हाथ में सत्ता चली जाती है। इससे बड़ी हानि होती है। कुछ लेखकों ने इस शासन-प्रणाली के दोष दिखलाते हुए लिखा है कि "जनतन्त्र कला-कौशल, विज्ञान और संस्कृति के लिये अनुकूल नहीं है।" जनतन्त्र शासन न तो प्रत्यक्ष रूप से इन्हें प्रोत्साहन देता है और न ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिससे अप्रत्यक्ष रूप से इन्हें प्रोत्साहन मिले।

प्रसिद्ध अंग्रेज राजशास्त्रवेत्ता सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) और प्रोफेसर डब्ल्यू० ई० एच० लेकी (W. E. H. Lecky) ने जनतन्त्र की कड़ी आलोचना की है। इन आलोचकों ने प्राचीन यूनानी दार्शनिकों के विचारों के आधार पर अपने विचार प्रकट किये हैं। अरस्तू ने जनतन्त्र को वैधानिक शासन का पतित तथा विकृत रूप बतलाया है। लेकी (Lecky) का विश्वास था कि जनतन्त्र स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। टैलीरैन्ड (Talleyrand) के विचार से जनतन्त्र "आवारा अथवा नंगों का कुलीनतन्त्र (an aristocracy of blackguards) है। जनतन्त्र के विरोधी कहते हैं कि जनतन्त्र में लोग एक दूसरे से द्वेष मानते हैं और योग्य तथा विद्वान् व्यक्तियों को निर्वाचित करते हैं। जो लोग भाषण देने और जनता पर प्रभाव डालने में निपुण होते हैं उन्हीं को जनता चुनती है

और अपना नेता मान लेती है। साधारणतया जनता पर एक साधारण पुरुष अपनी वाक्पटुता तथा चतुराई से प्रभाव डाल सकता है। योग्य से योग्य पुरुष में यदि यह गुण न हों तो वह कदाचित् ही सफल होगा। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं। वुडरो विलसन् और वेनेजलोस (Woodrow-Wilson and Venezelos) जैसे अति श्रेष्ठ व्यक्तियों को न चुनकर लोग इनसे न्यून योग्यता के व्यक्तियों को चुनने में संतुष्ट रहे। इसका कारण यह था कि चुने हुए व्यक्तियों में लोगों पर प्रभाव डालने की योग्यता थी, शासन कार्य की इतनी योग्यता न थी। जनतन्त्र राज्य में नेता बनने के लिये मनुष्य को थोड़ा मनोविज्ञान जानने की आवश्यकता है। जो मनुष्य जनसाधारण के मनोविज्ञान से जानकारी रखता है और उनकी रुचि को समझता है वही उनका नेता बन सकता है। एक अत्यन्त योग्य राजनीतिज्ञ को छोड़कर लोग ऊपर लिखी योग्यता वाले को चुनना अधिक उचित समझेंगे।

साधारण निर्वाचक शासन कार्यों में अधिक रुचि नहीं रखता है। अमेरिका के संयुक्तराज्य में आधे से कम नागरिक निर्वाचन में भाग लेते हैं। कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र में दलबन्दी का दोष है। जनतन्त्र राज्य में दलबन्दी की बड़ी आवश्यकता है, परन्तु दलबन्दी—

(१) बनावट तथा मक्कारी को प्रोत्साहित करती है।

(२) राष्ट्रीय विभाजन तथा भेद-भाव से स्थानीय निर्वाचकों को प्रभावित करती है,

(३) लूट-खसोट-प्रथा का प्रचार करती है।

(४) लोगों का आचरण भ्रष्ट करती है।

दलबन्दी द्वारा लोग अनुचित लाभ उठाते हैं और लोगों को किसी विषय पर व्यक्तिगत निर्णय देने का अवसर प्राप्त नहीं होता। एक प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक फ़ैगट (Faguet) ने जनतन्त्र को "अयोग्यता (अक्षमता) का सिद्धान्त" (Cult of incompetence) बतलाया है। कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र "जनता द्वारा शासन" का नाम है। परन्तु जनता द्वारा शासन का अभिप्राय है जनता के बहुमत द्वारा निर्वाचित शासक। ऐसी दशा में यदि किसी देश में तीन दल हों (जैसे इंगलैंड में) और एक दल के बहुमत द्वारा निर्वाचित सदस्य शासन की बागडोर ग्रहण करें तो क्या वास्तव में वे शासक सब जनता के बहुमत द्वारा निर्वाचित हैं? वे तो केवल एक तिहाई जनता के बहुमत द्वारा ही निर्वाचित हैं। अतः इस प्रकार के शासन को जनतन्त्र शासन कहना भ्रमपूर्ण तथा व्यर्थ है।

फैगट ने जनतन्त्र का बड़ा विरोध किया है। उसके मतानुसार जनतन्त्र प्राणिशास्त्र सिद्धान्त के विरुद्ध है। ज्यों ज्यों प्राणी का विकास होता है त्यों त्यों केन्द्रीकरण होता जाता है परन्तु जनतन्त्र में इसके विपरीत होता है। शक्तियां विभाजित होती चली जाती हैं। जीव का विकास बतलाता है कि ज्यों ज्यों प्राणिमात्र के जीवन में उन्नति हुई त्यों त्यों अवयवों की शक्तियों के संचालन का केन्द्र मस्तिष्क में होता गया। मस्तिष्क ही सम्पूर्ण शरीर की शक्तियों का संचालन करता है। इसी प्रकार राज्य शासन प्रणाली की उन्नत अवस्था में केन्द्रीकरण हो जाना चाहिये। सम्पूर्ण राज्य-कार्य का संचालन केन्द्र से होना चाहिये अर्थात् शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होनी चाहिये। इसीलिये फैगट (Faguet) का कथन है कि जनतन्त्र रूपी शरीर के प्रत्येक अवयव में मस्तिष्क (brain) स्थित है। कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र शासन में व्यय बहुत होता है। जनतन्त्र का आधार है जनमत को संगठित करना और उसके लिये प्रचार तथा निर्वाचनों की अधिकता आवश्यक है। इन सब बातों में धन अधिक व्यय होता है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में प्रधान के निर्वाचन में लाखों डालर व्यय हो जाते हैं। निर्वाचन क्षेत्रों में प्रचारार्थ बहुत धन का अपव्यय होता है। इस प्रकार जनतन्त्र शासन प्रणाली में धन तथा समय का नाश होता है। पार्लियामेन्ट के शासन कार्य में शिथिलता आ जाती है। नैतिक अथवा आचारिक दृष्टि से भी कुछ लोगों ने जनतन्त्र-शासन प्रणाली को दोष पूर्ण बतलाया है। इन लोगों का मत है कि जनतन्त्र में छद्म तथा मिथ्या व्यवहार होता है। लोग छल कपट और मिथ्या भाषण करते हैं। जनता पर अपने दल का प्रभाव डालने के लिये झूठी बातें बनाई जाती हैं और 'येनकेन प्रकारेण' निर्वाचन में अपने दल के सदस्यों की सफलता के लिये प्रयत्न किये जाते हैं। कहीं कहीं तो युद्ध होने लगता है और हत्या तक हो जाती है। केवल यही नहीं जनतन्त्र शासन के विरोधियों ने तो कोई भी दोष नहीं छोड़ा है जो इस प्रणाली को न लगाया गया हो। घूंस तथा भ्रष्टाचार तो जनतन्त्र में केवल साधारण दोष ही बतलाये गये हैं। ब्राइस (Bryce) ने अपनी पुस्तक "माडर्न डीमाक्रेसीज़ (Modern Democracies) के ६६ वें अध्याय में राजनीति में "मुद्रा शक्ति" का वर्णन करते हुए बतलाया है कि 'ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि निर्वाचकों, विधान सभा के सदस्यों, प्रबन्धक पदाधिकारियों तथा न्यायाधिकारियों ने लालच का शिकार बनकर अननुमत लाभ (Illicit gain) उठाये हैं।

कुछ जनतन्त्र के विरोधियों का यह मत है कि जनतन्त्र में शिक्षा का

प्रसार नहीं होता अपितु उसका ह्रास होता है। लोगों को चापलूसी की शिक्षा मिलती है। लोग बहानेबाज़ बनते हैं, समानता के मिथ्याभाव उत्पन्न होते हैं और प्रत्येक मनुष्य अपने को योग्य समझता है। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि "मैं सब विद्याओं का ज्ञाता हूँ।" प्रयोजन यह है कि जनतन्त्र में लोगों में मिथ्या विचारों का विकास होता है। बर्न्स (Burns) का कथन है कि जनतन्त्र में दूषित, भ्रष्ट तथा निर्जीव सभ्यता की उत्पत्ति होती है। यह बात सत्य है कि जनतन्त्र राज्य में साक्षरता फैलती है। परन्तु यह साक्षरता बिल्कुल व्यर्थ है। इस साक्षरता से व्यक्ति को कोई लाभ नहीं होता। वास्तविक शिक्षा प्रचार एक बात है और साक्षरता का प्रचार बिलकुल दूसरी बात। साक्षरता का अभिप्राय तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य को लिखना पढ़ना आ जाय। लिखना पढ़ना आजाने से प्रत्येक मनुष्य अखबार पढ़ने योग्य हो जाता है और दलबन्दी द्वारा किये गये निर्वाचन आदि का प्रचार करने के लिये यह साक्षरता बड़ी लाभदायक है। जनतन्त्र में ऐसी ही शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता है, वास्तविक शिक्षा की ओर नहीं जिससे मनुष्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो। ब्राइस ने ठीक कहा है जनतन्त्र केवल पढ़ना सिखाता है निर्णय करना तथा विचार-शीलता नहीं। सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि शिक्षा का प्रयोग इस लिये किया जाता है कि लोग द्यूत-सम्बन्धी समाचार पढ़ें अथवा स्वास्थ्य सम्बन्धी समाचार पढ़ें जिससे अधिकाधिक मदिरा पीने और उसे सहन करने की शक्ति आ जाय राजतन्त्र के अनेकों विरोधियों का कथन है कि जनतन्त्र में बिना विचारे बहुत से व्यर्थ विधान बना दिये जाते हैं। "जनतन्त्र केवल बिना विचारे बनाये हुए विधानों का ढेर है।* बहुत से विधान बना कर जनता के नेता जनतन्त्र में अपनी सफलता तथा योग्यता का प्रमाण देते हैं और जनता को संतुष्ट करते हैं। इस प्रकार जनतन्त्र के संचालक जनता से छल करते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र में संकीर्णता आती है। लोग स्थानीय अथवा थोड़े से व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने के हेतु बहुतों के अथवा जनसाधारण के हितों पर कुठाराघात करते हैं और राज्य का अहित करते हैं। † जनतन्त्र में लोग अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिये राज्य के

---

* ए० आर० लार्ड—"प्रिंसिपल्स आफ़ पौलिटिक्स" पृष्ठ ६१३।

† तदेव पृष्ठ १६४।

हितों को ठुकराते हैं। पद प्राप्त करने तथा आश्रयदाता बनने की कुचेष्टा में ऐसे अंधे हो जाते हैं कि वे केवल अपने ही दल के थोड़े से लोगों को लाभ पहुँचाने के लिये बहुतों का अहित करते है। परिणाम यह होता है कि देश का अहित होता है। देश की आर्थिक दशा बिगड़ जाती है। राष्ट्रीयता के भावों का ह्रास होने लगता है। प्रेजिडेन्ट लावेल (President Lowell) का कथन है कि "अमेरिका में जनतन्त्र की शोकपूर्ण असफलता का कारण बड़े नगरों का कुशासन है।" लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने आधुनिक जनतन्त्र राज्यों में निम्नलिखित दोष बतलाये हैं—*

(१) विधान निर्माताओं अथवा शासकों को मुद्रा शक्ति भ्रष्ट करती है।
(२) राजनीति को व्यक्तिगत लाभ के लिये व्यवसाय बनाने की चेष्टा की जाती है।
(३) शासन कार्य में धन का अपव्यय होता है।
(४) समानता के सिद्धान्त का दुरुपयोग किया जाता है तथा शासन-कौशल्य की प्रशंसा नहीं की जाती, न उसका कुछ मूल्य ही समझा जाता है।
(५) दलबन्दी संगठनों की शक्तियों का अनुचित प्रयोग किया जाता है।
(६) विधान निर्माता तथा राजनैतिक पदधारी निर्वाचकों के हाथ की कठपुतली बने रहते हैं। विधान-निर्माण कार्य में भी वे 'वोटों' का ध्यान रखते हैं और यदि कहीं शान्ति-भंग होती है तो उसे भी सहन करते हैं।

जनतन्त्र की इन सब अनुकूल तथा प्रतिकूल आलोचनाओं के अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली सब शासन प्रणालियों से श्रेष्ठ है, क्यों कि ऊपर वर्णन की गई बहुत सी अनुकूल और प्रतिकूल युक्तियां एक दूसरी को काटती हैं। यदि यही मान लिया जाय कि जनतन्त्र उत्तम शासन प्रणाली नहीं है तो फिर कौन सी शासन प्रणाली उत्तम हो सकती है? हमारे विचार से कोई भी शासन प्रणाली इससे उत्तम नहीं है। यही शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम है। संसार में सब प्रकार की शासन प्रणालियों का प्रयोग कर लिया गया है और इस शासन प्रणाली के अतिरिक्त अन्य सब प्रणालियां असफल रही हैं। सी० डी० बर्न्स ने ठीक कहा है कि "इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करता कि विद्यमान प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थापिका सभायें त्रुटिपूर्ण हैं, परन्तु यदि स्वयं

---

* माडर्न डीमोक्रेसीज़, भाग २ पृष्ठ ५०४।

चलने वाला यान भली प्रकार कार्य नहीं करता है तो भी बैलगाड़ी का प्रयोग करने लगना मूर्खता है चाहे यह कितना ही रोमांचकारी क्यों न हो।" * ए० ऐल० लॉवेल (A. L. Lowell) का कथन है, कि मानव समाज के दोषों की औषधि किसी प्रकार की शासन प्रणाली नहीं हो सकती। विद्यमान शासन प्रणाली में सुधार करने के स्थान पर नवीन की खोज करना दुष्टता है। वर्तमान जनतन्त्र का विकल्प (alternative) निर्वाचित अथवा स्वयं नियुक्त शासक द्वारा संचालित कुलीन-तन्त्र है। ऐसा कुलीनतन्त्र-शासन केवल उद्योग-धन्धों की स्वतन्त्रता का ही निग्रह नहीं करेगा बल्कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक विचार प्रकट करने तथा मनुष्यों के सम्मिलन के अधिकार में भी बाधक होगा। यह स्वाभाविक है क्योंकि संगठित विरोधी दल की उपस्थिति में कुलीनतंत्र की दाल नहीं गल सकती।

जनतंत्र पर यह दोषारोपण भी किया जाता है कि महायुद्ध के परिणाम स्वरूप जितने दोष फैले हुए हैं वे सब जनतंत्र के कारण ही हैं। संसार में इतनी मंहगाई दरिद्रता तथा परस्पर राष्ट्रों में अविश्वास जनतंत्र के ही कारण है। यह बात अनुचित है क्योंकि किसी भी शासन प्रणाली में ऐसा होना अनिवार्य था। असाधारण परिस्थिति में किसी प्रकार की शासन-प्रणाली पर अपनी सम्मति प्रकट करना तथा निर्णय देना भूल है। ए० एल० लॉवेल का कथन है कि एक लड़ते झगड़ते हुए, मदिरा पिये हुए अथवा भयभीत मनुष्य के निर्णय पर विश्वास करना अनुचित है। इसी प्रकार अत्यन्त भयंकर परिस्थितियों में उत्पन्न हुई दशाओं को देखकर हम जनतन्त्र शासन-प्रणाली के विषय में ठीक ठीक निर्णय नहीं दे सकते। फैगट (Faguet) ने जनतंत्र को जीव-विज्ञान की व्यवस्था के विरुद्ध बतलाया है। जनतंत्र इस बात का समर्थन करता है कि शासन का विकेन्द्रीकरण हो अर्थात् मानव समाज रूपी शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में मस्तिष्क की स्थापना हो। फैगट की यह आलोचना न्यायपूर्ण तथा युक्ति-संगत नहीं है। एक अच्छे जनतंत्र राज्य में राज्य की सर्वोच्चसत्ता राज्य के सर्व श्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम व्यक्तियों के हाथ में होती है। मैजिनी (Mazzini) ने ठीक कहा है कि "जनतन्त्र में सर्वोत्तम तथा सबसे बुद्धिमान पुरुषों के नेतृत्व में सबके द्वारा सब की प्रगति होती है।" इन सब बातों पर विचार करते हुए हम यह

* सी० डी० बर्न्स डोमोक्रेसी पृष्ठ ८०।

कह सकते हैं कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली वास्तव में एक उत्तम शासन प्रणाली है। जनतन्त्र का अनुभव हमें यह शिक्षा देता है कि :—

(१) जनता शासन योजनाओं व कार्यों की अपेक्षा व्यक्ति के गुण-दोष पहिचानने की अधिक क्षमता रखती है।

(२) जनता इस बात को अधिक ठीक तरह से बतला सकती है कि शासन जनता के किन कार्यों को रोके। वह इस बात को ठीक तरह से बतलाने में असमर्थ होती है कि शासन जनता से कौन से कार्य करावे।

(३) जनता को यह बतलाने में सुगमता रहती है कि सामान्य शासन नीति का रूप क्या हो। उस नीति को कार्यान्वित करने में जो छोटे छोटे प्रश्न उठ खड़े हों उन्हें सुलझाने के सुझाव देना उसके लिये कठिन होता है।

(४) उनकी निजी भावनाओं को जगाकर उन्हें उत्तेजना दिलाने वाले विषयों की अपेक्षा जनता नैतिक विषयों पर (जैसे विदेशीय नीति संबंधी प्रश्न) अधिक अच्छा निर्णय दे सकती है।

ऊपर जनतंत्र में यह दोष बतलाया गया था कि जनतंत्र में शासक दल की त्रुटियों को जनता पर प्रकट करने के लिये दलबन्दी आवश्यक है तथा दलबन्दी से जनता की सम्मति विभाजित हो जाती है। यह दोषारोपण उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि बिना दलों के शासन कार्य सफलता पूर्वक नहीं हो सकता शासन में विरोधी दल होने से शासक दूषित कार्य करने से भय खाते हैं। वे भ्रष्टाचार नहीं कर सकते क्योंकि विरोधी दल सदैव इस खोज में रहता है कि शासकों के कुछ दोष उन्हें मिल जायें। अतः दलबन्दी राजतंत्र में अत्यन्त आवश्यक है। दलबन्दी से जनता को शासन की छोटी छोटी त्रुटियों का पता चलता रहता है। ब्राइस का कथन है कि दलबन्दी से राष्ट्र का मस्तिष्क जीवित रहता है तथा धारा के उतार चढ़ाव से समुद्र स्थल के कटानों के समान वह शुद्ध तथा स्वच्छ रहता है। एक स्थान पर ब्राइस ने यह भी कहा है कि दलबन्दी अनुशासन द्वारा स्वार्थ-सिद्धि तथा भ्रष्टाचार का विरोध करती है। इसी प्रकार शिक्षा के ह्रास का जो दोषारोपण जनतन्त्र पर किया गया था वह भी न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता। जनता को राज्य की राजनैतिक बातों से जानकारी रखने के लिये थोड़ी सी शिक्षा की आवश्यकता अवश्य है परन्तु शनैः शनैः जनता को शिक्षा के लाभ बताकर उसमें शिक्षा का अधिक प्रचार किया जा सकता है और जनता को शिक्षा प्राप्त करने की रुचि दिलाई जा सकती है। यह दोष कि जनतन्त्र में धन अधिक व्यय होता है वास्तव में दोष नहीं है और न वह स्थायी है। जनता

को शिक्षित बनाने से यह दोष दूर हो जायगा। रहा भ्रष्टाचार का दोष, इसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि जनता की आचारोन्नति करनी चाहिये। जनता में धार्मिक भाव उत्पन्न करने चाहिये। धार्मिक भावों की जनता में प्रगति होते ही भ्रष्टाचार आदि के दोष स्वतः दूर हो जायेंगे। जनता की सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक उन्नति होने पर तथा धार्मिक भावों की जाग्रति होने पर संपूर्ण भ्रष्टाचार संबंधी दोष स्वयं दूर हो जायेंगे। इस समय अमेरिका के संयुक्त राज्य, इंगलैण्ड तथा भारतवर्ष में जनतन्त्र शासन-प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर रही है और आशा है यह शासन-प्रणाली स्थायी सिद्ध होगी।

कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली में सुधार करने के लिये जनता की शिक्षा-प्रणाली तथा जनता के आचार में परिवर्तन करना चाहिये। कुछ अन्य लोगों का मत है कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली में सुधार करने के लिये और उसे वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिये जनतन्त्रीय संगठन में परिवर्तन करना आवश्यक है। ऊपर वर्णन की गई दो श्रेणियों में से प्रौ० हर्नशा (Prof. Hearnshaw) प्रथम श्रेणी में आते हैं। इन का विचार है कि—

(१) जनतन्त्र शासन प्रणाली में सुधार करने के लिये यह आवश्यक है कि नैतिक स्तर उच्च बनाया जाय जिससे मनुष्य सच्चे सच्चरित्र तथा स्वाभिमानी बनें तथा मन वचन और कर्म से शुद्ध, पवित्र तथा न्यायशील हों।

(२) लोगों में सुशिक्षा का प्रचार करके उनकी बुद्धि का स्तर उच्च किया जाय जिससे युक्ति-पूर्ण विषयों को सरलता से समझ सकें तथा ठीक प्रकार से उन पर अपना निर्णय दे सकें।

(३) अपनी जाति मंडली अथवा समुदाय की उन्हें ठीक चेतना हो। वे जनता के पारस्परिक भावों को भली प्रकार समझते हों। उनमें परस्पर प्रेम, संगठन और ऐक्य हो।

(४) एक दृढ़ जनमत की स्थापना हो। जनमत को राज्य के अनुकूल बनाया जाय।

(५) जनतन्त्र को स्थायी तथा सफल बनाने के लिये उसका संगठन समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार हो। सामाजिक तथा औद्योगिक जनतन्त्र ही सफल जनतन्त्र बन सकता है।

जे० डब्ल्यू० गार्नर (J. W. Garner) जनतन्त्र के लिये निम्न-लिखित आवश्यक अनुयोग बतलाते हैं।

(१) सापेक्षतया उच्चकोटि की राजनैतिक बुद्धि, सार्वजनिक कार्यों में स्थायी अभिरुचि, सामाजिक उत्तरदायित्व-भावना, बहुमत के निर्णयानुसार कार्य करने के लिये सन्नद्ध रहना तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा का भाव।

(२) प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधा।

(३) राजनैतिक तथा नागरिक शास्त्र संबंधी शिक्षा तथा स्वशासन की शिक्षा।

(४) उच्च नैतिक स्तर।

जनतन्त्र शासन प्रणाली की सफलता के लिये डब्ल्यू० ई० हाकिंग (W. E. Hocking) के मतानुसार निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

(१) जिनकी जैसी शिक्षा, शिक्षण तथा कौशल होगा उससे अधिक अच्छा उनका जनतंत्र कदापि नहीं हो सकता। जनतंत्र को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है बाहरी आवरणों के पीछे छिपे हुये सत्य को पहिचानने की लोगों में योग्यता हो।

(२) सत्य के बिना तथा स्थिति को ठीक ठीक जाने बिना जनतन्त्र सफल नहीं हो सकता उसका यह अर्थ हुआ कि हमें सत्य पर दृष्टि रखते हुये प्राप्त जानकारी को धोना चाहिये।

(३) जनतन्त्र जन साधारण की सदिच्छा पर निर्भर है।

(४) जनतन्त्र में इस बात की आवश्यकता है कि नेताओं की जनता में श्रद्धा हो।

लार्ड लोथियन (Lord Lothian) का विचार है कि जनतन्त्र शासन में विचार प्रकट करने तथा आलोचना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। शासन में परिवर्तन बिना किसी हिंसात्मक कार्य के किया जाय तथा वह सब वयस्कों के निर्णय के अनुसार हो। लार्ड पर्सी (Lord Percy) का कथन है कि—

(१) राज्य के व्यवस्थापक संसद को अपना ध्यान मोटी मोटी राजनैतिक बातों पर केन्द्रित रखना चाहिये उनके विस्तृत ब्योरे में ही अपने आप को न भुला देना चाहिये। कर और व्यय को राजनैतिक विषय समझ कर उन पर विशेष ध्यान देना चाहिये तथा अपव्यय और

अनुचित कर के कारण उत्पन्न हुए जनता के कष्ट पर ध्यान देना तथा उस पर विचार करना चाहिये।

(२) संसद स्वयं ही विधानों की रूप-रेखा निश्चित करे इसके लिये उसे शासन विभागों पर निर्भर नहीं रहना चाहिये। उसे इस कार्य के लिये छोटी छोटी समितियाँ बना देनी चाहिये। इन समितियों को चाहिये कि वे केन्द्रीय तथा स्थानीय शासन के सम्बन्धों की जाँच करें और यह भी समय समय पर देखें कि व्यक्ति का इन दोनों से जो सम्बन्ध है वह कहां तक ठीक है।

(३) संसद की अन्य समितियों को विशिष्ट शासन विभागों का निरीक्षण करना चाहिये तथा विभागीय आज्ञाओं तथा उपनियमों के जारी होने से पूर्व उनकी परीक्षा करनी चाहिये। जनता के व्यक्तिगत कष्टों को सुनना चाहिये, और मंत्रियों को इनकी सूचना देनी चाहिये।

(४) राजा द्वारा मनोनीत एक आर्थिक समिति बननी चाहिये। इस समिति में ऐसे लोगों का अत्यधिक प्रतिनिधित्व होना चाहिये जिनके हाथ में आर्थिक बल है, कोरी जानकारी ही नहीं है। शासन तथा व्यवस्थापक संसद को विधान बनाते समय इस समिति से परामर्श करना चाहिये।

(५) राजा को लार्ड सभा के स्थायी पीयर्स बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और लार्ड सभा को विधान में संशोधन तथा पुनः उपक्रम करने का अधिकार होना चाहिये। सर स्टैफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने इस विषय पर लिखते हुए कि 'पार्लियामेंट कैसी होनी चाहिये' जनतन्त्र के तीन लक्षण बतलाये हैं:—

(१) जनता को अपने प्रतिनिधियों को चुनने तथा इच्छानुसार उन्हें पदच्युत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(२) जनता को यह प्रकट करना चाहिये कि उसकी क्या नीति है? उसे इस विषय पर भी अपनी इच्छा प्रकट करनी चाहिये कि वह नीति को कार्यरूप में परिणत करना चाहती है।

(३) जनता के प्रतिनिधियों को अविलम्ब जनता की नीति को कार्यरूप में परिणत करना चाहिये तथा उन्हें विशिष्ट हितों और व्यक्तियों द्वारा प्रभावित नहीं होना चाहिये।

जनतन्त्र के इन व्यावहारिक लक्षणों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये क्रिप्स तीन निम्नलिखित बातों की अभिस्तुति करता है—

(१) विधान-निर्माण की उन्नीसवीं शताब्दी की विलम्बकारी रीति को त्याग देना चाहिये।

(२) कामन सभा को जब जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो तो वह साहस से काम ले और स्वयं यह निश्चित करे कि राष्ट्र कितनी तेजी से आगे बढ़े। ऊपरी सभा के विरोध करने पर अपनी प्रगति को रोकना नहीं चाहिये।

(३) मंत्रियों के वैधानिक तथा शासन सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करने के लिये केवल मनन करने वाली नहीं वरन कार्य करने वाली समितियां बनानी चाहिये।

एच साइडवाथम (H. Sidebotham) का मत है कि—

(१) नागरिक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए जनतन्त्र शासन प्रणाली ने सार्वजनिक व्यवस्था स्थापित रखी है।

(२) जनतन्त्र ने अन्य शासन प्रणालियों के समान एक कुशल नागरिक शासन प्रबन्ध स्थापित किया है।

(३) अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा जनतन्त्र में दीन तथा दरिद्र लोगों की सहायता तथा कल्याण के लिये विधान निर्माण पर अधिक ध्यान दिया गया है।

(४) जनतन्त्र शासन प्रणाली कभी अस्थिर अथवा कृतघ्न नहीं रही है।

(५) इस प्रणाली ने लोगों के स्वदेश प्रेम तथा साहस को कम नहीं किया है।

(६) जनतन्त्र में बहुधा अपव्यय तथा अधिक व्यय होता है।

(७) इसने प्रत्येक राष्ट्र में परितृप्ति उत्पन्न नहीं की है।

(८) इसने शान्ति स्थापित करने के लिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में सुधार करने के लिये कोई कार्य नहीं किया है। जातीय स्वार्थ करने के लिये भी कुछ कार्य नहीं किया है। उसने विश्वमानव के भाव भी उत्पन्न नहीं किये हैं, न भिन्न भिन्न रंगों के लोगों की पारस्परिक घृणा में ही कुछ कमी की है।

(९) सम्पत्तिशाली अथवा धनी लोगों के शासन पर जो कलुषित तथा भ्रष्टाचारी प्रभाव होते हैं उन्हें नष्ट करने का भी जनतन्त्र ने कोई कार्य नहीं किया है।

(१०) उसने क्रान्तियों के भय को भी नष्ट नहीं किया है।

(११) उसने राज्य के शासन प्रबन्ध में राजसेवा के पदों पर अत्यन्त सच्चे सच्चरित्र तथा योग्य नागरिकों की पर्याप्त संख्या में नियुक्ति नहीं की है।

(१२) परन्तु इतना अवश्य है कि एक सत्तात्मक अथवा कुलीनतन्त्र की अपेक्षा इसका परिणाम अधिक अच्छा रहा है। जनतन्त्र में ऊपर लिखे अन्य तन्त्रों की अपेक्षा बहुत कम दोष हैं।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

ए० डी० लिन्डसे—*ऐसेन्शियल आफ डिमौक्रेसी*

ई० डब्ल्यू हावसन—*डिमौक्रेसी एंड चेन्जिग सिविलिजेशन*

ऐफ० जे० सी० हर्नशा—*डिमौक्रेसी ऐन्ड लेबर, तथा*
डिमौक्रेसी ऐट दी क्रासवेज

आर० जी० गैटिल—*इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइंस*

जे० डब्ल्यू गार्नर—*पोलीटिकल साइंस ऐन्ड गवर्नमेंट*

ऐम० पी० फोलैट—*न्यू स्टेट*

ई० फैगट—*होररआफ रैस्पौंसबिलिटी, तथा*
कल्ट आफ इनकौम्पीटेन्स

जे० डी० वी०—*पब्लिक ऐन्ड इट्स प्रॉब्लम*

जे० ब्राइस—*माडर्न डिमौक्रेसीज*

सी० डी० वर्न्स—*डिमोक्रेसी, इट्स डिफैक्ट्स ऐन्ड ऐडवान्टेज*

डब्ल्यू० ऐच० मैलक—*लिमिट्सि आफ प्योर डिमौक्रेसी*

अरस्तू— *पौलिटिक्स*

अग्नि— *ऋगवेद*

व्यास— *महाभारत*

जे० डब्ल्यू० मैक क्रिन्डिल—*इन्वेजन आफ इन्डिया बाइ ऐलेक-*
जैंडर दी ग्रेट, तथा
ऐन्शियेंट इन्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई
मैगस्थनीज ऐन्ड एरियन

डेविड्स राइस—बुद्धिष्ट इन्डिया
ऐच० सी० राय—हिन्दू सिस्टम आफ एडमिनिस्ट्रेशन
ऐन० ऐन० लॉ—ऐस्पैक्टस आफ इन्डियन पॉलिटी, तथा
स्टडीज इन ऐन्शियेन्ट हिन्दू पॉलिटी

अध्याय ७

राज्य का कार्य-क्षेत्र

महाभारत में अराजक राज्य की बड़ी निन्दा की गई है। कहा गया है कि अराजक राज्य में धर्म नहीं ठहरता और मनुष्य एक दूसरे का भक्षण करते हैं। वहाँ लोग अपने धन तथा स्त्री का भोग नहीं कर सकते। दुष्ट लोग दूसरों का धन हरण करके प्रसन्न होते हैं। परन्तु जब इन लोगों का धन हरा जाता है, तब सोचते हैं कि राजा होता तो अच्छा होता। इस प्रकार अराजक राज्य में पापियों को भी सुख नहीं होता। एक का धन दो छीनते हैं और दो का बहुत से लोग छीनते हैं। वे स्वतन्त्र मनुष्यों को दास बनाते हैं और बलपूर्वक स्त्रियों का हरण करते हैं। इसीलिये देवताओं ने प्रजापालक की सृष्टि की। यदि संसार में दण्डधारी राजा न हो, तो जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, वैसे ही बली मनुष्य दुर्बलों को खा जायँ *। राजा अथवा राज्य की आवश्यकता इस

---

* अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्टते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम्।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥१२॥
प्रीयते हि हरन्पापः परवित्तमराजके।
यदाऽस्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजनमिच्छति ॥१३॥
पापाह्यपि तदाक्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य च द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवो परे ॥१४॥
अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः।
एतस्मात्कारणाद्देवाः प्रजापालान् चक्रिरे ॥१५॥
राजाचेन्न भवल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥१६॥ शां० अ० ६७

लिये समझी जाती थी कि वह गदर रोके और मार-काट, चोरी, इत्यादि न होने दे। जिस राज्य में यह व्यवस्था ठीक रहती थी वहीं-का राजा धार्मिक कहलाता था और अव्यवस्था दूर कर सुव्यवस्था करने के लिये लोग उसे पूजते थे। राजा धर्म के लिये होता है, अपनी कामनाएं सफल करने के लिये नहीं। इसी लिये महाभारत में लिखा है कि इंद्र मान्धाता से कहते हैं कि राजा धर्म-रक्षक होता है। जो राजा धर्मपूर्वक राज्य करता है वह देवता माना जाता है और जो राजा अधर्माचारी होता है, वह नरक को जाता है। जिसमें धर्म रहता है वही राजा कहलाता है।*

जिस धर्माचरण के लिये राजा की नियुक्ति होती है, वह है "प्रजा-हित"। गार्भिणी स्त्री जैसे अपने मनोऽनुकूल कार्य न करके सदा गर्भ के हित का ध्यान रखती है, वैसे ही राजा अपने मन के कार्य न करके वे ही कार्य करे जिन से प्रजा का हित हो †। श्वेतकेतु ने वताया है कि राजा का सनातन धर्म प्रजारंजन, सत्यरक्षण और व्यवहार की सत्यता है। वह दूसरे का धन हरण न करे, वरंच यथासमय आप दे तथा औरों से दिलावे। राजा को चाहिये कि वह विचारपूर्वक चातुर्वर्ण्य और धर्मों की रक्षा करे। धर्म-संकरता से प्रजा की रक्षा करना राजा का सनातनधर्म है ‡। राजा ही

---

* न काम करणायतु।
मान्धातारिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥२॥
राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥३॥
यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते ॥१४॥ महा० शा० अ० ६०

† यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्यहितमार्थे तथा राज्ञाप्यसंशयम ॥४५॥
वर्त्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्त्तिना।
स्वं प्रियं च परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥४६॥ शां० ७ अ० ५६

‡ लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।
सत्यं च रक्षणञ्चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥११॥
न हिंस्यात्परवित्तानि देयं काले च दापयेत्।
विक्रान्तः सत्यवाक क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यश्च धर्माश्च रक्षितव्या समीक्षिता।
धर्म संकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥१५॥ शां० अ० ५७

प्राणियों का रक्षक होता है और वही विनाशक होता है। जो धर्मात्मा होता है, वह रक्षक और जो अधर्मी होता है, वह विनाशक है *। वर्ग के मतानुसार राजा का धर्म शिष्टों का परिपालन और दुष्टों को दण्ड देना है। जो इन दोनों श्रेणियों में नहीं आते, उनसे उदासीनता का व्यवहार करना है। उसका कार्य राज्य के षाडगुण्य की चिन्ता करना है, विलासिता में रहना ही नहीं। जो राजा कभी षाडगुण्य की चिन्ता नहीं करता और सदा विलासिता में डूबा रहता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है क्योंकि राज्य ही षाडगुण्य है †।

महाभारत के अनुसार दुर्ग की रक्षा, युद्ध, धर्मानुसार शासन, मन्त्रचिन्ता और प्रजा का सुखवर्द्धन ये पांच कार्य यथासमय करने से राजा के अधिकार का विस्तार होता है। जो वध योग्य नहीं है, उसका बध करने से जो दोष होता है, वहीं वध्य का बध न करने में समझना चाहिए। निश्चय यही मर्यादा है जिसके विपरीत न करे। इससे राजा-प्रजा को अपने अपने धर्मों में ठीक रखे, नहीं तो भेड़िये के समान मनुष्य एक दूसरे का भक्षण

---

* राजैव कर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशकः।
धर्मात्मा यः स कर्त्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः ॥६॥ शां० अ० ९१

† विज्ञयेः पार्थिवो धर्मः शिष्टां परिपालनम्।
दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्त्तितः ॥
षाडगुण्यचिन्तनं कर्मराज्यं यत्संप्रकथ्यते।
न केवलं विलासाद्यं तेन वाह्यं कथंचन ॥
यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनः सदा।
षाडगुण्यं तस्य तद्राजं स चिरेण प्रणश्यति ॥

नोट—षाडगुण्य—दो राजाओं का किसी शर्त (पद्य) पर मेल कराना 'संधि' है।

किसी राजा का कोई अपकार करना 'विग्रह' है।
संधि विग्रह न करके उपेक्षा करना 'आसन' है।
शक्ति आदि की अधिकता यान का कारण होने से यान अर्थात् 'चढ़ाई' है
बलवान् राजा को आत्म समर्पण करना 'संश्रय' है।
एक से संधि तथा दूसरे से विग्रह करना 'द्वैधीभाव' है।

कर लेंगे । * जिस राजा का राष्ट्र प्रसन्न, सम्पन्न और राजभक्त होता है और जिसके सन्तुष्ट पुष्ट मन्त्री होते हैं, उसकी जड़ मजबूत रहती है । जिसके सैनिक भली भांति सन्तुष्ट, वशीभूत और आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं, वह राजा छोटी सी सेना से ही पृथ्वी को जीत लेता है । जिसके पौर और जानपद प्राणियों पर दया करते हैं और धन धान्य सम्पन्न होते हैं, उस राजा की जड़ मजबूत रहती है † । कलिंग के जैन सम्राट् खारवेल ने अपने एक लेख में, जो ईस्वी सन् से १६५ वर्ष पूर्व का है, लिखा है कि "मैंने अपनी पच्चीस लाख प्रजा का रंजन किया है ।"

प्रजा के साथ राजा का व्यवहार कैसा होना चाहिए इस विषय पर कामन्दक ने बहुत मार्मिक उपदेश किया है । उसका कथन है कि राज्य में प्रजा को पांच प्रकार के भय लगे रहते हैं, राजकर्मचारियों का, चोरों का, शत्रुओं का, राजा के प्रिय लोगों का और राजा के लोभ का । राजा को चाहिए कि त्रिवर्ग की वृद्धि के लिए प्रजा का यह पांच प्रकार का भय दूर करदे । पके हुए फोड़े की भांति राजा धनी अधिकारियों का धन निचोड़ ले, नहीं तो ये आग की भांति राजा से व्यवहार करते हैं । त्रिवर्ग की वृद्धि के लिये अर्थशास्त्र में कुशल तथा विश्वासी मनुष्यों के अधीन राजा अपना कोश रखे और यथासमय उससे व्यय करे । बृहस्पति के नीतिशास्त्र का यह निश्चय है कि किसी मनुष्य का विश्वास न करना चाहिये, परन्तु उसका उतना ही विश्वास करना चाहिये, जितनी विश्वासपात्रता वह दिखावे । जो

---

* रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम् ।
मंत्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्द्धते मही ॥ २४ ॥ शां० अ० ६३
यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधेस्मृतः ।
सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ॥ २७ ॥
तस्मात्तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत्ततः ।
अन्योन्यं भक्षयन्तोहि प्रचरेयुर्वृकाइव ॥ २८ ॥ शां०अ० १४२

† यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नप्रियराजकः ।
सन्तुष्टपुष्ट सचिवो दृढ़मूलः स पार्थिवः ॥३॥
यस्य योधा सुसन्तुष्टो सान्त्वितः सुपधास्यिताः
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः ॥४॥
पौर जानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः
साधना धान्यवन्तश्च दृढ़मूलः स पार्थिवः ॥५॥ शां०अ० ६४

विश्वासी न हो उसको जतावे कि हम तुम्हारा विश्वास करते हैं, परन्तु अपने ऊपर विश्वास रखने वालों का भी अत्यन्त विश्वास न करे। राजा जिस पर विश्वास रखता है, वह सेवक लक्ष्मी का पात्र बन जाता है *। राज्य ही से सब राज्यांग होते हैं, इसलिये राजा सब प्रयत्नों से राज्य की उन्नति करे। जैसे यज्ञ में ऋषियों द्वारा की हुई हिंसा हिंसा नहीं समझी जाती, वैसे ही ऋषि समान राजा धर्मरक्षा के लिये असाधुओं की हिंसा करे, तो उसे पाप नहीं होता। धर्म संरक्षण पर राजा धर्म के लिये अर्थ की वृद्धि करे, और इसमे प्रजा के जो लोग बाधा दें, उन उनको दण्ड दे। वेदशास्त्रज्ञ आर्य पुरुष जिस कार्य की निन्दा करें, वह अधर्म और जिसकी प्रशंसा करे वह धर्म कहाता है। धर्माधर्म जानता हुआ राजा सज्जन प्रजावर्ग से प्रीति रखे, प्रजा की रक्षा करे और शत्रुओं को मार डाले †।

---

* आयुक्तेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथिवीपति लोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥८१॥
पञ्चप्रकारमप्ये तदपोह्यनृपतिर्भयम्।
आददीत फलं काले त्रिवर्ग परिवृद्धये ॥८२॥
आत्मावेददुपचितान् साधु दुष्ट व्रणानिव।
आयुक्तास्ते वर्त्तेरन् आग्नाविव महीपतौ ॥८४॥
संवर्द्धयेत् तथा कोशमाप्तैस्तज्ज्ञैरधिष्ठितम्।
काले चास्य व्ययं कुर्यात् त्रिवर्ग प्रतिपत्तये ॥७६॥
वृहस्पतेरविश्वास इति शास्त्रार्थ निश्चयः।
विश्वासी च तथा च स्याद् यथा संव्यवहारवान् ॥८८॥
विश्वासयेदविश्वस्तं नाति विश्वसेत्।
यस्मिन् विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः ॥८६॥ नीतिसार सर्ग ५

† राज्यांगानां तु सर्वेषां राष्ट्रद् भवति सम्भवः।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन राजा राष्ट्रं समुन्नयेत् ॥३॥
धर्म्यामारेभिरे हिंसामृषिकल्पा मही भुजः।
तस्माद साधून धर्माय निघ्नन् दोषैर्न लिप्यते ॥५॥
धर्म संरक्षण परो धर्मायार्थं विवर्द्धयेत्।
ये ये प्रजाः प्रबाधेरन् शिष्यान्महीपतिः ॥६॥
यमार्याः क्रियमाणं हि शंस्यन्त्यागमवेदिनः।
सधर्मो य विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते ॥७॥

शुक्रनीतिसार में भी राजा को कुछ व्यावहारिक शिक्षा दी गई है। कहा गया है कि राजा सभ्य, अधिकारी, प्रकृति और सभासदों के मत में सदा स्थित रहे और अपने मत में कभी न रहे। किसी कार्य के बहाने राजा प्रजा का धन हरण न करे, चाहे क्षुधा से पीड़ित वृक्ष की भांति स्थित रहे। राजा को चाहिये कि प्रजा में प्रचलित उत्सव जारी रखे और प्रजा के सुख में सुखी तथा दुःख में दुःखी हो। भूल जाना मनुष्य का स्वभाव होता है, इसलिये लेख ही परम निर्णायक है। जो राजा बिना लिखे कोई आज्ञा देता है और जो अधिकारी बिना लेख के कोई कार्य करता है, वे दोनों चोर हैं। राजा की मुहर वाला लेख ही राजा है, राजा-राजा नहीं है। राजा नगरों, ग्रामों और देशों का प्रति वर्ष स्वयं निरीक्षण करके जाने कि अधिकारियों ने किन्हें दुःख दिया। उक्त प्रजाजनों के साथ जैसा व्यवहार किया गया हो उसी से अधिकारियों के आचरण का विचार करे। अधिकारी का पक्षपात न करके प्रजा का पक्ष करे। जिस अधिकारी से सौ आदमी घृणा करें या जिसे नापसन्द करें, राजा उसे निकाल दे और एक बार यदि अमात्य का अन्याय देखे, तो उसे भी एकान्त में दण्ड दे और यदि उसका अभ्यास हो गया हो, तो उसे निकाल दे। अन्यायियों का राज्य और सर्वस्व राजा हरण कर ले *।

धर्माधर्मौ विजाजनन् हि शासनेऽभिरतः सताम्।
प्रजा रक्षेन्नृपः साधु हन्याच्च परिपन्थिनः ॥८॥ नीतिसार सर्ग ६

* सभ्याधिकारिप्रकृति-सभासत्सु मते स्थितः।
सर्वदास्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥३॥
न कर्षयेत् प्रजां कार्यमिषतश्च नृपः सदा।
अपि स्थाणुवदासीत् शुष्यन् परिगतः क्षुधा ॥२२६॥ अ० २
भ्रान्ते पुरुष धर्मत्वाल्लेख्यं निर्णायकं परम्।
अलख्य माज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः ॥२८२॥
राज्यकृत्यमुभौचोरो तौ भृत्यनृपती सदा।
नृपसंचिह्नतं लेख्यं नृपस्तन्न नृपोनृपः ॥२८३॥
ग्रामान्पुराणि देशांश्च स्वयं वीक्ष्य च वत्सरे।
अधिकारिगणैः काश्च रञ्जिताः काश्च कर्षिताः ॥३७३॥
प्रजास्तासां तु भूतेन व्यवहारं विचिन्तयेत्।
न भृत्यपक्षपाती स्यात्प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥३७४॥

महाभारत में राजनीति का मूलमन्त्र शुक्राचार्य के इन शब्दों में आ गया है कि राजधर्म का मूल सूत्र साधु की रक्षा और असाधु का दमन है। और यह काम राजा को करना ही चाहिये, चाहे वह आप भी आपद में हो * । राजा राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक है। यही नहीं, वह चौबीसों घंटे का नौकर है। सब नौकरों को कभी न कभी छुट्टी मिलती है, परन्तु उसको कभी छुट्टी नहीं मिलती। सोते जागते उठते बैठते राज्यहित का चिन्तन करना उसका मुख्य कर्त्तव्य है। जहां कहीं लिखा है कि अमुक राजा वेद विधि से प्रजा पालन करता था, वहाँ यही समझना चाहिये कि वह अपने कार्य में सदैव तत्पर रहता था। परन्तु ईश्वर ने सर्वदा प्रजा पालन करने के कारण उसे स्वामी बनाया है।†

१ व्यक्तिवाद—व्यक्तिवादियों का सिद्धान्त है 'यद्भाव्यं नीति' (Laissez faire) पाश्चात्य दलों के आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन में इस सिद्धान्त ने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। अठारहवीं शताब्दी से पूर्व राज्य ने लोगों के व्यक्तिगत कार्यक्षेत्रों में बहुत हस्तक्षेप किया था परन्तु आधुनिक काल में लोगों ने इस बात का बहुत विरोध किया है। अठारहवीं शताब्दी से पूर्व राजाओं ने मनुष्यों के व्यक्तिगत कार्यों में हस्तक्षेप करने वाले बहुतसे ऐसे विधान बनाये जिनसे लोगों को बड़ा कष्ट हुआ। उस समय ऐसे नियम बनाये गये कि लोगों को किस प्रकार का भोजन करना चाहिये, सप्ताह में किस दिन कौन सा भोजन करना चाहिये, किस प्रकार का वस्त्र मृतशरीर के लिये प्रयोग में लाना चाहिये, इत्यादि। केवल यही नहीं लोगों के साधारण उद्योग तथा व्यवसायों में अनुचित हस्तक्षेप करने वाले विधान बनाये गये। परन्तु अठारहवीं शताब्दी की उद्योग क्रान्ति (Indust-

---

प्रजाशतेन संद्वेष्टि सन्त्यजेदधिकारणम्।
अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ॥३७५॥
ऐकान्ते दण्डयेत्स्पष्टमभ्यासगस्कृतं त्यजेत्।
अन्याय वर्तिनां राज्यं सर्वस्वं च हरेन्नृपः ॥३७६॥ अ० १ शुक्रनीतिसार।

* अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम्।
एवं शुक्रोऽब्रवीद्धीमानःपरसु भरतर्षभ ॥२४॥ शां० प०

† स्वभाग भृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा।

rial Revolution) ने लोगों की चित्तवृत्ति में बड़ा परिवर्तन किया। इसके साथ नवीन आविष्कारों ने भी लोगों के जीवन में बड़ा परिवर्तन कर दिया। इन आविष्कारों ने लोगों के आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। वस्तुओं का उत्पादन अत्यधिक हुआ। इन वस्तुओं के विक्रय के लिये नवीन आपणों (बाजारों) की आवश्यकता हुई। परिणाम यह हुआ कि साधारण जनता ने इस बात का अनुभव किया कि जितना न्यून से न्यून हस्तक्षेप राज्य का व्यापार में होगा उतनी ही अधिक उन्नति व्यापार की होगी और व्यापारियों तथा वस्तु-उत्पादकों को अपने कार्य में स्वतन्त्रता मिलेगी।

अतः व्यक्तिवादियों का यह विश्वास है कि राज्य एक दोषपूर्ण संस्था है, राज्य का आधार तथा अभिप्राय मनुष्यों का शोषण करना है। जनसाधारण का रक्तशोषण करने के लिये राज्य स्थापित किया गया है। परन्तु व्यक्तिवादियों का यह विश्वास भी है कि देश में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित रखने के लिये राज्य एक अनिवार्य शक्ति है और राज्य एक आवश्यक संस्था है। परन्तु राज्य को मनुष्यों के कार्यों में न्यून से न्यून हस्तक्षेप करना चाहिये। वही राज्य अच्छा है जो मनुष्यों के व्यक्तिगत कार्यों में न्यून से न्यून हस्तक्षेप करता है। राज्य का कर्तव्य छल, कपट, मिथ्या व्यवहार, भृष्टाचार तथा हिंसा को रोकना है। जनता को अधिक से अधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देना ही राज्य का मूल सिद्धान्त होना चाहिये। जब राज्य लोगों के व्यक्तिगत कार्यो, व्यापार, उद्योग आदि में हस्तक्षेप करता है तो वह अपने कार्यक्षेत्र की सीमा से बाहर हो जाता है। ऐसी अवस्था में अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये राज्य का विरोध करना मनुष्यमात्र का धर्म है। जे० एस० मिल (J. S. Mill) का कथन है कि "एक व्यक्ति अपने स्वत्व, शरीर तथा मन का पूर्ण स्वामी (राजा) है।" राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में सब व्यक्तिवादी एकमत नहीं हैं। स्पेन्सर (Spencer) जैसे उग्र व्यक्तिवादियों के मतानुसार राज्य का कार्यक्षेत्र केवल निम्नलिखित कार्यों तक ही सीमित रहना चाहिये—

(१) वाह्य शत्रुओं से प्रत्येक मनुष्य की रक्षा करना ;
(२) आन्तरिक शत्रुओं से प्रत्येक मनुष्य की रक्षा करना ; तथा
(३) न्याय-संगत अथवा वैधानिक अनुबन्धो को बलपूर्वक प्रचलित करना।

सौम्य व्यक्तिवादियों (Moderate Individualists) के विचार इस विषय पर अधिक उदार हैं। सौम्य व्यक्तिवाद सिद्धान्त के अनुयायियों में

गिलक्रिस्ट (Gilchrist) अधिक प्रसिद्ध है, उसके विचार से राज्य का कर्तव्य है—

(१) राज्य तथा व्यक्तियों की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना।

(२) मनुष्यों की पारस्परिक शारीरिक हिंसा, निंदा तथा व्यक्तिगत विरोध से रक्षा करना।

(३) सम्पति की लूट-खसोट अथवा हानि से रक्षा करना।

(४) मिथ्या अनुबन्ध अथवा अनुबन्ध-भंग की हानियों से मनुष्यों की व्यक्तिगत रक्षा करना।

(५) जो व्यक्ति कार्य करने के अयोग्य हैं उनकी रक्षा करना।

(६) महामारी, शीतज्वर आदि निवारण किये जाने वाले संकटों से मनुष्यों की रक्षा करना।*

व्यक्तिवाद सिद्धान्त के अनुयायी तीन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों द्वारा अपने मत की पुष्टि करते हैं। वे दृष्टि कोण हैं नैतिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक।

(क) नैतिक दृष्टिकोण—मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिये स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है। यदि मनुष्य को अपने व्यक्तिगत कार्यो में पूर्ण स्वतन्त्रता न प्राप्त हो तो वह केवल एक स्वयं चलने वाली कल के समान हो जायगा। मनुष्य को तभी प्रसन्नता होती है जब यह अपनी इच्छानुसार अपने जीवन को बनाता है। ऐसी दशा में मनुष्य अपनी पूर्ण शक्ति से काम लेता है और आत्मपरायणता का पाठ सीखता है। राज्य का हस्तक्षेप एक निश्चित सीमा तक उचित है परन्तु जब यह सीमा तक पार हो जाती है तो व्यक्तिगत शक्ति की प्रगति का ह्रास होने लगता है और मनुष्य को राज्य पर निर्भर रहने का अभ्यास हो जाता है। राज्य का अनुचित हस्तक्षेप मनुष्यों को आलसी भी बना देता है। प्रजा में अकर्मण्यता आजाती है और क्रियात्मक भावना का ह्रास हो जाता है। लोग एक विशेष प्रकार से कार्य करने में अभ्यस्त हो जाते हैं और कल की भांति कार्य करते हैं। समाज में अकर्मण्यता आने से समाज की प्रगति का अवरोध हो जाता है, प्रगति का अवरोध होने से समाज रूढ़िग्रस्त होकर उसमें संकीर्णता आजाती है, परिणाम यह होता है कि अन्त में राज्य का नाश हो जाता है। अतः राज्य को अनुबन्ध प्रचलित करने, शान्ति स्थापित

---

* आर० एन० गिलक्रिस्ट—प्रिंसिपल्स आफ़ पोलीटिकल साइंस, पष्ठ ३६७-३६८।

रखने तथा अपराधियों को दण्ड देने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

(ख) आर्थिक दृष्टिकोण—प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्ति हित के विषय में अधिक जानकारी रखता है। इसलिये वह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी स्थिति तथा इच्छानुसार उद्योग अथवा व्यवसाय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय जिससे वह मनुष्य समाज में अपनी शक्ति के अनुसार जीविकोपार्जन कर सके। ऐसा अवसर प्राप्त होने पर प्रत्येक व्यक्ति इस बात का अधिक से अधिक प्रयत्न करेगा कि "मैं अधिक धनोपार्जन करूँ"। प्रत्येक मनुष्य ऐसा विचार कर कार्य करेगा और इस प्रकार सम्पूर्ण समाज की उन्नति होगी। राष्ट्र धनी होगा और धन ही राज्य की शक्ति है। लोगों को ऐसे अवसर प्राप्त होने से राज्य की शक्ति बढ़ेगी। व्यापार की उन्नति होती है।

३—वैज्ञानिक दृष्टिकोण—जीवशास्त्रीय वैज्ञानिकों का मत है कि संसार में योग्यतम अतिजीवी होता है अर्थात् इस संसार में प्राणीमात्र में जीवन के लिए युद्ध हो रहा है और योग्यतम बच रहता है, अन्य सब नष्ट हो जाते हैं। जो जीव अपनी परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना लेता है उसी के जीवित रहने की संभावना है अन्य की नहीं। हर्बट स्पेन्सर (Herbert Spencer) इस मत का अनुयायी है। स्पैन्सर का कथन है कि प्राणीमात्र में 'योग्यतम बच रहता है' छोटे से छोटे जीव से लेकर बड़े से बड़े में यह नियम कार्य कर रहा है। संसार में जीवन के लिये संग्राम हो रहा है, जो निर्बल है वह नष्ट हो जाता है और जो सबल है वह बच रहता है। यही नियम मनुष्यों पर भी लागू होना चाहिये। इस संसार में दुर्बल, दरिद्र तथा अयोग्य मनुष्य के लिये कोई स्थान नहीं है, उसे तो नष्ट ही हो जाना चाहिये। इस संसार में केवल उन्हीं मनुष्यों को रहने का अधिकार है जो सबल, धनी तथा योग्य हैं। राज्य को स्वच्छता, शिक्षा, पुस्तकालय, वाटिकाओं आदि के लिये निध्यात्मक (Positive) विधानों के बनाने की आवश्यकता नहीं है। यह बात प्रकृति के नियम व इच्छा के प्रतिकूल है। अतः राज्य को नकारात्मक विधान बनाने चाहिये। मनुष्यों को स्वयं कार्य करने की स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये। जो मनुष्य योग्य हैं वे उन्नति करेंगे और अयोग्य नष्ट हो जायेंगे।

व्यक्तिवादियों का मत है कि जब शासन बहुत से कार्य अपने ऊपर ले लेता है तो वे कार्य भली प्रकार नहीं हो सकते। यदि शासन बहुत से कार्य करेगा तो वे कार्य भद्दी रीति से किये जायेंगे। उनके करने में अधिक धन

व्यय होगा। बहुत से अत्यन्त आवश्यक कार्य बिना किये हुए रह जायेंगे। जब अधिक कार्यों में शासन हस्तक्षेप करता है तो वे कार्य भली प्रकार नहीं हो सकते। अतः यह आवश्यक है कि शासन अपने हाथ में कम से कम कार्य करने का उत्तरदायित्व ले और अधिकतर कार्य जनता को सौंप दे। इसके अतिरिक्त अधिक विधानों से लोग भी व्याकुल होते हैं। यह स्वाभाविक है कि जनता अधिक विधानों को एक प्रकार का बन्धन तथा अपनी स्वतंत्रता पर आघात समझती है और कार्यों को रुचिपूर्वक नहीं करती है। जो कार्य स्वतन्त्रता से रुचिपूर्वक किया जाता है वह अच्छी तरह किया जाता है और जो कार्य बलपूर्वक कराया जाता है वह इतना अच्छा नहीं किया जाता।

व्यक्तिवाद की आलोचना—व्यक्तिवादियों के इस मत में अतिशयोक्ति है कि शासन को कम से कम कार्य करना चाहिये और मनुष्यों को प्रत्येक प्रकार के कार्यक्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये। व्यक्तिवादियों का यह मत है कि राज्य का कर्त्तव्य अपराधों को रोकना और मनुष्यों को उद्यम व व्यवसायों की पूर्ण स्वतन्त्रता देना होना चाहिये। आधुनिक काल में उद्यमों की उत्तरोत्तर उन्नति तथा भांति भांति के आविष्कारों के कारण मनुष्यों का जीवन इतना जटिल हो गया है कि यदि व्यक्तिवादियों के मतानुसार राज्य के विधान बनाये जायें तो अराजकता फैल जायगी और राज्य के किसी विभाग का कार्य भी सफलता पूर्वक नहीं हो सकेगा। यदि राज्य विधानों द्वारा व्यक्तियों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश न लगायेगा तो अधिकतर मनुष्य उन्नति न कर सकेंगे। यदि राज्य विधान द्वारा मनुष्यों के व्यवहार को सामाजिक श्रेय के अनुकूल बनाने का प्रयत्न न करेगा तो अधिकतर मनुष्य अपना व्यक्तित्व ही खो बैठेंगे। बी० बोसांके (B. Bosanquet) का कथन है कि यदि व्यक्तिवाद की आलोचना न की जायगी तो वह भयंकर समूहवाद में परिवर्त्तित हो जायगा।

व्यक्तिवाद सिद्धान्त की नींव दृढ़ नहीं है। व्यक्तिवादियों के मतानुसार मनुष्य स्वभावतया स्वार्थी है। स्वार्थ तो सुखप्रयोजनवाद (Hedonism) का आधार है और सुखप्रयोजनवाद सिद्धान्त में अब किसी का विश्वास ही नहीं है। मनुष्यों में केवल स्वार्थ के ही भाव नहीं होते, उसमें परमार्थ के भाव भी होते हैं। मनुष्यों में स्वार्थ के साथ साथ परोपकार करने की भी भावना प्रबल होती है। मनुष्यों की पारस्परिक उन्नति केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति से ही नहीं हो सकती। सामाजिक उन्नति करने के लिये मनुष्यों को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को किसी विशेष सीमा तक ठुकराना

पड़ेगा तभी समाज के साथ राष्ट्र की उन्नति संभव हो सकेगी। सामाजिक उन्नति और व्यक्तिगत उन्नति का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। समाज की उन्नति करते हुए ही व्यक्तिगत उन्नति वास्तव में सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं। ऐच० जी० वेल्स (H. G. Wells) ने ठीक कहा है कि "स्वार्थ एक व्यक्ति अथवा देश को केवल नाश की ओर ले जाता है।"

व्यक्तिवादियों का मत है कि प्रत्येक मनुष्य अपने हित के विषय में सब से अच्छा निर्णय कर सकता है। परन्तु अनुभव से यह ज्ञात होता है कि यह विचार केवल कल्पना मात्र है। एक मनुष्य अपने वर्तमान हित के विषय में यदि ठीक निर्णय कर भी ले तो यह कदापि नहीं सोचना चाहिये कि वह अपने भविष्य के हितों के विषय में भी ठीक ठीक निर्णय कर लेगा। प्रत्येक मनुष्य का निर्णय उसकी स्वार्थपूर्ण भावनाओं से प्रभावित होगा। अतः राज्य ही एक ऐसी संस्था है जो निष्पक्ष भाव से एक मनुष्य के व्यक्तिगत विषय पर उचित निर्णय दे सके। गार्नर (Garner) का कथन है कि प्रत्येक देश में ऐसे अज्ञानी मनुष्य हैं जो अज्ञात संकटों से बचने का पूर्व प्रयत्न नहीं कर सकते। कभी कभी किसी मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक अथवा शारीरिक आवश्यकताओं के विषय में उसकी अपेक्षा राज्य अधिक युक्तिसंगत अथवा न्यायसंगत निर्णय दे सकता है जैसे स्वच्छता सम्बन्धी विषय। सामान्य प्रजा का कल्याण तभी हो सकता है जब राज्य द्वारा गंदगी का निवारण किया जाय, भोजन आदि के विक्रय का निरीक्षण हो तथा मिथ्या व्यवहार करने वाले छली व्यवसायियों (जैसे नकली वैद्य, हकीमों) को राज्य द्वारा दण्डित किया जाय। लोगों का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तियों की अज्ञानता तथा कपटी व्यवहार से समाज की रक्षा करें और जनसाधारण के हितकारी नियम बनाने में राज्य की सहायता करें। जे० ऐस० मिल (J. S. Mill) व्यक्तिवादी है परन्तु उसका भी यह कथन है कि "समाज को ऐसे पुरुष की भी रक्षा करनी चाहिये जो एक ऐसे पुल को पार करने का प्रयत्न करे जिस पर चलना खतरनाक है या अपने आप को दास बनाने को उद्यत हो।"

व्यक्तिवादी कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार अपने हित सम्बन्धी कार्य करने देना चाहिये। जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने हित के लिये कार्य करेगा और अपनी व्यक्तिगत उन्नति करेगा तो समाज की उन्नति अपने आप हो जायगी क्योंकि व्यक्तियों का समूह ही समाज है। व्यक्तिवादियों की यह युक्ति भी कितनी सुन्दर दिखाई देती है, परन्तु व्यक्तिवादियों ने कभी यह भी सोचा है कि प्रत्येक व्यक्ति के बहुत से हित

ऐसे होते हैं जिनकी पूर्ति बिना दूसरे व्यक्तियों के हितों पर आघात किये नहीं हो सकती। यदि राज्य ऐसा होने दे तो प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति करने के लिये दूसरे व्यक्ति के हितों पर आघात अवश्य पहुँचायेगा। स्वयं अधिक धन प्राप्त करने के लिये दूसरों को लूटेगा, ठगेगा तथा हत्या करेगा। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य उचित विधानों द्वारा मनुष्यों के व्यक्तिगत हितों की रक्षा करे। प्रत्येक व्यक्ति के हितों अथवा अधिकारों को सीमित कर दे जिससे राज्य में अराजकता न फैलने पाये।

सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) ने लिखा है * कि व्यक्तिवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि "एक व्यक्ति अधिकारों से घिरे हुए एक अणु के समान है।" यह बात केवल कल्पनामात्र प्रतीत होती है। समाज एक अवयवी-संस्थान है। राज्य अथवा समाज एक जीवित संस्था है। प्रत्येक व्यक्ति उस समाज अथवा राज्य का एक अवयव है। जिस प्रकार शरीर के अवयवों का हित शरीर से पृथक् किसी व्यक्तिगत अवस्था में स्थित नहीं रह सकता उसी प्रकार किसी मनुष्य का व्यक्तिगत हित समाज अथवा राज्य से पृथक् नहीं हो सकता। राज्य कोई दोषपूर्ण संस्था नहीं है। मानव समाज का राजनैतिक ही राज्य है। यह संगठन अन्य सब सामाजिक संगठनों से श्रेष्ठ है। इसका उद्देश्य समाज तथा व्यक्ति की उन्नति करना है। राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के विधान बनाता है, उन विधानों द्वारा कार्य करते हुए ही समाज सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। राज्य के विधानों की सहायता से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों को सुरक्षित रख सकता है। यदि राज्य न हो अथवा राज्य में विधान न हों तो अराजकता फैल जाय और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के अधिकार क्षेत्र में घुस कर अपने स्वार्थ की सिद्धि करने लगे। राज्य व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करता है, तथा उनका निरोध भी करता है। जहाँ एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति के अधिकार पर आघात पहुँचाता है वहीं राज्य उसका निरोध करता है।

व्यक्तिवादियों के मतानुसार व्यापार में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। व्यापार में निर्विरोध प्रतियोगिता का ये लोग समर्थन करते हैं। उनका यह भी विचार है कि वस्तुओं के क्रयविक्रय में भी राज्य को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। आधुनिक काल के उद्योगों को

---

* सी० डी० बर्न्स—पोलीटिकल आइडियल्स पृष्ठ २८५

देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तिवादियों के मतानुसार यदि इन उद्योगों को वर्तमान रूप में रहने दिया जाय तो समाज की आर्थिक स्थिति संकटपूर्ण होजाय। आजकल बड़े बड़े नगरों में बड़े बड़े कारखाने हैं जिनमें सहस्त्रों मनुष्य कार्य करते हैं। इन कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिक अधिकतर नगरों के आसपास के ग्रामों में रहते हैं। बहुत से ऐसे भी कारखाने हैं जिनमें श्रमिकों के लिये छोटे छोटे घर बने होते हैं। इन घरों की तथा श्रमिकों की दशा को यदि वहां जाकर देखा जाय तो पता चलेगा कि यदि राज्य विधान द्वारा इन घरों अथवा श्रमिकों की व्यवस्था न करे तो प्रतिवर्ष सहस्रों मनुष्यों के प्राण चले जायें, लाखों का स्वास्थ्य बिगड़ जाय और असंख्य क्षुधा-पीड़ित रहें। इनकी सुव्यवस्था के लिये राज्य को समय समय पर अनेकों विधान ऐसे बनाने पड़ते हैं जिनके द्वारा श्रमिक समाज अनेकों दोषों तथा अन्यायों से बच जाता है। नगरों की व्यवस्था को इन परिस्थितियों के अनुसार ठीक रखने के लिये भी राज्य को विधान बनाने पड़ते हैं जिससे नगर में अधिक जनसंख्या बढ़ जाने से भांति भांति की बीमारियाँ न फैल जायँ। गिलक्रिस्ट लिखता है कि "ऐसे गृह सम्बन्धी विधानों की आवश्यकता है जिनसे अधिक भीड़ न हो जाय तथा बीमारियां न फैल जायँ, श्रमिक सम्बन्धी ऐसे विधान बनाने की आवश्यकता है जिससे बच्चों को कारखानों में काम करने से रोका जाय और स्वास्थ्य का क्षय न हो। कारखाने सम्बन्धी ऐसे विधान बनाये जायँ जिनसे कलें अरक्षित तथा खुली न रहें, जिनसे जीवन को भय हो।"*

व्यक्तिवादियों का यह मत है कि शासन भी अपने जनहित सम्बन्धी कार्य-क्षेत्र में त्रुटियां करता है। व्यक्तिवादियों का यह कथन कि शासन त्रुटियां करता है वास्तव में ठीक है परन्तु अन्य संस्थाएं भी तो त्रुटियाँ करती हैं। मनुष्यों से सामाजिक अथवा व्यक्तिगत रूप में त्रुटियां होती हैं। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि जो संस्था त्रुटियाँ करे उसे नष्ट कर दिया जाय। शासन यदि त्रुटि करता है तो उसकी आलोचना करने और उन त्रुटियों को पकड़ने के लिये जनता सदैव तत्पर रहती है। शासन की त्रुटियां शीघ्र जनता के सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं। व्यक्तियों को अथवा संस्था विशेष की त्रुटियाँ इतनी शीघ्र जनता पर प्रकट नहीं हो पातीं। शासन इस प्रकार की त्रुटियों के होते हुए भी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। अतः शासन पर ऐसे दोषारोपण करना भ्रम है।

---

* आर० एन० गिलक्रिस्ट-प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ४०६

से बिलकुल विपरीत है। ये कहते हैं कि राज्य का कार्यक्षेत्र अधिक से अधिक विस्तृत होना चाहिये। समाजवादियों का विचार है कि अधिक से अधिक मनुष्यों की भलाई तथा उनके प्रति न्यायपूर्ण वर्ताव तभी सम्भव है जब राज्य का कार्यक्षेत्र अधिक से अधिक विस्तृत हो। समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का अधिकार समाज के संपूर्ण उद्योग-व्यवसायों पर होना चाहिये प्रत्येक व्यक्ति राजकीय कर्मचारी होना चाहिये। "राज्य एक सहकारी सर्वे-हितकारी संस्था है जो वस्तुओं के उत्पादन व वितरण पर नियंत्रण रखती है। ऐसी सर्वहितकारी संस्था में प्रत्येक व्यक्ति राजकर्मचारी होगा।" योग्यता के आधार पर उसका वेतन निश्चित किया जायगा। "उत्पादन निर्वाचित पद-धारियों के नियंत्रण में होगा। ये ही लोग उद्योगों का प्रवन्ध करेंगे, श्रमिकों को कार्य सौंपेंगे तथा वेतन और पदवृद्धि का प्रवन्ध करेंगे" *।

समाजवादी मतानुयायियों का कथन है कि समाज में वहुत से दोष हैं इन दोषों के निवारण के लिये आमूल परिवर्तनों की आवश्यकता है। धन और शक्ति थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में एकत्रित हो गई है तथा श्रमिक को यथोचित भाग नहीं प्राप्त होता। पूंजीपति और श्रमिक की व्यवहारिक योग्यता में समानता नहीं है अतः श्रमिक समझौता करने के लिय बाध्य होता है। परिणाम यह होता है कि उसे परिश्रम अधिक करना पड़ता है और उसे कम मज़दूरी मिलती है। संपूर्ण राष्ट्र संबंधी कोई योजनायुक्त अर्थनीति नहीं है। अनियंत्रित प्रतियोगिता के कारण मजूरी में कमी होती है, उत्पत्ति में वृद्धि होती है, वस्तुएं सस्ती वनती हैं तथा वेकारी बढ़ती है। वर्तमान प्रणाली दोष-पूर्ण है, इससे भौतिक सुखवाद अनुचित व्यवहार असत्यतम की वृद्धि होती है तथा व्यक्तिगत चरित्र का ह्रास होता है। †

यदि सावधानी से समाजवादी योजना वनाई जायगी तो दुगनीकरण, अत्यधिक उत्पादन व्यर्थ-विज्ञापन तथा हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन आदि दोष दूर हो जायेंगे। समाजवादी परोपकार तथा समाजोपयोगी इच्छा की वृद्धि पर अधिक जोर देते हैं। उनका विचार है कि कर्मण्यता के महत्व का प्रचार होना चाहियें। समाजवादी नीति को कार्य रूप में परिणत किया गया है और इसका संतोपजनक परिणाम निकला है समाजवादी उद्योगों पर वैयक्ति स्वामित्व को किसी दशा में भी प्रोत्साहित करने की सम्मति नहीं देते हैं।

---

* आर० जी० गैटिल–इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ३८५

† जे० डब्लू० गार्नर-इंट्रोडक्शन टु पोलीटिकल सांइस पृष्ठ ३०२

सामूहिक स्वामित्व तथा प्रबन्ध [illegible] अनुसार है।
समाजवाद सिद्धान्त के अनुसार "[illegible]"।

आलोचना—जो लोग समाजवादी [illegible] प्रणाली में [illegible]। [illegible] में परिवर्तित करना [illegible] है। [illegible] है कि इस समाजवाद सिद्धान्त की पूर्ति [illegible]। [illegible] को कार्य रूप में परिणत करने में [illegible] पड़ेगा।

पहली कठिनाई तो यह है कि समाजवादी राज्य में प्रबन्ध करने में बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित होगी। औद्योगिकता के अभाव में खान, रेल, टेलीफून आदि के प्रबन्ध में [illegible] होना असम्भव नहीं होता है। हम सब जानते हुए इंगलैंड के पोस्टमास्टर जनरल से [illegible] को शासन [illegible] प्रबन्ध के साथ में दे दें तो वह [illegible] पूर्णतापूर्वक कार्य करेगा। कुछ सरकारी व्यवसायों का प्रबन्ध, [illegible] मितव्ययता के साथ रहा है तब भी यह नहीं समझना चाहिए कि सरकारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने से उनका प्रबन्ध [illegible] हो सकेगा। समाजवाद सिद्धान्त के विरोधियों का मत है कि सब प्रकार के उद्योग व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण करने से शासन तन्त्र असफल हो जायगा। दूसरी कठिनाई यह है कि अभी मानव समाज की इतनी नैतिक उन्नति नहीं हुई है कि वह भ्रष्टाचार के प्रलोभन से बच सके। सब प्रकार के उद्योग व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से शासनकर्ता भ्रष्टाचार, शोषण, षड्यन्त्र, स्वार्थ आदि दोषों के शिकार बन जावेंगे। अपने स्वार्थ की पूर्ति तथा अनुचित रीति से लूट-खसोट करेंगे और पारस्परिक वैमनस्य के कारण शान्ति स्थापित रखना असम्भव हो जायगा। तीसरी कठिनाई यह है कि समाजवादी संगठन समाज की प्रगति में सहायक नहीं हो सकता। लोग श्रमिक जीवन की ओर आकर्षित नहीं होंगे। सब एक दूसरे से बराबरी करने का झूठा दावा करेंगे समाजवादी संगठन में ऐसी प्रेरक कामना नहीं रह जाती जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति अपना सारा बुद्धि बल व शारीरिक बल किसी काम में लगावे समाजवादी राज्य में सब लोगों के रहन-सहन का स्तर समान हो जायगा। कोई मनुष्य विशेष प्रकार की उन्नति, आविष्कार, तथा अन्वेषण करने का प्रयत्न नहीं करेगा क्योंकि वह समझेगा कि ऐसा करने से उसे किसी विशेष प्रकार का लाभ नहीं हो सकता। मनुष्य लोकोपकार की इच्छा

से इस प्रकार के प्रयत्न नहीं किया करता वह तो तभी ऐसे कार्य करता है जब वह यह समझता है कि ऐसा करने से उसे कोई विशेष व्यक्तिगत लाभ होगा। लोकोपकार के विचार से कार्य करने वाले मनुष्य संसार में बहुत कम हैं। चौथी कठिनाई यह है कि श्रमिक को इतना लाभ समाजवादी राज्य में नहीं हो सकता जितना कि अन्य प्रकार के राज्य में उसे होता है। अन्य राज्यों में श्रमिक बड़े संगठित रूप में हैं। उसने अपना एक दृढ़ संगठन स्थापित कर रखा है। उसका संबंध संसार के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन से है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सदस्य है। वह इतना निर्बल तथा निस्सहाय नहीं है जैसा साधारणतया लोगों का विचार है। प्रायः हड़ताल, सत्याग्रह इत्यादि करके वह अपने मालिक से अधिक से अधिक लाभ उठा लेता है। पांचवीं कठिनाई यह है कि समाजवादी राज्य में मनुष्यों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। समाजवादी राज्य में व्यक्तिगत चरित्र का ह्रास होगा। हार्बर्ट स्पेन्सर का विचार है कि "समुदाय (Community) का प्रत्येक सदस्य अपने वैयक्तिक रूप में सम्पूर्ण समुदाय का दास बन जायेगा", समाजवाद में प्रतिभा का ह्रास होता है तथा व्यक्तित्व का हनन किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति समाजवादी राज्य में आलसी बन जायगा। समाजवादी राज्य में शासकों की नौकरशाही के कारण व्यक्तिगत स्वतः-प्रवर्तन (spontaneity) तथा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व में कमी आजायगी। छठी कठिनाई यह है कि समाजवादी राज्य में उत्पादन का राष्ट्रीकरण हो जाने के कारण उत्पादित की हुई वस्तुओं के गुण तथा परिमाण में कमी हो सकती है।

समालोचना—व्यक्तिवादियों तथा समाजवादियों के सिद्धांतों में कुछ अच्छाइयाँ हैं परन्तु वे उन अच्छाइयों को अत्यधिक महत्व देते हैं। दोनों के मत सैद्धान्तिक हैं व्यावहारिक नहीं। जिस प्रकार शुद्ध व्यक्तिवाद की स्थापना नहीं हो सकती उसी प्रकार शुद्ध समाजवाद की भी स्थापना नहीं हो सकती। वास्तव में आवश्यकता एक ऐसी शासन-प्रणाली स्थापित करने की है जिसमें मनुष्यों का व्यक्तित्व भी बना रहे और मानव समाज भी पूर्णरूप से सुसंगठित बना रहे। बर्न्स ने अपनी पुस्तक "पौलीटिकल आइडियल्स" में ठीक लिखा है कि "यदि हम एक ऐसे आदर्श की कल्पना कर सकें जिसमें व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का सम्मिश्रण हो तो बहुत से विचारशील मनुष्यों के लिये यह एक बड़ा प्रभावशाली आदर्श होगा" *। क्योंकि "एक ओर तो हम

* बर्न्स पौलीटिकल आइडियल्स पृष्ठ २७५।

हेगिल का मत है कि प्रत्येक नागरिक का जीवन राज्य की सेवा के लिये है। हम्बोल्ट का मत है कि राज्य का कर्तव्य व्यक्तिगत कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिये परन्तु राज्य के हित के लिये व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों को त्यागने के लिये सन्नद्ध रहे।

अंग्रेज आदर्शवादियों में टी० एच० ग्रीन (T. H. Green) वी बोसांके (B. Bosanquet) और एफ० एच० ब्रैडले (F. H. Bradley) अधिक प्रसिद्ध हैं। आदर्शवादियों के मतानुसार राज्य का ध्येय और मनुष्य का व्यक्तिगत ध्येय एक ही है अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ जीवन का साक्षात्कार करना और व्यक्तियों की बौद्धिक आध्यात्मिक उन्नति करना। इस प्रकार की उन्नति व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा ही हो सकती है। आचारिक उन्नति के लिये व्यक्तिगत प्रयत्न अनिवार्य है। अतः अंग्रेज आदर्शवादियों का विश्वास है कि मनुष्यों को व्यक्तिगत कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राज्य मनुष्य की व्यक्तिगत बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति में कोई सहायता नहीं दे सकता। अतः राज्य का कार्य नकारात्मक होना चाहिये। राज्य का कर्तव्य मनुष्य को श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने का अवसर दे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सब प्रकार की व्यक्तिगत उन्नति करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। इस प्रकार की व्यक्तिगत उन्नति में जो बातें बाधक हों उन्हें हटाना राज्य का कर्तव्य है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य श्रेष्ठ जीवन के लिये "विघ्नों का निरोध" (Hindrance of hindrances) अर्थात् कटण्कश्येधक है अथवा राज्य "सम्पूर्ण समन्वयों का समन्वय" (adjustment of all adjustments)* है। मनुष्यों की व्यक्तिगत आचारिक उन्नति किसी बाह्य सहायता द्वारा नहीं हो सकती, वह केवल व्यक्तिगत प्रयत्न से ही हो सकती है। मनुष्य को पुरस्कार का लालच देकर अथवा दण्ड का भय दिखा कर कदापि उन्नति करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। राज्य कभी मनुष्य को उन्नति करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य कोई यंत्र-कल नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में उन्नति करने की भावना नहीं होती है। कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं कि उन्नति करने का अवसर प्राप्त होने पर भी वे उन्नति नहीं कर सकते हैं। उदाहरणार्थ कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं कि उन्हें धन की कमी नहीं होती परन्तु तो भी वे उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार कुछ विद्यार्थी

---

* टी० एच० ग्रीन प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल ओब्लीगेशन पृष्ठ ९।

ऐसे होते हैं कि वे [illegible] अन्य परिस्थितियों के कारण [illegible] नहीं कर सकते हैं। [illegible] एक तीसरे प्रकार के [illegible] होते हैं [illegible] कुछ परिस्थितियाँ [illegible] प्रयत्न करते हैं और उन्नति करने में [illegible] होते हैं। अतः राज्य मनुष्य को उन्नति करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता वह केवल प्रतिकूल परिस्थितियों के विनाश करने का प्रयत्न कर सकता है। राज्य का कार्य इस प्रकार की परिस्थितियों का विरोध करना मात्र है। टी० एच० ग्रीन का कथन है कि 'विधान केवल कुछ कार्यों को करने अथवा न करने के लिये बाधित कर सकता है, वह (मनुष्य के) उद्देश्य (motives) पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। विधान का उद्देश्य ऐसा होना चाहिये कि वह ऐसे कार्यों को करने अथवा न करने का आदेश करना जिसका उद्देश्य समाज की नैतिक उन्नति करना हो।" अतः ग्रीन का मत था कि ऐसे विधान प्रचलित नहीं करने चाहिये, क्योंकि 'अधिक नियम-निर्माण धर्म, आत्म-सम्मान तथा कौटुम्बिक भावना का ह्रास करता है'। ग्रीन का मत है कि राज्य को अनिवार्य शिक्षा की योजना आरम्भ करनी चाहिये, मदिरा के क्रय विक्रय का नियमन करना चाहिए, भूमि पर अधिकार बढ़ाना चाहिए और जहाँ दो असमान दलों में अनुचित अनुबन्ध स्थापित हो रहा राज्य को ऐसे अनुबन्धों को स्थापित करने की स्वतन्त्रता में विरोध करना चाहिए। मनुष्यों के श्रेष्ठ जीवन में निरक्षरता तथा मदिरा-विक्रय बाधक होते हैं। अतः राज्य को अनिवार्य शिक्षा की ऐसी योजना बनानी चाहिये कि सब लोग साक्षर हो जायें और मदिरा-विक्रय को कम करने के लिए विधान बनाने चाहिये।

जो लोग आदर्शवाद के विरोधी हैं उनका मत है कि लोगों की भलाई धर्मप्रचार तथा नैतिक उन्नति द्वारा हो सकती है परन्तु राज्य विधान द्वारा ये कार्य नहीं कर सकता। भय और नैतिनिता असंगत भावनायें हैं लोगों को इन गुणों के प्राप्त कराने के लिए विधान द्वारा बाध्य नहीं किया जा सकता। हाँ ये अवश्य हो सकता है कि राज्य आर्थिक व्यवस्था का नियमन करने के लिए तथा सामाजिक अवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिए विधान बनाये जिस से जन साधारण की उन्नति हो। इसके उत्तर में आदर्शवादी बोसांके का कथन है कि आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति का मनुष्य की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ एक अच्छे घर में रहने वाले लोगों के अच्छे आचरण होंगे, नीतिपूर्ण जीवन होगा; तथा अच्छे विचार होंगे। अतः सांसारिक उन्नति वाह्य विधानों द्वारा सम्भव हो सकती

है परन्तु बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आन्तरिक प्रयत्न की आवश्यकता है। अतः राज्य का कर्तव्य है कि मनुष्यों को व्यक्तिगत नैतिक उन्नति में जितनी बाधाएँ उपस्थित हों उन सब का वह निवारण करे।

आलोचना—आदर्शवादी विधान तथा नैतिकता की असमानता को बहुत बढ़ाकर वर्णन करते हैं। यद्यपि नैतिकता विधान के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं है तथापि नैतिक कर्तव्य विधान के अन्तर्गत अवश्य हैं इस बात का अनुभव आदर्शवादियों को नहीं होता है। उदाहरणार्थ दण्डविधान का नैतिक प्रभाव एक विस्तृत क्षेत्र पर होता है। सब सभ्यराष्ट्र पशुओं के प्रति की जानेवाली निर्दयता का निषेध करते हैं। पशुओं के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना अन्याय है, अतः यह राज्य द्वारा दण्डित निश्चय किया गया है। इस प्रकार राज्य प्रत्यक्ष रूप से वास्तविक विधान द्वारा बलपूर्वक पशुओं के प्रति निर्दयता को रोकता है और मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिये इस प्रकार के विध्यात्मक विधान (Positive Laws) बना सकता है। साथ ही साथ नैतिकता सम्बन्धी ऐसे भी बहुत से नियम हो सकते हैं जिनकी जनता द्वारा उपेक्षा हो सकती है।

श्रेष्ठ जीवन के लिये "विघ्नों का निरोध" (Hindrance of hindrances) करना चाहिये' यह मत आदर्शवादियों का है। यह बात साधारण शब्दों में इस प्रकार भी प्रकट की जा सकती है। राज्य को मनुष्यों की उन्नति में बाधा डालने वाली बातों का निवारण करना चाहिए। आधुनिक काल में शिक्षा एक बड़ी आवश्यक बात है। प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि राज्य में शिक्षा का प्रचार किया जाय। अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की सब राष्ट्रों में आवश्यकता है। यदि यह कहा जाय कि निरक्षरता मनुष्यों की उन्नति में एक "विघ्न" है तो निशुल्क अनिवार्य शिक्षा ग्रीन के मतानुसार एक दूसरा "विघ्न" अथवा निरोध है। यह बात हमारी समझ में नहीं आती। आदर्शवादी नकारात्मक विधानों पर जोर देते हैं। हमारा विचार है कि मनुष्य समाज की सब प्रकार की उन्नति के लिये नकारात्मक (negative) और विध्यात्मक (positive) दोनों प्रकार के विधानों की आवश्यकता है, केवल नकारात्मक विधानों द्वारा ही जनसाधारण का कल्याण नहीं हो सकता। ग्रीन और बोसांके का यह मत है कि विध्यात्मक विधानों से स्वायत्तता (automatism) आती है और आचरण का ह्रास होता है, बिलकुल निर्मूल है और युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। राज्य का कार्य-क्षेत्र संबंधी यह सिद्धान्त कि मनुष्यों के श्रेष्ठ जीवन के विघ्नों

ऐसे होते हैं कि वे शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु धन के अभाव तथा अन्य परिस्थितियों के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के विद्यार्थी होते हैं जो धन का अभाव होते हुए तथा प्रतिकूल परिस्थिति होते हुए भी प्रयत्न करते हैं और उन्नति करने में सफल होते हैं। अतः राज्य मनुष्य को उन्नति करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता वह केवल प्रतिकूल परिस्थितियों के निवारण करने का प्रयत्न कर सकता है। राज्य का कार्य इस प्रकार की परिस्थितियों का विरोध करना होना चाहिए। टी० एच० ग्रीन का कथन है कि 'विधान केवल कुछ कार्यों को करने अथवा न करने के लिये आदेश दे सकता है, वह (मनुष्य के) उद्देश्यों (motives) पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। विधान का कार्य होना चाहिये केवल ऐसे कार्यों को करने अथवा न करने का आदेश जिनका उद्देश्य समाज की नैतिक उन्नति करना हो।" अतः ग्रीन का यह विश्वास है कि धार्मिक विधान प्रचलित नहीं करने चाहिये, क्यों कि 'धार्मिक विधान-निर्माण धर्म, आत्म-सम्मान तथा कौटुम्बिक भावना का ह्रास करता है'। ग्रीन का मत है कि राज्य को अनिवार्य शिक्षा की योजना प्रारम्भ करनी चाहिये, मदिरा के क्रय विक्रय का नियमन करना चाहिए, भूमि पर अधिकार बढ़ाना चाहिए और जहाँ दो असमान दलों में अनुचित अनुबन्ध स्थापित हो वहाँ राज्य को ऐसे अनुबन्धों को स्थापित करने की स्वतन्त्रता में विरोध करना चाहिए। मनुष्यों के श्रेष्ठ जीवन में निरक्षरता तथा मदिरा-विक्रय बाधक होते हैं। अतः राज्य को अनिवार्य शिक्षा की ऐसी योजना बनानी चाहिये कि सब लोग साक्षर हो जायें और मदिरा-विक्रय को कम करने के लिए विधान बनाने चाहिये।

जो लोग आदर्शवाद के विरोधी हैं उनका मत है कि लोगों की भलाई धर्मप्रचार तथा नैतिक उन्नति द्वारा हो सकती है परन्तु राज्य विधान द्वारा ये कार्य नहीं कर सकता। भय और नैतिकता असंगत भावनायें हैं लोगों को इन गुणों के प्राप्त कराने के लिए विधान द्वारा बाध्य नहीं किया जा सकता। हाँ ये अवश्य हो सकता है कि राज्य आर्थिक व्यवस्था का नियमन करने के लिए तथा सामाजिक अवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिए विधान बनाये जिस से जन साधारण की उन्नति हो। इसके उत्तर में आदर्शवादी बोसांके का कथन है कि आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति का मनुष्य की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ एक अच्छे घर में रहने वाले लोगों के अच्छे आचरण होंगे, नीतिपूर्ण जीवन होगा; तथा अच्छे विचार होंगे। अतः सांसारिक उन्नति बाह्य विधानों द्वारा सम्भव हो सकती

है परन्तु बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आन्तरिक प्रयत्न की आवश्यकता है। अतः राज्य का कर्तव्य है कि मनुष्यों को व्यक्तिगत नैतिक उन्नति में जितनी बाधाएँ उपस्थित हों उन सब का वह निवारण करे।

आलोचना—आदर्शवादी विधान तथा नैतिकता की असमानता को बहुत बढ़ाकर वर्णन करते हैं। यद्यपि नैतिकता विधान के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं है तथापि नैतिक कर्तव्य विधान के अन्तर्गत अवश्य हैं इस बात का अनुभव आदर्शवादियों को नहीं होता है। उदाहरणार्थ दण्डविधान का नैतिक प्रभाव एक विस्तृत क्षेत्र पर होता है। सब सभ्यराष्ट्र पशुओं के प्रति की जानेवाली निर्दयता का निषेध करते हैं। पशुओं के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना अन्याय है, अतः यह राज्य द्वारा दण्डित निश्चय किया गया है। इस प्रकार राज्य प्रत्यक्ष रूप से वास्तविक विधान द्वारा बलपूर्वक पशुओं के प्रति निर्दयता को रोकता है और मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिये इस प्रकार के विध्यात्मक विधान (Positive Laws) बना सकता है। साथ ही साथ नैतिकता सम्बन्धी ऐसे भी बहुत से नियम हो सकते हैं जिनकी जनता द्वारा उपेक्षा हो सकती है।

श्रेष्ठ जीवन के लिये "विघ्नों का निरोध" (Hindrance of hindrances) करना चाहिये' यह मत आदर्शवादियों का है। यह बात साधारण शब्दों में इस प्रकार भी प्रकट की जा सकती है। राज्य को मनुष्यों की उन्नति में बाधा डालने वाली बातों का निवारण करना चाहिए। आधुनिक काल में शिक्षा एक बड़ी आवश्यक बात है। प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि राज्य में शिक्षा का प्रचार किया जाय। अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की सब राष्ट्रों में आवश्यकता है। यदि यह कहा जाय कि निरक्षरता मनुष्यों की उन्नति में एक "विघ्न" है तो निशुल्क अनिवार्य शिक्षा ग्रीन के मतानुसार एक दूसरा "विघ्न" अथवा निरोध है। यह बात हमारी समझ में नहीं आती। आदर्शवादी नकारात्मक विधानों पर जोर देते हैं। हमारा विचार है कि मनुष्य समाज की सब प्रकार की उन्नति के लिये नकारात्मक (negative) और विध्यात्मक (positive) दोनों प्रकार के विधानों की आवश्यकता है, केवल नकारात्मक विधानों द्वारा ही जनसाधारण का कल्याण नहीं हो सकता। ग्रीन और बोसांके का यह मत है कि विध्यात्मक विधानों से स्वायत्तता (automatism) आती है और आचरण का ह्रास होता है, बिलकुल निर्मूल है और युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। राज्य का कार्य-क्षेत्र संबंधी यह सिद्धान्त कि मनुष्यों के श्रेष्ठ जीवन के विघ्नों

का राज्य को विरोध करना चाहिये, पर यह भ्रामक सिद्धान्त प्रतीत होता है। इसका प्रयोजन यह हुआ कि राज्य स्वाभाविक मनुष्यों को व्यक्तिगत उन्नति करने दे और यह देखता रहे कि कहाँ-कहाँ इस उन्नति में बाधा आती है। जहाँ-जहाँ इस प्रकार की बाधा दिखाई पड़े वहाँ-वहाँ राज्य उसका निवारण कर दे और फिर पृथक् बैठकर यही देखता रहे। बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं जिन्हें किसी प्रकार के कार्य में रुचि नहीं होती, वे केवल पड़े रहना अथवा बेकार बैठ कर खाना ही अधिक रुचिकर समझते हैं। ऐसे राज्य में, जैसा कि ग्रीन तथा बोसांके बतलाते हैं, आलसी पुरुषों को तो बड़ा आनन्द प्राप्त होगा। ऐसे आलसी मनुष्यों का अन्य लोग अनुकरण करेंगे और समाज में अकर्मण्यता का दोष फैलेगा।

आदर्शवादी मनुष्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति पर बड़ा जोर देते हैं और स्वतन्त्र इच्छा की स्वाधीनता को ही सर्वस्व समझते हैं। वे मनुष्य जीवन की भौतिक प्रगति की उपेक्षा करते हैं। उनका यह विचार केवल कल्पनामात्र है, क्योंकि भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी भौतिक साधनों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी भौतिक उन्नति के लिये आध्यात्मिक साधनों की। मनुष्य का जीवन भौतिक है, उसका भौतिक साधनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य का शरीर भौतिक तत्वों से बना हुआ है मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति करने के लिये शरीर की उन्नति करनी पड़ेगी। शरीर को स्वच्छ तथा स्वस्थ रखना पड़ेगा तभी मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति कर सकेगा। इसलिये आध्यात्मिक उन्नति के आधार पर ही सर्वाङ्गीण उन्नति संभव नहीं हो सकती। आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की उन्नति के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। अतः राज्य को ऐसे विधान बनाने चाहिये जिससे दोनों प्रकार की उन्नति हो सके।

आदर्शवादियों का यह सूत्र "विघ्नों का विरोध" (Hindrance of hindrances) इतना अनिश्चित तथा अस्पष्ट है कि व्यक्तिवादी और समाजवादी दोनों अपने अपने राज्य के कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्तों की पुष्टि में इसका प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु आदर्शवादी के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस सिद्धान्त के अनुयायियों का यह मत कि राज्य को मनुष्यों के स्वतन्त्रता पूर्वक किये जाने वाले नैतिक कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, ठीक है।

(४) गान्धीवादी आर्थिक सिद्धान्त—गान्धीवादी आर्थिक सिद्धान्त में आदर्शवाद, समाजवाद और व्यक्तिवाद के सिद्धान्त सम्मिलित हैं। गान्धीजी

का मत है कि मनुष्य को आर्थिक जीवन में अहिंसा का प्रयोग करना चाहिये। उनका विचार है कि यांत्रिकशक्ति द्वारा वस्तुओं का उत्पादन करने के कारण मनुष्य के जीवन पर बड़ा दूषित प्रभाव पड़ा है। इससे मनुष्य का भौतिक जीवन बड़ा निकृष्ट हो गया है। इसी के कारण पिछड़े हुए देशों पर आक्रमण करके उन्हें दासता की बेड़ियों में जकड़ दिया गया है। इन विजित देशों से कच्चा माल ले जाकर यंत्र कलों द्वारा भांति भांति की वस्तुएँ बनाकर विजयी देश विजित देशों को भेजकर मनमाना लाभ उठाते हैं और इनका शोषण करते हैं। इसी कारण साम्राज्यवादी नीति का अनुकरण किया जाता है। इसी नीति का परिणाम है कि सैनिकवाद स्थापित होता जा रहा है और युद्ध होते हैं। पूंजीपति भौतिक उन्नति पर अधिक जोर देते हैं क्योंकि उनके स्वार्थ की सिद्धि इसी से होती है। इसके विपरीत गान्धीवादी आर्थिक सिद्धान्त मानवदयावाद और सांस्कृतिक उन्नति को अधिक महत्वपूर्ण समझता है। गांधीवाद में सब प्रकार शोषण का विरोध किया गया है। राज्यों को एक दूसरे का शोषण नहीं करना चाहिये, एक जाति को दूसरी जाति का शोषण नहीं करना चाहिये और मनुष्यों को परस्पर एक दूसरे का शोषण नहीं करना चाहिये। सब प्रकार के उत्पादन में मनुष्यों को स्वतन्त्रता होनी चाहिये। उत्पादन में मनुष्यों को व्यक्तिगत भावनाओं, प्रेरणाशक्ति तथा मौलिकता पर ध्यान देना चाहिये। मनुष्य को एक उचित सीमा के अन्तर्गत विचारों को प्रकट करने और कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। गान्धीवाद के मूल तत्व हैं आत्मनिर्भरता, उत्पादन का विकेन्द्रीयकरण, और न्यायसंगत वितरण। गान्धी जी का मत है कि बड़े बड़े विभागों का प्रबन्ध शासन अपने हाथ में रखे। जैसे रेल, डाक, तार, सिंचाई तथा बृहत् रूप के उद्योग धंधे राज्य के अधिकार में होने चाहिये और छोटे छोटे विभागों तथा उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण कर देना चाहिये। मनुष्यों से नकद कर न लेकर वस्तुओं के रूप में लिया जाय। स्थानीय उत्पादित वस्तुओं को उन्हीं स्थानों में खपाया जाय। स्थानीय करों को उन्हीं स्थानों में अधिकतर व्यय किया जाय, केवल वही वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लगाई जायँ जिनका उत्पादन स्वदेश की आवश्यकता से अधिक हो। जो वस्तुएँ मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये लाभदायक हैं उन्हें कदापि विदेशों को न भेजा जाय। देश के हित की वस्तुओं को भी विदेश न भेजा जाय। विदेशी वस्तुएँ न्यून से न्यून अपने अपने देश में मँगाई जायँ। देश का धन विदेश को न जाने पाये। तभी राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। लोगों के धनी और दरिद्र के भेद को मिटाया

राष्ट्र की बौद्धिक तथा नैतिक उन्नति करने में सहायता करनी चाहिये। राज्य को साहित्य, कला-कौशल तथा विज्ञान को प्रोत्साहन देना चाहिये। राज्य को राष्ट्र की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति का साधन बनना चाहिये। राज्य को निजी एकाधिकार के दोषों से समाज की रक्षा करने के लिये हस्तक्षेप करना चाहिये। साधारणतया अनुमान यही है कि राज्य अधिक हस्तक्षेप न करे। स्वतन्त्रता नियम होना चाहिये और हस्तक्षेप अपवाद। साधारणतया राज्य को समाज के लिये वे कार्य नहीं करने चाहिये जिन्हें लोग स्वयं उतनी ही अच्छी तरह अथवा उससे अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। राज्य को तभी हस्तक्षेप करना चाहिये जब यह विश्वास हो कि राज्य के हस्तक्षेप करने से जनता की अधिक भलाई होगी। यद्भाव्यं की नीति (Policy of laisses faire) आधुनिक काल में असंभव प्रतीत होती है। मनुष्य के सब संवासों का उद्देश्य स्वतन्त्रता नहीं है, यह तो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को परिपूर्ण करने का केवल साधनमात्र है।

मैकईवर (Mac Iver) के मतानुसार राज्य का कार्य क्षेत्र कुछ और ही है। मैकईवर के विचारों में बहुवाद की झलक है। उसका मत है कि राज्य का कार्यक्षेत्र इस बात से निर्धारित करना चाहिये कि राष्ट्र के एक अवयव की हैसियत से राज्य का कार्य करता है (बहुलवादियों का यह मत है कि राज्य में जिस प्रकार अन्य संवास हैं उसी प्रकार से यह भी एक संवास है, प्रत्येक संवास अपना अपना कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक करता है)। उसका यह विचार है कि राज्य का कार्य अन्य संवासों अथवा संगठनों में हस्तक्षेप किये बिना जो कार्य राज्य कर सकता है वे ही सब कार्य राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। सर्वसाधारण के हित का ध्यान इसमें आवश्यक है। मैकईश्वर का मत है कि राज्य के नकारात्मक और विध्यात्मक कार्य व्यवस्था स्थापित करना तथा व्यक्तित्व का आदर करना है। "पहली बात तो यह है कि राज्य को राय का नियंत्रण नहीं करना चाहिये, चाहे वह कैसी ही राय हो।" इस नियम के निम्नलिखित अपवाद हैं—

(१) राज्य के विधानों को तोड़ने के लिये उत्तेजना पर अथवा राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करने पर राज्य को हस्तक्षेप करना उचित है। नागरिक समुचित रीति से राज्य के वर्तमान विधानों की आलोचना कर सकते हैं, वे लोगों से शान्तिपूर्वक प्रार्थना करके उन्हें शासन के दोषों का विश्वास दिलाकर विधानों में इच्छित परि-वर्तनों के लिये वैधानिक रीति से प्रयत्न कर सकते हैं। विधान का

राष्ट्र की बौद्धिक तथा नैतिक उन्नति करने में सहायता करनी चाहिये। राज्य को साहित्य, कला-कौशल तथा विज्ञान को प्रोत्साहन देना चाहिये। राज्य को राष्ट्र की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति का साधन बनना चाहिये। राज्य को निजी एकाधिकार के दोषों से समाज की रक्षा करने के लिये हस्तक्षेप करना चाहिये। साधारणतया अनुमान यही है कि राज्य अधिक हस्तक्षेप न करे। स्वतन्त्रता नियम होना चाहिये और हस्तक्षेप अपवाद। साधारणतया राज्य को समाज के लिये वे कार्य नहीं करने चाहिये जिन्हें लोग स्वयं उतनी ही अच्छी तरह अथवा उससे अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। राज्य को तभी हस्तक्षेप करना चाहिये जब यह विश्वास हो कि राज्य के हस्तक्षेप करने से जनता की अधिक भलाई होगी। यद्भाव्यं की नीति (Policy of laisses faire) आधुनिक काल में असंभव प्रतीत होती है। मनुष्य के सब संवासों का उद्देश्य स्वतन्त्रता नहीं है, यह तो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को परिपूर्ण करने का केवल साधनमात्र है।

मैकईवर (Mac Iver) के मतानुसार राज्य का कार्य क्षेत्र कुछ और ही है। मैकईवर के विचारों में बहुवाद की झलक है। उसका मत है कि राज्य का कार्यक्षेत्र इस बात से निर्धारित करना चाहिये कि राष्ट्र के एक अवयव की हैसियत से राज्य का कार्य करता है (बहुलवादियों का यह मत है कि राज्य में जिस प्रकार अन्य संवास हैं उसी प्रकार से यह भी एक संवास है, प्रत्येक संवास अपना अपना कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक करता है)। उसका यह विचार है कि राज्य का कार्य अन्य संवासों अथवा संगठनों में हस्तक्षेप किये बिना जो कार्य राज्य कर सकता है वे ही सब कार्य राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। सर्वसाधारण के हित का ध्यान इसमें आवश्यक है। मैकईश्वर का मत है कि राज्य के नकारात्मक और विध्यात्मक कार्य व्यवस्था स्थापित करना तथा व्यक्तित्व का आदर करना है। "पहली बात तो यह है कि राज्य को राय का नियंत्रण नहीं करना चाहिये, चाहे वह कैसी ही राय हो।" इस नियम के निम्नलिखित अपवाद हैं—

(१) राज्य के विधानों को तोड़ने के लिये उत्तेजना पर अथवा राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करने पर राज्य को हस्तक्षेप करना उचित है। नागरिक समुचित रीति से राज्य के वर्तमान विधानों की आलोचना कर सकते हैं, वे लोगों से शान्तिपूर्वक प्रार्थना करके उन्हें शासन के दोषों का विश्वास दिलाकर विधानों में इच्छित परिवर्तनों के लिये वैधानिक रीति से प्रयत्न कर सकते हैं। विधान का

है। मैकईवर का कथन है कि "जब रीतिरिवाज पर विधान का आक्रमण होता है तो रीतिरिवाज भी आक्रमण करता है। रीतिरिवाजों का आक्रमण केवल उसी एक विधान पर नहीं होता जिसने रीतिरिवाज का विरोध किया था बल्कि विधान पालन की अन्तरात्मा अर्थात् जनसम्मति पर होता है। भयानक रीतिरिवाजों को विधानों द्वारा समाप्त किया जा सकता है। परन्तु समाज की प्रमुख रीतिरिवाजों में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता यह ऐसे अपवादों से ही सिद्ध है। इसी प्रकार राज्य विधानों द्वारा लोगों की संस्कृति पर भी आघात नहीं कर सकता।

जिस प्रकार राज्य का पूर्ण अधिकार उन सब संवासों पर होता है जो राज्य के अन्तर्गत होते हैं उसी प्रकार राज्य के लोगों के ऊपर भी राज्य का पूर्ण अधिकार होता है। राज्य का अधिकार है युद्ध और संधि करना। राजनैतिक झगड़ों का निर्णय राज्य बलपूर्वक कर सकता है। राजनैतिक विषय राज्य के लिये सर्वोपरि है। युद्ध के समय राज्य जिस प्रकार चाहे राज्य के अन्तर्गत धन, जन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता है। परन्तु मैकईवर का मत है कि राज्य की यह शक्ति भी सीमित होनी चाहिये।

अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्रवेत्ता प्रोफेसर रौस (Professor Ross) ने सामाजिक आचार के दृष्टिकोण से सामाजिक नियंत्रण के विषय पर इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं "प्रत्येक सामाजिक हस्तक्षेप की वृद्धि से समाज का उससे अधिक हित होना चाहिये जितनी कि हस्तक्षेप से समाज को हानि होनी है। समाजिक हस्तक्षेप ऐसा न हो कि जिससे उस हस्तक्षेप के विरुद्ध उत्तेजना फैले और उससे छुटकारा पाने की इच्छा प्रबल व्यक्तियों के जीवन में हाथ डालते समय समाज को चाहिये कि उनकी भावनाओं का आदर करे क्योंकि इन्हीं भावनाओं के आधार पर सामाजिक व्यवस्था स्वाभाविक रूप से स्थापित रहती है। सामाजिक हस्तक्षेप ऐसा पिता पुत्र जैसा हस्तक्षेप न हो कि जिससे दुराचारियों का नाश रुक जाय। सामाजिक हस्तक्षेप इतना भी न हो कि जीवन-संघर्ष को इतना परिमित कर दे कि प्रकृति के अनुसार जिन्हें बिगड़ना या बनना आवश्यक है उसके विपरीत कार्य होने लगे अर्थात् निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों को लाभ पहुँचे और योग्य व्यक्तियों को हानि *।"

---

* जे० फोर्ड—सोशल प्राब्लम्स ऐण्ड सोशल पालिसी पृष्ठ २४९।

है। मैकईवर का कथन है कि "जब रीतिरिवाज पर विधान का आक्रमण होता है तो रीतिरिवाज भी आक्रमण करता है। रीतिरिवाजों का आक्रमण केवल उसी एक विधान पर नहीं होता जिसने रीतिरिवाज का विरोध किया था बल्कि विधान पालन की अन्तरात्मा अर्थात् जनसम्मति पर होता है। भयानक रीतिरिवाजों को विधानों द्वारा समाप्त किया जा सकता है। परन्तु समाज की प्रमुख रीतिरिवाजों में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता यह ऐसे अपवादों से ही सिद्ध है। इसी प्रकार राज्य विधानों द्वारा लोगों की संस्कृति पर भी आघात नहीं कर सकता।

जिस प्रकार राज्य का पूर्ण अधिकार उन सब संवासों पर होता है जो राज्य के अन्तर्गत होते हैं उसी प्रकार राज्य के लोगों के ऊपर भी राज्य का पूर्ण अधिकार होता है। राज्य का अधिकार है युद्ध और संधि करना। राजनैतिक झगड़ों का निर्णय राज्य बलपूर्वक कर सकता है। राजनैतिक विषय राज्य के लिये सर्वोपरि है। युद्ध के समय राज्य जिस प्रकार चाहे राज्य के अन्तर्गत धन, जन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता है। परन्तु मैकईवर का मत है कि राज्य की यह शक्ति भी सीमित होनी चाहिये।

अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्रवेत्ता प्रोफेसर रौस (Professor Ross) ने सामाजिक आचार के दृष्टिकोण से सामाजिक नियंत्रण के विषय पर इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं "प्रत्येक सामाजिक हस्तक्षेप की वृद्धि से समाज का उससे अधिक हित होना चाहिये जितनी कि हस्तक्षेप से समाज को हानि होनी है। समाजिक हस्तक्षेप ऐसा न हो कि जिससे उस हस्तक्षेप के विरुद्ध उत्तेजना फैले और उससे छुटकारा पाने की इच्छा प्रबल व्यक्तियों के जीवन में हाथ डालते समय समाज को चाहिये कि उनकी भावनाओं का आदर करे क्योंकि इन्हीं भावनाओं के आधार पर सामाजिक व्यवस्था स्वाभाविक रूप से स्थापित रहती है। सामाजिक हस्तक्षेप ऐसा पिता पुत्र जैसा हस्तक्षेप न हो कि जिससे दुराचारियों का नाश रुक जाय। सामाजिक हस्तक्षेप इतना भी न हो कि जीवन-संघर्ष को इतना परिमित कर दे कि प्रकृति के अनुसार जिन्हें बिगड़ना या बनना आवश्यक है उसके विपरीत कार्य होने लगे अर्थात् निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों को लाभ पहुँचे और योग्य व्यक्तियों को हानि * ।"

---

* जे० फोर्ड—सोशल प्राब्लम्स ऐण्ड सोशल पालिसी पृष्ठ २४९।

तोड़ना किसी प्रकार उचित नहीं है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि प्रत्येक मजहब के प्रचार करने वालों को राज्य दंड दे।

(२) यह नियम उस साहित्य के लिये भी लागू है जो इस प्रकार राज्य के विधान की अवज्ञा करने का प्रचार करे, अथवा राज्य द्वारा वर्जित अनैतिक कार्यों का प्रचार करे। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि उत्तेजना प्रत्यक्ष हो, अप्रत्यक्ष न हो।

(३) विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि निन्दात्मक और मानहानि करने वाले विचार प्रकट किये जायँ अथवा ऐसे विषय पर आलोचना प्रकाशित की जाय जो न्यायाधीश के विचाराधीन हो।

आदर्शवादियों के समान, मैकाइवर का भी विचार है कि नैतिकता की आन्तरिक अनुभूति को राजनैतिक विधान से पृथक् रखना आवश्यक है। विधान नैतिकता निर्धारित नहीं कर सकता है। विधान केवल बाह्य कार्यों को निर्धारित कर सकता है। विधान को केवल वही कार्य निर्धारित करने चाहिये जो सर्वसाधारण के हित के लिये आवश्यक हों और जिनसे लोगों की शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक उन्नति हो। नैतिक कर्तव्यों को वैधानिक कर्तव्यों में परिवर्तन करने का परिणाम नैतिकता का ह्रास करना होगा। विधान नैतिकता से भिन्न है। राजनैतिक विधान के प्रति एक नागरिक का नैतिक उत्तरदायित्व है। राजनैतिक विधान की आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। मैकाइवर का कथन है कि "वास्तव में हम विधान का पालन इसलिये नहीं करते कि वह उचित है बल्कि इसलिये पालन करते हैं कि हम उसका पालन करना उचित समझते हैं। यदि ऐसा न हो तो एक असन्तुष्ट समुदाय की आज्ञा पालन करना विषमता हो जायगा और इतने झगड़े उठ खड़े होंगे कि राज्य-प्रबन्ध करना कठिन हो जायेगा। राजनैतिक कर्तव्य पालन का आधार यह है कि सर्वसाधारण का यह स्वीकृत विचार है कि विधान और शासन चिरस्थायी संस्थायें हैं। इसी कारण हम विशिष्ट विधानों को अन्यायपूर्ण समझते हुए भी स्वीकृत कर लेते हैं। जब नैतिकता बलपूर्वक विधान द्वारा लागू नहीं की जा सकती है तो धर्म भी विधान द्वारा बलपूर्वक नहीं फैलाया जा सकता। जब ईसाई धर्म के पादरी ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिये लोगों को नहीं फुसला सकते तो उन्हें राज्य से भी यह प्रार्थना नहीं करनी चाहिये कि ईसाई धर्म का विधान द्वारा प्रचार किया जाय। ऐसा करने का अर्थ यह है कि ईसाई पादरियों का अपनी नैतिक शक्ति में विश्वास नहीं है। राज्य विधानों द्वारा समाज के प्रचलित रीति-रिवाजों को भी नष्ट नहीं कर सकता

है। मैकईवर का कथन है कि "जब रीतिरिवाज पर विधान का आक्रमण होता है तो रीतिरिवाज भी आक्रमण करता है। रीतिरिवाजों का आक्रमण केवल उसी एक विधान पर नहीं होता जिसने रीतिरिवाज का विरोध किया था बल्कि विधान पालन की अन्तरात्मा अर्थात् जनसम्मति पर होता है। भयानक रीतिरिवाजों को विधानों द्वारा समाप्त किया जा सकता है। परन्तु समाज की प्रमुख रीतिरिवाजों में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता यह ऐसे अपवादों से ही सिद्ध है। इसी प्रकार राज्य विधानों द्वारा लोगों की संस्कृति पर भी आघात नहीं कर सकता।

जिस प्रकार राज्य का पूर्ण अधिकार उन सब संवासों पर होता है जो राज्य के अन्तर्गत होते हैं उसी प्रकार राज्य के लोगों के ऊपर भी राज्य का पूर्ण अधिकार होता है। राज्य का अधिकार है युद्ध और संधि करना। राजनैतिक झगड़ों का निर्णय राज्य बलपूर्वक कर सकता है। राजनैतिक विषय राज्य के लिये सर्वोपरि है। युद्ध के समय राज्य जिस प्रकार चाहे राज्य के अन्तर्गत धन, जन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता है। परन्तु मैकईवर का मत है कि राज्य की यह शक्ति भी सीमित होनी चाहिये।

अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्रवेत्ता प्रोफेसर रौस (Professor Ross) ने सामाजिक आचार के दृष्टिकोण से सामाजिक नियंत्रण के विषय पर इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं "प्रत्येक सामाजिक हस्तक्षेप की वृद्धि से समाज का उससे अधिक हित होना चाहिये जितनी कि हस्तक्षेप से समाज को हानि होनी है। समाजिक हस्तक्षेप ऐसा न हो कि जिससे उस हस्तक्षेप के विरुद्ध उत्तेजना फैले और उससे छुटकारा पाने की इच्छा प्रबल व्यक्तियों के जीवन में हाथ डालते समय समाज को चाहिये कि उनकी भावनाओं का आदर करे क्योंकि इन्हीं भावनाओं के आधार पर सामाजिक व्यवस्था स्वाभाविक रूप से स्थापित रहती है। सामाजिक हस्तक्षेप ऐसा पिता पुत्र जैसा हस्तक्षेप न हो कि जिससे दुराचारियों का नाश रुक जाय। सामाजिक हस्तक्षेप इतना भी न हो कि जीवन-संघर्ष को इतना परिमित कर दे कि प्रकृति के अनुसार जिन्हें बिगड़ना या बनना आवश्यक है उसके विपरीत कार्य होने लगे अर्थात् निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों को लाभ पहुँचे और योग्य व्यक्तियों को हानि * ।"

---

* जे० फोर्ड–सोशल प्राब्लम्स ऐण्ड सोशल पालिसी पृष्ठ २४९ ।

६—शासन के कार्यों का वर्गीकरण—शासन के कार्य दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं एक वास्तविक दूसरे वैकल्पिक। वैकल्पिक कार्य वे कार्य हैं जो राज्य के स्थायित्व के लिये आवश्यक हैं और जिनसे व्यक्ति की नागरिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा होती है, उसके जीवन संपत्ति तथा स्वतन्त्रता की पारस्परिक अत्याचारों से रक्षा होती है। इन कार्यों का रूप तीन-प्रकार के सम्बन्धों से निर्णीत होता है पारस्परिक राज्य-राज्य-सम्बन्धी, राज्य-नागरिक संबंधी तथा नागरिक-नागरिक सबंधी। वुडरो विलसन (Woodrow Wilson) ने राज्य के वास्तविक कार्य निम्नलिखित बतलाये हैं—

(१) व्यवस्था बनाये रखना तथा तन और धन की हिंसा और लूट से रक्षा का प्रवन्ध करना।
(२) पति-पत्नी के बीच तथा माता-पिता और पुत्र-पुत्रियों के बीच वैधानिक सम्बन्ध निश्चित करना।
(३) सम्पत्ति पर अधिकार, उसके आदान तथा परिवर्तन का नियमन न करना और ऋण अथवा अपराध सम्बन्धी दायित्व का निर्णय करना।
(४) व्यक्तियों के बीच अनुबंधी अधिकारों को निर्धारित करना।
(५) अपराधों की परिभाषा और दंड।
(६) अर्थविधानिकवाद (मुकद्दमे) का न्याय परिपालन।
(७) नागरिकों के संबंधों, अधिकारों तथा राजनैनिक कर्तव्यों को निर्धारित करना।
(८) राज्य का विदेशी राज्यों से सम्बन्ध, राज्य की बाह्य आक्रमणों से रक्षा, तथा आन्तरिक राष्ट्रीय हितों को प्रगति करना।

गैटिल ऊपर लिखे वर्गीकरण का अनुमोदन करता है परन्तु वह शासन को दो अन्य भागों में विभाजित करता है। उसके मतानुसार शासन के दो भाग, आर्थिक और सैनिक हैं। इन्हीं पर विशेष ध्यान देना उचित है। आर्थिक कार्यो में वह कर लगाना आयात निर्यात-कर, मदिरा, मुद्रा, चलार्थ तथा सार्वजनिक सम्पत्ति का नियमन युद्धसामग्री, सरकारी ऋण का प्रवंध आदि को सम्मिलित करता है। सैनिक कार्यो में वह जल, थल तथा वायुसेना का रखना बतलाता है। गैटिल का कथन है कि "साधारणतया स्थल और जल दोनों प्रकार की सेनाएँ युद्ध की प्रत्यक्ष चुनौती देने की अपेक्षा शान्ति का आधार समझी जाती हैं। स्थल सेना देश के भीतर शान्ति रखने में सहायता

करती है और जल सेना व्यापार और उपनिवेशों की रक्षा करती है *"। सब बड़े बड़े राज्यों में राष्ट्र की आय का बहुत बड़ा भाग स्थल तथा जल सेना पर व्यय किया जाता है।" यहाँ तक कि अमेरिका के संयुक्त राज्य में भी जहाँ युद्ध की संभावना अन्य देशों की अपेक्षा अति न्यून है, संघ सरकार की आय का तीन चौथाई व्यय स्थल, जलसेना तथा अवसर वृत्ति (Pensions) पर होता है"† ।

वैकल्पिक कार्य वे कार्य हैं जो राज्य के अस्तित्व अथवा वैयक्तिक सुरक्षा और स्वन्त्रता के लिये इतने आवश्यक नहीं हैं परन्तु जनसाधारण के हित के लिये उपयोगी हैं। वैकल्पिक कार्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है एक समाजवादात्मक, दूसरे असमाजवादात्मक। समाजवादात्मक कार्य वे कार्य हैं जिन्हें निजी संस्थाओं के हाथ में शासन दे सकता है परन्तु बहुत से निजी अधिकार के दोषों को दूर रखने तथा उन्हें सामूहिक रूप में अधिक उत्तमता से चलाने के योग्य होने के कारण शासन उनके करने का भार अपने ऊपर ले लेता है। असमाजवादात्मक कार्य वे हैं जिन्हें यदि शासन न करे तो कोई व्यक्ति स्वयं उन्हें करने को तैयार न होगा।

वुडरो विलसन ने निम्नलिखित वैकल्पिक कार्य बतलाये हैं:—

(१) व्यापार तथा उद्योग धंधों का नियमन करना।
(२) श्रम का नियमन करना।
(३) सर्वसाधारण मार्गों का प्रबंध।
(४) डाक, तार का प्रबंध।
(५) गैस का उत्पादन तथा वितरण। जल-कल का प्रबंध।
(६) स्वच्छता तथा स्वच्छता संबंधी व्यापार का नियमन।
(७) शिक्षा।
(८) दरिद्र तथा अयोग्य व्यक्तियों की देख रेख।
(९) वनों का संवंधन तथा नदियों में मत्स्यसंचय।
(१०) व्यय संबंधी विधान जैसे मद्य-निषेध-विधान।‡

---

* आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ४००।४०१।
† आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ४०१।
‡ आर० एन० गिलक्रिस्ट—प्रिंसिपल्स आफ पौटिकल साइंस पृष्ठ ४३३।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये:—

डब्ल्यू विलसन—*स्टेट*

ऐच० सिजविक—*ऐलीमैन्ट्स आफ पौलिटिक्स*

आर० ऐम०—*माडर्न स्टेट*

ऐस० लीकाक—*ऐलीमैंट्स आफ पौलीटिकल साइंस*

आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—*प्रिंसिपल्स आफ पौलिटिकल साइंस*

आर० जी० गैटिल—*इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस*

जे० डब्ल्यू० गार्नर—*पौलीटिकल साइंस ऐण्ड गवर्नमैंट*

बी० बोसांके—*फिलासाफिकल थ्यौरी आफ दी स्टेट*

महाभारत—*शान्तिपर्व*

शुक्राचार्य—*शुक्र नीतिसार*

अध्याय ८

सामाजिक-अनुवन्ध सिद्धान्त

पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ता सामाजिक-अनुवंध-सिद्धान्त के विचारों का आरम्भ यूनान से चित्रित करते हैं। पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ताओं का यह विचार मिथ्या है। सामाजिक-अनुवन्ध सिद्धान्त का वर्णन हमारी प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकों में मिलता है। महाभारत के समय को अब से लगभग पाँच सहस्र वर्ष हो गये हैं। महाभारत में सामाजिक-अनुवन्ध का वर्णन आया है। शांति पर्व के ६७ वें अध्याय में लिखा है कि पहले राजा न था। मनुष्य अराजक अवस्था में थे। अराजक राज्य की प्रजा वैसे ही नष्ट हुई जैसे जल में वड़ी मछली छोटी को खा जाती है। जब इस प्रकार लोगों का नाश होने लगा, तब सबने मिलकर निश्चय किया कि हम लोगों में जो कटुभाषी, उद्दण्ड परस्त्रीगामी और परधनहारी होगा, वह त्याज्य अथवा वहिष्कृत समझा जायगा। इस प्रकार सब वर्णों में विश्वास स्थापन करने के लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि हम लोगों में राजा न रहने से हमारा दुःख बढ़ रहा है, इसलिये आप हमें राजा दीजिये, जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा प्रतिपालन करे। इस पर उन्होंने मनु को आज्ञा दी और सब लोगों ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूं और राज कार्य वड़ा कठिन है, विशेष कर ऐसे मनुष्यों में जो नित्य मिथ्याचार करते हैं। प्रजा ने उनसे कहा कि आप न डरिये। पापाचरण करने वाला ही उसका फल भोगेगा। हम लोग आपकी कोशवृद्धि के लिए आपको अपने पशुओं और सुवर्ण का पचासवां भाग और धान्य का दसवाँ भाग देंगे। जिस कन्या का सबसे अधिक यौतुक निर्दिष्ट होगा, उस सुन्दरी से आपका विवाह कर दिया जायगा। जैसे इन्द्र के पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम वाहनों पर चढ़े हुए शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ पुरुष आपके पीछे चलेंगे। जैसे कुबेर यक्षों की रक्षा करते हैं, वैसे ही बली, प्रतापी और दुराधर्ष आप हमारी रक्षा करें। राजा से रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी, उसका चतुर्थांश फल आपको

मिलेगा। उसी धर्म से बलवान् होकर आप हम लोगों की रक्षा करें, जैसे इंद्र देवताओं की रक्षा करते हैं। आप सूर्य की भांति शत्रुओं को तपाते हुए विजय के निमित्त यात्रा कीजिये और शत्रुओं का अभिमान नष्ट कीजिये। आपकी सदा जय हो *।

---

* अराजकाः प्रजा पूर्वं विनेशुरिति न श्रुतम्।
परस्परे भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥१७॥
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्ड परुषो यश्च स्यात् पारजायिकः ॥१८॥
यः परस्वमथादद्याज्त्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थञ्च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः ॥१९॥
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे।
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्त्ताः पितामहम् ॥२०॥
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश।
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ॥२१॥
ततो मनुं व्यादि देश मनुर्नाभिनन्द ताः।
मनुरुवाच।
बिभामि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥२२॥
भीष्म उवाच।
तमब्रु वन् प्रजा मा भैः कर्तृ नेनो गमिष्यति।
पशूनामाधि पञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥२३॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्द्धनम्।
कान्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥२४॥
मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥२५॥
सत्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुबेर इव नैर्ऋतान् ॥२६॥
यञ्च धर्म्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्म्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥२७॥
तेन धर्म्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः।
पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवा निव शतक्रतुः ॥२८॥

इस आख्यायिका से स्पष्ट है कि मात्स्यन्याय से दुःखी होकर लोगों ने राज्य की खोज की। आपस के व्यवहार के लिये नियम तो उन्होंने बना लिये थे, परन्तु लोगों को नियम पालन करने के लिए बाध्य करने वाले नियामक के अभाव में इनसे लाभ नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने ब्रह्मा से परामर्श किया कि हमें कोई राजा होने योग्य मनुष्य बताइये। ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी कि तुम राजा बन जाओ। मनु ने जब इनकार किया, तब प्रजा ने कहा कि आप हमारे योगक्षेम वाहक बनिये। इसके बदले में हम आपको अपने पशुओं और धान्य का दशमांश देंगे। इस समय राज और प्रजा के कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख हुआ। राजा प्रजा की रक्षा करे और इसके बदले में प्रजा उसे कर दिया करे। राजा का कार्य हुआ प्रजा की रक्षा करना और प्रजा का कार्य हुआ इसके लिए कर रूप में उसे वेतन देना। परन्तु कौटिल्य ने मनु के निर्वाचन के विषय में ब्रह्मा को बीच में नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि जब प्रजा मात्स्यन्याय से अभिभूत थी, तब उसने वैवस्वत मनु को राजा बनाया और उसके लिए अन्न का छठा तथा पण्य और सोने का दसवां भाग कर रूप में देने की व्यवस्था की। इसके बदले वे प्रजा के योगक्षेमवाहक और सुप्रयुक्त दण्ड के अभाव में पापों के लिए उत्तरदाता बने*।

इसके पश्चात् हमको यूनान में सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त के विचारों का पता चलता है। यूनान में इस विचार के प्रवर्त्तक सोफी लोग (Sophists) थे। सोफी लोगों का मत है कि 'नागरिक समाज' (Civil Society) की स्थापना एक अनुबन्ध द्वारा हुई है। प्लैटो और अरस्तू ने भी इस अनुबन्ध का वर्णन अपने लेखों में किया है। उन्होंने इस सिद्धान्त का विरोध किया है। रोमन राजनैतिक दार्शनिकों की पुस्तकों में हमें कहीं भी इस सिद्धान्त का उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु इतना अवश्य है कि ये लोग अपनी वैधानिक पद्धति का आधार स्वाभाविक विधान (Natural Law) को मानते हैं। मध्यकालीन यूरुप में सामन्त प्रणाली (Feudal System)

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तुतव सर्वदा ॥२९॥ शां० प० अ० ६७

* मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजनं चक्रिरे ॥६॥
धान्य षड्भगं पण्य दशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥७॥
अर्थ शा० अधि० १ अ० १३।

एक अनुबन्ध के आधार पर स्थापित थी। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में स्वेच्छाचारवाद का विरोध करने के लिये सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का प्रयोग किया गया। हॉब्ज, लॉक और रूसो ने इस सिद्धांत का पूर्णरूप से स्पष्टीकरण किया अथवा यों कहना चाहिये कि वास्तव में सामाजिक अनुबन्ध के प्रवर्त्तक आजकल ये ही तीन समझे जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि पहले राजनैतिक सिद्धान्त की स्थापना हुई, फिर राजनैतिक संस्थाओं की। अन्य कुछ लोगों का विचार इसके विपरीत यह है कि पहले राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना हुई, फिर राजनैतिक सिद्धान्तों की। जिन लोगों का यह विचार है कि पहले राजनैतिक सिद्धान्तों की स्थापना हुई फिर राजनैतिक संस्थाओं की, उनका यह मत है कि मनुष्यों में राजनैतिक चेतना हुई। उनमें राजनैतिक विचार विद्यमान थे। उन्हीं राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने अपनी राजनैतिक संस्थाएं स्थापित करलीं और वैसी ही शासन प्रणाली द्वारा राज्य कार्य का संचालन किया। कुछ लोगों का यह मत है कि पहले राजनैतिक संस्थाएँ स्थापित हुईं, उसके पश्चात् लोगो ने उन्ही संस्थाओं की शासन प्रणालियों के अनुसार राजनैतिक सिद्धान्त बना लिये। हॉब्ज और लॉक उन राजनैतिक दार्शनिकों में से हैं जिनका यह मत है कि प्रचलित राजनैतिक धारणा एवं कल्पना के अनुसार उस समय की राजनैतिक संस्था का स्वरूप निर्धारित होता है। रूसो उन राजनैतिक दार्शनिकों में से हैं जिनका यह विचार है कि प्रचलित राजनैतिक संस्थाओं के अनुसार उस समय के राजनैतिक सिद्धान्त अपना स्वरूप धारण कर लेते हैं। हॉब्ज के समय में इंगलैंड में गृह-युद्ध (१६४१-४६) हुआ था। सन् १६५१ में उसने अपना ग्रंथ "लैवियैथन" (Leviathan) प्रकाशित किया था। गृह युद्ध में जनता ने चार्ल्स प्रथम की हत्या कर डाली और बहुत से अत्याचार हुए। इन बातो का हॉब्ज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका यह विश्वास हो गया कि राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिये स्वेच्छाचारी शासन की आवश्यकता है। राज्य में शान्ति तभी स्थापित रह सकती है जब राज्यसत्ता एक दृढ़ स्वेच्छाचारी शासक के हाथ में हो। उसने राजकीय स्वेच्छाचारिता का समर्थन किया और अपने सिद्धान्त को न्याय द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। ईश्वरीय सिद्धान्त के अनुसार स्वेच्छाचारी राजा को प्रजा किसी दशा में भी स्वीकार करने को उद्यत न थी। अतः हॉब्ज ने सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त का प्रयोग किया और इस सिद्धान्त के अनुसार स्वेच्छाचारी राजतन्त्र न्याय से प्रमाणित और युक्तिसंगत सिद्ध किया। उसने यह कल्पना की कि

जिस समय समाज अराजक दशा में होगा उस समय ऐसी ही संकटमय दशा होगी जैसी गृह-युद्ध के समय में है। इसी कल्पना के आधार पर उसने अपने सामाजिक-अनुबध सिद्धान्त को रूप दिया। लॉक के समय में स्तुअर्त-क्रान्ति (Glorious Revolution) हुई और सीमित-राजतन्त्र की स्थापना हुई। अतः लॉक ने अपना ग्रंथ "ट्रीटिजैज आन सिविल गवर्नमेंट (Treatises on Civil Government) लिखा जिसमें उसने ऐसी वैधानिक अथवा सीमित राजतन्त्र पद्धति का समर्थन किया जैसी उस समय इंगलैंड में स्थापित थी। जिस समय फ्रांस की राजनैतिक तथा सामाजिक अव्यवस्था पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी और पुनरुज्जीवन की अत्यन्त आवश्यकता थी उस समय रूसो का "सोशल कान्ट्रैक्ट" (Social Contract) प्रकाशित हुआ। उस समय फ्रांस की दशा बड़ी शोचनीय थी। स्वेच्छाचारी शासन था। शासन में भ्रष्टाचार फैला हुआ था। जनता की स्वतन्त्रता संकट में थी। शासन कठोर था न्याय का नाम न था। समाज में बड़ी भारी असमानता थी। धनी लोग सुखी थे। उन्हें राज्य कर भी अधिक नहीं देने पड़ते थे। समाज के छोटे तथा साधारण स्तर के लोगों पर राज्य-करों का संपूर्ण भार था उनकी दशा दासों की सी थी। ऐसी दशा का रूसो पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने यह कल्पना की कि एक ऐसे शासन की स्थापना की जाय जिसमें सर्व साधारण की इच्छा ही सर्वोच्चसत्ता हो। वही राष्ट्र के व्यक्तियों की रक्षा करे तथा जनमत का आदर करे राष्ट्र के सब मनुष्यों की संयुक्त इच्छा राज्य की संचालक हो और सब मनुष्य इस प्रकार शासक होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से पूर्ण स्वतन्त्र बने रहें। इस प्रकार उसने एक ऐसा सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त स्थापित किया जिसके द्वारा सर्वोच्चसत्ता संगठित रूप में सब मनुष्यों के हाथ में हो। इस सर्वोच्चसत्ता का नाम उसने "सर्वेच्छा" (General will) रखा है। सर्वेच्छा के शासन में सब मनुष्यों को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। इस सिद्धान्त का फ्रांस की राजनैतिक दशा पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

हॉब्ज, लॉक और रूसो का सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त से घनिष्ट संबंध है। सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त को इन्हीं तीन राजशास्त्रवेत्ताओं ने मण्डित करके वर्तमान स्वरूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों ने यूरुप में बड़ी हलचल मचादी थी। नवीन सिद्धान्तों ने यूरोपीय रंगमंच पर अपना रूप प्रकट किया था। उसी समय इँगलैंड में हॉब्ज और लॉक ने तथा फ्रांस

एक अनुबन्ध के आधार पर स्थापित थी। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में स्वेच्छाचारवाद का विरोध करने के लिये सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का प्रयोग किया गया। हॉब्ज, लॉक और रूसो ने इस सिद्धांत का पूर्णरूप से स्पष्टीकरण किया अथवा यों कहना चाहिये कि वास्तव में सामाजिक अनुबन्ध के प्रवर्त्तक आजकल ये ही तीन समझे जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि पहले राजनैतिक सिद्धान्त की स्थापना हुई, फिर राजनैतिक संस्थाओं की। अन्य कुछ लोगों का विचार इसके विपरीत यह है कि पहले राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना हुई, फिर राजनैतिक सिद्धान्तों की। जिन लोगों का यह विचार है कि पहले राजनैतिक सिद्धान्तों की स्थापना हुई फिर राजनैतिक संस्थाओं की, उनका यह मत है कि मनुष्यों में राजनैतिक चेतना हुई। उनमें राजनैतिक विचार विद्यमान थे। उन्हीं राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने अपनी राजनैतिक संस्थाएं स्थापित करलीं और वैसी ही शासन प्रणाली द्वारा राज्य कार्य का संचालन किया। कुछ लोगों का यह मत है कि पहले राजनैतिक संस्थाएँ स्थापित हुई, उसके पश्चात् लोगों ने उन्हीं संस्थाओं की शासन प्रणालियों के अनुसार राजनैतिक सिद्धान्त बना लिये। हॉब्ज और लॉक उन राजनैतिक दार्शनिकों में से हैं जिनका यह मत है कि प्रचलित राजनैतिक धारणा एवं कल्पना के अनुसार उस समय की राजनैतिक संस्था का स्वरूप निर्धारित होता है। रूसो उन राजनैतिक दार्शनिकों में से है जिनका यह विचार है कि प्रचलित राजनैतिक संस्थाओं के अनुसार उस समय के राजनैतिक सिद्धान्त अपना स्वरूप धारण कर लेते हैं। हॉब्ज के समय में इंगलैंड में गृह-युद्ध (१६४१-४९) हुआ था। सन् १६५१ में उसने अपना ग्रंथ "लैवियैथन" (Leviathan) प्रकाशित किया था। गृह-युद्ध में जनता ने चार्ल्स प्रथम की हत्या कर डाली और बहुत से अत्याचार हुए। इन बातों का हॉब्ज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका यह विश्वास हो गया कि राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिये स्वेच्छाचारी शासन की आवश्यकता है। राज्य में शान्ति तभी स्थापित रह सकती है जब राज्यसत्ता एक दृढ़ स्वेच्छाचारी शासक के हाथ में हो। उसने राजकीय स्वेच्छाचारिता का समर्थन किया और अपने सिद्धान्त को न्याय द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। ईश्वरांश सिद्धान्त के अनुसार स्वेच्छाचारी राजा को प्रजा किसी दशा में भी स्वीकार करने को उद्यत न थी। अतः हॉब्ज ने सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त का प्रयोग किया और इस सिद्धान्त के अनुसार स्वेच्छाचारी राजतन्त्र न्याय से प्रमाणित और युक्तिसंगत सिद्ध किया। उसने यह कल्पना की कि

जिस समय समाज अराजक दशा में होगा उस समय ऐसी ही संकटमय दशा होगी जैसी गृह-युद्ध के समय में है। इसी कल्पना के आधार पर उसने अपने सामाजिक-अनुबध सिद्धान्त को रूप दिया। लॉक के समय में स्तुमर्त-क्रान्ति (Glorious Revolution) हुई और सीमित-राजतन्त्र की स्थापना हुई। अतः लॉक ने अपना ग्रंथ "ट्रीटिजैज आन सिविल गवर्नमेंट (Treatises on Civil Government) लिखा जिसमें उसने ऐसी वैधानिक अथवा सीमित राजतन्त्र पद्धति का समर्थन किया जैसी उस समय इंगलैंड में स्थापित थी। जिस समय फ्रांस की राजनैतिक तथा सामाजिक अव्यवस्था पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी और पुनरुज्जीवन की अत्यन्त आवश्यकता थी उस समय रूसो का "सोशल कान्ट्रैक्ट" (Social Contract) प्रकाशित हुआ। उस समय फ्रांस की दशा बड़ी शोचनीय थी। स्वेच्छाचारी शासन था। शासन में भ्रष्टाचार फैला हुआ था। जनता की स्वतन्त्रता संकट में थी। शासन कठोर था न्याय का नाम न था। समाज में बड़ी भारी असमानता थी। धनी लोग सुखी थे। उन्हें राज्य कर भी अधिक नहीं देने पड़ते थे। समाज के छोटे तथा साधारण स्तर के लोगों पर राज्य-करों का संपूर्ण भार था उनकी दशा दासों की सी थी। ऐसी दशा का रूसो पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने यह कल्पना की कि एक ऐसे शासन की स्थापना की जाय जिसमें सर्व साधारण की इच्छा ही सर्वोच्चसत्ता हो। वही राष्ट्र के व्यक्तियों की रक्षा करे तथा जनमत का आदर करे राष्ट्र के सब मनुष्यों की संयुक्त इच्छा राज्य की संचालक हो और सब मनुष्य इस प्रकार शासक होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से पूर्ण स्वतन्त्र बने रहें। इस प्रकार उसने एक ऐसा सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त स्थापित किया जिसके द्वारा सर्वोच्चसत्ता संगठित रूप में सब मनुष्यों के हाथ में हो। इस सर्वोच्चसत्ता का नाम उसने "सर्वेच्छा" (General will) रखा है। सर्वेच्छा के शासन में सब मनुष्यों को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। इस सिद्धान्त का फ्रांस की राजनैतिक दशा पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

हॉब्ज, लॉक और रूसो का सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त से घनिष्ट संबंध है। सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त को इन्हीं तीन राजशास्त्रवेत्ताओं ने मण्डित करके वर्तमान स्वरूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों ने यूरुप में बड़ी हलचल मचादी थी। नवीन सिद्धान्तों ने यूरोपीय रंगमंच पर अपना रूप प्रकट किया था। उसी समय इँगलैंड में हॉब्ज और लॉक ने तथा फ्रांस

में रूसो ने सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का प्रचार किया था। इस सिद्धान्त का वर्णन करने से पूर्व हम तीनों राजशास्त्रवेत्ताओं का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

(१) टामस हॉब्ज (१५८८ से १६७९ तक)—हॉब्ज चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक रह चुका था। सदाचार, दर्शन तथा विधान सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उसने लिखे थे। उसने अपने "लैवियाथन" (१६५१) नामक ग्रन्थ में सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त को बड़ा ही विचित्र रूप दिया। उसका विचार था कि स्वार्थ ही मनुष्य का नैसर्गिक धर्म है। इन्द्रियों को शान्त तथा तृप्त करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। यदि वह दया दिखाता है तो इसीलिये कि लोग उसकी अपरिमित शक्ति तथा उदारता की प्रशंसा करें।। प्रशंसा रूपी स्वार्थ ही उसकी दया का मूल है। कभी कभी उसमें दया इस भय से भी उत्पन्न होती है कि "कदाचित इसी वेग का कष्ट मुझको भी किसी समय आ घेरे।" मनुष्य एक प्रकार का जीव है जो स्वार्थ के आधार पर सब कार्य करता है। इसलिये मात्स्य न्याय ही नैसर्गिक नियम है। मात्स्यन्याय से भयभीत होकर ही लोगों ने राजा की स्थापना की। राजा का लोगों के सामाजिक अनुबंध से कोई सरोकार न था जनता ने राजा की शरण में आकर अपने आपको पारस्परिक स्वार्थ के घातक प्रभावों से बचने के लिये अपने आपको समर्पित किया इसलिये यदि राजा कुछ अधिक अधिकारों को भी प्रयोग में लाता है तो वह ला सकता है। जनता के साथ उसने ऐसा न करने की प्रतिज्ञा नहीं की है। हॉब्ज ने इसी सिद्धान्त द्वारा स्तुअर्त राजाओं के स्वेच्छाचार को समर्थन किया।

(२) जॉन लॉक (१६३२ से १७०४ तक):—जॉन लॉक का मत हॉब्ज से सर्वथा भिन्न है। लॉक मात्स्यन्याय को नैसर्गिक नियम नहीं समझता था। उसका विचार था कि नैसर्गिक नियम इतने विलक्षण हैं कि उनका समझना अत्यन्त कठिन है। इसी कठिनाई से मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता छोड़नी पड़ी। लोगों ने जिसको राजा चुना, उसको नैसर्गिक नियमों को पालन करने के लिये भी बाधित किया। राजा उनके सामाजिक अनुबन्ध का अङ्ग था। यदि राजा उस अनुबन्ध को भङ्ग करे तो वह दंडनीय है। लॉक ने इस सिद्धान्त द्वारा परिमित एकतन्त्रराज्य को पुष्ट किया। सन् १६८८ की राज्य क्रान्ति में लॉक के सिद्धान्त ने बड़ा प्रभाव दिखाया।

(३) जीन जैक रूसो (१७१२ से १७७८ तक)—अठारहवीं शताब्दी में रूसो का सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त अधिक प्रचलित था। उसने

सन् १७६२ में "सोशल कॉन्ट्रेक्ट" नामक ग्रंथ लिखा। उसमें उसने लिखा है कि आरंभ में जीवनोपयोगी वस्तुओं की अधिकता से लोग सुखी थे। ज्यों ज्यों जनसंख्या बढ़ी इन वस्तुओं की कमी होने लगी। लोगों में चोरी आदि की टेव पड़ गई। 'मेरे' 'तेरे' का ज्ञान होने लगा। लाचार होकर लोगों ने अपने अधिकारों को एक समिति को सौंप दिया। सरकार सामाजिक अनुबंध का अंग नहीं थी, वह तो केवल राज्य के रूप में संगठित समाज की ओर से काम करने वाली संस्था थी। अन्तिम निर्णय लोगों ने अपने ही हाथ में रखा। समिति के पास ही प्रभुत्व शक्ति थी। प्रतिनिधि को भी लोग अच्छा नहीं समझते थे। इस सिद्धान्त ने अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय जनता को राज्य-क्रान्ति करने के लिये उत्तेजित किया। राज्य तथा राष्ट्र में इसी सिद्धान्त द्वारा भेद स्थापित हुआ।

अब हम इन लेखकों के विचारों को क्रमशः निम्नलिखित शीर्षकों में वर्णन करेंगे—

(१) प्राकृतिक दशा तथा नैसर्गिक विधान।
(२) अनुबंध का लक्षण।
(३) सर्वोच्च सत्ता।
(४) राज्य तथा शासन का रूप।
(५) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अधिकार सिद्धान्त।

(१) प्राकृतिक दशा तथा नैसर्गिक विधान—हॉब्ज का मत है कि जिस समय लोगों में राजनैतिक चेतना नहीं थी उस समय वे प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों की दशा बड़ी शोचनीय थी। लोगों में परस्पर युद्ध होता रहता था। मात्स्यन्याय प्रचलित था। बलवान दुर्बल को दुःख देता था। मनुष्य निरा स्वार्थी था। लोग एक दूसरे से भय मानते थे। दुर्बल मनुष्य बलवान से सदैव भयभीत रहता था और बलवान भी दुर्बल से भयभीत रहता था। बलवान का यह विचार था कि कोई भी व्यक्ति इतना निर्बल नहीं है कि उसका भय न माना जाय। उस समय लोगों में यह भावना थी कि "जिसकी चाहो हत्या कर डालो, जो चाहो सो छीन लो।" लोगों को किसी कार्य के करने से रोकने के लिये कोई शक्ति तथा कोई नियम वा विधान न था। उस समय लोगों का जीवन "अकेला दरिद्र, घृणित, पशुतुल्य तथा सूक्ष्म था" "प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शत्रु था"। "मनुष्य को आनन्द की कामना रहती है, अतः आनन्द के लिये मनुष्य को अन्य मनुष्यों पर अधिकार स्थापित करने की आवश्यकता होती है। मनुष्य एक दूसरे पर

अधिकार स्थापित नहीं कर सकता क्यों कि प्राकृतिक अवस्था में सब मनुष्यों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तिया समान थीं। अतः मनुष्य सदैव एक दूसरे से भय मानते हैं" ऐसा विचार हॉब्ज का है।

लॉक का विचार है कि प्राकृतिक अवस्था में लोगों में पारस्परिक युद्ध अथवा लड़ाई झगड़े नही होते थे। उस दशा को "प्राक्-राजनैतिक दशा (Pre-political State) कह सकते हैं परन्तु उसे प्राक्-सामाजिक दशा (Pre-social State) नहीं कह सकते। उस समय लोग शान्तिपूर्वक रहते थे, वे लोग एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते थे और भलाई करते थे, एक दूसरे की सहायता भी करते थे तथा एक दूसरे की रक्षा भी करते थे। उस समय लोग स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे परन्तु वे दुश्चरित्र नही थे। लोगों की बहुत बड़ी संख्या नैतिक विधानों के अनुसार अर्थात् आन्तरिक नैतिकता के नियमो के अनुसार कार्य करती थी। कुछ थोड़े से मनुष्य ऐसे दुष्ट भी थे जो अपने व्यवहार से अन्य लोगों को कष्ट देते थे। ऐसी दशा में लोग अपनी इच्छानुसार सब बातों का निर्णय करते थे। न्याय लोगों की क्षणिक प्रेरणा पर निर्भर था। किसी निश्चित न्याय की योजना उस समय प्रयोग में नहीं लाई जाती थी। जन साधारण को इस प्रकार के नियमों से असुविधा होती थी और उन्हें कष्ट पहुँचता था। मनुष्य का व्यक्तिगत निर्णय सदैव उचित नही होता था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में कोई निश्चित विधान अथवा न्यायाधीश न थे। व्यवस्था तथा न्याय की दशा अच्छी न थी। इस दोष को दूर करने के लिये लोगों ने प्राकृतिक अवस्था छोड़ कर नागरिक समाज, स्थापित करने का निश्चय किया। ऐसा उन्होंने एक सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार किया।

रूसो ने अपने ग्रन्थ "डिस्कोर्स आन इनीक्वैलिटी" में मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण और ही प्रकार से किया है। उसका कथन है प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एक "श्रेष्ठ जंगलीपुरुष" (noble savage) के समान था। उस अवस्था में मनुष्यों में समानता के भाव थे। वे आत्मावलम्बी थे और सन्तुष्ट थे। प्राचीनकाल में वे साधारण जीवन व्यतीत करते थे। धन-धान्य की कमी नहीं थी, जीवन सुखमय था। परन्तु जब से मनुष्यों में सभ्यता आने लगी तभी से उनका जीवन कलुषित होने लगा। सभ्यता आरम्भ होते ही मनुष्यों में असमानता आने लगी। लोगों में प्रेक्षा (reason) आते ही दोष आने लगे। 'मेरे' 'तेरे' का विचार आया। लोभ ने उनको घेरना आरम्भ किया वे वस्तुओं पर निजी अधिकार स्थापित कर उनका

संचय करने लगे। वस्तुओं में कमी होने लगी। लोगों में चोरी आदि के अवगुणों ने भी प्रवेश किया। कलाकौशल तथा विज्ञान की उन्नति होने लगी। लोगों ने निजी सम्पत्ति भी प्राप्त करली। श्रमविभाजन भी होने लगा। इन कारणों से नागरिक समाज स्थापित करने की आवश्कता हुई। इसलिये राज्य मानव प्रगति का प्रतीक नहीं अधोगति की पहिचान है। मनुष्यों में असमानता होने के कारण इसकी आवश्यकता हुई है। रूसो ने अपने ग्रंथ "सोशल कान्ट्रेक्ट" में लिखा है कि प्राकृतिक अवस्था में रहने की अपेक्षा नागरिक अवस्था (civil state) में रहने में अधिक लाभ हैं। "सामाजिक अनुबंध द्वारा मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का त्याग करता है तथा जो वस्तुएँ उसे आकर्षित करती हैं और जिन्हें वह प्राप्त कर सकता है, उन सब वस्तुओं पर वह अपना असीमित अधिकार त्यागता है। इस (अनुबंध) से वह नागरिक स्वतन्त्रता तथा अधिकृत संपत्ति की निर्विघ्नता बदले में प्राप्त करता है। भ्रान्ति को दूर रखने के लिये हमको प्राकृतिक स्वतन्त्रता (जिसकी व्यक्तिगत शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई सीमा नहीं है) और नागरिक स्वतन्त्रता (जो जन सम्मति द्वारा सीमित है) का भेद तथा स्वत्वाधिकार (जो प्रथम अधिकारी की शक्ति के प्रयोग का परिणाम है) और सम्पत्ति (जो वास्तविक अधिकृति के आधार पर प्राप्त की जाय) का भेद भली प्रकार समझ लेना चाहिये।"*

प्राकृतिक अवस्था में लोग प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक विधान के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते थे। ऐसा मत तीनों लेखकों का है। हॉब्ज का विचार है कि "नैसर्गिक नियम हैं चातुर्य तथा स्वार्थसिद्धि" (prudence and expediency)। वह स्पष्ट रूप से यह बतलाता है कि मनुष्य की प्राकृतिक शक्ति ही अर्थात् उसका शारीरिक व बुद्धि-बल ही उसका नैसर्गिक अधिकार है। प्राकृतिक अवस्था में कर्तव्य अथवा नैतिकता के भाव का पूर्णरूप से ह्रास रहता है। जब तक लोग राजनैतिक अवस्था में नहीं आते तब तक जो कुछ वह करें वही नियम है। प्राकृतिक अवस्था में किया हुआ कोई कार्य न्याय रहित अथवा विधान के विरुद्ध नहीं समझा जा सकता। हाब्ज का मत है कि केवल अपने जीवन की रक्षा करना ही मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार है। प्रथम नैसर्गिक विधान तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय शान्ति प्राप्त करना होना चाहिये। द्वितीय नैसर्गिक विधान यह है

* सोशल कांट्रैक्ट पुस्तक प्रथम, अध्याय ८।

अधिकार स्थापित नहीं कर सकता क्यों कि प्राकृतिक अवस्था में सब मनुष्यों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियां समान थीं। अतः मनुष्य सदैव एक दूसरे से भय मानते हैं" ऐसा विचार हॉब्ज का है।

लॉक का विचार है कि प्राकृतिक अवस्था में लोगों में पारस्परिक युद्ध अथवा लड़ाई झगड़े नहीं होते थे। उस दशा को "प्राक्-राजनैतिक दशा (Pre-political State) कह सकते हैं परन्तु उसे प्राक्-सामाजिक दशा (Pre-social State) नहीं कह सकते। उस समय लोग शान्तिपूर्वक रहते थे, वे लोग एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते थे और भलाई करते थे, एक दूसरे की सहायता भी करते थे तथा एक दूसरे की रक्षा भी करते थे। उस समय लोग स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे परन्तु वे दुश्चरित्र नहीं थे। लोगों की बहुत बड़ी संख्या नैतिक विधानों के अनुसार अर्थात् आन्तरिक नैतिकता के नियमों के अनुसार कार्य करती थी। कुछ थोड़े से मनुष्य ऐसे दुष्ट भी थे जो अपने व्यवहार से अन्य लोगों को कष्ट देते थे। ऐसी दशा में लोग अपनी इच्छानुसार सब बातों का निर्णय करते थे। न्याय लोगों की क्षणिक प्रेरणा पर निर्भर था। किसी निश्चित न्याय की योजना उस समय प्रयोग में नहीं लाई जाती थी। जन साधारण को इस प्रकार के नियमों से असुविधा होती थी और उन्हें कष्ट पहुँचता था। मनुष्य का व्यक्तिगत निर्णय सदैव उचित नहीं होता था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में कोई निश्चित विधान अथवा न्यायाधीश न थे। व्यवस्था तथा न्याय की दशा अच्छी न थी। इस दोष को दूर करने के लिये लोगों ने प्राकृतिक अवस्था छोड़ कर नागरिक समाज स्थापित करने का निश्चय किया। ऐसा उन्होंने एक सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार किया।

रूसो ने अपने ग्रन्थ "डिस्कोर्स आन इनीक्वैलिटी" में मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण और ही प्रकार से किया है। उसका कथन है प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एक "श्रेष्ठ जंगलीपुरुष" (noble savage) के समान था। उस अवस्था में मनुष्यों में समानता के भाव थे। वे आत्मावलम्बी थे और सन्तुष्ट थे। प्राचीनकाल में वे साधारण जीवन व्यतीत करते थे। धन-धान्य की कमी नहीं थी, जीवन सुखमय था। परन्तु जब से मनुष्यों में सभ्यता आने लगी तभी से उनका जीवन कलुषित होने लगा। सभ्यता आरम्भ होते ही मनुष्यों में असमानता आने लगी। लोगों में प्रेक्षा (reason) आते ही दोष आने लगे। 'मेरे' 'तेरे' का विचार आया। लोभ ने उनको घेरना प्रारम्भ किया वे वस्तुओं पर निजी अधिकार स्थापित कर उनका

होता है। उसका यह विचार है कि ऐतहासिक दृष्टि से इस प्रकार अनुबन्ध द्वारा शासन की स्थापना केवल कल्पनामात्र है। शासन-सत्ता से पृथक सामाजिक अनुबन्ध का प्रतिपादन करने में उसका अभिप्राय यह दिखलाने का था कि शासन का अवलम्ब केवल शक्ति ही नहीं है, बलिक शासन का आधार लोगों की इच्छा है। लोगों की स्वतन्त्र इच्छा पर ही शासन निर्भर है। लॉक सामाजिक अनुबन्ध को ऐतिहासिक सत्य समझता है। उसका विचार है कि सामाजिक अनुबन्ध एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना है। एक समय इतिहास में ऐसा हुआ है जब कि लोगों ने मिलकर एक समझौते द्वारा शासन की स्थापना की थी। हॉब्ज का मत है कि यह अनुबन्ध केवल लोगों के बीच में ही हुआ था। जब प्राकृतिक दशा को त्याग कर लोग राजनैतिक दशा में आये तो उन्होंने आपस में मिलकर एक अनुबन्ध स्थापित किया। उस अनुबन्ध का परिणाम यह हुआ कि एक राजा बना दिया गया। अर्थात् एक राजा बनाने के लिये सामाजिक अनुबन्ध किया गया। "मानो कि प्रत्येक व्यक्ति ने एक दूसरे से ऐसा कहा होगा कि मैं इस व्यक्ति को अधिकारी बनाता हूँ और अपना स्वशासनाधिकार इस व्यक्ति को इस शर्त पर सौंपता हूँ कि तू भी अपना अधिकार उसे सौंप दे और इसी प्रकार उसने सब कार्य अधिकृत कर दिये जायँ*"। हाब्ज के सामाजिक अनुबन्ध में प्रत्येक मनुष्य अपने सब नैसर्गिक अधिकार सर्वोच्चसत्ता को सौंप देता है। सर्वोच्चसत्ता स्वयं उस अनुबन्ध की साझीदार नहीं है। वह अनुबन्ध नहीं स्थापित करती है। वह तो अनुबन्ध का परिणाम स्वरूप है। वह पूर्ण स्वेच्छाचारी है। लोगों ने अनुबन्ध द्वारा एक बार अपने शासन का पूर्ण अधिकार उसको सौंप दिया है। अब उन्हें इस अधिकार को लौटा लेने की शक्ति नहीं है। यह कार्य लोगों की शक्ति के बाहर है। लोगों को राजसत्ता का विरोध करने तथा क्रान्ति करने का अधिकार नहीं है। अनुबन्ध द्वारा राज्य (नागरिक समाज) तथा शासन की स्थापना हुई है। हाब्ज के मतानुसार राज्य तथा शासन में कोई भेद नहीं है, न समाज तथा शासन में कोई भेद है। शासन का अन्त होने पर समाज का भी अन्त हो जाता है और प्राकृतिक दशा जैसी अराजकता फैल जाती है। यह बात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती कि एक शासन का अन्त होते ही अराजकता की दशा हो जाय। हाब्ज के सिद्धान्त में एक दोषपूर्ण कल्पना है। यह दोष लॉक के सामाजिक

---

* लैवियाथन, भाग २ अ० १७

कि जब अन्य लोग भी ऐसा करने को उद्यत हो जायें तो मनुष्य को अपने नैसर्गिक अधिकारों को त्याग स्वीकार कर लेना चाहिये। तृतीय नैसर्गिक विधान यह है मनुष्यों को अपने अनुबन्धों को निभाना चाहिये। चतुर्थ विधान यह है कि उपकार के बदले में मनुष्य को उपकार करना चाहिये अथवा उपकार के बदले में कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये। हॉब्ज के अनुसार इन नियमों के बिना मनुष्य के किसी कार्य की सिद्धि भली प्रकार नहीं हो सकती। मानव-कर्म के लिये ये नियम नितान्त मौलिक हैं। लॉक का विचार है कि नैसर्गिक विधान तो नैतिक विधान है मानव-स्वार्थ सिद्धि के नियम नहीं और नैतिक विधान मनुष्य की आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य की आत्मा जो निर्णय करे वही विधान है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में सब मनुष्य नैतिक बुद्धि के आदेशानुसार कार्य करते हैं किन्तु कुछ दुष्ट पुरुष समाज में ऐसे होते हैं जो दूसरों को दुःख देते हैं। एसी दशा में शान्तिप्रिय लोग विधान को अपने हाथ में ले लेते हैं। जनसाधारण को इससे असुविधा होती है क्योंकि उनकी कार्य स्वतंत्रता जाती रहती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य अपने कार्य के औचित्य-अनौचित्य के सम्बन्ध में ठीक निर्णय भी नहीं कर सकते। प्राकृतिक दशा में एक यही हानि है कि कोई लोक-स्वीकृत न्याय-पद्धति व विधान-पद्धति नहीं है। इस त्रुटि को पूर्ण करने के लिये लोग अनुबन्ध द्वारा एक नागरिक समाज में प्रवेश करते हैं। रूसो के मतानुसार नैसर्गिक विधान मनुष्य के मनोभाव (emotion) स्वहित, तथा दया पर निर्भर है।

हाब्ज ने मनुष्य की प्राकृतिक दशा का बड़ा भयंकर चित्र हमारे सन्मुख उपस्थित किया है। रूसो ने "इनईक्वैलिटी" के निबन्ध में मनुष्यों की प्राकृतिक दशा का बड़ा सुन्दर तथा सुखमय चित्र खींचा है। लॉक के विचार माध्यमिक हैं। अथवा यों कह सकते हैं कि हॉब्ज की प्राकृतिक दशा की असुविधायुक्त है तथा रूसो की बड़ी सुख, शान्तिमय है।

(२) अनुबन्ध का लक्षण—हाब्ज केवल एक अनुबन्ध स्थापित करता है वही मौलिक अनुबन्ध अथवा सामाजिक अनुबन्ध है। लॉक दो प्रकार के अनुबंधों का प्रतिपादन करता है, एक सामाजिक अनुबंध और दूसरा शासन संबंधी अनुबंध। रूसो भी केवल एक ही अनुबंध अर्थात् सामाजिक अनुबन्ध का प्रतिपादक है। हॉब्ज जिस अनुबन्ध को मानता है उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि वास्तव में शासन भी अनुबन्ध के रूप में उत्पन्न

होता है। उसका यह विचार है कि ऐतहासिक दृष्टि से इस प्रकार अनुवन्ध द्वारा शासन की स्थापना केवल कल्पनामात्र है। शासन-सत्ता से पृथक सामाजिक अनुवन्ध का प्रतिपादन करने में उसका अभिप्राय यह दिखलाने का था कि शासन का अवलम्ब केवल शक्ति ही नहीं है, वलिक शासन का आधार लोगों की इच्छा है। लोगों की स्वतन्त्र इच्छा पर ही शासन निर्भर है। लॉक सामाजिक अनुवन्व को ऐतिहासिक सत्य समझता है। उसका विचार है कि सामाजिक अनुवन्व एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना है। एक समय इतिहास में ऐसा हुआ है जब कि लोगों ने मिलकर एक समझौते द्वारा शासन की स्थापना की थी। हॉब्ज का मत है कि यह अनुवन्व केवल लोगों के बीच में ही हुआ था। जब प्राकृतिक दशा को त्याग कर लोग राजनैतिक दशा में आये तो उन्होंने आपस में मिलकर एक अनुवन्व स्थापित किया। उस अनुवन्व का परिणाम यह हुआ कि एक राजा वना दिया गया। अर्थात् एक राजा वनाने के लिये सामाजिक अनुवन्ध किया गया। "मानो कि प्रत्येक व्यक्ति ने एक दूसरे से ऐसा कहा होगा कि मैं इस व्यक्ति को अधिकारी वनाता हूँ और अपना स्वशासनाधिकार इस व्यक्ति को इस शर्त पर सौंपता हूँ कि तू भी अपना अधिकार उसे सौंप दे और इसी प्रकार उसने सव कार्य अधिकृत कर दिये जायँ *"। हाव्ज के सामाजिक अनुवन्व में प्रत्येक मनुष्य अपने सव नैसर्गिक अधिकार सर्वोच्चिसत्ता को सौंप देता है। सर्वोच्चिसत्ता स्वयं उस अनुवन्ध की साझीदार नहीं है। वह अनुवन्ध नहीं स्थापित करती है। वह तो अनुवन्व का परिणाम स्वरूप है। वह पूर्ण स्वेच्छाचारी है। लोगों ने अनुवन्ध द्वारा एक वार अपने शासन का पूर्ण अधिकार उसको सौंप दिया है। अव उन्हें इस अधिकार को लौटा लेने की शक्ति नहीं है। यह कार्य लोगों की शक्ति के वाहर है। लोगों को राजसत्ता का विरोध करने तथा क्रान्ति करने का अधिकार नहीं है। अनुवन्ध द्वारा राज्य (नागरिक समाज) तथा शासन की स्थापना हुई है। हाव्ज के मतानुसार राज्य तथा शासन में कोई भेद नहीं है, न समाज तथा शासन में कोई भेद है। शासन का अन्त होने पर समाज का भी अन्त हो जाता है और प्राकृतिक दशा जैसी अराजकता फैल जाती है। यह वात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती कि एक शासन का अन्त होते ही अराजकता की दशा हो जाय। हाव्ज के सिद्धान्त में एक दोषपूर्ण कल्पना है। यह दोष लॉक के सामाजिक

---

* लैवियाथन, भाग २ अ० १७

अनुबन्ध में नहीं है। लॉक ने दो अनुबन्ध स्थापित करके अपने में यह दोष नहीं आने दिया है।

लॉक एक अनुबन्ध से नागरिक समाज की स्थापना करता है और दूसरे अनुबन्ध से एक शासन की स्थापना करता है। लॉक के सामाजिक अनुबन्ध में पहला अनुबन्ध एक नागरिक समाज की स्थापना करने के लिए किया जाता है। सब लोग मिलकर एक अनुबन्ध स्थापित करते हैं और अपने आपको एक नागरिक समाज में परिवर्तित कर लेते हैं। इसके पश्चात् यह समाज अनुबन्ध द्वारा एक शासन स्थापित करती है। एक ओर सामूहिक रूप में सब लोग होते हैं और दूसरी ओर राजा अथवा सर्वोच्चसत्ता होती है। यह दोनों शासन स्थापित करने के लिए एक समझौता करते हैं यही दूसरा अनुबन्ध है। इस प्रकार लॉक दो अनुबन्ध स्थापित करता है। हाब्ज के एक ही अनुबंध द्वारा राजा उत्पन्न हो जाता है और राजा के उत्पन्न होते ही सब मनुष्य एक नागरिक समाज के रूप में स्वतः परिवर्तित हो जाते हैं। लॉक के दो अनुबंध स्थापित करने का परिणाम यह होता है कि जब शासन का अन्त होता है तो मनुष्य समाज अराजकता की अवस्था में परिवर्तित नहीं हो जाता। राज्य का अन्त होने पर मनुष्य का संगठन नागरिक समाज के रूप में बना रहता है अराजकता नहीं फैलती है। यह नागरिक समाज दूसरा शासन स्थापित करता है। जिस प्रकार हाब्ज के अनुबंध द्वारा लोग आत्मरक्षा के अतिरिक्त अन्य सब अधिकारों का आत्मसमर्पण कर देते हैं, वैसा लॉक के अनुबंध द्वारा नहीं होता है। लॉक के अनुबंध द्वारा लोग अपने थोड़े से अधिकार एक शासक को इस लिए सौंप देते हैं कि वह लोगों के अन्य अधिकारों को सुरक्षित रखे। यदि ऐसा शासक इन अन्य अधिकारों की रक्षा करने में असफल हो तो लोगों को उसे हटा देने तथा दूसरा शासक नियुक्त करने का पूर्ण अधिकार है। अर्थात् यदि लोग ऐसे शासक को गद्दी पर बैठा दें तो उनका यह कार्य अनुचित नहीं होगा। अतः लाक का सामाजिक अनुबंध सीमित राजतंत्र की आधार शिला है। इसी सिद्धान्त द्वारा लॉक ने सन् १६८८ की रक्तपातरहित क्रान्ति (Bloodless Revolution) का समर्थन किया था। लॉक के मतानुसार सामाजिक अनुबन्ध एक सीमित समझौता है। लॉक ने 'सम्पत्ति' के विषय पर एक अध्याय लिखा है, उस अध्याय में लॉक ने यह वर्णन किया है कि शासक को प्रजा से केवल उतना ही धन लेना चाहिये जितना शासन-कार्य के सफलतापूर्वक संचालन करने

के लिये पर्याप्त हो। शासक को मनुष्य की सम्मति लिये बिना अधिक धन लेने का अधिकार नहीं है।

रूसो के मतानुसार सामाजिक अनुबंध के दो पक्ष हैं, एक पक्ष में लोग व्यक्तिगत रूप में पृथक पृथक रहते हैं और दूसरे पक्ष में उनका सामूहिक रूप रहता है। सब लोग व्यक्तिगत रूप में सामूहिक रूप के साथ एक अनुवन्ध स्थापित करते हैं। अर्थात् व्यक्तिगत रूप में क, ख, ग, घ, अपने सब नैसर्गिक अधिकार सामूहिक रूप में क+ख+ग+घ को सौंप देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण नैसर्गिक अधिकार समाज को सौंप देता है। इससे यह लाभ होता है कि जब किसी व्यक्ति के हितों पर अथवा स्वयं व्यक्ति पर कोई आक्रमण करता है तो सम्पूर्ण समाज उसकी अथवा उसके हितों की रक्षा करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज की सहायता एक व्यक्ति को प्राप्त होती है। ऐसा अनुवन्ध स्थापित करने से किसी को हानि नहीं होती है। इससे सब को लाभ होता है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को समुदाय की सर्वोच्चसत्ता में सब के समान ऐसा अधिकार रहता है जिसे वह दूसरे व्यक्ति को नहीं सौंप सकता है। रूसो का कथन है कि "हममें से प्रत्येक यक्ति स्वयं को तथा अपने सम्पूर्ण व्यक्तिगत अधिकारों को मिलाकर सामान्य इच्छा या लोकेच्छा (General Will)) रूपी एक सर्वोच्चसत्ता को सौंप देता है। और (वही) हमको व्यक्तिगत रूप (जो संपूर्ण समूह का एक अविभाज्य स्वरूप है) में प्राप्त होते हैं"। "प्रत्येक मनुष्य समूह के लिए आत्म समर्पण करके पहले की भांति पूर्ण स्वतंत्र रहता है।"

(३) सर्वोच्चसत्ता—हाब्ज का विचार है कि प्राकृतिक दशा में लोग पृथक पृथक रहते थे उनमें आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। वह सामाजिक दशा में नहीं थे। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शत्रु था। अराजक अवस्था थी। उनमें किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार की एक अराजक अवस्था में रहने वाली भीड़ का एक राजनैतिक संस्था के रूप में परिवर्तित हो जाना बड़ी कठिन समस्या है। हाब्ज ने सामाजिक अनुबन्ध द्वारा इस अव्यवस्थित भीड़ को एक नागरिक समाज के रूप में परिवर्तित कर दिया। नागरिक समाज ही राजनैतिक संस्था है। सामाजिक अनुवन्ध द्वारा लोग एक अनन्य इच्छा (Single Will) वाली सर्वोच्चसत्ता की स्थापना करते हैं। यह अनन्य इच्छा बहुसंख्यक व्यक्तिगत इच्छाओं का स्थान ले लेती है, और सामाजिक अनुवन्ध के अनुसार यह अनन्य इच्छा उन सब

व्यक्तिगत इच्छाओं की प्रतिनिधि बन जाती है। सर्वोच्चसत्ता इस प्रकार सब लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। हाब्ज प्राकृतिक पुरुष और कृत्रिम पुरुष में जो वैधानिक दृष्टि से भेद है उसे अपना अभिप्राय स्पष्ट करने में प्रयोग करता है। कृत्रिम पुरुष की परिभाषा वह इस प्रकार रहता है। "अधिकार तथा कर्तव्यों से सम्पन्न एक सुसंगठित समवाय एक कृत्रिम पुरुष कहलाता है। 'ऐसा समवाय केवल प्रतिनिधि द्वारा ही कार्य कर सकता है। यह प्रतिनिधि सम्पूर्ण समवाय का होगा'। यह प्रतिनिधि हाब्ज के मतानुसार एक कृत्रिम पुरुष होता है। सामाजिक अनुबंध द्वारा हाब्ज यह नियम स्थापित करता है कि भिन्न भिन्न इच्छायें जब एक ही व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर लेती है तो एक अन्तर इच्छा की स्थापना हो जाती है। यही अनन्य इच्छा सब की प्रतिनिधि होती है। यह प्रतिनिधि सम्पूर्ण समवाय की ओर से सब कार्य करता है। यह प्रतिनिधि कृत्रिम पुरुष कहलाता है। हाब्ज कहता है कि जो कार्य भी यह प्रतिनिधि करता है वह मैं ही करता हूँ। जो कुछ कार्य यह प्रतिनिधि करता है उसका उत्तरदायित्व मुझ पर है। प्रतिनिधि द्वारा किये जाने वाले सब कार्यों का उत्तरदायित्व मुझे स्वीकार है। इसी प्रकार हाब्ज के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के अनुसार जो कुछ कार्य सर्वोच्चसत्ता द्वारा किया जाता है वह सब लोगों द्वारा किया हुआ ही समझना चाहिये। सर्वोच्चसत्ता स्वयं कुछ नही कर सकती है। ऐसे ही सिद्धान्त की नींव पर मानव समाज का संगठन हो सकता है अन्यथा नहीं। ऐक्य व्यक्तियों में नहीं है, उनके प्रतिनिधियों में है। प्रतिनिधि उन सब व्यक्तियों का सर्वसामान्य अभिकर्त्ता है। हाब्ज के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण इच्छाओं का स्थान एक इच्छा ले लेती है। रूसो के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण इच्छायें सामान्य इच्छा में परिणत हो जाती हैं। हाब्ज के सामाजिक अनुबंध के अनुसार सर्वोच्चसत्ता निरंकुश ([illegible]), अविभाज्य तथा अहस्तान्तरकरणीय है। सर्वोच्च-सत्ता की स्थापना होने से समाज की स्थापना हो जाती है। सर्वोच्चसत्ता दूसरों पर [illegible] है। हाब्ज का कथन है कि सर्वोच्चसत्ता एक व्यक्ति की, कई व्यक्तियों की अथवा जनता में [illegible] की हो सकती है। हाब्ज [illegible] को [illegible] सबसे अधिक पसन्द करता है (पसन्द करता है)। [illegible] और [illegible] शासन प्रणाली का वह समर्थन करता है। [illegible] कि राजतंत्र शासन प्रणाली में निम्नलिखित [illegible] हैं:—

(१) इस प्रणाली में राजा के स्वहित संबंधी कार्यों और सर्वसाधारण के हितसंबंधी कार्यों में कोई भेद नहीं है।

(२) यह शासन प्रणाली अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा अधिक सफलता पूर्वक कार्य कर सकती है। तथा

(३) राजा अधिक निश्चित रूप से कार्य कर सकता है। उसके कार्य सदैव एक से रहेंगे।

हाब्ज का कथन है कि सम्राट ही सर्वोच्च विधाननिर्माता है। सम्राट अपनी प्रजा पर कदापि अन्याय नहीं कर सकता क्योंकि वह तो उनका प्रतिनिधि है। कदाचित् वह नैतिक अन्याय कर सकता है। परन्तु वह वैधानिक अन्याय कदापि नहीं कर सकता। सम्राट अपने कार्यों के लिये प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं है। वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। हाब्ज का वह विचार इंगलैंड के शासक के इस विशेष लक्षण से बहुत कुछ समानता रखता है कि "सम्राट कोई अन्याय नहीं कर सकता"। हाब्ज के समाजिक अनुबन्ध के अनुसार सम्राट अन्तिम विधान-निर्माता है। अतः वह विधान से परे है। अर्थात् विधान उसके आधीन है। वह स्वयं विधान के आधीन नहीं है। वह किसी प्रकार की प्रतिज्ञा करके अपने आपको बंधन में नही डाल सकता वह सेना का सबसे बड़ा सेनापति है तथा राज्य में प्रचलित सब प्रकार के सिद्धान्तों तथा विश्वासों का निर्णय करने वाला सर्वोच्च न्यायाधीश है। अथवा यों कह सकते हैं कि सम्राट सर्वेसर्वा है।

लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार सर्वोच्चसत्ता न तो स्वेच्छाचारी ही है और न अविभाज्य ही। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सर्वोच्चसत्ता जनता और सम्राट् के बीच में विभाजित है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के दो भाग हैं। एक अनुबन्ध द्वारा लोग परस्पर समझौता करके प्राकृतिक अवस्था का अन्त करते हैं और उस अराजकता के स्थान पर एक नागरिक समाज की स्थापना करते हैं। यह प्रथम अनुबन्ध है। इस प्रथम अनुबन्ध के लिये प्रत्येक व्यक्ति की सहमति अनिवार्य है। सर्वसम्मति से यह नागरिक समाज स्थापित होता है। सहमति दोनों प्रकार की हो सकती है, अनुक्त और स्पष्ट। देश में निवास करना ही अनुक्त सहमति है। यदि एक व्यक्ति किसी राज्य में निवास करता है तो इसका यह प्रयोजन है कि वह व्यक्ति इस व्यवस्था को मानता है। एक दूसरे अनुबन्ध द्वारा शासकों को कुछ अधिकार दिये जाते हैं और उनसे यह आशा की जाती है कि वे इन अधिकारों का प्रयोग उचित रीति से करेंगे।

यदि यह शासक जनता की इच्छानुसार कार्य करने में असफल होते हैं और जनता उनके कार्य से सन्तुष्ट न हो तो वह इन शासकों को पदच्युत कर सकती है और दूसरे शासकों को नियुक्त कर सकती है। ऐसा करने से हाब्ज के अनुबन्ध के समान समाज प्राकृतिक अवस्था की अराजकता की दशा में परिवर्तित नहीं हो जाता। समाज की नागरिक अवस्था ज्यों की त्यों रहती है। लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार सर्वोच्चसत्ता लोगों में विद्यमान रहती है और वह सर्वोच्च सत्ता शासन द्वारा प्रयोजित की जाती है। यहाँ शासन से अभिप्राय इंगलैण्ड के सम्राट् तथा पार्लियामेंट से है। जब शासन न्याय का उल्लंघन करता है लोग शासन का अधिकार उससे छीन लेते हैं। इस प्रकार लोग इस अनुबन्ध में निष्क्रिय साझेदार हैं। जब तक शासक ठीक ठीक कार्य करते रहते हैं तब तक लोग उन्हें कार्य करने देते हैं। ज्यों ही वे ठीक प्रकार से कार्य करना बन्द करके अपने अधिकारों का दुरुपयोग करना आरम्भ कर देते हैं तभी लोग उस शासन का अन्त करके दूसरा शासन स्थापित कर देते हैं। अतः अवशिष्टाधिकार जनता के हाथ में रहता है। शासन में परिवर्तन करने की कोई वैधानिक पद्धति नहीं है। इसलिये किसी प्रकार की शासन-प्रणाली क्यों न हो, यदि वह जनता की इच्छा के अनुकूल नहीं तो ऐसी दशा में विद्रोह अथवा क्रान्ति कोई अनुचित कार्य नहीं है। लॉक के मतानुसार वही विद्रोह न्याययुक्त है जो सम्पूर्ण जनता द्वारा किया जाय। यदि सम्पूर्ण समुदाय विद्रोह करने के लिए उद्यत नहीं है तो वह विद्रोह अनुचित है। यह निर्णय करना भी अत्यन्त कठिन कार्य है कि कोई विद्रोह सम्पूर्ण समुदाय द्वारा किया गया है या नहीं। लॉक के सर्वोच्चसत्ता-सिद्धान्त में एक बड़ा भारी दोष यह है कि वह सर्वोच्च-सत्ता के अधिकार को वैधानिक मर्यादा द्वारा सीमित करता है। एक स्थान पर वह लिखता है कि "विधान-मण्डल मनमाने आदेशों द्वारा शासन नहीं कर सकता" परन्तु वैधानिक सर्वोच्चसत्ता का व्यक्ति के जीवन अथवा सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है। वह प्राण ले सकता है और सम्पत्ति भी ले सकता है। फिर भी लॉक इन शब्दों का प्रयोग करता है। यह बात [illegible] नहीं प्रतीत होती। [illegible] यदि वह "नहीं कर सकता है" के स्थान पर [illegible] चाहिये लिखता तो यह बात ठीक प्रतीत होती। वास्तव [illegible] नहीं लेने का [illegible] है। फिर भी [illegible] है कि [illegible] [illegible] अधिकारों की [illegible] है।

रूसो के सामाजिक अनुबन्ध द्वारा क, ख, ग, घ, अपने व्यक्तिगत प्राकृतिक अधिकार सामूहिक रूप में क+ख+ग+घ को सौंप देते हैं। यह अनुबन्ध जनतंत्र शासन-प्रणाली का आधार है। इस अनुबन्ध द्वारा लोकप्रिय शासन की स्थापना होती है। रूसो के अनुबन्ध द्वारा प्रत्येक व्यक्ति शासन में साझीदार है। प्रत्येक व्यक्ति विधान निर्माण करता है और प्रत्येक व्यक्ति उन विधानों का पालन भी करता है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति शासक भी है और शासित भी। रूसो हाब्ज के अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुसार सर्वोच्च-सत्ता को स्वेच्छाचारी, अविभाज्य और अहस्तान्तरकरणीय मानता है। परन्तु भेद इतना है कि हाब्ज का शासक एक है और रूसो का शासक सामूहिक रूप में सम्पूर्ण जनसमुदाय है। रूसो ने सर्वोच्च-सत्ता को सम्पूर्ण जनसमुदाय की सामान्य इच्छा का स्वरूप दिया है। इसी का नाम लोकेच्छा या 'जन-सम्मति' (General Will) है। सर्वोच्चसत्ता लोकेच्छा का व्यक्त रूप है।

(४) राज्य तथा शासन का रूप—हाब्ज के मतानुसार एक सत्तात्मक स्वेच्छाचारी सम्राट् द्वारा शासित राज्य सर्वश्रेष्ठ राज्य है। लॉक वैधानिक शासन अथवा सीमित राजतन्त्र का समर्थन करता है। रूसो प्रत्यक्ष-जनतन्त्र राज्य का पक्षपाती है।

इन तीनों लेखकों के शासन सम्बन्धी विचार भी बिल्कुल भिन्न हैं। हॉब्ज के मतानुसार राज्य और शासन में कोई भेद नहीं है। वह दोनों को एक ही बात समझता है। अर्थात् वस्तुतः अथवा कार्य रूपेण शासन को वह विधानतः शासन समझता है। दोनों प्रकार के शासनों में वह कोई भेद नहीं मानता। इसके विपरीत लॉक और रूसो राज्य तथा शासन को एक ही वस्तु नहीं मानते। वे इन दोनों में भेद मानते हैं। वे वस्तुतः शासन और विधानतः शासन में भी भेद मानते हैं और हॉब्ज के समान दोनों को एक ही नहीं समझते। हॉब्ज के मतानुसार शासन का अन्त होते ही राज्य का अन्त हो जाता है और समाज प्राकृतिक अवस्था की अराजकता की दशा को पहुँच जाता है। हॉब्ज का यह विचार मिथ्या है। बहुधा ऐसा होता है कि एक प्रकार की शासन प्रणाली का अन्त होता है और दूसरी प्रकार की शासन प्रणाली प्रचलित की जाती है। इस प्रकार शासन प्रणाली के परिवर्तन में हमने कभी अराजकता की अवस्था का अनुभव नहीं किया है। शासन प्रणाली के परिवर्त्तन में हमने कभी राज्य का अंत होते न सुना है न देखा है। लॉक कहता है कि लोकसत्ता को अपना शासन निर्धारित

करने का अधिकार है और जब शासन संतोषप्रद न रहे तो उसको परिवर्तित करने का अधिकार है। उसका विचार है कि शासन एक प्रकार का न्यास अथवा नैतिक उत्तरदायित्व है। रूसो के मतानुसार शासन जनता का केवल एक घटक अथवा "जीवित उपकरण" (Living tool) है। यह अनुबन्ध का परिणाम स्वरूप नहीं है। यह एक परिमित अधिकार है। यह अधिकतर लोकसत्ता द्वारा प्राप्त होता है। जिसमें कोई मौलिक अधिकार नहीं है। सर्वोच्च इच्छा (Sovereign will) उस अधिकार को इच्छानुसार छीन सकती है। (यहां सर्वोच्च इच्छा से अभिप्राय लोकमत से है)। शासन परवश है। वह जनसम्मति के अधीन है। रूसो शासन की आधीनता अथवा परवशता निम्नलिखित बातों से स्थापित करता है—

(१) सामयिक सभाओं में एकत्रित होकर लोग इस प्रश्न का निर्णय करें कि क्या वर्तमान शासन प्रणाली प्रचलित रखी जाय ?

(२) सामयिक सभाओं में एकत्रित होकर लोग इस प्रश्न का निर्णय करें कि यदि वर्तमान शासन प्रणाली प्रचलित रखनी है तो क्या वर्तमान व्यक्ति शासन कार्य करते रहें ?

शासन के कृत्य तथा अधिकारों के विषय में भी तीनों लेखकों के विचार भिन्न हैं। हॉब्ज के अनुबन्ध ने संपूर्ण अधिकार शासन को सौंप दिये हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन ही सर्वोच्चसत्ता है। एक स्वेच्छाचारी सम्राट् में शासन की सम्पूर्ण शक्ति विद्यमान है। लॉक शासन को परिमित अधिकार देता है। लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार लोग केवल उतने ही प्राकृतिक अधिकारों का समर्पण करते हैं जितने नागरिक समाज के हितों को सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक हैं। लॉक शासन के विधान निर्माण सम्बन्धी तथा कार्यकारिणी संबंधी कार्यों में भी भेद प्रकट करता है। वह इन दोनों के पृथक्करण का समर्थन करता है। हॉब्ज का यह विचार नहीं है। वह व्यवस्थापिका को शासन का सर्व श्रेष्ठ भाग समझता है। [illegible] सुरक्षा तथा [illegible] को बड़ा महत्व देता है। लॉक का कथन है कि शासन [illegible] स्थापित करना ही नहीं है, शासन [illegible] प्रजा के हित के लिये शासन करना [illegible]।

[illegible] कि शासन [illegible] प्रबन्ध करना [illegible] है। [illegible] लोगों [illegible]

विधानों को स्वयं बनाने का अधिकार छिन जायगा। ऐसा करने में लोगों की सर्वोच्चसत्ता का ह्रास होगा। अतः सर्वोच्चसत्ताधारी लोगों को विधान-निर्माण के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करना चाहिये। विधान निर्माण का तत्व 'इच्छा' है और इच्छा कभी परिवर्तित नहीं हो सकती और न उसका प्रतिनिधित्व ही हो सकता है। इसी आधार पर रूसो प्रतिनिधिक शासन का विरोध करता है और प्रत्यक्ष जनतन्त्र शासन-प्रणाली का समर्थन करता है। वह ऐसी शासन प्रणाली के पक्ष में है जैसी प्राचीनकाल में यूनान के छोटे छोटे नगर राज्यों में प्रचलित थी। उसका कथन है कि "क्योंकि सर्वोच्चसत्ता अहस्तान्तरकरणीय है इसलिये वह प्रतिनिध्यात्मक नहीं हो सकती। वास्तव में वह लोकेच्छा में स्थित है और इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता, चाहे वह एक की इच्छा हो सकती है या दूसरे की दोनों के बीच में होने की उसकी संभावना नहीं है। अतः लोगों के प्रतिनिधि न तो वास्तव में प्रतिनिधि हैं, और न वे प्रतिनिधि हो सकते हैं" * ।

रूसो के मतानुसार राजनैतिक संस्था की एक इच्छा होती है उस इच्छा को कार्य कारिणी सत्ता कार्य रूप में परिणत करती है। इस का यह अभिप्राय नही समझना चाहिये कि कार्य कारिणी की निजी कोई इच्छा ही नहीं होती। प्रत्येक देश में कार्यकारिणी को विशेष विवेकाधीन अधिकार प्राप्त होते हैं। रूसो के सामाजिक अनुबन्ध द्वारा कार्यकारिणी को लोकेच्छा में भी साझेदारी प्राप्त है। अथवा यों कह सकते हैं कि रूसो के अनुबन्ध के अनुसार लोग केवल विधान निर्माण का ही कार्य नहीं करते बल्कि उन्हें यह कहने का भी अधिकार प्राप्त है कि ये विधान किस प्रकार कार्यान्वित किये जाने चाहिये, और किन व्यक्तियों द्वारा ये कार्यान्वित किये जाने चाहिये। इस प्रकार वे अपनी इच्छाओं के कार्यान्वित करने के कार्य में भी साझीदार हैं। इच्छा करना और इच्छा को कार्यान्वित करना इन दोनों में सैद्धान्तिक भेद अवश्य है परन्तु यह भेद स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता। कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका में भेद है परन्तु जिस प्रकार रूसो कार्य-कारिणी को एक अधीनस्थ स्थान में प्रेषित करता है, ऐसा हम नहीं कर सकते। रूसो विधान निर्माण करने वाली लोकसत्ता और कार्यकारिणी लोकसत्ता में भी विभेद करता है। रूसो के मतानुसार विधान निर्माण करने वाली लोकसत्ता और कार्य कारिणी अर्थात् शासन में यह भेद

---

* पुस्तक ३ अध्याय १४

है कि विधान निर्माण करने वाली लोकसत्ता का सम्बन्ध कार्यों से है और कार्यकारिणी का संबंध विशिष्ट कार्यों से होना चाहिये। साधारण और विशिष्ट कार्यों में भेद प्रकट करना बड़ा कठिन है। यदि यह कहा जाय कि साधारण कार्यों से अभिप्राय उन कार्यों से है जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण समुदाय से है और विशिष्ट कार्यों से अभिप्राय उन कार्यों से है जिनका सम्बन्ध किसी विशेष वर्ग अथवा व्यक्ति से है तो भी इस का अर्थ स्पष्ट नही होता है। वर्तमान समय में राज्य का प्रत्येक विधान किसी विशेष उद्देश्य के लिये बनाया जाता है। कदाचित् ही कोई ऐसा विधान होता होगा जिस का सम्बन्ध सामान्य तथा सम्पूर्ण जनसमुदाय से हो। यदि रूसो का यह विभेद मान लिया जाय तो व्यवहार में शासन ही सब विधानों को बनाने लगेगा। तब वह अधीनस्थ संस्था होने के बजाय स्वयं सर्वोच्चसत्ता बन जायेगा।

५—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अधिकार सिद्धान्त—हाब्ज वैधानिक अधिकार सिद्धान्त को मानता है। लॉक नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त का समर्थन करता है। रूसो के मतानुसार समाज की सदस्यता की दशा में ही मनुष्य को अधिकार प्राप्त होते हैं अतः रूसो आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त को मानता है। हॉब्ज के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार प्रजा को केवल वे अधिकार प्राप्त हैं जो उसे विधान द्वारा प्रदान किये गये हैं। प्रजा को केवल वही नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हैं जो विधान द्वारा वर्जित नहीं हैं। परन्तु ऊपर बताया जा चुका है कि हाब्ज के अनुबन्ध के अनुसार मनुष्य को अपने जीवन को सुरक्षित रखने का नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है। मनुष्य के इस अधिकार पर शासन का वैधानिक अधिकार नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राजा मनुष्य के जीवन पर कोई अधिकार नहीं रखता है। राजा का वास्तव में लोगों के जीवन और मृत्यु दोनों पर अधिकार हैं। राजा जब चाहे अपनी स्वेच्छा से लोगों की स्वतन्त्रता को परिमित कर सकता है और उसमें हस्तक्षेप कर सकता है। जहां पर मनुष्यों के कार्यों के लिये कोई विधान नहीं है वहां मनुष्यों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसका यह प्रयोजन है कि शासनाधिकार और स्वतन्त्रता ये दोनों विपरीत बातें हैं। जहां स्वतन्त्रता है वहां शासन का अधिकार नहीं है और जहां शासन का अधिकार है वहां स्वतन्त्रता नहीं है। हॉब्ज का विचार है कि राजा की आज्ञा की कोई सीमा नहीं है। राजा का अधिकार क्षेत्र परिमित नहीं है। इसमें सन्देह नही कि एक सीमा ऐसी है जहां राजा की आज्ञा का व्यक्तिगत उल्लंघन हो सकता है। सर्वोच्चसत्ता

की स्थापना मनुष्य की प्रसन्नता तथा उसके जीवन की सुरक्षा के लिये हुई है। हाब्ज के अनुबन्ध का अभिप्राय ही यह है अतः यदि राजा मनुष्य के जीवन पर आघात अथवा आक्रमण करता है तो मनुष्य के 'आज्ञा पालन' के कर्तव्य का अन्त हो जाता है। फिर वह आज्ञा पालन करने के लिये बाध्य नहीं रहता। इस बात में 'विरोधाभास' का दोष है। हाब्ज का यह मत मान लिया जाय तो किसी मनुष्य को यदि न्यायपूर्वक प्राणदण्ड दिया जाय तब भी वह मनुष्य अपने जीवन की रक्षा करने के लिये सब प्रकार के प्रयत्न करने का अधिकारी है। अर्थात् जब मनुष्य के जीवन पर राजा आक्रमण करता है (चाहे वह न्याययुक्त ही क्यों न हो) तो मनुष्य अपने जीवन की रक्षा करने के लिये प्रत्येक कार्य करने का अधिकारी है। उसका यह अधिकार नैसर्गिक है। उसने अनुबन्ध द्वारा इस अधिकार का आत्म समर्पण नहीं किया है। दूसरे के जीवन में मनुष्य केवल हस्तक्षेप कर सकता है, बाधा डाल सकता है और कुछ नहीं कर सकता। इसीलिये यह बात विरोधाभास-युक्त है। कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ हैं जिनमें मनुष्य सैनिक बनने के लिये मना कर सकता है क्योंकि अनुबन्ध तो मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिये बनाया गया है न कि उसे संकट में डालने के लिये। यदि राजा युद्ध के लिये सैनिकों की भर्ती करता है तो लोगों का भर्ती होना उनकी इच्छा पर निर्भर है। राजा इस कार्य के लिये उन्हें बाध्य नहीं कर सकता। यदि राजा किसी सैनिक को लड़ने के लिये युद्ध में भेजे तो सैनिक उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है क्योंकि राजा तो मनुष्य के जीवन की रक्षा करने के लिये है न कि उन्हें युद्ध में भेजकर उनके जीवन को संकट में डालने के लिये। यदि राजा व्यक्तिगत जीवन की रक्षा नहीं कर सकता, यदि वह मनुष्यों की रक्षा करने के लिये उचित व्यवस्था स्थापित करने की योग्यता नहीं रखता है तो अनुबन्ध का अन्त हो जाता है, अनुबन्ध टूट जाता है और लोगों को राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इन बातों के अतिरिक्त अन्य सब बातों में राजा का लोगों पर पूर्ण अधिकार है। राजा की सत्ता अन्य सब बातों में पूर्ण है और वह पूर्ण स्वेच्छाचारी है। यह हाब्ज का मत है या उसके मत से यह परिणाम निकलता है।

लॉक का मत है कि शासन शासितों की सहमति पर निर्भर है। एक व्यक्ति को वह सब अधिकार प्राप्त हैं जिनका उसने राज्य को समर्पण नहीं किया है। राज्य की स्थापना मनुष्यों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करने

के लिये हुई है। परन्तु लॉक ने जनसाधारण के अधिकारों की परिभापा इस प्रकार की है कि यदि उनकी गणना की जाय तो वे नहीं के बराबर प्रतीत होंगे।

रूसो के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति राजनैतिक अवस्था में उतना ही स्वतन्त्र है जितना वह नैसर्गिक अथवा प्राकृतिक अवस्था में था, क्योंकि वह अपने अधिकार किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं सौंपता है। वह अपने अधिकार स्वयं को तथा जिस राजनैतिक समुदाय को वह स्थापित करता है उसके अन्य व्यक्तियों को सौंपता है। रूसो कहता है कि समस्या तो "एक ऐसी समाज की खोज करना है जो अपनी सामुदायिक शक्ति से समाज के प्रत्येक सदस्य के शरीर तथा सम्पत्ति की रक्षा करेगी और जिस (समाज) में व्यक्ति सब के साथ संयुक्त होकर भी केवल स्वयं अपनी ही व्यक्तिगत आज्ञा का पालन करेगा और पहले की भांति स्वतन्त्र भी रहेगा।" इस समस्या का हल रूसो एक ऐसे सामाजिक अनुबन्ध में पाता है जिसके अनुसार "हममें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को तथा अपने संपूर्ण वैयक्तिक अधिकारों को मिलाकर एक लोकेच्छा रूपी सर्वोच्चसत्ता को सौंप देता है और (वे ही) हमको व्यक्तिगत रूप (जो संपूर्ण समूह का एक अविभाज्य स्वरूप है) में प्राप्त होने हैं"। इस प्रकार रूसो के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार नागरिक अवस्था में मनुष्य एक स्वतन्त्र व्यक्ति है। जितने प्रतिबन्ध नागरिक अवस्था में व्यक्ति पर हैं वे सब उसने स्वयं ही अपने ऊपर लगाये हैं किसी दूसरे ने नहीं। वह स्वयमारोपित विधान की आज्ञा पालन करता है और ऐसा करने में उसकी स्वतन्त्रता का ह्रास नहीं होता है। "जो विधान स्वयं हमने अपने लिये निर्धारित किया है उसका पालन करना स्वतन्त्रता है"। इससे स्पष्ट है कि रूसो के मतानुसार पूर्ण जनतन्त्र का अर्थ ही पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस सिद्धान्त को स्थापित करने में रूसो ने इस विषय पर ध्यान नहीं दिया कि इस प्रकार की शासन-प्रणाली में बहुमत के अत्याचार की संभावना है। आधुनिक जनतन्त्रीय शासनों में इस दोष का होना जेम्स स्टुआर्ट मिल ने भी संभव बतलाया है। लोकेच्छा को मानने और उसके परिणाम स्वरूप स्वतंत्र होने के लिये व्यक्ति को बाध्य किया जा सकता है" रूसो के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप यह हो जायगा कि व्यक्ति को बहुमत की स्वेच्छाचारिता के सामने सिर झुकाना होगा। इसका अर्थ वास्तव में "व्यक्ति पर बहुमत का अत्याचार है"। इस सिद्धान्त के विरोध में कुछ भी कहा जाय किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि रूसो का सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ तथा कार्यान्वित

करने योग्य है। जैसे राज्य की रूसो स्थापना करता है उसमें मनुष्य के व्यक्तिगत अधिकार पूर्ण रूप से सुरक्षित रह सकते हैं और व्यक्तिगत कर्तव्यों का पालन भी भली प्रकार हो सकता है। इस प्रणाली से अधिक श्रेष्ठ अन्य कोई शासन-प्रणाली नहीं है जिसमें इतनी अधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।

तीनों के सिद्धांतों की आलोचना—हॉब्ज न्यायशास्त्र का बड़ा विद्वान पंडित था। उसने अपने समाजिक अनुबन्ध सिद्धांत को बड़ी चतुराई से स्थापित किया है। उसने इसके प्रतिपादन में तर्कशास्त्र के नियमों से काम लिया है। उसने अपने निष्कर्षों को उचित तर्कों से सिद्ध किया है। उसने राजशास्त्र में एक नवीन सिद्धान्त को जन्म दिया वह सिद्धान्त है "वैधानिक प्रभुता का सिद्धान्त"। हॉब्ज के इस सिद्धान्त में एक बड़ा भारी दोष यह है कि वह अपनी वैधानिक प्रभुता की कमी को राजनैतिक प्रभुता से पूर्ण नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि उसका वैधानिक राजा सामान्य इच्छा अथवा जनसम्मति से पूर्ण स्वतन्त्र है। आधुनिक काल के राजशास्त्रवेत्ता वैधानिक प्रभुता के साथ साथ लोकेच्छा को भी स्थान देते हैं। इन लोगों का मत है कि वैधानिक प्रभुता का आधार लोकेच्छा है और वैधानिक प्रभुता से बड़ी राजनैतिक प्रभुता है। लोकेच्छा ही राजनैतिक प्रभुता है। हॉब्ज के मतानुसार वैधानिक प्रभुता और राजनैतिक प्रभुता एक ही बात है। वह इन दोनों में कोई भेद नहीं समझता है। वैधानिक प्रभुता को वह राज्य की इच्छा समझता है और राज्य की इच्छा को ही वह वास्तविक सर्वोच्चसत्ता समझता है। हॉब्ज ने इस प्रकार की समानता स्थापित करके राज्य और शासन के भेद को भ्रमपूर्ण कर दिया है। वह राज्य और शासन को एक ही बात समझता है परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। राज्य और शासन की समानता स्थापित करने के कारण ही उसने यह मत प्रकट किया है कि शासन का अन्त होने पर राज्य का अन्त हो जाता है और मनुष्यों का राजनैतिक समाज प्राकृतिक अवस्था की अराजक दशा में परिवर्तित हो जाता है। राजा की मृत्यु पर राज्य का अन्त हो जाता है यह उसके सिद्धान्त का परिणाम निकलता है।

हॉब्ज के मतानुसार मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नहीं उठता उसने प्रत्येक व्यक्ति को राजा की दया पर छोड़ रखा है। कोई मनुष्य राजा का विरोध नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति को राजा के अत्याचार उस समय तक सहन करने चाहिये जब तक व्यक्तिगत जीवन संकट में न

पड़े । व्यक्ति को राजा का विरोध करने का अधिकार उसी समय है जब वह समझता है कि अब उसको अपने जीवन का भय है । जीवन का भय उपस्थित होने पर वह राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है । अन्यथा नहीं । साधारणतया व्यक्ति के अधिकारों के पक्षपातियों का यह विचार है कि जब राजा प्रजा पर अत्याचार अथवा उसके साथ अन्याय करे तो प्रजा को उसका विरोध करने का पूर्ण अधिकार है । हॉब्ज भी इस बात को मानता है परन्तु एक विशेष सीमा पर पहुँच कर । जब तक जीवन का भय उपस्थित न हो हॉब्ज के मतानुसार राजा का विरोध करना अपराध है । हॉब्ज प्रजा को शीघ्र विरोध करने की आज्ञा देने में भयभीत होता है । वह स्पष्ट कहता है कि प्रत्येक राजभक्त व्यक्ति को राजा का विरोध करने से पूर्व स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिये कि "क्या ऐसी स्थिति हो गई है कि गृह-युद्ध आरम्भ करके अराजकता की स्थिति स्थापित की जा सकती है ?" "क्या ऐसा करना बुद्धिमानी होगी ?" उसका विचार है कि जब कभी शासन का विरोध किया जायगा उसका परिणाम गृह-युद्ध ही होगा, लोगों में व्यवस्था स्थापित नहीं रह सकती । जहां एक बार शासन का विरोध आरम्भ हुआ फिर उसके परिणाम पर लोगों का काबू नहीं रहता । कोई नहीं कह सकता कि इस विरोध का अन्तिम परिणाम क्या होगा और यह विरोध कहां जाकर रुकेगा । अतः हॉब्ज का मत है कि यह आवश्यक नहीं है कि शासन वास्तव में न्यायपूर्ण ही हो परन्तु शासन का दृढ होना अत्यन्त आवश्यक है । अराजकता अथवा विद्रोह की अपेक्षा दृढ़ शासन सह्य है । शासन की ज्यादती को सहन किया जा सकता है परन्तु अराजकता को नहीं । शांति तथा सुरक्षा की व्यवस्था स्थापित रखने के लिये यदि शासन कुछ अन्याय भी करे तो जनता को सहन करना चाहिये क्योंकि शासन का विरोध करने से शासन की शक्ति का ह्रास होता है ।

हॉब्ज का यह विचार कि मनुष्य वास्तव में स्वार्थी है, मनुष्य के सब कार्य स्वार्थभावना द्वारा ही किये जाते हैं और विशेष कर मनुष्य की व्यक्तिगत दुःख सुख की भावना ही उससे प्रत्येक कार्य कराती है, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इस विचार की पुष्टि नहीं होती है । प्लैटो का विचार है कि मनुष्य आत्म-निर्भर नहीं है, उसे अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये समाज में रहना आवश्यक है । समाज से पृथक् होकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता । उसका जीवन मनुष्य-समाज से संबद्ध है । हॉब्ज के मतानुसार मनुष्यों को समाज में बांधने वाला केवल एक ही

कारण है और वह है अराजकता का सामान्य भय। इस भय के कारण सम्राट् को उसने समाज से पृथक् रखा है। समाज के नागरिक संगठन में सम्राट् सम्मिलित नहीं है।

हॉब्ज की यह धारणा है कि राजा लोगों का प्रतिनिधि है परन्तु हॉब्ज के 'प्रतिनिधि' शब्द के अर्थ में और जनसाधारण के 'प्रतिनिधि' शब्द के अर्थ में भेद है। हम लोगों के 'प्रतिनिधि' शब्द का अर्थ यह है कि हमारा 'प्रतिनिधि' हमारी इच्छा के अनुसार कार्य करेगा। जो प्रतिनिधि की सम्मति का अनुरूप होगी। परन्तु हॉब्ज के प्रतिनिधि के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह वास्तव में जनसाधारण के हित के ही कार्य करे। उसकी सम्मति जनसाधारण की सम्मति से भिन्न हो सकती है। हॉब्ज का राजा विधान निर्माता है। वह विधान से ऊपर है परन्तु इस राजा और जनता के बीच कोई ऐसा अनुबन्ध नहीं है जिससे जनता को राजा से सदैव पूर्ण न्याय मिल सके। एक बार अनुबन्ध द्वारा राजा बना तो दिया है परन्तु उसकी शक्ति पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं है। आधुनिक काल में इस प्रकार का स्वेच्छाचारी शासक कभी सह्य नहीं हो सकता।

प्रतिनिधिकर्शासन का मूलभूत नियम यह है कि वह लोकमत के अनुसार कार्य करता है और लोकहित के लिये ही कार्य करता है। चाहे यह शासक ऐन्टोनाइन्स (Antonines) के शासन से समान एक-सत्तात्मक हो, चाहे इंगलैंड की पार्लियामेंट के समान अप्रत्यक्ष जनतन्त्र हो और चाहे स्विटजरलैंड के कुछ कैन्टनों के समान प्रत्यक्ष जनतन्त्र शासन हो। परन्तु यह बात हॉब्ज के प्रतिनिधिक शासन में उपलब्ध नहीं है।

लॉक स्तुअर्त क्रान्ति का दार्शनिक है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका "सैकन्ड ट्रीटिज़ ऑन सिविल गवर्नमेंट" नाम का ग्रन्थ बहुत महत्व रखता है। इस ग्रन्थ में स्तुअर्त-क्रान्ति के समय की इंगलैण्ड की दशा का पूर्णरूप से चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ में उसने लिखा है कि शासन का कार्य केवल लोगों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना ही होना चाहिये। हॉब्ज का मत है कि शासन का कार्य केवल शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित रखना ही है और कुछ नहीं। लॉक का मत है कि शासन का कार्य केवल शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करना ही नहीं है बल्कि भली प्रकार शासन करना भी है। राजा को प्रजा के हित के लिये शासन करना चाहिये। लॉक राजनैतिक सर्वोच्चसत्ता के पक्ष में है वह वैधानिक सर्वोच्चसत्ता के पक्ष में नहीं है। इस विषय में हॉब्ज और लॉक के भेद को गिलक्रिस्ट ने इस प्रकार वर्णन किया है "राज-

नैतिक प्रभुता की शक्ति को न मानते हुए हॉब्ज ने वैधानिक प्रभुता का सिद्धान्त स्थापित किया है और लॉक राजनैतिक प्रभुता की शक्ति को मानता है परन्तु वैधानिक प्रभुता को नहीं मानता"।

रूसो के सामाजिक अनुबन्ध में एक विशेष बात यह है कि उसके विचार बहुधा अनुबन्ध की सीमा को पार करके उसके बाहर हो जाते है। इसका अभिप्राय यह है कि जो भाव उसके सामाजिक अनुबन्ध का है उससे कहीं अच्छा भाव स्वयं रूसो का है। वह हॉब्ज के सामाजिक अनुबन्ध से सर्वोच्चसत्ता के विचार लेता है। उसके अनुबन्ध की प्रभुता हाब्ज के अनुबन्ध की प्रभुता के समान अविभाज्य, अहस्तान्तरकरणीय और स्वेच्छाचारी है। लॉक के अनुबन्ध से रूसो लोकहित सम्बन्धी यह विचार लेता है कि अच्छा शासन वही है जो लोकहित का कार्य करे। इस प्रकार रूसो, हाब्ज और लॉक के विचारों को मिलाकर एक नवीन सर्वोच्चसत्ता स्थापित करता है। इस प्रकार रूसो की लोकेच्छा की उत्पत्ति होती है। रूसो केवल लोकहित तक ही उस लोकेच्छा को सीमित नहीं रखता है। वह उसमें एक और नवीन भाव उत्पन्न करता है। यह नवीन भाव है जनतन्त्र का। अर्थात् सर्वोच्चसत्ता वह सब लोगो के हाथ में रखता है। इस प्रकार रूसो एक वास्तविक जनतन्त्रीय शासन की स्थापना करता है और अपने सामाजिक अनुबन्ध द्वारा उसकी पुष्टि करता है।

रूसो की 'लोकेच्छा' (General will)—रूसो की लोकेच्छा को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले इसके अतिरिक्त अन्य दो प्रकार की इच्छाओं को भली प्रकार समझ लिया जाय। एक actual will जिसे हम केवल "इच्छा" कहेंगे। दूसरी real will जिसे हम शुद्ध-इच्छा के नाम से सम्बोधित करेंगे। ऐल० टी० हाब्हाउस ने अपनी "मेटाफिजीकल थ्योरी आफ दी स्टेट" नामक पुस्तक में लिखा है कि 'इच्छा' और 'शुद्ध-इच्छा' में कोई भेद नहीं है "जो इच्छा है वही शुद्ध-इच्छा है, जो शुद्ध-इच्छा है वही इच्छा है।" जो लोग इच्छा और शुद्ध-इच्छा में भेद मानते हैं उनका कथन है कि शुद्धेच्छा में "करना चाहिये" यह भाव होता है। कर्तव्य बुद्धि ही इसकी जन्मदात्री होती है। जब स्वार्थ इसका रूप विकृत कर देता है तब यह कोरी इच्छा या वासना रह जाती है। इस इच्छा में स्वार्थ की भावना का सम्मिश्रण है। इच्छा अस्थिर है, स्थिर नहीं है। इच्छा में क्षण क्षण परिवर्तन होता रहता है। इस इच्छा का संचालन कुसंकल्प और सुसंकल्पों द्वारा होता रहता है, मनुष्य बहुधा इस इच्छा का दास होता है। कभी कभी इस इच्छा का

इतना प्राबल्य होता है कि उसको रोका नहीं जा सकता। ऐसी इच्छा के आधीन मनुष्य कभी ऐसे कार्य कर डालता है जिनके कारण उसे संसार में बड़ा लज्जित होना पड़ता है। भिन्न भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों द्वारा इसका संचालन होने के कारण यह अस्थिर है और परिवर्तनशील है। इस इच्छा का मनुष्य समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह व्यक्तिगत इच्छा है।

बोसांके (Bosanquet) तथा अन्य आदर्शवादी दार्शनिक इच्छा और शुद्ध-इच्छा में भेद मानते हैं। इन लोगों का मत है कि शुद्ध-इच्छा वह इच्छा है जिसमें स्वार्थ का भाव नहीं है। स्वार्थरहित इच्छा ही शुद्ध-इच्छा है, शुद्ध-इच्छा स्थायी इच्छा है। इस इच्छा में परिवर्तन नहीं होता है। यह सदा एक रस रहती है। मनुष्य की इच्छा का शुद्ध-इच्छा द्वारा संचालन होता है। 'इच्छा' शुद्ध-इच्छा के आधीन है। इस शुद्ध इच्छा-द्वारा मनुष्य को स्थायीतुष्टि प्राप्त होती है। शुद्ध-इच्छा से मनुष्य को सुख और संतोष प्राप्त होता है। मनुष्य की अभिलाषाओं की पूर्ति से शुद्ध-इच्छा का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस इच्छा का सम्बन्ध परमार्थ से है। यह इच्छा युक्तियुक्त इच्छा है। यह मनुष्य में सदैव नहीं रहती है और न पूर्णरूप से किसी व्यक्ति में कभी विद्यमान होती है। इसी शुद्ध-इच्छा द्वारा एक व्यक्ति समाज के साथ सम्बद्ध होता है। यह इच्छा किसी न किसी परिमाण में प्रत्येक नागरिक में विद्यमान है। इस इच्छा का उद्देश्य परमार्थ और लोकोपकार है। एक साधारण मनुष्य में दोनों प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। प्रत्येक मनुष्य में साधारणतया इच्छा की अपेक्षा शुद्ध-इच्छा अधिक मात्रा में होती है। शुद्ध-इच्छा वास्तविक इच्छा है। यही श्रेष्ठ इच्छा है। इसी शुद्ध-इच्छा के आधार पर दार्शनिकों ने लोकेच्छा का सिद्धान्त स्थापित किया है। लोकेच्छा की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि लोकेच्छा मनुष्य की उन शुद्ध-इच्छाओं का संयोग है जिनके द्वारा समाज की स्थापना हुई है। बोसांके ने लोकेच्छा की परिभाषा इस प्रकार की है लोकेच्छा "सम्पूर्ण जनसमाज की सामूहिक इच्छा अथवा सर्वसाधारण का कल्याण करने वाली व्यक्तिगत इच्छाओं का समूह है।" लोकेच्छा रूसो के सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की आधार-शिला है। लोकेच्छा के 'लोक' शब्द से रूसो के दो अभिप्राय हैं। एक तो इच्छा करने वालों की संख्या दूसरा सर्वसाधारण का हित अधिक महत्वपूर्ण है। वह कहता कि मतदाताओं की संख्या की अपेक्षा लोगों को परस्पर संगठित करने वाला सर्वसाधारण हित लोकेच्छा है।" रूसो ने मतदाताओं की संख्या की अपेक्षा लोकहित पर अधिक जोर दिया है और लोकहित का ही लोकेच्छा से अधिक सम्बन्ध है।

लोकेच्छा का अभिप्राय बहुमत अथवा लोकमत नहीं है। लोकेच्छा का वास्तविक सम्बन्ध लोकहित से है। यदि अल्पसंख्यक लोकहित सम्बन्धी कार्य करते हैं तो इस अल्पसंख्यक ही को लोकेच्छा कहेंगे। यदि एक ही व्यक्ति लोकहित की बात करता है तो एक ही व्यक्ति का मत लोकेच्छा समझा जायगा। अतः लोकेच्छा का अर्थ लोकमत अथवा बहुमत ही नहीं समझना चाहिये। लोकेच्छा का वास्तविक सम्बन्ध लोकहित से है। यदि बहुमत में स्वार्थ की झलक है तो वह लोकेच्छा नहीं समझा जा सकता। परन्तु धारणा यह है कि बहुधा बहुत से लोगों का मत एक अथवा अनेक के मत की अपेक्षा ठीक, उचित और श्रेष्ठ होता है इसीलिये साधारणतया लोकेच्छा बहुमत अथवा जनसम्मति के साथ सम्बद्ध है। साधारणतया एक जनतन्त्र शासन-प्रणाली में लोकेच्छा पूर्णरूप से प्रकट होती है और प्रत्यक्ष दिखाई देती है। परन्तु लोकेच्छा अप्रत्यक्ष रूप में राजतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र में भी विद्यमान रह सकती है।

रूसो के मतानुसार एक समाज में 'सर्व सम्मति' (will of all) होती है। सर्वसम्मति का अर्थ है समाज के सदस्यों की विशिष्ट इच्छाओं का समूह। समाज का प्रत्येक सदस्य लोकहित संबंधी प्रश्नों पर अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार विचार करता है। परन्तु एक श्रेष्ठ समाज में, जिसमें नागरिकता के भाव विद्यमान हैं, लोगों के व्यक्तिगत स्वार्थ एक दूसरे से टकरा कर स्वयं नष्ट हो जाते हैं और शुद्ध जनमत स्थापित हो जाता है। इसी जनमत का नाम लोकेच्छा है। अतः सर्वसम्मति से लोकेच्छा की उत्पत्ति होती है। लोकेच्छा द्वारा जो निर्णय होगा वह वास्तव में श्रेष्ठ और न्याययुक्त होगा। यह निर्णय एक आदर्श सम्मति के निर्णय के समान होगा। परस्पर वाद विवाद करके सब लोग लोकोपकारक निर्णय पर पहुँचते हैं। ऐसा निर्णय सदैव उचित होगा। क्योंकि पारस्परिक वाद-विवाद से लोगों के विचारों की शुद्धि हो जाती है और यदि कोई स्वार्थ संबंधी दोष भी होता है तो वह वादविवाद से निकल जाता है और इस प्रकार साधारणतया निर्णय ठीक ही होता है। इसी प्रकार की लोकेच्छा को रूसो सर्वोच्चसत्ता का व्यक्तरूप समझता है। जब सर्वोच्चसत्ता लोकहित का कार्य करती है तो वह अपनी लोकेच्छा का प्रयोग करती है। जब तक राज्य के विधान लोकहित का कार्य करते हैं तब तक इन विधानों में लोकेच्छा का पुट विद्यमान रहता है। लोकेच्छा ही स्वराज्य का आधार तथा मूलतत्व है। जब तक लोकेच्छा कार्य करती रहती है प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रहने के लिये

बाध्य किया जा सकता है। ऐसी दशा में एक व्यक्ति को गिरी अवस्था से उठाने के लिये उसे बाध्य किया जा सकता है। एक व्यक्ति को यदि किसी की दासता में ही आनन्द मिलता है और स्वतन्त्रता के जीवन की अपेक्षा वह उस दासता के जीवन को अधिक श्रेष्ठ समझता है तो लोकेच्छा का सहारा लेकर उसे स्वतन्त्र होने के लिये बाध्य किया जा सकता है चाहे इस प्रकार जीवन व्यतीत करने में उसे उतना आनन्द न प्राप्त हो। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अज्ञानता के कारण किसी ऐसे स्थान पर जाता है जहां उसके जीवन के लिये संकट है तो उसे बलपूर्वक ऐसा करने से वर्जित किया जा सकता है।

लोकेच्छा के तीन विशेष लक्षण हैं (१) ऐक्य, (२) चिरस्थिति और (३) उचित इच्छा।

(१) ऐक्य—लोकेच्छा केवल एक होती है। युक्ति संगत होने के कारण उसकी विरोधी कोई लोकेच्छा नहीं होती। यदि कोई ऐसी इच्छा हो भी तो वह लोकेच्छा नहीं हो सकती लोकेच्छा कई प्रकार की हो सकती है किन्तु ये प्रकारान्तर उसके मूल स्वभाव के अन्तर्गत ही होंगे। लोकेच्छा "राष्ट्रीय चरित्र में ऐक्य स्थापित करती है और उस (ऐक्य) को सुरक्षित रखती है और एक राज्य के नागरिकों में जैसे गुणों की हम आशा रखते हैं वैसे ही सामान्य गुण उनमें उत्पन्न करती है"।

(२) चिर-स्थिति—लोकेच्छा चिरस्थायी होती है। लोगों के उद्वेग और दुष्कल्पनाओं का उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। लोकेच्छा लोगों के स्वभाव में बस जाती है और उनके चरित्र का एक भाग बन जाती है।

(३) उचित-इच्छा—लोकेच्छा सदैव एक उचित इच्छा होती है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है लोकेच्छा का संबंध लोक-हित से है। यह सदैव लोकोपकार की बात सोचती और करती है। यह इच्छा सर्वश्रेष्ठ होती है। इसमें स्वार्थ का लेशमात्र भी अंश नहीं होता। रूसो का विचार है कि कभी ऐसा हो सकता है कि लोकेच्छा कभी कोई दोषपूर्ण निर्णय करदे। ऐसा कार्य नैतिक दृष्टि से दूषित नहीं समझा जायगा। ऐसा भूल से ही हो सकता है जान बूझकर कभी दोषपूर्ण निर्णय नहीं दिया जा सकता। लोकेच्छा सदैव प्रत्येक कार्य में मनुष्य का पथ प्रदर्शन करती है और इस के द्वारा मनुष्य सदैव ठीक कार्य करता है किसी कार्य अथवा निर्णय में त्रुटि होने पर लोकेच्छा को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। लोकेच्छा सदैव ठीक

और श्रेष्ठ होती है। इतना अवश्य हो सकता है कि किसी विशेष अवसर पर लोकेच्छा का संचालन करने वाला बौद्धिक निर्णय त्रुटिपूर्ण हो। ऐसी अवस्था में लोकेच्छा का परिणाम त्रुटिपूर्ण हो सकता है।

आलोचना—कुछ लोगों का कथन है कि लोकेच्छा बहुमत के अनुसार ही निर्धारित होनी चाहिये। लोकेच्छा का बहुमत से इतना संबंध नहीं है जितना लोकहित से है। लोकेच्छा का लोकहित से घनिष्ठ संबंध है। एक बार ऐसा संभव हो सकता है कि लोकेच्छा बहुमत की इच्छा न हो परन्तु यह आवश्यक है कि उसमें लोक हित का भाव अवश्य होना चाहिये। यदि अल्पमत में लोकेच्छा पाई जाती है तो वह अल्पमत भी लोकहित का कार्य करेगा और इस प्रकार जनसाधारण की भलाई का कार्य होगा और उसका प्रभाव बहुमत पर पड़ेगा। वास्तव में यह एक आदर्शवादी सिद्धान्त है केवल काल्पनिक ही नहीं है। लोकेच्छा एक ऐसा आदर्श है जिसे पूरी तरह किसी राज्य में भी कार्यान्वित हुआ नहीं पाया जा सकता। हां, प्रत्येक जनतंत्र राज्य में इस आदर्श का व्यवहार में लाने का प्रयत्न अवश्य किया जाता है।

कुछ लोगों का यह मत है कि लोकेच्छा के नाम से शासक बड़े बड़े अत्याचार कर सकते हैं। लोकेच्छा के सिद्धान्त द्वारा स्वेच्छाचारी शासन हो सकता है। इस सिद्धान्त का यह निष्कर्श कि प्रत्येक को स्वतन्त्र रहने के लिये बाध्य किया जा सकता है, अनुचित है क्योंकि जहाँ बाध्य करना आरम्भ हो जाता है वहाँ स्वतन्त्रता किस प्रकार प्रयुक्त की जा सकती है? इस प्रकार के आक्षेप देखने में तो युक्तिसंगत से प्रतीत होते हैं और वास्तव में इस प्रकार के कार्य शासन कर सकता है जिनसे लोगों की साधारण स्वतन्त्रता में बाधा पड़े। परन्तु इन दोषों को दूर किया जा सकता है। यदि इस प्रकार के दोष शासन में आते है तो रूसो का यह नियम कि 'समय-समय पर लोग एकत्रित होकर इस बात का निर्णय करें कि क्या इस प्रकार शासन प्रचलित रखा जाय अथवा इसमें कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है, इस प्रकार के दोषों को दूर करने और शासन में उत्पन्न हुई कुरीतियों तथा भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये पर्याप्त है। रूसो का कथन है कि शासक अपनी प्रजा पर ऐसे बन्धन नहीं लगा सकता जो प्रजा के लिये हानिकारक हैं। न वह कभी ऐसा करने का विचार अपने मन में ला सकता है। रूसो के इस विचार से स्पष्ट है कि लोकेच्छा सिद्धान्त द्वारा व्यक्तिगत नागरिक स्वतन्त्रता का ह्रास नहीं होता है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय केवल बन्धनों का न होना ही नहीं है। राज्य के विरोधक विधानों से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास नहीं होता

है। कोल (Cole) का कथन है कि "स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिये किन-किन विरोधक विधानों की आवश्यकता है इस बात का निर्णय सदैव विशेष वाद-विवाद द्वारा किया जायगा। प्रत्येक विषय का निर्णय उसके महत्व पर निर्भर होगा और वास्तव में सर्वोच्चसत्ता सर्वशक्तिमान् होगी और वह सत्ता विवेकजन्य विधान (Law of reason) के आधीन होगी"।

लोकेच्छा का सिद्धान्त लोक हित से सम्बद्ध है। लोकेच्छा द्वारा जो कार्य किये जायंगे वे सब लोकहित के लिये ही होंगे। परन्तु जो लोग इस सिद्धान्त के विरोधी हैं उनका कथन है कि लोकहित का निर्णय करना बड़ा कठिन है। बुरे से बुरा अत्याचारी स्वेच्छाचारी शासक लोकहित के नाम पर बुरे से बुरा अन्याय प्रजा पर कर सकता है। दूसरा आक्षेप वे यह भी करते हैं कि पहले से यह ज्ञात करना बड़ा कठिन है कि अमुक विधान अथवा अमुक कार्य का परिणाम लोकहित ही होगा। लोकहित तो परिणाम से ही ज्ञात हो सकता है। यदि वास्तव में उस विधान अथवा कार्य से सर्वसाधारण का हित हुआ है तो वह विधान अथवा कार्य ठीक है अन्यथा नहीं। किन्तु परिणाम को देख कर लोकेच्छा का निर्णय करना ठीक नहीं मालूम होता लोकेच्छा वही है जिसको बुद्धि ने लोकहितकारी समझा हो, चाहे परिणाम कुछ भी हो। यदि इस दूसरे सिद्धान्त को मान लें तो यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति या अल्पसंख्यकों की इच्छा की अपेक्षा बहुसंख्यकों की इच्छा में लोकेच्छा का अधिक पुट होगा। यह हो सकता है कि बहुसंख्यकों की इच्छा केवल उन्हीं का सामूहिक स्वार्थ हो। इसलिये इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कोई सिद्धान्त नहीं किया जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि बहुसंख्यकों की इच्छा अधिकतर अवसरों पर लोकेच्छा होगी। इसी विश्वास की नींव पर जनतंत्र राज्य तथा शासन का भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है।

कुछ लोगों का यह विचार है कि यदि यह बात मान भी ली जाय कि लोकेच्छा में कभी त्रुटि होती ही नहीं है और सदैव इसका रूप लोकहित चिंतन के पश्चात् ही स्थिर होता है तो इस बात की क्या प्रत्याभूति (guarantee) है कि राज्य का शासन-कार्य सदैव ठीक प्रकार से होता रहेगा और उसमें कभी कोई दोष नहीं उपस्थित होगा। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि शासन में दोष आ सकते हैं तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सामान्य इच्छा दूषित हो गई है। सामान्य इच्छा दूषित नहीं हो सकती है। यदि शासन में दोष आगये हैं

तो उन दोषों का निरोध अथवा शासन का सुधार लोकेच्छा द्वारा हो सकता है क्योंकि लोकेच्छा का उद्देश्य सदैव ही लोकहित होता है। लोगों को अच्छी शिक्षा देकर और लोकमत का सुधार करके लोकेच्छा द्वारा शासन के दोषों को दूर किया जा सकता हैं।

लोकेच्छा के गुण—लोकेच्छा राजनैतिक कार्यों में पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है, राज्यकार्य में क्या साध्य है, यह निश्चित करती है और विघ्न-बाधाओं के आजाने पर समाज तथा राज्य को इधर-उधर भटकने न देकर उन्हें निश्चित दिशा में ले जाती है।

लोकेच्छा में श्रद्धा रखने वाले व्यक्तियों की यह धारणा है कि राज्य केवल व्यक्तियों की भीड़ नहीं है बल्कि उन व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध, तथा राज्य से उनका वैसा ही सरोकार है जैसा किसी प्राणी के शरीर के अवयवों का शरीर से होता है। शरीर के सब अवयव मिल कर शरीर का धारण, पोषण व रक्षा करते हैं और बदले में स्वयं पुष्ट बनते हैं। यदि सब शरीर को सुख मिलता है तो उसके अवयव अनायास ही उस सुख में अपना भाग पा लेते हैं। शरीर का सुख-दुख उसके अवयवों के सुख-दुख से पृथक नहीं वरन् अविच्छिन्नरूप से बंधा हुआ है। जो इच्छा शरीर की है वही उसके विभिन्न अवयवों की है। यही बात राज्य में व्यक्तियों के लिये सत्य है, ऐसा इन लोगों का मत है।

लोकेच्छा इस सिद्धान्त की सत्यता प्रकट करती है कि "शक्ति नहीं बल्कि इच्छा ही राज्य का आधार है"। लोकेच्छा की कल्पना में कहीं भी शक्ति का ऐसा प्रयोग नहीं हैं जहां अल्पमतों के ऊपर अत्याचार का भाव हो। यदि अल्पमतों के विचार ठीक और श्रेष्ठ हैं तो वह आग्रह और वाद-विवाद द्वारा बहुमतों पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं और लोकेच्छा का प्रयोजन सदा लोकोपकार है। यदि अल्पमत वास्तव में ठीक हैं तो बहुमत को ये अपने मत का बना सकते हैं।

लोकेच्छा-सिद्धान्त मनुष्यों को यह शिक्षा देता है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है और उसका आधार लोकेच्छा है। राज्य मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकता है। मनुष्यों की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य वास्तव में एक स्वाभाविक संस्था है। राज्य के बाहर रहकर मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक, और आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। कौन का कथन है कि "राज्य की स्थापना हम से इस बात की

अभियाचना करती है कि हम उसकी आज्ञा का पालन करें क्योंकि वह हमारे ही व्यक्तित्व का एक स्वाभाविक विस्तृत रूप है।"

लोकेच्छा सिद्धान्त इस बात को सिद्ध करता है कि हमारे लोकतन्त्र का आधार शक्ति नहीं है। अर्थात् जनतन्त्रीय शासन में बल का प्रयोग नहीं किया जाता बल्कि सबकी सामूहिक इच्छा से शासन किया जाता है। सब लोगों की सामूहिक इच्छा ही लोकेच्छा है। जब यह कार्य रूप में व्यक्त होती है तो उसका स्वरूप जनतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।

हम लोकेच्छा की आज्ञा का पालन इसलिये नहीं करते हैं कि वह शासक है और हम उसके आधीन हैं बल्कि इसलिये करते हैं कि हम इस बात को जानते हैं कि यह लोकेच्छा हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं का संयुक्त रूप है। हमारी इच्छा यही है कि अमुक आज्ञा का पालन किया जाय क्योंकि ऐसा करने में हमारा व्यक्तिगत तथा सामूहिक कल्याण है।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये

जे० जे० रूसो—*सोशल कॉन्ट्रैक्ट*
लार्ड—*प्रिंसिपल्स आफ पौलिटिक्स*
जे० लॉक—*सेकिण्ड ट्रीटिज आन सिविल गवर्नमैंट*
एस० लीकाक—*ऐलीमैन्ट्स आफ पौलीटिकल साइंस*
सी० ई० ऐम० जोड—*माडर्न पौलीटिकल थ्योरी*
टी० हॉब्ज—*लैवियैथन*
आर० एन० गिलक्रिस्ट—*प्रिंसिपल्स आफ पौलीटिकल साइंस*
आर० ऐस० गैटिल—*इन्ट्रोडक्शन टू पौलीटिकल साइंस*
जे० एन० गार्नर—*पौलीटिकल साइंस ऐण्ड गवर्नमैन्ट*
बी० बोसांके—*फिलासाफिकल थ्योरी आफ दी स्टेट*
कौटिल्य—*अर्थ-शास्त्र*
महाभारत—*शान्ति-पर्व*

अध्याय ९

अधिकार

जीवन के साथ ही अधिकार की भावना का उदय हो जाता है। संसार में छोटे से छोटे प्राणी से लेकर बड़े से बड़े तक में यह देखने में आता है कि वे कुछ वस्तुओं को अपना स्वत्व समझते हैं और उस स्वत्व के लिये अपने जीवन को बलिदान करने के लिये उद्यत हो जाते हैं। तनिक मधुमक्खियों के छत्ते में हस्तक्षेप करके देखिये कि वे अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिये क्या-क्या करती हैं? एक कौए को पकड़ लीजिये और देखिये कि कितने कौए उस एक कौए की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये कितने प्रयत्न करते हैं? एक बन्दर के बच्चे को आप पकड़ कर देखिये कि बन्दरों का समुदाय उस बच्चे की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये क्या-क्या करता है। आप किसी मनुष्य की कोई वस्तु बल पूर्वक लेने का प्रयत्न कीजिये, वह भी अपना अधिकार किसी न किसी प्रकार प्रदर्शित करेगा और आपको अपने जीवन की रक्षा करना कठिन हो जायगा। इन उदाहरणों में अधिकार' शब्द उस स्वार्थपूर्ण स्वामित्व के लिये प्रयुक्त हुआ है जो व्यक्ति या समूह की शारीरिक शक्ति पर निर्भर है। जो अभिप्राय अंगरेजी शब्द 'राइटस' का है वह उस अधिकार शब्द का नहीं है। समाज व राज्य में हम यह विचार नहीं करते हैं कि अमुक व्यक्ति या समुदाय कितना बलवान है और कितनी सम्पत्ति को अपने वश में रख सकता है। वरन् वहाँ इसी बात पर दृष्टि रहती है कि सामाजिक या वैयक्तिक कल्याण के लिये किन-किन बातों की व्यक्ति को सुविधायें प्राप्त रहें। इन सुविधाओं में जितना पुट नैतिकता का रहता है उतना स्वामित्व का नहीं। इसीलिये सामाजिक सुविधाओं को अंगरेजी में 'राइटस' शब्द से पुकारा जाता है। इन सुविधाओं में एक ऐसा सत्य निहित समझा जाता है जिसे सारा समाज स्वीकार करता है। सब प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसको सत्य-झूठ या उचित-अनुचित समझने की बुद्धि है। इसके द्वारा नीति-अनीति के भेद को समझ जाता है। इसलिये जिन अधिकारों का हम यहाँ वर्णन करेंगे वे मानव समाज की नीतिपूर्ण व्यक्तिगत सुविधायें

होंगी, जानवरों का बलप्रयोग से रक्षित स्वामित्व नहीं। इन अधिकारों को समझने के लिये इनके बारे में कुछ अन्य बातें जानना आवश्यक है।

मानव समाज में अधिकारों व कर्तव्यों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक का अस्तित्व दूसरे के बिना नहीं रह सकता। यदि क को किसी बात का अधिकारी कहा जाय तो उसका अर्थ भी यह है कि ख, ग, या घ के लिये वही कर्तव्य है। समाज में अधिकार शब्द से "प्राप्त होना चाहिये" का बोध होता है। यदि किसी व्यक्ति को कोई सुविधा प्राप्त होनी चाहिये ऐसा मान लिया जाय तो उसका यही अर्थ होगा कि दूसरे व्यक्तियों को चाहिये कि वे उसे वह सुविधा दें। सुविधा एक ही है, एक के लिये वह अधिकार का रूप धारण करती है दूसरों के लिये कर्तव्य बनकर सामने आती है। इससे स्पष्ट है कि अधिकार और कर्तव्यों का अस्तित्व एक दूसरे पर आश्रित है। अधिकार और कर्तव्य कागज के दो पृष्ठ हैं, दोनों का नित्य सम्पर्क है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं रहता। जहाँ अधिकार वहाँ कर्तव्य भी अवश्य होगा "केवल कर्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का महत्व है" *

उपरोक्त कथन से ही यह नियम भी निसृत होता है कि प्रत्येक अधिकार के लिये समाज के अभिस्वीकरण की आवश्यकता है। बिना इस प्रकार के अभिस्वीकरण के अधिकारों की स्वत्व-याचना का कोई अर्थ नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि हमारे अधिकारों के लिये समाज की स्वीकृति आवश्यक है। जब समाज के अन्य व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि मुझे कुछ प्राप्त होना चाहिये, तभी मेरे अधिकार का जन्म होता है अन्यथा नहीं। ऐसी स्वीकृति न होने पर मेरी माँग उदण्डता कही जा सकती, वह अधिकार नहीं हो सकती। यदि एक व्यक्ति के अधिकार समाज में मान्य हैं तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे वैधानिक रीति से भी मान्य हैं। मनुष्य के भिन्न-भिन्न प्रकार के अधिकार होते हैं। कुछ समाज के प्रति, कुछ राज्य के प्रति, कुछ अपने कुटुम्बियों के प्रति, सामाजिक स्वीकृति नैतिक आधार पर होती है। अधिकार साधारणतया सार्वजनिक हित पर निर्भर है। सब अधिकारों का सम्बन्ध किसी न किसी नैतिक उद्देश्य से या लौकिक श्रेय से होना आवश्यक है।

जैसा हम पहले बतला चुके हैं अधिकार कोरी स्वार्थसिद्धि की माँग नहीं हैं। यदि यह हम मान लें कि व्यक्ति अपने मनुष्यत्व की अधिक से

---

* ऐन० वाइल्ड—ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट पृष्ठ ११६

अधिक उन्नति के लिये समाज का अङ्ग बनता है, और यह भी मान लें कि इस उन्नति के लिये दूसरों के साथ उपकार करना, दुखी पर दया करना, निर्धनों से सहानुभूति रखना आदि आवश्यक है तो यह प्रकट है कि जिन अधिकारों का व्यक्ति दावा करता है उन अधिकारों की प्राप्ति पर अन्य व्यक्तियों का सुख भी थोड़ा बहुत निर्भर है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की वही माँग अधिकार कही जा सकती है जिसे किसी व्यक्ति विशेष के लिये ही आवश्यक नहीं समझा जाता वरन् जो प्रत्येक साधारण व्यक्ति के लिये भी आवश्यक है। उसका रूप साधारण मानवधर्म के अनुकूल होना चाहिये। किसी व्यक्ति की मनमानी माँग अधिकार नहीं कही जा सकती। ऐसा कहने के पहिले यह देखना होगा कि उस माँग से व्यक्ति के वास्तविक कल्याण, या सामाजिक हित से सम्बन्ध है या नहीं और यह भी देखना होगा कि यह किसी व्यक्ति विशेष की माँग है या वह ऐसी माँग है जिसे समाज का प्रत्येक व्यक्ति करने के लिये स्वतंत्र है।

एक सत्तात्मक अथवा स्वेच्छाचारी राज्यों में व्यक्ति के अधिकारों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। राजा की शक्ति के सामने प्रजा के कोई अधिकार नहीं होते थे। वे सब अधिकार राजा की इच्छा पर निर्भर रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार राजा की दया का एक अंश समझा जाता था। उस समय व्यक्ति अपने अधिकार के लिये राजा से प्रार्थना कर सकता था और भिक्षा के रूप में उससे याचना कर सकता था। यदि राजा किसी को कोई अधिकार देता था तो वह उसकी कृपा, दया अथवा दान समझा जाता था। आधुनिक काल में जनतन्त्र राज्यों में अधिकारों को बड़ा महत्व दिया गया है। "फ्रांसीसी क्रान्ति ने भिक्षा नहीं माँगी, उसने मनुष्यों के अधिकारों को माँगा"। फ्रांस ने यूरोप में सबसे प्रथम मानव-अधिकारों के लिये युद्ध किया और उनको प्राप्त किया। जनतन्त्र राज्यों में मानव-अधिकारों को राज्य स्वीकार करता है और उनकी रक्षा करता है। ज्यों-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती जाती है, मानव-अधिकार बढ़ते जाते हैं। १८ वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् सामाजिक संगठन में ऐसे परिवर्तन हो गये हैं कि इन परिवर्तनों के कारण नवीन अधिकारों की उत्पत्ति हो गई है। जो अधिकार कभी व्यक्तिगत थे और कुटुम्ब से ही सम्बन्ध रखते थे, आज वे सामाजिक हो गये हैं। कुछ तो इतने विस्तृत हो गये हैं कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। नवीन अधिकारों में कार्य करने का अधिकार, हड़ताल करने का अधिकार, हड़ताल के समय अपने कार्य पर बने रहने का

अधिकार इत्यादि हैं। अधिकार के विषय में साधारणतया पांच विशेष सिद्धान्त हैं जिनका वर्णन क्रमशः किया जायगा :—

(१) नैसर्गिक-अधिकार सिद्धान्त।

(२) वैधानिक अधिकार सिद्धान्त।

(३) ऐतिहासिक अथवा रूढ़िवादी अधिकार सिद्धान्त।

(४) लोक-कल्याण-अधिकार सिद्धान्त।

(५) आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त।

(१) नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के कुछ स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक (नैसर्गिक) अधिकार होते हैं। ये उसके जन्मजात अधिकार होते है। उन अधिकारों से मनुष्य का बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है। जैसे मनुष्य का रूप, रंग, आदि उसकी व्यक्तिगत अभिन्न विशेषताएँ है उसी प्रकार मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार हैं। ऐसा विचार प्राचीन काल में यूनानी दार्शनिकों का था। उनका मत है कि इन नैसर्गिक अधिकारों को सिद्ध करने के लिये किसी विधान, न्याय अथवा युक्ति की आवश्यकता नहीं है। यह स्वतः सिद्ध सत्य है। जीवित रहने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार निर्णय करने अथवा निर्णय देने का अधिकार, ऐसे अधिकार है जिन्हें जन्मजात अधिकार कहा जा सकता है। इस प्रकार के अनेक जन्मजात अधिकार हैं जिनको प्राप्त करने तथा सुरक्षित रखने का प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। लॉक का कथन है कि मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र तथा विवेकशील है।

नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक मनुष्य की सभ्यता की उन्नति में इस सिद्धांत ने बड़े बड़े कार्य किये हैं। जॉन लॉक (John Locke) और टामस पेन (Thomas Paine) जैसे अंग्रेज विद्वानों ने इस सिद्धान्त पर बहुत कुछ लिखा है। फ्रांस और अमेरिका ने इस सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणत किया है। अमरीका के वर्जीनिया राज्य (Virginia) के संविधान में यह वर्णन किया गया है कि "स्वभावतया सब लोग उन्मुक्त तथा स्वाधीन हैं और उनके कुछ जन्मजात अधिकार हैं जो मनुष्यों के सामाजिक रूप में संगठित होने पर भी किसी अनुबन्ध द्वारा उनसे तथा उनकी सन्तानों से पृथक नहीं किये जा सकते। वे अधिकार ये हैं—जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति, सुख तथा सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार" * अमेरिका की

---

* नेचुरल राइटस पृष्ठ ५ (डी० जी० रिशी द्वारा उद्धृत)

स्वतन्त्रता की घोषणा (१७७६) में भी इसी प्रकार का वर्णन है। सन् १७९१ और १७९३ की फ्रांस की घोषणा में भी इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है। स्वतन्त्रता, समानता, सुरक्षा, और सम्पत्ति को फ्रांस की घोषणा (१७९३) में मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार बतलाया गया है।

हॉब्ज, लॉक और रूसो ने भी अपने सामाजिक अनुबंधों में नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन किया है। हॉब्ज ने जीवन के अधिकार को ऐसा नैसर्गिक अधिकार माना है जिसको अनुबन्ध स्थापित करने के पश्चात् भी लोग राजा को न सौंप कर अपने हाथ में ही रखते हैं। हॉब्ज ने जीवन के अधिकार के अतिरिक्त स्वतन्त्रता, सम्पत्ति आदि के अधिकारों को भी मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार माना है, परन्तु इन अधिकारों को मनुष्य सामाजिक अनुबन्ध स्थापित करने के पश्चात् सर्वोच्चसत्ता को सौंप देता है। वास्तव में हॉब्ज ने मनुष्य के सब प्रकार के अधिकारों को नैसर्गिक अधिकार बतलाया है। उसका कथन है कि "प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक वस्तु पर अधिकार है, यहाँ तक कि दूसरे व्यक्ति के शरीर पर भी उसे अधिकार है।" * हाब्ज के मतानुसार मनुष्य की प्राकृतिक दशा पशु के समान ही उसके नैसर्गिक अधिकार है।

लॉक के मतानुसार भी मनुष्य के कुछ अधिकार नैसर्गिक हैं। इन अधिकारों में जीव, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, समानता आदि के अधिकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार रूसो ने भी नैसर्गिक अवस्था में मनुष्य के अधिकारों का उल्लेख किया है। जिन नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन हॉब्ज और लॉक ने किया है उनका वर्णन रूसो ने भी किया है। लॉक के सामाजिक अनुबन्ध द्वारा यह अधिकार समाज को सौंप दिये जाते हैं और रूसो के सामाजिक अनुबन्ध द्वारा यह अधिकार लोकेच्छा को अर्थात् सब मनुष्य को सौंप दिये जाते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) का कथन है कि 'सब मनुष्यों का मूल-भूत अधिकार समान स्वतन्त्रता का अधिकार है जिस के अनुसार यदि मनुष्य अन्य मनुष्य की वैसी ही स्वतन्त्रता पर आघात न करे तो वह स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छापूर्वक जो चाहे सो कर सकता है।" औद्योगिक क्रान्ति के समय से अब तक लोगों ने नैसर्गिक अधिकारों के नाम से राजनैतिक क्षेत्र में बड़े-बड़े लाभ उठाये हैं। संसार में लोग भोजन वस्त्र, गृह, जीविका तथा राजनैतिक अधिकारों के प्राप्त करने के लिये

---

* टी० एच० हॉब्ज—लेवियेथन अध्याय १४

निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं और इन अधिकारों को नैसर्गिक अधिकारों का रूप दे रहे हैं।

आलोचना—नैसर्गिक अधिकारों की व्याख्या करना बहुत कठिन है। डी० जी० रिशी (D. G. Ritchie) ने 'नैसर्गिक अधिकारों' पर एक पूरी पुस्तक लिखी है और अंग्रेजी के 'नेचर' शब्द के प्रयोग के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ बतलाये हैं। उसने 'नेचर' के पाँच अर्थ बतलाये हैं (१) सम्पूर्ण विश्व (२) आदर्श (काल्पनिक ध्येय), (३) आरम्भिक (अपूर्ण), (४) मनुष्यरहित संपूर्ण विश्व (५) सामान्य (औसत)। 'नेचर' शब्द के इतने अर्थों में से हम कौन से अर्थ का प्रयोग 'नेचुरल राइट्स' अर्थात् नैसर्गिक अधिकारों में कर सकते है?

यदि प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी के नेचुरल अथवा हिन्दी के 'नैसर्गिक' शब्द की व्याख्या की जाय तो इसका अर्थ होगा—(१) कृत्रिम के विपरीत (२) आध्यात्मिक के प्रतिकूल और (३) नागरिक अथवा राजनैतिक दशा के प्रतिकूल। इन सब अर्थों को ध्यान में रखते हुए हम नैसर्गिक शब्द के अर्थ यह समझते हैं—(१) मनुष्य की स्वाभाविक दशा जिसमें कृत्रिमता के लेशमात्र का भी सम्मिश्रण नहीं है, (२) यदि कभी सम्भव हो तो मनुष्य की वह दशा जब उसे आध्यात्मिक चेतना न थी। (३) मनुष्य की साधारण स्वाभाविक दशा। इन तीनों में से हम पहले और दूसरे को ही यहाँ 'नैसर्गिक' का अर्थ मान सकते हैं। सिसरो (Cicero) ने 'नेचर' शब्द का अर्थ आत्मा की पुकार या मानव अन्तःकरण स्थित सदसद्विवेक शक्ति बतलाया है। किसी भी पाश्चात्य लेखक ने 'नेचर' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ नहीं बतलाया। कुछ लोगों ने दासता की प्रथा को नैसर्गिक बतलाया है। कुछ लोगों का मत है कि बहु-पत्नी, बहुपति, अस्थाई विवाह आदि प्रथाएँ भी नैसर्गिक हैं क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में रहनेवाले पशु-पक्षियों में यह प्रथाएँ प्रचलित हैं। ऐसी अवस्था में हम रिशी के विचारों का समर्थन कर सकते हैं। वह लिखता है कि "यदि प्रकृति का निरीक्षण करो तो तुम्हारे किसी भी कार्य में हम दोषी नहीं कह सकते हैं परन्तु इतना भी अवश्य है कि तुम भी यह सिद्ध नहीं कर सकते कि तुम सत्य हो।"* इससे उसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति में सब प्रकार की बातें हम होते हुए देखते हैं। यदि प्रकृति का अनुकरण किया जाय तो किसी भी कार्य में अनौचित्य नहीं दिखाई पड़

---

* डी० जी० रिशी० नेचुरल राइट्स पृष्ठ १०५

सकता परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि कौन सी बात उचित अथवा ठीक है।

कभी-कभी नैसर्गिक अधिकारों में विरोधाभास का दोष दिखाई देता है। फ्रांस की क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुभाव को मनुष्य के ऐसे अधिकार बतलाया था जिनकी प्राप्ति किसी अन्य बात पर निर्भर नहीं करती। इन अधिकारों को स्वतः सिद्ध सत्य माना जाता है। परन्तु इन्हें कार्यान्वित करने से पता चलता है कि पूर्ण समानता अथवा पूर्ण स्वतन्त्रता के भाव केवल कल्पनामात्र हैं। व्यवहार में न किसी समाज में पूर्ण स्वतन्त्रता हो सकती है न पूर्ण समानता। पूर्ण स्वतन्त्रता ही असमानता को उत्पन्न कर देगी। बलवान निर्बलों पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करेगा, तीक्ष्ण बुद्धि वाला व्यक्ति मूर्ख की जड़ता से लाभ उठा कर अपनी स्वार्थ सिद्धि करेगा। ऐसी स्थिति में समानता कहाँ रह जायगी। दूसरी ओर यदि पूर्ण समानता बनाये रखने का प्रयत्न किया जायेगा तो पूर्ण स्वतन्त्रता पर अंकुश रखना आवश्यक हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि यदि हम स्वतन्त्रता व समानता के अधिकार को नैसर्गिक अधिकार मान लें जिन पर किसी प्रकार का बांध नहीं बांधा जा सकता तो समाज का अस्तित्व ही मिट जाय। समाज की रक्षा के लिये स्वतन्त्रता व समानता का समन्वय करना आवश्यक है और इस समन्वय के लिये नैसर्गिक सिद्धान्त उपयोगी प्रतीत नही होता।

नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार है कि राजनैतिक तथा सामाजिक संस्थाओं ने मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों को छीन लिया है। लैस्की (Laski) का कथन है कि समाज में व्यक्ति के अधिकार वह पुनः प्राप्त पैतृक निधि है जिसे समाज में प्रवेश करते समय उससे छीन लिया गया था।

इस कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि समाज व राज्य अस्वाभाविक बनावटी वस्तुएं हैं, इसलिये असत्य हैं। यह मत बिलकुल ठीक नहीं है। समाज व राज्य की उत्पत्ति वैसी ही स्वाभाविक है जैसी कि मनुष्य की नैतिकता। यदि मनुष्य के नैतिक विचार कोई बनावटी असत्य वस्तु हैं तो समाज और राज्य भी बनावटी और असत्य हैं क्योंकि बोसांके के कथनानुसार समाज और राज्य "नैतिक विचारों की साकार मूर्तियां हैं" किन्तु ऐसा है नहीं। नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है उससे स्पष्ट है कि वे ही लोग इस सिद्धान्त को मान्य समझते हैं जो उत्कट व्यक्तिवादी हैं, कम से कम उनकी मान्यता इसी ओर उन्हें घसीट कर ले

जायगी। अराजकवादी भी इसी सिद्धान्त का सहारा लेकर अपने विचारों का प्रतिपादन करते हैं।

गिलक्रिस्ट का कथन है कि "अधिकारों की उत्पत्ति इस कारण से हुई है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" * । वास्तव में मनुष्य के अधिकार और कर्तव्य समाज में रहकर ही हो सकते हैं। बिना सामाजिक संगठन के अधिकार और कर्तव्य की कल्पना करना भ्रम है। अधिकार की जो परिभाषा हमने इस अध्याय के आरम्भ में की है उससे स्पष्ट है कि प्रत्येक अधिकार के साथ साथ कोई कर्तव्य होना आवश्यक है। मेरा अधिकार तभी तक अधिकार है जब तक कोई दूसरा व्यक्ति उसे अपना कर्तव्य समझे। यदि ऐसा न हो तो मेरे अधिकार का रूप मेरी धींगा धींगी कही जा सकती है, वास्तव में अधिकार नहीं कहा जा सकता। यदि मैं यह आशा करता हूं कि समाज के अन्य व्यक्ति मेरी किसी मांग को स्वीकार करें तो उसका अर्थ यही है कि जो मांग मैं समाज के सामने रख रहा हूँ वह सामाजिक हित के लिये आवश्यक है। इसलिये मेरे अधिकार के साथ मेरा यह कर्तव्य भी है कि मैं उस अधिकार का प्रयोग समाज के हित में करूं। अधिकारों तथा कर्तव्यों की यह दो प्रकार की शृंखला समाज में ही बन सकती है, निर्जन वन में नहीं। निर्जन द्वीप पर रोबिन्सन क्रूसो को अपने अधिकारों व कर्तव्यों का भान ही न हुआ होगा क्योंकि जब कोई दूसरा व्यक्ति ही नहीं तो उसके स्वामित्व की सीमा बांध कर कौन उसे मान्य करता और ऐसा करना अपना कर्तव्य समझता या किससे वह कहता कि तुम मुझे यह काम करने दो क्योंकि तुम्हारा इसमें हित है और मैं अपने ऊपर यह भार लेता हूँ कि तुम्हारे हित के लिये ही मैं यह काम करूंगा।

इन बातों से स्पष्ट है कि अधिकारों की कल्पना केवल सामाजिक दशा में ही की जा सकती है अन्यथा नहीं। परन्तु नैसर्गिक अधिकारों की कल्पना समाज से पृथक करते हैं। उनका मत है कि मनुष्य की सामाजिक अवस्था से पूर्व भी मनुष्य के अधिकार थे और उन अधिकारों का नाम नैसर्गिक अधिकार है। यह बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। असामाजिक अवस्था में अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती है। उस अवस्था में अधिकार का होना संभव नहीं हो सकता। हां, उस अवस्था में 'शक्ति' अथवा 'बल' का प्रयोग होना संभव हो सकता है।

आदर्शवादी भी इस सिद्धान्त को निर्मूल बतलाते हैं। लार्ड (Lord)

---

* आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल साइंस पृष्ठ १३४

का विचार है कि नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायी "अधिकार के लक्षणों की उपेक्षा करते हैं और प्रकृति के लक्षणों को अधिक महत्व देते हैं"। वास्तव में अधिकार और कर्तव्य का संबंध मनुष्य के पारस्परिक संबंध से संबद्ध है।

प्रत्यालोचना—लार्ड का कथन है कि "हम नैसर्गिक अधिकारों की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि नैसर्गिक अधिकार वे परिस्थितियाँ हैं जो चाहे मनुष्यों द्वारा उत्पन्न हों अथवा न हों परन्तु जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं"*। वास्तव में लार्ड का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है यदि नैसर्गिक अधिकारों का वास्तव में यह अर्थ समझा जाय कि नैसर्गिक अधिकार वे अधिकार हैं जिनसे मनुष्य के सुखमय जीवन का सम्बन्ध है तो इस को हम मान सकते हैं। आवश्यक भोजन-वस्त्र का अधिकार, जीविका के लिए कार्य प्राप्त करने का अधिकार, अपने बाल-बच्चों के लिये शिक्षा तथा मनुष्य समाज की शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति के आधार संबंधी अधिकार वे अधिकार हैं जिनका मनुष्य समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जिनके लिये प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु यह विचार करना कि 'मनुष्य की सामाजिक अथवा राजनैतिक स्थिति से पूर्व मनुष्यों के कुछ विशेष अधिकार थे' उचित अथवा न्याय संगत नहीं प्रतीत होता है। यह केवल कल्पना है। लैस्की का यह कथन कि "अधिकार कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्य समाज में सबसे आरम्भ में विद्यमान थी और फिर उसका अन्त हो गया है" सर्वथा सत्य है। नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार उचित नहीं है। प्राकृतिक अवस्था में जब मनुष्यों में सभ्यता नहीं थी और किसी प्रकार की राजनैतिक अथवा सामाजिक चेतना न थी उस समय मनुष्यों में किसी प्रकार का अधिकार की भावना नहीं हो सकती। नैसर्गिक अधिकारों का अर्थ केवल मनुष्य के वही वास्तविक अधिकार है जिनकी मनुष्य के जीवन के लिए अत्यंत आवश्यकता है और जिनके बिना मनुष्य की ऊपर वर्णन की हुई उन्नति नहीं हो सकती।

(२) वैधानिक अधिकार सिद्धान्त—वैधानिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों के विचारों के बिलकुल विपरीत है। उनका मत है कि मनुष्य के अधिकारों की उत्पत्ति राज्य में ही होती है। राज्य में रह कर ही अधिकार प्रकट होते हैं अन्यथा नहीं। राज्य के विधान द्वारा जो वस्तुएँ हमारी हैं उन्हीं पर हमारा अधिकार

---

* लार्ड—ग्रामर आफ पॉलिटिक्स, पृष्ठ २५८

है। जिन जिन कार्यो के करने के लिये राज्य के विधान हमको आज्ञा देते हैं वही हमारे अधिकार हैं। जो जो वस्तुएँ राज्य के विधानों द्वारा हमारे लिये अप्राप्त अथवा वर्जित हैं उन पर हमारा अधिकार नहीं है। अधिकारों का रूप निरपेक्ष नही है। 'पूर्णअधिकार' का विचार केवल कल्पना मात्र है। अधिकारों का संबंध राज्य के विधानों से है। स्वतन्त्रता का अधिकार, जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार इत्यादि सब प्रकार के अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। अधिकार प्राकृतिक वस्तु नहीं है। वे कृत्रिम हैं। वैधानिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायी नैसर्गिक अधिकारों को नहीं मानते। इनका कथन है कि यदि नैसर्गिक अधिकार ऐसे हैं जो राज्य के विधान द्वारा स्वीकृत हैं तो नैसर्गिक अधिकारों का नाम लेना अथवा उनके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है क्योंकि वे तो राज्य द्वारा माने ही हुए हैं। और जिन नैसर्गिक अधिकारों की स्वीकृति राज्य के विधान नहीं देते हैं और राज्य का विधान उनको नहीं मानता है तो उन्हें अधिकार कहना व्यर्थ है, उनकी मनुष्य को आवश्यकता नहीं है। बेन्थम (Bentham) वैधानिक अधिकार सिद्धान्त का कट्टर पक्षपाती है। वह केवल वैधानिक अधिकारों को ही अधिकार समझता है अन्य को नहीं।

आलोचना—यह विचार कि जो कुछ राज्य का विधान निर्धारित करे वही मनुष्य का अधिकार है और कुछ नहीं, मिथ्या है। यदि राज्य घूसखोरी, चोरी या दगाबाजी की विधान द्वारा आज्ञा दे दे तो क्या इनकी संज्ञा 'अधिकार' हो जायगी ? कदापि नहीं।

क्या राज्य सती की प्रथा को विधान द्वारा प्रचलित कर सकता है ? विधान का कार्य-क्षेत्र सीमित है। प्रत्येक कार्य विधान द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। लैस्की ने तो यहां तक कहा है कि "अधिकार राज्य की स्वीकृति की सीमा से बाहर हैं"। लेस्की के अनुसार अधिकारों का विधान से कोई सरोकार नहीं है लैस्की के इस विचार में भी अतिशयोक्ति है। स्पेन्सर (Spencer) का विचार है कि अधिकारों की उत्पत्ति राज्य से नहीं होती। राज्य तो केवल अधिकारों की रक्षा करने के लिये है। ऐन० वाइल्ड (N. Wilde) का कथन है कि "राज्य हमारे अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता। वह तो केवल उनको मानता है और उनकी रक्षा करता है। अधिकार स्वतः विद्यमान हैं चाहे उनका विधानीकरण हुआ हो अथवा न हुआ हो। उन्हें (राज्य द्वारा) इसलिये बलपूर्वक नहीं प्रचलित किया जाता कि वे अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित हैं बल्कि इसलिये उन्हें बलपूर्वक मनवाया जाता

है कि वे अधिकार है"। यदि कोई वस्तु हमारा अधिकार है तो वह इसलिये अधिकार नही है कि वह अधिकार राज्य द्वारा स्वीकृत है बल्कि इसलिये कि उस वस्तु पर हमारा स्वामित्व नीतिपूर्ण है राज्य मनुष्य के नीतिपूर्ण स्वत्वों की रक्षा करता है।

यह विचार करना कि हमारे अधिकारों का निर्माता केवल राज्य ही है बिल्कुल भ्रम है। राज्य हमारे अधिकारों का निर्माता अथवा निर्धारित करने वाला नही है। वास्तव में सर्वोच्चसत्ता राज्य की सबसे महान् सत्ता है परन्तु उसकी सत्ता भी किसी अंश तक सीमित है। प्रजा के रीति रिवाज, परम्परा, इतिहास तथा आचार-विचारो पर राज्य की सर्वोच्चसत्ता का अधिकार नही है। मनुष्य के अधिकार अधिकतर रीतिरिवाज, परम्परा तथा आचार विचारो पर निर्भर रहते है लिखित विधानो से इनका अधिक सम्बन्ध नही है। लैस्की का भी ऐसा ही विचार है उसका कथन है कि "अधिकार की पुष्टि आदत और परम्परा से होती है न कि इसलिये कि वह अधिकार विधान द्वारा कागद पर शब्द-बद्ध कर दिया गया है प्रत्येक देश के विधानो का निर्माण उस देश के निवासियो के रीतिरिवाजो पर निर्भर है। अपने देश के हिन्दू और मुस्लिम न्याय सम्बन्धी विधान हिन्दू और मुसलमानो की परम्परागत रीति-रिवाजों पर निर्भर है। अतः यह धारणा कि मनुष्य के अधिकार विधानों द्वारा निर्धारित किये जाते है बिल्कुल सत्य नही है।

वैधानिक अधिकार सिद्धान्त के कुछ अनुयायियों का यह विचार है कि राज्य केवल वैधानिक अधिकारो की ही सृष्टि करता है। इस विचार के अनुसार वैधानिक अधिकार सिद्धान्त मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकारो से सम्बन्ध नही रखता है वह तो केवल उन थोड़े से ही अधिकारो से सम्बंध रखता है जिनका सम्बन्ध राज्य से है। वैधानिक अधिकार सिद्धान्त हमको यह नहीं बतलाता कि जिन अधिकारों को विधान स्वीकार करता है वास्तव में वे अधिकार विधान द्वारा स्वीकार किये जाने चाहिये अथवा नहीं। इस 'चाहिये' का निर्णय करने के लिये विधान की सहायता से काम नहीं चल सकता। इसके लिए कोई अन्य मापदण्ड ढूंढना पड़ेगा जो विधान के बाहर हो। यह मापदण्ड स्वयं विधान की अच्छाई बुराई का परख करने का कसौटी होगा। [illegible] मानव-बुद्धि [illegible] मनुष्य [illegible] नागरिकता से [illegible] [illegible] विधान [illegible] है मनुष्य [illegible]

को नहीं। वस्तुतः मनुष्यत्व ही यह निश्चय करता है कि विधान क्या होना चाहिये। इसलिये मनुष्यत्व ही अधिकारों का मूल स्रोत है। विधान अधिकार सिद्धान्त का स्पष्टीकरण प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त बातों का समझना आवश्यक है।

प्रत्यालोचना—वैधानिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का यह विचार कि 'मनुष्य के अधिकारो का निर्णय केवल राज्य ही करता है' युक्ति-संगत नहीं है। न इस सिद्धान्त के विरोधियों का यह विचार ही कि 'अधिकारों का राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं है' सत्य है। मनुष्य के वे अधिकार जिनके द्वारा मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति होती है, वास्तव में अधिकार हैं चाहे राज्य उन्हें स्वीकार करे चाहे न करे। प्राचीनकाल में अंग्रेज जमींदार अपने किसानों की जोती हुई भूमि और हरे भरे खेतों को पददलित करते हुए घोड़ों पर सवार होकर चले जाते थे। कोई उन्हें ऐसा करने से नही रोक सकता था। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन्हें ऐसा करने का अधिकार था। इसी प्रकार के बहुत से अनुचित रिवाज अधिकार समझे जाते थे। सती का रिवाज भी एक प्रकार से अधिकार समझा जाता था। इसी प्रकार भविष्य में भी ऐसा हो सकता है कि जो बातें अब अधिकार नहीं समझी जाती हैं, मनुष्य का अधिकार समझी जायें। बहुत से जनतन्त्र राज्यों में जनता ने अनेक अधिकार प्राप्त कर लिये हैं और करते जा रहे हैं। हमारे विचार से मनुष्यों के अगण्य अधिकार हैं। इन अधिकारों को किसी विधान द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता। वास्तविक अधिकार में वैधानिक तथा नैतिक दोनों प्रकार के लक्षण होने चाहिये। बोसांके का कथन है कि "अधिकार में दोनों गुण होने चाहिये वैधानिक और नैतिक। यह एक ऐसी अभियाचना है जो विधान द्वारा लागू की जा सकती हो (एक नैतिक आदेश विधान द्वारा लागू नहीं किया जा सकता) और विधान द्वारा लागू किये जाने योग्य भी हो अर्थात् उसमें नैतिकता का लक्षण भी वर्तमान हो। वास्तविक विधान में दो बातें होनी चाहिये, वह विधान द्वारा लागू किये जाने योग्य होना चाहिये और वह विधान द्वारा लागू किया जा सकता हो।" *

एक व्यक्ति को केवल अपनी ही शक्ति से नहीं बल्कि जनसम्मति अथवा समाज की शक्ति से दूसरे के कार्य पर अपना प्रभाव डालने की सामर्थ्य को वैधानिक अधिकार कहते हैं। वैधानिक अधिकार एक आदमी की

* बी० बोसांके फिलासाफिकल थ्योरी आफ दी स्टेट–पृष्ठ १८७

वह सामर्थ्य है जिसके द्वारा राज्य की स्वीकृति और सहायता से वह दूसरों के कार्यों को नियन्त्रित कर सके।* यह केवल वैधानिक अधिकार की परिभाषा है। 'राइट्स' या अधिकार का रूप जानने के लिये इसमें नैतिकता का पुट देना पड़ेगा। वैधानिक अधिकार के मुकाबिले में रिशी (Ritchie) नैतिक अधिकार की परिभाषा इस प्रकार करता है "नैतिक अधिकार मनुष्य की वह सामर्थ्य है कि जिसके द्वारा वह जन सम्मति की स्वीकृति तथा उसकी सहायता, या कम से कम बिना जनसम्मति के विरोध के, जनसम्मति को नियंत्रित कर सके" अथवा "नैतिक अधिकार एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर ऐसा दावा है जिसे समाज स्वीकार करता है चाहे उसे राज्य स्वीकार न करे"।†

(३) ऐतिहासिक अधिकार सिद्धान्त—ऐतिहासिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार है कि इतिहास ही अधिकारों का निर्माण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के जो रीति-रिवाज बहुत काल से चले आते हैं वही रीति-रिवाज अधिकारों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अछूत जातियाँ बहुत काल से हिन्दू लोगों के मंदिरों में नहीं जा सकती थीं। हिन्दुओं का यह अधिकार हो गया कि उनके मंदिरों में केवल वे ही पूजा कर सकें। अब से १० वर्ष पूर्व यदि कोई अछूत हिन्दुओं के मन्दिर में घुसता तो वह दण्ड का भागी होता था। इसी प्रकार कुछ उच्च हिन्दू जातियों में विवाह के समय लड़के वाला लड़की वाले से रुपये मांगना अपना अधिकार समझता है क्योंकि यह रीति बहुत समय से चली आ रही है। अन्य बहुत से ऐसे रीति रिवाज हैं जो कालान्तर में अधिकारों में परिवर्तित हो गये हैं और उनको देश के विधान भी स्वीकार करते हैं। हिन्दू और मुसलमानों के दीवानी विधान में उन जातियों के रीतिरिवाज ही अधिकारों में परिवर्तित हो गये हैं। न्यायालयों में ये अधिकार समझे जाते हैं और राज्य उन्हें स्वीकार करता है। बहुत से ऐसे अधिकार जिन्हें लोग नैसर्गिक बतलाते हैं वास्तव में परम्परागत रीति रिवाज हैं। एडमन्डबर्क (Edmund Burke) का कथन है कि फ्रांस की क्रान्ति मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का सहारा लेकर उठी थी। इङ्गलैंड की क्रान्ति इसके विपरीत प्रचलित अधिकारों की रक्षा के लिये हुई। वास्तव में बर्क का कथन सत्य है। इतिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की राजनैतिक तथा सामाजिक दशा अच्छी न

---

* हालैण्ड—जूरिसप्रूडेन्स द्वितीय संस्करण पृष्ठ ८१-८२

† डी० जी० रिची—नेचुरल राइट्स पृष्ठ ७८-७९

थी। राजा स्वेच्छाचारी शासक था, उसकी शक्ति अपरिमित थी। वह जो चाहता था, कर सकता था। समाज की दशा भी अच्छी न थी, एक ओर तो अमीर, ताल्लुकदार और धनी पुरुष थे जिनको कर भी कम देने पड़ते थे और वे स्वर्गीय जीवन व्यतीत करते थे। दूसरी ओर वे श्रमिक और किसान थे जिन्हें पेट भर भोजन भी प्राप्त न होता था। एक और तीसरी श्रेणी के लोग थे जो व्यापार और व्यवसाय करके अपना जीवन व्यतीत करते थे। राज्य के कर का वहुत वड़ा भाग इन्हें देना पड़ता था परन्तु राज्य शासन में इन की सुनवाई न थी, इन्हें शासन प्रवन्ध में हाथ वटाने का अधिकार न था। लोगों ने समानता, स्वतन्त्रता और वन्धुभाव की आवाज उठाई और क्रान्ति की। इसके विपरीत इङ्गलैण्ड की क्रान्ति का यह कारण था कि जिन अधिकारों का प्रयोग वहाँ की जनता सैकड़ों वर्षों से करती चली आ रही थी उन अधिकारों पर वहां के शासकों ने कुठाराघात किया। उन पर नवीन प्रतिवन्ध लगाये। लोग इन प्रतिवन्धों को सहन न कर सके और उन्होंने क्रान्ति की। उन्होंने अपनी वहुत पुराने समय से चली आने वाली स्वतंत्रताओं और सुविधाओं को महाधिकार पत्र (Magna Charta) और अधिकार प्रार्थना पत्र (Petition of Rights) के रूप में सामने रखा।

आलोचना—यह सत्य है कि वहुत से अधिकार ऐसे रीति-रिवाज हैं जो वहुत काल से परम्परागत चले आरहे हैं और अधिकार के रूप में परिवर्तित हो गये हैं। परन्तु सव अधिकारों के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता। सव अधिकार ऐसे नहीं हैं जो वहुत काल से रीतिरिवाज के रूप में प्रचलित रहे और फिर अधिकार वन गये। प्रोफेसर सुमनर (Prof. Sumner) का मत है कि "रीतिरिवाज ही अधिकार है" इसकी आलोचना करते हुए हाकिंग (Hocking) यह प्रश्न करता है कि 'जिस समय दास वनाना विधान द्वारा स्वीकृत था तो क्या वह अधिकार था? क्या शिशु-हत्या अधिकार था?" वह इसके उत्तर में कहता है कि "कदापि नहीं"। कुछ लोग दासता की प्रथा को सापेक्ष-अधिकार वतलाते हैं। अर्थात् पहले दासता प्रथा थी परन्तु अव नहीं है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि सारदा-विवाह-विधान और अछूतोद्धार सम्बन्धी विधान ऐसे विधान हैं जिनके द्वारा वहुत काल से प्रचलित रीतिरिवाजों को वन्द किया गया है। ये प्रथाएं मनुष्यों का अधिकार वन गई थीं परन्तु स्थिति और समय के अनुसार अव ये प्रथाएं घृणित समझी गई और उनका अन्त कर दिया गया। इसी प्रकार समय-समय पर लोगों के रीति-रिवाजों में भेद होते रहते हैं और इन्हीं भेदों के अनुसार राज्य के विधान

बनते रहते हैं। किसी जाति या समुदाय के रीति-रिवाज उसके नैतिक विचारों का ही प्रकट रूप होते हैं। नैतिक विचार ज्ञान व बुद्धि पर अवलम्बित रहते हैं। किसी काल विशेष में ज्ञान का स्तर जितना ऊंचा होगा और बुद्धि का जितना विकास होगा उसी के अनुसार रीति-रिवाज भी होंगे। जब ज्ञान मनुष्य के जीवन में अधिक पुष्ट होजाता है और बुद्धि अधिक परिष्कृत होजाती है तो नैतिकता का रूप भी बदल जाता है और उसके अनुसार ही पुराने रीति-रिवाज बदल कर नया रूप धारण कर लेते हैं। ये रीति-रिवाज तो विधान में बदल जाते हैं, जब समाज यह समझता है कि इनका माना जाना इतना अनिवार्य है कि इनके लिये राज्य शक्ति का प्रयोग करना भी उचित होगा। इसलिये इतिहास यह तो बतला देगा कि अमुक मांग या दावा अधिकार कहा जा सकता है क्योंकि पुराने समय से यह मान्य होता चला आ रहा है किन्तु यह मान्य क्यों हुआ, इस प्रश्न का उत्तर केवल यह कहने से नहीं मिलता कि यह पुरानी प्रथा है। हाकिंग का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "इतिहास की अवहेलना नहीं की जा सकती परन्तु उस पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता *।

लोककल्याण अधिकार सिद्धान्त—लोक कल्याण अधिकार सिद्धान्त के मतानुयायियों का कथन है कि अधिकारों के उत्पादन का कारण समाज है। समाज में रहकर जो सम्बन्ध व्यक्तियों में परस्पर स्थापित हो जाता है वही रीतिरिवाज में परिवर्तित हो जाता है तो वह अधिकार का रूप धारण कर लेता है और उसका उल्लंघन करने पर उल्लंघन करने वाला व्यक्ति समाज द्वारा दण्डित किया जाता है। डीन पाउन्ड (Dean Paund) और चैफी (Chafiee) इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। इनका मत है कि विधान, रीतिरिवाज, नैसर्गिक अधिकार आदि समाज की इच्छानुसार निर्धारित किये जाने चाहिये। जो समाज के लिये उपयोगी अथवा वाञ्छनीय हैं उन्हीं को प्रचलित रखना चाहिये। चैफी का मत है कि लोकहित के अनुसार अधिकारों को निर्धारित करना चाहिये। जिन बातों से समाज में दोष फैलें उन्हें निवारण करना चाहिये। उपयोगितावादी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका भी यही सिद्धान्त है कि लोकहित के अनुसार विधान बनाने चाहिये। बेन्थम और मिल ने उपयोगितावाद सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों के अधिकार निर्धारित करने का आदेश किया है। उनका मत है कि मनुष्यों के अधिकारों का निर्णय करने के लिये न तो केवल रीति-रिवाज आदि पर निर्भर रहना चाहिये और

---

* डब्ल्यू० ई० हाकिंग-ला एन्ड-राइट्स पृष्ठ ७

न मनुष्य के अन्तःकरण के आदेश पर ही निर्भर रहना चाहिये। मनुष्य को गुण और दोषों पर विचार करके समाज के हित की बातों पर निर्णय करना चाहिये। उपयोगितावादियों का सिद्धान्त है "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख।" वे इसी नियम के अनुसार समाज के रीति-रिवाज, विधान आदि का निश्चित करने का आदेश करते हैं। उनका मत है कि इन बातों का निर्णय करने के लिये मनुष्य को अपने अनुभव तथा बुद्धि से कार्य लेना चाहिये। लैस्की (Laski) का कथन है कि अधिकार को उपयोगिता की दृष्टि से देखना चाहिये। वह अधिकार की उपयोगिता की परिभाषा इस प्रकार करता है "राज्य के लोगों के लिये एक अधिकार जो महत्व रखता है वही उस अधिकार की उपयोगिता है।" * वह कहता है कि "हमारे अधिकार समाज से पृथक् नहीं है वे समाज में अन्तर्निहित हैं। हम उन अधिकारों को इसलिये अपनाते हैं कि हम अपनी और उनकी, दोनों की रक्षा करें।"† लैस्की फिर कहता है कि "अधिकार और कृत्य अन्योन्याश्रित हैं। मैं इसलिये अधिकार रखता हूँ कि मैं उससे सामाजिक उद्देश्य पूरा करूँ। मुझे असामाजिक रीति से कार्य करने का अधिकार नहीं है। यदि मैं कुछ लेने का अधिकार रखूँ तो मुझे कुछ देना भी चाहिये। अतः अधिकार में कृत्य गर्भित है।" ‡ वह फिर लिखता है कि "मुझे मनमानी करने का अधिकार नहीं है। मेरे अधिकारों का निर्माण सदैव मेरे लोकोपयोगी कृत्यों के आधार पर हुआ है और वास्तव में मेरी अभियाचनायें ऐसी होनी चाहिये जो कार्यों को उचित रूप से करने के लिये आवश्यक हों। इस दृष्टि से समाज के द्वारा मेरी मांगें स्वीकृत होनी चाहिये क्योंकि उनकी स्वीकृति में समाज द्वारा स्वीकृत होने योग्य लोकहित गर्भित है।"+ अन्त में वह फिर कहता है कि "मैं लोकहित के विरुद्ध अधिकार नहीं रख सकता क्योंकि ये अधिकार एक ऐसे हित के विरुद्ध हैं जिसमें मेरा हित सम्मिलित है।"×

आलोचना—जितने अधिकार सिद्धान्तों का अब तक वर्णन किया गया है उन सब में सबसे श्रेष्ठ सिद्धान्त यही है। वास्तव में लोकहित के आधार पर ही अधिकारों का निर्णय होना चाहिये। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये

* ऐच० जे० लैस्की-ग्रामर आफ पालिटिक्स पृष्ट ९२
† ऐच० जे० लैस्की-ग्रामर आफ पालिटिक्स पृष्ट ९४
‡ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९४
+ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९५
× ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९६

बनते रहते है। किसी जाति या समुदाय के रीति-रिवाज उसके नैतिक विचारों का ही प्रकट रूप होते है। नैतिक विचार ज्ञान व बुद्धि पर अवलम्बित रहते है। किसी काल विशेष में ज्ञान का स्तर जितना ऊंचा होगा और बुद्धि का जितना विकास होगा उसी के अनुसार रीति-रिवाज भी होंगे। जब ज्ञान मनुष्य के जीवन में अधिक युक्त होजाता है और बुद्धि अधिक परिष्कृत होजाती है तो नैतिकता का रूप भी बदल जाता है और उसके अनुसार ही पुराने रीति रिवाज बदल कर नया रूप धारण कर लेते है। ये रीति-रिवाज ही विधान में बदल जाते है, जब समाज यह समझता है कि इनका माना जाना इतना अनिवार्य है कि उनके लिये राज्य शक्ति का प्रयोग करना भी उचित होगा। इसलिये इतिहास यह तो बतला देगा कि अमुक मांग या दावा अधिकार कहा जा सकता है क्योंकि पुराने समय से वह मान्य होता चला आ रहा है किन्तु वह मान्य क्यों हुआ, इस प्रश्न का उत्तर केवल यह कहने से नहीं मिलता कि वह पुरानी प्रथा है। हाकिंग का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "इतिहास की अवहेलना नहीं की जा सकती परन्तु उस पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता *।

लोककल्याण अधिकार सिद्धान्त—लोक कल्याण अधिकार सिद्धान्त के मतानुयायियों का कथन है कि अधिकारों के उत्पादन का कारण समाज है। समाज में रहकर जो सम्बन्ध व्यक्तियों में परस्पर स्थापित हो जाता है वही रीतिरिवाज में परिवर्तित हो जाता है तो यह अधिकार का रूप धारण कर लेता है और उसका उल्लंघन करने पर उल्लंघन करने वाला व्यक्ति समाज द्वारा दण्डित किया जाता है। डीन पाउन्ड (Dean Paund) और चैफी (Chafiee) इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। इनका मत है कि विधान, रीतिरिवाज, नैसर्गिक अधिकार आदि समाज की इच्छानुसार निर्धारित किये जाने चाहिये। जो समाज के लिये उपयोगी अथवा वाञ्छनीय हैं उन्ही को प्रचलित रखना चाहिये। चैफी का मत है कि लोकहित के अनुसार अधिकारों को निर्धारित करना चाहिये। जिन बातों से समाज में दोष फैलें उन्हें निवारण करना चाहिये। उपयोगितावादी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका भी यही सिद्धान्त है कि लोकहित के अनुसार विधान बनाने चाहिये। बेन्थम और मिल ने उपयोगितावाद सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों के अधिकार निर्धारित करने का आदेश किया है। उनका मत हैं कि मनुष्यों के अधिकारों का निर्णय करने के लिये न तो केवल रीति-रिवाज आदि पर निर्भर रहना चाहिये और

---

* डब्ल्यू० ई० हाकिंग-ला एन्ड राइट्स पृष्ठ ७

न मनुष्य के अन्तःकरण के आदेश पर ही निर्भर रहना चाहिये । मनुष्य को गुण और दोषों पर विचार करके समाज के हित की बातों पर निर्णय करना चाहिये । उपयोगितावादियों का सिद्धान्त है "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख ।" वे इसी नियम के अनुसार समाज के रीति-रिवाज, विधान आदि का निश्चित करने का आदेश करते हैं । उनका मत है कि इन बातों का निर्णय करने के लिये मनुष्य को अपने अनुभव तथा बुद्धि से कार्य लेना चाहिये । लैस्की (Laski) का कथन है कि अधिकार को उपयोगिता की दृष्टि से देखना चाहिये । वह अधिकार की उपयोगिता की परिभाषा इस प्रकार करता है "राज्य के लोगों के लिये एक अधिकार जो महत्व रखता है वही उस अधिकार की उपयोगिता है ।" * वह कहता है कि "हमारे अधिकार समाज से पृथक् नहीं है वे समाज में अन्तर्निहित हैं । हम उन अधिकारों को इसलिये अपनाते है कि हम अपनी और उनकी, दोनों की रक्षा करें ।"† लैस्की फिर कहता है कि "अधिकार और कृत्य अन्योन्याश्रित हैं । मैं इसलिये अधिकार रखता हूँ कि मैं उससे सामाजिक उद्देश्य पूरा करूँ । मुझे असामाजिक रीति से कार्य करने का अधिकार नहीं है । यदि मैं कुछ लेने का अधिकार रखूँ तो मुझे कुछ देना भी चाहिये । अतः अधिकार में कृत्य गर्भित है ।" ‡ वह फिर लिखता है कि "मुझे मनमानी करने का अधिकार नहीं है । मेरे अधिकारों का निर्माण सदैव मेरे लोकोपयोगी कृत्यों के आधार पर हुआ है और वास्तव में मेरी अभियाचनायें ऐसी होनी चाहिये जो कार्यों को उचित रूप से करने के लिये आवश्यक हों । इस दृष्टि से समाज के द्वारा मेरी मांगें स्वीकृत होनी चाहिये क्योंकि उनकी स्वीकृति में समाज द्वारा स्वीकृत होने योग्य लोकहित गर्भित है ।"+ अन्त में वह फिर कहता है कि "मैं लोकहित के विरुद्ध अधिकार नहीं रख सकता क्योंकि ये अधिकार एक ऐसे हित के विरुद्ध हैं जिसमें मेरा हित सम्मिलित है ।"×

आलोचना—जितने अधिकार सिद्धान्तों का अब तक वर्णन किया गया है उन सब में सबसे श्रेष्ठ सिद्धान्त यही है । वास्तव में लोकहित के आधार पर ही अधिकारों का निर्णय होना चाहिये । परन्तु यह नहीं समझना चाहिये

* ऐच० जे० लैस्की-ग्रामर आफ पालिटिक्स पृष्ट ९२

† ऐच० जे० लैस्की-ग्रामर आफ पालिटिक्स पृष्ट ९४

‡ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९४

\+ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९५

× ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९६

बनते रहते हैं। किसी जाति या समुदाय के रीति-रिवाज उनके नैतिक विचारों का ही प्रकट रूप होते हैं। नैतिक विचार ज्ञान व बुद्धि पर अवलम्बित रहते हैं। किसी काल विशेष में ज्ञान का स्तर जितना ऊंचा होगा और बुद्धि का जितना विकास होगा उसी के अनुसार रीति-रिवाज भी होंगे। जब ज्ञान समय के बीतने से अधिक शुद्ध होजाता है और बुद्धि अधिक परिष्कृत होजाती है तो नैतिकता का रूप भी बदल जाता है और उसके अनुसार ही पुराने रीति रिवाज बदल कर नया रूप धारण कर लेते हैं। ये रीति-रिवाज ही विधान में बदल जाते हैं, जब समाज यह समझता है कि इनका माना जाना इतना अनिवार्य है कि उसके लिये राज्य शक्ति का प्रयोग करना भी उचित होगा। इसलिये इतिहास यह तो बतला देगा कि अमुक मांग या दावा अधिकार कहा जा सकता है क्योंकि पुराने समय से यह मान्य होता चला आ रहा है किन्तु यह मान्य क्यों हुआ, इस प्रश्न का उत्तर केवल यह कहने से नहीं मिलता कि यह पुरानी प्रथा है। हाकिंग का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "इतिहास की अवहेलना नहीं की जा सकती परन्तु उस पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता *।

लोककल्याण अधिकार सिद्धान्त—लोक कल्याण अधिकार सिद्धान्त के मतानुयायियों का कथन है कि अधिकारों के उत्पादन का कारण समाज है। समाज में रहकर जो सम्बन्ध व्यक्तियों में परस्पर स्थापित हो जाता है वही रीतिरिवाज में परिवर्तित हो जाता है तो यह अधिकार का रूप धारण कर लेता है और उसका उल्लंघन करने पर उल्लंघन करने वाला व्यक्ति समाज द्वारा दण्डित किया जाता है। डीन पाउन्ड (Dean Paund) और चैफी (Chafiee) इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। इनका मत है कि विधान, रीतिरिवाज, नैसर्गिक अधिकार आदि समाज की इच्छानुसार निर्धारित किये जाने चाहिये। जो समाज के लिये उपयोगी अथवा वाञ्छनीय हैं उन्हीं को प्रचलित रखना चाहिये। चैफी का मत है कि लोकहित के अनुसार अधिकारों को निर्धारित करना चाहिये। जिन बातों से समाज में दोष फैलें उन्हें निवारण करना चाहिये। उपयोगितावादी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका भी यही सिद्धान्त है कि लोकहित के अनुसार विधान बनाने चाहिये। बेन्थम और मिल ने उपयोगितावाद सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों के अधिकार निर्धारित करने का आदेश किया है। उनका मत है कि मनुष्यों के अधिकारों का निर्णय करने के लिये न तो केवल रीति-रिवाज आदि पर निर्भर रहना चाहिये और

---

* डब्ल्यू० ई० हाकिंग-ला एन्ड-राइट्स पृष्ठ ७

जाना उचित था ? संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय में इन लोगों पर मुकदमा चलाया गया और दण्ड दिया गया। वास्तव में ऐसी दशा में उस न्यायालय ने उचित कार्रवाई की चाहे उस व्यक्ति के बलिदान से बचे हुये लोगों की प्राण रक्षा हुई किन्तु उनका यह कार्य निन्दनीय ही था। सामुदायिक हित के आधार पर सत्य-असत्य या उचित-अनुचित का निर्णय ठीक नहीं हो सकता। ऐन० वाइल्ड (N. Wilde) का कथन है कि 'यदि अधिकारों का निर्णय समाज की स्वीकृति पर निर्भर रहेगा तो मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में अपील करने का अधिकार ही न रहेगा और व्यक्ति को समाज की स्वच्छन्द इच्छा पर निर्भर रहना पड़ेगा।"*

(५) आदर्शवादी अधिकार-सिद्धान्त—आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का मत है कि अधिकार वास्तव में वे वाह्य परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य की आन्तरिक प्रगति के लिये आवश्यक हैं अर्थात् वे सब बातें जो मनुष्य की नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक हैं, वही मनुष्य के अधिकार हैं। क्रौज (Krause) का विचार है कि "विवेकशील जीवन के लिये आवश्यक वाह्य स्थितियों के सम्पूर्ण एकावयवी रूप को अधिकार कहते हैं।" † हेनरीसी (Henrici) का मत है कि "मानव-व्यक्तित्व को पूर्ण उन्नति करने तथा उसको स्थित रखने के अभिप्राय से आवश्यक भौतिक परिस्थितियों को बनाये रखने के लिये जो वस्तु वास्तव में आवश्यक है वही अधिकार है।" ‡ ऐन० वाइल्ड का कथन है कि "कुछ कार्यों को कार्यान्वित करने के लिये अधिकार स्वतन्त्रता की अभियाचना है।"+इन सब उद्धरणों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य के व्यक्तिगत विकास का आधार अधिकार है। बिना अधिकारों के मनुष्य की व्यक्तिगत, दैहिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। कुछ ऐसी सांसारिक तथा भौतिक वस्तुएं हैं जिनकी मनुष्य की आत्मिक उन्नति के लिये बड़ी आवश्यकता है। इन वाह्य वस्तुओं तथा परिस्थितियों का नाम ही अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य का यह अधिकार है कि वह सब प्रकार से जितना हो सके अपने व्यक्तित्व का विकास करे अर्थात् अपनी बौद्धिक व आध्यात्मिक

---

* ऐन० वाइल्ड—ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट पृष्ठ १२४

† टी० ऐच० ग्रीन-प्रिंसपल्स आफ पोलीटिकल आब्लीगेशन पृष्ठ ३५ फुटनोट

‡ " " " "

+ एन० वाइल्ड-ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट पृष्ठ ११५

कि वास्तव में यह सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। इस सिद्धान्त में भी कुछ दोष है।

इस सिद्धान्त में अधिकारों का निर्णय लोकोपयोगिता के अनुसार किया जाता है। अतः हमको इस बात पर विचार करना चाहिये कि लोकोपयोगिता का क्या अर्थ है। यदि इसका अर्थ "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" समझा जाय तो हमारे पास इस बात को जाँच करने का कोई ऐसा माप नहीं है जिसके द्वारा यह ठीक ठीक निश्चित किया जा सके कि वास्तव में अमुक अधिकार द्वारा "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" होगा। समाज के भावों को ठीक ठीक समझना सरल कार्य नहीं है।

इस सिद्धान्त में एक और दोष यह है कि ऐसा भी संभव हो सकता है कि एक लोकोपयोगी कार्य ऐसा हो जिससे व्यक्तिगत हित का ह्रास होता हो। साधारणतया ऐसा होता है कि लोकोपयोगी कार्यों में व्यक्तिगत हित गर्भित रहता है। परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता है। कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं कि लोकहित के लिये व्यक्तिगत हितों को त्यागना पड़ता है। त्यागना ही नहीं पड़ता बल्कि कभी-कभी व्यक्तिगत हितों का बलिदान भी लोकहित के लिये करना पड़ता है। महाभारत में भी लिखा है—

'त्यजेदेकम् कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जानपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथवीन्त्यजेत् ॥"

अर्थात् कुल के हित के लिये एक व्यक्ति को त्याग देना चाहिये (बलिदान कर देना चाहिये), ग्राम के हित के लिये एक कुल का त्याग किया जा सकता है। एक प्रान्त के हित के लिये एक ग्राम का त्याग करना चाहिये और आत्मोन्नति के लिये संपूर्ण पृथ्वी को त्याग देना चाहिये। 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' नियम का यही अभिप्राय है। इस मत के मानने वालों का कथन है कि बहुमत के हित के लिये अल्पमत के हितों की अवहेलना की जा सकती है। प्रोफेसर हाकिंग ने एक कहानी लिखी है कि एक उप-नौसेनापति से यह प्रश्न किया गया कि क्या आप सेना का सामान्य नैतिक स्तर उच्च करने के लिये एक निर्दोष व्यक्ति का बलिदान कर देंगे? तो उस सेनापति ने शीघ्र यह उत्तर दिया कि "अवश्य"। एक बार अमरीका के संयुक्त-राज्य का एक जहाज तूफान के कारण एक चट्टान से टकरा कर नष्ट हो गया। नाविकों को कई दिवस तक भोजन न मिला। उन्होंने अपने में से एक व्यक्ति को मार कर खा लिया। क्या ऐसी दशा में अधिक लोगों को भूखों मरने से बचाने के लिये इस प्रकार एक व्यक्ति को मारकर खा

जाना उचित था? संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय में इन लोगों पर मुकदमा चलाया गया और दण्ड दिया गया। वास्तव में ऐसी दशा में उस न्यायालय ने उचित कार्रवाई की चाहे उस व्यक्ति के बलिदान से बचे हुये लोगों की प्राण रक्षा हुई किन्तु उनका यह कार्य निन्दनीय ही था। सामुदायिक हित के आधार पर सत्य-असत्य या उचित-अनुचित का निर्णय ठीक नहीं हो सकता। ऐन० वाइल्ड (N. Wilde) का कथन है कि 'यदि अधिकारों का निर्णय समाज की स्वीकृति पर निर्भर रहेगा तो मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में अपील करने का अधिकार ही न रहेगा और व्यक्ति को समाज की स्वच्छन्द इच्छा पर निर्भर रहना पड़ेगा।"*

(५) आदर्शवादी अधिकार-सिद्धान्त—आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का मत है कि अधिकार वास्तव में वे बाह्य परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य की आन्तरिक प्रगति के लिये आवश्यक हैं अर्थात् वे सब बातें जो मनुष्य की नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक हैं, वही मनुष्य के अधिकार हैं। क्रौज (Krause) का विचार है कि "विवेकशील जीवन के लिये आवश्यक बाह्य स्थितियों के सम्पूर्ण एकावयवी रूप को अधिकार कहते हैं।" † हेनरीसी (Henrici) का मत है कि "मानव-व्यक्तित्व को पूर्ण उन्नति करने तथा उसको स्थित रखने के अभिप्राय से आवश्यक भौतिक परिस्थितियों को बनाये रखने के लिये जो वस्तु वास्तव में आवश्यक है वही अधिकार है।" ‡ ऐन० वाइल्ड का कथन है कि "कुछ कार्यों को कार्यान्वित करने के लिये अधिकार स्वतन्त्रता की अभियाचना है।"+इन सब उद्धरणों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य के व्यक्तिगत विकास का आधार अधिकार है। बिना अधिकारों के मनुष्य की व्यक्तिगत, दैहिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। कुछ ऐसी सांसारिक तथा भौतिक वस्तुएं हैं जिनकी मनुष्य की आत्मिक उन्नति के लिये बड़ी आवश्यकता है। इन बाह्य वस्तुओं तथा परिस्थितियों का नाम ही अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य का यह अधिकार है कि वह सब प्रकार से जितना हो सके अपने व्यक्तित्व का विकास करे अर्थात् अपनी बौद्धिक व आध्यात्मिक

---

* ऐन० वाइल्ड—ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट पृष्ठ १२४

† टी० ऐच० ग्रीन-प्रिंसपल्स आफ पोलीटिकल आब्लीगेशन पृष्ठ ३५ फुटनोट

‡ " " " "

+ एन० वाइल्ड-ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट पृष्ठ ११५

शक्ति को प्रस्फुटित होने का अधिक से अधिक अवसर दे। यही मनुष्य का प्रमुख व मौलिक अधिकार है। अन्य सब अधिकार इसी से निसृत हैं। जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार भी पूर्ण निरपेक्ष अधिकार नहीं हैं। ये सापेक्ष अधिकार हैं। ये तो केवल व्यक्तित्व अधिकार से सापेक्षता रखते हैं। अर्थात् यों कह सकते हैं कि मेरा अपने जीवन पर वहीं तक अधिकार है जहां तक मेरा अपने उच्चतम आत्मिक विकास से सम्बन्ध है। मैं आत्मघात नहीं कर सकता, मुझे यह अधिकार नहीं है। यदि मैं अपने जीवन का सदुपयोग नहीं करता हूँ तो मेरे जीवन पर मेरा यह अधिकार छीना जा सकता है। ग्रीन का कथन है कि "अधिकार वे शक्तियां हैं जो नैतिक प्राणी की हैसियत से मनुष्य को पूर्ण बनाने के लिये आवश्यक हैं।" * इस सिद्धान्त में मनुष्य की नैतिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त केवल उन्हीं अधिकारों को स्वीकार करता है जो मनुष्य की व्यक्तिगत नैतिक उन्नति में सहायक होते हैं। इस सिद्धान्त का मूलभूत आधार नैतिक उन्नति है। इस अधिकार के लिये दो मुख्य बातें हैं। पहली बात तो यह है कि मुझे समाज को यह विश्वास दिलाना आवश्यक है कि अमुक अधिकार मेरी आत्मोन्नति के लिये अनिवार्य है और दूसरी यह कि इस अधिकार की अभियाचना से मैं किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचाता हूँ और दूसरा व्यक्ति निर्विघ्न अपनी आत्मोन्नति बिना मेरे किसी प्रकार के हस्तक्षेप के कर सकता है। उदाहरणार्थ, मेरा अपने जीवन पर अधिकार है। इसका यह अभिप्राय है कि (१) मैं इस अधिकार की दूसरे से अभियाचना करता हूँ (२) मैं दूसरे व्यक्ति के इस प्रकार के अधिकार को स्वीकृत करता हूँ (३) मैं समाज को यह विश्वास दिलाता हूँ कि मैं वास्तव में इस अधिकार को स्वहित के लिये प्रयोग करूँगा। कोई भी व्यक्ति अपने अधिकार का मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता। ऐन वाइल्ड का कथन है कि "अधिकार एक व्यक्ति की, सामाजिक व्यवस्था में एक विशेष स्थान पर एक विशेष कृत्य के लिये, कार्य करने की स्वतन्त्रता है।" † प्रोफेसर हाकिंग का मत है कि "अधिकार उस इच्छा की पूर्ति का दावा है जिस इच्छा का सामाजिक हित से थोड़ा बहुत मेल है।" इस मेल के कारण और नैतिकता के आधार पर प्रत्येक सच्चे अधि-

---

* टी० ऐच० ग्रीन-प्रिंस्पल्स आफ पौलीटिकल आब्लीगेशन पृष्ठ ४३

† एन वाइल्ड—ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टट पृष्ठ १२

कार की मांग करते समय निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी अपने अन्दर साहस और बल बटोर लेता है क्योंकि वह जानता है कि उसकी मांग के सामने समाज के समझदार व्यक्ति सिर झुकाये बिना न रहेंगे। समझदार व्यक्तियों से तात्पर्य यहां उन व्यक्तियों से है जो अपने वास्तविक हित को पहिचानने की योग्यता रखते हैं और यह जानते हैं कि नीति-अनीति क्या है।

डाक्टर हॉकिंग कहता है कि जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से अपने अधिकार की अभियाचना करता है तो उस व्यक्ति से वह ऐसा कहता है "यदि तुम मेरे अधिकारों का उल्लंघन करते हो तो तुम अपने को अत्यन्त हानि पहुँचाते हो"। दासता की प्रथा द्वारा दास की अपेक्षा दास रखने वाले को अधिक कष्ट होता है। दास को तो केवल शारीरिक कष्ट मिलता है परन्तु दास रखने वाले की आत्मा का हनन होता है जो शारीरिक कष्ट से अधिक कष्टकारी है। अतः दूसरों के अधिकारों का सन्मान करने में मैं अपने अधिकारों को प्राप्त रखता हूं।

आलोचना—आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मोन्नति का समर्थन करता है। यह सिद्धान्त वास्तव में सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु इसको कार्यान्वित करना कठिन प्रतीत होता है। राज्य किस प्रकार इस बात का निर्णय करेगा कि कौन कौन सी बातें मनुष्य के व्यक्तित्व उन्नति के लिये आवश्यक हैं? व्यक्तित्व कोई ऐसी वस्तु नहीं जो नापी, तौली जा सके। यह तो अन्तःकरण का धर्म है। मैं स्वयं अपने व्यक्तित्व को समझ सकता हूँ दूसरे के व्यक्तित्व को देख नहीं सकता। ऐसी दशा में राज्य केवल कुछ निश्चित परिस्थितियों द्वारा सहायता कर सकता है और मनुष्य उन परिस्थितियों से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए स्वतंत्र किये जा सकते हैं। एक और विशेष बात इस सिद्धान्त में लोक कल्याणवादी सिद्धान्त की तरह आदर्शवादी सिद्धान्त भी मानव हित के अनुकूल सुविधाओं को अधिकार का रूप देता है। दोनों ही सिद्धान्तों में यह दोष है कि यह मालूम करना कठिन है कि समाज या व्यक्ति का सुख या हित किस बात में है। दोनों ही सिद्धान्तों में कुछ सुविधायें सर्वसम्मति से समाज को सुखकारी व हितकारी समझ ली जाती हैं और उन्हें अधिकार का रूप दे दिया जाता है। यहां तक तो दोनों सिद्धान्त साथ साथ चल सकते हैं। कठिनाई तो तब आती है जब व्यक्ति के हित और सम्पूर्ण समाज के हित का मेल नहीं खाता। उस समय लोक कल्याण सिद्धान्त के अनुसार वही सुविधा अधिकार है जो अधिक से अधिक व्यक्तियों को सुख देने वाली हो, चाहे उस अधिकार के देने से कुछ व्यक्तियों

निम्नलिखित अधिकार हैं जिन्हें शासन मनुष्य के मूल-भूत अधिकार समझता है, उनकी रक्षा करता है और वास्तव में जिनकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् दो प्रकार के अधिकारों का वर्णन किया जाता है—जो अधिकार शासन वास्तव में स्वीकार करता है और आदर्श अधिकार जो शासन को स्वीकार करने चाहिये—

(१) जीवन का अधिकार।
(२) स्वतन्त्रता का अधिकार।
(३) समानता का अधिकार।
(४) सम्पत्ति का अधिकार।
(५) राजनैतिक अधिकार। और
(६) राज्य का विरोध करने का अधिकार।

(१) जीवन का अधिकार—मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण अधिकार जीवन का अधिकार है। मानव जीवन प्रकृति देवी के आविर्भाव व विकास की सबसे ऊंची सीढ़ी है। यह विकास मानव तक ही समाप्त हो गया हो ऐसा विश्वास करना कठिन है। स्वर्गीय अरविन्द के कथनानुसार मानव का विकास उससे भी ऊंची किसी वस्तु में होने वाला है। इसीलिए जीवन की लालसा प्रकृति का धर्म है। यह लालसा इतनी अदम्य है कि किसी भी स्थिति में मनुष्य मरना नहीं चाहता। यदि परिस्थिति विशेष में किसी समय कोई कहता है कि मैं मर जाऊं तो उस समय भी उस कथन के पीछे कष्टहीन दूसरी परिस्थिति में जीवित रहने की इच्छा बनी रहती है। समाज जीवन अधिकार को इसलिये मानता है कि प्रथम तो वह प्रकृति का धर्म है। ऐसा अधिकार न मानना प्रकृति विकास क्रिया में बाधा डालना होगा, उच्च मानव या देव के प्रकट होने में रोड़ा अटकाना होगा। दूसरे व्यक्ति समाज का अङ्ग है। समाज के लिये वह एक उपयोगी वस्तु है। उसका मर जाना, समाज की हानि होगी। जीवन-अधिकार में इसलिये दो शर्तें लगी रहती हैं। यह अधिकार तभी तक मान्य है जब तक व्यक्ति अपनी आत्मा की उन्नति में जीवन का उपयोग करे और समाज की हानि न करे। जीवन के अधिकार में स्वतंत्रता भी सम्मिलित है क्योंकि जब तक मनुष्य को स्वतंत्रता न होगी वह अपनी इच्छानुसार अपना जीवन मार्ग निश्चित नहीं कर सकेगा। इसलिए टी० ऐच० ग्रीन ने 'जीवन का अधिकार' और 'स्वतन्त्रता का अधिकार' इन दोनों अधिकारों को मिलाकर वर्णन किया है। क्योंकि उसका विचार है कि बिना स्वतन्त्रता के जीवन व्यर्थ है। यदि किसी

करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से भी जीवन की रक्षा और उसको उन्नति करना उचित है। ीवन का समाज से घनिष्ट सम्बन्ध है। दूषित जीवन समाज को दूषित करेगा और श्रेष्ठ जीवन समाज का उपकार करेगा अतः समाज के हित के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन भली प्रकार व्यतीत करना चाहिए और उसकी उन्नति करनी चाहिए। गिलक्रिस्ट का कथन है कि "सार्वजनिक हित की दृष्टि से प्रत्येक जीवन बहुमूल्य है और स्वयं को अथवा अन्य को मार डालने का अभिप्राय है एक ऐसे जीवन का अन्त कर देना जिसके कर्तव्य भी हैं और अधिकार भी"। आधुनिक काल के आचारशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि आत्मघात नहीं करना चाहिये। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि किसी ऐसे रोग की अवस्था में जब कि स्वस्थ होने की कोई आशा नहीं है और कष्ट अधिक हो रहा है तो जीवन का अन्त किया जा सकता है। परन्तु ऐसा करने की आज्ञा कोई धर्म नहीं देता है। धर्म की दृष्टि से किसी भी दशा में आत्मघात करना पाप है।

(ख) किसी की हत्या न करना—जिस प्रकार एक मनुष्य ो जीवित रहने का अधिकार है उसी प्रकार दूसरे मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह उसका जीवन नष्ट न करे। अर्थात् किसी व्यक्ति को जान से मार डालने का किसी को अधिकार नहीं है। प्रत्येक का यह कर्तव्य है कि वह दूसरे को जीवित रहने दे और जिस प्रकार चाहे उसे अपना जीवन व्यतीत करने दे। जब तक एक व्यक्ति का जीवन दूसरे व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार की अनुचित बाधा नहीं डालता तब तक उसके जीवन का सम्मान आवश्यक ही नहीं बल्कि परम कर्तव्य है। सब धर्मों में दूसरे की हत्या करना महान् पाप है। अतः हत्या करना नैतिक अपराध है और वैधानिक अपराध भी। प्रत्येक राज्य में हत्या बड़ा भारी अपराध समझा जाता है और इसका दण्ड 'प्राण दण्ड' है। विधान द्वारा हत्या के अपराध में प्राण दण्ड देना कहाँ तक उचित है? कुछ लोगों का मत है कि जो लोग हत्या करते हैं उन्हें मनुष्य समाज में रहने का कोई अधिकार नहीं है, अतः उन्हें मार ही डालना उचित है। जो लोग इस बात के पक्ष में हैं कि हत्यारे को समाज में रहने का कोई अधिकार नहीं है वे कहते हैं कि जो मनुष्य दूसरे की हत्या कर सकता है उसे प्राणदण्ड देना इसलिये आवश्यक है कि यदि उसे जीवित रखा जायगा तो वह समाज के लिये भयानक सिद्ध होगा और फिर हत्यायें करेगा। दूसरे लोगों का मत है कि हत्यारे को प्राणदण्ड न देकर आजन्म कारावास में डाल देना चाहिये

उपयुक्त सिद्ध न हुए हों"* । आजकल लोगों का यही विश्वास है कि स्वरक्षा करना उचित है परन्तु अत्याचार करना उचित नहीं है । इस बात का निर्णय करना कठिन है कि स्वरक्षा में किया हुआ शक्ति का प्रयोग किस सीमा तक उचित और फिर अनुचित हो जाता है ।

क्या यह बात राज्य के लिये उचित है कि वह मनुष्य को युद्ध के लिये सेना में भर्ती करके युद्धक्षेत्र में भेजकर मरवा डाले ? क्या ऐसा करने में राज्य मनुष्य के जीवित रहने के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करता ? टी० ऐच० ग्रीन (T. H. Green) युद्ध को पूर्णरूप से उचित नहीं समझता है । उसका कथन है कि "युद्ध सापेक्षतया उचित हो सकता है क्योंकि एक बुराई को ठीक करने के लिये दूसरी बुराई की जाती है । परन्तु बुराई तो बुराई ही रहती है और जिन लोगों ने पहली बुराई की थी वे तो मर जाते हैं, एक और बुराई कर जाते हैं जिसके द्वारा वे पहली बुराई को ठीक करते हैं" † इसका अभिप्राय यह है कि युद्ध एक दूषित वस्तु है । एक बुराई को दूर करने के लिये युद्ध किया जाता है । युद्ध दूसरी बुराई है । बुराई द्वारा बुराई का सुधार किया जाता है । ग्रीन का मत है कि एक आदर्श राज्य में युद्ध की आवश्यकता ही नहीं है । युद्ध वास्तव में एक नैतिक दोष है ।

(घ) सन्तान उत्पत्ति तथा कौटुम्बिक जीवन का अधिकार—संसार में यह बात देखने में आती है कि कौटुम्बिक जीवन पशु-पक्षियों में भी पाया जाता है । यह एक प्राकृतिक तथा अनिवार्य स्थिति है जिसमें प्रत्येक प्राणी को रहने की आवश्यकता है । कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने में प्राणी को सुख प्राप्त होता है । कुटुम्बी जीवन के साथ संतान उत्पत्ति भी प्राकृतिक है । यह भी किसी प्रकार नहीं रोकी जा सकती । कुटुम्बी जीवन व्यतीत करना और संतान उत्पन्न करना मनुष्यों का नैसर्गिक अधिकार है । जब से संसार में मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है तब से आज तक इस अधिकार को सब दशाओं में स्वीकार किया गया है । जब लोगों में राजनैतिक चेतना न थी तब भी लोग स्वतन्त्रता पूर्वक कुटुम्बी जीवन व्यतीत करते थे और ज्यों ज्यों सभ्यता की उन्नति हुई त्यों त्यों इस अधिकार की पुष्टि होती गई । मनुष्यों का कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने का अधिकार है और संतान उत्पन्न करने का भी । परन्तु इस अधिकार को भी स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं भोगने दिया जा सकता यदि समाज को सुखी

---

* आर० ऐ० गिलक्रिस्ट प्रिंसिपल्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ १४२

† ई० बार्कर-पौलीटिकल थाट इन इंगलैण्ड फ्राम स्पेन्सर टु टुडे पृष्ठ ४५

तथा समृद्धिशाली बनाना है। वास्तव में राज्य का यह कर्तव्य है कि अन्धे, अपाहिज कोढ़ी, तथा आजीवन रोगी को इस अधिकार से वंचित रखा जाय। क्योंकि ऐसे लोगों की संतान कभी पूर्णरूप से स्वस्थ नहीं हो सकती। यदि ऐसे लोगों को विवाह करने से नहीं रोका जायगा तो अस्वस्थ नागरिक उत्पन्न होंगे। ये लोग राज्य के लिये एक असह्य भार बन जायेंगे। इन्हें पालने के लिये राष्ट्र के धन का व्यर्थ अपव्यय होगा। प्राचीन काल में यूनान के स्पार्टा राज्य में यह प्रथा प्रचलित थी कि बच्चे को उत्पन्न होते ही एक रात्रि के लिये बाहर डाल दिया जाता था यदि वह दूसरे दिन प्रातःकाल जीवित रहता था तो उसे पाल लिया जाता था। ऐसे बच्चे बड़े होकर हृष्ट-पुष्ट होते थे बीमार भी बहुत कम होते थे और अधिकतर स्वस्थ रहते थे। अतः प्रत्येक राज्य का यह धर्म है कि मनुष्यों को कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे, परन्तु ऐसे व्यक्तियों को कभी कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने की आज्ञा न दे जो समाज के लिये अहितकर हों। वास्तव में होना तो यह चाहिये कि जिन लोगों के पास आय का साधन नहीं है और जीविका उपार्जन करने का साधन नहीं है उन्हें कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने से रोका जाय। मनुष्य को तभी विवाह करने की आज्ञा दी जाय जब वह अपनी जीविका उपार्जन करने योग्य हो अन्यथा नहीं। क्योंकि जिन लोगों के पास जीविका उपार्जन करने का साधन नहीं है उनको यदि सन्तानोत्पत्ति करने से न रोका जायगा तो देश में दरिद्रता फैलेगी। लॉरीमर (Lorimer) का कथन है कि "जो व्यक्ति अपनी संतान को मानुषिक शिक्षा नहीं दे सकता है उसे विवाह करने का उसी प्रकार नैसर्गिक अधिकार नहीं है जैसा उस पुरुष को जो संतान उत्पन्न नहीं कर सकता है"। *

(ङ) सम्पत्ति का अधिकार—जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने और संतान उत्पन्न करने का नैसर्गिक अधिकार है उसी प्रकार उसे सम्पत्ति रखने का भी अधिकार है। इतिहास काल के आरम्भ में जब मनुष्य कुटुम्बी जीवन व्यतीत करते थे, उस समय उनके पास कुछ भूमि भी होती थी जिससे वे अपनी भोजन सामग्री उत्पन्न करते थे। कुटुम्ब के अधिकार के समान भूमि तथा अन्य सम्पत्ति भी प्रत्येक मनुष्य के लिये अनिवार्य है। अब सभ्यता की उन्नति के कारण भूमि तथा पशु के अतिरिक्त कुछ न्य प्रकार की सम्पत्ति भी है जिस पर मनुष्य का जन्मजात अधिकार है।

---

* डी० जी० रिशी—नैचुरल राइट्स पृष्ठ १२८

प्रत्येक मनुष्य को अपने लिये एक घर रखने का अधिकार है। बिना घर के मनुष्य एक बन्जारे की भांति अथवा भांतू और कंजड़ की भांति है। राज्य को मनुष्य के इस अधिकार को भी स्वीकृत करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य के पास निवास के लिये एक निश्चित क्षेत्रफल का घर होना परम आवश्यक है। सम्पत्ति दो प्रकार की होती है चल और अचल। अचल सम्पत्ति में भूमि, गृह आदि सम्मिलित हैं। चल-संपत्ति में घरेलू आवश्यक सामान, जो मनुष्य के गृहस्थ जीवन को सुख पूर्वक व्यतीत करने के लिये आवश्यक हैं, सम्मिलित हैं। खाट, वर्तन आदि चल-सम्पत्ति हैं। इन वस्तुओं का होना भी मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अतः मनुष्य के पास आवश्यक चल और अचल संपत्ति होनी चाहिये। राज्य को देखना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति के पास आवश्यक सम्पत्ति है या नहीं। यदि नहीं है तो राज्य को उसे प्राप्त कराने में सहायता करनी चाहिये।

कौटुम्बिक जीवन और सम्पत्ति राज्य को स्थिरता प्रदान करती हैं। जिस राज्य में अधिकतर व्यक्ति ऐसे हैं जिनके पास कोई निजी चल या अचल सम्पत्ति नहीं है या जिनको स्नेहपाश में बांध कर रखनेवाले कुटुम्बीजन नहीं हैं, उस राज्य की प्रजा पतझड़ के उन पत्तों के समान व्यवहार करती है जो हवा के एक हलके झोंके में ही इधर से उधर उड़ जाते हैं। आजकल विश्व में जो हलचल दिखाई देती है उसका कारण यही है कि ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ रही है जिनके पास न कुटुम्ब है, न घर। ये दोनों वस्तुयें व्यक्ति के चरित्र में शुद्धता और संयम लाती हैं। यदि राज्य चरित्रवान संयमी व्यक्तियों का राज्य बनना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति और उसके कुटुम्ब की रक्षा करे। केवल रक्षा से ही काम न चले तो उसे इस ओर कुछ सक्रिय कदम भी उठाना चाहिये।

सम्पत्ति के अधिकार के प्रश्न का महत्व आजकल अधिक बढ़ गया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक युग की जितनी बुराइयां हैं उनका कारण है वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार और इन बुराइयों को दूर करने का एकमात्र साधन है इस अधिकार को समाप्त कर सब सम्पत्ति पर समाज के अधिकार की स्थापना करना। वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार से जो सांसारिक उन्नति हुई है इसे सभी स्वीकार करते हैं। इस अधिकार के बिना भी उद्योग, विज्ञान, कला और साहित्य की उन्नति उतनी ही होती इससे सब सहमत नहीं हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति और उस सम्पत्ति से प्राप्त होनेवाले सुख की आशा व्यक्ति को जितना प्रेरित कर सकते हैं उतना अन्य कोई भाव नहीं कर सकता।

कार्य करने योग्य पुरुष कार्य न करे तो राज्य द्वारा उसे दण्ड दिया जाय और उसे कार्य करने के लिय बाध्य किया जाय। इन लोगों का यह मत है कि जब तक मनुष्य कार्य कर सकता है तब तक उससे कार्य लिया जाय। जब वह कार्य करने योग्य न रहें तो राज्य द्वारा उसकी जीविका का प्रबन्ध किया जाय और जब तक वह जीवित रहे उसे भोजन वस्त्र का कष्ट न हो। अतः इन लोगों का कथन है कि सब लोगों के लिये बीमा इत्यादि की योजना अनिवार्य होनी चाहिये। जब तक लोग कार्य करते रहें तब तक उनकी आय से कुछ रुपयों की कटौती करके उसे जमा किया जाय और जब वह व्यक्ति अवकाश प्राप्त करे, उसे वह धन इकट्ठा दिया जाय अथवा मासिक आय के रूप में दिया जाय जिससे उसे शेष जीवन में कोई कष्ट न मिले। लैस्की का कथन है कि 'या तो राज्य को अपने नागरिकों के हित के लिये औद्योगिक-शक्ति का अवश्य नियंत्रण करना चाहिये अन्यथा अपने स्वामियों के हित के लिये औद्योगिक शक्ति राज्य पर नियंत्रण करेगी।" * अठारहवीं शताब्दी की यद्भाव्यं नीति (Laissez faire) कि राज्य को व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, इस बीसवीं शताब्दी में प्रयोग नहीं की जा सकती। अब तो राज्य को मनुष्य के हित के लिये प्रत्येक विषय में हस्तक्षेप करना आवश्यक है। राज्य का कर्तव्य है प्रत्येक मनुष्य के लिये उचित कार्य का प्रबन्ध करना जिससे वह अपनी जीविका उपार्जन कर सके। लैस्की का कथन है कि "एक प्रधान मन्त्री को, जो अपने पद से हटा दिया गया है फिर वैसा ही कार्य प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। समाज प्रत्येक मनुष्य को उसकी इच्छानुसार कार्य नहीं दे सकता, उसको ऐसे कार्य की आवश्यकता है जिससे उसकी जीविका का प्रबंध हो सके। कार्य करने के अधिकार का यह अभिप्राय है कि मनुष्य को ऐसे कार्य में लगाया जाय जिससे वह कुछ उपयोगी कार्य कर सके और कुछ वस्तुओं का उत्पादन करने में भाग ले सके।" यदि मनुष्य कुछ समय के लिये बेकार हो जाता है तो राज्य का कर्तव्य है कि वह उसकी उस समय तक सहायता करे जब तक उसे पुनः कार्य न मिल जाय। लैस्की का मत है कि "बेकारी के लिये भी बीमे की योजना करना राज्य का कर्तव्य होना चाहिये" †। लैस्की का विचार है कि "मनुष्य को केवल कार्य प्राप्त करने का ही अधिकार नहीं है।

---

* ऐच० जे० लैस्की—ग्रामर आफ पालिटिक्स—पृष्ठ १०६-१०९

† ऐच० जे० लैस्की-ग्रामर आफ पालिटिक्स—पृष्ठ १०६—१०९

ऐसी स्वतन्त्रता से समाज का वास्तविक हित नहीं हो सकता। समाज के हित के लिए वास्तविक अर्थात् कार्यात्मक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को आत्मोन्नति करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिये जिससे वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी उन्नति कर सके। उसकी उन्नति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। लैस्की का कथन है कि स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि "मनुष्य को ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि वह अपनी उन्नति के लिए जो चाहे सो कर सके। किसी प्रकार की बाह्य बाधा उसके कार्य में न डाली जाय।" * ऐसा होने पर मनुष्य पूर्ण रूप से अपनी उन्नति कर सकता है। स्वतन्त्रता अनेक प्रकार की हो सकती है। अब भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं का वर्णन किया जाता है।

१—स्वाभाविक स्वतन्त्रता—ऊपर नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन करते समय सामाजिक अनुबन्ध के मतानुसार मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन किया जा चुका है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' में लिखा है कि "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है और सब स्थानों पर वह बन्धन में है" उसका विचार है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य पर कोई बन्धन नहीं था, वह स्वच्छन्द विचरता था। किसी प्रकार की उसको चिन्ता न थी। जब से मनुष्य में सभ्यता फैली है तभी से मनुष्य की स्वतन्त्रता का ह्रास हो गया है। बहुत से लोग इस बात का समर्थन करते हैं। वास्तव में स्वभावतया मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहता है वह अपने ऊपर किसी अपने से पृथक शक्ति का अंकुश पसन्द नहीं करता। वह संसार के भोगों को स्वच्छन्दतापूर्वक भोगना चाहता है। किन्तु समाज में यह स्वच्छन्दता बरती जाय तो समाज का अस्तित्व ही न रहे। समाज के बिना अर्थात् अन्य लोगों के सहयोग के बिना व्यक्ति का भोग भी अधूरा ही रह जाय। इसलिये समाज में रहकर उसे दूसरों की भी स्वतन्त्रता का ध्यान रखना पड़ता है और इस विचार से कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता से संघर्ष न हो जाय, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता को एक सीमा के अन्दर परिमित रखना पड़ता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की बुद्धि परिष्कृत होती जाती है, वह स्वच्छन्दता से विमुख होता जाता है।

२—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता का इच्छुक है। वह अपनी उन्नति के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना चाहता है, अपनी

---

* ऐच० जे० लैस्की—लिबर्टी इन माडर्न स्टेट पृष्ठ ११।

उनका यह भी अधिकार है कि उन्हें उनके कार्य के लिये उचित मजदूरी दी जाय।"* अर्थात् ऐसी मजदूरी दी जाय जो 'गुणात्मक नागरिकता' के लिये आवश्यक हो। प्रत्येक मनुष्य को भोजन, वस्त्र, घर, शुद्ध वातावरण, शिक्षा तथा संस्कृति के लिये अवसर आदि की आवश्यकता है जिससे वह अपना आध्यात्मिक उन्नति कर सके। एक ऐसा स्तर स्थापित करने की आवश्यकता है जिस से नीचे कोई व्यक्ति न गिरने पावे। लेस्की का कथन है कि उचित मजदूरी का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य को समान वेतन दिया जाय बल्कि यह अभिप्राय है कि वह वेतन अथवा मजदूरी जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त होनी चाहिये और ऐसा न हो कि किसी को अत्यधिक मिले और किसी को अति न्यून। पहली आवश्यक बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने परिश्रम के बदले में उचित वेतन मिलना चाहिये जिससे वह सम्मान के साथ समाज में अपना जीवन व्यतीत कर सके और अपनी संतान की शिक्षा, भरण-पोषण आदि का प्रबन्ध कर सके।

स्वतन्त्रता का अधिकार—जीवन के अधिकार के पश्चात् मनुष्य के लिये दूसरा आवश्यक अधिकार स्वतन्त्रता का है। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कार्य-क्षेत्र में एक सीमा तक यह चाहता है कि वह दूसरों के तन्त्र (पराधीनता) से मुक्त रहे। यदि उसके ऊपर कोई तंत्र हो तो वह स्व का अर्थात् अपने आप लगाया हुआ अंकुश हो। इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए लोगों ने बड़े-बड़े बलिदान किये हैं और घृणित से घृणित अत्याचार भी किये हैं। इतिहास से हमको विदित होता है कि मनुष्यों में स्वतन्त्रता के भाव सदैव रहे हैं। मनुष्य के जीवन के लिये स्वतन्त्रता बड़ी आवश्यक वस्तु है। परन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता किसी को प्राप्त नहीं हो सकती है। ऊपर बताया जा चुका है कि एक विशेष सीमा तक ही स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। इसी स्वतन्त्रता के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करता है। अपनी व्यक्तिगत प्रगति के लिए व्यक्ति को जितनी स्वतन्त्रता की आवश्यकता है उतनी उसे अवश्य मिलनी चाहिए। स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है एक नकारात्मक और दूसरी वास्तविक। नकारात्मक स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि बिना किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के मनुष्य को पूर्ण रूप से तंत्रहीन कर दिया जाय। उसके ऊपर से सब प्रकार का प्रतिबन्ध उठा लिया जाय। चाहे वह कोई कार्य करे, चाहे न करे। इस प्रकार की नकारात्मक स्वतन्त्रता लाभदायक नहीं है।

* ऐच० जे० लेस्की—ग्रामर आफ पलिटिक्स—पृष्ठ १०६–१०९

ऐसी स्वतन्त्रता से समाज का वास्तविक हित नहीं हो सकता। समाज के हित के लिए वास्तविक अर्थात् कार्यात्मक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को आत्मोन्नति करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिये जिससे वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी उन्नति कर सके। उसकी उन्नति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। लॅस्की का कथन है कि स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि "मनुष्य को ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि वह अपनी उन्नति के लिए जो चाहे सो कर सके। किसी प्रकार की बाह्य बाधा उसके कार्य में न डाली जाय।" * ऐसा होने पर मनुष्य पूर्ण रूप से अपनी उन्नति कर सकता है। स्वतन्त्रता अनेक प्रकार की हो सकती है। अब भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं का वर्णन किया जाता है।

१—स्वाभाविक स्वतन्त्रता—ऊपर नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन करते समय सामाजिक अनुबन्ध के मतानुसार मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन किया जा चुका है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' में लिखा है कि "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है और सब स्थानों पर वह बन्धन में है" उसका विचार है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य पर कोई बन्धन नहीं था, वह स्वच्छन्द विचरता था। किसी प्रकार की उसको चिन्ता न थी। जब से मनुष्य में सभ्यता फैली है तभी से मनुष्य की स्वतन्त्रता का ह्रास हो गया है। बहुत से लोग इस बात का समर्थन करते हैं। वास्तव में स्वभावतया मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहता है वह अपने ऊपर किसी अपने से पृथक शक्ति का अंकुश पसन्द नहीं करता। वह संसार के भोगों को स्वच्छन्दतापूर्वक भोगना चाहता है। किन्तु समाज में यह स्वच्छन्दता बरती जाय तो समाज का अस्तित्व ही न रहे। समाज के बिना अर्थात् अन्य लोगों के सहयोग के बिना व्यक्ति का भोग भी अधूरा ही रह जाय। इसलिये समाज में रहकर उसे दूसरों की भी स्वतन्त्रता का ध्यान रखना पड़ता है और इस विचार से कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता से संघर्ष न हो जाय, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता को एक सीमा के अन्दर परिमित रखना पड़ता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की बुद्धि परिष्कृत होती जाती है, वह स्वच्छन्दता से विमुख होता जाता है।

२—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता का इच्छुक है। वह अपनी उन्नति के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना चाहता है, अपनी

---

* ऐच० जे० लॅस्की—लिबर्टी इन माडर्न स्टेट पृष्ठ ११।

इच्छानुसार अपने जीवन को एक विशेष प्रकार से व्यतीत करने का इच्छुक होता है और यह आशा रखता है कि कोई अन्य व्यक्ति उस के कार्य में बाधक न हो। मनुष्य के अनेक व्यक्तिगत कार्य ऐसे हैं जिनके करने में वह पूर्ण स्वतन्त्र है। अपने घर के भीतर मनुष्य को प्रत्येक कार्य स्वेच्छा-पूर्वक करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। केवल राज्य द्वारा वर्जित अपराध वह नहीं कर सकता है। अपने घर से बाहर भी मनुष्य बहुत से कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है; जब तक उसका कार्य अन्य व्यक्तियों के कार्य में बाधक नहीं होता तब तक वह कोई भी कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है। मिल का विचार है कि मनुष्य को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जब तक एक व्यक्ति दूसरे के कार्य में बाधक नहीं हो उसे सब कुछ करने देना चाहिए। अतः उसका विचार है कि मनुष्य को अपने जीवन को चाहे जिस प्रकार बिताने दो। यदि वह बुरे से बुरा भी कार्य करता है तो उसे करने दो। मिल के समान बर्ट्रैण्ड रसल (Bertrand Russell) भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्षपाती है। जो लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं उनका मत है कि राजनैतिक अधिकारों की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार बहुत महत्त्व रखता है। वे कहते हैं कि वोट देना, पद प्राप्त करना आदि राजनैतिक अधिकारों की अपेक्षा विचार-स्वातंत्र्य भाषणस्वातंत्र्य, अभिव्यं-जना-स्वातंत्र्य तथा कार्य स्वातंत्र्य मनुष्यों के लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन स्वतन्त्रताओं का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि मनुष्य को ये स्वतन्त्रताएं प्राप्त नहीं हैं तो उसका जीवन व्यर्थ है। मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति बिना इन स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति के नहीं हो सकती। दार्शनिक अराजकतावादी इस सिद्धान्त को मानते हैं और इस प्रकार की स्वतन्त्रता की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय बतलाते हैं।

३—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—राष्ट्रीयता के विचार मनुष्यों में पहले भी हुआ करते थे परन्तु हाल में कुछ शताब्दियों से राष्ट्रीयता के विचारों ने बड़े महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। एक देश, एक जाति, एक देश, एक भाषा अथवा एक देश, एक धर्म के नाम पर लोगों ने अपने देश का संगठन किया। केवल संगठन ही नहीं किया अत्याचार भी किये। किसी देश ने राष्ट्रीय स्वत-न्त्रता इसमें समझी कि अपने देश से अन्य धर्म अथवा अन्य भाषा बोलने वाले लोगों को निकाल दिया और उन्हें बेघर कर दिया। प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्रीयता के भाव होने चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को स्वदेश से प्रेम करना चाहिये और आवश्यकता पड़ने पर उस पर बलिदान हो जाना चाहिये परन्तु राष्ट्रीय

स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय नहीं है कि अपने देश की अथवा जाति की स्वतन्त्रता तथा उन्नति के लिये अन्य जातियों और देशों पर अत्याचार किया जाय। वास्तविक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का यह प्रयोजन है कि एक देशवासी स्वतन्त्र हों, स्वयं अपने देश पर शासन करते हों और उस देश के सब लोग प्रेमपूर्वक रहते हुए अपनी व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति करें और अन्य देश व जातियों से भी परस्पर प्रेम का वर्ताव रहे।

४—वैधानिक स्वतन्त्रता—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के साथ-साथ आज-कल वैधानिक स्वतन्त्रता के विचारों की उन्नति होती जा रही है। प्रत्येक देश में स्वशासन का भाव फैल गया है। प्रत्येक देशवासी यह चाहते हैं कि वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हों। उनका विधान वे ही बनायें। कोई अन्य देश उनके विधान-निर्माण में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। वास्तव में लोगों को अपने देश का प्रबन्ध करने में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और जब तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग होने की सम्भावना न हो तब तक किसी देश के शासन विधान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

५—नागरिक स्वतन्त्रता—गैटिल का कथन है कि "इसमें कार्य करने की स्वतन्त्रता तथा वाह्य हस्तक्षेप से निर्भयता सम्मिलित है"*। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक स्वतन्त्र देश में नागरिकों को अपने कार्यक्षेत्रों में एक विशेष सीमा तक पूर्णरूप से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जब तक वे उस सीमा का उल्लंघन नहीं करते हैं, वे अपना कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकते हैं। साधारणतया एक स्वतंत्र देश में निम्न प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रता लोगों को प्राप्त होती है :—

(क) व्यक्तिगत शारीरिक स्वतन्त्रता।
(ख) न्यायालयों में समानता।
(ग) निजी सम्पत्ति प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने की स्वतन्त्रता।
(घ) विचार करने और विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता।
(ङ) चेतना स्वातंत्र्य अथवा विवेक स्वातन्त्र्य।

६-राजनैतिक-स्वतन्त्रता—राजनैतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को शासन प्रवन्ध की नीति निर्धारण करने के काम में भाग लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार से अयोग्य नहीं हैं तो उसे अपने देश के शासकों के निर्वाचित करने में भाग लेने की

---

* आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ १११

स्वतन्त्रता होनी चाहिये। किसी प्रकार का राजनैतिक अवरोध उन पर नहीं होना चाहिये। लैस्की का कथन है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है राज्य-कार्यों में नागरिक का भाग लेना।

७-आर्थिक स्वतन्त्रता—जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के लिए नागरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है उसी प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता की भी आवश्यकता है अथवा यों कहना चाहिये कि आर्थिक स्वतन्त्रता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि किसी देश के निवासी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है, अपने विधान का निर्माण स्वयं करते हैं, उन्हें सब प्रकार की व्यक्तिगत तथा राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त है, परन्तु यदि उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नही है तो सब प्रकार की स्वतन्त्रता केवल कहने भर की वस्तु ही रहती है। क्योंकि व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकतायें आर्थिक है। उसे सबसे पहले शरीर रक्षा के लिये भोजन वस्त्र तथा मकान चाहिये। जो व्यक्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों का मुह नही देखता, उसके समान स्वतंत्र व्यक्ति अन्य कोई नही। किन्तु आधुनिक सामाजिक व आर्थिक संगठन में ऐसी स्वतन्त्रता असम्भव है। आजकल प्रत्येक व्यक्ति अपने भरण पोषण के लिये दूसरों के सहयोग की आवश्यकता समझता है। ऐसे समाज में यदि कुछ अल्पसख्यक व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर अपना स्वत्व स्थापित कर लें तो वे बहुसंख्यक व्यक्तियों को अपना दास बना सकते हैं। पूंजीपति, विद्वान की विद्वत्ता, मजदूर का परिश्रम, धार्मिकों का धर्म कवियों की कविता और लेखकों की लेखन-शक्ति खरीद सकता है। सबसे बड़ी परतंत्रता आर्थिक परतन्त्रता है। भूखे व्यक्ति से राजनैतिक स्वतन्त्रता की बात कहना, नंगे आदमी के सामने राष्ट्रीयता का राग अलापना उसकी खिल्ली उड़ाना है। जहां व्यक्तिओ को प्रतिक्षण पेट भरने और अंग ढकने की चिंता रहती है वहां चाहे सब तरह की सामाजिक, नागरिक या राजनैतिक स्वतंत्रतायें उपलब्ध हों, वे सब केवल उन व्यक्तियों के लाभ की वस्तु हैं जिनके पास इतनी सम्पत्ति है और इतने साधन हैं कि उनके सहारे वे इन स्वतन्त्रताओं का नारा लगाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में अधिक से अधिक सफल होते हैं और अपनी सत्ता बनाये रखते है। संक्षेप में सब स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता परमावश्यक है। आर्थिक संगठन ऐसा हो जिसमें उत्पादन तथा वितरण की व्यक्तियों को इतनी स्वतन्त्रता हो कि देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिक से अधिक उत्तम उपयोग हो सके। यह स्वतन्त्रता इतनी परिमित हो कि आर्थिक शक्ति कुछ हाथों में केन्द्रित होकर

सम्पत्ति-हीनों के शोषण और पीड़न का कारण न बन सके। आर्थिक स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब सम्पत्ति वितरण का ऐसा संतुलन हो कि प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम करने का अवसर हो, उस परिश्रम के बदले में उचित मात्रा में खाने-पहिनने व सभ्य जीवन बिताने की सामग्री प्राप्त हो सके, और बिना परिश्रम के केवल सम्पत्ति के स्वामित्व के बल पर कोई इतना सबल न हो जाय कि दूसरों को आधीन कर सके।

८—नैतिक स्वतन्त्रता—ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ साथ व्यक्ति को जगत् के वास्तविक रूप तथा जीवन के सच्चे उद्देश्य का पता चलता जाता है। जगत के रूप तथा जीवन के उद्देश्य को जानकर मनुष्य धर्म और नीति क्या है, यह स्थिर करता है। इस धर्म और नीति को वह पवित्र तथा उच्च जीवन बिताने के लिये अपने व्यवहार में प्रयोग करता है। व्यक्ति की धार्मिक तथा नैतिक भावना धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं के रूप में व्यक्त होती है। इस भावना को यदि व्यक्त होने का पूरा अवसर न मिले तो व्यक्ति अपने को सुखी व सफल जीवन नहीं समझता। उसका व्यक्तित्व इस भावना के व्यक्त होने की स्वतन्त्रता के बिना अच्छी तरह नहीं निखरता। इसलिये समाज व राज्य की व्यवस्था ऐसी हो जिसमें व्यक्ति अपनी उच्च नैतिक भावनाओं को कार्यरूप देने में परतन्त्र और बन्धनयुक्त न समझे। यदि व्यक्ति को राज्य व समाज अपने उत्तमस्व को विकसित तथा व्यक्त होने का अवसर न दे या पग-पग पर उस उच्च भावना को कुचलने का प्रयत्न करे तो व्यक्ति अपने आप को सुखी नही समझ सकता।

स्वतन्त्रता और शासन

स्वतंत्रता का अर्थ तंत्रहीनता नहीं है। स्वतंत्रता का नारा लगाकर यदि कुछ व्यक्ति मनमाना व्यवहार करना चाहें तो उन्हें कोई भला न कहेगा। जैसा 'स्वतंत्रता' शब्द के अर्थ से प्रकट है स्वतंत्रता उस स्थिति का नाम है जिसमें तंत्र या आधीनता तो अवश्य हो किन्तु वह तंत्र या आधीनता अपने ऊपर स्वयं लगाई गई हो। यदि बाहरी बन्धन, चाहे वे समाज के हों या राज्य के, स्वेच्छा से स्वीकार कर लिये जायें तो उनसे स्वतंत्रता की मात्रा कम नहीं होती। प्रश्न यह है कि कौन से बाहरी बन्धन व्यक्ति स्वेच्छा से स्वीकार करता है। प्रकट है कि ऐसे बन्धन अनुचित न होने चाहिये। यदि इन बन्धनों के सम्बन्ध में मनुष्यों का यह विचार हो कि वे उनके हित में आवश्यक हैं, उनको सबके ऊपर बिना भेद-भाव के लगाने का अभिप्राय है,

उनकी रूप-रेखा निश्चित करने में पूरी समझ व सदेच्छा से काम लिया गया है तो ऐसे बन्धनों को उनकी बुद्धि सहज ही अपना लेती है और तब ये बन्धन बाहरी प्रतीत न होने से बेबसी का भाव मन में नहीं लाते। इससे स्पष्ट है कि शासन व स्वतंत्रता ये दोनों भाव एक दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते। यदि शासन बुद्धिग्राह्य है तो मनुष्य की शुद्ध बुद्धि मन पर अंकुश रख उस शासन को मनवाती है। मनुष्य स्वयं अपने ऊपर नियंत्रण करता है। इसी स्थिति का नाम स्वतंत्रता है।

विधान और स्वतंत्रता—राज्य के विधान स्वतंत्रता की सृष्टि करते हैं, ऐसा प्रायः कहा जाता है। ऊपर से देखने में इन विधानों से जकड़ा हुआ व्यक्ति बड़ी शोचनीय दशा में पड़ा मालूम होता है। पग पग पर कानून उसके मार्ग में आकर एक विशिष्ट दिशा में जाने का निर्देश करता है उसे मनमानी ओर जाने से रोकता है। स्वाभाविक है कि ऐसी रोक और निर्देशन सब को एक सा रुचिकर नहीं होता। जो कानून से बतलाये हुये मार्ग पर जाना चाहते हैं उन्हें तो यह निर्देशन रुचिकर होता है। अन्य जो ऐसा नहीं करना चाहते उन्हें कानून का निर्देशन बन्धन मालूम होता है। विधान या कानून जब सर्वसम्मति या बहुमत द्वारा सब पर लागू होने के लिये बनता है तब वह समाज के व्यक्तियों के उच्चस्वार्थ और दूरदर्शिता का प्रतीक होता है। साधारणतया व्यक्ति होने वाले निजी स्वार्थलाभ पर दृष्टि रख कर कार्य करना चाहता है। विधान की दूरदर्शिता उसे ग्राह्य नहीं होती, वह तुरन्त निजी लाभ को भविष्य में होने वाले सामूहिक लाभ में प्राप्त हिस्से से अधिक अच्छा समझता है। इसीलिये विधान उसके सुख लाभ में बाधक प्रतीत होता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध होती जाती है और उसका चरित्रबल बढ़ता जाता है, मैं-तू की दीवाल पतली पड़ती जाती है, वैसे ही वैसे लोकेच्छा से बना हुआ विधान उसे अपनी इच्छा के अनुकूल ही प्रतीत होता है। तब विधान का अंकुश बाहरी अंकुश नहीं रहता, वह स्वतंत्र हो जाता है अपनी ही इच्छा से अपने आप को नियंत्रित समझता है। इसीलिये जिस समाज में सभ्यता बढ़ती जाती है, जहां व्यक्ति का नैतिक स्तर ऊंचा होता जाता है, समाज और राज्य के नियम व्यक्ति स्वतः ही स्वभावतया मानने लग जाते हैं। वे नियम उनकी प्रकृति के अङ्ग बन जाते हैं। उसी मात्रा में वे अपने आप को स्वतंत्र समझने लगते हैं हालाँकि अपेक्षाकृत असभ्य समाज की दृष्टि से वे बन्धनों में जकड़े हुये दिखाई देंगे। विधान स्वतंत्रता के बाधक नहीं उसके सहायक हैं। उनकी अनुपस्थिति में व्यक्ति स्वयं अपनी कुवासनाओं

का दास हो सकता है क्योंकि उस पर अंकुश रखने वाला बाहरी नियंत्रण नहीं रहता। यही नही किन्तु समाज में विधानों का नियंत्रण न होने से भले आदमी बुरे आदमियों के वश में हो जायँ, वे अपनी सदेच्छा से परिचालित न होकर दुष्टों की स्वेच्छाचारिता के दास बन जायं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विधान और स्वतंत्रता एक दूसरे के विरोधी नहीं किन्तु पूरक और सहायक हैं।

स्वतन्त्रता और समानता—लार्ड एक्टन और डी० टॉकविल सरीखे रा नीतिज्ञों का विचार है कि स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे की विरोधी हैं। यदि स्वतंत्रता का अर्थ तंत्रहीनता हो तब तो यह विचार ठीक है क्योंकि सब व्यक्ति एक योग्यता व एक समान गुणवाले नहीं होते। ऐसे मानवसमूह में यदि सबको स्वेच्छानुसार कार्य करने की स्वच्छन्दता हो तो निश्चय ही दुष्ट, धूर्त व चालाक व्यक्ति सीधे-साधे व्यक्तियों को अपने वश में कर लेंगे, उनकी सम्पत्ति का हरण करेंगे और उन्हें आगे उन्नति करने का अवसर न देंगे। किन्तु स्वतंत्रता का अर्थ तंत्रहीनता नहीं है। स्वतंत्रता के अन्तर्गत वे सब बन्धन हैं जिनसे मनुष्यों की असामाजिक भावनाओं व कार्यों पर रोक लगती है और इस-प्रकार व्यक्तियों को अन्य लोक-कल्याण-कारी कार्यों को करने की निर्विघ्न सुविधा प्राप्त होती है। इन बन्धनों से समानता की सृष्टि होती है। इनसे सब व्यक्ति एक समान योग्यतावाले, प्रतिभायुक्त व गुणयुक्त नहीं बनाये जा सकते। किन्तु समानता का ऐसा अर्थ समाज-शास्त्र की दृष्टि से अभिप्रेत नहीं है। समाज में समानता का अर्थ यह नहीं करना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को एकसा ही खाना, पहनना, शिक्षा, काम तथा वेतन प्राप्त हो। ऐसा सम्भव भी नहीं है और न ऐसी समानता समाज या व्यक्ति की सर्वोन्मुखी उन्नति तथा विकास में सहायक हो सकती है। ऐसी समानता स्थापित करने के लिये हमें वास्तव में स्वतंत्रता से हाथ धोना पड़ जायगा। जहाँ ऐसी समानता की दुहाई दी जायगी वहाँ स्वतंत्रता टिक नहीं सकती। स्वतंत्रता उस समानता के साथ रह सकती है जिसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर प्राप्त हो। इसके लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

(१) किसी व्यक्ति अथवा समुदाय को किसी प्रकार का विशेषाधिकार न रहे।

(२) अपनी शक्ति अथवा अधिकार का दुरुपयोग करने पर न्यायालय में सब को समान दंड दिया जाय।

(३) इस बात की प्रत्याभूमि हो कि जनसाधारण के हित के लिये ही शक्ति का प्रयोग किया जाय, केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये नहीं।

(४) प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान रूप से आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय।

(५) ऊँच, नीच तथा धनी, निर्धन का सामाजिक भेद-भाव मिटा दिया जाय।

राज्य द्वारा स्वतन्त्रता का नियमन—ऊपर लिखा जा चुका है कि अपरिमित स्वतन्त्रता किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता का उपयोग भी एक विशेष सीमा के भीतर होना है। यदि एक व्यक्ति किसी कार्य को स्वतन्त्रतापूर्वक करता है तो उसका प्रभाव दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पड़ता है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्वतन्त्रता का नियमन किया जाय। स्वतन्त्रता की भी एक सीमा है। राज्य स्वतन्त्रता की इस सीमा को निर्धारित करता है और विधान द्वारा उसका नियमन करता है। जो व्यक्ति उस सीमा को पार करके दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा डालता है उसे दंड दिया जाता है। इस प्रकार का नियमन और नियंत्रण समाज द्वारा भी होता है, किन्तु उस नियमन के पीछे भय नहीं होता। बहुत से सामाजिक नियम ऐसे हैं जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने से एक व्यक्ति को रोकते हैं। मनुष्यों की पारस्परिक व्यक्तिगत ज्यादतियों तथा अन्यायों को रोकने के लिये राज्य विधान द्वारा व्यक्तियों के कार्यों व उनके पारस्परिक व्यवहारों का रूप निर्धारित कर विधान के प्रतिकूल कार्य व व्यवहार पर रोक लगाता है। नीचे हम ऐसी रुकावटों पर दृष्टि डालेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन रुकावटों के विरुद्ध व्यक्ति के कौन-कौन से अधिकार हैं।

१—व्यक्तिगत स्वरक्षा का अधिकार—अपने शरीर की रक्षा, बचाव और स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति अपना अधिकार समझता है। बिना कारण वह इस अधिकार को खोना नहीं पसन्द करता। किसी मनुष्य को मेरे ऊपर आक्रमण करने का अधिकार नहीं है। कोई मेरे शरीर को कष्ट नहीं दे सकता। मैं स्वतन्त्रतापूर्वक जहाँ चाहूँ विचर सकता हूँ। जितने सर्वसाधारण मार्ग, स्थान, गृह, वाटिकायें आदि हैं उन सब पर मेरा भी उतना ही अधिकार है जितना अन्य व्यक्तियों का। मुझे ऐसा करने से कोई नहीं रोक सकता। यदि कोई व्यक्ति इसमें बाधा डालता है तो वह राज्य द्वारा दण्ड पाने का अधिकारी है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को बिना कारण डरा,

धमका नहीं सकता। वह किसी को अपशब्द भी बोल नहीं सकता। यदि कोई मुझ पर आक्रमण करे तो मुझे अपने शरीर की रक्षा करने का पूर्ण अधिकार है। यदि मैं अपने शरीर की रक्षा करूँ और ऐसी दशा में मुझ पर आक्रमण करने वाले की मृत्यु भी हो जाये तो मैं न्यायालय में दण्डनीय नहीं समझा जाऊँगा। इस प्रकार राज्य का विधान एक श्रेष्ठ नागरिक की पूर्ण रूप से रक्षा करता है। जिस प्रकार लोग परस्पर एक दूसरे के साथ अन्याय कर सकते हैं वैसे ही शासन भी प्रजा पर अनुचित प्रतिबंध लगाकर अन्याय कर सकता है। राज्य का विधान एक व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों से ही रक्षा नहीं करता, वह उसकी शासन के अत्याचारों से भी रक्षा करता है। इङ्गलैण्ड में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि किसी नागरिक को बिना न्यायालय की आज्ञा के कारागार में नहीं डाला जा सकता न अन्य कोई दण्ड शासन द्वारा दिया जा सकता है। इस व्यक्तिगत अधिकार के सुरक्षण के लिये तीन प्रकार के उपाय हैं—

(१) अनुचित आवर्जन (गिरफ्तारी) का प्रतिकार किया जा सकता है।

(२) वैयक्तिक स्वतन्त्रता संबंधी विधि (Habeas Corpus Act) की शरण ली जा सकती है।

(३) साधारणतया न्यायलय में अपील की जा सकती है।

(१) अनुचित आवर्जन का प्रतिकार इस प्रकार हो सकता है कि न्यायालय द्वारा उसे (अनुचित आवर्जन करने वाले को) दण्ड दिलवाया जा सकता है अथवा अपराध के अनुसार उससे क्षति पूर्ति कराई जा सकती है। अर्थात् उससे कुछ निश्चित धन मानहानि के बदले में लिया जा सकता है। इस प्रकार की कारवाई शासनीय अथवा अशासनीय, दोनों प्रकार के व्यक्तियों के विरुद्ध की जा सकती है।

(२) "वैयक्तिक स्वतन्त्रता" (Habeas Corpus) के अनुसार कारावास में डाला हुआ व्यक्ति न्याय के लिये सार्वजनिक न्यायालय में न्याय करा सकता है। अतः शासन किसी व्यक्ति को अन्यायपूर्वक पकड़ कर कारावास में नहीं डाल सकता और शासन के कर्मचारियों को विधान के अनुसार कार्य करना पड़ता है।

(३) नागरिक, राज कर्मचारियों तथा अन्य लोगों के अनुचित व्यव-

हार के लिये न्यायालय का आश्रय लेकर उन्हें दण्ड दिलवा सकते हैं। सरकार की अनुचित आज्ञा के विरुद्ध न्यायालय में अपील कर सकते हैं। 'व्यक्तिगत भाषण' लेख तथा सभा में सम्मिलित होने वाली स्वतन्त्रता को न्यायालय का आश्रय लेकर सुरक्षित रखा जा सकता है।

२—विचार, भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति को नुसार विचार करने का अधिकार है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कमरे में बैठकर मनुष्य जो चाहे सोच-विचार करता रहे। वास्तव में यह अभिप्राय है कि मनुष्य किसी विषय पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने र प्रकट कर सके, उसे इस बात का भय न रहे कि अमुक बात, चाहे वह ही क्यों न हो, कहने से उसे किसी प्रकार की आपत्ति में पड़ना पड़ेगा। राज्य में प्रत्येक नागरिक को विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है।

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना और विचार को प्रकट करना अत्यन्त आवश्यक है उसी प्रकार इस बात की श्यकता है कि प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक प्रत्येक विषय पर वादविवाद सके। मनुष्य को वादविवाद करने और भाषण देकर अथवा पत्र-पत्रि- ं में लेख द्वारा अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार होना ये। प्रत्येक जनतन्त्र राज्य में नागरिकों को विचार करने की, वादविवाद की और भाषण तथा लेख द्वारा अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण न्त्रता होती है। जिस राज्य में लोगों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त होती, वह राज्य कभी जनतन्त्र नहीं हो सकता। सामान्य समय में कभी ं के विचार, भाषण और लेखन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध एक जन- राज्य में नहीं लगाया जाता परन्तु असामान्य समय में जिस समय किसी देश से युद्ध हो रहा हो तो उस दशा में प्रतिबंध लगाना आवश्यक हो ा है। क्योंकि जिस देश में लोगों को अपने विचार प्रकट करने का ास होता है वहां लोग प्रत्येक विषय पर अपने विचार स्वतन्त्रता पूर्वक र करते रहते हैं। ऐसे असाधारण समय में शत्रु देश के अनेक गुप्तचर में आकर उस देश की निर्बलता की खोज करते हैं। परिणाम यह होता क जन साधारण सब प्रकार की बातों को स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं और के गुप्तचर उन बातों से लाभ उठाकर देश की निर्बलता को जानकर प्रकार से कार्य करके देश को हानि पहुँचा कर उसे विजय कर लेते हैं।

अतः किसी भी प्रकार के जनतन्त्र राज्य में ऐसे असामान्य समय में लोगों के विचार, भाषण और लेखों पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है जिससे देश की किसी कमी का पता शत्रु को न चल जाये और वह उससे लाभ न उठा सके। आधुनिक काल में लगभग सब देशों में इस प्रकार की स्वतन्त्रता लोगों को प्राप्त है। परन्तु एक समय ऐसा था जब अधिकतर देशों में लोगों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त न थी। यूनान के जनतन्त्र नगर राज्यों में भी लोगों पर कहीं कहीं विचार, भाषण और लेखों पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। सुकरात का विचार था कि मैं विचारों को प्रकट करने पर प्रतिबन्ध लगाने से मृत्यु को अधिक अच्छा समझता हूँ। इंगलैंड में मिल्टन, सिडनी, लॉक और जे० ऐस० मिल ने इस बात पर बड़ा जोर दिया था कि मनुष्यों को अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने का अधिकार होना चाहिये।

विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होने का यह अभिप्राय नहीं है कि चाहे जिससे चाहे कुछ कह दिया जाय। किसी के लिये अपमान या निन्दा के शब्द बोलने का किसी व्यक्ति को अधिकार नहीं है। ऐसी निन्दा या अपमान राज्य से दण्डनीय होता है क्योंकि इससे पारस्परिक दुर्भावना बढ़ती है जिसको मिटाना ही राज्य का कर्तव्य है। यदि सार्वजनिक रूप से कोई व्यक्ति दूसरे की निन्दा करता है तो उस पर न्यायालय में मुकदमा चलाया जा सकता है जिसके फलस्वरूप निन्दक को दण्ड मिल सकता है। अतः यह आवश्यक है कि विचार, भाषण तथा लेख की स्वतन्त्रता होते हुए भी इस अधिकार का कभी दुरुपयोग न किया जाय और एक श्रेष्ठ नागरिक की भाँति प्रत्येक कार्य सोच विचार कर विवेक के साथ, सद्‌भावना और प्रीति को कम न करते हुये, किया जाय।

राज्य तथा शासन की आलोचना करने का अधिकार—जनतन्त्र राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को शासन के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार है। नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे शासन के कार्यों की जानकारी रक्खें। यदि शासन में किसी प्रकार का भ्रष्टाचार अथवा घूसखोरी चल रही हो तो उसको जनता पर प्रकट करना आवश्यक है। ऐसा तभी हो सकता है जब लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार प्रकट करने का अधिकार हो। लोगों को भी यह चाहिये कि वे अपने उत्तरदायित्व को समझें और व्यर्थ शासन की आलोचना न करें क्योंकि शासन की व्यर्थ आलोचना करने से शासन निर्बल होता है। शासन का भी यह कर्तव्य है कि आलोचना करने वालों के भाषण तथा लेखों पर ध्यान दे और जो जो त्रुटियाँ शासन में दिखलाई जायें उन्हें दूर

करने का प्रयत्न करे अन्यथा शासन संकट में पड़ सकता है। शासन को सदैव इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि लोगों के विचारों का बड़ा प्रभाव होता है। लोगों का भाषण और लेख बड़ी शक्ति रखता है। भाषण और विचारों की स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य जो चाहे राज्य तथा शासन के विषय में भाषण दे तथा लेख लिखे। प्रत्येक मनुष्य को ऐसा न करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य शासन की नीति को समझने की बुद्धि नहीं रखता है। केवल राजनीतिज्ञ अथवा राजशास्त्रवेत्ता ही राज्य तथा शासन की नीति को भली प्रकार से समझ सकते हैं। इन्हीं लोगों को राज्य अथवा शासन की आलोचना करने का अधिकार है। अन्य व्यक्ति यदि ऐसा करते हैं तो वह आलोचना बेकार होती है और अनुचित आलोचना संकट का कारण बन सकती है। प्रत्येक मनुष्य को राज्य अथवा शासन की आलोचना नहीं करनी चाहिये। जो वैद्यक नहीं जानता है उसे रोगी पुरुष का इलाज करने का कोई अधिकार नहीं है।

मुद्रणालय तथा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता—मुद्रणालय की स्वतन्त्रता के नियमन करने के विषय में दो प्रकार के विधान हैं। इङ्गलैंड में विधान के अनुसार किसी विषय को मुद्रणालय द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है और इस कार्य के लिये किसी विशेष सरकारी अनुमान पत्र (licence) लेने की आवश्यकता नहीं होती है। सिनेमा चित्र तथा नाटकों के अतिरिक्त किसी विषय को मुद्रण करने पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है और न प्रकाशन के लिये राज्य-कोष में प्रतिभू के रूप में कुछ द्रव्य ही जमा करना पड़ता है। "मुद्रण विधान को तोड़ने वालों पर न्यायाधीश और जूरी द्वारा साधारण न्यायालयों में मुकदमा होता है। सब प्रकार के निन्दक लेखों के मुकदमों का निर्णय जूरी द्वारा किया जाता है चाहे मुद्रणालय राज्य विधान का उल्लंघन करे अथवा न करे।"* इङ्गलैंड में पत्र-पत्रिकाओं के लिये वही विधान हैं जो नागरिकों के लिये हैं। फ्रांस में ऐसा नहीं है वहाँ मुद्रणालय के संबंध में विशेष विधान हैं और मुद्रणालय सम्बन्धी विधानों का उल्लंघन करने वालों पर मुकद्दमा साधारण न्यायालयों में नहीं होता उनके मुकद्दमे का निर्णय करने के लिये विशेष अधिकरण (अदालत) की नियुक्ति की जाती है। फ्रांस की सरकार का यह सिद्धान्त है कि भाषण स्वातंत्र्य संबन्धी विधानों का उल्लंघन करनेवालों को दण्ड ही न मिलना चाहिये प्रत्युत

---

* आर० एन० गिलक्रिस्ट—प्रिंस्पिल्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ १५१

लोगों की विचार धारा को उचित दिशा में ले जाना चाहिये लोगों के विचारों को पथप्रदर्शन करना राज्य का कार्य है। इन दोनों प्रकार के विधानों में हमारे विचार से इङ्गलैण्ड के विधान अधिक अच्छे हैं। किसी सभ्य तथा जनतन्त्र राज्य में मुद्रण संबंधी बन्धनों को लोग पसन्द नहीं करते हैं। संवाद अथवा समाचार नियंत्रण, अनुमति पत्र, द्रव्य प्रतिभूति आदि प्रतिबन्धों को जनता अनुचित समझती है। जनता साधारणतया किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं पसन्द करती। मिल्टन का कथन है कि "जो नर हत्या करता है, वह एक विवेकशील जीव की अर्थात् ईश्वर की प्रतिमा की हत्या करता है, परन्तु जो एक अच्छी पुस्तक को नष्ट करता है वह स्वयं विवेक की हत्या करता है और ईश्वर की मूर्ति की हत्या करता है"। फिर उसने एक स्थान पर लिखा है कि पुस्तकों पर निर्णय देने वाला न्यायाधीश विशेष रूप से अति विद्वान, अध्ययनशील और न्यायी होना चाहिये।

३—व्यक्तिगत रूप से कार्य करने की स्वतन्त्रता—जे० ऐस० मिल ने अपनी 'लिबर्टी' नामक पुस्तक में केवल विचार, भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता का ही समर्थन नहीं किया है बल्कि व्यक्तिगत रूप से कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता पर भी बड़ा जोर दिया है। उसका मत है कि मनुष्य के व्यक्तिगत कार्य दो प्रकार के होते हैं एक तो वे जिनका सम्बन्ध केवल उसी से होता है और अन्य लोगों से नहीं होता। दूसरे वे जिनका सम्बन्ध अन्य लोगों से होता है। वे व्यक्तिगत कार्य जिनका सम्बन्ध केवल कर्त्ता से ही होता है, अन्य लोगों से नहीं ऐसे कार्यों में किसी को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। पूर्णरूप से व्यक्तिगत कार्यों में न तो राज्य को ही हस्तक्षेप करने का अधिकार है और न समाज को ही। राज्य को अथवा समाज को उन व्यक्तिगत कार्यों में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है जिनका संबंध अन्य लोगों से है। मिल का कथन है कि इस प्रकार के कार्य जैसे अपव्यय, मदोन्मत्ता, द्यूत (जुआ), आदि ऐसे कार्य हैं, कि यदि इन कार्यों का करने वाला अपने कुटुम्ब के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है, ऋण को चुकाता है, और अपने कार्य की उपेक्षा नहीं करता तो ऐसे मनुष्य के ऐसे किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। मिल के इस मत से हम सहमत नहीं हैं। राज्य के सावयव सिद्धान्त के मानने वालों का मत है कि राज्य एक शरीर के समान है और प्रत्येक व्यक्ति उसका अंग है। राज्य के अंग की बुराई का प्रभाव राज्य पर अवश्य पड़ेगा। वास्तव में मनुष्य का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो समाज से किसी न किसी प्रकार

संबंद्ध नहीं है। मनुष्य को अपना स्वास्थ्य भी जो बिलकुल निजी वस्तु है खराब करने का कोई अधिकार नहीं है। मिल स्वयं एक स्थान पर लिखता है कि यदि एक व्यक्ति एक ऐसा पुल पार करता है जिसके पार करने में उसके जीवन का भय हैं तो अन्य व्यक्तियों का कर्तव्य है कि उसे बलपूर्वक ऐसा करने से रोकें। व्यक्तिवादियों का सिद्धान्त है कि मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति पर ही समाज की उन्नति निर्भर है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत उन्नति होने से समाज की उन्नति स्वतः हो जायगी। अतः मिल के सिद्धान्त में कुछ सुधार करने की आवश्यकता है। वास्तव में किसी व्यक्ति को भी व्यक्तिगत कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिये क्योंकि उसके व्यक्तिगत कार्यों का यद्यपि समाज अथवा राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं हैं किन्तु उसका व्यवहार दूसरों के लिये उदाहरण बन सकता है। यदि उसका व्यवहार उसी तक सीमित रहते हुये भी अवाञ्छनीय है तब भी वैसा ही व्यवहार देखा देखी सब करने लगें तो समाज की हानि होगी।

४–सामूहिक रूप से कार्य करने की स्वतन्त्रता—सन् १७९३ की फ्रांस की अधिकार घोषणा (Declaration of Rights) में विचार प्रकट करने के अधिकार के साथ-साथ इस अधिकार की भी घोषणा की गई थी कि मनुष्यों को शान्तिपूर्वक सभाओं में एकत्र होने का अधिकार है। बेल्जियम में घर के भीतर सभा करने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है परन्तु घर के बाहर सार्वजनिक स्थान पर सभा करना पुलिस विधान के अन्तर्गत आ जाता है। इङ्गलैण्ड में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। चाहे निजी घर में कोई सभा की जाय, चाहे किसी सर्वसाधारण स्थान पर कोई सभा की जाय, सभा में एकत्र होने के सम्बन्ध में वहाँ किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। लोगों को कहीं भी एकत्र होकर सभा करने का अधिकार है। जब तक लोग राज्य के विधान के विरुद्ध कोई भाषण नहीं देते अथवा राज्य के विधान को नहीं तोड़ते तब तक उनको सभा में एकत्र होने और भाषण देने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। वास्तव में इस प्रकार की सभाओं पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। प्रतिबन्ध की आवश्यकता केवल उसी समय पड़ती है जब शान्ति भंग अथवा झगड़ा होने का भय हो, अन्यथा नहीं। रिशी (Ritchie) का कथन है कि "नागरिक की शिक्षा का यह आवश्यक अंग है कि बिना सिर फुड़ऊअल किये हुए लोगों को भिन्न भिन्न प्रकार की सम्मतियां प्रकट करने का और सुनने का अवसर दिया जाय। चाहे तो ऐसा समाज द्वारा किया जाय चाहे शासकों द्वारा"।

५–संवास बनाने का अधिकार—प्राचीनकाल में जब मनुष्यों का जीवन साधारण था उसमें किसी प्रकार की जटिलता नहीं आई थी, उस समय मनुष्य-समाज में अधिक संवास न थे। लोग उस समय देवताओं की पूजा करने के लिये एकत्र होते थे, अथवा व्यापार के लिये संवास बनाते थे। धार्मिक और व्यापारिक संवास के अतिरिक्त अन्य प्रकार के संवासों का वर्णन प्राचीन काल के इतिहास में नहीं दिखाई देता। स्वाभाविक संवास मनुष्यों के कुटुम्ब तथा जातियां थीं। परन्तु ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जा रही है त्यों त्यों संवास भी बढ़ते जा रहे हैं। भिन्न भिन्न धर्मों के प्रचलित होने से बहुत से धार्मिक संवास स्थापित हो गये हैं। अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् पूंजीपतियों और श्रमिकों के संवास स्थापित हुए, रेल, डाक, तार, आदि के आविष्कार हो जाने के कारण रेलवे-जन-संवास, डाकघर-जन-संवास आदि अनेकों संवास स्थापित हो गये हैं। विद्यार्थी संघ, अध्यापक संघ, चपरासी संघ आदि अगण्य संघ, स्थापित हो गये हैं। प्रत्येक राज्य में आधुनिक काल में अनेकों संवास हैं। प्रत्येक संवास अपने संवास के सदस्यों के हित के लिये कार्य कर रहा है। इन संवासों को उस समय तक कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है जब तक वे राज्य के विधान के अन्तर्गत कार्य करते हैं। जब वे राज्य के विरुद्ध कार्य करने लग जाते हैं तो उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, और उन्हें अवैधानिक घोषित कर दिया जाता है। जनतन्त्र राज्य में मनुष्यों को संघ अथवा संवास स्थापित करने और उनमें भाग लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

६—धार्मिक स्वतन्त्रता—सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में धर्म के नाम पर बड़े बड़े अत्याचार हो चुके हैं भारतवर्ष में भी लगभग एक सहस्र वर्ष से धर्म के नाम पर बड़े बड़े धार्मिक और राजनैतिक अत्याचार हो चुके हैं। यूरोप तथा भारतवर्ष में अच्छे शासकों ने धार्मिक सहिष्णुता दिखाई और अपने राज्य में धर्म-युद्ध नहीं होने दिये। आधुनिक काल में संसार में जनतन्त्र राज्य अधिक हैं। जनतन्त्र राज्यों में जिस प्रकार लोगों को अन्य सब प्रकार की आवश्यक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हैं उसी प्रकार धार्मिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त है। एक अच्छे जनतन्त्र राज्य में प्रजा अपनी इच्छानुसार धर्मों को मानती है और राज्य लोगों के धार्मिक विचारों में बाधा नहीं डालती है। राज्य का यह कर्तव्य है कि प्रजा जिस प्रकार के धर्म को माने उसे मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे। प्रत्येक जनतंत्र राज्य में इस प्रकार का विधान धर्म के सम्बन्ध में होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता

होगी। रूसो का कथन है कि "उन धर्मों के साथ सहिष्णुता दिखानी चाहिये जो धर्म दूसरों के प्रति सहिष्णुता दिखलाते हैं और जब तक नागरिकता के कर्तव्यों के विरोध में उनके सिद्धान्तों में कोई अनुचित बात नहीं पाई जाती।" * प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार धर्म मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता राज्य द्वारा होनी चाहिए। इस बात को विधान में भी स्पष्ट कर देना चाहिए। अन्य आवश्यक अधिकारों की भांति किसी भी धर्म का अनुयायी होने की स्वतंत्रता भी प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु धर्म के नाम पर समाज व राज्य विरोधी व्यवहार सदस्य नहीं हो सकता।

७—**राज्य का विरोध करने का अधिकार**—प्रत्येक मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में इस बात का निर्णय करना चाहिए कि अमुक विधान सर्वसाधारण के हित का है अथवा नहीं। यदि कभी ऐसा प्रतीत हो कि अमुक विधान सर्वसाधारण के हित का नहीं है तब भी एक जनतन्त्र राज्य में प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि उस का उल्लंघन न करे और वैधानिक रीति से ऐसे अनुचित विधान को नष्ट करने का प्रयत्न किया जाय। परन्तु यदि वैधानिक रीति से लोग इस कार्य में सफल न हों तो उन्हें राज्य का विरोध करने का अधिकार है। ऐसी स्थिति आने पर जनता का विरोध मरने को इसलिये बाध्य हो जाती है कि उसे विरोध के अतिरिक्त उस दोष को दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं दिखाई देता।

८—**राज्य का दण्ड देने का अधिकार**—जिस उपाय से मनुष्य असदाचार से निवृत्त और सदाचार में प्रवृत्त किया जाता है, उसे दंड कहते हैं और जिससे जन्तु का दमन किया जाता है, उस उपाय अथवा साधन का नाम भी दंड है।† शुक्रनीतिसार की दंड की यह परिभाषा व्यापक है क्योंकि इसके अन्तर्गत दण्ड के सभी रूप आ जाते हैं। जिस डंडे या लाठी से किसी के मारते हैं, वह तो दंड है ही, परन्तु जिस उपाय से अप्रिय कार्य रोका जाता है, वह भी दंड है। यह दो प्रकार का है। एक किसी पूर्वकृत अपराध के लिये शास्ति देता है और दूसरा भविष्य में कोई अपराध होने से रोकता है। किसी को दण्डनीय ठहराने में निर्णायक को कोई आनन्द नहीं मिलता,

---

* जे० जे० रूसो-सोशल कॉन्ट्रैक्ट पुस्तक ४ अध्याय ८।

† निवृत्तिरसादाचाराद्दमनं दण्डतश्चयत्।
येन सन्दम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः॥ ४० ॥ अ० ४

क्योंकि वह तो रोग की चिकित्सा की भांति दोष दूर करता है *। गर्ग ने ठीक कहा है कि अपराधियों को जो दण्ड दिया जाता है, वह राष्ट्र की विशुद्धि के लिये है, क्योंकि उसके बिना मात्स्य न्याय फैलता है।† परन्तु दण्ड की सामर्थ्य बहुत अधिक है और भीष्म का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि जिसके अधीन सब कुछ है वह केवल दण्ड ही है ‡। कौटिल्य का मत है कि पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुसार जो राजा ठीक दण्ड देता है वही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है +। दण्ड के द्वारा राजा चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों को अपने अपने धर्म कर्म में ठीक रख कर उचित मार्ग से चलाता है %। कौटिल्य ने दण्ड के तीन भेद करके फल भी बताये हैं। एक सुविज्ञात प्रणीत अर्थात् नीतिशास्त्र के ज्ञाता का दिया हुआ दंड है जिसका फल प्रजा को धर्म अर्थ और काम में लगाना है दूसरा दुष्प्रणीत अर्थात् काम, क्रोध और अज्ञान से दिया हुआ दंड है जिससे वानप्रस्थ और संन्यासी भी कुपित होते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या है ? तीसरा अप्रणीत अर्थात् जहां दण्ड देना, वहां न देना है। इसका फल मात्स्य न्याय है। दण्डधर के अभाव में सबल निर्बल को खाते हैं ※। परन्तु जब दण्ड द्वारा सबल से निर्बल की रक्षा की जाती है तो यह भी सबल हो जाता है।

---

* चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥ १ ॥
दण्ड नीति समुद्देश, नीति वाक्यामृत।

† अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये।
विनायेन न सन्देहो मात्स्य न्यायो प्रवर्त्तते ॥

‡ यस्मिन हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ॥ ८ ॥ शान्ति पर्व, अ० १२१

\+ दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथा दोषं समं धृतः ॥ अर्थ० अधि० ३ अ० १

% चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञान दण्डेन पालितः।
स्व धर्म कर्माभिरतो वर्त्तते स्वेषु वर्त्मसु ॥ १९ ॥ अर्थ०, अधि० अध्याय ४

※ सुविज्ञात प्रणीतो हि दण्डः प्रजां धर्मार्थ कामैर्योजयति ॥१४॥ दुष्प्रणीतः काम क्रोधाभ्यास ज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान् ॥ १५ ॥ अप्रणीतो हि मात्स्य

इस प्रकार दंड के तीन रूप हुए। एक केवल दंड, दूसरा बल और तीसरा व्यवहार। बल का प्रयोग कामन्दक ने दण्ड अर्थ में किया है।* महाभारत के अनुसार दण्ड का ही नाम धर्म और व्यवहार है। इसलिये दण्ड के तीन अर्थ हुए—

(क) बल व सेना, (ख) व्यवहार व धर्म व्यवस्था और (ग) दुष्टों का नियंत्रण, निग्रह व दमन। शुक्रनीतिसार में ठीक लिखा है कि बलियों के वश में सभी रहते हैं और दुर्बल के सभी शत्रु होते हैं। छोटे लोगों की जब यह बात है, तब राजाओं का तो कहना ही क्या है? † शुक्राचार्य का वचन है कि धन और प्रिय वचनों से पहले का अपनाया हुआ आपत्काल में जो राजा की रक्षा करता है, वह बल कहाता है। ‡ बल दो प्रकार का होता है एक स्वराष्ट्र में प्रजा की त्रुटियों व अपराधों के लिये दण्ड देने की शक्ति और दूसरा पर-राष्ट्र से युद्ध करनेवाला बल व सेना।

ऊपर यह बताया गया कि दण्ड क्या है। अपराधियों को दंड देना राज्य का कार्य है। प्रत्यक्ष रूप से देखा जाय तो दण्ड एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता परिमित होती है। दण्ड क्यों देना चाहिये? इस विषय में तीन सिद्धान्त हैं। इन्हीं तीन सिद्धान्तों के आधार पर दण्ड व्यवस्था को युक्तिसंगत बतलाया जाता है। यह तीन सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) प्रतिफलात्मक सिद्धान्त (Retributive theory)

(ख) निवर्त्तक सिद्धान्त (Deterrent theory)

न्यायमुद्भावयति ॥ १६ ॥ बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे ॥ १७ ॥ तेन गुप्तः प्रभवतीति ॥ १८ ॥ अर्थ० अधि० १ अध्याय ४।

* स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशोबलं सुहृत।
परस्परोपकारीद सप्तांगं राज्य मुच्यते ॥ १ ॥ नीतिसार सर्ग ४ अ० ७

† बलिनो वशगास्सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः।
भवन्त्यल्प जनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः ॥ ८६७ ॥ अ० ४

‡ धनेन प्रिय सम्भाषैर्यतश्चै व पुरार्जितम्।
आपदृभ्य स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम् ॥ शा० पर्व अ० ५६

(ग) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformatory theory)

(क) प्रतिफलात्मक सिद्धान्त—प्राचीन काल में यहूदियों में यह प्रथा प्रचलित थी जो जैसा करता था वैसा ही दण्ड उसे मिलता था अर्थात् यदि कोई किसी की टांग तोड़ देता था तो उसकी टांग तोड़ दी जाती थी। यदि कोई चोरी करता था तो उसके हाथ काट डाले जाते थे। जिस प्रकार का अपराध कोई व्यक्ति करता था उसी प्रकार का प्रतिफलात्मक दंड उसे दिया जाता था। "जैसे को तैसा" सिद्धान्त प्रयोग में लाया जाता था। हेगिल, ग्रीन और बोसांके के मतानुसार प्रतिफलात्मक सिद्धान्त का यह अभिप्राय नहीं है कि सार्वजनिक प्रतिहिंसात्मक अथवा प्रत्यपकारात्मक दंड दिया जाय। प्रतिहिंसा का प्रयोग मनुष्यों के सामाजिक पारस्परिक व्यवहार में हो सकता है परन्तु राजा और प्रजा के बीच में इस दण्ड का प्रयोग नहीं किया जा सकता। राज्य तथा व्यक्ति विशेष के बीच प्रतिहिंसा का प्रयोग असंभव है। ग्रीन का विचार है कि दंड का कोई सम्बन्ध प्रतिहिंसा से नहीं है और न होना ही चाहिये। प्रत्यपकारात्मक और प्रतिहिंसात्मक दंड की प्रथा को त्याग देना चाहिये। दंड का अभिप्राय यह होना चाहिये कि अपराधी को अपराध के बदले में ताड़ना हो और अन्य लोगों को ज्ञात हो जाय कि अपराध करने से दंड मिलता है, असामाजिक कार्य का परिणाम दंड है।

(ख) निवर्त्तक सिद्धान्त—ग्रीन और बोसांके ने इस सिद्धांत की व्याख्या की है। ये लोग इस बात को मानते हैं कि दंड में तीनों बातें सम्मिलित होनी चाहिये अर्थात् दंड प्रतिफलात्मक, निवर्त्तक तथा सुधारात्मक होना चाहिये। परन्तु वास्तव में अपराधी को दंड देने में इस बात का ध्यान रखा जाय कि दंड ऐसा हो और इस प्रकार दिया जाय कि अन्य अपराधी अपराध करने में भय खायें। ग्रीन का कथन है कि राज्य का उद्देश्य दंड देने में यह होना चाहिये कि "केवल अपराधी को दण्ड ही न दिया जाय न केवल उसे कष्ट ही दिया जाय न केवल इसलिये दंड दिया जाय कि वह भविष्य में ऐसा अपराध करने से डरे बल्कि ऐसा होना चाहिये कि अन्य अपराध करनेवाले इस दंड के विषय में विचार करके भयभीत हो जायँ और अपराध करने की हिम्मत न कर सकें।" यह प्रथा बहुत काल तक प्रचलित रही। जे० बेन्थम का कथन है कि "सार्वजनिक स्थान में दण्ड

---

* टी० ऐच० ग्रीन—लेक्चर्स आन दी प्रिंसिपल्स आफ पौलीटिकल आब्लीगेशन पृष्ठ १८२

देना चाहिये ताकि जनता उसे देखे और उससे प्रभावित हो," । एक बार एक अपराधी ने इंगलैंड में एक घोड़ा चुराया । जब न्यायाधीश ने उसके मुकदमे का निर्णय किया तो कहा कि "ए, पुरुष । तुझे इसलिये फांसी नहीं दी जायगी कि तुमने घोड़ा चुराया है, बल्कि इसलिये कि भविष्य में घोड़े चोरी न जायँ" । यह निवर्त्तक सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक स्थानों पर दंड दिया जाता था ताकि देखने वाले अपराध करने से डरें ।

(ग) **सुधारात्मक सिद्धान्त**--इस सिद्धान्त के मानने वालों का मत है कि अपराधी को सुधार कर फिर समाज में उसे एक भले आदमी के समान जीवन व्यतीत करने के योग्य बना देना ही दंड का ध्येय होना चाहिये । दंड सुधारात्मक होना चाहिये । लौम्ब्रोसो के अनुयायियों का मत है कि "अपराध एक निदान, शास्त्र संबंधी चमत्कार है, यह एक प्रकार की उन्मत्तता है, यह एक प्रकार का पैतृक अथवा अर्जित अध:पतन है ।" उनका कथन है कि अपराधी में अपराध के अवगुण अधिकतर जन्मजात होते हैं । कारावास के स्थान पर सुधारगृह, चिकित्सालय तथा पागलखाने स्थापित करने चाहिये । मनुष्य को अपराध करना समाज ही सिखाता है । कुछ अवगुण माता पिता के अनुचित प्रेम से बच्चों में आ जाते है और बड़े होकर वे समाज के लिये दु:खदायी सिद्ध होते हैं । कुछ अपराध माता पिता के उचित ध्यान न देने से बच्चे करने लगते हैं और बड़े होकर वे समाज को कष्ट देते हैं । अत: समाज का ही सुधार करना आवश्यक है । अपराध एक प्रकार का रोग है । इस अवगुण को दूर किया जा सकता है । और एक अपराधी का सुधार किया जा सकता है । एक व्यक्ति जो अपनी जीविका उपार्जन करने के लिये चोरी करता है उसे कोई कार्य अथवा उद्योग सिखा कर जीविका उपार्जन करने योग्य बना दिया जा सकता है ताकि वह एक भले आदमी के समान जीविका उपार्जन करके अपना जीवन व्यतीत कर सके । आजकल अधिकतर लोगों का यही विचार है । बहुत से मनोवैज्ञानिक इस बात का उपयोग कर रहे हैं और देखा गया है कि उनको इस कार्य में सफलता प्राप्त हुई है । वास्तव में मनुष्य राक्षस नहीं है । आवश्यकता ही मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती है । समाज में अपराधी मनुष्य को फिर से एक श्रेष्ठ पुरुष की भांति रहने को बाध्य किया जा सकता है । अपराधी को स्वावलम्बी बनाकर उसमें आत्म-सम्मान के भाव जाग्रत करके पुन: सज्जन बनाया जा सकता है । प्रतिफलात्मक और निवर्तक सिद्धांत की अपेक्षा यह सिद्धान्त अधिक अच्छा है । बहुत से अपराधियों का सुधार किया जा सकता है । मनुष्य वास्तव में जन्मजात

अपराधी नहीं होता है। मनुष्य गुण और अवगुण समाज से सीखता है अपराध कम करने के लिये समाज का सुधार करना आवश्यक है।

विशेष अध्ययन के लिये

जे० जे० रूसो —सोशल कॉन्ट्रैक्ट
डी० जी० रिशी —नेचुरल राइट्स
ऐच० रैशडेल —थ्योरी आफ गुड ऐन्ड ईविल
शोपनहाइर —रैशनेल आफ पनिशमैंट
जे० मिल्टन —एरियोपेजिटिका
जे० ऐस० मिल —लिबर्टी
ऐस० लीकॉक —अनसोल्वड रिडिल आफ सोशल जस्टिस
ऐच० जे० लैस्की —ग्रामर आफ पौलिटिक्स और लिबर्टी इन दी माडर्न स्टेट
ऐल० टी० हावहाउस —ऐलिमैंट्स आफ सोशल जस्टिस
जी० डब्ल्यू० ऐफ हेगिल —फिलॉसफी आफ राइट्स
डब्ल्यू० ई० हार्किग —लॉ ऐन्ड राइट्स
टी० एच० ग्रीन —प्रिंस्पिल आफ पोलीटिकल आब्लीगेशन
आर० एन० गिलक्रिस्ट —प्रिंस्पिल आफ पोलीटिकल साइंस
आर० जी० गैटिल —इन्ट्रोडक्शन टू पोलीटिकल साइंस
जी० ऐल डिकिन्सन —जस्टिस ऐन्ड लिबर्टी
सी० डी० बर्न्स —पोलिटिकल आइडियल्स
बी० बोसांके —फिलॉस्फीकल थ्योरी आफ दी स्टेट
लार्ड —प्रिंस्पिल आफ पौलीटिक्स
ऐन० वाइल्ड —ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट
—नीति वाक्यामृत महाभारत शान्तिपर्व

अध्याय १०

नागरिकता तथा प्रतिनिधित्व सिद्धान्त

इस पुस्तक में यह वर्णन किया जा चुका है कि शासन पद्धतियाँ कितने प्रकार की हैं और यह भी वर्णन किया जा चुका है कि संसार के इतिहास में जितनी शासन प्रणालियां प्रचलित रहीं उन सब में सब से श्रेष्ठ जनतन्त्र-शासन प्रणाली है। आधुनिक काल में सब सभ्य देशों में जनतन्त्र-शासन प्रणाली द्वारा शासन हो रहा है। जनतन्त्र शासन प्रणाली में निर्वाचन का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यवस्थापक सभाओं के संगठन में एक मुख्य प्रश्न यह रहता है कि उसमें निर्वाचन प्रथा का उपयोग कहां तक, तथा किस प्रकार किया जाता है ? अंग्रेजों के शासनकाल में भारतवर्ष में लगभग साढ़े तीन करोड़ स्त्री पुरुषों को मताधिकार प्राप्त था और अब स्वतन्त्र भारतवर्ष में नवीन विधान के अनुसार वयस्क मताधिकार दिया गया है। प्रत्येक राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ज्ञान प्राप्त करे कि नागरिक किसे कहते हैं, नागरिकता क्या है, मताधिकार किसे कहते हैं, निर्वाचन के क्या नियम हैं, इत्यादि। इस अध्याय में इन्हीं बातों का वर्णन किया जायगा।

नागरिक शब्द का अर्थ नगर अथवा ग्राम का निवासी है। राजनैतिक दृष्टि से इसका अर्थ अधिक विस्तृत है। यह न तो निवास ही का अर्थ देता है और न उससे पृथक् है। प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में नागरिक उसे कहते थे जो राज्य में रहता था और उन अधिकारों से लाभ उठाता था जिन्हें राज्य उसे देता था। क्योंकि यूनानी राज्य केवल एक नगर तक ही सीमित था इसलिये राज्य के समस्त अधिकारों के भावों को नागरिक कहते थे। यूनान के इतिहास से हमको पता चलता है कि वहां के नगर राज्यों में तीन प्रकार के लोग रहते थे (१) नागरिक (citizens), (२) दास (slaves) और (३) आदेशी (aliens)।

(१) नागरिक—अरस्तू ने 'नागरिक' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है— "नागरिक वह व्यक्ति है जो नगर के शासन न्यायालय सम्बन्धी

झगड़ों के निवटाने में भाग लेन का अधिकारी है"। वाटल (Vattel) का मत है कि नागरिक सभ्य समाज के वे सदस्य हैं जो कुछ कर्त्तव्यों के द्वारा समाज से सम्बद्ध हैं, जो राज्य शासन के आज्ञाकारी हैं और राज्य शासन में जिनको हस्तक्षेप करने का अधिकार है। एक मुकदमे में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश ने नागरिकों की व्याख्या करते हुए लिखा था कि "नागरिक वे हैं जो उस राज्य के सदस्य हैं, जिसमें वे रहते हैं। उन्हीं से राज्य संगठित होता है। सर्वसाधारण के हित के लिये, वैयक्तिक अथवा सामूहिक रक्षा के लिये वे राज्य के साझीदार होते हुए उसके शासन के आज्ञापालक होते हैं"। प्रत्येक राज्य के विधान नागरिकों के योगक्षेम के लिये होते हैं। इन विधानों से नागरिकों को पारस्परिक व्यवहार में सुविधा होती है। परन्तु विधानों का उपयोग तभी है जब नागरिक उन्हें मानें और उनका पालन करें। नागरिक राज्य के विधानों का पालन इसलिये करते हैं कि विधान का पालन न करने में उन्हें राज्य की ओर से दण्ड मिलता है, अथवा नागरिक यह समझते हैं कि विधान हमारे हित के लिये हैं इसलिये उनका पालन करना चाहिये।

नागरिकता प्राप्त करने की दो रीतियां हैं। एक जन्म से दूसरी राज्य द्वारा प्रदान की हुई। नागरिकता और राष्ट्रीयता का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। बिना राष्ट्रीयता निश्चित हुए नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। राष्ट्रीयता निश्चित करने के भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न नियम हैं। कहीं तो रक्त-सम्बन्ध से राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है और कहीं जन्मभूमि से अर्थात् कहीं तो मनुष्य की राष्ट्रीयता उसके माता पिता की राष्ट्रीयता से और कहीं इन दोनों में से किसी एक की राष्ट्रीयता से निश्चित की जाती है, कहीं जन्मभूमि से राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। कहीं इन दोनों बातों से राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। प्राचीन काल में यूरोप और एशिया के लोग माता पिता के ही सम्बन्ध से मनुष्य की राष्ट्रीयता मानते थे। रोम के विधान में भी यही बात थी। आधुनिक काल में अधिकांश देशों में माता पिता के ही सम्बन्ध से मनुष्य की राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। आस्ट्रिया देश के विधान द्वारा "आस्ट्रिया के नागरिकों के लड़के चाहे कहीं उत्पन्न हुए हों या रहते हों, आस्ट्रिया के नागरिक समझे जायेंगे"। फ्रान्स के विधान द्वारा फ्रेंच माता अथवा पिता से जन्मी हुई सन्तान चाहे कहीं उत्पन्न हुई हो फ्रान्स की नागरिक समझी जायगी। इटली देश के विधान द्वारा उन सब लोगों को इटली का नागरिक समझा जाता है जिनका जन्म

इटालियन पिता से हुआ हो। भारतवर्ष में भी यही नियम है। कहीं कहीं जन्मभूमि से राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। अमेरिका और इंगलैंड अपने राज्यों में विदेशी माता पिता से उत्पन्न सन्तानों को अपना नागरिक मान लेते हैं तथा अंग्रेज अथवा अमेरिकन माता पिता द्वारा विदेश में जन्मे हुए बालकों को भी अपना नागरिक मान लेते हैं। यदि फ्रांस देश के माता पिता से अमेरिका अथवा इंगलैंड में कोई बच्चा उत्पन्न हो तो उसे फ्रांस देश के विधान के अनुसार फ्रांस की और अमेरिका तथा इंगलैंड देशों के विधानों के अनुसार इन दोनों देशों की नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार होगा।

आधुनिक काल के राजनीतिज्ञ जन्मभूमि की अपेक्षा माता पिताओं के ही सम्बन्ध से मनुष्य की राष्ट्रीयता निश्चित करने के पक्ष में हैं। उनका मत है कि केवल जन्मभूमि से राष्ट्रीयता निश्चित नहीं की जानी चाहिये, क्योंकि वह प्रणाली दूषित है और इससे कुछ लाभ भी नहीं है। उदाहरणार्थ यदि फ्रान्स देश के नागरिक स्त्री पुरुष यात्रा करने के लिये जायें और मार्ग में इंगलैण्ड में उस स्त्री के बच्चा उत्पन्न हो जाय तो इंगलैण्ड का नागरिक बन जायगा। वयस्क होने पर उसे वह सब अधिकार प्राप्त हो जायेंगे जो एक इंगलैण्ड के नागरिक को होते हैं। परन्तु इससे कोई लाभ नहीं हैं। उस बच्चे के हृदय में इंगलैण्ड के लिये कभी वह प्रेम नहीं हो सकता जो फ़्रान्स के लिये होगा। इसीलिये माता-पिताओं के सम्बन्ध से राष्ट्रीयता निश्चित करना अधिक उचित समझा जाता है। संयुक्त-राज्य अमरीका में एक बार वहां के सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश ने किसी मुकदमे का निर्णय करते हुए यह कहा था कि माता पिता के सम्बन्ध से ही नागरिकता का निश्चित करना अधिक उचित है।

देशीयकरण (Naturalization) द्वारा भी नागरिकता प्राप्त हो जाती है। यदि कोई विदेशी पुरुष किसी अन्य देश में निवास करे और वहां की कुछ शर्तों को पूरा करे तो वह उस देश की नागरिकता का अधिकार प्राप्त कर लेता है। इस प्रथा द्वारा नागरिकता के अधिकार प्राप्त करने को 'देशीयकरण' कहते हैं। देशीयकरण निम्न प्रकार से होता है।

(१) यदि एक राज्य के नागरिक के यहां अन्य राज्य का लड़का दत्तक बनकर चला जाय तो 'दत्तक' नवीन राज्य का नागरिक बन जायगा।

(२) यदि एक राज्य का नागरिक किसी अन्य राज्य की स्त्री से विवाह कर ले तो उस स्त्री को अपने पुरुष के राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जायगी।

(३) यदि एक राज्य का नागरिक दूसरे राज्य में भूमि मोल ले ले तो वह उस राज्य का नागरिक हो जायगा जहाँ उसने भूमि मोल ली है।

संसार के भिन्न भिन्न देशों में देशीयकरण द्वारा नागरिकता के अधिकार प्राप्त करने के भिन्न भिन्न नियम हैं। सन् १८७० से पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल गौर वर्ण के लोगों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। सन् १८७० में वहाँ एक विधान बनाया गया जिसके द्वारा हब्शियों को भी नागरिकता का अधिकार दे दिया गया परन्तु ब्रह्मी, जापानी, चीनी और भारतवासियों को 'देशीयकरण' द्वारा नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सका क्योंकि न तो ये लोग गौर वर्ण ही थे और न हब्शी ही। संयुक्त राज्य अमेरिका में देशीयकरण द्वारा नागरिक बनने के लिये बड़ी उच्च श्रेणी के नैतिक चरित्र की आवश्यकता है। वहां अराजकतावादी को, षड्यन्त्र रचने वाले को, सरकारी कर्मचारियों की हत्या करने वाले को तथा हत्या करनेवाले के पक्षपाती को, वेश्यापुत्र को, व्यवस्थित शासन में अविश्वास रखने वाले को, विदेशी शत्रु, आदि को देशीयकरण द्वारा नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। सन् १९०६ के विधान के अनुसार संयुक्तराज्य अमेरिका के नागरिक को अंग्रेजी भाषा का साधारण ज्ञान भी आवश्यक है। मैक्सिको में डाकू, चोर, राजद्रोही, दास रखने वालों, हत्यारों, तथा किसी अपराध में दंड पाये हुओं को नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। वहाँ का नागरिक बनने के लिये मनुष्य को किसी न किसी व्यवसाय अथवा उद्योग धंधे में अवश्य लगा होना चाहिये क्योंकि बेकार पुरुष को नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता है। पोर्चुगाल और स्वेडन में देशीयकरण के लिये मनुष्य को इस बात का प्रमाण देना आवश्यक है कि उसके पास जीविका निर्वाह करने का साधन है। स्वेडन में सच्चरित्रता के लिये भी प्रतिभू (जमानत) ली जाती है। जर्मनी में नागरिक को इस बात का प्रमाण देना पड़ता है कि वह अपना, अपने कुटुम्ब का तथा अपने ऊपर आश्रित जनों का पालन-पोषण कर सकता है। पेरू में भी देशीयकरण के लिये जीविकोपार्जन का साधन होना अत्यन्त आवश्यक है। नार्वे में देशीयकरण के लिये नागरिक को अपराध न करने की प्रतिभू देनी पड़ती है।

भिन्न-भिन्न राज्यों में देशीयकरण के लिये एक निश्चित समय तक निवास करने की आवश्यकता है मैक्सिको, स्विट्जरलैण्ड, अर्जेनटाइन, और पोर्चुगाल में देशीयकरण के लिये दो वर्ष तक निवास करना आवश्यक है। स्वेडन में तीन वर्ष तक निवास करना आवश्यक है। परन्तु विद्वान् तथा

कलाकौशल में विशेष रूप से निपुण व्यक्ति अथवा आविष्कार कर्ता के लिये यह अवधि कम की जा सकती है। इटली में चार वर्ष तक निवास करने के पश्चात् नागरिकता प्राप्त होती है परन्तु सैनिकों तथा राजकर्मचारियों के लिये यह बंधन नहीं है। यदि इटालियन स्त्री का पति विदेशी हो तो उसके लिये तीन वर्ष इटली में निवास करने के पश्चात् नागरिकता प्राप्त होगी। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, नैदरलैंड्स, जापान और हंगरी में पाँच वर्ष के निवास की आवश्यकता है। साधारणतया देशीयकरण द्वारा इसी प्रकार नागरिकता के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है नागरिकता के लिये निवास की अवधि में कुछ रियायत भी की जा सकती है। जहाँ साधारणतया इंगलैंड में नागरिकता प्राप्त करने के पाँच वर्ष का निवास आवश्यक है वहाँ एक विदेशी को जो सम्राट् की नौकरी में है इतने समय तक निवास की आवश्यकता नहीं है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में सेना में नौकरी करने वाले विदेशी पुरुष को एक वर्ष निवास करने के पश्चात् नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो जाता है। फ़्रांस में भी विद्वान् आविष्कारक अथवा अन्य प्रकार के विशेषज्ञ को एक वर्ष के निवास के पश्चात् नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो जाता है अन्यथा वहाँ देशीय-करण द्वारा नागरिकता प्राप्त करने के लिये दस वर्ष का निवास करना आवश्यक है।

देशीयकरण से बड़े लाभ हैं। इससे प्रत्येक विदेशी को राज्य के वे सब अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जो इस राज्य के नागरिक को प्राप्त होते हैं। ब्रिटेन में जिस विदेशी को देशीयकरण द्वारा नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो जाता है उसे वहाँ के विधान के अनुसार अपने देश को छोड़ अन्य सब देशों में ब्रिटिश नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रथम महायुद्ध से पूर्व टर्की और रूस में वहाँ के विधान के अनुसार इन राज्यों का कोई नागरिक अपनी सरकार की आज्ञा के विरुद्ध यदि किसी अन्य देश में देशीय-करण करा लेता था तो भी वह इन देशों में अन्य देश का नागरिक नहीं समझा जाता था बल्कि अपने ही देश का नागरिक समझा जाता था। सन् १६०१ में इंगलैंड में देशीयकरण जांच कमेटी ने यह सिफारिश की थी जहाँ तक हो सके इंगलैंड के माता पिता से उत्पन्न हुए नागरिक तथा देशीयकरण द्वारा बने हुए नागरिक में कोई भेद न माना जाय। दोनों प्रकार के नागरिक प्रत्येक स्थान पर ब्रिटिश नागरिक माने जायें। विदेशों में भी उनको नागरिकता के समान अधिकार प्राप्त हों। संयुक्त राज्य (अमेरिका) में

देशीयकरण द्वारा जो लोग नागरिकता प्राप्त करते हैं उनके तथा अन्य नागरिकों के अधिकारों में कुछ भेद है। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का नागरिक प्रेसीडेन्ट अथवा उसका सहायक बन सकता है परन्तु देशीयकरण द्वारा जो लोग वहाँ की नागरिकता प्राप्त करते हैं उन्हें यह अधिकार प्राप्त नहीं है। अर्थात् देशीयकरण द्वारा जो व्यक्ति अमेरिका के संयुक्त राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेगा वह वहाँ का प्रेसीडेन्ट अथवा उसका सहायक निर्वाचित नहीं हो सकता। अन्य सब बातों में दोनों प्रकार के नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं।

अब यह जानना आवश्यक है कि नागरिकता का अधिकार किस प्रकार नष्ट हो जाता है। विदेशी के साथ विवाह करने से स्त्री की नागरिकता का ह्रास हो जाता है विदेशों में सेना की नौकरी करने से भी स्वदेश की नागरिकता जाती रहती है। यूरोप के बहुत से देशों में यही नियम है। विदेश की सेना में नौकरी करने वाला विदेशी समझा जाता है। पोर्चुगाल और बवेरिया में यह नियम है कि जब वहाँ के नागरिक अपने राज्य की उपाधि अथवा पदक के अतिरिक्त किसी अन्य राज्य की उपाधि या पदक स्वीकार कर लेते हैं तो वह अपने देश की नागरिकता खो देते हैं। अधिकतर राज्यों में फौजदारी के अपराध में दंड पा जाने के कारण लोग नागरिकता के अधिकार खो देते हैं। कुछ राज्यों का यह नियम है कि वहाँ का कोई नागरिक यदि विशिष्ट लम्बी अवधि तक देश के बाहर रहता है तो वह नागरिकता के अधिकारों से वंचित हो जाता है।

(२) दास—प्राचीनकाल में यूनान में नगर के सब निवासियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। जो लोग शिल्प तथा कृषि का कार्य करते थे उन्हें नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे ये लोग हैलट्स (दास) कहलाते थे। इनको न्यायालयों में अपना न्याय करने का तो अधिकार प्राप्त था परन्तु शासन कार्य में ये लोग भाग नहीं ले सकते थे। रोम में भी आरम्भ काल में सब नगर निवासियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। रोम में दो प्रकार के नगर निवासी होते थे। एक पैट्रीशियन्स दूसरे प्लैबियन्स, पहले प्लैबियन्स को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे, पन्रतु इन्होंने कुछ काल पश्चात् नागरिकता के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिये। मध्यकाल में दास प्रथा प्रचलित थी। दासों को किसी देश में भी नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सब देशों में दास प्रथा का अन्त हो गया

और दासों को स्वतन्त्र कर दिया गया। अब जहां जहां ये लोग हैं सब जगह इन्हें नागरिकता के अधिकार प्राप्त हैं।

(३) अदेशी (Aliens)—प्राचीन यूयान में तीन प्रकार के लोग नगरों में रहा करते थे। एक नागरिक, दूसरे दास और तीसरे अदेशी। अदेशी वे लोग थे जो व्यापार करने के लिये रोम आदि अन्य देशों से आकर यूनान में बस गये थे और व्यापार किया करते थे। ये लोग यूनान के स्थायी निवासी न थे। केवल व्यापार के सम्बन्ध में वहां रहते थे और जब उनका उद्देश्य पूरा हो जाता था तो अपने देश को लौट जाते थे। इन अदेशी लोगों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे परन्तु इन्हें यूनान के न्यायालयों में न्याय कराने का पूर्ण अधिकार था। इन लोगों का सम्मान होता था और साधारणतया ये लोग धनी होते थे। आधुनिक काल में दास तो होते ही नहीं हैं क्योंकि दासता की प्रथा का तो अन्त हो गया है, परन्तु अदेशी होते हैं। अपनी सुरक्षा के लिये इन्हें उन राज्य के शासनाधिकारियों पर निर्भर रहना पड़ता है जिन राज्यों में ये लोग व्यापार के लिये बसते हैं। जिस देश में ये लोग निवास करते हैं उस देश का यदि इनके स्वदेश से युद्ध छिड़ जाता है तो इन लोगों को दूसरे देश में (जिसमें ये निवास करते हैं) संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। युद्ध छिड़ जाने की दशा में या तो इन्हें देश छोड़ने की आज्ञा दे दी जाती है और समय निश्चित कर दिया जाता है कि अमुक समय तक चले जाओ वरना इन्हें एकत्रित करके एक स्थान पर रख कर इन पर पहरा बैठा दिया जाता है और इन्हें बिना आज्ञा स्थान नहीं छोड़ने दिया जाता है। युद्ध काल तक इनकी यही दशा रहती है। या तो युद्ध के समय दोनों देश अपने अपने नागरिकों को बदल लेते हैं या युद्धकाल तक इन्हें नज़रबन्द रखा जाता है और युद्ध के अन्त में इन पर से प्रतिबन्ध हटा लिया जाता है।

प्रतिनिधिक प्रणाली—आधुनिक काल के सभ्य और स्वतन्त्र देशों की शासन प्रणाली विशेष रूप से प्रतिनिधित्व पर ही चल रही है। राजशास्त्र-वेत्ताओं का कथन है कि जिस शासन प्रणाली में प्रतिनिधित्व का समावेश नहीं है वह सभ्य जनोचित शासन प्रणाली नहीं है। राज्य जनता से बनता है और जनता के चुने हुए प्रतिनिधि जनता के हिताहित को जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं उतनी अच्छी तरह अन्य कोई नहीं समझ सकता। मांटेस्क्यू (Montesquieu) का कथन है कि प्राचीन लोगों को विशुद्ध प्रतिनिधि की कल्पना ही नहीं थी। यह कल्पना आधुनिक है। प्राचीन काल के राज्यों में

विधान निर्माण की सत्ता लोक-प्रतिनिधियों के हाथ में नहीं थी। राजा अपनी बुद्धि से अथवा विद्वान परामर्शदाताओं से परामर्श लेकर विधानों का निर्माण करते थे। अति प्राचीन काल में जब प्रतिनिधिक संस्थाओं का अस्तित्व नहीं था, सब लोगों का समूह एकत्रित होकर अपनी वैयक्तिक हैसियत से विधान का निर्माण करता था। यह जनसमूह साधारण लोगों का होता था, लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों का नहीं। प्राचीन काल में यूनान में जो सभा विधान के प्रस्ताव करती थी या उन्हें स्वीकृति देती थी वह प्रतिनिधित्व के बहुत निकट पहुँच गई थी; परन्तु उसकी सीमा के भीतर पग न रख पाई थी। इस सभा में प्रायः स्वतंत्र मनुष्य (free men) रहते थे और वे अपनी वैयक्तिक हैसियत से कार्य करते थे। रूसो का कथन है कि प्रतिनिधित्व की कल्पना आधुनिक है। इसकी उत्पत्ति उन सरकारों के कारण हुई जिनका कार्य मानव जाति के अधःपतन का कारण होता था, जिनके शासन में मनुष्य के साथ पशुवत् वर्ताव किया जाता था। मांटेस्क्यू के कहने का आशय यह है कि स्वेच्छाचारी शासन प्रणाली से तंग आकर लोगों ने प्रतिनिधित्व की स्थापना की।

मध्य कालीन यूरोप में प्रतिनिधित्व भावना का बहुत कम विकास हुआ। पार्लियामेंट में इस समय जो सदस्य रहते थे वे सारे राष्ट्र के प्रतिनिधि होने की अपेक्षा कुछ समूह-विशेष के प्रतिनिधि हुआ करते थे। उस समय पार्लियामेंट में सरदारों, धर्माचार्यो और मध्यवर्ग के लोगों के प्रतिनिधि रहा करते थे। आजकल प्रतिनिधित्व की जो भावना है वह उस समय इङ्गलैण्ड में न थी। यूरोप के और भी कितने ही देशों की प्रतिनिधि संस्थाओं की यही दशा थी। यूरोप में प्रतिनिधिक संस्था का बहुत देर में विकास हुआ। मध्य-युग के महादेशीय नगरों के शासन में प्रतिनिधित्व का नियम काम में लाया जाता था परन्तु उसका रूप बहुत भद्दा और अपूर्ण था। प्रतिनिधित्व के वास्तविक सिद्धान्त को वह सार्थक नहीं करता था। कुछ काल पश्चात् यूरुप में ज्यों ज्यों नगरों का विकास होता गया त्यों त्यों प्रतिनिधित्व प्रणाली को विशेष प्रोत्साहन मिलता गया।

इङ्गलैण्ड में सोलहवीं शताब्दी के मध्य में प्रतिनिधिक प्रणाली में परिवर्तन हुआ। इस समय पार्लियामैन्ट में वादविवाद करते हुए हेलेन नामक एक सदस्य ने कहा था कि "एक बड़ी महत्वपूर्ण बात जो आजकल मानी जाती है वह यह है कि कामन्स सभा में जो लोग प्रतिनिधि बनकर जायँगे वे किसी दल अथवा समुदाय विशेष के ही प्रतिनिधि न होंगे बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि समझे जायँगे"। फ्रांस में प्रतिनिधित्व की नवीन प्रथा का

आरम्भ फ़्रांस की क्रान्ति तक नहीं हुआ था । १७९१ के फ़्रांस के नवीन विधान में नवीन प्रतिनिधिक प्रणाली का वर्णन किया गया है । इस विधान में स्पष्ट लिखा गया है कि प्रतिनिधि किसी दल अथवा जाति विशेष का ही नहीं समझा जायगा, वह सम्पूर्ण राज्य का प्रतिनिधि समझा जायगा, जर्मनी ने भी फ़्रांस का अनुकरण किया। जर्मनी के विधान में लिखा है कि जर्मन राइस्टैग (Reichstag) के सदस्य केवल किसी समुदाय विशेष ही के नही बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं । यूरोप के अन्य देशों की राजपद्धतियों में आजकल प्रायः इसी सिद्धान्त द्वारा कार्य हो रहा है । अब संसार के प्रायः सभी सभ्य देशो में प्रतिनिधि किसी जाति विशेष का नही बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि समझा जाता है । औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व यूरुप में यह प्रथा थी कि चाहे प्रतिनिधि देश की आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक बातों सें ज्ञान रखता हो अथवा न रखता हो परन्तु उसे अपने उस दल के हितों की रक्षा करना आवश्यक था जिस दल का वह प्रतिनिधि होता था उस समय संख्या के परिमाण से प्रतिनिधि न चुनकर दल विशेष की ओर से चुने जाते थे । लार्ड बेरोहम का कथन है कि "प्रतिनिधियों की व्यवस्था में इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि वे प्रत्येक दल का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा नहीं" डिग्विट (Digvit), डेग्रीफ़, बनाट आदि फ्रैंच लेखको ने तथा शेल्फे आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस प्रतिनिधिक प्रणाली का समर्थन किया है जिसमें दल अथवा समुदायों का प्रतिनिधित्व होता है । डिग्विट का मत है कि दलों के प्रतिनिधित्व द्वारा ही जनता के मत का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व हो सकता है क्योंकि दलों की सम्मिलित सम्मति ही सामान्य जनता की सम्मति है। विधान मंडल तभी सच्चा प्रतिनिधिक मंडल कहला सकता है जब कि उसमें राज्य के सब व्यक्तियों का पूर्णरूप से प्रतिनिधित्व हो । जिस प्रकार राजनैतिक दलों का प्रतिनिधित्व होता है उसी प्रकार राज्य के उद्योग-धंधों, व्यापार, कलाकौशल आदि का प्रतिनिधित्व भी होना आवश्यक है ।

प्रसिद्ध फ्रैंच विद्वान् एसमिन का मत है कि यदि विधान मंडल में प्रतिनिधि सम्पूर्ण देश के सामुदायिक हितों की अवहेलना करके अपने अपने दलों के हितों की रक्षा का ध्यान रखेंगे तो विधान मंडल एक वादविवादीय क्लब बन जायगा और परिणाम यह होगा कि राज्य के हितों को हानि पहुँचेगी और लोग केवल व्यक्तिगत हितों की ओर ही ध्यान देंगे ।

प्रतिनिधि का कर्तव्य—अतः आधुनिक काल की प्रतिनिधिक प्रणाली का आधार राष्ट्रीय हित है । आधुनिक काल में प्रतिनिधि किसी दल, जाति,

वर्ग अथवा स्थानीय सरकार का ही प्रतिनिधि नहीं होता है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है। वह किसी विशेष दल अथवा समुदाय के हितों का ध्यान नहीं रखता वह सम्पूर्ण राष्ट्र से हितों को ध्यान में रखता हुआ कार्य करता है। राष्ट्र की जनता एक निश्चित समय के लिये अपनी शक्ति अथवा अधिकार प्रतिनिधि को सौंप देती है। प्रतिनिधि अपने विवेक के अनुसार उस अधिकार का प्रयोग करता है। उसे अपने निर्वाचकों की मनोवृत्ति का ध्यान रखना पड़ता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रतिनिधि प्रत्येक विषय पर अपने निर्वाचकों की वार वार सम्मति ले। ब्लंशले नामक प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता का कथन है कि 'वर्तमान काल का प्रतिनिधि किसी व्यक्ति, संघ अथवा दल का प्रतिनिधि नहीं है, वह राज्य का प्रतिनिधि है और राज्य-कार्य ही उसका कर्तव्य है, वह अपने निर्वाचकों के आदेशों से बाध्य नहीं है और न अपने कार्यों के लिये वह निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी ही है'। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान एसमिन का मत भी वही है जो ब्लंशले का है। ब्लंशले का कथन है कि 'प्रतिनिधि वह है जो अपने वैधानिक अधिकारों की सीमा में लोगों के बदले अपनी स्वतन्त्र निर्णय शक्ति के अनुसार कार्य करने के लिये निर्वाचित किया गया है। उसे कार्य और निर्णय की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि कोई प्रतिनिधि अपने विवेक और विचार शक्ति से कार्य न लेकर केवल निर्वाचकों की सम्मति से कार्य करता है तो वह वास्तव में प्रतिनिधि नहीं है लोक हित के लिये उसे अपने विवेक से कार्य लेना चाहिये"। ब्रिस्टल में भाषण देते हुए ऐडमन्ड बर्क (Edmund Burke) ने कहा था कि "आजकल की पार्लियामेंट भिन्न भिन्न विरोधी स्वार्थ रखनेवाले दलों के वकीलों की सभा नहीं हैं। अब पार्लियामेंट एक राष्ट्र की विचारक संस्था है। आप सदस्य निर्वाचित करते हैं, निर्वाचित होने के पश्चात् वह केवल आप ही का नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि हो जायगा"। बर्क ने यह भी कहा है कि प्रतिनिधि का यह कर्तव्य नहीं है कि वह अपने निर्वाचिकों के मतों के लिये अपने मत का बलिदान कर दे। उसका यह कर्तव्य है कि वह लोकहित के लिये पूर्ण परिश्रम करे और अपने विवेक का पूर्ण उपयोग करे।

विधान मण्डल के निर्वाचित सदस्य को अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिये, और उसे अपने निर्वाचकों के मतों को ज्यों का त्यों न सुना देना चाहिये। उसे लोकहित को ध्यान में रखकर अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिये या अपने निर्वाचकों के आदेशों का पालन करना चाहिये, इन बातों का उसे निर्णय करना

आरम्भ फ़्रांस की क्रान्ति तक नहीं हुआ था । १७९१ के फ़्रांस के नवीन विधान में नवीन प्रतिनिधिक प्रणाली का वर्णन किया गया है । इस विधान में स्पष्ट लिखा गया है कि प्रतिनिधि किसी दल अथवा जाति विशेष का ही नहीं समझा जायगा, वह सम्पूर्ण राज्य का प्रतिनिधि समझा जायगा, जर्मनी ने भी फ़्रांस का अनुकरण किया। जर्मनी के विधान में लिखा है कि जर्मन राइस्टैग (Reichstag) के सदस्य केवल किसी समुदाय विशेष ही के नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं । यूरोप के अन्य देशों की राजपद्धतियों में आजकल प्रायः इसी सिद्धान्त द्वारा कार्य हो रहा है । अब संसार के प्रायः सभी सभ्य देशो में प्रतिनिधि किसी जाति विशेष का नही बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि समझा जाता है । औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व यूरुप में यह प्रथा थी कि चाहे प्रतिनिधि देश की आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक बातों सें ज्ञान रखता हो अथवा न रखता हो परन्तु उसे अपने उस दल के हितों की रक्षा करना आवश्यक था जिस दल का वह प्रतिनिधि होता था उस समय संख्या के परिमाण से प्रतिनिधि न चुनकर दल विशेप की ओर से चुने जाते थे । लार्ड बेरोहम का कथन है कि "प्रतिनिधियों की व्यवस्था में इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि वे प्रत्येक दल का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा नहीं" डिग्विट (Digvit), डेग्रीफ़, वनाट आदि फ्रेंच लेखकों ने तथा शेल्फे आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस प्रतिनिधिक प्रणाली का समर्थन किया है जिसमें दल अथवा समुदायों का प्रतिनिधित्व होता है । डिग्विट का मत है कि दलों के प्रतिनिधित्व द्वारा ही जनता के मत का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व हो सकता है क्योंकि दलों की सम्मिलित सम्मति ही सामान्य जनता की सम्मति है। विधान मंडल तभी सच्चा प्रतिनिधिक मंडल कहला सकता है जब कि उसमें राज्य के सब व्यक्तियों का पूर्णरूप से प्रतिनिधित्व हो । जिस प्रकार राजनैतिक दलों का प्रतिनिधित्व होता है उसी प्रकार राज्य के उद्योग-धंधों, व्यापार, कलाकौशल आदि का प्रतिनिधित्व भी होना आवश्यक है ।

प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् एसमिन का मत है कि यदि विधान मंडल में प्रतिनिधि सम्पूर्ण देश के सामुदायिक हितों की अवहेलना करके अपने अपने दलों के हितों की रक्षा का ध्यान रखेंगे तो विधान मंडल एक वादविवादीय क्लब बन जायगा और परिणाम यह होगा कि राज्य के हितों को हानि पहुँचेगी और लोग केवल व्यक्तिगत हितों की ओर ही ध्यान देंगे ।

प्रतिनिधि का कर्तव्य—अतः आधुनिक काल की प्रतिनिधिक प्रणाली का आधार राष्ट्रीय हित है । आधुनिक काल में प्रतिनिधि किसी दल, जाति,

वर्ग अथवा स्थानीय सरकार का ही प्रतिनिधि नहीं होता है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है। वह किसी विशेष दल अथवा समुदाय के हितों का ध्यान नहीं रखता वह सम्पूर्ण राष्ट्र से हितों को ध्यान में रखता हुआ कार्य करता है। राष्ट्र की जनता एक निश्चित समय के लिये अपनी शक्ति अथवा अधिकार प्रतिनिधि को सौंप देती है। प्रतिनिधि अपने विवेक के अनुसार उस अधिकार का प्रयोग करता है। उसे अपने निर्वाचकों की मनोवृत्ति का ध्यान रखना पड़ता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रतिनिधि प्रत्येक विषय पर अपने निर्वाचकों की बार बार सम्मति ले। ब्लंशले नामक प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता का कथन है कि 'वर्तमान काल का प्रतिनिधि किसी व्यक्ति, संघ अथवा दल का प्रतिनिधि नहीं है, वह राज्य का प्रतिनिधि है और राज्य-कार्य ही उसका कर्तव्य है, वह अपने निर्वाचकों के आदेशों से बाध्य नहीं है और न अपने कार्यों के लिये वह निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी ही है'। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान एसमिन का मत भी वही है जो ब्लंशले का है। ब्लंशले का कथन है कि 'प्रतिनिधि वह है जो अपने वैधानिक अधिकारों की सीमा में लोगों के बदले अपनी स्वतन्त्र निर्णय शक्ति के अनुसार कार्य करने के लिये निर्वाचित किया गया है। उसे कार्य और निर्णय की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि कोई प्रतिनिधि अपने विवेक और विचार शक्ति से कार्य न लेकर केवल निर्वाचकों की सम्मति से कार्य करता है तो वह वास्तव में प्रतिनिधि नहीं है लोक हित के लिये उसे अपने विवेक से कार्य लेना चाहिये"। ब्रिस्टल में भाषण देते हुए ऐडमन्ड बर्क (Edmund Burke) ने कहा था कि "आजकल की पार्लियामेंट भिन्न भिन्न विरोधी स्वार्थ रखनेवाले दलों के वकीलों की सभा नहीं हैं। अब पार्लियामेंट एक राष्ट्र की विचारक संस्था है। आप सदस्य निर्वाचित करते हैं, निर्वाचित होने के पश्चात् वह केवल आप ही का नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि हो जायगा"। बर्क ने यह भी कहा है कि प्रतिनिधि का यह कर्तव्य नहीं है कि वह अपने निर्वाचिकों के मतों के लिये अपने मत का बलिदान कर दे। उसका यह कर्तव्य है कि वह लोकहित के लिये पूर्ण परिश्रम करे और अपने विवेक का पूर्ण उपयोग करे।

विधान मण्डल के निर्वाचित सदस्य को अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिये, और उसे अपने निर्वाचकों के मतों को ज्यों का त्यों न सुना देना चाहिये। उसे लोकहित को ध्यान में रखकर अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिये या अपने निर्वाचकों के आदेशों का पालन करना चाहिये, इन बातों का उसे निर्णय करना

पड़ता है। अधिकतर विद्वानों का यह मत है कि प्रतिनिधि अपना विवेक प्रयोग करने का अधिकारी है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनका मत इस सिद्धान्त के विपरीत है। उनका कथन है कि प्रतिनिधि जनता के मुखपात्र होते हैं। अतः उनका कर्तव्य है कि वे लोगों की इच्छा को ज्यों का त्यों प्रकट करें। यदि वे किसी कारण ऐसा करना अनुचित समझें तो वें अपना पद त्याग दें। उन्हें अपने निर्वाचकों के मत के विरुद्ध विचार प्रकट करने का अधिकार नहीं है।

आलोचना—प्रतिनिधि निर्वाचकों के मुखपात्र नहीं बन सकते। वे अपने प्रतिनिधियों के मत के अनुसार प्रत्येक विषय पर विचार प्रकट नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करें तो वे सफलता पूर्वक कार्य नहीं कर सकते। विधान मण्डल में अनेक ऐसे ऐसे विषय उपस्थित होते हैं जिन पर तत्काल विचार प्रकट करना पड़ता है। इस दशा में प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की प्रत्येक विनय पर सम्मति कैसे ले सकता है? एक और बात यह है कि निर्वाचक प्रायः साधारण श्रेणी के लोग होते हैं, वे छोटी बातों पर उद्वेग में आजाते हैं। उनमें शान्तचित्त होकर निर्णय करने की शक्ति नहीं होती। ऐसी दशा में उनके हित के विषय में जितना अच्छा निर्णय उनके प्रतिनिधि कर सकते हैं उतना वे स्वयं नहीं कर सकते। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि निर्वाचकों के विचारों की अपेक्षा कर प्रतिनिधि अपने विवेकानुसार मनमाने विचार प्रकट करता है तो जनता को उस प्रतिनिधि को चुनने से लाभ ही क्या है? जनता के मत की अवहेलना करके वह जनता का प्रतिनिधि ही कैसे रह सकता है? अतः एक बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ ने इन दोनों मार्गों के बीच एक तीसरा ही मार्ग निकाला है। उसका कथन है कि प्रतिनिधि का कर्तव्य जनता के भावों की उपेक्षा करना नहीं हैं। जनता के भावों को पूर्ण रूप से समझते हुए तथा अपनी स्वतन्त्र विवेक शक्ति का उपयोग करते हुए परिस्थिति के अनुसार वह लोकहित के लिये प्रयत्न करता रहे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह बात बात में अपने निर्वाचकों से पूछ कर कार्य करे। जनता के हित की रक्षा करते हुए अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

साधारणतया जनता का प्रतिनिधि प्रायः अपने निर्वाचकों से अधिक बुद्धिमान होता है। उसे राजकार्य का अनुभव भी अधिक होता है। अतः निर्वाचकों का यह कर्तव्य है कि उसके विचारों तथा सम्मति का आदर करें। जनता अपना प्रतिनिधि इसलिये नियुक्त करती है कि वह उसके हित की

रक्षा करने की अधिक योग्यता रखता है। उसे लोक हित के लिये अपने विवेक का पूर्ण रूप से प्रयोग करना चाहिये और विचारों तथा निर्णय शक्ति की स्वतन्त्रता रखते हुए उसे लोकमत का ध्यान रखना चाहिये।

प्रतिनिधिक प्रणाली का आविष्कार—प्रतिनिधिक प्रणाली लोकतंत्र का विशुद्ध रूप कहा जा सकता है। लोकतंत्र शासन में ही इसका प्रयोग होता है अन्यत्र इसका कोई अर्थ ही नहीं। प्राचीन काल में यूनान में छोटे छोटे जनतन्त्र नगर-राज्य थे। नगर के सब लोग मिलकर विधान बनाते और शासकों को चुनते थे। यूनान में कई सौ वर्ष तक यह प्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रणाली प्रचलित रही। परन्तु आधुनिक काल के बड़े बड़े साम्राज्यों में अब इस प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतंत्र सम्भव नहीं है। आधुनिक काल के बड़े बड़े नगरों की जन संख्या प्राचीन काल के साम्राज्यों के समान है। इतनी बड़ी संख्या के एकत्रित होने के लिये पहिले तो स्थान ही नहीं। यदि स्थान भी हो तो इतनी संख्या में एकत्रित हुये लोगों में विचारविमर्श होकर किसी मत का प्रकट होना या किसी भी विषय पर कोई निर्णय होना असम्भव है। इसके अतिरिक्त प्राचीन नगर राज्यों के समान आजकल के राज्यों में नागरिक अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित नहीं जो राजनीतिज्ञ या सैनिक हों। नगरों में व्यापारी, शिल्पकार कृषक, जमीदार सब को नागरिक समझा जाता था और वे राज्यकार्य में भाग लेने के अधिकारी थे। शासक-वर्ग और दासवर्ग जैसा जन-विभाजन आधुनिक नगरों में न था। इसलिये यदि सब नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य में भाग लें, अर्थात् विधान बनावें, सरकारी आदेश निकालें और मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति करें तो न व्यापारी व्यापार कर सकता है न मजदूर मजदूरी। सबको अपना कार्य छोड़कर राज्य कार्य के लिये एकत्रित होना न सम्भव है न सामाजिक हित की दृष्टि से वांछनीय है। यदि आधुनिक राज्यों में इस प्रकार के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का प्रयोग भी किया जाय तो उसका परिणाम यही होगा कि शासनसत्ता उन थोड़े से लोगों के हाथ में आ जायगी जिनको अपनी जीविका उपार्जन के लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। ऐसा लोकतन्त्र अपने नाम को सार्थक नहीं कर सकता। इसी कठिनाई के कारण प्रतिनिधिक प्रणाली का आविष्कार हुआ। सारी जनता स्वयं एकत्रित होने के बजाय अपने में से ऐसे व्यक्तियों को थोड़ी सी संख्या में चुनती जो एक स्थान पर बैठ कर जनता की ओर से राज्य कार्य सम्पादन करें। यह मान लिया गया कि चुने हुये प्रतिनिधि ऐसे हैं जो अपने निर्वाचकों के हित को समझते हैं, उनके योगक्षेम के सम्बन्ध में निर्वाचक जनता और निर्वाचित

प्रतिनिधि में मतैक्य है और प्रतिनिधि निर्वाचकों का हितैषी, विश्वासपात्र एवं योग्यतम व्यक्ति है।

प्रतिनिधि प्रणाली से सुविधा—प्राचीन काल में यूनान के छोटे-छोटे नगर राज्यों में सब नागरिक एक स्थान पर एकत्र हो जाया करते थे और शासन कार्य में भाग लेते थे। परन्तु आधुनिक काल के बड़े-बड़े राज्यों में सब नागरिकों का एक स्थान पर एकत्र होना असंभव है। न तो वे एक स्थान पर एकत्र ही हो सकते हैं और न सब नागरिक अपना कार्य छोड़ कर आ ही सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक और सुविधाजनक समझा गया कि लोग अपने अपने प्रतिनिधि चुनकर भेज दें और यही प्रतिनिधि विधान बनाएँ और शासनकार्य में भाग लें। अतः देश के प्रत्येक भाग से प्रतिनिधि आकर देश के विधान निर्माण में भाग लेते हैं। प्रादेशिक क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त विशिष्ट वर्गों, हितों, संवासों तथा समुदायों के पृथक्-पृथक् प्रतिनिधि इन विशिष्ट जनसमूहों व संवासों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे सबके हितों की रक्षा होती है और प्रजा का कोई भाग प्रतिनिधित्व से वंचित नहीं रहता। प्रतिनिधिक प्रणाली से लोकतंत्र आधुनिक युग में भी एक व्यावहारिक वस्तु बन गई है। यदि इस प्रणाली का प्रयोग न किया जाय तो लोकतंत्र को कार्यरूप देना असम्भव हो जाय। प्रतिनिधिक सिद्धान्त के आधार पर अब बड़े से बड़ा सामूहिक कार्य चाहे वह राज्य का शासन हो या किसी व्यापारिक कम्पनी का प्रवन्ध बड़ी सरलता से जनतंत्रात्मक ढंग पर किया जा सकता है। इस प्रणाली से लोकतंत्र कम खर्चीला और अधिक सुविधापूर्ण हो गया है, अन्यथा वह ऐसा न होता। प्रतिनिधियों द्वारा जनसमूह की इच्छा ही जानने की सुविधा नहीं होती किन्तु शासन की नीति क्या है और उसका उद्देश्य भी क्या है यह सब सरलता से जनता को प्रतिनिधियों द्वारा जता दिया जाता है। प्रतिनिधिक प्रणाली से लोकतंत्र में नम्रता व व्यवस्था आती है। यह प्रणाली अब लोकतंत्र में अनिवार्य है। इसके बिना लोकतंत्र व्यवहार में नहीं लाया जा सकता।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन—प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने की दो प्रणालियाँ हैं। यदि व्यवस्थापक मंडल के लिये जनता प्रतिनिधि निर्वाचित करे और जनता के चुने हुए प्रतिनिधि व्यवस्थापक मंडल के सदस्य बन जायें तो इस प्रकार से भेजे हुए प्रतिनिधियों के लिये कहा जायगा कि वे प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा विधान मंडल में भेजे गये हैं। यदि किसी राज्य में जनता के निर्वाचित किये हुए प्रतिनिधि राज्य के व्यवस्थापक मंडल के सदस्य

न हों वरन् इन प्रतिनिधियों को यह अधिकार हो कि वे विधानसभा के सदस्यों को चुनें तो इस प्रकार चुने हुये व्यवस्थापक लोग अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने समझे जाते हैं। सन् १६०६ के विधान के अनुसार भारतवर्ष में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली की प्रथा प्रचलित थी। उस समय जनता म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के लिये सदस्य निर्वाचित किया करती थी और ये बोर्ड अपने सदस्यों में से प्रान्तीय कौन्सिलों के सदस्य निर्वाचित किया करते थे। सन् १६१६ के विधान के अनुसार भारतवर्ष में प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली प्रचलित की गई। इस विधान के अनुसार प्रान्तीय असेम्बलियों में प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा सदस्य भेजे जाते थे। प्रत्यक्ष निर्वाचन में केवल एक बार चनाव होता है और अप्रत्यक्ष निर्वाचन में दोबारा चुनाव होता है अर्थात् एक बार जनता प्रतिनिधि निर्वाचित करती है और यह निर्वाचित प्रतिनिधि अपने में से प्रतिनिधियों का पुनः निर्वाचन करते है। ये पुन: निर्वाचित प्रतिनिधि 'अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा निर्वाचित' कहलाते हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन सुगम और सरल है। इसमें व्यय भी कम होता है और इस प्रणाली द्वारा अधिक सदस्य चुने जाते हैं। प्रत्यक्ष निर्वाचन में यह लाभ है कि लोगों में राजनैतिक चेतना जाग्रत होती है और वे स्थानीय राजनीति में दिलचस्पी लेते हैं। जनसाधारण प्रत्येक राजनैतिक प्रश्न को समझने तथा उस पर अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करता है। अतः राजनैतिक चेतना जाग्रत करने के लिये प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली अधिक श्रेष्ठ समझी गई है।

निर्वाचक संघ—प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने की कई प्रणालियाँ हैं। प्रतिनिधि प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते हैं, उद्योग-व्यवसाय आदि संगठनों द्वारा चुने जाते हैं, जाति, सम्प्रदाय और धर्मों द्वारा चुने जाते हैं तथा अन्य आर्थिक, व्यापारिक, शिक्षण तथा अन्य संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं। किसी प्रदेश की व्यवस्थापिका सभा के लिये सदस्य निर्वाचित करने के लिये प्रदेश को निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। निर्वाचन क्षेत्र एक प्रतिनिधिक या बहुप्रतिनिधिक होते हैं। जिस क्षेत्र से केवल एक प्रतिनिधि चुना जा सकता है वह एक प्रतिनिधिक और एक से अधिक प्रतिनिधि को चुनने वाला क्षेत्र बहुप्रतिनिधिक क्षेत्र कहलाता है, प्रदेश की जनगणना के आधार पर निश्चित संख्या में चुने जाने वाले प्रतिनिधिकों की संख्या से भाग देने पर वह संख्या मालूम हो जाती है जो एक प्रतिनिधि चुन सकता है। इसी संख्या के अनुसार एक प्रतिनिधिक या बहुप्रतिनिधिक

निर्वाचन क्षेत्र वनाये जाते हैं। प्रत्येक क्षेत्र के निर्वाचक-समूह को निर्वाचन-संघ के नाम से सम्वोधित किया जाता है।

निर्वाचक सङ्घ दो प्रकार के होते हैं एक साधारण निर्वाचक सङ्घ दूसरे विशेष निर्वाचक सङ्घ—

साधारण निर्वाचक संघ—व्यवस्थापिका सभा के लिये प्रदेश को निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर लिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक अथवा एक से अधिक सदस्य निर्वाचित करने की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रों में सब प्रकार के मतदाता निर्वाचन में भाग लेते हैं। किसी प्रकार का जाति, धर्म, संवास, समुदाय आदि का भेदभाव नहीं किया जाता। हाँ इतना अवश्य है कि ये निर्वाचन संघ दो प्रकार के होते हैं ग्राम निर्वाचक-संघ दूसरे नगर निर्वाचन-संघ।

विशेष निर्वाचक-संघ—जब प्रादेशिक क्षेत्रों से सदस्यों को न चुनकर किसी विशेष संस्था या वर्ग से उन्हें निर्वाचित किया जाता है तो ऐसी संस्था को विशेष निर्वाचक संघ कहा जाता है। इन सदस्यों का कार्य उन संस्थाओं के हितों पर दृष्टि रखना है जिन संस्थाओं से वे निर्वाचित किये जाते हैं, जैसे भारतवर्ष के व्यापार-संघ से सदस्य निर्वाचित करना अथवा विश्वविद्यालयों से निर्वाचित करना।

विशेष प्रतिनिधित्व—साधारणतया विशेष निर्वाचक संघों के निर्वाचक साधारण निर्वाचक संघों में अपना मत देने के अधिकारी तो होते ही हैं परन्तु विशेष संस्थाओं के सदस्य होने की दशा में वे विशेष संघों में मत देने के अधिकारी भी होते हैं। जैसे एक रजिस्टर्ड ग्रेजुएट साधारण निर्वाचन संघ में तो अपना मत देगा ही परन्तु रजिस्टर्ड ग्रेजुएट होने की हैसियत से वह विश्वविद्यालय से निर्वाचित होने वाले सदस्य को चुनने का भी अधिकारी होगा। इस प्रकार उसे दो प्रकार के सदस्य चुनने का अधिकार प्राप्त होगा। विशेष प्रतिनिधित्व के विषय में राजनीतिज्ञों के दो मत हैं। विशेष प्रतिनिधित्व के समर्थकों का कथन है कि जब तक समाज की स्थिति ऐसी है कि लोग सबके हित का विचार न करके अपने सामुदायिक हित का ही ध्यान रखते हैं तो ऐसी दशा में विशेष प्रतिनिधित्व प्रणाली से ही कार्य लेना उचित है। जो लोग इस प्रणाली के विरुद्ध हैं उनका कथन है कि विशेष प्रतिनिधित्व प्रणाली व्यर्थ तथा अन्यायपूर्ण है और देश के लिये हानिकारक है। वास्तव में विशेष प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ कोई वर्ग विशेष शिक्षा व आर्थिक दृष्टि से समाज का पिछड़ा हुआ अङ्ग हो और

बिना विशेष सुविधा दिये अपना उचित स्थान पाने में उसे कठिनाई हो।

गार्नर का मत है कि निर्वाचन क्षेत्रों के सम्बन्ध में दो प्रणालियाँ हैं। एक तो यह कि जितने सदस्यों का निर्वाचन करना होता है उतने ही भागों में प्रान्त को विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक विभाग से एक सदस्य निर्वाचित कर लिया जाता है। दूसरा यह कि बहुत से छोटे छोटे निर्वाचन क्षेत्र बना लिये जाते हैं और एक टिकट पर अनेक सदस्यों के लिये मत लिये जाते हैं। परन्तु आजकल अधिकतर पहली प्रणाली को ही अधिक अच्छा समझा जाता है। साधारण टिकट प्रणाली की प्रथा क्वीन्सलैन्ड के अतिरिक्त संपूर्ण आस्ट्रेलिया में प्रचलित है। यह प्रणाली उन देशों में भी प्रचलित है जहां आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रथा है। ऐसे देश विशेषकर बेल्जियम, डेन्मार्क, क्यूबा, नारवे, पोर्चुगाल, स्वेडन, ब्राजील के कुछ प्रान्त, इटली जापान स्पेन के कुछ प्रान्त, स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैंन्टन आइसलैण्ड तस्मानिया आदि हैं। डिस्ट्रिक्ट टिकट प्रणाली (अर्थात् एक निर्वाचन क्षेत्र से एक ही सदस्य निर्वाचित करने की प्रथा) अमेरिका के संयुक्त राज्य में अधिकतर प्रचलित है। इस प्रणाली में यह लाभ है कि निर्वाचन में सुविधा होती है और कार्य सरलता से होता है। "निर्वाचक निर्वाचित सदस्य से परिचित होते हैं निर्वाचित सदस्य निर्वाचकों के हित की बातें सोचते हैं" *। इस प्रणाली में दोष यह है कि "अपने क्षेत्र के न्यून योग्यता के सदस्यों को निर्वाचित करते हैं" यदि किसी क्षेत्र में बहुत योग्य पुरुष नहीं होते हैं तो जैसे होते हैं उन्हीं में से चुनते हैं। "अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि जिन नगरों में यह प्रथा प्रचलित है वहां न केवल कम योग्यता के ही लोग निर्वाचित किये जाते हैं बल्कि बहुधा भ्रष्टाचारी प्रतिनिधि निर्वाचित कर दिये जाते हैं। दूसरी बात यह है कि इस प्रथा द्वारा निर्वाचित सदस्य स्थानीय हितों का ध्यान रखते हैं और देश के हित का नहीं। अतः उनके विचार लोकहित सम्बन्धी प्रश्नों पर संकीर्ण और परिमित होते है और उनके विचारों में राष्ट्रीयता नहीं होती"†।

संयुक्त निर्वाचक संघों की आवश्यकता—जाति अथवा संप्रदाय के आधार पर अभ्यर्थी (Candidate) का निर्वाचन करना लोकहित के लिये हानिकारक है। निर्वाचक संघ पृथक् पृथक् जाति अथवा सम्प्रदाय सम्बन्धी

---

* गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ४४५

† " " " " " " ४४६

नहीं होने चाहिये। यदि एक जिले से एक हिन्दू और एक मुसलमान निर्वाचित करना हो तो ऐसी व्यवस्था न की जाय कि हिन्दू निर्वाचक हिन्दू सदस्य को चुने और मुसलमान निर्वाचक मुसलमान सदस्य को। बल्कि हिन्दू सदस्य को हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर चुनें और इसी प्रकार मुसलमान सदस्य को भी दोनों सम्प्रदाय के लोग मिलकर निर्वाचित करें। स्वतन्त्र भारतवर्ष के नवीन विधान में यही व्यवस्था की गई है। इसमें साम्प्रदायिक निर्वाचन का अन्त कर दिया गया है।

संयुक्त निर्वाचन से लाभ—संयुक्त निर्वाचन से राजनैतिक दृष्टिकोण संकुचित और साम्प्रदायिक न होकर उदार तथा राष्ट्रीय हो जाता है। जातिगत पक्षपात का अन्त होता है। इस प्रणाली से राष्ट्रीयता के भावों की वृद्धि होती है और राष्ट्र की उन्नति होती है। भारतवर्ष में साम्प्रदायिक निर्वाचन की प्रथा अंग्रेजों ने प्रचलित की थी इससे उन्हें भारतवर्ष पर शासन करने में सुविधा होती थी। उन्होंने आपस में साम्प्रदायिक फूट स्थापित करके अपने राज्य की जड़ पक्की कर रखी थी। अब स्वतन्त्र भारत में इस दोष को दूर कर दिया गया है।

संयुक्त निर्वाचन के दो भेद—संयुक्त निर्वाचन दो प्रकार का होता है एक तो वह जिसमें अल्प संख्यक जाति के प्रतिनिधियों के लिये स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं दूसरा वह जिसमें अल्प संख्यक जाति के प्रतिनिधियों के लिये स्थान सुरक्षित नहीं रखे जाते हैं।

मताधिकार के सिद्धान्त—अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व फ्रेंच राजनैतिक-दर्शन का सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक नागरिक को प्रतिनिधि निर्वाचित करने का नैसर्गिक तथा परम्परागत अधिकार है और लोकेच्छा ही सर्वोच्चसत्ता है। लोकेच्छा तभी ठीक प्रकार से प्रकट हो सकती है जब सब नागरिक अपने प्रतिनिधियों के चुनाव के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति में भाग लें। मान्टेस्क्यू का मत है कि जिन लोगों की अपनी इच्छा ही नहीं हैं उन्हें छोड़ कर सब लोगों को प्रतिनिधि निर्वाचित करने में भाग लेना चाहिये। रूसो का भी यही मत है। रोबेस्पीयर का मत है कि "सर्वोच्चसत्ता जनता में वास करती है और प्रत्येक नागरिक को प्रतिनिधि चुनने में भाग लेना चाहिये। प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है कि जिन विधानों की वह आज्ञा पालन करता है उनके निर्माण में वह उचित सहयोग दे"। कुछ फ्रेंच विद्वानों का मत है कि मताधिकार प्रकृति का दान है और प्रत्येक नागरिक को इसका प्रयोग करना चाहिये क्योंकि यह उसका नैसर्गिक अधिकार है। फ्रेंच राज-

शास्त्रवेत्ताओं ने इस सिद्धान्त का समर्थन तो किया है परन्तु उन्होंने इस सिद्धान्त को अपने विधान में कोई स्थान नहीं दिया है। यह सिद्धान्त उन लोगों के लिये कोरा सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को उन्होंने कार्य रूप में परिणत नहीं किया है। आधुनिक काल में भी केवल स्विटजरलैन्ड ही एक ऐसा देश है जिसमें साधारण मताधिकार का प्रयोग किया जा रहा है अन्य देशों में इसका प्रयोग नहीं किया जा रहा है। यूरोप और अमेरिका के भिन्न भिन्न देशों की शासन प्रणाली में कुछ विशेष नियमों के आधार पर मताधिकार स्थापित किया गया है। इसका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये भिन्न भिन्न देशों के मताधिकार का उल्लेख किया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक इंगलैंड में पार्लियामेंट के सदस्य केवल वे लोग ही निर्वाचित कर सकते थे जिनके पास चालीस शिलिंग अथवा इसके अधिक की भूसम्पति थी। इसके पश्चात ज्यों ज्यों राजनैतिक विचारों का विकास होता गया त्यों त्यों वहां के मताधिकार में भी परिवर्तन होता गया। आधुनिक काल में इंगलैण्ड में लगभग सब वयस्क स्त्री पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है। अब इंगलैण्ड में घरेलू नौकरों तथा उन लोगों को जो अपने माता पिता पर निर्भर रहते हैं मताधिकार प्राप्त नहीं है। आवारा घूमने वालों, विक्षिप्त, अपराधी, अत्यन्त दरिद्र तथा कारावास का दंड भोगे हुए लोगों को भी मताधिकार प्राप्त नहीं है।

जर्मनी में भी लगभग सब पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है परन्तु वहाँ निर्वाचकों की आयु इंगलैंड और फ्रांस के निर्वाचकों की आयु से अधिक रखी गई है। जर्मनी में पच्चीस वर्ष की आयु पूरी करने पर मताधिकार प्राप्त होता है। वहां भी विक्षिप्त, अत्यन्त दरिद्र, युद्ध में गये हुए सैनिकों तथा दिवालियों को मताधिकार प्राप्त नहीं हैं। फ्रांस में भी दण्डभोगी अवस्यक युद्ध में गये सैनिक तथा दिवालियों को छोड़ कर सब लोगों को मताधिकार प्राप्त है।

सन् १८९३ में बेल्जियम में बहुमत मताधिकार की प्रथा आरम्भ हुई थी। किसी विशेष मनुष्य को किसी विशेष स्थिति या गुण के कारण एक से अधिक मत देने का अधिकार प्राप्त होना बहुमत मताधिकार कहलाता है। कुछ लोगों का मत है कि बहुमत मताधिकार की प्रथा उन दोषों को दूर करने के लिये प्रचलित की गई है जो व्यापक मताधिकार (universal suffrage) की प्रणाली से उत्पन्न होते हैं। बहुमत मताधिकार के समर्थकों का विचार है कि संसार में बुद्धिमानों और विद्वानों की अपेक्षा मूर्खों की संख्या अधिक होती

है इसका परिणाम यह होता है कि चुनाव करने में मूर्खों का बहुमत हो जाता है। इस कारण बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषों को रोकने के लिये विशेष गुण अथवा स्थिति वाले मनुष्य को साधारण मनुष्य से अधिक मत देना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। इसका परिणाम यह होगा कि विशेष गुणसम्पन्न मनुष्य कम संख्या में होते हुए भी अधिक संख्या वाले अज्ञानियों के विरुद्ध खड़े होकर उन दोषों को संयमित करने में समर्थ हो सकेंगे जो सर्व मताधिकार में अज्ञानियों की अधिक संख्या होने के कारण उत्पन्न हुए हैं। बहुमत मताधिकार की पद्धति भी दोषरहित नहीं है। बहुमत मताधिकार देने के लिए जिन विशिष्ट गुणों और स्थितियों की आवश्यकता होती है उनकी ठीक ठीक परीक्षा करने के लिये कौन सी कसौटी होनी चाहिये। इसमें भिन्न भिन्न प्रकार की अड़चनें भी उपस्थित होती हैं। यद्यपि दह बहुमत मताधिकार पद्धति ठीक कार्य करती है, परन्तु वर्तमान काल में अधिकतर लोग इसे नहीं पसन्द करते हैं। वे व्यापक मताधिकार को अधिक पसन्द करते हैं।

व्यापक मताधिकार—साधारणतया लोगों का यह विचार है कि प्रत्येक नागरिक का यह परम्परागत और स्वाभाविक अधिकार है कि वह प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग ले। प्रजा ही शासन का अवलम्ब है। प्रजा ही शासन की सम्पूर्ण शक्तियों का आधार है। ऐसी दशा में अनेक राजनीतिज्ञों के मतानुसार प्रजा का कोई भी समझदार मनुष्य मताधिकार से वंचित न रखा जाना चाहिये। अठारहवीं शताब्दी के फ्रेंच राजनीतिज्ञों का भी यही मत था। प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता जज स्टोरी का कथन है कि यह बात कभी संभव नहीं हो सकती कि सब के सब प्रजाजन मताधिकार प्राप्त कर सकें। विशुद्ध से विशुद्ध प्रजातन्त्र में भी कुछ लोग ऐसे रह जाते हैं जिन्हें मताधिकार नहीं रहता। विक्षिप्त, बच्चे, दुराचारी आदि कई प्रकार के मनुष्य विशुद्ध से विशुद्ध प्रजातन्त्र में भी मताधिकार से वंचित रखे जाते हैं। जज स्टोरी के कथनानुसार यदि किसी बात का भेद-भाव रखे बिना सबको बिना किसी अपवाद के मताधिकार दे दिया जाय तो राज्यकार्य एक प्रकार से असम्भव हो जायगा। अतः यह आवश्यक है कि मताधिकार जनता की योग्यता और बुद्धिमत्ता पर निर्भर रखा जाय। मताधिकार में शिक्षा सम्बन्धी उपाधियों का, बड़े पद का अथवा धन का प्रतिबन्ध न रखा जाय। हर्ष की बात है कि यह प्रतिबन्ध दिन पर दिन सभ्य देशों से उठता जा रहा है। मिल प्रभृति कुछ प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता यद्यपि

यह आवश्यक नहीं समझते कि मताधिकार के लिये अमुक शिक्षा सम्बन्धी उपाधियों की आवश्यकता है परन्तु वे इस बात पर बड़ा जोर देते हैं कि मत देने वालों को लिखना पढ़ना ही नहीं चाहिये बल्कि उन्हें कुछ अन्य प्रकार का भी व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये। मिल का कथन है कि "मैं इस बात को अनुचित समझता हूँ कि जिन लोगों को लिखना पढ़ना अथवा साधारण गणित का भी ज्ञान नहीं उन्हें मताधिकार दिया जाय। मताधिकार के लिये लोगों को न केवल लिखना पढ़ना और साधारण गणित ही जानना चाहिये बल्कि इसके अतिरिक्त उन्हें साधारण इतिहास और संसार की राजनैतिक अवस्था का थोड़ा बहुत ज्ञान होना चाहिये"।

प्रसिद्ध अंग्रेज राजशास्त्रवेत्ता लेकी ने अपनी 'डेमोक्रेसी एण्ड लिबर्टी' नामक पुस्तक में उन दोषों को दिखलाया है जो अज्ञानियों के हाथ में शासन-सत्ता के चले जाने से उत्पन्न होते हैं। इसने साधारण मताधिकार को बुद्धि-मत्तापूर्ण और उपयोगी नहीं बतलाया है। उसका कथन है कि यदि शासन का अन्तिम अधिकार उन लोगों के हाथ में चला जायगा जो सब से अधिक दरिद्र, अज्ञानी और अयोग्य हैं (और इन्हीं की सब से अधिक संख्या भी रहती है) तो इस से मनुष्य जाति की बड़ी हानि होगी। संसार को योग्यतापूर्वक संचालित करने में बुद्धि जितनी सफल हो सकती है उतनी केवल संख्या की अधिकता नहीं हो सकती। इसी प्रकार सर हेनरी मेन प्रभृति कितने ही विख्यात विद्वानों ने साधारण मताधिकार का विरोध किया है। उसने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि इसके लिये किसी न किसी प्रकार की सीमा अवश्य निर्धारित होनी चाहिये।

वास्तव में साधारण मताधिकार की ओर संसार की गति बड़ी तेजी से हो रही है। यूरोप में इसकी सबसे अधिक प्रगति हुई है। कई विद्वानों का कथन है कि संसार में शिक्षा का प्रचार दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। यूरोप और अमेरिका में प्रायः सर्वत्र अनिवार्य शिक्षा का प्रचार है। मनुष्य जाति की मानसिक और बौद्धिक स्थिति का विकास हो रहा है चारों ओर ज्ञानज्योति चमकने लगी है। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि साधारण मताधिकार में जितने दोष भूतकाल में थे उतने वर्तमान काल में नहीं हैं। और भविष्य में तो इनका बहुत कुछ मूलोच्छेदन हो जायगा। मिल ने ठीक कहा है कि साधारण मताधिकार से पहले साधारण शिक्षा की आवश्यकता है।

मताधिकार का महत्व—जो व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल, म्युनिसिपल बोर्ड

जिला बोर्डों के सदस्यों के निर्वाचन में मत देने के अधिकारी होते हैं, उन्हें मतदाता या निर्वाचक कहते है। उनका यह अधिकार 'मताधिकार' कहलाता है। इस अधिकार का वर्तमान समय में बड़ा महत्त्व है, क्योकि जो व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल आदि के सदस्य होते है, वे मतदाताओं के इस अधिकार के प्रयोग से ही चुने जाते हैं। जिस दल के अथवा जिन विचारों वाले आदमियों के पक्ष में मतदाताओं का बहुमत नहीं होता, वे व्यवस्थापक मंडल के सस्दस्य नही बन सकते। अतः देश का विधान-निर्माण-कार्य अप्रत्यक्षरूप से देश के निर्वाचकों अथवा मतदाताओं पर निर्भर है। जिन व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त होता है वे यह समझते है कि राज्यशासन में हम भी भागीदार है। चाहे यह अप्रत्यक्ष रूप से ही क्यों न हो। अतः यह आवश्यक है कि यह अधिकार देश के अधिक से अधिक व्यक्तियों को प्राप्त होना चाहिये और केवल किसी विशेष जाति, धर्म अथवा व्यवसाय वालो को ही प्राप्त न हो। इस प्रकार के मताधिकार में स्त्री, पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, निर्धन, धनी आदि का ध्यान नहीं रखना चाहिये।

मताधिकार के अधिकारी—अब विचार यह करना है कि मताधिकार के अधिकारी कौन है। मताधिकार सम्पूर्ण जनता को नही दिया जा सकता क्योंकि जनता में तो पागल, रोगी, बच्चे आदि लोग भी होते है। ऐसे मनुष्यों को मताधिकार देने से कोई लाभ नही है क्योकि वे मताधिकार को समझ ही नही सकते। अतः अच्छे प्रजातन्त्र में बालकों तथा विक्षिप्तों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है। क्योकि इनमें राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करने का तथा उचित मत देने की योग्यता नही होती है। जो लोग कारावास का दंड पाये हुए होते है अथवा किसी फौजदारी के मुकद्दमे में अपराधी होते है उन्हें भी साधारणतया मताधिकार नही दिया जाता है। विदेशीय भी नागरिकता के अधिकारी नहीं है, क्योंकि वे अन्य राज्य के राजभक्त नही हो सकते। अतः एक देश में रहने वाले लोगों को दूसरे देश में नागरिकता का अधिकार प्राप्त नही होता है परन्तु एक निश्चित काल तक दूसरे देश अथवा प्रान्त में निवास करने के पश्चात् उन्हें वहां की नागरिकता के अधिकार प्राप्त हो जाते है।

स्त्रियों का मताधिकार—फ्रांस की क्रान्ति के समय यूरोप में लोगों में नवीन राजनैतिक चेतना हो गई थी। यूरोपीय देशों के लोगों को व्यापक मताधिकार प्राप्त करने की प्रबल कामना हुई। उसी समय फ्रान्स की राष्ट्रीय सभा के सम्मुख एक प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किया गया था जिसमें स्त्रियों को मताधिकार देने के लिये कहा गया था। उस समय फ्रान्स की राष्ट्रीय

सभा में कुछ सदस्यों ने कहा था कि मताधिकार प्रत्येक नागरिक का नैसर्गिक तथा जन्मजात अधिकार है और किसी भी व्यक्ति को इस अधिकार से वंचित रखना बड़ा भारी अन्याय है, स्त्रियां भी नागरिक हैं अतः इन्हें भी मताधिकार मिलना चाहिये। इसके पश्चात् इंग्लैण्ड में बेन्थम, सिजविक, जान स्टुअर्टमिल आदि ने भी स्त्रियों को मताधिकार दिलवाने का बड़ा प्रयत्न किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कुछ अंश में स्त्रियों को मताधिकार मिला था। तब से स्त्रियों को अधिकाधिक मताधिकार प्राप्त होता गया। और अब संसार के लगभग सब देशों में स्त्रियों को पूर्णरूप से मताधिकार प्राप्त है।

इङ्गलैण्ड में स्त्रियों को मताधिकार—इङ्गलैण्ड में सन् १९२८ से स्त्रियों को पूर्ण मताधिकार प्राप्त हुआ है। उससे पूर्व स्त्रियों को पार्लियामेंट के चुनाव के अतिरिक्त सर्वत्र मताधिकार के वे अधिकार प्राप्त थे जो पुरुषों को थे। इङ्गलैण्ड में मेयर, ऐल्डर मैन और म्युनिसिपल सदस्यता आदि के पद भी स्त्रियों को प्राप्त हैं। जब तक स्त्रियों को पार्लियामेंट के चुनाव का मताधिकार नहीं मिला था तब तक स्त्रियों तथा जनता ने स्त्रियों को यह अधिकार दिलाने का बड़ा प्रयत्न किया। कई बार अनुदार और उदार दल ने प्रस्ताव पास कर सब चुनावों में स्त्रियों को मताधिकार देने के प्रस्ताव पास किये। विलायत के मजदूर दल के आदर्शों में स्त्रियों को पुरुषों के समान सम्पूर्ण मताधिकार दिलवाने का भी एक आदर्श था। स्त्रियों ने भी इस अधिकार को प्राप्त करने के लिये बड़ा आन्दोलन किया। स्त्रियों ने पार्लियामेंट पर धावे तक किये। उस समय के प्रधानमंत्री एस्क्विथ पर बड़ी बुरी तरह से मार पड़ी थी। आस्ट्रेलिया में स्त्रियों को न केवल पुरुषों के समान मताधिकार ही प्राप्त हैं, यहाँ स्त्रियाँ पुरुषों के समान पार्लियामेंट की सदस्या भी हो सकती हैं तस्मानिया और न्यूजीलैण्ड में स्त्रियों को पुरुषों के समान मताधिकार प्राप्त हैं। नार्वे और फिन्लैण्ड में भी स्त्रियों को समान मताधिकार प्राप्त हैं। कनाडा प्रभृति कई राज्यों में तो विवाहित, अविवाहित, विधवा, सधवा आदि सब वयस्क स्त्रियों को ठीक पुरुषों के समान मताधिकार प्राप्त हैं।

अमेरिका के संयुक्त राज्य में स्त्रियों को कहीं मनुष्यों के समान अधिकार प्राप्त थे और कहीं पर नहीं। क्लोरीडो, इडा आदि कुछ राज्यों में स्त्रियों को पुरुषों के समान मताधिकार प्राप्त थे। अन्यत्र कहीं स्त्रियों को केवल स्कूल-चुनाव में और कहीं म्युनिसिपल चुनाव में मताधिकार प्राप्त थे। वहाँ

भी स्त्रियों ने मताधिकार प्राप्त करने के लिये बड़ा आन्दोलन किया और उसे प्राप्त करने में सफल हुई।

अधिकतर लोगों का नारी मताधिकार के विषय में यह मत है कि स्त्रियों का कार्यक्षेत्र उनका घर है, राजनैतिक झंझटों में पड़ने से वे अपने गृहस्थी के कर्तव्यों से विमुख हो जायेंगी। यह सत्य है कि स्त्रियों को पुरुषों की सहधर्मिणी, बच्चों की माता, तथा गृह-स्वामिनी के रूप में बहुत कुछ कार्य करना आवश्यक है, परन्तु उनमें राज्य-कार्य में भाग लेने की जितनी सुविधा और योग्यता हो, उसके उपयोग का अधिकार उन्हें मिलना चाहिये। जो लोग स्त्रियों को मताधिकार देने के विरोधी हैं उनका कथन है स्त्रियों को मताधिकार इसलिये नहीं मिलना चाहिये कि वे मताधिकार को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग नही कर सकेंगी। उनके पति का उनके मताधिकार पर पूर्ण अधिकार रहेगा। जिस व्यक्ति को वे चाहेंगे उसे अपनी स्त्रियों का मत दिलवायेंगे। स्त्रियां अपने पति के प्रभाव से प्रभावित होकर उन्हीं की इच्छानुसार अपना मत देंगी। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। स्त्रियां पुरुषों की दास नहीं है। अब स्त्रियों में बहुत जागृति हो गई है। अब से लगभग पचास वर्ष पूर्व ऐसा संभव हो सकता था परन्तु अब स्त्रियों को न तो उनके पुरुष उन्हें बाध्य ही कर सकते हे और न अन्य किसी प्रकार से उनकी इच्छा के विरुद्ध उनसे कोई कार्य करा सकते है। क्योंकि स्त्रियों में अब शिक्षा का प्रचार हो गया है और अधिकाधिक होता जा रहा है। नगर की स्त्रियाँ राजनैतिक क्षेत्रों में कार्य करने के लिये पूर्ण रूप से योग्य हो गई हैं। अभी ग्रामीण स्त्रियों में अधिक राजनैतिक चेतना नहीं फैली है। इसका कारण यह है कि अभी वहाँ शिक्षा की कमी है। परन्तु अब ग्रामों में भी शिक्षा की उन्नति हो रही है और कुछ काल पश्चात् वहाँ की स्त्रियाँ भी नगर की स्त्रियों की भाँति राजनैतिक क्षेत्र में पुरुषों की भाँति कार्य करने लगेंगी। स्त्रियां पुरुषों के समान बुद्धिमान होती हैं। उन्हें मताधिकार से वंचित रखना वास्तव में घोर अन्याय है। सिजविक का कथन है कि "मैं इस बात का कोई कारण नहीं देखता कि कोई आत्मावलम्बी व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, मताधिकार से वंचित रखा जाय। केवल स्त्री होने के कारण मताधिकार से वंचित रखना अन्याय है"। जान स्टुअर्ट मिल का कथन है कि "प्रत्येक योग्य नागरिक को मताधिकार मिलना चाहिये, इस लिंग भेद का रखना ठीक नहीं है। मताधिकार में लिंग भेद ठीक वैसा ही है जैसा यह कहना कि अमुक मनुष्य

के अमुक अवयव को अन्य अवयवों की अपेक्षा शरीर पर विशेष अधिकार प्राप्त है"। आधुनिक काल में राजनैतिक क्षेत्र में स्त्रियों को मनुष्य के पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गये हैं और स्त्रियों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि वे इस क्षेत्र में मनुष्यों से किसी प्रकार पीछे नहीं हैं।

निर्वाचकों की योग्यता—प्रत्येक मनुष्य को राजनैतिक विषयों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है परन्तु यदि प्रत्येक मनुष्य शिक्षित हो तो वह समाचारपत्र, रेडियो आदि द्वारा इतना अवश्य समझ सकता है कि वर्तमान काल की राजनैतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति कैसी है। अतः यह आवश्यक है कि जनता में शिक्षा का प्रचार किया जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि जब तक जनता में शिक्षा का प्रचार न हो तब तक उन्हें मताधिकार न दिया जाय। अब भारतवर्ष में सब वयस्क पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है परन्तु अब आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण लोगों में शिक्षा प्रचार शीघ्रातिशीघ्र किया जाय। सौभाग्य से हमारी सरकार इस बात का पूर्ण प्रयत्न कर रही है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपल बोर्ड भी इस बात का पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं।

श्रम और स्वावलम्बन—कुछ लोगों का मत है कि मताधिकार उन लोगों को नहीं मिलना चाहिये जो अपनी जीविका-उपार्जन नहीं करते हैं और स्वावलम्बी नहीं हैं। मताधिकार केवल उन्हीं लोगों को मिलना चाहिये जो अपने देश के लिये कुछ उत्पादन कार्य करते हों और देश की आय में योग देते हों। अतः श्रमजीवी, स्वावलम्बी तथा ईमानदारी से जीविका उपार्जन करने वालों को मताधिकार मिलना चाहिये और जो लोग अपने व्यवसाय में भ्रष्टाचार करते हैं, घूस खाते हैं, व्याज खाते हैं अथवा जो पूंजीपति जमींदार और महन्त हैं उन्हें मताधिकार नहीं मिलना चाहिये। रूस में यह प्रथा प्रचलित है और वहाँ यह प्रथा सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। परन्तु वास्तव में किसी प्रकार के मनुष्य को मताधिकार से वंचित नहीं रखना चाहिये। स्त्री और पुरुषों को समान मताधिकार प्राप्त होना चाहिये। हमारे नवीन विधान में यही बात रखी गई है। हाँ, जो लोग विक्षिप्त, अपराधी तथा अवयस्क हैं उन्हें इस अधिकार से वंचित रखना चाहिये क्योंकि उनमें इतनी बुद्धि ही नहीं होती कि वे राजनैतिक बातों को समझ सकें। संसार में सब देशों में ऐसे लोगों को मताधिकार प्राप्त नहीं है।

साम्पत्तिक योग्यता—मताधिकार के लिये साम्पत्तिक योग्यता का होना अनिवार्य नहीं होना चाहिये। अंग्रेजी शासनकाल में भारतवर्ष में इस

था का प्रचार था परन्तु जब से स्वराज्य मिला है तब से साम्पत्तिक योग्यता
ो रोक हटा दी गई है।

वयस्क मताधिकार—आधुनिक काल में सब सभ्य देशों में विक्षिप्त,
पराधी, दण्डप्राप्त तथा अवयस्क को छोड़ कर सब को मताधिकार प्राप्त
ं और वास्तव में यह बात न्यायसंगत भी है। निर्वाचन के लिये किसी प्रकार
ी साम्पत्तिक अथवा शिक्षा की शर्त रखना अनुचित है। जनतन्त्र राज्य में सब
त्री पुरुषों को समान राजनैतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। किसी देश में इक्कीस
र्ष और किसी देश में २५ वर्ष की आयु हो जाने पर स्त्री पुरुष वयस्क समझे
ाते हैं। जिन देशों में एक निश्चित आयु पर पहुँचने पर स्त्री पुरुषों को मता-
धिकार प्राप्त हो जाता है उसे वयस्क मताधिकार कहते हैं। जहाँ वयस्क मता-
धिकार प्राप्त होता है वहाँ मताधिकार के लिये अन्य किसी प्रकार की शर्त नहीं
होती है। यदि कोई और शर्त भी होती है तो वह ऐसी होती है कि उनके
होते हुए लगभग ९० प्रतिशत लोगों को मताधिकार प्राप्त होता है। उदा-
हरणार्थ यह शर्त कि मताधिकार प्राप्त होने के लिये थोड़ी सी शिक्षा की
आवश्यकता है। थोड़ी सी शिक्षा का अभिप्राय है केवल इतना पढ़ा लिखा
होना कि मतदाता समाचारपत्र पढ़ सके और थोड़ा सा लिखना
जानता हो।

कुछ लोगों का मत है कि केवल शिक्षित लोग ही अपने मताधिकार
का उचित प्रयोग कर सकते हैं और अशिक्षित नहीं। उनका कथन है कि
म्यूनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और ग्राम पंचायतों में तो अशिक्षित लोग भी
अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकते हैं परन्तु प्रान्तीय तथा संघीय विधान
सभाओं के लिये सदस्यों का शिक्षित होना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि
इन सभाओं में शिक्षित सदस्य ही भेजने चाहिये।

आजकल यह देखने में आता है कि जनतन्त्र राज्यों में वयस्क मता-
धिकार प्राप्त होने पर भी लोग निर्वाचनों में अधिक दिलचस्पी नहीं लेते हैं।
संयुक्त राज्य अमेरिका आधुनिक काल का सबसे प्राचीन देश है जहाँ सबसे
पहले पूर्ण जनतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। वहां के लोग जन्मजात-जनतन्त्र-प्रेमी
कहलाते हैं। परन्तु अनुभव से ज्ञात हुआ है कि वहां भी जनता निर्वाचनों में
अधिक दिलचस्पी नहीं लेती है। बहुत कम लोग निर्वाचन में भाग लेते हैं।
अधिकतर लोग मत देने में उदासीन होते हैं। यद्यपि अमेरिका का संयुक्त राज्य
बहुत उन्नत देश है और लोगों में राजनैतिक चेतना भी है परन्तु वहाँ भी
बहुत कम लोग मत देने को जाते हैं। लोगों में इस बात का आन्दोलन करने

की आवश्यकता है कि उन्हें मताधिकार के लाभ बतलाये जायँ और यह भी बतलाया जाय कि राज्य का शासन-प्रबन्ध मतदाताओं पर ही निर्भर है। यदि वे योग्य, ईमानदार और सच्चरित्र सदस्य विधान सभाओं में भेजेंगे तो देश का हित होगा और यदि अयोग्य पुरुष भेजे जायेंगे तो देश का अहित होगा। इस प्रकार की राजनैतिक चेतना का जागृत करना जनतन्त्र राज्य का परम कर्तव्य है।

निर्वाचकों का कर्तव्य—जिन देशों में जनतन्त्र राज्य हैं वहां वयस्क मताधिकार अनिवार्य होता है। वयस्क मताधिकार प्राप्त लोगों का कर्त्तव्य है कि वे अपने मताधिकार का उचित प्रयोग करें। निर्वाचकों को विचारपूर्वक अपना मत देना चाहिये और अच्छे मतदाता के जो कर्तव्य हैं उनका पालन करना चाहिये। बहुधा ऐसा देखा गया है कि मतदाता प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रभाव में आकर अपने अधिकार का उचित प्रयोग नहीं करते हैं। कृषक लोग अपने जमींदारों के दबाव में आकर अपनी इच्छानुसार मत न देकर जमींदारों की इच्छानुसार अपना मत देते हैं क्योंकि उनको इस बात का भय होता है कि यदि वे जमींदारों को इच्छा के विरुद्ध अपना मत देंगे, तो वे उन्हें अपनी भूमि से पृथक् कर देगें, उनका जीविका उपार्जन करने का साधन जाता रहेगा और उनके बाल बच्चे भूखे मर जायेंगे। इसी प्रकार पूंजीपतियों का भी मतदाताओं पर बड़ा प्रभाव होता है। वे धन का लालच देकर अपनी इच्छानुसार मत प्राप्त कर लेते हैं। बहुधा यह देखा गया है कि जनतन्त्र राज्यों में निर्वाचनों में बहुत धन व्यय होता है अथवा यों कहना चाहिये कि धन का अपव्यय होता है। बहुत से लोग साम्प्रदायिक विचारों से प्रभावित हो जाते हैं। अभ्यर्थी धर्म अथवा जाति के नाम पर मत प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। कभी कभी 'धर्म संकट में है' यह नारे लगाकर जनता को उत्तेजित करके मत प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के बहुत से दोष वयस्क मताधिकार में पाये जाते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिये लोगों को उचित शिक्षा देने की आवश्यकता है और उन्हें यह भी बतलाने की आवश्यकता है कि अभ्यर्थी जिन जिन अनुचित दबावों की धमकी देते हैं वह व्यर्थ हैं और उन धमकियों में उनको नहीं आना चाहिये।

अभ्यर्थी के गुण—जिस प्रकार मतदाताओं में विशेष गुणों की आवश्यकता है उसी प्रकार अभ्यर्थी में भी कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता है। अभ्यर्थी को गंभीर, पर्याप्त आयु का, योग्य और निर्भीक होना आवश्यक है। अभ्यर्थी को अनुभवी होना चाहिये और वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो

ावश्यकता ही नहीं होती। मत लेने की आवश्यकता उस समय होती है
ब एक निर्वाचन क्षेत्र में एक से अधिक अभ्यर्थी खड़े होते हैं। ऐसी दशा में
नर्वाचन कराने की आवश्यकता होती है जिसमें यह पता चल जाय कि किस
यक्ति के पक्ष में उस निर्वाचन क्षेत्र का बहुमत है। एकमत प्रणाली के अनुसार
त्येक मतदाता को केवल एक ही मत देने का अधिकार होता है। वह अपनी
च्छानुसार जिस व्यक्ति को निर्वाचित करना चाहता है उसके पक्ष में एक मत
ता है। जिस व्यक्ति के पक्ष में बहुसंख्यक व्यक्ति होते हैं उसी को निर्वाचित
ोषित कर दिया जाता है।

आलोचना—एकमत प्रणाली बड़ी सरल प्रणाली है परन्तु इस प्रणाली में एक दोष भी है। इस प्रणाली द्वारा यदि एक अभ्यर्थी चुना जाता है तो वह उन्हीं मतदाताओं का प्रतिनिधि होता है जो उसे अपना मत देते हैं। जिन मतदाताओं ने उसे अपना मत नहीं दिया है वे प्रतिनिधित्व से वंचित रह जाते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक अभ्यर्थी केवल दो-चार मतों से ही जीतता है। ऐसी दशा में वह लगभग आधे ही मतदाताओं का प्रतिनिधि होता है और अन्य आधे मतदाताओं का कोई प्रतिनिधि नहीं होता। उदाहरणार्थ लखनऊ के नगर निर्वाचन क्षेत्र से एक सदस्य प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल के लिये निर्वाचित करना है। इस क्षेत्र में दो व्यक्ति 'क' और 'ख' खड़े होते हैं। लखनऊ के नगर क्षेत्र में ५०००० मतदाताओं ने मत दिये। 'क' के पक्ष में २५००१ मत दिये गये और 'ख' के पक्ष में २४९९९, अतः 'क' को 'ख' से केवल दो मत अधिक मिले और वह निर्वाचित हो गया। इस प्रकार 'क' केवल २५००१ नागरिकों का ही प्रतिनिधि हुआ और अन्य २४९९९ मतदाता प्रतिनिधित्व से वचित रह गये। उनका कोई प्रतिनिधि व्यवस्थापक मण्डल में न होगा। यदि एक निर्वाचन क्षेत्र से दो से अधिक अभ्यर्थी खड़े होते हैं तो बड़ा अंधेर हो जाता है। मान लीजिये कि बिजनौर नगर के मतदाताओं की संख्या ३००० है। यहाँ से चार अभ्यर्थी खड़े होते हैं, 'क' को ६००, 'ख' को ७००, 'ग' को ८०० और 'घ' को ९०० मत मिलते हैं। इस प्रकार 'घ' को सब से अधिक अर्थात ९०० मत प्राप्त हुए हैं और 'घ' निर्वाचित हो जाता है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ३००० मतदाताओं में से केवल ९०० मत 'घ' को मिले और वह निर्वाचित हो गया। ऐसी स्थिति में 'घ' को बिजनौर की जनता का प्रतिनिधि कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है। वहां के २१०० लोग प्रतिनिधित्व से वंचित रह गये। एक तिहाई से कम लोगों का प्रतिनिधित्व हुआ। यह कैसा प्रतिनिधित्व है ?

अनेकमत प्रणाली—जब प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से कई कई प्रतिनिधि निर्वाचित करने होते हैं और प्रत्येक मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है जितने प्रतिनिधि निर्वाचित किये जाते हे तो इस प्रणाली को अनेकमत प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली के अनुसार मत देने के अनेक प्रकार हैं, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

(क) एक अभ्यर्थी, एक मत-पद्धति।

(ख) एकत्रीभूत मत-पद्धति।

(ग) एकलसंक्राम्य मत-पद्धति।

(क) 'एक अभ्यर्थी, एकमत' पद्धति—इस पद्धति से यह लाभ है कि जहाँ अनेकमत पद्धति द्वारा निर्वाचित किया जाता है वहाँ बहुमत को ही प्रतिनिधित्व मिलता है और अल्पमत का प्रतिनिधित्व नहीं होता। उदाहरणार्थ एक निर्वाचन क्षेत्र से चार प्रतिनिधि लिये जायेंगे। यहाँ प्रत्येक निर्वाचक को चार मत देने का अधिकार होगा। मान लो, यहाँ तीन दल हैं—हिन्दू-सभा, समाजवादी और कांग्रेसी। हिन्दू-सभा के ८००, समाजवादी के १६०० और कांग्रेस के १८०० मतदाता हैं। प्रत्येक दल चार चार अभ्यर्थी खड़े करता है और यह चाहता है कि उसके सब अभ्यर्थी निर्वाचित हो जायं। निर्वाचन का परिणाम यह होता है कि हिन्दूसभा से प्रत्येक अभ्यर्थी को आठ सौ मत मिलते हैं, समाजवादी दल के अभ्यर्थी को सोलह-सोलह सौ और कांग्रेस दल के अभ्यर्थी को अठारह-अठारह सौ मत मिलते हैं। इस प्रकार कांग्रेस दल के चारों अभ्यर्थी सफल होते हैं और प्रतिनिधि घोषित किये जाते हैं। हिन्दू सभा और समाजवादी दलों के आठों अभ्यर्थी असफल होते हैं।

(ख) एकत्रीभूत मत पद्धति—इस पद्धति के लिये बहु-प्रतिनिधिक निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिये, और जितने प्रतिनिधि चुने जाने वाले होते हैं उतने ही मत देने का अधिकार होता है पर उसे इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने सब मत केवल एक ही अभ्यर्थी को दे दे या उन सबमें बांट दे। ऐसी दशा में जो दल अपने को अल्पमत समझता है वह अपने सब मत एक ही अभ्यर्थी को दे देता है और इस प्रकार कम से कम उसका एक प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभा नें पहुँच जाता है। पिछले उदाहरण में कांग्रेस दल व्यवस्थापिका सभा में अपने चारों प्रतिनिधि भेजने के लिये अपने अभ्यर्थियों को अपने सब मतदाताओं का एक एक मत दिलाता है, उसके प्रत्येक अभ्यर्थी को अठारह अठारह सौ मत मिलते हैं। अब यदि हिन्दू सभा के मतदाताओं के सब मत उस दल के एक अभ्यर्थी को मिल जाते हैं तो उसके पक्ष में

८०० × ४ = ३२०० मत हो जाते हैं, इसी प्रकार समाजवादी दल के सब मत उस दल के एक ही अभ्यर्थी को मिलने से उसके पक्ष में १६०० × ४ = ६४०० मत हो जाते हैं, अब मतों की अधिकता के विचार से विजयी अभ्यर्थियों का क्रम इस प्रकार रहता है:—

(१) समाजवादी दल का अभ्यर्थी ६४००
(२) हिन्दू सभा " " " ३२००
(३) कांग्रेस ,, ,, ,, १८००
(४) ,, ,, ,, दूसरा अभ्यर्थी १८००

इस प्रकार इस प्रणाली में अल्पसंख्यक दल को भी अपना प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिलता है। इस पद्धति की यही विशेषता है।

इस प्रणाली में यह दोष है कि कुछ विशेष अभ्यर्थियों को आवश्यकता से अधिक मत मिल जाते हैं और अन्य अभ्यर्थियों को मतों की कमी हो जाती है और वे निर्वाचित नहीं हो पाते।

(ग) एकल संक्राम्य-मत-पद्धति—यह प्रणाली अनुपात प्रणाली की ही एक पद्धति है इस पद्धति में वर्तमान दो या अधिक एक-प्रतिनिधि क्षेत्रों को आपस में मिलाकर कुछ बड़े निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार बना दिये जाते हैं कि प्रत्येक बड़े निर्वाचन क्षेत्र से कम से कम तीन और अधिक से अधिक सात अभ्यर्थी चुने जा सकें। एक निर्वाचन क्षेत्र से कितने ही प्रतिनिधि चुने जायें पर प्रत्येक मत-दान-पत्र पर इस मत को देते समय यह स्पष्ट करने की भी स्वतंत्रता होगी कि वह सर्वप्रथम किस अभ्यर्थी को चाहता है और दूसरे नम्बर पर किसको। इसी प्रकार वह सब अभ्यर्थियों के नाम के सामने अपनी रुचि-सूचक १, २, ३, ४, आदि संख्या लिख देगा। यदि पहली पसन्द के अभ्यर्थी को उस मतदाता के मत की आवश्यकता न हुई और वह उसके मत पाने से पहले ही निश्चित मतों की संख्या पा चुकने से निर्वाचित हो गया या उसके निर्वाचित होने की आशा ही नहीं है तो वह मत दूसरी पसन्द वाले अभ्यर्थी को दे दिया जायगा। इसी प्रकार वह मत यदि आवश्यक हो तो तीसरी चौथी आदि पसन्द वाले अभ्यर्थियों को दिया जायगा। मतधारक का मत किसी प्रकार भी व्यर्थ नहीं जायगा। वह किसी न किसी अभ्यर्थी को निर्वाचित करने में उपयोगी सिद्ध होगा। इस प्रणाली की विशेषता यही है कि कोई भी मत व्यर्थ नहीं जाता, यदि कोई कठिनाई है तो वह गिनने की, पर उससे मतदाता को कोई कष्ट नहीं होता। गणना से पहले यह स्थिर करना पड़ता है कि निर्वाचित होने के लिये प्रत्येक अभ्यर्थी को कम से कम

कितने मत मिलने चाहिये। इसका निकालना बहुत सरल है। इस प्रणाली से लोकमत का अधिक सच्चा परिचय मिलता है जो अन्य प्रणालियों द्वारा नहीं मिल सकता। इससे प्रत्येक मतधारक को वास्तव में पसन्द करने का अवसर मिल सकता है।

उदाहरण—मान लीजिये कि एक ऐसे निर्वाचन क्षेत्र में निर्वाचन हो रहा है जिससे पांच सदस्य प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में भेजने है। यह भी मान लीजिये कि इन पांच स्थानों के लिये उस क्षेत्र स नौ अभ्यर्थी खड़े किये गये है। बैलट पेपर पर उन नौ अभ्यर्थियों के नाम इस प्रकार हैं—

बैलट पेपर

निम्न स्थान में अपनी पसन्द का नं० डाल दो	अभ्यर्थियों के नाम
	मौलाना अबुलकलाम आजाद
	पं० गोविन्द वल्लभ पन्त
	श्री चन्द्रभान गुप्त
	श्री बी० जी० खेर
	सेठ दामोदर दास
	चौ० गिरधारीलाल
	श्री गोविन्दसहाय
	श्री सम्पूर्णानन्द
	श्रीमती सुचेता कृपलानी

मतदाताओं के लिये आदेश

(१) जिस अभ्यर्थी को आप चुनते हैं, उसके नाम के पहले, पसंद के खाने में १ बना दीजिए।

(२) जिस अभ्यर्थी को आप दूसरे नम्बर पर चुनना पसन्द करते है उसके नाम के पहले पसन्द के खाने में २ बना दीजिए।

(३) जिस अभ्यर्थी को तीसरे नम्बर पर चुनना पसन्द करते है उसके नाम के पहले ३ बना दीजिए

इसी प्रकार अपनी पसन्द के चिन्ह बना दीजिए।

निर्वाचन के परिणाम की व्याख्या—प्रथम गणना-पहले रिटर्निंग अफसर बैलट पेपरों में से उन सब नामों को छांटेगा जिनके आगे संख्या १ लिखी होगी। पृ ३४७ पर प्रथय गणना वाले खाने में दिखाया गया है कि किन किन अभ्यर्थियों के नाम के आगे पहली पसन्द की संख्या कितनी कितनी

थी। मौ० आज़ाद को ११ निर्वाचकों ने पहली पसन्द में रखा था, श्री पन्त को १६ ने श्री गुप्त को १२ ने इत्यादि।

रिटर्निंग अफसर तब कोटाज्ञात करेगा, अर्थात यह ज्ञात करेगा कि एक अभ्यर्थी के निर्वाचन के लिए कम से कम कितने मतों की आवश्यकता है। इस निर्वाचन सूची के अनुसार अभ्यर्थी के निर्वाचन के लिए कम से कम २० मतों को आवश्यकता है। इस संख्या को इस प्रकार ज्ञात करते हैं—जितने मत दिये जायें, उस संख्या में जितने स्थान हैं उसमें एक जोड़कर भाग दे दो और भागफल में १ और जोड़ दो। यहां ११५ मत दिये गए हैं। स्थानों की संख्या ५ है। इसमें १ जोड़ने से ६ हो गया ११५ में ६ का भाग दे दिया गया, निकटतम भागफल १६ हुआ १६ में १ जोड़ दिया। अतः कोटा २० हुआ। निर्वाचित होने के लिए प्रत्येक अभ्यर्थी को कम से कम २० मत प्राप्त करने चाहिए। अब प्रथम गणना से ज्ञात होता है कि चौ० गिरधारीलाल को ३०० मत प्राप्त हुए हैं। इसलिए चौ० गिरधारीलाल को निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

द्वितीय गणना—चौधरी गिरधारी लाल के अधिक मतों का हस्तान्तर इस प्रकार होगा—चौधरी गिरधारी लाल को १० मत अधिक मिले हैं। रिटर्निंग अफसर इन मतों को इस प्रकार हस्तान्तर करता है कि उन सब अभ्यर्थियों के साथ पूर्ण न्याय हो जाये जिनको चौधरी साहब के निर्वाचकों ने अपनी दूसरी पसन्द में दिखलाया है। चौधरी साहब के तीसों बैलट पेपरों का फिर निरीक्षण किया जाता है और वे नाम छांटे जाते हैं जिनके आगे दूसरी पसन्द का चिन्ह बना हुआ है। छाँट का परिणाम पृष्ठ ३४७ के अनुसार निकाला:—चौ. गि. लाल बैलट पेपरों में ६ पर श्री पन्त के लिए
दूसरी पसंद थी „ „ „ „ „ ३ „ श्री गुप्त „ „ „ „ „
„ „ „ „ „ २१ „ श्री खेर „ „ „ „ „ *

*चौधरी गिरधारीलाल के ३० बैलटपेपर

चौधरी गिरधारीलाल के ३० मतों में से १० मत लिये जा सकते हैं अर्थात् एक तिहाई मत लिये जा सकते हैं। अतः प्रत्येक अभ्यर्थी को चौधरी गिरधारीलाल के उन बैलट पेपरों का तिहाई भाग मिल सकता है जिनमें दूसरी पसन्द लिखी हुई है। इस प्रकार श्री पंत को दो पेपर (मत) और मिल जाते हैं क्योंकि ६ पेपरों पर इनके लिये दूसरी पसन्द दिखाई गई थी और ६ का तिहाई हुआ २। श्री गुप्त को एक मत और मिलता है क्योंकि तीन पेपरों में इनके लिये दूसरी पसन्द दिखाई गई थी और तीन का तिहाई हुआ १। श्री खेर को ७

मत मिलते हैं क्योंकि २१ पेपरों में इनके लिये दूसरी पसंद दिखाई गई है।

तृतीय गणना—श्री सम्पूर्णानन्द के मतों का हस्तान्तर—सब अधिक मतों को हस्तान्तर करने के पश्चात सब से कम मत प्राप्त करने वालों को रिटर्निंग अफसर असफल घोषित करता है। यहां श्री सम्पूर्णानन्द असफल होते हैं और इनके ६ मतों को अन्य पसन्द किये हुये व्यक्तियों में बांट दिया जाता है। तीन मतदाताओं ने दूसरी पसन्द मौ० आजाद के लिये प्रकट की है और एक ने श्रीमती सुचेता कृपलानी के लिये। अतः इन मतों का हस्तान्तर कर दिया जाता है। दो मतदाता अपनी पसन्द नहीं दिखलाते हैं और केवल श्री सम्पूर्णानन्द को मत देते हैं। इस प्रकार सम्पूर्णानन्द तथा उनके दल को दो मतों की हानि होती है और ये दो मत अहस्तान्तरित समझे जाते हैं।

चतुर्थ गणना—श्री दामोदरदास के मतों का हस्तान्तर—इन्होंने भी कम मत प्राप्त किये हैं। इनके पेपर देखने से पता चलता है कि इनके पांच मतदाताओं ने अपनी दूसरी पसन्द श्री गोविन्दसहाय के लिये प्रकट की हैं और एक ने श्रीमती सुचेता कृपलानी के लिये। अतः इन मतों का इस प्रकार वितरण कर दिया जाता है। यद्यपि श्रीगोविन्दसहाय को निश्चित २० मत मिल जाते हैं और वह निर्वाचित हो जाते हैं परन्तु एक पेपर पर पसन्द नहीं प्रकट की गई है अतः उस पेपर को अहस्तान्तरित करके पृथक कर दिया जाता है।

पंचम गणना—श्रीमती सुचेता कृपलानी के मतों का हस्तान्तर—अब श्रीमती सुचेता कृपलानी के मत बहुत कम हैं। इनके १० पेपरों से पता चलता है कि उनमें से ६ में दूसरी पसन्द मौ० आजाद के लिये है, दो में श्री पन्त के लिये हैं। इन आठ मतों को पसन्द के अनुसार हस्तान्तरित कर दिया जाता है। दो पेपर और हैं जिनमें पसन्द प्रकट नहीं की गई हैं अतः ये दोनों पेपर बेकार हो जाते हैं। इनको अहस्तान्तरित कर के पृथक कर दिया जाता है।

अब मौलाना आजाद व श्री गोविन्द बल्लभ पंत को मतों का निश्चित कोटा प्राप्त हो जाता है और इन्हें भी निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। श्री गोविन्द वल्लभ पंत को प्रथम गणना में अधिक मत मिले थे इसलिये निर्वाचित सदस्यों के क्रम में इनका नाम मौलाना आजाद के नाम के ऊपर रहेगा। एक स्थान और भरना रह गया है। श्री गुप्त को श्री खेर से कम मत मिले हैं इसलिये श्री गुप्त असफल होते हैं। अन्तिम स्थान को भरने के लिये श्री खेर के मतों की संख्या अधिक होने के कारण इनको निर्वाचित घोषित किया जाता है यद्यपि इनको मतों का निश्चित कोटा प्राप्त नहीं हुआ

है। इसका कारण यह है कि एक स्थान खाली था और एक अभ्यर्थी की आवश्यकता थी इस लिये इनको ले लिया गया।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये

जे० डब्ल्यू० गार्नर —*इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस*

सिजविक —*ऐलीमेन्ट्स आफ पौलीटिक्स*

ब्लंशली —*थ्यौरी आफ दी स्टेट*

मेन —*पोपुलर गवर्नमैंट*

मिल —*रिप्रैजैन्टेटिव गवर्नमैंट*

रूसो —*सोशल कॉन्ट्रेक्ट*

सुमनर —*इक्वल सफ्रेज इन कौलोरैडो*

लैकी —*डैमोक्रेसी ऐन्ड लिबर्टी*

अध्याय ११

विधान और सर्वोच्चसत्ता

'विधान' शब्द का प्रयोग विविधि अर्थों में किया जाता है किन्तु उन सब का अभिप्राय होता है नियम जिसके अनुसार घटनायें घटती हैं चाहे वह नियम जड़, प्रकृति, मानव-स्वभाव या सामाजिक बलप्रयोग पर आधारित हो। जिस विधान से हमें यहां सरोकार है वह एक सामाजिक नियम है, उस समाज का विशेषकर वह नियम है जो राज्य के रूप में संगठित हो चुका हो। इस समाज में एक व्यक्ति या एक से अधिक व्यक्तियों का समूह दूसरों को आदेश देने की निरपेक्ष शक्ति रखता है और दूसरे व्यक्ति इन आदेशों को प्रकृत्या मानते हैं। ऐसे समाज में शासक व्यक्ति जो आदेश पत्र प्रजा द्वारा मानने के लिये निकालते हैं वे विधान कहे जाते हैं।

विधान का स्वरूप—जिस विधान की हम इस अध्याय में व्याख्या करने जारहे हैं वह राजा, या शासक द्वारा नागरिकों के आचार व्यवहार का नियमन करने के लिये दिया हुआ आदेश है जिसके अनुसार पालन न करने से नागरिक राज्य द्वारा दण्ड पाने के अधिकारी हैं। राज्य के विधान की प्रमुख पहिचान यह है कि उसका पालन राज्यदण्ड द्वारा कराया जा सकता है। बिना राज्य दण्ड के भय के विधान राजविधान नहीं रहता। यह भय प्रत्यक्ष न हो और व्यक्ति सदा भय के कारण ही विधानों का पालन न करते हों किन्तु यह भय विधान पालन की पृष्ठभूमि में रहता अवश्य है। इस दण्ड के भय के विना राज्य का आदेश अच्छी सलाह, राय या नसीहत भले ही हो वह विधान का रूप धारण नहीं करता।

विधान और नैतिकता—यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक विधान नीतिपूर्ण हो। विधान अनीतिपूर्ण हो सकता है और वैसी दशा में उस विधान की अवज्ञा करना नीति और आचार की दृष्टि से प्रशंसनीय ही समझा जायगा। विधान के अस्तित्व के लिये उसकी नैतिकता की वैसी आवश्यकता नहीं जितनी कि उसकी इस विशेषता की वह सर्वोच्च सत्ता की प्रकट इच्छा हो जिसे न मानना

दण्डनीय हो सकता हो। नैतिक नियमों व विधान में बड़ा अन्तर है। नैतिक नियम व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के लिये, उसके चरित्र को ऊंचा बनाने के लिये और उसके सामूहिक जीवन में सुख व शान्ति भरने के लिये आवश्यक हों। इसी कारण वश इन नियमों का पालन वांछनीय हो किन्तु केवल इतने भर से ही वे विधान का रूप धारण नहीं कर लेते। जब तक नैतिक नियमों पर राजाज्ञा की छाप नहीं लगती तब तक ये विधान नहीं कहलाते। व्यक्ति का कोई कार्य नैतिक दृष्टि से बहुत ही हीन होने पर भी विधान द्वारा दण्डनीय न हो। झूठ बोलना नैतिक अवगुण है किन्तु विधान असत्य भाषण को तब तक दण्डनीय नहीं समझता जब तक कि उससे लोक यात्रा में अड़चन नहीं पड़ती। राज्य का ध्येय चाहे आध्यात्मिक उन्नति भले ही हो, जैसा कि आदर्शवादी कहते हैं, किन्तु राज्य के लिये यह सम्भव नहीं कि वह लोगों को नीतिपूर्ण बनाने के लिये शक्ति का प्रयोग करे। असल में नीति और बल प्रयोग विरोधी बातें हैं। नैतिकता स्वप्रेरित ही होती है बलपूर्वक बुद्धि को नीतिपूर्ण बनाना नैतिकता की जड़ काटना है। इसलिये विधान जिनका आधार राज्य-बल है नीति की सृष्टि नहीं कर सकते, वे यह निश्चय नहीं कर सकते कि नीति क्या है और उस नीति को बरबस लोगों पर लाद भी नहीं सकते। वे नीति का अनुकरण कर सकते हैं, मार्ग प्रदर्शन करना विधानों का काम नहीं है।

विधान और धर्म—मानव इतिहास के प्रारम्भ में जब धर्माचार्य ही राजा होता था, धार्मिक आज्ञायें ही विधान का रूप धारण कर लेती थीं। समय बीतने पर राजा और धर्मगुरु का अधिकार क्षेत्र अलग अलग हो गया। धर्मगुरु मनुष्यों के उस आचार-विचार पर दृष्टि रखता था जिसका सम्बन्ध उसके पारलौकिक जीवन मे था और राजा इहलौकिक जीवन की बातों पर नियंत्रण रखने लगा। यह प्रथक्कीकरण स्पष्ट न होने से राजा और धर्मगुरु के अधिकारों में टक्कर होना अनिवार्य था। इस टक्कर का फल यह हुआ कि शताब्दियों के संघर्ष के बाद राजा विजयी हुआ। व्यक्ति के शरीर और सम्पत्ति पर राजा का पूरा अधिकार हो गया। इससे सम्बन्ध रखने वाले नियम लौकिक नियम कहलाने लगे और जिन नियमों को राज्य ने कार्यान्वित करना निश्चित किया वे विधान कहलाने लगे। धर्मगुरुओं की आज्ञायें साधारण जनता उतने ही भय से मानती थी किन्तु वह भय राज्यदण्ड का न था, वह नरक का भय था। धर्माचार्य ईश्वर का भय दिखलाकर चाहे इन भक्तों से कुछ भी करा लेते किन्तु बलप्रयोग राज्य ही कर सकता था।

जनतंत्र प्रणाली में राज्य और धर्म बिलकुल पृथक् मानना ही श्रेयस्कर समझा गया है क्योंकि एक राज्य में कई विभिन्न धर्मावलम्बियों के रहते हुये राज्य द्वारा किसी धर्म का अपनाया जाना मुसीबत से खाली नहीं हो सकता। अब विधानों का रूप धर्मशास्त्रों को कार्यान्वित करने का काम नहीं करते। उनका काम धर्मस्थापना नहीं, समाज संचालन है। वे यह नहीं कहते कि अमुक सम्प्रदाय को मानो, ईश्वर में विश्वास करो, उपासना करो, हाँ यह अवश्य कहते हैं कि यदि समाज व्यवस्था के अमुक नियम को तोड़ोगे तो दण्ड मिलेगा।

विधान के स्रोत—आधुनिक समय में सर्वोच्चसत्ता किसी प्रकार की व्यवस्था करने के लिये विचार-विमर्श द्वारा विधान बनाती है। ऐसा करते समय यह सत्ता विधान मण्डल का रूप धारण कर लेती है। विधान सभाओं के अतिरिक्त प्रैसीडेंट, गवर्नर आदि को भी अल्प-अस्थायी विधान बनाने का अधिकार रहता है। विधान सभायें विधान बनाने के अधिकार को अन्य छोटी संस्थाओं को भी दे देती हैं। म्यूनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि शासन विभागों को भी मूल विधान के अन्तर्गत नियम व उपनियम बनाने का अधिकार दे दिया जाता है। आधुनिक विधान प्रायः लिखित होते हैं। यहाँ हमें दो बातें जानना आवश्यक है। एक तो यह कि लिखित विधान कितनी ही सूक्ष्मबुद्धि से बनाया गया हो वह मानवजीवन में होनेवाला, परिवर्तनों व नई समस्यायों को सुलझाने में सर्वदा सफल नहीं हो पाता। कुछ बातें विधान निर्माताओं की दृष्टि के बाहर रह ही जाती हैं। दूसरे भाषा कितनी ही नपी तुली हो वह विधान-निर्माताओं के मन्तव्य को असंदिग्ध-रूप से व्यक्त करने में पूरी सफल नहीं हो पाती। इन दो बातों के कारण लिखित विधान के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे स्रोत हैं जहाँ से विधान का रूप परिवर्तित और विवर्धित होता है। इनका वर्णन नीचे किया जाता है।

रीति-रिवाज—जिस समाज में पूर्वजों पर श्रद्धा होती है परम्परा के प्रति आदर होता है वहीं रीति-रिवाज़ बनते हैं और उनको उचित महत्व दिया जाता है। तर्कबुद्धि और नवीनता के प्यासे युग में रीति-रिवाजों का महत्व कम हो गया है किन्तु प्राचीन काल में रीति-रिवाजों को ही न्यायकर्ता राजा अथवा अफसर लागू करता था। प्राचीन काल में आजकल जैसी कानून बनाने की प्रथा न थी जिसमें एक स्थान पर बैठ कर कुछ व्यक्ति सोचविचार के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार व अधिकारों का रूप निश्चित करते हैं। उस समय श्रेष्ठ, वयोवृद्ध विद्वान् व्यक्ति ही किसी व्यवहार की रूप रेखा निश्चित

कर देते थे और उसका साधारण प्रचलन होने पर कुछ समय के पश्चात् वह रीति रिवाज का रूप धारण कर लेता था। झगड़ा होने पर इन रीति रिवाजों का सहारा लेकर न्याय का निर्णय होता था। इससे स्पष्ट है कि नैतिक बुद्धि और मानव स्वभाव ही यद्यपि रीति-रिवाजों का मूल रही होगी किन्तु किसी बात की व्यावहारिक उपादेयता तथा सर्वमान्यता रीति-रिवाज को जन्म देती है। आधुनिक काल में लिखित विधानों ने रीति-रिवाज के क्षेत्र को बहुत संकीर्ण कर दिया है। आधुनिक विधान स्वयं कहीं कहीं रीति-रिवाजों का लिखित रूप हैं इस युग में भी ऐसे अवसर आते हैं जब वकील या जज को रीति-रिवाज का सहारा लेना पड़ता है क्योंकि लिखित विधान उन्हें अपूर्ण प्रतीत होता है।

प्राचीन विधान और उन पर टीकायें—संसार की प्रमुख जातियों के प्राचीन लिखित कुछ विधान रहे हैं जिनके आधार पर उनके आधुनिक विधानों का निर्माण हुआ है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि स्मृतियां हिन्दुओं के प्राचीन ग्रंथ हैं जिन पर आधुनिक हिन्दू वैयक्तिक विधान आधारित है इसी प्रकार मौज़ेइक ला इसाइयों में, सोलन के विधान यहूदियों में रोमन लोगों के बारह विधान आदि प्रसिद्ध हैं। ये ग्रंथ प्राचीन हैं। समय-परिवर्तन के साथ साथ इनमें दिये हुये नियमों को अन्य लोगों ने टीकायें करके समय के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। हिन्दू वैयक्तिक विधान (Hindu Law) को समझने के लिये विद्यार्थी को मनुस्मृति अन्य स्मृतियां और उन पर की गई टीकाओं को देखना पड़ेगा जिनमें मूल लेख के मन्तव्य का भिन्न भिन्न रूप निश्चित किया है।

आधुनिक विधानों पर टीकायें—आधुनिक विधानों पर भी प्रमुख वकील, विधि विधान के ज्ञाता तथा न्याय विशारद अपनी टीकायें प्रकाशित करते हैं। न्यायाधीश न्याय करते समय इन टीकाओं को कभी कभी बड़ा महत्व देते हैं।

न्यायाधीशों के निर्णय—विधान सभा द्वारा बने हुये विधानों में न्यायाधीश कभी कभी अपने निर्णयों से कमी पूरी करते हैं, किसी समय वे विधान को अधिक स्पष्ट करने में सहायता करते हैं और कभी उसके क्षेत्र को अधिक व्यापक बना देते हैं। प्रमुख न्यायाधीशों के निर्णय सब न्यायालयों में वैसा ही आदर पाते हैं जैसा मूल-विधान के प्रावधान पाते हैं। यदि न्यायकर्ता ऐसा न करें तो विधान प्रगति में बाधक सिद्ध हो सकता है। विधान के शब्दों की, मूलमन्तव्य के अनुकूल परिवर्तित परिस्थिति में, व्याख्या करना एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है जिसे करना न्यायकर्ता अपना धर्म समझता है। न्यायकर्ता

रीति-रिवाज को भी ध्यान में रख कर विधान को लागू करता है। इस प्रकार वह रीति-रिवाज द्वारा विधान को बढ़ाता और घटाता रहता है।

उपर्युक्त स्रोतों के अतिरिक्त जहां विधान किसी विषय पर कुछ नहीं कहता वहां न्यायाधीश को यह विचार करना पड़ता है कि शुद्ध न्याय या नीति उस विषय में क्या करने को कहती है और उसके अनुसार ही वह अपना निर्णय देता है। इंगलैंड में ऐसे मुकदमे जिनमें केवल शुद्ध न्याय और नीति के सहारे निर्णय देना हो एक विशेष न्यायालय में सुने जाते हैं। ऐसे मुकदमों का निर्णय करने में न्यायाधीश को बड़े संयम तथा समझबूझ कर कार्य करना पड़ता है। उसकी नैतिक भावना तथा चरित्र की ऐसे निर्णयों में कड़ी परीक्षा होती है।

आधुनिक विधानों का विकास—पश्चिमी यूरोप में आजकल जो विधानों का रूप है उसका आधार रोमन विधान है। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जो नये राज्य उत्पन्न हुये उन्होंने अपने काम के लिये रोमन विधानों को ही अपना लिया। जहाँ कहीं भी कोई विशेष रीति रिवाज या लिखित विधान सहायता नहीं देता वहां इन देशों के न्यायालय रोमन-विधान-सिद्धान्तों का अनुकरण करते हैं। रोमन विधान का पश्चिमी यूरोप के विधानों में कैसे समावेश हुआ, उसका इतिहास संक्षेप मे बतलाना ठीक होगा।

यूरोप में पांचवीं शताब्दी में रोमन तथा ट्यूटानिक राजनीति का परस्पर सम्मिलन होने से आधुनिक विधानों का प्रादुर्भाव हुआ। आरम्भ में ट्यूटन लोगों के विधान रोमन लोगों के विधानों से सर्वथा भिन्न थे। रोमन लोग शासकों की आज्ञाओं को ही विधान समझते थे परन्तु ट्यूटन लोगों में यह बात न थी, उनमें भारतीयों के सदृश देश-प्रथा तथा रीति-रिवाज की ही प्रधानता थी। रोमन विधान राष्ट्रीय थे परन्तु ट्यूटानिक विधान व्यक्तिगत थे यही कारण है कि रोमन विधान राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक दल के लिये समान थे परन्तु ट्यूटानिक विधान भिन्न भिन्न दलों के लिये भिन्न भिन्न थे। ट्यूटन लोग जहाँ गये वहाँ अपने विधानों को भी साथ लेते गये।

रोमन और ट्यूटन लोगों के परस्पर मिलने से बड़ी गड़बड़ हुई। एक ही राष्ट्र में परस्पर विरोधी नियम प्रचलित हुए। उनके शिल्पसंघ (Guild) तथा पादरी लोग अपने अपने विधानों के द्वारा ही अपना शासन तथा निर्णय करते थे। परन्तु रोमन लोगों में यह बात न थी। वहाँ भिन्न-भिन्न दलों तथा श्रेणियों के लिये भी एक ही सदृश नियम थे। शनैः शनैः ट्यूटानिक विधानों पर रोमन लोगों का प्रभाव पड़ा। सैकड़ों साधनों के सहारे

रोमन विधान यूरोप में प्रचलित किये गये। असभ्य लोगों के शासकों ने बहुत समय पहले ही रोमन सिद्धान्तों पर अपने विधानों का निर्माण किया और एकत्र किया। विसिगाथ्स के विधान इसी के उदाहरण हैं। यही संग्रह ग्यारहवीं शताब्दी तक यूरोप के शासन का आधार था।

इटैलियन नगरों ने ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में बहुत उन्नति की थी उनका व्यापार दूर दूर तक फैल गया था। व्यवसाय ने भी विशेष उन्नति की व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि के साथ ही साथ उनमें लोकतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। भिन्न भिन्न सभ्यता वाले देशों पर साम्राज्य के होने से और एक नवीन परिस्थिति में कार्य करने से प्रचलित विधानों में परिवर्तन करना उनके लिये आवश्यक हो गया। बालोगना (Bologna) विश्वविद्यालय में ही सब से पहले रोमन विधानों का अध्ययन आरम्भ हुआ। यहां से अन्य इटैलियन नगरों में और फिर स्पेन पोर्चुगाल तथा हालैण्ड में इसका प्रचार हुआ। इंगलैंड में भी इसका प्रचार हुआ। रोम में पढ़ने के लिये अंग्रेज लोग रोमन विधानों तथा उनके आधारभूत सिद्धान्तों को अपने साथ लाने लगे। आँग्ल राजाओं ने भी उनको सहारा दिया क्योंकि रोमन सिद्धान्तों के अनुसार विधानों का संशोधन करने में राजा की शक्ति बहुत ही अधिक बढ़ जाती थी। इन्हीं दिनों चर्च के प्रभाव को भी न भूलना चाहिये। चर्च के अपने ही विधान तथा अपने ही न्यायाधीश थे। जन शिक्षण में एकमात्र एकाधिकार होने से, शासकों के परामर्शदाता तथा तथा विधानों के ज्ञाता इन्हीं के प्रभाव में होते थे। लैटिन के प्रचार ने भी रोमन विधानों तथा रोमन सिद्धांतों को इंगलैंड में विशेष रूप से प्रचलित किया।

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि सामन्तवाद (feudalism) से छुटकारा पाते ही रोमन विधानों का अवलम्बन करने के अतिरिक्त और कोई भी संगठन की रीति यूरोपीय राष्ट्रों को न सूझी। राजा का सम्पूर्ण राष्ट्रीय शक्ति को अपने हाथों में करने, अपनी ही आज्ञा को विधानों का रूप देने और वकीलों बैरिस्टरों पर रोमन सभ्यता का भरपूर प्रभाव होने का भी यह परिणाम हुआ कि रोमन विधान तथा रोमन सिद्धान्त ही यूरोप के संगठन के आधार बने। सन् १८०४ के नैपोलियन के कोड को भी न भूलना चाहिये। रोमन विधान, फ़्रांसीसी रीति-रिवाज, और फ़्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति के विधान तथा सिद्धांतों को मिलाकर यह कोड बनाया गया था। सारे यूरोप और स्पेनिश अमेरिका में यही कोड प्रचलित हुआ।

इंगलैण्ड ने नवीन प्रणाली का अनुकरण किया। इंगलैण्ड के विधानों

का आधार ट्यूटानिक रीति-रिवाज ही हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इंगलैंड रोमन विधानों तथा सिद्धान्तों से सर्वथा ही बचा रहा। पूरी चार शताब्दियों तक इंगलैण्ड रोम का ही एक प्रान्त था। उसके शासन तथा न्याय का आधार रोमन विधान थे। मध्यकाल में इंगलैण्ड के पादरी रोम में पढ़ने के लिये जाते थे और वहां से रोमन विचारों को अपने साथ ले आते थे। यह सब होते हुए भी इंगलैड के विधानों में ट्यूटानिक रीति-रिवाजों का मुख्य भाग है। संयुक्त-राज्य अमेरिका इंगलैंड का ही एक उपनिवेश था, यद्यपि आजकल वह स्वतन्त्र है तो भी उसकी सभ्यता अंग्रेजों की ही सभ्यता है। वहां का विधान इंगलैण्ड के विधान का ही प्रतिबिम्ब है। उस पर ट्यूटन जाति की छाप लगी हुई है।

इंगलैण्ड के विधानों में दो समय विशेष परिवर्तन हुए। एक तो उस समय जबकि चर्च-राज्य पृथक् न रहकर राष्ट्रीय राज्य में ही मिल गया और दूसरा उस समय जबकि प्यूरिटन लोगों ने अपने विचारों को विधानों के परिवर्तन में आधार बनाया। इन सब परिवर्तनों के होते हुए भी इंगलैण्ड के विधानों का आधार ट्यूटानिक रीति-रिवाज ही बने रहे। सारांश यह है कि राष्ट्रीय विधानों में ट्यूटानिक सिद्धांत और साधारण विधानों में रोमन सिद्धान्त ही मुख्य रहे। स्थानीय स्वराज्य तथा पंचायती राज्य यूरोप में न आरम्भ होता यदि ट्यूटन लोग अपना सब कुछ खो देते और रोमन रंग में पूर्णरूप से रंग जाते, परन्तु उन्होंने ऐसा न किया। उन्होंने अपनी राजनीति तथा शासन प्रणाली को रोमन सिद्धान्तों के सहारे उन्नत किया। अपनी ही नींव पर अपनी ही ईंटों को रोमन सीमेन्ट से जोड़कर अत्यन्त सुन्दर भवन का निर्माण हुआ। नागरिक प्रबन्ध तथा औपनिवेशिक शासन की उन्नति भी रोमन सिद्धान्तों के सहारे ही की गई। ट्यूटन लोग इन्हीं बातों में रोमन लोगों से बहुत पीछे थे। नगर के प्रबन्ध में रोमन लोग बहुत आगे बढ़ चुके थे। मध्य-काल में ज्यों ही यूरोपियन नगरों ने अपना सिर ऊपर उठाया, रोमन शासन प्रणाली उनमें प्रचलित हो गई। उपनिवेशों के बढ़ने पर यूरोपीय राष्ट्रों को पुनः रोम की शासन प्रणाली का सहारा लेना पड़ा।

अधिकार—विधान राष्ट्रीय इच्छाओं के ही प्रतिबिम्ब हैं। राष्ट्र स्पष्ट रूप से यह प्रकट कर देता है कि वह किन किन वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा करेगा। और किन किन नियमों पर चलने के लिये उनको बाधित करेगा। इस विषय पर विचार करने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(क) कौन कौन मनुष्य राज्य के अधिकारों से लाभ उठा रहे हैं ? और किन किन मनुष्यों को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं ?

(ख) कहाँ कहाँ राज्याधिकारों का मुख्यतः प्रयोग किया जाता है ?

(ग) किस प्रकार के मनुष्य क्षमा के योग्य हैं ?

(घ) अपराध क्षमा करना किसका कर्तव्य है ?

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह ज्ञात होता ह कि–

(१) व्यक्ति—मनुष्य, मनुष्य–संघ तथा संचित सम्पत्ति उस समय कृत्रिम–पुरुष (Artificial persons) के नाम से सम्वोधित की जाती हैं जबकि उनको राजनैतिक अधिकार प्राप्त होते है। या राज्य के द्वारा विशेष रूप से उनकी रक्षा की जाती है।

(२) वस्तु—स्थिर सम्पत्ति तथा वैयक्तिक जायदादों को ही पदार्थ समझना चाहिये। राज्य ऐसे ही पदार्थो की रक्षा करता है। इनकी रक्षा में वह अपने राज्याधिकार को काम में लाता है।

(३) विशेष विशेष दशाओं में राज्य अपराधों को क्षमा कर देता है। विक्षिप्तों तथा रोगियों के सम्वन्ध में इसी प्रकार की बातें साधारणतया की जाती हैं।

विधानों का विभाग—विधानों का वर्गीकरण भिन्न भिन्न लेखकों ने भिन्न भिन्न आधार पर किया है। निम्नलिखित वर्गीकरण सब से श्रेष्ठ हैं:—

(१) विधानों का स्वरूप—आजकल के विधानों पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो निम्नलिखित बातें सामने आती हैं:—

(क) व्यवस्थापिका सभाओं के द्वारा जो प्रस्ताव पास किये जा चुके हैं वे संविधि (Statues) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

(ख) जो विधान कुछ ही समय के लिये बनाये जाते हैं वे समयादेश अथवा सामयिक विधि (Ordinance) के नाम से सम्वोधित किये जाते हैं।

(ग) वे रीति-रिवाज तथा प्राचीन काल से चले आने वाले नियम जिनके अनुसार न्यायालय मुकदमों का निर्णय करता है और जो व्यवस्थापिका सभाओं के द्वारा नियमपूर्वक पास नहीं किये गये हैं वे दैनिक नियम या साधारण विधि (Common law) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

(घ) आजकल भिन्न भिन्न राष्ट्रों में कुछ ऐसे भी नियम प्रचलित हैं जो कि बहुत कुछ स्थिर हैं और जिनमें राज्य, शासन-प्रणाली तथा

राज्यांगों के अधिकारों का विशेष रूप से वर्णन है। ऐसे विधानों को शासन पद्धतीय नियम अथवा संविधान (Constitutonal law) के नाम से संबोधित किया जाता है।

(२) विधानों का संबंध—विधानों का संबंध किससे है इस विचार से विधानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) राष्ट्रीय विधान—राष्ट्रीय विधान वे विधान हैं जो व्यक्ति तथा राष्ट्र के संबंध को नियमित करते है।

(ख) वैयक्तिक विधान—वैयक्तिक विधान वे विधान है जो व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध को प्रकट करते हैं।

राष्ट्रीय विधानों को राष्ट्र ही बनाता है। राष्ट्र उन व्यक्तियों को दण्ड देता है जो उसके विधानों को तोड़ते हैं। परन्तु यदि राष्ट्र स्वयं वैयक्तिक स्वतन्त्रता को पैरों तले कुचले तो व्यक्ति राष्ट्र की स्वीकृति से ही अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रख सकते है। राष्ट्र के विरुद्ध व्यक्तियों का कुछ भी अधिकार नहीं है। राष्ट्रीय विधानों के अत्यन्त प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण उपभेद निम्नलिखित हैं—

(१) संविधान—राष्ट्र के संगठन तथा राज्य की शक्तियों का निर्देश संविधान (Constitutional law) द्वारा ही होता है। इन्हीं विधानों से सर्वोच्चसत्ता का स्थान नियत किया जाता है। यदि ये विधान न हों तो सर्वोच्चसत्ता का स्थान पूर्ण रूप से तथा स्पष्ट रूप से न जाना जा सके।

(२) प्रशासन सम्बन्धी विधान—संविधान शास्त्र का प्रयोग राज्य किस प्रकार करे और किस प्रकार न करे इसका निर्णय प्रशासन सम्बन्धी नियम (Administrative law) ही करते है। गुडनाऊ ने ठीक लिखा है कि "संगठन तथा शासकों के लिये कार्य-क्षेत्र नियत करने वाले और व्यक्तियों को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा का मार्ग दिखलाने वाले यदि कोई विधान हैं तो वे प्रशासन संबंधी नियम ही है"।

(३) दण्ड सम्बन्धी विधान—शान्ति तथा व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये राज्य भिन्न भिन्न अपराधियों को दण्ड देता है। दण्ड सम्बन्धी विधान आजकल 'फौजदारी कानून' के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। दण्ड सम्बन्धी विधानों का आविष्कार यूरोप में बहुत प्राचीन नहीं है। आरम्भ में वहां विशेष विशेष नियमों के द्वारा ही राज्यापराधियों को दण्ड दिया जाता था। व्यक्तियों के प्रति जो लोग अपराध करते थे उनके सम्बन्ध में विधान

बहुत कुछ उदासीन थे। न्यायाधीश लोग रुपये दिलवाकर अथवा अन्य किसी प्रकार से वादी प्रतिवादी का पारस्परिक समझौता करा देते थे। कभी द्वन्द्व युद्ध भी कराया जाता था और जो जीतता था वही सच्चा समझा जाता था। शनैः शनैः यूरोप में बहुत से विधान बने जिनके आधार पर आजकल अपराधियों के दण्ड का निर्णय किया जाता है। भारतवर्ष में बहुत समय पूर्व ही दण्ड सम्बन्धी विधान बन चुके थे। इन दण्ड सम्बन्धी विधानों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। निस्सन्देह भारतवर्ष में भी एक समय था जब कि व्यक्तियों का निर्णय द्वन्द्व युद्ध के द्वारा होता था और अपराधियों के अपराध की पहचान अग्नि शुद्धि या गरम लोहे से की जाती थी। महाभारत के युद्ध के पश्चात् भारतीय समाज में स्थिरता तथा शांति के बढ़ने से दण्ड संबंधी विधान बने जो भिन्न भिन्न स्मृति ग्रन्थों तथा धर्मसूत्रों में पाये जाते हैं। वास्तव में मनुस्मृति, शुक्रनीति आदि विधान संबंधी ग्रन्थ महाभारत से बहुत पहले बन चुके थे क्योंकि इनका वर्णन महाभारत में आता है। अन्य ग्रंथों की रचना महाभारत के पश्चात् हुई।

ऊपर लिखे वैयक्तिक विधानों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। आजकल ये ही हिन्दी में दीवानी विधानों के नाम से संबोधित किये जाते हैं। व्यापार, व्यवसाय, उद्योग धंधे, साझा, ठेका, धन का बटवारा आदि के विषय में होने वाले झगड़ों का निर्णय इन्हीं विधानों के आधार पर किया जाता है।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय विधान**—एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ किस प्रकार व्यवहार करे और किन किन बातों में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की आन्तरिक बातों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है, इत्यादि बातों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधानों (International law) द्वारा किया जाता है। यूरोपीय राजनीतिज्ञ इनको विधानों की श्रेणी में नहीं रखते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वे राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता को अपरिमित तथा निर्बाध समझते हैं। राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता वाह्य तथा आन्तरिक विषयों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। प्रजा का यदि कोई भी व्यक्ति राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता की शक्ति को कम करना चाहे तो वह उसे कम नहीं कर सकता है। इसी प्रकार देश के बाहर का कोई व्यक्ति अथवा कोई विदेशी राष्ट्र भी राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता की शक्ति को किसी प्रकार के भी विधान से बाधित नहीं कर सकता है। इस दशा में आधुनिक राजनीतिज्ञों का अन्तर्राष्ट्रीय विधानों को राष्ट्रीय अथवा राज्य का विधान न समझना ठीक ही प्रतीत होता है। परन्तु आधुनिक काल में नवीन नवीन अविष्कारों के कारण परिस्थिति ऐसी होती जा रही है कि अब प्रत्येक

व्यक्ति का संबंध संसार के अन्य व्यक्तियों के साथ घनिष्ट होता जा रहा है। अतः भविष्य में व्यक्तियों और राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का पालन भी उसी प्रकार करना पड़ेगा जिस प्रकार आजकल राज्य के विधानों का पालन किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान वे विधान हैं जिन के द्वारा स्वतंत्र राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय किया जाता है। संसार में बहुत से स्वतंत्र राष्ट्र हैं कभीं कभी इन स्वतंत्र राष्ट्रों को अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आना पड़ता है। आधुनिक आविष्कारों के कारण भी एक राष्ट्र के साथ सम्बन्ध रखना अनिवार्य हो गया है। कभी-कभी दो राष्ट्रों में युद्ध भी होता है। युद्ध के समय कुछ राष्ट्र एक की ओर कुछ दूसरे की सहायता करते हैं। कुछ राष्ट्र किसी का पक्ष न लेकर युद्ध से पृथक् रहते हैं। कुछ राष्ट्र युद्ध में भाग न लेते हुए भी युद्ध करने वाले राष्ट्रों में से किसी एक के साथ सहानुभूति रखते हैं और गुप्त रूप से सहायता करते हैं। इस प्रकार दो राष्ट्रों के पारस्परिक मित्र अथवा द्वेष भाव के सम्बन्ध से अन्य राष्ट्रों पर भी प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशा में राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में जिन विधानों द्वारा कार्य किया जाता है अथवा निर्णय किया जाता है उनको अन्तर्राष्ट्रीय विधान कहा जाता है। भिन्न भिन्न स्थितियों को सामने रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधान तीन प्रकार के हैं—

(१) एक तो वे हैं जो शान्ति के समय में राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्थिर रखते हैं।

(२) दूसरे वे हैं जो युद्ध के समय में यह बतलाते हैं कि किन किन बातों का उल्लंघन युद्ध के समय नहीं करना चाहिये।

(३) तीसरे वे हैं जो उदासीन राष्ट्रों के साथ क्या सम्बन्ध हो इसको प्रकट करते हैं। अशान्ति के समय में अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का आधार निम्नलिखित है—

(१) स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में
(२) समानता के सम्बन्ध में
(३) सम्पत्ति के सम्बन्ध में
(४) अपराध निर्णय के संबंध में
(५) राजनीति के सम्बन्ध में
} साधारण विधान

युद्ध तथा उदासीनता के विषय में जो अन्तर्राष्ट्रीय विधान हैं वे असाधारण विधान के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

दृष्टान्त स्वरूप—

(६) युद्ध के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान	असाधारण विधान
(७) उदासीनता के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान	
(८) व्यापार सम्बन्धी विषय में ,,	

(१) स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में—राष्ट्रों की सर्वोच्चसत्ता अपरिमित तथा निर्बाध है। इसी से यह परिणाम भी निकला कि प्रत्येक राष्ट्र का यह नैसर्गिक अधिकार है कि यह स्वतन्त्र रहे। सभ्य संसार से वैयक्तिक दासता दूर की गई। इस दशा में राष्ट्रीय दासता कैसे उचित समझी जा सकती है? यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने आन्तरिक प्रबन्ध तथा शासन में पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। हस्तक्षेप न करने की नीति पर ही प्रत्येक राष्ट्र को एक दूसरे से सम्बन्ध रखना चाहिये।

बहुत बार यह देखा गया है कि विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्रों को मनमाने ढंग पर लूटने का प्रयत्न करते हैं। टर्की के साथ प्रथम महायुद्ध में जो व्यवहार किया गया था वह अत्यन्त घृणित तथा शोकप्रद था। टर्की की संधि की शर्त एक प्रकार से उक्त राष्ट्र को नष्ट करने वाली थी। भारतीयों पर अंग्रेजी शासन काल में मनमाने ढंग से शासन करना कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता था। पंजाब का हत्याकाण्ड और आंग्ल जनता का उसको उचित ठहराना इस बात का साक्षी था कि मनुष्य समाज लोभ तथा स्वार्थ से कहां तक गिर सकता है। सारांश यह है कि युद्ध में चाहे कोई राष्ट्र जीते और चाहे कोई हारे, यह किसी भी राष्ट्र का अधिकार नहीं है कि वह किसी भी पराजित राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अपहरण करे अथवा उसका अंग भंग करे। परन्तु यूरोपीय राष्ट्रों ने एशिया के राष्ट्रों पर बड़े बड़े अत्याचार किये हैं। भारत की विजय, शत्रु का निःशस्त्रीकरण, मिश्र को चुपके चुपके हड़प कर जाना, टर्की का अंग भंग करना इसी के उदाहरण हैं। इस प्रकार के अन्यायपूर्ण कार्यों को राजशास्त्रवेत्ता 'हस्तक्षेप' (Intervention) के नाम से सम्बोधित करते हैं। हम इस शब्द को 'अधिकार-अपहरण' कहेंगे। अधिकार अपहरण सम्बन्धी निम्नलिखित विधान आधुनिक काल में प्रचलित हैं।

(क) आत्मरक्षण सम्बन्धी विधान—प्रत्येक राष्ट्र का जीवित रहना आवश्यक है। यदि कोई राष्ट्र किसी राष्ट्र के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप करे और वह हस्तक्षेप इस पराकाष्ठा तक पहुँच जाय कि इससे राष्ट्र की सर्वोच्च-सत्ता का तिरस्कार होता हो तो उस दशा में युद्ध न्याय-युक्त है।

(ख) **सन्धि की शर्तों पर चलना**—यदि कोई राष्ट्र सन्धि की शर्तों को तोड़े तो युद्ध आवश्यक हो जाता है। शोक की बात है कि आधुनिक काल के राजननीतिज्ञ इस बात पर ध्यान नहीं देते कि वे शर्तें न्याय-युक्त हैं अथवा नहीं? कोई राष्ट्र कितने वर्षों तक पराधीन रखा जा सकता है? वास्तविक बात तो यह है कि राष्ट्रों में वही पाशविक शक्ति सिद्धान्त प्रचलित है।

(ग) **परराष्ट्र का अनुचित हस्तक्षेप**—आत्मरक्षण के सदृश ही मित्र राष्ट्र के संरक्षण के लिये कोई भी राष्ट्र अपनी राजनैतिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है। आधुनिक राष्ट्र इस बात में अपना अधिकार समझते हैं। कभी २ तो यह अधिकार इस सीमा तक काम में लाया जाता है कि वह कभी भी न्यायानुकूल नहीं सिद्ध किया जा सकता। इंगलैण्ड का यूरोप में शक्ति संतुलन सिद्धान्त के अनुसार भिन्न २ युद्धों में भाग लेना और अपना स्वार्थ सिद्ध करना कभी भी यूरोप के लिये हितकर सिद्ध नहीं हुआ। इंगलैण्ड के स्वार्थमय कूट उद्देश्यों का यही फल है कि यूरोप आज तक एक राष्ट्र न बन सका।

(२) **समानता के सम्बन्ध में**—आधुनिक स्वतंत्र राष्ट्रों के अधिकार सब बातों में समान हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधानों के अनुसार कोई भी राष्ट्र किसी स्वतंत्र राष्ट्र को दवा नहीं सकता और न अपनी इच्छा के अनुसार चलने पर ही वाध्य कर सकता है। यह सब होते हुए भी प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया तथा इटली ने आपस में मिलकर एशियाटिक स्वतंत्र राष्ट्रों की स्वतंत्रता को नष्ट करने की चालों को नहीं छोड़ा था। पराधीन राष्ट्रों के साथ इनका कैसा व्यवहार था उसको देखने वाला कोई भी नहीं था। पंजाव के हत्याकांड को आंग्ल प्रजा का उचित ठहराना और डायर के लिये सहायतार्थ फंड खोलना इस वात का साक्षी था कि यूरोपीय राष्ट्रपराधीन राष्ट्रों को क्या समझते थे। ईरान को रूस तथा ग्रेट ब्रिटेन ने चुपके चुपके ही बांट लिया था। इसके पश्चात् स्वतंत्र ईरान को पराधीन करने का तथा दासता में जकड़ने का प्रयत्न किया गया था। ये सब घटनायें इस वात का उदाहरण हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान की पुस्तकों में चाहे कुछ भी लिखा हो परन्तु कार्य रूप में सब राष्ट्रों के अधिकार समान नहीं हैं।

संयुक्त-राज्य अमेरिका सम्पूर्ण अमेरिका महाद्वीप का भाग्य निर्णायक है। अपनी इच्छा के अनुसार ही वह अमेरिकन राष्ट्रों को चलाता है। परन्तु कोई भी सभ्य राष्ट्र इसमें हस्तक्षेप करने का साहस नहीं कर सकता।

के सम्बन्ध में—आधुनिक राष्ट्रों के पास बहुत ही

अधिक सम्पत्ति हैं। राष्ट्रीय गृह, युद्ध-सामग्री, जहाज आदि का प्रबन्ध र
करना पड़ता है। साधारणतया तो उनका प्रयोग राष्ट्रीय विधानों द्वार
होता है। युद्धकाल में उनको अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का ध्यान रखना प
है। शान्ति के समय में राष्ट्रों की विशेष विशेष प्रकार की अचल सम्
पर अन्तर्राष्ट्रीय विधान ही लागू होता है। दृष्टान्तस्वरूप भूमि तथा स
ही लीजिये। यह बतलाया जा चुका है कि भौमिक सम्पत्ति या भूमि र
का प्रधान अंग हैं। आजकल कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है जिसके पास भूमि
हो। यहाँ पर जो कुछ प्रश्न उठता है वह यही है कि (क) राष्ट्र की भू
में क्या क्या सम्मिलित है? (ख) भूमि किस प्रकार प्राप्त की जा सक
है? (ग) राष्ट्र भूमि पर किस प्रकार नियन्त्रण रख सकता है?

(क) राष्ट्रीय भूमि (१)—राष्ट्रीय भूमि में निम्नलिखित पदा
सम्मिलित हैं :—

(१) राष्ट्र के अन्तर्गत जो भूमि तथा जल हो वह सब राष्ट्र व
सम्पत्ति है। यदि दो राष्ट्रों के बीच में झील या नदी पड़ती हो तो राष्ट्
की सीमा नदी या झील के बीच तक समझी जायगी। विशेष विशेष प्रका
की संधियों के द्वारा यह बात हटाई जा सकती है। एक राष्ट्र की सीमा
संधि के द्वारा नदी तथा झील के पार तक पहुँच सकती है।

(२) पहले किनारे से तीन मील दूर तक का समुद्र राष्ट्र की सीमा में समझा जाता था परन्तु अब बारह मील तक का समुद्र राष्ट्र की सीमा समझा जाता है। कहीं कहीं इससे अधिक दूरी तक भी समुद्र राष्ट्र की सीमा माना गया है। प्राचीन तथा मध्यकाल में तोपों की मार बहुत दूर तक न थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यह मार केवल तीन मील तक थी। उसी के आधार पर पहले राष्ट्र की सीमा समुद्र में तीन मीलतक निर्धारित की गई थी। तोप की मार बढ़ जाने के कारण यह सीमा अब बढ़ादी गई है।

(३) समुद्र में तटवर्ती खड़िया भी राष्ट्र की सम्पत्ति है। खाड़ियों का विस्तार नियत न होने से कई राष्ट्रों ने दूर तक फैली हुई खाड़ियों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है।

(४) समुद्र के आस पास के द्वीप समूहों पर भी राष्ट्र का ही स्वत्व है। इस स्वत्व में भिन्न भिन्न राष्ट्र यह युक्ति पेश करते हैं कि उनके आत्मसंरक्षण के लिये यह आवश्यक है कि द्वीप समूहों पर उन्हीं राष्ट्रों का स्वत्व हो जो उनके पास हों।

(ख) राष्ट्रभूमि को निम्न प्रकार से प्राप्त करते हैं—

(१) समायोग (कब्जा)—जिस भूमि पर किसी का भी अधिकार न हो वह राष्ट्र की भूमि है। अफ्रीका के जंगलों में यूरोपी लोग बस गये उन्होंने वहाँ अपना कब्जा कर लिया अब वह भूमि उन्हीं की समझी जाती है।

(२) प्रदान—सन्धि के द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपनी भूमि प्रदान कर सकता है।

(३) विजय—विजय भूमि प्राप्त करने की साधारण रीति है। साधारणतया जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को विजय करता है तो उसकी बहुत सी भूमि छीन लेता है। यूरोपीय राष्ट्रों ने विशेषतः ग्रेटब्रिटेन ने टर्की के साथ यही व्यवहार किया था।

(४) नवीन भूमि की उत्पत्ति—समुद्र तथा नदियों के द्वारा प्रायः नयी नयी भूमियां बनती हैं कई राष्ट्रों को बहुत से द्वीप इसी प्रकार प्राप्त हुए हैं।

(ग) राष्ट्र अपनी भूमि पर निम्नलिखित प्रकार से नियंत्रण करता है।

(१) जिन भूमियों पर राष्ट्र का प्रभुत्व है राष्ट्र सीधे ही उन पर शासन करता है। इसमें संदेह भी नहीं है कि वह प्रायः अपना प्रभुत्व शक्तियों को कई भागों में विभक्त कर देता है स्थनीय तथा औपनिवेशिक राज्यों का विभाग इसी का उदाहरण है।

(२) प्रवल राज्य निर्बल राज्यों का संरक्षण सन्धि के द्वारा तथा अपने प्रतिनिधि के द्वारा करते हैं। नैपाल के साथ भारत सरकार का संबंध अंग्रेजी राज्य में इसी प्रकार का था। ऐसे राज्य आन्तरिक प्रवन्ध में पूर्णरूप से स्वतंत्र होते हैं।

(३) जिन देशों में असभ्य जंगली लोगों का निवास है उन पर यूरोपीय राष्ट्रों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। भिन्न भिन्न सन्धियों के द्वारा उन्होंने ऐसी सम्पूर्ण भूमि को आपस में बांट लिया था। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया का वंटवारा इसी का उदाहरण है।

(४) अपराध निर्णय के संबंध में—भिन्न भिन्न अपराधियों के अपराध का निर्णय करना विशेष कर राज्य का ही कार्य है। राज्य के इस अधिकार की सीमा अपनी भूमि के साथ ही सम्बद्ध है। विदेशियों अथवा अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों के नागरिकों के अपराध का निर्णय राज्य नहीं कर सकता। उसके अपने प्रदेश में जो लोग रहते हैं उन्हीं के झगड़ो का निर्णय वह कर सकता

(क) स्वदेशोत्पन्न नागरिक—व्यक्ति को नागरिक बनाने का अधिकार राष्ट्रों के पास ही है। प्रत्येक राष्ट्र इस विषय में स्वतंत्रतापूर्वक विधान बनाता है। उत्पत्ति तो नागरिक बनाने का आधार है ही। जो मनुष्य जिस राष्ट्र में उत्पन्न हुआ वह उसी का नागरिक होता है। पिता माता की जातीयता भी नागरिक बनाते समय ध्यान में रखी जाती है।

(ख) विदेशी नागरिकता—विदेशी लोग किन किन दशाओं में नागरिक बनाये जा सकते हैं, इसके लिए भिन्न भिन्न राष्ट्रों के भिन्न भिन्न नियम हैं। जब कि कोई विदेशी किसी एक भिन्न राष्ट्र का नागरिक बन कर पुनः स्वदेश में लौट आना चाहता है उस समय बड़ा झगड़ा उत्पन्न हो जाता है।

(ग) विदेशी निवासी तथा यात्री—विदेशी निवासियों तथा विदेशी यात्रियों का शासन स्वराष्ट्र के नियमों के अनुसार ही होता है। प्रायः वे सैनिक कार्यों से मुक्त रखे जाते हैं। विदेशी की स्थिर सम्पत्ति सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय वही राष्ट्र करता है जिसमें वह सम्पत्ति विद्यमान है। पौरुपेय सम्पत्ति के साथ यह बात नहीं है, पौरुषेय सम्पत्ति सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय स्वराष्ट्र ही करता है। सामुद्रिक डाकुओं का निर्णय सभी राष्ट्र एक सदृश कर सकते हैं क्योंकि वे सभी राष्ट्रों के शत्रु समझे जाते हैं।

विदेश में बसे हुए लोगों पर राज्य का निर्णायिक अधिकार आधा ही रह जाता है। राजद्रोही लोग विदेश में स्वतन्त्रता पूर्वक रहते हैं। स्वदेश में आते ही उनको पुनः दंड दिया जा सकता है। यह भी प्रायः देखा गया है कि एक राष्ट्र के बहुत कहने पर दूसरा राष्ट्र राजनैतिक अपराधियों को अपनी शरण नहीं देता है और कभी कभी उस अपराधी को उसी राष्ट्र को सौंप भी देता है जिसका उसने अपराध किया है। जिस समय एक राष्ट्र का नागरिक किसी अन्य राष्ट्र में अपराध करता है और वहाँ से भाग कर किसी दूसरे राष्ट्र की शरण लेता है उस समय इस विषय में बहुत जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है। साधारणतया ऐसे अपराधियों का निर्णय भिन्न भिन्न राष्ट्र भिन्न भिन्न ढङ्ग पर ही करते हैं। बहुधा ये लोग दण्ड न पाकर स्वच्छन्द विचरते हैं। अपराध निर्णय के विषय में बहुत स्थानों पर राष्ट्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दृष्टान्त स्वरूपः—

(क) भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं तथा शासकों को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों

में स्वतन्त्रतापूर्वक यात्रा करने का अधिकार है। उन पर उस राष्ट्र के विधानों के अनुसार मुकदमा आदि नहीं चलाया जा सकता है।

(ख) स्वराष्ट्र की सेनाएँ जब किसी दूसरे राष्ट्र में होती हैं तो वे उस राष्ट्र के नियमों के अनुसार चलने के लिये बाध्य नहीं की जा सकती हैं। इसमें सन्देह भी नहीं कि बिना आज्ञा के किसी भी राष्ट्र की सेना किसी दूसरे राष्ट्र के भीतर से नहीं जा सकती है।

(ग) विदेशी राजदूतों पर कोई भी राष्ट्र अपने विधानों के अनुसार मुकदमा आदि नहीं चला सकता है।

(घ) विशेष विशेष सन्धियों के द्वारा यूरोपीय राष्ट्र के लोगों ने ऐशियाटिक राष्ट्र में रहते हुए उनके शासन से अपने आपको बचा लिया था। टर्की, चीन, तथा स्याम में देशी रियासतें यूरोपीय लोगों के अपराध का निर्णय नहीं कर सकती थीं। आजकल ऐसा नहीं है।

५—राजनीति के सम्बन्ध में—भिन्न भिन्न राज्यों में अपने राजदूतों का रखना अति प्राचीन काल से प्रचलित है। यूनान, मिश्र तथा भारत के दूत भिन्न-भिन्न राज्यों में रहते थे। मेगस्थनीज का चन्द्रगुप्त के दरबार में रहना और भारत का विस्तृत वर्णन एक पुस्तक में करना एक प्रसिद्ध घटना है। मध्यकाल में यूरोप में दूसरे राष्ट्रों के दूत जाते थे परन्तु चिरकाल तक न रहते थे। आजकल राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ट हो गया है। व्यापार व्यवसाय सम्बन्धी झगड़े भिन्न भिन्न राष्ट्रों में सदा ही होते रहते हैं। यही कारण है कि आजकल सभ्यराष्ट्र अपने राजदूतों को भिन्न भिन्न राष्ट्रों में स्थायी रूप से रखते हैं। परस्पर बातचीत की भाषा आरम्भ में लैटिन थी, फिर उसके स्थान पर फ्रेंच हो गई थी। आजकल भिन्न भिन्न राष्ट्र अपनी ही भाषा को काम में लाते हैं।

राजदूत अपने राष्ट्र को परराष्ट्र के राजनैतिक विचारों तथा राजनैतिक घटनाओं की सूचना देते हैं। अपने राष्ट्र के नागरिकों तथा यात्रियों के अधिकारों का ध्यान रखते हैं और समय समय पर उनके अपराधों का निर्णय भी करते हैं। राजदूतों को हटा कर दूसरे राजदूतों को बुलाने का प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिकार है। जिस राष्ट्र के राजदूत हटाये जाते हैं वे इसमें अपना अपमान भी नहीं समझते हैं क्योंकि इस प्रकार की घटना का यही अर्थ लिया जाता है कि जिस राष्ट्र ने राजदूत हटाया है वह सम्बन्ध तोड़ना नहीं चाहता है अपितु सम्बन्ध स्थापित रखना चाहता है। उसके ऐसा कार्य

इसलिये किया है कि अनुकूल राजदूत के होने से वह सम्बन्ध दृढ़ रह सके। परन्तु यदि कोई राष्ट्र राजदूत को अपने यहाँ से हटाये और दूसरे राजदूत को न आने दे तो इसका तात्पर्य 'युद्ध' से लिया जाता है। युद्ध की सम्भावना से पूर्व प्रायः राष्ट्र अपने अपने राजदूतों को स्वयं ही बुला लेते हैं। युद्ध समाप्त होने पर भिन्न भिन्न राष्ट्र एक दूसरे से सन्धि करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट की शक्ति अपूर्व है। सीनेट ही सन्धियों को स्वीकृत करती है। सन्धि के अनेक भेद हैं। भूमि का अपहरण, अधिकार का अपहरण, सीमा-निश्चय आदि भिन्न भिन्न प्रकार की सन्धियों के मुख्य आधार होते हैं।

सन्धि विषयक बातों का निर्णय करने के लिये भिन्न भिन्न राष्ट्र योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करते हैं। कभी विदेशी मंत्री भी इसी कार्य के लिये भेज दिया जाता है। साधारणतया उदासीन राष्ट्रों में भी सन्धियाँ होती है। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में प्रायः राष्ट्रों को अपनी शिकायतों का कारण स्पष्ट रूप से देना पड़ता है। यदि इस पर भी झगड़े का निर्णय न हो तो पुनः युद्ध आरम्भ हो जाता है। साधारण झगड़े तो किसी उदासीन राष्ट्र को मध्यस्थ बनाकर निर्णय कर लिये जाते हैं। मध्यस्थ राष्ट्र का निर्णय राष्ट्रों को मानना पड़ता है।

(६) **युद्ध के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान**—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्थिर रखना तथा राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को शान्त करना किसी भी संगठन के हाथ में न होने से राष्ट्रों का पारस्परिक युद्ध अनिवार्य हो जाता है। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व शत्रु राष्ट्र एक दूसरे राष्ट्र के नागरिकों को विशेष अधिकारों से वंचित कर देते हैं। घेरा डाल कर व्यापार को धक्का पहुँचाना और अन्न आदि भोज्य पदार्थों को न पहुँचने देना इत्यादि कार्य अपनी अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र करता है शत्रु राष्ट्र के जहाजों को पकड़ कर और शत्रु राष्ट्र निवासियों को कैदकर एक दूसरे को हानि पहुँचने का यत्न किया जाता है। इन सब साधनों से भी यदि राष्ट्र की क्रोधाग्नि न शान्त हो तो अपनी सेनाओं के द्वारा एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं। घरेलू झगड़ों में भी वर्तमान राज्य युद्ध के नियमों ही को काम में लाते हैं।

जिन जिन देशों में जनता राज्य के भयंकर अत्याचारों से अपने आपको छुड़ाने के लिये विद्रोह अथवा क्रान्ति कर देती है और क्रान्ति में सफल होकर एक नवीन राज्य स्थापित करती है उसको भिन्न भिन्न राज्यों से अपने राज्य को स्वीकृत करवाना पड़ता है। बहुधा इसमें बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी

पड़ती हैं। पूर्व राज्य के मित्रराष्ट्र नवीन राज्य को स्वीकृत नहीं करते हैं और उनके सन्मुख नयी नयी समस्याएँ पेश करते हैं। युद्ध घोषित करने का अधिकार भिन्न भिन्न राष्ट्रों में भिन्न भिन्न प्रकार से काम में लाया जाता है। संरक्षण से सम्बद्ध युद्धों में प्रायः शासक विभाग स्वतन्त्र हैं, आक्रमण करते समय उनको विधान निर्माण विभाग की स्वीकृति लेनी पड़ती है। मध्यकाल में दूरस्थ राष्ट्रों के साथ युद्ध या सन्धि करने का अधिकार भिन्न भिन्न कम्पनियों तथा औपनिवेशिक राज्यों को प्राप्त था। आजकल यह बात नहीं रही है। युद्ध छिड़ते ही राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाता है। शत्रु राष्ट्र के नागरिक एक दूसरे को शत्रु समझने लगते हैं। व्यापार बन्द हो जाता है। अनुबन्ध सम्बन्धी कार्य जहां के तहां रुक जाते हैं युद्धों के नियम युद्धों की रीति के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। बहुधा बंदियों के साथ अनुचित व्यवहार नहीं किया जाता। अमानुषिकता तथा क्रूरता को दूर रखकर काम किया जाता है। यह होते हुए भी मानुषी हृदय शत्रुता तथा क्रोध में जो न करे वही थोड़ा है। युद्ध की प्रणाली पर राजनीतिज्ञों में बड़ा मतभेद है। यह होते हुए भी सन् १८७४ की ब्रुसल्स कान्फ्रेंस में गुरिल्ला सैनिकों को रखना और प्रत्येक नागरिक का युद्ध के लिये उद्यत रहना राष्ट्रों के लिये अनुचित ठहराया गया था। बंदियों को मारडालना, विषैली गोलियों को छोड़ना तथा शत्रु राष्ट्र की भूमि उजाड़ना वर्तमान-युद्ध-प्रणाली के अनुसार अनुचित है सन् १८६४ की जिनोआ समिति ने घायलों की सेवा करने वाली तथा इलाज करने वाली समितियों के लोगों पर प्रत्येक प्रकार का आक्रमण तथा प्रहार रोक दिया। युद्ध के समय में सम्पत्ति सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय नियम निम्नलिखित हैं—

(१) भूमि विषयक—सैनिक कार्यों में आने के योग्य राष्ट्रीय सम्पत्ति को शत्रु लोग नष्ट कर सकते हैं। शिक्षा, धार्मिक कृत्य तथा राष्ट्रीय कार्यों से संबंध रखने वाली सम्पत्ति का संरक्षण आवश्यक है। कोई भी शत्रु उसे नहीं छू सकता।

(२) वैयक्तिक सम्पत्ति विषयक—वैयक्तिक सम्पत्ति दो प्रकार की होती है। एक तो स्थिर और दूसरी पौरुषेय। स्थिर सम्पत्ति युद्ध के समय में नहीं छीनी जा सकती है। पौरुषेय सम्पत्ति आवश्यकता के अनुसार ली जा सकती है परन्तु उसके बदले में धन आदि का देना आवश्यक है। लूट सर्वथा बन्द है।

(३) समुद्र विषयक—प्रत्येक प्रकार का जहाज पकड़ा जा सकता है। जहाज के मामलों में व्यक्तियों या कम्पनियों का विचार नहीं किया जा सकता

इसमें सन्देह भी नहीं है कि उदासीन राष्ट्रों के समुद्र में किसी के भी जहाज को कोई भी हाथ नहीं लगा सकता है। पकड़े हुए जहाजों की सम्पत्ति पर उसी राष्ट्र का अधिकार होता है जो उसको पकड़ता है वह उसको चाहे बेचे, चाहे जलाये। कोई भी इस विषय में कुछ बोल नहीं सकता है। सन् १८०६ में लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय सभा हुई थी जिसमें समुद्र सम्बन्धी विषयों पर कुछ नियम बनाये गये थे।

(७) उदासीनता के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान--भिन्न भिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक युद्ध में जो राष्ट्र कुछ भी भाग नहीं लेते हैं वे उदासीन राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। बहुत बार पारस्परिक युद्ध से बचने के लिये राष्ट्र उदासीन बनाये भी जाते हैं। प्रथम महायुद्ध से पूर्व बेल्जियम तथा स्विटजरलैंड की यही स्थिति थी। द्वितीय युद्ध में और उसके पश्चात् भी स्विटजरलैण्ड की स्थिति वही रही। जिन जिन वस्तुओं अथवा स्थानों पर संसार के भिन्न राष्ट्रों का स्वार्थ समान रूप से होता है, वे 'उदासीन' कर दिये जाते हैं। स्वेज नहर सभी राष्ट्रों के लिये एक सदृश खुली हुई है।

मध्यकाल में यूरोप में 'उदासीनता' विषयक कुछ भी विधान प्रचलित न थे। व्यापार के बढ़ाने पर और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के घनिष्ठ होने पर इस बात की विशेष रूप से आवश्यकता हुई। इङ्गलैण्ड की द्वैपी स्थिति और संयुक्त राज्य अमेरिका के यूरोपीय युद्धों से पृथक रहने आदि बातों ने यूरोप में उदासीनता विषयक विधानों को प्रचलित किया। लड़ाकू राष्ट्रों को उदासीन राष्ट्रों के साथ व्यवहार करते हुए आजकल निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं--

(१) उदासीन राष्ट्रों की भूमि, समुद्र तथा आकाश में युद्ध न करना।

(२) उदासीन राष्ट्रों की भूमि में युद्ध की तैयारी न करना। उदासीन राष्ट्रों के समुद्र में से जहाजों को ले जा सकते हैं और आकाश में से विमानों को उड़ा सकते हैं। परन्तु किसी प्रकार का भी युद्ध नहीं किया जा सकता। विमानों को उड़ाने के लिये पहले स्वीकृति लेना आवश्यक है।

(३) उदासीन राष्ट्रों के उन नियमों को मानने के लिये लड़ाकू राष्ट्र बाध्य हैं जो वे अपने देश की रक्षा के लिये बनायें। उदासीन राष्ट्र अपने बन्दरगाहों को लड़ाकू राष्ट्रों के लिये बन्द कर सकते हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनको लड़ाकू राष्ट्रों के साथ एक सदृश व्यवहार करना चाहिये।

निम्नलिखित विषयों में उदासीन राष्ट्रों को लड़ाकू राष्ट्रों का ध्यान रखना पड़ता है--

(१) किसी भी लड़ाकू राष्ट्र को युद्ध सामग्री सम्बन्धी सहायता न देना।

(२) किसी भी शत्रु राष्ट्र को विशेष अधिकार न देना जो कि दूसरे शत्रु राष्ट्र को प्राप्त न हों।

(३) लड़ाकू राष्ट्रों को धन सम्बन्धी सहायता न देना।

(४) लड़ाकू राष्ट्रों के गुप्तचरों तथा दूतों को अपने देश में न आने देना।

(५) अपने देश के रहने वालों को किसी भी लड़ाकू राष्ट्र की सहायता के लिये न जाने देना। एक दो व्यक्ति युद्ध में जा सकते हैं परन्तु सहस्त्रों की संख्या में ऐसा नहीं किया जा सकता।

(६) उदासीनता सम्बन्धी विधानों के टूटने से यदि किसी शत्रुराष्ट्र को हानि पहुँची हो तो उस हानि को पूरा करना।

व्यापार सम्बन्धी उदासीनता के विषय में—युद्ध के समय में व्यापार में बहुत कुछ स्वतन्त्रता रखी जाती है। जहाँ तक होता है इस में बहुत रुकावट नहीं डाली जाती है परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि घेरे की दशा प्रत्येक जहाज के पदार्थों का, जहाज सम्बन्धी सम्पत्ति का तथा अन्य बहुत सी बातों का ज्ञान जब शत्रु प्राप्त कर लेता है तभी उसको स्वतंत्र रूप से पदार्थ ले जाने की आज्ञा देता है।

मध्यकाल में समुद्र द्वारा व्यापार करना सुगम कार्य न था। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के जहाजों को लूट सकता था। यही कारण था कि उस समय में दूरस्थ देशों के साथ व्यापार करने के लिये बड़ी २ कम्पनियाँ बनाई जाती थीं और उन्हें युद्ध घोषित करने का भी अधिकार दिया जाता था। हालैण्ड ने इस प्रकार की लूट मार को रोका और सामुद्रिक व्यापार को उन्नत . किया। सन् १८५६ में पैरिस में जो अन्तर्राष्ट्रीय सभा हुई उसमें निम्नलिखित बातें निश्चित की गईं—

(१)युद्ध सम्बन्धी सामग्री को ले जाने वाले जहाजों को छोड़कर युद्धकाल में उदासीन राष्ट्रों के जहाजों को कोई भी नहीं पकड़ सकता है।

(२) जिस जहाज पर उदासीन राष्ट्र का झण्डा होगा वह न पकड़ा जायगा।

हेग की द्वितीय सभा में "युद्ध के अन्दर वैयक्तिक सम्पत्ति को ले जाने वाले जहाजों को न पकड़ा जाय" यह प्रस्ताव पेश हुआ परन्तु इंगलैण्ड के स्वीकार न करने के कारण पास न हो सका। आजकल विशेष वाद

विवाद इसी बात पर है कि युद्ध की 'सामग्री' में कौन कौन से पदार्थ समझे जायें और कौन कौन से पदार्थ न समझें जायें इसका मुख्य कारण यह है कि बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जो कि युद्ध के कार्य में भी आते हैं और अन्य साधारण कार्यों में भी प्रयोग होते हैं। पिछले द्वितीय महायुद्ध में किसी भी पदार्थ के जहाज को नहीं छोड़ा गया। अब तो युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं की सूची इतनी विस्तृत हो गई है कि लगभग सब वस्तुएँ 'युद्ध में सहायता देने वाली समझी जाती हैं। इसलिये पिछले द्वितीय महायुद्ध में लगभग सब प्रकार के जहाजों पर आक्रमण किया गया था।

सर्वोच्चसत्ता की परिभाषा—भिन्न भिन्न राजशास्त्रवेत्ताओं ने सर्वोच्चसत्ता की परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से की है। बोदां ने "नागरिक तथा प्रजाजनों पर विधान से निर्बाध सर्वोच्चशक्ति" को सर्वोच्चसत्ता बतलाया है ग्रोशस का कथन है कि "सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति उन लोगों में विराजमान है जो किसी पर निर्भर नहीं है और जिन को प्रप्यादेश नहीं किया जा सकता वह नैतिक कार्य शक्ति है"। डूग्विट (Dugvit) का मत है कि "हमारे देश में इस (सर्वोच्चसत्ता) का अर्थ समझा जाता है राज्य की आदेश करने वाली शक्ति। वह राज्य में संगठित राष्ट्र की इच्छा है। वह राज्य के भूभाग में व्यक्तियों को निर्बाध आदेश करने वाला अधिकार है।

बर्गेस का विचार है कि सर्वोच्चसत्ता "प्रजा के व्यक्तियों तथा सम्पूर्ण संवासों पर मौलिक, निरकुंश तथा असीमित शक्ति है" एक और स्थान पर वह लिखता है कि सर्वोच्चसत्ता "अप्राप्त तथा आदेश करने वाली स्वतंत्र शक्ति है वह शक्ति आज्ञा पालन करने के लिये बाध्य करती है"।

फ़्रेड्रिकपौलक कहता है कि "सर्वोच्चसत्ता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी है और न प्रदत्त। न तो वह शक्ति किसी विशेष नियम पर निर्भर हैं और न नियम उसमें कोई परिवर्तन ही कर सकते हैं।"* विलोबी का कथन है कि "राज्य की सर्वोच्च इच्छा का नाम ही सर्वोच्चसत्ता है"।†

आधुनिक समाज नाना प्रकार के संगठनों से परिपूर्ण है। श्रम, मुद्रा उद्योग, व्यापार व्यवसाय से लेकर शिक्षण मुद्रण आदि सभी व्यवसायिक समिति मुद्रणसंघ, ट्रस्ट, पूल, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, आदि इसी के उदाहरण हैं। इन्हीं संगठनों की भांति राज्य भी एक संगठन है। अब प्रश्न यह उठता है

---

* सरफ़ेड्रिक पौलक हिस्ट्री आफ दी साइंस आफ पौलिटिक्स पृष्ठ ४३

† विलोबी, नेचर आफ दी स्टेट, पृष्ठ २८०।

कि इन संगठनों में और राज्य रूपी संगठन में क्या भेद है। इस प्रश्न को हल करने से पूर्व सर्वोच्चसत्ता का निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है। इस निरूपण से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि नागिरकों का स्वराष्ट्र से, राष्ट्रीय सर्वोच्चसत्ता का वैयक्तिक स्वतंत्रता से और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से क्या सम्बंध है। विधानों का सर्वोच्चसत्ता से घनिष्ठ संबन्ध है।

सर्वोच्चसत्ता नव्य राजनीति शास्त्र का प्राण है। इसी पर विधानों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रचलित रहना निर्भर है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि स्थान विशेष के संगठित समाज का नाम राज्य है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति तभी सम्भव है जब कि समाज में इतना संगठन हो कि वह राज्य स्थापित कर सके, विधान बना सके, उन्हें प्रचलित कर सके, और अपने संगठन को देर तक स्थिर रख सके। पराधीन समाज में राज्य की स्थिति सम्भव नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि समाज में ऐसे पुरुष होने चाहिए जो कि नागरिकों को अपनी आज्ञा पर चलने के लिए बाध्य कर सकें। यही लोग राज्य के शासक और राज्य के प्रभु अथवा सर्वोच्चसत्ता हैं। इन्हीं की आज्ञा विधान है। इनकी सर्वोच्चसत्ता अपरिमित तथा निर्बाध होती है। यदि कोई संस्था इनकी सर्वोच्चसत्ता में बाधक होती है। तो वस्तुत: राज्य की सर्वोच्चसत्ता उसी संस्था को समझना चाहिए। सर्वोच्चसत्ता के विचार से राज्य का स्वरूप निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है *।

(क) राज्य का आन्तरिक स्वरूप—राज्य की सर्वोच्चसत्ता संपूर्ण नागरिकों के सब संगठनों पर अपरिमित तथा निर्बाध होती है। अधिकारों तथा अनुबन्धों का स्रोत राज्य ही है। यही कारण है कि राज्य के विरुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों तथा अनुबन्धों की कुछ भी सत्ता नहीं है। यदि एक नागरिक दूसरे नागरिक की बातों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता तो इसका मुख्य कारण राज्य की सर्वोच्चसत्ता को ही समझना चाहिए। 'विधान अच्छा है या बुरा' यह विचार विधान के प्रतिपालन में बाधक नहीं हो सकता। राज्य की इच्छा पर चलने के लिए प्रत्येक नागरिक बाध्य है। अनन्त शक्ति होते हुए भी राज्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग नहीं करता है। अपनी बहुत सी शक्ति वह दूसरों को भी दे देता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि लोग राज्य

---

* गैटिल—इंट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ ६३-६४।
लीकॉक—एलीमेंट्स आफ पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ ५२-५३।

द्वारा प्रदान की हुई शक्ति पर अपना किसी प्रकार का भी अधिकार प्रकट कर सकते हैं। जब कभी राज्य अपनी शक्तियाँ दे देता है तो उसको विधानों के अनुसार ही उन शक्तियों को लौटाना पड़ता है। राज्य शासकों के ऊपर है। शासक वही कार्य कर सकते हैं जो कि राज्य चाहता है राज्य द्वारा दिये गये वैयक्तिक अधिकारों में जब किसी प्रकार का परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है तो शासक लोग राज्य ही को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि आन्तरिक विषयों में राज्य की शक्ति अपरिमित तथा पूर्ण स्वतंत्र है *।

(ख) राज्य का वाह्य स्वरूप—अन्य राज्यों के हस्तक्षेप से राज्य की सर्वोच्चसत्ता का सुरक्षित रहना आवश्यक है। जहाँ यह बात नहीं है वहाँ राज्य को पराधीन समझना चाहिये। बहुतसी बातों में अन्तर्राष्ट्रीय विधानों तथा सन्धियों के अनुसार राज्यों को कार्य करना पड़ता है। परन्तु इस से उनकी सर्वोच्चसत्ता पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है। क्योंकि उन के मानने या न मानने का राज्यों को पूर्ण अधिकार है। राज्य उपनिवेशों को पूर्ण स्वराज्य दे सकते हैं और आन्तरिक विषयों में अमेरिका के समान राज्यों को पूर्ण स्वतंत्र कर सकते हैं। ऐसा करने में उनकी सर्वोच्चसत्ता ज्यों की त्यों बनी रहती है। वाह्य कार्यों में एक राज्य का दूसरे राज्य से सम्बन्ध होने से उनकी सर्वोच्चसत्ता में कोई बाधा नहीं पड़ती है। राज्य की सर्वोच्चसत्ता विभक्त नहीं की जा सकती है सर्वोच्चसत्ता के कामों में लाने के अधिकार को भिन्न भिन्न राजकीय विभागों में बांटते हुए भी राज्य के ही सदृश सर्वोच्चसत्ता का ह्रास नहीं हो सकता। राज्य की सत्ता वहीं है जहाँ सर्वोच्च सत्ता पूर्ण रूप से विद्यमान है। यदि भिन्न भिन्न राज्यों में सर्वोच्चसत्ता विभाजित हो तो वहाँ एक के स्थान पर अनेक राज्य समझने चाहिये। विधानों के अनुसार राज्य की सर्वोच्चसत्ता पूर्ण अपरिमित तथा अभेद्य है †।

सर्वोच्चसत्ता तथा विधान—राज्य की सर्वोच्चसत्ता भी एक बड़ी जटिल समस्या है। चिरकाल से इस विषय पर बड़ा वाद विवाद होता चला आरहा है प्रोफेसर वर्गेस के इस विचार को कि "मैं व्यक्ति या व्यक्ति संघ पर राज्य की सर्वोच्चसत्ता को अपरिमित, स्वेच्छा पूर्ण तथा निर्बाध समझता हूँ" प्रायः राजनीतिज्ञ सहसा ही स्वीकार करने से हिचकते हैं। परन्तु इस

---

* गैटिल-इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ६४-६५
विलोबी—नेचर आफ दी स्टेट पृष्ठ १८१-१८३

† लीकॉक ऐलीमेंट्स आफ पोलीटिकल साइंस पृ० ५२-५५

में हिचकने की कोई विशेष बात नहीं दिखाई देती है। क्योंकि समाज के संगठन पर ही राज्य का आधार है। यह संगठन तभी संभव है जब कि राज्य का नियंत्रण तथा व्यक्तियों द्वारा राज्य की आज्ञा का प्रतिपालन यह दोनों बातें पूर्ण रूप से विद्यमान हों। यदि व्यक्ति राज्य की आज्ञा पर न चलते हों, तो राज्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती। राज्य तभी तक स्थिर है जब तक कि व्यक्ति राज्य की आज्ञा पर चलते हैं। बहुत से स्थानों में राज्य की सर्वोच्चसत्ता ही काम में लाते हैं। उनके नियंत्रण, न्याययुक्त अथवा अन्याययुक्त, लोग सर्वसम्मति से अथवा दल विशेष के बहुमत से चुने गये हों, यदि उनकी आज्ञा का प्रतिपालन होता है तो राज्य की स्थिति का अपलाप नहीं किया जा सकता उनकी आज्ञा का नाम ही विधान है।

यह बतलाया जा चुका है कि राज्य की सर्वोच्चसत्ता का कोई भी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। आजकल प्रायः राज्य की नियामक सभा ही सम्मिलित रूप से राज्य की सर्वोच्चसत्ता का आधार है। वह प्रत्येक प्रतिबंध तथा बाधा को हटा सकती है। आस्टिन (Austin) के विधान सम्बन्धी लक्षण से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। उसका कथन है कि "यदि कोई अपूर्व शक्ति-सम्पन्न पुरुष स्वयं किसी के भी बिना अधीन हुए, अपनी आज्ञाओं पर किसी मनुष्य समाज को चलाता है तो वही पुरुष राजा अथवा सर्वोच्चसत्ता और वही मनुष्य-समाज राजनैतिक स्वतंत्र समाज हुआ"। इस से स्पष्ट है कि 'विधान तथा प्रतिपालन' यह दो ही राज्य की कसौटी हैं। आज्ञा प्रतिपालन के लिये निर्दिष्ट वाक्य ही विधान है। राज्य ने व्यक्तियों को जो जो स्वतंत्रता तथा अधिकार दिये हैं उनकी वही वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा उनके पद्य वैयक्तिक अधिकार समझने चाहिये। विधानों के अनुसार इन से भिन्न राज्य के विरुद्ध वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा वैयक्तिक अधिकार कोई वस्तु नहीं।†

सर्वोच्चसत्ता के चिन्ह तथा गुण—समाज में राज्य रूपी संगठन से बढ़ कर कोई संगठन नहीं। अन्य साधारण संगठनों से इसकी सत्ता बहुत बढ़ी चढ़ी है। सब से बड़ी बात तो यह है कि समाज के सम्पूर्ण संगठनों की सत्ता का स्रोत राज्य की सर्वोच्चसत्ता है। राजशास्त्रवेत्ता इसके निम्नलिखित चिन्ह तथा गुण प्रकट करते हैं—

(क) महत्व—संगठित समाज अथवा जातियां अपने महत्व का

† गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ९५।

विशेष ध्यान रखती हैं। वह अपनी सर्वोच्चसत्ता का अपमान सहन नहीं कर सकतीं। राज्य की सर्वोच्चसत्ता, सम्मान, तथा आज्ञा के विरुद्ध कार्यों को रोम में बड़ा भारी अपराध समझते थे।

(ख) स्वातन्त्र्य—विदेशी राज्यों से राज्य की सर्वोच्चसत्ता का स्वतन्त्र होना आवश्यक है। यदि किसी राज्य को दूसरों की सर्वोच्चसत्ता के सामने नतमस्तक होना पड़े तो उसकी सर्वोच्चसत्ता को नष्ट और उस राज्य को पराधीन समझना चाहिये।

(ग) राज्य संशोधन—प्रतिनिधितन्त्र राज्यों में सर्वोच्चसत्ता का स्रोत जनता होती है। यही कारण है कि राज्य संशोधन में जनता की सर्वोच्चसत्ता का प्रतिबन्धरहित होना आवश्यक है। इस प्रकार का अधिकार किसी एक व्यक्ति या दल के पास न रह कर सम्पूर्ण संगठित समाज के पास रहता है। इच्छा न होते हुए और आत्महनन की आशंका रखते हुए भी बुरे से बुरे विधान का प्रतिपालन व्यक्तियों के लिये आवश्यक है। यदि लोग ऐसा न करें तो राज्य की शान्ति, स्थिरता तथा एकता का स्थापित रहना असम्भव है। राज्य-संशोधन तथा राज्य-क्रान्ति में बड़ा भेद है। राज्य-संशोधन तभी तक है जब तक कि (१) सम्पूर्ण परिवर्तन प्रचलित विधानों तथा शासन पद्धति की धाराओं के अनुसार ही किये जायें और (२)प्राचीन शासनपद्धित की आकृति तथा आधार को सर्वथा ही न पलट दें। यदि यह बात न हो और शासनपद्धति की आकृति तथा आधार ही कुछ संशोधनों के कारण पलटा जाय तो इसको राज्य-क्रान्ति समझना चाहिये। यदि परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार राज्य का संशोधन निरन्तर न होता रहे तो राज्य का जीवन तथा प्राण सुरक्षित नहीं रह सकता। यदि किसी राज्य की जनता को इस नैसर्गिक अधिकार से वंचित रखा जाय तो इसका अभिप्राय यह है कि राज्य उन्नति का विरोधी है और राज्य-क्रान्ति का बीज बो रहा है। जनता को राज्य-क्रान्ति का अधिकार है या नहीं यह एक विलक्षण प्रश्न है क्योंकि प्रचलित विधानों के साथ 'राज्य क्रान्ति के अधिकार का नैसर्गिक विरोध है। राजशास्त्रवेत्ता राज्य-क्रान्ति करने में जनता का अधिकार न मानते हुए भी इसको अवश्यम्भावी ऐतिहासिक घटना समझते हैं, जो कि संशोधन या परिवर्तन के विरोधी राज्यों के समूल नाश करने के लिये उत्पन्न होती है और राज्य का जीवन स्वास्थ्यप्रद परिस्थिति में रखने का यत्न करती है। शासकों का कर्तव्य है कि जनता की इच्छाओं के अनुसार राज्य में उचित परिवर्तन करते हुए राज्य-क्रान्ति को उत्पन्न न होने दें।

राज्य की स्थिति के नाश का ही यदि सन्देह हो तो जनता को यह

अधिकार है कि राज्य-क्रान्ति करदे। राज्य तो राष्ट्र का एक अंग है। यदि राष्ट्ररूपी शरीर के नाश की ही सम्भावना हो तो राज्यरूपी अंग को काट कर संशोधन करना आवश्यक है। सारांश यह कि राज्य-क्रान्ति आपद्धर्म है विधान तथा राज्य शान्ति के लिये हैं न कि आपत्ति के लिये। नीबूर (Niebuhr) ने ठीक कहा है कि "आपद्धर्म की सत्ता का अपमान करना भयंकर अत्याचारों के लिये द्वार खोलना है। जब एक जाति पैरों तले रौंदी जा रही हो और अमानुषिक अत्याचारों से पीड़ित हो, स्त्री तथा पुरुष के अधिकारों का जहाँ कोई ध्यान न हो, ऐसी भयंकर आपत्ति में अत्याचारी राज्य के विरुद्ध राज्य-क्रान्ति करने से बढकर कोई पुण्य नहीं और जो इस सिद्धान्त को नहीं मानता उससे बढ़कर कोई पापी नहीं।"

(घ) विधान-निर्माण—साधारणतया राज्य की सर्वोच्चसत्ता का मुख्य चिन्ह नियामक (विधान-निर्माण) शक्ति ही है। जो विधान बनाता है, प्रायः राज्य की सर्वोच्चसत्ता उसी के पास रहती है।

(ङ) मुख्य शक्ति—सर्वोच्चसत्ता राज्य की सम्पूर्ण शक्तियों में मुख्य शक्ति है। शासन पद्धति तथा विधान निर्माण में ही आजकल सर्वोच्चसत्ता मुख्यतः काम में आती है। एकतन्त्र राज्य में राजा ही इस सत्ता का प्रयोग करता है। जाति का इसमें कुछ भी भाग नहीं होता।

(च) अनुत्तरदायित्व—प्रत्येक मनुष्य अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी है। प्राकृतिक घटनाओं के सम्मुख प्रत्येक को नतमस्तक होना पड़ता है। यह होते हुए भी ऐसा कोई न्यायाधीश नहीं नियत किया जा सकता जिसके सम्मुख राज्य को अपने कार्यों का उत्तर देने के लिये उपस्थित होना पड़े। यदि किसी एक राज्य को दूसरे राज्य की अनुमति के अनुसार अपनी सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करना पड़े तो उसको पराधीन ही समझना चाहिये। सारांश यह है कि राज्य की सर्वोच्चसत्ता पूर्ण स्वतन्त्र है। वह किसी भी कार्य के लिये किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त का उदय—सर्वोच्चसत्ता का स्वरूप गुण तथा चिन्ह दिखाया जा चुका है। इसी को सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त का नाम भी दिया जाता है। इस सिद्धान्त का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी से माना जाता है क्योंकि इसी समय प्राचीन राजनैतिक संस्थाओं का ह्रास और जातीय राष्ट्रों तथा जातीय विचारों का उदय आरम्भ हुआ था। राज्य के वर्तमान प्रचलित विचार सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मध्य काल में राज्यों की सत्ता विद्यमान न थी। क्योंकि परिवार पर आधि

एकता उस समय लुप्त हो चुकी थी और जातीय आधार पर नवीन संगठन गर्भावस्था में था। वैयक्तिक पराधीनता तथा पारस्परिक अनुबंध ही संगठन का आधार था। रोमन साम्राज्य को सार्वभौम मानने से और गृह तथा धार्मिक जीवन में पोप का प्रभुत्व स्वीकार करने से यूरोप में मध्यकाल में स्वाधीन तथा समान अधिकार-युक्त राष्ट्रों का उदय न हुआ। इसी के साथ ही साथ सामन्तवाद के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में विभक्त राजनैतिक अधिकार और जनता तथा राजनीतिज्ञों का किसी एक अनन्त शक्तिसम्पन्न प्रकृति के जटिल सार्वभौम विधानों में विश्वास सर्वोच्चसत्ता की अपरिमित शक्तियुक्त सर्व बाधाओं से स्वतन्त्र, अनुत्तरदायी नवीन दिव्य प्रतिमा को चिरकाल तक लोगों के सामने न रख सका।

मध्यकाल के अन्त में यूरोपीय समाज गर्भावस्था से निकलकर नवीन रूप मे प्रकट हुआ। धार्मिक युद्ध (Crusades) तथा पारस्परिक संघर्ष से कुलीन लोग निःशक्त हो गये। व्यापार तथा नगरों के बढ़ने से अन्य बहुत से लोग ताल्लुकदारों की अपेक्षा अधिक समृद्ध हो गये। कुलीनों तथा ताल्लुकदारों की दुर्बलता से भिन्न-भिन्न राजाओं ने लाभ उठाकर अपूर्व शक्ति प्राप्त की परन्तु कुछ ही समय के पश्चात यूरोपीय जनता ने यह रहस्य जान लिया कि राजा प्रजा का स्वामी नहीं है। राष्ट्र ही शक्ति का स्रोत है। राष्ट्र की कृपा से ही राजा शक्तिसम्पन्न है। फ्रान्स में एकतन्त्र राज्य ने नवीन रूप धारण किया उसको न्यायसंगत तथा स्वभाविक सिद्ध करने के लिये बोदां (Bodin) ने सब से पहले सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसने लिखा है कि राज्य ही नागरिकों का स्वामी है। उसकी सर्वोच्च-सत्ता अपरिमित, पूर्ण, अभेद्य तथा स्वतन्त्र है। बोदां के पश्चात् राज्यों की पृथक् सत्ता मानी जाने लगी। ग्रोशस (Grotius) ने अपनी पुस्तक में राज्य का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया और प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता तथा समान अधिकार वाला माना। इसी समय से अन्तर्राष्ट्रीय विधानों ने अपना रूप प्रकट किया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जॉन आस्टिन (Jhon Austin) ने अपने राजनैतिक विचारों तथा अध्ययन के कारण विशेष महत्व प्राप्त किया। इंगलेंड तथा अमेरिका के अधिकांश विचारकों पर उसकी छाप लगी। प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक विधानों पर से विचारकों की श्रद्धा उठ गई। सर्वोच्चसत्ता ने अपना नवीन दिव्य रूप दिखाया †।

---

† ब्लंशली—थ्योरी आफ दी स्टेट, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४६३-४६६।

सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त की आलोचना—सर्वोच्चसत्ता के उपर्युक्त स्वरूप तथा चिन्ह को बहुत से राजशास्त्रवेत्ता स्वीकार नहीं करते। उन का विचार है कि राज्य का यह अधिकार नहीं कि वह वैयक्तिक धर्म तथा वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप करे। वास्तव में उनका विचार सत्य है। परन्तु सब से बड़ी कठिनाई तो यह है कि वैयक्तिक धर्म्म तथा वैयक्तिक जीवन का क्षेत्र इतना स्पष्ट नहीं है कि कि आँख बन्द करके राज्य की सर्वोच्चसत्ता कुंठित की जासके। वैयक्तिक धर्म तथा वैयक्तिक जीवन का तात्पर्य क्या है इसका निर्णय कौन करे? यदि इसके निर्णय में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र किया जाय और उसी निर्णय के अनुसार सर्वोच्चसत्ता परिमित की जाय तो राज्य की शान्ति, स्थिरता, तथा सत्ता ही लुप्त हो सकती है। व्यक्तियों की इच्छाओं तथा विचारों को पृथक रूप से राज्य की सर्वोच्चसत्ता का प्रतिबन्ध या बाधक मानने से राज्य तथा विधान का अभाव होना और अराजकता का फैलाना स्वाभाविक है। यदि इसका निर्णय जनता के बहुमत पर छोड़ दिया जाय और जो निर्णय हो उसी पर व्यक्तियों को चलने के लिये बाध्य किया जाय तो राज्य की सर्वोच्चसत्ता का अपरिमित तथा प्रतिबन्धरहित होना सिद्ध ही होगया। इस प्रकार उपर्युक्त आक्षेप का कोई मूल्य नहीं रहता।

विधानों के अनुसार राज्य की सर्वोच्चसत्ता अपरिमित तथा अबाध्य है। वह कहाँ हस्तक्षेप करे और कहाँ न करे, किन किन विषयों में नागरिकों को स्वतन्त्रता दे, यह सर्वोच्चसत्ता के प्रयोग करने वालों पर निर्भर है। ब्लंश्ली का मत है कि "राज्य सर्वशक्तिमान नहीं, क्योंकि बाह्यरूप से अन्य राज्यों के सम्बन्ध से उसकी शक्ति प्रतिबद्ध है और आन्तरिक रूप से उसकी आकृति ही ऐसी है और उसके अंगरूप व्यक्तियों के अधिकार ही ऐसे हैं कि उसकी सर्वोच्चसत्ता अपरिमित नहीं कही जा सकती"। यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि विधानों के अनुसार राज्य की सर्वोच्चसत्ता अपरिमित ही है। वास्तव में क्या होता है यह दूसरी बात है। बेन्थम ने यह कहकर कि "विदेशी राज्य की शक्तियों के द्वारा प्रत्येक राज्य की सर्वोच्चसत्ता प्रतिबद्ध है" ब्लंश्ली के समान भूल की है। वास्तव में बात तो यह है कि जिस प्रकार रेखागणित में बिन्दु की लम्बाई चौड़ाई को शून्य माना है यद्यपि प्रयोगरूप में ऐसा नहीं

गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ ९५-९७।

सामिन्ड—[illegible] जुरिस्प्रूडेन्स।

होता, उसी प्रकार राजशास्त्र में सर्वोच्चसत्ता अपरिमित, स्वतन्त्र तथा प्रतिबन्ध रहित मानी गई है।

सर्वोच्चसत्ता-सिद्धान्त पर सबसे अधिक विचारपूर्ण आक्षेप सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) का है। मेन सात वर्ष तक लगातार भारतवर्ष में रहा। नियामक सभा का सदस्य होने से उसको भारत की प्राचीन शासनपद्धति का पूर्ण रूप से ज्ञान होगया था। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ब्रिटिश राज्य पर्य्यन्त विधान नहीं बनाये जाते थे। देशप्रथा तथा प्राचीन विधान ही शासन के आधार थे। स्वेच्छाचारी से स्वेच्छाचारी भारतीय राजा नवीन नवीन मनमाने ढङ्ग के प्रबल विधान बनाकर जनता पर अत्याचार करना नहीं जनते थे। रणजीतसिंह जैसे निरंकुश स्वेच्छाचारी राजा के विषय में मेन ने लिखा है कि वह छोटे से छोटे अपराध पर लोगों को मृत्युदण्ड देता था। यह होते हुए भी उसने एक भी ऐसी आज्ञा नहीं निकाली जिसे हम विधान कह सकें। जो विधान चिरकाल से पंजाब में प्रचलित थे उन्हीं के अनुसार न्यायाधीश अपना निर्णय करते थे। सारांश यह है कि भारतवर्ष में राज्य की सर्वोसच्चसत्ता इस सीमा तक स्वेच्छापूर्ण तथा अपरिमित कभी नहीं हुई कि वह प्राचीन प्रथाओं तथा प्राचीन विधानों का उल्लंघन कर सके। अधिक क्या यूरोपीय राज्यों में अभी तक प्राचीन प्रथायें, प्राचीन विधान तथा अधिकारपत्र राज्य की सर्वोच्चसत्ता को परिमित कर रहे हैं। इन सब बातों को देखते हुए मेन का विचार है कि राज्य की सर्वोच्चसत्ता को अपरिमित, प्रतिबन्ध रहित तथा स्वतन्त्र मानना सत्य का अपलाप करना है।

मेन के आक्षेप की प्रबलता का अनुमान इसी से किया जा सकता है। आस्टिन तक को यह करना पड़ा कि "जो जो बातें प्राचीन काल से अब तक प्रचलित हैं और न्यायाधीशों को जिनका ध्यान रखकर निर्णय करना पड़ता है, वे सब प्रकार से राज्य की सर्वोच्चसत्ता के विरुद्ध न होने से प्रचलित हैं। राज्य उनको पसन्द करता है इसलिये उनका अस्तित्व है। प्राचीन काल के नियमों का प्रचलित होना पार्लियामेंट की सर्वोच्चसत्ता को परिमित या प्रतिबंधयुक्त नहीं बना सकता। क्योंकि पार्लियामेंट इनमें यथेच्छ परिवर्तन कर सकती है और अब तक करती भी रही है"। पंजाब के महराज रणजीतसिंह का दृष्टान्त सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त के खण्डन में असमर्थ है। क्योंकि रणजीतसिंह पञ्जाब के प्राचीन नियमों तथा देश प्रथाओं में स्वेच्छानुसार परिवर्तन कर सकता था। यदि वह ऐसा करने से डरता था तो इसका मूल कारण उसका धार्मिक विश्वास ही था।

बहुत से राजशास्त्रवेत्ताओं का विचार है कि आस्टिन का उपर्युक्त सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त वर्तमान राज्यों के लिये ही सत्य है। प्राचीन तथा मध्यकालीन राज्यों के लिये वह ठीक नहीं है। इस विचार को सर जेम्स स्टीफेन (Sir James Stephen) ने यहां तक बढ़ाया है कि सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त को रेखा तथा विन्दु के लक्षण के सदृश ही कल्पित माना है। उसका कथन है कि "जिस प्रकार पूर्ण परिधि बाधा रहित गति, या लम्बाई चौड़ाई रहित विन्दु, विचार की सुगमता के लिये मान लिये गये हैं उसी प्रकार सर्वोच्चसत्ता की कल्पना अपरिमित स्वतन्त्र तथा प्रतिबन्ध रहित की गई है"। वास्तविक जगत् में सर्वोच्चसत्ता अपने सम्पूर्ण गुणों तथा चिन्हों के साथ कहीं पर भी दिखाई नही पड़ती है। इस संसार में न कोई पूर्णस्वतन्त्र, प्रतिबन्ध रहित, अपरिमित शक्तिसम्पन्न स्वेच्छाचारी प्रभुत्व और न कोई ऐसी सर्वोच्चसत्ता ही है जो निर्बाध तथा अपरिमित हो।

कुछ लेखकों ने मेन के आक्षेप से बचने के लिये राज्य तथा विधान के लक्षण का परिवर्तन कर दिया है। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रधान वुडरो विल्सन (President Woodrow Wilson) ने लिखा है कि "स्थिर विचारों तथा स्थिर स्वभावों का वह भाग विधान है जिसको राजकीय शक्ति तथा राजनैतिक अधिकार से प्रचलित किया गया हो। नवीन विधानों को बनाना इसी क्रम का एक भाग है। विधान संगठित समाज की इच्छा के ही परिणाम हैं। विधानों को एकमात्र राजकीय अथवा नियामक शक्ति का चिन्ह समझना भूल करना होगा क्योंकि सदाचार के नियम तथा न्यायाधीशों के द्वारा विधानों की व्याख्या भी विधान का रूप धारण कर जाती है। राज्य की आज्ञा ही विधान है"। यह सूत्र पूर्णरूप से सभ्य राज्यों में लागू हो जाता है। हमारी समझ में विल्सन के लक्षण भी इसी के अन्तर्गत हो जाते हैं, क्योंकि जो बातें वह अपने नवीन लक्षण से सिद्ध करना चाहता है वह इस लक्षण में भी सिद्ध हो जाती है।

सामयिक राज्यों में राज्य की सर्वोच्चसत्ता का स्थान—सामयिक राज्यों की शासन पद्धतियों में भिन्न भिन्न राज्यों की सर्वोच्चसत्ता का स्थान सुगमता से जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ ब्रिटिश साम्राज्य को लीजिये। इसकी सर्वोच्चसत्ता का केन्द्र पार्लियामेंट है (राजा, लार्ड्स तथा कामन्स के सम्मिलित रूप का नाम ही पार्लियामेंट है)।

इस पार्लियामेंट की शक्ति अपरिमित तथा प्रतिबन्धरहित है। वह प्रत्येक प्रकार का विधान बना सकती है। कोई भी ब्रिटिश न्यायालय पार्लिया-

मेन्ट द्वारा पास किये गये विधान को रद्द नहीं कर सकता है। देशप्रथा, गतकालीन विधान, लिखित स्वाधिकार-पत्र (Magna carta) आदि कोई भी पार्लियामेन्ट की अपरिमित शक्ति को कम नहीं कर सकते। पर्लियामेन्ट के सन्मुख वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पृथक् अस्तित्व नहीं। किसी भी उपनिवेश अथवा स्थानीय राज्य का ऐसा स्वराज्य नहीं, जिसको कि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट मिटा न सकती हो।

ब्रिटिश शासनपद्धति सरल है। अतः वहां सर्वोच्चसत्ता का प्रश्न वहुत टेढ़ा है। परन्तु अमेरिकन शासनपद्धति में यह बात नहीं है। उसमें सर्वोच्चसत्ता का स्थान गुप्त है। अमेरिकन संघीय शासनपद्धति (Federal Government) में संगठित राज्यों की नियामक तथा शासन शक्तियां परिमित हैं। क्योंकि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के सदृश अमेरिकन कांग्रेस मनमाना विधान नहीं बना सकती। अमेरिकन न्यायालय प्रत्येक विधान पर विचार कर सकते हैं और यदि वह अमेरिकन शासनपद्धति की नियत धाराओं के विपरीत हो तो उसको रद्द भी कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, मुख्य राज्य का नियत कर सम्बन्धी विधान अपने अनुसार चलने के लिये किसी भी अमेरिकन को वाध्य नहीं कर सकता। सारांश यह है कि अमेरिका में प्रधान, कांग्रेस तथा राष्ट्रीय राज्यों में से किसी के पास भी पूर्ण रूप से राज्य की सर्वोच्चसत्ता नहीं है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर अमेरिका की सर्वोच्चसत्ता का गुप्त स्थान भी जाना जा सकता है।

वास्तविक बात तो यह है कि अमेरिका की सर्वोच्चसत्ता उस सभा के पास है जो कि अमेरिकन शासनपद्धति की नियत स्थिर धाराओं को परिवर्तित कर सकती हैं। यद्यपि इस सभा की सत्ता पूर्णरूप से प्रत्यक्ष नहीं है तथापि इसकी सर्वोच्चसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। कांग्रेस के दोतिहाई सदस्य या तीनचौथाई नियामकों द्वारा किये गये विशेष सभा के सदस्य अमेरिकन शासन-पद्धति की नियत धाराओं का परिवर्तन कर सकते हैं। और अमेरिकन न्यायालय उनकी सम्मतियों पर किसी प्रकार की भी वाधा नहीं डाल सकते। इस विशेष सभा में अमेरिका की सर्वोच्चसत्ता है और वह अपरिमित है। इसी प्रकार फ्रांस में प्रधान, सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा में से किसी के पास भी राज्य की सर्वोच्चसत्ता नहीं है। फ्रांस की शासनपद्धति की नियत धाराओं के अनुसार इन सभाओं की शक्ति परिमित है। वस्तुतः फ्रांस की सर्वोच्चसत्ता सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा की सम्मिलित बैठक में (जो कि जातीय सभा के नाम सम्बोधित की जाती है) यही

जातीय सभा, फ्रांस की सर्वोच्चसत्ता का केन्द्र है। इसकी शक्ति अपरिमित है।

राजनैतिक सर्वोच्चसत्ता का सिद्धान्त—सर्वोच्चसत्ता का स्वरूप तथा स्थान विधान के अनुसार क्या है ? इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। अब यह बतलाया जायगा कि आधुनिक राज्यों में वस्तुतः सर्वोच्चसत्ता किस के पास रहती है। स्वेच्छाचारी राज्यों में राजा ही सर्वशक्तिमान तथा राज्य का प्रभु होता है। परन्तु प्रायः यह देखने में आया है कि राजा भोगविलास में मस्त होकर अपना कार्य मंत्रियों पर छोड़ देता है और इस प्रकार मन्त्री ही राज्य का प्रभु तथा संचालक बन जाता है। कभी कभी पुरोहित लोग भी अपनी धार्मिक शक्ति के बल पर राजा को कठपुतला बना देते हैं और राज्य की सर्वोच्चसत्ता स्वयं बन जाते हैं। प्रतिनिधितंत्र राज्यों में देखने में तो प्रतिनिधियों का राज्य होता है, परन्तु वास्तव में उनके पास निर्वाचित के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है। निर्वाचित होने के पश्चात् प्रतिनिधि स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और प्रायः मनमाने ढंग पर चलने लगते हैं। सब से बड़ी बात तो यह है कि प्रतिनिधि निर्वाचन में धनशक्ति का प्रयोग होने से धनिक या कुलीन लोग ही प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इससे राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता चिरकाल तक एक ही दल या एक ही श्रेणी के लोगों के हाथ में रहती है। आधुनिक राज्यों में पूंजीपतियों को विशेष शक्ति प्राप्त है। इससे राज्य की सर्वोच्चसत्ता श्रमिकों के हित में न प्रयुक्त होकर राष्ट्र के धन शोषण में प्रयोग की जाती है। साम्राज्यवाद की ओर राज्यों का झुकाव इसीलिये है। डाइसी (Dicey) का कथन है कि "विधानों के अनुसार जो राजा समझा जाता है प्रायः वह किसी दूसरे का कठपुतला होता है। जैसे दूसरा उसको नचाये वैसे ही उसको नाचना पड़ता है"*। सिजविक ने ऐसे राजा के पता लगाने का यत्न किया है जो कि विधानों के द्वारा राजा होते हुए भी वास्तव में भी राजा हो। उसका कथन है कि "वह स्वेच्छाचारी तानाशाह (Irresponsible Dictator) जो कि जन सभा से निर्वाचित हो और पुनर्निर्वाचन का अनिच्छुक हो, उसी को विधान का प्रतिपादक तथा वास्तविक राजा या प्रभु समझना चाहिये। परन्तु यदि वह पुनर्निर्वाचन का इच्छुक हो तो उसको जन सभा की इच्छा का विशेष रूप से ध्यान रखना

---

* ए० वी० डायसी—ला आफ दी कान्स्टीट्यूशन।

पड़ेगा। इस दशा में उसको मुख्य शासक व प्रभु समझना भूल होगी"*। इस प्रकार स्पष्ट है कि विधानों के अनुसार एक व्यक्ति या सभा के पास सर्वोच्चसत्ता के होते हुए भी वास्तव में वह राज्य का प्रभु नहीं होता। कहीं पुरोहित, कहीं सेनापति या पूंजीपति, कहीं कुलीन या दरबारी और कहीं राजधानी के लोग ही राज्य के वास्तविक प्रभु होते हैं, जब कि विधानों के अनुसार कोई दूसरा ही व्यक्ति प्रभु पद पर विराजमान होता है †। पिछली शताब्दी से यूरोपीय राज्य प्रतिनिधितन्त्र राज्य पद्धति में दिन प्रति दिन प्रविष्ट होते गये। रूसो तथा फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के पश्चात् यह विचार लोगों में फैल गया कि राजनैतिक प्रभुत्व वस्तुतः जनता के पास रहता है ‡। उसका कथन है कि प्रभुत्व उसी का होता है जो कि शक्तिशाली है। जो आज्ञा का प्रतिपालन करा सके और राष्ट्र को नियंत्रित रखे उसी को राष्ट्र का प्रभु समझना चाहिये"। अति प्राचीनकाल में राजा ही राष्ट्र का प्रभु था। कालान्तर में संगठन, चातुर्य तथा सैनिक बल से कुछ लोग राष्ट्र-स्वामी बन बैठे। आजकल सर्वसाधारण में राजनैतिक जीवन तथा धन के बढ़ने से जनता का अधिक भाग ही राष्ट्र का स्वामी है। यह निर्वाचन के द्वारा ही काम में लाया जाता हैं। सारांश यह है कि सर्वोच्चसत्ता का वास्तविक स्रोत तथा आगार जनता है।×

परन्तु यह विचार सुगमता से नहीं माना जा सकता। प्रश्न यह है कि जनता का क्या तात्पर्य है? यदि इसका अर्थ राष्ट्र के अङ्गभूत व्यक्तियों से लिया जाता हो तो इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि राष्ट्र शरीर की शक्ति राष्ट्र शरीर के चूर्णीभूत पृथक पृथक अराज्यों में रहती है। इससे तो राष्ट्र का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। सभी राष्ट्रों में सभायें हैं जो कि राष्ट्रीय शक्ति की अधिष्ठात्री हैं। व्यक्तियों के पास पृथक-पृथक रूप से कुछ भी राष्ट्रीय शक्ति नहीं। जिस प्रकार जीवित शरीर से पृथक किये अंग निर्जीव तथा निःशक्त हो जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्र शरीर

---

* सिजविक—ऐलीमेन्ट्स आफ पोलीटिकल साइंस अध्याय ३१

† लीकाक—ऐलीमेन्ट्स आफ पोलीटिकल साइंस–पृष्ठ ६३–६७।

‡ ब्लंशली— थ्यौरी आफ दी स्टेट तृतीय संस्करण–पृष्ठ ४६७।

× गैटिल–इट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ६६।

के अंग भूतव्य व्यक्ति का पृथक अस्तित्व कुछ भी नहीं। उसमें शक्ति तथा जीवन का मानना भयंकर भूल करना होगा * ।

"प्रभुत्व उसी का होता है जो कि शक्तिशाली है । जो आज्ञा का प्रतिपालन करा सके और राष्ट्र को नियंत्रित रखे, उसीं को राष्ट्र का प्रभु समझना चाहिये" इस आधार पर जनता का राजनैतिक प्रभुत्व सिद्ध करना निरर्थक है । इससे यह पता नहीं चलता कि कौन कौन से तथा कितने मनुष्यों के पास किसी राष्ट्र में राजनैतिक प्रभुत्व रहता है । कौन शक्तियुक्त हैं, यदि यह जानने का यत्न किया जावे तो हो सकता है कि जनता शक्तियुक्त न निकले । स्त्री तथा बालक युद्ध में असमर्थ हैं। मनुष्यों में भी संगठित दल अधिक शक्तिशाली होता है, क्योंकि युद्ध में वही विजयी होता है जो किसी सेनापति के नीचे काम करने को तत्पर रहता है और आंख बन्द करके उसी की आज्ञा पर चलता है । नियंत्रण रहित जनता संगठित दल के संमुख निःशक्त होती है । यही कारण है कि 'शक्ति' राजनैतिक प्रभुत्व का आधार नहीं हो सकती † ।

यदि जनता के राजनैतिक प्रभुत्व का चिन्ह निर्वाचक ही समझा जावे तो भी समस्या हल नहीं होती । क्योंकि निर्वाचक लोग प्रायः सम्पूर्ण जन-संख्या का $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{10}$ भाग तक होते हैं । इन लोगों को जनता की इच्छा का सूचक समझना भयंकर भूल है । सबसे बड़ी बात यह है कि निर्वाचक लोग प्रतिनिधि चुनने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकते । प्रतिनिधिगण निर्वाचित होते ही उनके प्रभुत्व से निकल कर स्वतन्त्र हो जाते हैं । केवल उन्हीं देशों में निर्वाचकों का राजनैतिक प्रभुत्व माना जा सकता है जहां कि जनमत विधि (Initiative and referendum) का प्रचार है। साधारणतया यह देखा गया है कि पुरोहितों, पादरियों, कुलीनों, पूंजीपतियों आदि से प्रभावित होकर निर्वाचक का कार्य करते हैं। इससे निर्वा-चकों का प्रभुत्व नाममात्र का ही रह जाता है । कभी कभी निर्वाचक साधा-रण जनता के विचारों से प्रभावित होकर भी लोगों को निर्वाचित करते हैं । सारांश यह है कि प्रतिनिधितन्त्र राज्यों में राजनैतिक प्रभुत्व निर्वाचकों के पास सदैव नहीं रहता । इसलिये उन्हें राजनैतिक प्रभुत्व का आधार मानना बड़ी भूल करना है । ‡

* ब्लंश्ली–थ्यौरी आफ दी स्टेट तृतीय संस्करण पृष्ठ ४६७

† ब्लंश्ली–थ्यौरी आफ दी स्टेट तृतीय संस्करण पृष्ठ ४६७

‡ लीकाक–एेलीमेन्ट्स आफ पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ६५–६६

जनता में भी राजनैतिक प्रभुत्व न मानने का एक यह कारण है कि इनमें विधान के अनुकूल राजनैतिक प्रभुत्व का होना कठिन है "राज्य द्वारा संगठित समाज ही राष्ट्र है। राज्य ही राष्ट्र के लिये विधान बनाता है और चलाता है" इस विचार से यह परिणाम निकलता है कि विधानों का उल्लंघन कर सर्वोच्चसत्ता को काम में लाना 'विद्रोह या क्रान्ति' है। विधानों के अनुसार चलते हुए ही जनता सर्वोच्चसत्ता का प्रयोग कर सकती है। परन्तु इससे जनता में राजनैतिक प्रभुत्व कहाँ रहा ? जब जनता को भी विधानों का ध्यान रखना पड़ा तो उसका राजनैतिक प्रभुत्व पूर्णरूप से कैसे माना जा सकता है ? यही कारण है कि राजनीतिज्ञ जनता की सर्वोच्चसत्ता का अर्थ यही लेते हैं कि राज्य शान्तिकाल में जनता की सम्मति के अनुसार ही कार्य करने का यत्न करे। यदि जनता का राजा से मतभेद हो और राजा अपन ढंग पर ही कार्य करने पर उतारू हो तो 'राज्यक्रान्ति क़ी शक्ति' ही जनता की सर्वोच्चसत्ता है ।*

प्रोफेसर रिशी (Ritchie) तथा अन्य राजशास्त्रवेत्ताओ ने इसी 'राज्यक्रान्ति की शक्ति' को आधार बनाकर जनता की सर्वोच्चसत्ता को पुष्ट किया है। रिशी एक स्थान पर लिखता है कि जनता की सम्मतियों तथा विचारों में ही राष्ट्र का प्रभुत्व है। रूस पर यदि जार का राज्य था तो केवल इसलिये कि लोगों का बहुमत उसको ईश्वर का अवतार मानता था। जन-सम्मति रूस के जार के शासन में उसी प्रकार कारण थी जिस प्रकार कि स्विस राष्ट्रात्मक राज्य के शासन में कारण है।† इसी प्रकार मैकैक्नी (M.' kechnie) ने लिखा है कि जनता में ही राष्ट्र की वास्तविक सर्वोच्चसत्ता है। शासन का ढंग तथा शासक का स्वरूप इसमें बाधक नहीं।‡

'राज्यक्रान्ति की शक्ति' भी जनता के पास यदि होती तो उसका राजनैतिक प्रभुत्व किसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता। भारतवर्ष तथा रूस की जनता चिरकाल से प्रतिनिधितन्त्र तथा उत्तरदायी राज्य चाहती थी। बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् इन देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। स्वेच्छाचारी राज्य सैकड़ों प्रकार के क्रूर तथा कठोर विधान बना कर

---

* गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ १००

† डी० जी० रिशी—प्रिंसिपल्स आफ स्टेट इन्टरफियरेंस।

‡ मैकैकनी—स्टेट ऐन्ड दी इन्डिविजुअल।

स्वतंत्रता-प्रिय लोगों को नष्ट करते हैं और जनता को 'राज्यक्रान्ति' करने से रोकते हैं। इसी कारण जनता में राजनैतिक प्रभुत्व नहीं माना जा सकता। जो संगठित हैं और शक्तिशाली हैं उन्हीं का राजनैतिक प्रभुत्व है अन्य का नहीं।

जनता में राजनैतिक प्रभुत्व क्यों माना गया है? इसका इतिहास रहस्यपूर्ण है। स्वेच्छाचारी राज्यों के अत्याचार तथा क्रूर व्यवहार ही इसका कारण हैं। राज्य के संशोधन अथवा पलटने के लिये जनता को साधन बनाना आवश्यक है। राज्यों के स्वेच्छाचार तथा अत्याचार तभी तक हैं जब तक कि जनता संगठित होकर राज्य-क्रान्ति नहीं करती। फ़ांसीसी राज्य क्रान्ति में जनता के सर्वोच्चसत्ता विषयक विचार ने अपूर्व चमत्कार दिखाया। फ्रेन्च राष्ट्रीय सभा ने राज्य पलटने के लिये (२० अप्रैल १७९२) रूसो के सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए कहा कि 'प्रत्येक जाति को अपने अपने विधान बनाने तथा उसमें परिवर्तन करने का अधिकार है। सम्पूर्ण जनता के अतिरिक्त और किसी का यह अधिकार नहीं'। सन् १८४८ में फ्रान्स की जनता ने परिमित शक्ति युक्त एकतन्त्र राज्य को पलट कर प्रतिनिधितन्त्र राज्य की स्थापना की। उस समय जो घोषणा की गई, उसके शब्द ये हैं— "प्रत्येक युवा फ्रेन्च फ्रान्स का नागरिक है। प्रत्येक नागरिक निर्वाचक और प्रत्येक निर्वाचक राज्य का राजा या प्रभु है। सब नागरिकों का अधिकार समान है। कोई एक नागरिक दूसरे नागरिक को यह नहीं कह सकता कि 'तुम्हारी अपेक्षा राज्य पर मेरा अधिक प्रभुत्व है'। अपनी शक्ति को समझो और काम में लाओ। अपनी सर्वोच्चसत्ता के उचित अधिकारी बनो"।* जबसे राजनीतिज्ञों ने जनता में सर्वोच्चसत्ता को मान कर राज्यक्रान्ति करवाना आरम्भ किया तब से राज्यों का स्वेच्छाचार नष्ट हो गया है। जनता की सम्मतियों के अनुसार ही विधान बनाना तथा शासन करना आजकल राज्यों का मुख्य उद्देश्य है। स्थानीय स्वराज्य, जनमतविधि, निर्वाचन का सबको अधिकार देना, प्रतिनिधियों द्वारा काम कराना इत्यादि अनेकों रीतियां हैं जिनसे यूरोपीय राज्य राज्यक्रान्तियों से अपने को बचाते हैं।† विधानों के अनुसार जनता के पास राजनैतिक प्रभुत्व हो चाहे न हो, परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि राजनीतिज्ञों ने 'जनता में सर्वोच्चसत्ता'

* ब्लंश्ली—थ्योरी आफ दी स्टेट तृतीय संस्करण।

† विलोबी—नेचर आफ दी स्टेट पृष्ठ ३०१।

मानकर बहुत काम किया। जनता में राजनैतिक जीवन का जागृत होना भी बहुत कुछ इसी से सम्बद्ध है। आजकल सर्वोच्चसत्ता तथा जनता की सम्मति में पूर्ववत् भेद नहीं रहा है। यही कारण है कि दोनों की विभिन्नता का पता लगाना दिन पर दिन कठिन होता जाता है।*

आस्टिन का सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त—आस्टिन ने सर्वोच्चसत्ता की वैधानिक रीति से इस प्रकार व्याख्या की है—

(१) प्रत्येक राज्य में एक "निश्चयात्मक श्रेष्ठ पुरुष होता है जो अधिकांश नागरिकों द्वारा आज्ञा पालन कराने में अभ्यस्त है"।

(२) जो आदेश यह श्रेष्ठ पुरुष करता है वही विधान है। इस (श्रेष्ठ पुरुष) के विना विधान का उदय नहीं हो सकता।

(३) इस श्रेष्ठ पुरुष की शक्ति अविभाज्य है और इस शक्ति का नाम सर्वोच्चसत्ता है।

(४) यह सर्वोच्चशक्ति निरंकुश है। और उसको सीमित नहीं किया जा सकता।

आलोचकों ने इन चारों प्रमेयों की तीव्र आलोचना की है। परन्तु लार्ड (Lord) का मत है कि इनमें से प्रत्येक प्रमेय में थोड़ी बहुत सच्चाई है और वह बहुत महत्वपूर्ण है।

(क) प्रथम प्रमेय का सर हेनरीमेन ने अपनी 'अर्ली इन्स्टीटयूशन्स' नामक पुस्तक में खंडन किया है। वह लिखता है कि "प्राच्य के साम्राज्यों में आस्टिन के मत के समान कोई निश्चयात्मक श्रेष्ठ पुरुष नहीं दिखाई देता। उसने महाराजा रणजीतसिंह का उदाहरण देकर वतलाया है कि रणजीतसिंह का अपनी प्रजा पर स्वेच्छाचारी शासन था और जो कोई उसकी आज्ञा का तनिक भी उल्लंघन करता था उसको मृत्यु दण्ड दिया जाता था। वह भी परम्परागत रीति रिवाजों के अनुसार शासन करता था। उसने कोई ऐसा आदेश प्रचलित नहीं किया जो आस्टिन के मतानुसार विधान कहा जा सके। रीति रिवाज तो परम्परागत हैं, ये किसी 'श्रेष्ठ पुरुष' द्वारा प्रचलित नहीं किये जाते, अतः आस्टिन का 'श्रेष्ठ पुरुष' राज्य के लिये अनिवार्य नहीं है और यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ आस्टिन की सर्वोच्चसत्ता नहीं है वहाँ अराजकता अथवा नैसर्गिक दशा विद्यमान है।" †

---

* गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ १०१।

† ए० आर० लार्ड—प्रिंस्पिल्स आफ पोलिटिक्स पृष्ठ ८८।

(ख) ग्रेटब्रिटेन में निश्चयात्मक श्रेष्ठ पुरुष को ज्ञात करना सापेक्ष-तया सरल है। परन्तु इस सिद्धान्त को प्राच्य के साम्राज्यों तथा अमेरिका के संयुक्त राज्यों पर लागू किया जाय तो यह निरर्थक सिद्ध होगा। परन्तु फिर भी लार्ड के मतानुसार यह माना जा सकता है कि यद्यपि किसी राज्य में सर्वोच्चशक्ति का पता चलाना कठिन है तथापि यह बात मान्य है कि प्रत्येक राज्य में कहीं न कहीं यह सर्वोच्चशक्ति होती है। "सैद्धान्तिक तथा वास्तविक रूप से यह ज्ञात करना सदैव संभव है कि एक अन्तिम सर्वोच्च-शक्ति है जिससें ऊपर कोई पुनरावेद अथवा पुनर्विचार-प्रार्थना (appeal) नहीं की जा सकती"।*

(ग) यह सिद्धान्त कोरा और वैधानिक है और इसमें सर्वोच्चसत्ता के दार्शनिक पहलू का विचार नहीं किया गया है। आधुनिक काल में जनतंत्र राज्यों का आधार 'लोकेच्छा' समझी जाती है। गार्नर का कथन है कि "यह श्रेष्ठ पुरुष (आस्टिन की सर्वोच्चसत्ता) रूसो-कथित लोकेच्छा नहीं समझा जा सकता, न यह जनसाधारण ही है न यह निर्वाचक ही है, न यह सम्मति ही है, न यह नैतिक भावना ही है, न यह सर्वसामान्य विचार-शक्ति ही है, और न ईश्वरेच्छा ही है। यह तो केवल निश्चयात्मक शक्तिशाली पुरुष है जो किसी प्रकार के वैधानिक बंधनों से बाध्य नहीं है।" †

(घ) यदि सर्वोच्चसत्ता का अधिकार केवल 'अभ्यस्त आज्ञापालन' प्राप्त करना है तो उसे 'सीमारहित' समझना न्यायसंगत नहीं है।

(२) आस्टिन का द्वितीय प्रमेय यह है कि "सर्वोच्चसत्ता एक 'निश्चयात्मक श्रेष्ठ पुरुष' है और वह सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च विधान निर्माता है, जो कुछ वह आज्ञा देता है वही विधान है। यदि यह मान लिया जाय तो जितने परम्परागत रीतिरिवाज हैं वे सब विधान नहीं हैं। इंगलैंड में तो विधानों का बहुत बड़ा भाग वहाँ के परम्परागत रीति रिवाज ही हैं। वहाँ की पार्लियामेंट किसी भी विधान में परिवर्तन कर सकती है। इंगलैंड का राजा सपार्लियामेंट विधान में सब प्रकार का परिवर्तन कर सकता है, परन्तु यह बात सैद्धान्तिक ही है, वास्तविक नहीं है। वहाँ का राजा यह सब कार्य अपनी स्थिति को संकट में डाल कर ही कर सकता है अन्यथा नहीं। प्राच्य साम्राज्यों के स्वेच्छाचारी शासक भी जनता के परम्परागत नियम तथा

---

* ए आर लार्ड—प्रिंसिपल्स आफ पौलिटिक्स पृष्ठ ८८।

† जे० डब्लू० गार्नर—पौलीटिकल साइंस ऐन्ड गवर्नमेन्ट पृष्ठ १७९-१८०।

विधानों में हस्तक्षेप नहीं करते थे। आस्टिन के सिद्धान्त के अनुसार सब विधान केवल "आज्ञायें" हैं। यही इस सिद्धान्त में त्रुटि है। इसमें शक्ति पर अधिक जोर दिया गया है। अतः यह सिद्धान्त निर्मूल है।

इन सब बातों से यह प्रकट होता है कि आस्टिन की सर्वोच्चसत्ता ही पूर्ण-रूपेण विधान निर्माता नहीं है। डुग्विट (Dugvit) का विचार तो यह है कि राज्य विधान निर्माण कार्य नहीं करता है बल्कि विधान राज्य स्थापित करते हैं।

(३) आस्टिन का तृतीत प्रमेय है कि सर्वोच्चसत्ता अविभाज्य है।

(क) लार्ड का मत है कि आस्टिन का यह विचार निर्मूल है क्योंकि बिना विभाजन के राज्य कार्य हो ही नहीं सकता है। शासन-कार्य सफलता पूर्वक करने के लिये शासन के तीन भाग करना आवश्यक है। वे तीन भाग हैं व्यवस्थापक मंडल, कार्यपालिका और न्यायाधिकार वर्ग। ये तीनों अन्तिम सत्ताएँ "एक दूसरे से इस प्रकार स्वतन्त्र हैं कि कार्यपालिका सर्वोच्चसत्ता सदैव कार्य करती रहती है, अस्थायी रूप से व्यवस्थापक मंडल भंग कर दिया जाता है और न्यायाधिकार-वर्ग सदैव कार्य नहीं करता है" *। वास्तव में अन्तिम सत्ता लोकेच्छा ही है। इस प्रकार का विभाजन होने पर भी वास्तव में एक ही सत्ता के तीन रूप हैं। इनका ध्येय भी एक ही है।

(ख) वैधानिक और राजनैतिक सत्ताओं के भेद को कुछ लोग सर्वोच्चसत्ता का विभाजन समझते हैं। आस्टिन का विचार है कि इंगलैण्ड के लोग सर्वोच्चसत्ता में भागीदार हैं। परन्तु वह राजनैतिक और वैधानिक सर्वोच्चसत्ता के भेद की कल्पना न कर सका और उस ने यह विश्वास करने में भूल की है कि लोग वैधानिक सर्वोच्चसत्ता के भागीदार हैं। गिलक्रिस्ट लिखता है कि आस्टिन विविध प्रकार से यह कहता है कि

(अ) पार्लियामेंट सर्वोच्चसत्ता है।

(आ) सम्राट और लार्ड्स और निर्वाचक सर्वोच्चसत्ता हैं।

(इ) जब पार्लियामेंट भंग हो जाती है तब निर्वाचक ही सर्वोच्च-सत्ता हैं।

(ई) साधारण सभा की शक्ति न्यासधारी है और साधारण सभा की शक्ति न्यास से स्वतन्त्र है †।

---

* लार्ड-प्रिंसिपल्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ८९

† आर० एन० गिलक्रिस्ट-प्रिंस्पल्स आफ पोलीटिकल साइंस पृष्ट ११६

(४) आस्टिन का चतुर्थ प्रमेय यह है कि सर्वोच्चसत्तापूर्ण तथा अपरिमित है। बहुलवादियों ने इसका खंडन किया है। जो बहुलवादी नहीं हैं वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि यद्यपि वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्चसत्ता अपरिमित है तथापि कुछ राजनैतिक और ऐतिहासिक सीमाएँ अवश्य हैं। उनका विचार है कि सर्वोच्चसत्ता की अपरिमित शक्ति और अनन्त अधिकार केवल न्यायशास्त्र के अनुचयन अथवा सिद्धांतीकरण (Abstractions) हैं।

(क) ब्लंशली का कथन है कि "सामूहिक रूप में राज्य सर्वशक्तिमान नहीं है क्योंकि वाह्य विषयों में वह अन्य राष्ट्रों के अधिकारों से परिमित है। आन्तरिक विषयों में वह अपनी प्रकृति तथा प्रजा के व्यक्तिगत अधिकारों से परिमित है"। बेन्थम का मत है कि राज्य की सर्वोच्चसत्ता अन्य राष्ट्रों के साथ संधियों से परिमित है। आस्टिन के सिद्धान्त के अनुयायी इनके उत्तर में यह कहते हैं कि ये सीमाएँ वैधानिक नहीं है, सैद्धान्तिक और स्वयमारोपित हैं। "वैधानिक भाषा में राज्य सर्वशक्तिमान है" *

(ख) संसार के कुछ भागों में रीति-रिवाज वास्तव में सर्वोच्चसत्ता को परिमित करते हैं। सर जेम्स स्टीफेन (Sir James Stephen) का कथन है कि "जिस प्रकार प्रकृति में कोई पूर्ण जकड़बन्ध समवाय नहीं है अथवा यान्त्रिक प्रणाली नहीं है जिसमें घर्षण न हो, अथवा समाज की दशा ऐसी नहीं है, जिसमें मनुष्य केवल लाभ के लिये कार्य करते हों, उसी प्रकार प्रकृति में पूर्ण सर्वोच्चसत्ता भी नहीं है" † । अपार शक्ति नहीं है। स्वेच्छाचारी राज्यों में भी भिन्न भिन्न प्रकार के प्रभाव सर्वोच्चसत्ता को प्रभावित करते हैं। एक संगठित और स्वतन्त्र राजनैतिक समुदाय में इस प्रकार के सब प्रभावों के सामूहिक रूप का नाम राजनैतिक सर्वोच्चसत्ता है।

(ग) संघवादी भी स्वेच्छाचारी अथवा पूर्ण सर्वोच्चसत्ता के विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि आस्टिन ने अपने सिद्धान्त का उस समय प्रचार किया था जिस समय संघीय राज्य आरम्भिक तथा अपूर्ण अवस्था में थे। उनका यह विचार भी है कि इस सिद्धान्त का एकात्मक राज्य पर कुछ भी प्रभाव हो, परन्तु संघीय राज्य में इस सिद्धांत के लिये कोई स्थान नहीं है।

---

* एन० लीकाक—ऐलीमेन्ट्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ५१।

† लीकाक—द्वारा उद्धृत „ „ „ „ ५७।

(घ) कुछ लोगों का मत है कि इस सिद्धान्त का परिणाम होगा वैधानिक स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना। आस्टिन को इस प्रकार की आलोचना की आशा थी अतः उसने लिखा है कि एक के ऊपर दूसरी संघठित सर्वोपरिता सृजकों का सहयोग, तथा अनन्त समय तक परम्परागत सिंहासनारूढ़ राजा" नहीं रह सकते *। आस्टिन ने इंगलैण्ड में शासनसुधार कराने के विचार से अपने सिद्धान्त का प्रचार किया था। उसका मत है कि रीतिरिवाज, धार्मिक नियम आदि राज्य के अधीन हैं अतः सर्वश्रेष्ठ, महान व्यवस्थापक मंडल ही वास्तव में वैधानिक दृष्टि से सब प्रकार से कर्त्ताधर्त्ता है"।

(ङ) लैस्की ने लोक लाभ, बहुलवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद के आधार पर आस्टिन के अपरिमित और निर्बाध सर्वोच्चसत्ता-सिद्धान्त की आलोचना की है। ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर उसका यह मत है कि "राजा के पास कभी कहीं अपरिमित शक्ति नहीं रही है, और जब अपरिमित शक्ति का प्रयोग किया गया है तभी 'सुरक्षणों, की स्थापना हुई है" †। व्यवहार में ब्रिटिश पार्लियामेंट को भी पूर्ण शक्ति प्राप्त नहीं है। "वैधानिक दृष्टि से सपार्लियामेन्ट सम्राट जन सम्मति की अवहेलना कर सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से वह ऐसा इसी शर्त पर कर सकता है कि उसके फलस्वरूप वह सपार्लियामेंट सम्राट नहीं रह जाता"। परिणाम यह होता है कि देखने में तो आस्टिन का सिद्धान्त ठीक प्रतीत होता परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

बहुलवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद सिद्धांतों के अनुसार लैस्की सर्वोच्चसत्ता को राज्य के अनेक संवासों के हितों के लिये सीमित करना चाहता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धी विषयों में भी उसे परिमित करना चाहता है। उसका विचार है कि राज्य के अन्य संवासों की शक्ति भी वैसी ही मौलिक तथा पूर्ण है जैसी राज्य की। उसका कथन है कि "ये संवास भी अपने-अपने क्षेत्रों में राज्य से कम सर्वोच्चसत्ताधारी नहीं है" ‡। अतः "यह कल्पना कि सत्ता केवल सीमित ही नहीं है बल्कि उसे सीमित होना चाहिये, राजनैतिक दर्शन की मूलभूत है"। ×

---

* जे० डब्ल्यू० गार्नर—पौलीटिकल साइंस ऐण्ड गवर्नमेंट पृष्ट १८१।

† एच० जे० लैस्की—ग्रामर आफ पौलिटिक्स पृ० ५१।

‡ ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ६०।

× ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ६३।

लैस्की का विचार है कि मानव समाज के हित के लिये सर्वोच्चसत्ता का सीमित करना आवश्यक है। उसका मत है कि संसार में भिन्न-भिन्न स्वतंन्त्र राज्यों के एक दूसरे के साथ परस्पर प्रतियोगिता करने का परिणाम यह होगा कि संसार की शान्ति और एकता संकट में पड़ जायगी।

वैधानिक दृष्टि से आस्टिन का सिद्धान्त ठीक है। यह सिद्धान्त न्याययुक्त है और स्पष्ट है।

बहुलवाद और सर्वोच्चसत्ता—बहुलवाद का आरम्भ यूरोप में मध्य-काल में हुआ था उस समय यूरोप में शक्तिशाली शासकों के न होने के कारण वहाँ बड़ी अशान्ति और अव्यवस्था फैली हुई थी। पूर्ण तथा अपरिमित शक्तिशाली राजा न होने के कारण व्यक्तियों और समुदायों में व्यवस्था स्थापित न रह सकी इसका परिणाम यह हुआ कि अपने समुदाय की सुरक्षा तथा सुव्यवस्था के अभिप्राय से शिल्पसंघों की स्थापना हुई। व्यापारी, उद्योगी और व्यवसाइयों ने अपने आपको संघरूप में संगठित कर लिया और अपने अपने समुदायों में इन संघों ने व्यवस्था तथा शान्ति स्थापित की। ये संघ अपना अपना प्रबन्ध स्वयं करते थे। अपनी रक्षा के लिये इन के पास शस्त्र भी रहते थे। इनको शिल्प-संघ (Guilds) के नाम से संम्बोधित किया जाता था। यही शिल्प-संघ कालान्तर में संस्थानों (Corporations) के रूप में परिवर्तित हो गये। ये स्वायत्त संस्थाएँ बन गई और ऐसे समय में जबकि यूरोप में कोई ऐसा शक्तिशाली शासक न था जो वहाँ शान्ति स्थापित रख सकता, इन संस्थाओं ने वहाँ शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखी और अराजकता न फैलने दी। मध्यकाल के अन्त और 'सुधार कार्यो' (Reformation) से लेकर वर्तमान समय तक लोगों की वृत्तियों में परिवर्तन हुआ और इस बीच में केन्द्रीय-राष्ट्रीय-राज्य स्थापित करने का वेग के साथ प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि अनेक ऐसे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। इन स्वतन्त्र केन्द्रीय-राष्ट्रीय-राज्य के शासकों ने पूर्ण रूप से निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी होकर राज्य किया। यदि कोई शासक उदार और दयालु होता था तो प्रजा को सुख और शान्ति मिलती थी और यदि इसके विपरीत होता तो प्रजा को कष्ट मिलता था और उसका शोषण होता था।

आधुनिककाल में लोगों के विचारों में फिर परिवर्तन हुआ और निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। लगभग दो शताब्दियों से लोगों में यह राजनैतिक चेतना कार्य कर रही है और इस

समय संसार के अधिकतर देशों में जनतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गई है। इस परिवर्तन के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) केन्ट हैगल आदि जर्मन दार्शनिकों तथा उसके अनुयायियों ने राज्य को बड़ा महत्व दिया। वैधानिक और नैतिक सत्ता राज्य को सौंप दी गई। राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर' की दृष्टि से देखा जाने लगा। इन लोगों ने राज्य को इतना महत्व दिया कि राज्य के लिये मनुष्य के व्यक्तित्व को भी कुछ न समझा। इन लोगों का मत है कि मनुष्यों का कर्तव्य है कि राज्य के लिये सब कुछ अर्पण कर दें। यहाँ तक कि स्वयं बलि हो जायें। परन्तु इस अस्वाभाविक वृत्ति का अधिक प्रभाव न हो सका। लोगों ने व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वातन्त्र्य को राज्य की महत्ता की अपेक्षा अधिक आवश्यक समझा। भिन्न भिन्न संवासों तथा समाजों को राज्य के हस्तक्षेप से बचने का प्रयत्न किया और इस राजनैतिक चेतना ने बहुलवाद को जन्म दिया बहुलवादियों का मत है कि अन्य संवासों के समान राज्य भी एक संवास है और उसकी भी सत्ता परिमिति हैं।

(२) जनतन्त्रीय संस्थाओं की सफलता के कारण बहुलवाद के प्रचार को प्रोत्साहन मिला, बहुलवादियों का विचार है कि प्रदेशीय प्रतिनिधित्व प्रणाली संतोपजनक नहीं है। इस प्रणाली के द्वारा भिन्न भिन्न जातियों, समुदायों तथा हितों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं होता है, अल्पमतों के हितों का संरक्षण भी नहीं होता है और शान्ति तथा व्यवस्था का उचित प्रवन्ध भी नहीं होता है अतः इन लोगों का विचार है कि मनुष्य समाज का संगठन भिन्न भिन्न व्यापारिक, औद्योगिक, धार्मिक तथा व्यवसायिक संवासों के आधार पर होना चाहिये और इन्हीं का प्रतिनिधित्व भी होना चाहिये तभी वास्तव में सब प्रकार के हितों की रक्षा हो सकती है। इन संवासों को जनतन्त्रीय प्रणाली के अनुसार सङ्गठित करना चाहिये और इनको राजनैतिक अधिकार सौंप देना चाहिये।

(३) बहुलवादियों का मत है कि राजनैतिक संस्था ने सम्पूर्ण शासनाधिकार अपने हाथ में ले रखा है। एक ही संस्था के हाथ में सम्पूर्ण राज्य का शासनाधिकार होने से शासन कार्य सफलता पूर्वक नहीं हो सकता क्योंकि शासन कार्य बहुत कठिन है। आधुनिक काल में सभ्यता की बड़ी उन्नति हो जाने तथा भिन्न भिन्न प्रकार के यान्त्रिक तथा

लैस्की का विचार है कि मानव समाज के हित के लिये सर्वोच्चसत्ता का सीमित करना आवश्यक है। उसका मत है कि संसार में भिन्न-भिन्न स्वतंन्त्र राज्यों के एक दूसरे के साथ परस्पर प्रतियोगिता करने का परिणाम यह होगा कि संसार की शान्ति और एकता संकट में पड़ जायगी।

वैधानिक दृष्टि से आस्टिन का सिद्धान्त ठीक है। यह सिद्धान्त न्याययुक्त है और स्पष्ट है।

बहुलवाद और सर्वोच्चसत्ता—बहुलवाद का आरम्भ यूरोप में मध्य-काल में हुआ था उस समय यूरोप में शक्तिशाली शासकों के न होने के कारण वहाँ बड़ी अशान्ति और अव्यवस्था फैली हुई थी। पूर्ण तथा अपरिमित शक्तिशाली राजा न होने के कारण व्यक्तियों और समुदायों में व्यवस्था स्थापित न रह सकी इसका परिणाम यह हुआ कि अपने समुदाय की सुरक्षा तथा सुव्यवस्था के अभिप्राय से शिल्पसंघों की स्थापना हुई। व्यापारी, उद्योगी और व्यवसाइयों ने अपने आपको संघरूप में संगठित कर लिया और अपने अपने समुदायों में इन संघों ने व्यवस्था तथा शान्ति स्थापित की। ये संघ अपना अपना प्रबन्ध स्वयं करते थे। अपनी रक्षा के लिये इन के पास शस्त्र भी रहते थे। इनको शिल्प-संघ (Guilds) के नाम से संम्बोधित किया जाता था। यही शिल्प-संघ कालान्तर में संस्थानों (Corporations) के रूप में परिवर्तित हो गये। ये स्वायत्त संस्थाएँ बन गई और ऐसे समय में जबकि यूरोप में कोई ऐसा शक्तिशाली शासक न था जो वहाँ शान्ति स्थापित रख सकता, इन संस्थाओं ने वहाँ शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखी और अराजकता न फैलने दी। मध्यकाल के अन्त और 'सुधार कार्यों' (Reformation) से लेकर वर्तमान समय तक लोगों की वृत्तियों में परिवर्तन हुआ और इस बीच में केन्द्रीय-राष्ट्रीय-राज्य स्थापित करने का वेग के साथ प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि अनेक ऐसे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। इन स्वतन्त्र केन्द्रीय-राष्ट्रीय-राज्य के शासकों ने पूर्ण रूप से निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी होकर राज्य किया। यदि कोई शासक उदार और दयालु होता था तो प्रजा को सुख और शान्ति मिलती थी और यदि इसके विपरीत होता तो प्रजा को कष्ट मिलता था और उसका शोषण होता था।

आधुनिककाल में लोगों के विचारों में फिर परिवर्तन हुआ और निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। लगभग दो शताब्दियों से लोगों में यह राजनैतिक चेतना कार्य कर रही है और इस

ग्य संसार के अधिकतर देशों में जनतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गई है। र परिवर्तन के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) केन्ट हैगल आदि जर्मन दार्शनिकों तथा उसके अनुयायियों ने राज्य को बड़ा महत्व दिया। वैधानिक और नैतिक सत्ता राज्य को सौंप दी गई। राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर' की दृष्टि से देखा जाने लगा। इन लोगों ने राज्य को इतना महत्व दिया कि राज्य के लिये मनुष्य के व्यक्तित्व को भी कुछ न समझा। इन लोगों का मत है कि मनुष्यों का कर्तव्य है कि राज्य के लिये सब कुछ अर्पण कर दें। यहाँ तक कि स्वयं बलि हो जायें। परन्तु इस अस्वाभाविक वृत्ति का अधिक प्रभाव न हो सका। लोगों ने व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वातन्त्र्य को राज्य की महत्ता की अपेक्षा अधिक आवश्यक समझा। भिन्न भिन्न संवासों तथा समाजों को राज्य के हस्तक्षेप से बचने का प्रयत्न किया और इस राजनैतिक चेतना ने बहुलवाद को जन्म दिया बहुलवादियों का मत है कि अन्य संवासों के समान राज्य भी एक संवास है और उसकी भी सत्ता परिमिति हैं।

(२) जनतन्त्रीय संस्थाओं की सफलता के कारण बहुलवाद के प्रचार को प्रोत्साहन मिला, बहुलवादियों का विचार है कि प्रदेशीय प्रतिनिधित्व प्रणाली संतोषजनक नहीं है। इस प्रणाली के द्वारा भिन्न भिन्न जातियों, समुदायों तथा हितों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं होता है, अल्पमतों के हितों का संरक्षण भी नहीं होता है और शान्ति तथा व्यवस्था का उचित प्रबन्ध भी नहीं होता है अतः इन लोगों का विचार है कि मनुष्य समाज का संगठन भिन्न भिन्न व्यापारिक, औद्योगिक, धार्मिक तथा व्यवसायिक संवासों के आधार पर होना चाहिये और इन्हीं का प्रतिनिधित्व भी होना चाहिये तभी वास्तव में सब प्रकार के हितों की रक्षा हो सकती है। इन संवासों को जनतन्त्रीय प्रणाली के अनुसार सङ्गठित करना चाहिये और इनको राजनैतिक अधिकार सौंप देना चाहिये।

(३) बहुलवादियों का मत है कि राजनैतिक संस्था ने सम्पूर्ण शासनाधिकार अपने हाथ में ले रखा है। एक ही संस्था के हाथ में सम्पूर्ण राज्य का शासनाधिकार होने से शासन कार्य सफलता पूर्वक नहीं हो सकता क्योंकि शासन कार्य बहुत कठिन है। आधुनिक काल में सभ्यता की बड़ी उन्नति हो जाने तथा भिन्न भिन्न प्रकार के यान्त्रिक तथा

वैज्ञानिक अविष्कारों के कारण मनष्य समाज बड़ा जटिल हो गया है। अनेक संवास और संस्थाएं स्थापित हो गई हैं। राज्य भी इन्हीं संवासों के समान एक राजनैतिक संवास है। राजनैतिक संवास को अन्य संवासों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ नहीं समझना चाहिये न इस संवास के हाथ में अन्य संवासों से अधिक शक्ति ही होनी चाहिये। इसको अन्य संवासों के समान ही समझना चाहिये और सब संवासों के अधिकार समान होने चाहिये। संवासों को समान अधिकार प्राप्त होने पर ही सम्पूर्ण मनुष्य समाज का कल्याण हो सकता है। आधुनिक काल में राजनैतिक संवास ने अपने हाथ में सम्पूर्ण शासन शक्ति लेकर अपने ऊपर बड़ा भारी बोझ रख लिया है इस बोझ को वह नहीं झेल सकता है क्योंकि इतना बड़ा कार्य उसकी शक्ति से बाहर है। इसलिये वार्ड (Ward) के कथनानुसार "केन्द्र में पक्षाघात और दूरस्थ अवयवों में रक्त की न्यूनता है" (There is apoplexy at the centre and anaemia at the extremities)* । अतः बहुलवादियों का मत है कि केन्द्रीय शासन का सुधार और सामाजिक कर्म कौशल की उन्नति करने के विकेद्रीयकरण की आवश्यकता है। मेंकईवर (Mac Iver) का मत है कि "सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ अक्षमता है" † । वास्तव में बहुलवाद सिद्धान्त राज्य का अन्त करने के पक्ष में है परन्तु जिस प्रकार शिल्पसंघवादी और अराजकतावादी राज्य का बिल्कुल अन्त करना चाहते हैं उसी प्रकार बहुत से बहुलवादी राज्य का अन्त कर देने के पक्ष में नहीं हैं। बहुलवादियों का उद्देश्य केवल यह है कि सर्वोच्चसत्ता राज्य से पृथक् करदी जाय। बहुलवादियों का विश्वास है कि यूरोप में अराजकता, अशान्ति तथा अव्यवस्था होने के कारण सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त का उदय हुआ और ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था। परतु आधुनिक काल में जब कि विश्व में सापेक्षतया शान्ति और व्यवस्था स्थापित है, एक सत्तात्मक राज्य की आवश्यकता नहीं है और राष्ट्रीय हित के लिये एकात्मकवादी सिद्धान्त की अपेक्षा बहुलवादी सिद्धांत अधिक उपयोगी है।

---

* जे डब्ल्यू० वार्ड—सीवइनृटी पृष्ठ ८६।

† Omnipotence means incompetence.

बहुलवादियों का कथन है कि राज्य अन्य संवासों के समान एक संवास है अतः सर्वोच्चसत्ता को संवास अथवा समुदायों में विभाजित कर देना चाहिये। इस प्रकार बहुलवादी राज्य की आन्तरिक सर्वोच्चसत्ता का खंडन करते हैं। बाह्य अथवा वैदेशिक सम्बन्ध के विषय में उनका यह मत है कि वैधानिक दृष्टि से एक राज्य दूसरे राज्य से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं होना चाहिये। वैदेशिक विषयों में भी सर्वोच्चसत्ता सीमित होनी चाहिये। 'विधान' केवल श्रेष्ठ पुरुष को हीन पुरुष के लिये 'आज्ञाएँ' ही नहीं हैं। विधान राज्य से उच्च है, वे राज्य से स्वतन्त्र हैं, राज्य के विधानों के अधीन है।

बहुलवादियों का सिद्धान्त है कि आधुनिक काल की परिवर्तित स्थिति में राज्य को सर्वेसर्वा समझना अनर्गल है। जिस समय श्रमिक-संघ, प्रमोद गोष्ठियां (Clubs), शिल्पिसंघ आदि स्थापित नहीं हुए थे अथवा अपूर्ण दशा में थे उस समय राज्य को इस प्रकार के सब संवासों से श्रेष्ठ समझना उचित था। परन्तु आजकल इतनी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, श्रमिक संस्थाएँ तथा संवास स्थापित हो गये हैं और इतनी अच्छी तरह अपना अपना प्रबन्ध कर रहे हैं कि इन संवासों के होते हुए राज्य की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। राज्य की अपेक्षा जनसाधारण इन संवासों के अधिक भक्त हैं। अतः राज्य को अन्य संवासों के समान ही हो जाना चाहिये अर्थात् सर्वोच्चसत्ता को समुदायों और संवासों में विभाजित कर देना चाहिये। बहुलवादी सर्वोच्चसत्ता के विकेन्द्रीयकरण के पक्ष में है।

बहुलवादियों का सिद्धान्त बहुत कुछ ठीक प्रतीत होता है क्योंकि यह सिद्धान्त राज्य की श्रेष्ठता का विरोध करता है। राज्य वैधानिक दृष्टि से श्रेष्ठ ही क्यों न हो परन्तु वह अनेक नैतिक निरोधों द्वारा परिमित है। राज्य स्वयं ध्येय नहीं है। वह नैतिक निरोधों से स्वतन्त्र नहीं है। हाब्ज के सिद्धान्त की अपेक्षा इस विषय में बोदां का सिद्धान्त अधिक संतोषजनक है। गैटिल का कथन है कि आस्टिन की सर्वोच्चसत्ता का बहुलवादियों ने उचित उत्तर दिया है। बहुलवादियों ने उन बातों का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया है जिनके कारण राज्य अन्य समुदायों और संवासों के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करता है। संघीय शासन पद्धति तथा व्यवस्थापक मंडलों में समुदाय और संवासों का प्रतिनिधित्व बहुलवादी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

मिस फॉलेट (Miss Follet) ने अपनी "न्यूट स्टेट" नामक प्रसिद्ध पुस्तक में बहुलवाद में निम्नलिखित गुण बतलाये हैं—

(क) बहुलवादियों ने वर्तमानकाल के राज्य के सच्चवों सत्ता के अधिकार का भंडाफोड़ किया है।

(ख) बहुलवादियों ने आधुनिक काल के सामुदायिक जीवन के महत्व को प्रकट किया है और यह बतलाया है कि राजनैतिक क्षेत्रों में समुदायों का विशेष स्थान चाहिये।

(ग) उन्होंने स्थानीय जीवन की महत्ता को स्पष्ट किया है और उसकी प्रगति के पक्ष में हैं।

(घ) बहुलवादियों का मत है कि राज्य तथा उसके अन्य विभागों अथवा अंशों के हितों में भेद है। दोनों के हित समान नहीं हैं।

(ङ) बहुलवाद के उदय के कारण भीड़ अथवा अव्यवस्थित समूहों का अन्त होता जा रहा है और व्यवस्थित संवासों की स्थापना होती जा रही है।

(च) बहुलवाद ने संघवाद (Federalism) और संवास की समानता के प्रश्न पर प्रकाश डाला है।

वहुलवाद में इतने गुण होते हुए भी उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि—

(क) यदि वहुलवाद को कार्य रूप में परिणित किया जायगा तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलेगा कि अराजकतावादी व्यक्तिवाद का प्रचार हो जायगा। परन्तु इस आक्षेप को वहुलवादी स्वीकार नहीं करते है। सर्वोच्चसत्ता को विभाजित करने का अर्थ उसे नष्ट कर देना है। राज्य में कोई अन्य ऐसे संवास की आवश्यकता नहीं है जो जनसाधारण के हित के विरुद्ध हो। राज्य को सब संवास समान दृष्टि से देखने चाहिये, एक को दूसरे से अधिक श्रेष्ठ नहीं समझना चाहिये। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह इस वात को देखे और नियंत्रण रखे कि कोई संवास भिन्न भिन्न प्रकार के राजनैतिक और सामाजिक अथवा धार्मिक कार्य एक साथ तो नहीं कर रहा है। उदाहरणार्थ किसी धार्मिक अथवा व्यापारिक संघ को अपने संघ सम्बन्धी कार्यों के साथ साथ किसी प्रकार का राजनैतिक कर प्राप्त करने का कार्य नहीं करने देना चाहिये। राज्य ही वास्तव में एक सर्वोच्चसत्ता होनी चाहिये।

(ख) वहुलवादियों का यह कथन अनर्गल ह कि राज्य के अन्तर्गत

सब संवास पूर्णरूप से एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और उनका परस्पर एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में उनका एक दूसरे से सम्बन्ध होता है। एक दूसरे के हितों में कभी कभी बड़ा विरोध होता है और स्थिति ऐसी हो जाती है कि यदि राज्य हस्तक्षेप न करे तो शान्ति भंग हो सकती है। अतः इन संवासों का पारस्परिक निर्णय करने तथा व्यवस्था स्थापित रखने के लिये इनसे अधिक शक्तिशाली राज्यरूपी संस्था की आवश्यकता है।

(ग) गेटिल ने ठीक कहा है कि राज्य को नैतिक दायित्व तथा कर्तव्यों को स्वीकार करना चाहिये, अपने कार्यक्षेत्र को सीमित करना चाहिये, अकेन्द्रीयकरण करना चाहिये और सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व होने देना चाहिये। परन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि ऐसा करने में राज्य की वैधानिक सर्वोच्चसत्ता पर कोई आघात न पहुंचे। परम्परागत सिद्धांतवादी दार्शनिक बोदां, हाब्ज, रूसो और आस्टिन का भी यह मत नहीं है कि "राज्य की सत्ता की आलोचना करना, उसका विरोध करना, उसकी आज्ञा का उल्लंघन करना अथवा उसको चुनौती देना वास्तव में अनैतिक, अनाचारिक, तर्कहीन असामाजिक तथा अव्यावहारिक है"*।

कांकर ने एकतावादियों के निम्नलिखित सिद्धांत बतलाये हैं—

(१) व्यक्तियों तथा समुदायों के पारस्परिक सम्बन्ध को नियम न करने के लिये ऐक्य तथा सहयोग की आवश्यकता है।

(२) इन सम्बन्धों को ठीक प्रकार से स्थापित रखने के लिये एक दबाव डालने वाली शक्ति की आवश्यकता है जिसके भय से ये व्यक्ति तथा समुदाय ठीक प्रकार से कार्य करते रहें।

(३) किसी राज्य में इस प्रकार की दबाव डालने वाली और सब व्यक्तियों तथा समुदायों को नियंत्रण में रखने वाली एक से अधिक संस्था नहीं हो सकती।

(४) राज्य का विशेष लक्षण यह है कि उसका संगठन वृहत् होता है और वह बलपूर्वक कार्य करने की शक्ति रखता है। लिन्ड्से (Lendsay) इस बात को स्वीकार करता है कि राज्य का यह विशेष लक्षण है परन्तु वह यह मानता है कि एक सर्वोच्च सत्तायुक्त राज्य स्थापित करना ही पर्याप्त नहीं है।

---

*एफ. डब्ल्यू. काकर (F. W. Cocker)

वास्तव में राज्य सब संवासों और समुदायों से ऊपर है और अधिक श्रेष्ठ है। वही शक्ति का प्रयोग कर सकता है। वही मनुष्य समाज के हितों की रक्षा कर सकता है अन्य सब संवास तो अपने संवास सम्बन्धी ही हितों की पूर्ति का ध्यान रखते हैं। राज्य ही व्यवस्था और शान्ति स्थापित रख सकता है और अराजकता को रोक सकता है।

(ङ) बहुलवादी लोग सर्वोच्चसत्ता रहित राज्य के ध्येय की व्याख्या करने में असमर्थ हैं। इसका अभिप्राय यह है कि बहुलवादी राज्य की अन्य संवासों से समानता स्थापित करते हैं परन्तु राज्य को अन्य संवासों से अधिक श्रेष्ठ समझना और उसे अन्य संवासों की अपेक्षा उच्च स्थान देना न्याया-संगत प्रतीत होता है * १। गाइयार्की (Gierke) और मेटलैंड (Maitland) संवासों और समुदायों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परन्तु वे यह भी मानते हैं कि राज्य अन्य सब सामाजिक संवासों तथा संस्थाओं से ऊपर और अधिक श्रेष्ठ हैं। पॉल-बोंकूर (Paul-Boncour) का मत है कि सार्वजनिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला और राष्ट्रीय दृढ़ता को स्थापित रखने वाला केवल राज्य ही है। वह अन्य संवासों को श्रेष्ठ तथा सत्तायुक्त बतलाता है परन्तु उन्हें राज के आधीन ही स्थान देता है। वह कहता है कि राज्य सहयोग स्थापित करने वाली और समनुनय करने वाली संस्था है। फिगिस (Figgis) का विचार है कि राज्य समुदायों का समुदाय है और उसने इसे अन्य समुदायों से उच्च स्थान दिया है। उसका मत है कि यह समुदाय अन्य समुदायों में सहयोग और अनुनय स्थापित करता है। ई० बारकर (E. Barker) लिखता है कि "शिल्पिसंघ' राष्ट्रीय समुदाय, ईसाई धर्म संघ के सम्मुख हम राज्य को पीछे हटते देखते हैं। ये समुदाय कुछ भी अधिकार प्राप्त करें अथवा उनकी स्वत्व याचना करें।

परन्तु राज्य एक अनुनय करने वाली शक्ति रहेगी। और यह भी संभव है कि समुदाय उन्नति करें, राज्य भी उन्नति करेगा और जितना राज्य का ह्रास होगा उससे अधिक उसकी उन्नति होगी क्योंकि यह एक ऐसी शक्ति है जो बड़ी गंभीर और महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करती है, समनुनय करती है* २।

(च) बहुलवादियों का यह सिद्धान्त कि राज्य भी अन्य संवास और समुदायों की भाँति एक संवास अथवा समुदाय है और उनके समान है, युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। यदि राज्य भी अन्य समुदायों के समान एक समुदाय समझ लिया

---

*१ एफ० डब्ल्यू० कोकर

*२ ई० बारकर—पोलीटिकल थाट इन इंगलेन्ड फ्राम स्पेन्सर टु टुडे पृष्ठ १८३

जाय तो उस दशा में अन्य सब समुदायों से कर प्राप्त करने का इसे अधिकार न रहेगा, न दो समुदायों के पारस्परिक झगड़ों के निर्णय करने का इसे अधिकार रहेगा। क्योंकि यदि राज्य ऐसा करेगा तो वह अन्य समुदायों से श्रेष्ठ तथा उच्च समझा जायगा और वास्तव में उच्च होगा भी। क्योंकि यदि राज्य अन्य समुदायों से उच्च तथा अधिक शक्तिशाली न होगा तो वह उनमें व्यवस्था किस प्रकार स्थापित कर सकेगा? अतः यह आवश्यक है कि एक ऐसी संस्था अथवा संवाद रहे जो अन्य संवादों से उच्च तथा अधिक शक्तिशाली हो और जो अन्य सब संवादों में शान्ति स्थापित रख सके। एफ० डब्ल्यू० कोकर का कथन है कि "राज्य की सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त को त्यागना न तो उपयोगी प्रतीत होता है न आवश्यक" उसका मत है कि राज्य की नीति को कार्यरूप में परिणित करने के लिये तथा व्यवस्था और शांति स्थापित रखने के लिये राज्य की सर्वोच्चसत्ता की आवश्यकता है।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

डब्ल्यू० डब्ल्यू० विलोबी-नेचर आफ दी स्टेट ।
ऐन० वाइल्ड–ऐथीकल बेसिस आफ दी स्टेट ।
पी० डब्ल्यू वार्ड-सावरेन्टी–स्टडी आफ कन्टेम्पोरेरी पोलिटिकल नोशन
ऐन० सिजविक–ऐलीमेन्ट्स आफ पोलिटिक्स
जे० जे० रूसो–सोशल कान्ट्रेक्ट
ऐफ पोलक–हिस्ट्री आफ दी साइंस आफ पोलिटिक्स
आर० ऐम० मैकाईवर–माडर्न स्टेट
ए० आर० लार्ड–प्रिन्सिपल्स आफ पोलिटिकल साइंस
ऐस० लीकाक–ऐलीमेन्ट्स आफ पोलीटिकल साइंस
ऐन० जे० लास्की–ग्रामर आफ पोलीटिक्स
आर० ऐन० गिलक्रिस्ट–प्रिन्सिपल्स आफ पोलीटिकल साइंस
आर० जी० गैटिल–इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस
जे० डब्ल्यू० गार्नर–पोलीटिकल साइंस ऐन्ड गवर्नमेंट
ऐम० पी० फालेट–न्यू स्टेट
ए० वी० डायसी–ला आफ कान्स्टीट्यूशन
" " " –ला ऐन्ड पब्लिक ओपीनियन
ऐफ० डब्ल्यू० कोकर–पोलीटिकल थ्योरी इन रीसेन्ट टाइम्स वार्ड मैनिंग ग्रार्मी ऐन्ड ग्रार्मी
ई० बारकर–पोलीटिकल थाट इन इंगलैंड फ्रोम स्पेन्सर टु टुडे
बी० बोसांके–फिलासाफिकल थ्योरी आफ दी स्टेट
जे० आस्टिन–लैक्चर्स आन जुरिस्प्रूडेन्स

अध्याय १२

आदर्शवाद

आदर्शवादी सिद्धान्त का आरम्भ पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार यूनान से बतलाया जाता है। परन्तु वास्तव में आदर्शवाद सिद्धान्त के मूलभूत आधार अति प्राचीनकाल के हिंदू शास्त्र तथा रामायण और महाभारत ऐतिहासिक पुस्तकें हैं। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में आदर्श राज्य को रामराज्य के नाम से संबोधित किया गया है और आदर्श शासक को सदैव धर्मराज के नाम से पुकारा गया है। 'रामराज्य' और 'धर्मराज' ये दो शब्द इस बात के प्रतीक हैं कि अति-प्राचीन काल के मनु, व्यास, शुक्राचार्य, विदुर, आदि राजशास्त्रवेत्ता और दार्शनिकों के मतानुसार राज्य तथा राजा दोनों को आदर्श समझा जाता था। इन लोगों का मत है कि राजा ही सब प्रकार के नैतिक, धार्मिक, तथा सामाजिक जीवन में प्रजा का आदर्श ह और प्रजाजन उसका अनुकरण करते हैं। राजा का कर्तव्य प्रजा के सम्मुख एक ऐसा आदर्श जीवन उपस्थित करता था कि जिसका अनुकरण करके प्रजाजनों की सब प्रकार की उन्नति हो सके। राज्य का आदेश और ध्येय प्रजा की नैतिक तथा राजनैतिक उन्नति करना था। राजा को सदैव इस बात का ध्यान रहता था कि प्रजा की आचारिक, बौद्धिक दैहिक तथा आत्मिक उन्नति हो। राज्य के संपूर्ण अङ्ग इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर कार्य करते थे। यही कारण है कि उस समय नल नील जैसे यंत्रविद्, व्यासमुनि जैसे इतिहासकार, कण्व जैसे ऋषि, शुक्राचार्य जैसे राजनीतिज्ञ, शल्य जैसे शल्य-चिकित्सक उत्पन्न हुए। केवल यही नहीं, उस समय में वायुयान, वाष्पयान, विद्युत् यंत्र आदि के आविष्कार भी हुए।

आदर्शवाद सिद्धान्त का ध्येय मनुष्य की बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति करना है। इसी लिए कुछ विद्वानों ने इस सिद्धान्त को आध्यात्म-वाद सिद्धान्त, दार्शनिक सिद्धान्त, और रहस्यवाद के नाम से संबोधित किया है। इस विचार से कि श्रेष्ठ राजा ही प्रजा का आदर्श होता है और ऐसे ही राजा के रामराज्य में प्रजा की सब प्रकार की उन्नति हो सकती है।

प्राचीनकाल में आदर्शवाद को पूर्ण स्वेच्छावाद के नाम से भी संबोधित किया गया है।

प्राचीनकाल के पाश्चात्य राजशास्त्र दार्शनिकों में प्लेटो और अरस्तू अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। अरस्तू को तो आजकल के राजशास्त्रवेत्ता अपना गुरु मानते हैं और सर फ्रेडरिक पॉलक ने तो यहाँ तक कहा है कि जिस प्रकार हिन्दू लोग प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य करने के पूर्व गणेश जी का अर्चन करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक राजशास्त्रवेत्ता को राजशास्त्र संबंधी कार्य करने के पूर्व अरस्तू का स्मरण करना चाहिए। प्लेटो और अरस्तू का विचार है कि राज्य एक नैसर्गिक और आवश्यक संस्था है। राज्य द्वारा ही मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति हो सकती है। प्लेटो और अरस्तू ने राज्य का वही ध्येय माना है जो प्राचीन काल के हिंदू ऋषि, मुनि और दार्शनिकों ने माना था। अरस्तू का विचार है कि राज्य सब से प्राचीन संस्था है, राज्य का प्रारम्भ कुटुम्ब के रूप में हुआ। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुटुम्ब की स्थापना हुई, नैतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य की स्थापना हुई। राज्य सर्वश्रेष्ठ नैतिक संस्था है। अरस्तू का कथन है कि मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक सब प्रकार की उन्नति राज्य में रह कर ही हो सकती है। मनुष्य जीवन के लिए राज्य अत्यन्त आवश्यक है। जो मनुष्य राज्य की आवश्यकता नहीं समझता अथवा राज्य से पृथक् रहना चाहता है वह 'या तो पशु है या देवता'। मध्यकालीन और आधुनिककाल के आदर्शवादियों ने प्लेटो और अरस्तू के इन विचारों को ही अपने सिद्धान्त का आधार माना है। इन आदर्शवादियों पर अरस्तू की अपेक्षा प्लेटो के विचारों का अधिक प्रभाव पड़ा है। इन आदर्शवादियों का मत है कि नैतिकता का राजनीति से घनिष्ट संबंध है, राज्य तथा समाज में कोई भेद नहीं है और राज्य में सावयविक एकता है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव का शरीर से घनिष्ट सम्बन्ध है और शरीर से पृथक् होकर शरीर का अवयव जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार मनुष्य के राजनैतिक समाज की दशा है। मनुष्य का राजनैतिक समाज से घनिष्ट संबंध है। राज्य से पृथक् होकर मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता है। राज्य की उन्नति में प्रत्येक मनुष्य को योग देना आवश्यक है। मनुष्य के वैयक्तिक कुकर्म से समाज पर दूषित प्रभाव पड़ता है। अतः आदर्शवादियों ने प्रत्येक मनुष्य के जीवन की नैतिकता पर बड़ा जोर दिया है। उनका कथन है कि मनुष्य के वैयक्तिक जीवन का कोई अस्तित्व नहीं है। एक राजनैतिक संस्था का अंग बन कर ही उसका जीवन महत्व रखता है।

राज्य से पृथक् हुए व्यक्ति को "एक अनैतिक अनुचयन"* बतलाया गया है।

रोमन लोगों की यूनान विजय के पश्चात् यूनानी दार्शनिक विचारों का अन्त हो गया। रोमन लोगों ने भी इस ओर ध्यान दिया। रोमन साम्राज्य की स्थापना, विधान-व्यवस्था और ऐक्य स्थापित करना ही उनका सिद्धान्त था। रोमन लोगों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मनोवृत्ति को जागृत किया। उस समय विश्वबन्धुता के विचारों की उन्नति हुई और इस काल में हमको आदर्शवाद के अस्तित्व का पता नहीं चलता है।

मध्यकालीन यूरोप में राज्य और ईसाई धर्म में पारस्परिक झगड़ा आरम्भ हुआ। ईसाई धर्म के पादरी ईसाई-संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे, राजा लोग अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। इस पारस्परिक युद्ध में कभी राजाओं और कभी पोपों की विजय हुई। यह झगड़ा लगभग एक सहस्त्र वर्ष तक चलता रहा। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस झगड़े ने बड़ा विकट रूप धारण किया। क्योंकि इस समय लूथर ने प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रचार किया और रोमन कैथोलिक धर्म के दोषों का भंडाफोड़ किया। राजा ों को पादरियों का विरोध करने का अवसर मिला और नवीन प्रोटेस्टेन्ट धर्म को ग्रहण करके उन्होंने पोपों का विरोध किया। लगभग दो सौ वर्ष तक यूरोप में साम्प्रदायिक युद्ध होते रहे जिनमें बड़े-बड़े अत्याचार तथा हत्याएँ हुई राजनैतिक तथा धार्मिक अत्याचारों का प्रभाव यह हुआ कि लोगों के हृदयों में धर्म के प्रति कुछ उदासीनता सी उत्पन्न हुई। धार्मिक सुधारों (Reformation) और पुनरुत्थान (Renaissance) के कारण जनता की मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ। प्राचीन यूनानी तथा लेटिन साहित्य के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और वास्तविक आत्मिक शांति की खोज की जिज्ञासा ने लोगों को उत्क्रान्त किया। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयत्न किये गये। इसी समय इंग्लैंड में सर टामस मोर (Sir Thomas More) ने 'यूटोपिया' (Utopia) नामक ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें रामराज्य का चित्रण किया गया। 'यूटोपिया' में मोर ने एक भावी आदर्श राज्य का चित्र खींचकर जनता के सम्मुख उपस्थित किया। मोर का 'यूटोपिया' प्लेटो के उन भावों से ओत-प्रोत था जो उसने अपने 'रिपब्लिक' (Republic) नामक ग्रंथ में प्रकट किये हैं। परन्तु 'यूटोपिया' के देखने

---

* जेम्स सेथ—एथिकल प्रिंसिपल्स, पृष्ठ, २८८।

से पता चलता है कि गोर पर प्लेटो के आदर्शवादी विचारों का इतना प्रभाव नहीं पड़ा है जितना उसके साम्यवादी विचारों का प्रभाव उस पर पड़ा है। धार्मिक सुधार (Reformation) आन्दोलन का लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने राजनैतिक समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व की महत्ता को समझा और इस प्रकार यह आन्दोलन व्यक्तिवादी सिद्धान्त का आधार बना। आधुनिक काल के व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आधारशिला सुधार आन्दोलन ही है। इस आन्दोलन के पश्चात् अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति हुई। इस क्रांति का परिणाम यह हुआ कि मनुष्यों के सामाजिक संगठन में परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों के साथ साथ उनके राजनैतिक विचारों में भी परिवर्तन हुए। व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद, प्रतियोगितावाद और व्यापारवाद सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। प्रतियोगितावाद और व्यापारवाद ने "पूंजीवाद पर अप्रतिहत आक्रमण करने के लिए परस्पर सहयोग किया।" ‡ इसी शताब्दी में रूसो का "सामाजिक अनुबन्ध" (Social Contract) प्रकाशित हुआ जिसके कारण यूरोप के राजनैतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। रूसो ने प्राचीन काल के यूनानी और रोमन राजशास्त्रों का अध्ययन किया। यूनानी राजनैतिक गणराज्यों के सिद्धान्तों का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यूनानी नगर-राज्यों की ओर उसका ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट हुआ और इन राजनैतिक संस्थाओं का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव के कारण उसे 'सामाजिक अनुबन्ध' नामक ग्रंथ लिखने की अन्तःप्रेरणा हुई। और उसने लोकेच्छा सिद्धान्त की स्थापना की। रूसो के विचारों पर प्लेटो के आदर्शवादी सिद्धान्तों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इसी प्रभाव के कारण उसने लॉक के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का खंडन किया है और अपने 'सामाजिक अनुबंध' में उसने समष्टिवाद पर जोर दिया है। उसकी लोकेच्छा समष्टिवाद ही का साकार स्वरूप है। रूसो ने अपने इस ग्रंथ में राज्य को आदर्श अवयव-संस्थान बतलाया है और जनसम्मत सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है। रूसो का मत है कि राज्य आदर्श संवास है, राज्य में रह कर ही मनुष्य की बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। समाज से पृथक् होकर मनुष्य का कोई व्यक्तित्व नहीं रहता है। राज्य में रह कर ही मनुष्य बुद्धिमान, चतुर और ज्ञानी बन सकता है, राज्य से पृथक् रह कर मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। वर्तमान काल में सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो

‡ जे. ब्राउन—इंग्लिश पौलीटिकल थ्यौरी, पृष्ठ २६।

उन्नति दिखाई देती है वह सब राज्य में रह कर ही हुई है। मनुष्य की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति के लिए राज्य आवश्यक है। मनुष्य की आचारिक उन्नति का कारण राज्य ही है। आदर्श राज्य में ही मनुष्य की सब प्रकार की नैतिक उन्नति सम्भव है। प्रत्येक मनुष्य राज्य की उन्नति करने में सहायक होता है और राज्य की उन्नति पर ही व्यक्तिगत उन्नति निर्भर है।

रूसो का प्रभाव जर्मन आदर्शवादी इमैन्युअल कैन्ट (Emmanuel Kant), जार्ज विल्हैल्म हेगिल (George Wilhelm Hegel) और अंग्रेज आदर्शवादी ग्रीन (Green), वोसांके (Bosanquet) आदि पर पड़ा है। इमैन्युअल कैन्ट (१७२४--१८०८) का मत है कि सब मनुष्य स्वभावतया समान और स्वतन्त्र हैं, लोगों ने अनुबंध द्वारा अपने व्यक्तिगत नैसर्गिक अधिकारों को सब लोगों को सौंप दिया है, और इस प्रकार राज्य की स्थापना हुई है। उसका विचार है कि सर्वोच्च-सत्ता लोगों में विद्यमान है और लोगों की शुद्ध इच्छा ही विधानों का स्रोत है। राज्य का कार्य विधान निर्माण करना, उनको कार्य रूप देना तथा न्याय संबंधी कार्य करना है। उसका मत है कि विधान-निर्मात्री तथा कार्यकारिणी संस्थाएँ एक दूसरे से स्वतंत्र रहेंगी तो शासन कार्य में सुगमता होगी और जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी। राज्य स्वेच्छाचारी कुलीनतंत्र अथवा जनतंत्र हो सकता है। शासन प्रबंध भी निरंकुश अथवा प्रजातन्त्री हो सकता है। कैन्ट के ऊपर फ्रेंच क्रान्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा, वह क्रांति के विरुद्ध था उसका विश्वास है कि राज्य में सुधार करने के लिए क्रांति की आवश्यकता नहीं है। राजा स्वयं वैधानिक रीति से सुधार कर सकता है। जनतांत्रिक राज्य में सम्मिलित तथा सुसंस्थित जीवन संभव नहीं है। उसने मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा की स्वतन्त्रता पर जोर दिया है। उसका कथन है कि राज्य को मनुष्य के जीवन के प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वाह्य विषयों में राज्य अन्य राज्यों से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं रह सकता। संसार में स्थायी रूप से शांति स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि किसी निश्चित सीमा तक राज्य एक दूसरे से सम्बद्ध रहें। अतः वह संघीय संगठन के पक्ष में था। वह चाहता था कि यूरोप में एक ऐसा राष्ट्र-संघ स्थापित किया जाय जिसके सब राज्य सदस्य हों। वह विश्व-संघ स्थापित करने के पक्ष में था। युद्ध से राज्यों को सुरक्षित रखने के लिए वह राज्यों की आर्थिक दशा को सुधारने के पक्ष में था। उसका विचार था कि यदि राज्यों की आर्थिक दशा सुधर जायगी तो वे युद्ध का विचार कभी नहीं करेंगे।

जॉन फिख्टे (John Fichte) कैन्ट का समकालीन था। वह भी एक

जर्मन आदर्शवादी था। उसने मनुष्य के नैसर्गिक व व्यक्तिगत अधिकारों और जनतंत्र पर अधिक जोर दिया है। उसके विचार समाजवाद की ओर झुके हुए प्रतीत होते हैं। उसका विचार है कि राज्य को मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक, और आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान देना चाहिए।

हैगिल (१७७०-१८३१) पर कैन्ट के विचारों का प्रभाव पड़ा था। हैगिल का विचार है कि राज्य एक प्राकृतिक सावयव संस्थान है। वह राज्य को एक जीवित संस्था समझता था। उसके मतानुसार मनुष्य का व्यक्तिगत अस्तित्व राज्य में रह कर ही स्थापित रह सकता है। यूनानी दार्शनिकों के समान वह नागरिक को समाज का एक अभिन्न अंग समझता था। उसका मत है कि नागरिक का अस्तित्व राज्य के लिए है। राज्य की प्रगति में प्रत्येक मनुष्य का भाग है। वैधानिक राजतंत्रीय राज्य को वह आदर्श राज्य समझता था। जनतंत्र की अपेक्षा राजतन्त्र को वह अधिक श्रेष्ठ समझता था। वह कैन्ट की भांति अधिकार-विभाजन के पक्ष में नहीं था। उसका विचार था कि राज्य में ऐक्य स्थापित रखने के लिए शासन-कार्यों का परस्पर सहयोग आवश्यक है। राजतंत्र में उस राज्य की निबन्धकारी, कार्यकारी तथा न्यायकारी सत्ता एक सूत्र में बंधी रहती है। वैदेशिक विषयों में प्रत्येक राज्य को वह एक दूसरे से स्वतन्त्र समझता था। उसका मत है कि प्रत्येक राज्य पूर्णरूप से एक दूसरे से स्वतन्त्र है किन्तु सब राज्य एक-दूसरे से संधि कर सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उस संधि की अवहेलना भी कर सकते हैं। कोई शक्ति राज्यों को एक दूसरे से संबद्ध नहीं कर सकती। राज्य में सदैव शांति स्थापित रहने से अकर्मण्यता आ जाती है और भ्रष्टाचार फैल जाता है अतः राज्यों में पारस्परिक युद्ध आवश्यक है। राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए युद्ध अनिवार्य है। कभी-कभी युद्ध करने से राज्य में आन्तरिक अशांति का अवरोध होता है और राज्य की शक्ति बढ़ती है। राज्य में वीर तथा साहसी नागरिकों का एक सुसंगठित समुदाय होना चाहिए जिसका कार्य युद्ध करना तथा अपने देश के लिए अपने प्राणों की बलि देना हो। फिल्टे के समान उसका भी यह विचार है कि प्रत्येक राष्ट्र के भाव और संस्कृति विशिष्ट होती है। अपने देश की स्वतन्त्रता ही प्रत्येक नागरिक का आदर्श होना चाहिए।

विल्हैल्म वान हम्बोल्ट (Wilhelm Von Humbolt) भी एक प्रसिद्ध जर्मन आदर्शवादी था। उसका मत है कि मनुष्यों ने अपने व्यक्तिगत हितों को सुरक्षित रखने के लिए एक अनुबन्ध द्वारा राज्य की स्थापना की है। उसका मत है कि राज्य ही स्वयं ध्येय नहीं है वह तो मानव उन्नति का

एक साधन है। मनुष्य की शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक उन्नति केवल राज्य द्वारा ही हो सकती है। व्यक्तिगत उन्नति करने का अवसर देना राज्य का कर्तव्य है। व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। राज्य का कर्तव्य यह है कि वह व्यक्तिगत उन्नति में बाधा डालनेवाले अवरोधों का निरोध करे और पारस्परिक झगड़ा कराने वाली बातों को रोके। उसे सार्वजनिक हित के लिए सक्रिय होने की आवश्यकता नहीं है। नागरिकों के व्यक्तिगत कार्यों में राज्य को अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से लोगों की प्रेरणा-शक्ति का ह्रास होता है और उनमें अकर्मण्यता आती है। राज्य को केवल उसी समय हस्तक्षेप करना चाहिए जब बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने की आवश्यकता हो अथवा राज्य में आन्तरिक शांति और व्यवस्था स्थापित करनी हो। वह जनतंत्र के विरुद्ध था।

अधिकांश जर्मन आदर्शवादियों ने नागरिकों की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्व दिया है। उनका कहना है कि राज्य के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्राण तक न्योछावर कर देने चाहिए। उन्होंने राज्य को पृथ्वी पर देवता के तुल्य समझा है, राज्य की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है। राज्य को महान् बनाने में ही राष्ट्र महान् बन सकता है। राज्य को महान् बनाने के लिए राज्य का शक्तिशाली होना आवश्यक है। इसके साथ साथ राज्य का विस्तार भी बढ़ाना चाहिए। वैदेशिक विषयों में राज्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। अन्तर्राष्ट्रीय विधानों को मानना राज्य के लिए आवश्यक नहीं है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ कर सकता है परन्तु यदि कोई संधि राज्य के लिए अहितकर हो तो उसका उल्लंघन किया जा सकता है। राज्य का हित सब से पहले है। राज्य के हित के लिए ही राज्य की स्थापना हुई है। जनतन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र, राज्य के लिए अधिक हितकर है अतः प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि राज्य की आज्ञाओं का पालन निःसंकोच करे। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर जर्मनी में लगभग एक सौ वर्षों से कार्य हो रहा है। लोगों में राष्ट्रीयता के भाव जागृत किये जा रहे हैं और राज्य तथा राष्ट्र के लिए सर्वस्व बलिदान करने की शिक्षा दी जा रही है। सन् १९३९—४५ के महायुद्ध ने इस बात को पूर्णरूप से सिद्ध कर दिया है।

अंग्रेजी आदर्शवादी सिद्धांत—अंग्रेजी आदर्शवादियों के आधार रूसो के विचार, यूनानी आदर्शवाद तथा जर्मन आदर्शवाद हैं। अंग्रेजी आदर्शवादियों में टी. एच. ग्रीन (T.H. Green), एफ़. एच. ब्रैडले (F.H. Bradley) और बी. बोसांके (B. Bosanquet) सब से प्रसिद्ध हैं। जब प्लेटो और

अरस्तू की पुस्तकों का पठन-पाठन ओक्सफर्ड (Oxford) विश्वविद्यालय में आरम्भ हुआ तभी से आदर्शवाद के विचारों का वहाँ उदय हुआ। यूनानी दार्शनिकों के इस विचार का कि "मनुष्य स्वभावतया राजनैतिक समुदाय का सदस्य है और राज्य एक ऐसा अवयवी संस्थान है जिसमें इच्छा-शक्ति विद्यमान है और श्रेष्ठ जीवन की प्रगति के लिए जिसका अस्तित्व है" इंगलैण्ड के दार्शनिकों के विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने इन्हीं विचारों को अपने सिद्धान्त का मूलभूत आधार बनाया है। रूसो की 'इच्छा' तथा 'स्वतन्त्रता' की नैतिक कल्पना ही जर्मन आदर्शवाद का आधार है। जर्मन आदर्शवाद में भी राज्य को नैसर्गिक अवयवी संस्थान माना गया है और रूसो की लोकेच्छा का स्रोत भी जन-साधारण को माना गया है। इन बातों को अंग्रेज आदर्शवादियों ने अपने सिद्धान्त में सम्मिलित कर लिया है। जर्मन आदर्शवादी सिद्धान्त में थोड़ा सा संशोधन करके अंग्रेज आदर्शवादियों ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। जर्मन आदर्शवादी स्वेच्छाचारी राजतन्त्र में विश्वास करते हैं। परन्तु अंग्रेजी आदर्शवाद में वैधानिक राजतन्त्र पर जोर दिया गया है। जर्मन आदर्शवाद अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अवहेलना करता है, अंग्रेजी आदर्शवाद उसको सम्मान की दृष्टि से देखता है और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों के पालन करने का आदेश करता है। उन्नीसवीं शताब्दी की इंडलैंड की आर्थिक दशा तथा भौतिकवादी सभ्यता का वहाँ के आदर्शवाद पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी आदर्शवाद इस बात के पक्ष में है कि मनुष्य की सब प्रकार की व्यक्तिगत उन्नति राज्य ही की सहायता से हो सकती है। राज्य एक सुसंगठित अवयवी शरीर है जिसके अवयव मनुष्य हैं। प्रत्येक मनुष्य राज्य रूपी शरीर का एक अवयव है और राज्य का यह कर्तव्य है कि मनुष्यों के व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करे। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्यसंघटन नैतिक आधार पर किया गया है।

टी० एच० ग्रीन (१८३६-१८८२)—ग्रीन इंगलैण्ड का बड़ा प्रसिद्ध आदर्शवादी था, इसके सिद्धान्त का आधार यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू हैं। इसके ऊपर प्लेटो और अरस्तू का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका विचार है कि राज्य एक स्वाभाविक और आवश्यक वस्तु है। मनुष्य सामुदायिक जीवन का एक अभिन्न अंश है। मनुष्य समुदाय में रह कर ही सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। राज्य तथा मनुष्य-समुदाय में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज से पृथक् रह कर मनुष्य का जीवन व्यर्थ है उसी प्रकार मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है और राजनैतिक संगठन से पृथक् होकर मनुष्य की उन्नति नहीं हो सकती है।

यूनानी दार्शनिकों और ग्रीन के आदर्शवादी सिद्धान्तों में थोड़ा सा भेद है। प्लेटो और अरस्तू के मतानुसार राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार की उन्नति करने के अधिकार प्राप्त न थे। केवल यूनानी नागरिकों (हैलन्स) को ही सब प्रकार के राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे। दासों (हैलट्स) और अदेशियों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त न थे। और न इन लोगों को बौद्धिक, शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। परन्तु ग्रीन के आदर्शवाद में राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान स्थान है। ग्रीन का मत है कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, बौद्धिक, और आध्यात्मिक उन्नति करने का अधिकार है। राज्य के सब मनुष्य समान हैं। उनमें किसी प्रकार का भेद भाव नही है। प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत हितों का संबंध समुदाय के हितों से है। समुदाय की भलाई ही में व्यक्तिगत भलाई है। प्लेटो की अपेक्षा ग्रीन पर अरस्तू का अधिक प्रभाव पड़ा है। अरस्तू का यह मत है कि राज्य का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को लोक-हित का कार्य करने के लिए प्रेरित करे और इसी ध्येय को सामने रख कर लोगों को शिक्षा दी जाय कि प्रत्येक व्यक्ति आत्मतुष्टि और आत्म-अनुभूति को अपना ध्येय बनाये क्योंकि जब प्रत्येक मनुष्य इस प्रकार अपनी आत्मोन्नति करेगा तो समाज की अपने आप उन्नति हो जायगी। अतः ग्रीन ने मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया है और इसी में लोकहित बतलाया है। सामान्यहित को ही उसने सर्वश्रेष्ठ कार्य और मनुष्य का परम धर्म समझा है। ग्रीन के सिद्धान्त के अनुसार आत्मोन्नति, आत्मतुष्टि, स्वहित, लोकहित, लोकोपकार आदि शब्दों का अर्थ एक ही है और एक दूसरे का परस्पर घनिष्ट संबंध है।

रूसो के सिद्धान्त का भी ग्रीन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। ग्रीन ने रूसो के आचार-सम्बन्धी अथवा नैतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार को अपनाया है। रूसो के समान ग्रीन ने भी इस बात पर जोर दिया है कि मनुष्य को नैतिक-स्वतन्त्रता होनी चाहिए। नैतिक-स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है। बिना नैतिक स्वतन्त्रता के मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। राज्य का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक मनुष्य को नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कराने में सहायक हो। ग्रीन ने इस विषय में रूसो के सिद्धान्त में संशोधन किया है। उसने दो प्रकार की स्वतन्त्रता बतलाई है, एक नकारात्मक और दूसरी वास्तविक। ग्रीन ने स्वतन्त्रता की व्यवस्था करते हुए बतलाया है कि वास्तव में मनुष्य की स्वतन्त्रता का उद्देश्य आत्म-बोध की प्राप्ति करना है। प्रत्येक सदेच्छा ही स्वतन्त्रता है। कुचेष्टा स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य को अपनी बुद्धि का प्रयोग करके प्रत्येक

कार्य करना चाहिए, प्रेक्षा और विचारशक्ति का प्रयोग करके प्रत्येक कार्य को करना ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। मनुष्य को विचारशक्ति का प्रयोग करते हुए आत्मोन्नति करनी चाहिए, यही नैतिक स्वतन्त्रता है। इच्छा तथा प्रेक्षा द्वारा प्रत्येक कार्य को करना ही नैतिक स्वतन्त्रता कहलाता है। अनुचित तथा दूषित कार्य करना स्वतन्त्रता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त कराना राज्य का परम कर्तव्य है। राज्य का यह ध्येय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि तथा युक्ति के अनुसार कार्य करने का अवसर दे और जो जो बाधाएँ उसके मार्ग में आयें उन्हें हटाने का प्रयत्न करे। प्रेक्षा-युक्त कार्य ही स्वतन्त्र कार्य है। यही सिद्धान्त हेगिल का भी है। इस प्रकार ग्रीन पर हेगिल का भी प्रभाव पड़ा है। रिशी (Ritchie) का कथन है कि ग्रीन ने हेगिल के इस सिद्धान्त को अपनाया है कि राज्य का ध्येय मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति है, किसी विशेष इच्छा की पूर्ति ही स्वतन्त्रता नहीं है बल्कि सब प्रकार की सदेच्छाओं की पूर्ति करते हुए पूर्ण आत्मोन्नति करना ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। ग्रीन के सिद्धान्त में कैन्ट के सिद्धान्त का भी समावेश है। कैन्ट का मत है कि "वह व्यक्ति स्वतन्त्र है जो यह समझता है कि मैं अपने बनाये हुए विधानों का पालन करता हूँ।" परन्तु ग्रीन हेगिल के इस मत को नहीं मानता है कि "प्रत्यक्ष ही युक्तिमूलक तथा युक्तिमूलक ही प्रत्यक्ष है।" ग्रीन का मत है कि व्यक्तिगत उन्नति के लिए नैतिकता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

ग्रीन का राज्य-सिद्धान्त—ग्रीन का विचार है कि मनुष्य की व्यक्तिगत नैतिक उन्नति के लिए राज्य एक परम आवश्यक संस्था है। मनुष्य की सामान्य इच्छा ही राज्य है। राज्य सर्व शक्तिमान सत्ता नहीं है। राज्य अनेक प्रकार के वाह्य तथा आन्तरिक प्रतिबंधों के कारण एक परिमित शक्ति है। वाह्य विषयों में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंधों तथा संधियों द्वारा सीमित है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों को मानना राज्य का कर्तव्य है। आधुनिक काल में औद्योगिक उन्नति तथा अन्य आविष्कारों के कारण राज्यों में पारस्परिक संबंध स्थापित रहना अनिवार्य हो गया है। अतः ग्रीन का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक, व्यावसायिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकार की आवश्यक संधियों का मानना और निभाना राज्यों के लिए परम-आवश्यक है। आन्तरिक विषयों में भी राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित है। उसका विचार है कि राज्य में मनुष्य को व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जहाँ जहाँ लोगों की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति में बाधाएँ उपस्थित हों, वहीं वहीं राज्य

को हस्तक्षेप करना चाहिए और उन बाधाओं का निरोध अथवा निवारण करना चाहिए। मनुष्य के श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने में राज्य को किसी प्रकार से बाधक नहीं होना चाहिए, अपितु उसके श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने में बाधक होने वाले निग्रहों का निवारण करना चाहिए। अतः राज्य का कर्तव्य "अवरोधों का निरोध करना" है। ग्रीन का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्म-अनुभूति में राज्य को सहायक होना चाहिए और इस प्रकार की परिस्थिति राज्य को उपस्थित करनी चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सके। प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत व्यापक अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए और मनुष्यों के इन अधिकारों में राज्य को किसी प्रकर से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह जितनी भी उन्नति करना चाहे, करे और राज्य उसे उन्नति करने का अवसर दे और उसमें किसी प्रकार से बाधक न हो। मनुष्य के संपूर्ण अधिकार उसकी नैतिक उन्नति के आधार हैं। इन्हीं अधिकारों के द्वारा मनुष्य की आचारिक उन्नति होगी, अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि ऐसे व्यापक अधिकारों को प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त कराने में सहायता करे जिससे प्रजा का नैतिक स्तर ऊँचा हो और जन-साधारण में सद्विचार और सद्भावनाएँ उत्पन्न हों।

ग्रीन का कथन है कि समाज से पृथक् हुए मनुष्य के अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं। केवल समाज में रह कर ही मनुष्य के अधिकार उत्पन्न होते हैं। परन्तु उसका मत है कि प्रत्येक समाज में मनुष्य के अधिकार उत्पन्न नहीं होते। उसके मतानुसार केवल उसी समाज में मनुष्य के अधिकार उत्पन्न होते हैं जिस समाज के सदस्य लोकहित को अपना हित समझें और यह समझें कि जन-साधारण के सामान्य-हित में ही उनका व्यक्तिगत हित भी सम्मिलित है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के अधिकार और कर्तव्य समाज में एक साथ उत्पन्न होते हैं और समाज पर ही निर्भर हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक समाज में सब मनुष्य एक दूसरे के अधिकारों को समझें और उन्हें स्वीकार करें। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह मनुष्यों के अधिकारों को प्रचलित कराने और मनवाने में आवश्यकता पड़ने पर बल का प्रयोग करे। मनुष्यों की नैतिक उन्नति के लिए यह बात अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है। राज्य बल का प्रयोग कर सकता है और उसे बल प्रयोग करने का अधिकार है क्योंकि राज्य मनुष्यों की सामान्य इच्छा का प्रतीक है और सामान्य इच्छा का अभिप्राय है लोकहित के ध्येय की सामान्य चेतना। जन-साधारण के हित को ध्यान

में रखते हुए ही राज्य के प्रत्येक कार्य का संचालन होना चाहिए। लोकहित ही राज्य का सदैव ध्येय होना चाहिए। और राज्य के कर्ता-धर्ता सर्व साधारण ही होते हैं, अतः लोकेच्छा ही राज्य की सर्वोच्च सत्ता है। इसीलिए ग्रीन ने एक स्थान पर लिखा है कि "बल नहीं बल्कि इच्छा ही राज्य का आधार है" (Will, not force, is the basis of the State),

ग्रीन का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार है। यदि राज्य की आज्ञायें विधान के विरुद्ध हों, अथवा राज्य ऐसे कार्य करे जिससे लोक का अहित हो और जनसाधारण को कष्ट पहुँचे अथवा लोगों में नैतिक दोष फैलने की संभावना हो तो ऐसी दशा में प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार और कर्तव्य है कि वह राज्य का विरोध करे। अनुचित आज्ञाओं और विधानों को उलटना अथवा उनका अंत व संशोधन करने का प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य तथा अधिकार है।

ग्रीन ने राज्य को "समाजों का समाज" कहा है। समाज के अधिकारों का विकास राज्य ही से होता है और राज्य ही इन अधिकारों का समनुनय करता है।

ग्रीन का युद्ध सम्बन्धी विचार—युद्ध के संबंध में भी ग्रीन के विचार विलक्षण हैं। उसके आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार युद्ध करना राज्य का पूर्ण अधिकार नहीं है। उसका मत है कि युद्ध एक "क्रूर आवश्यकता है।" यह एक अनुचित कार्य है। युद्ध वह प्रणाली है जिसके द्वारा एक भूतपूर्व अन्याय अथवा अपकार का एक दूसरे अपकार अथवा अन्याय द्वारा शोधन किया जाता है। और इसी सिद्धान्त के आधार पर युद्ध को न्याय-संगत बतलाया जाता है। युद्ध में मनुष्य के स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का उल्लंघन होता है। मनुष्यों को लड़ाई में भर्ती करना आदर्शवाद के विरुद्ध है क्योंकि इससे मनुष्यों को मृत्यु के लिए आवाहन किया जाता है। यह कार्य अनैतिक है। आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार यह एक हिंसक कार्य है। इस हिंसा के लिए कौन दोषी है? इसमें हिंसक कौन है? युद्ध में दो राज्यों की सेनाओं के व्यक्ति एक दूसरे की हत्या करते हैं। इस हत्या का दोषी कौन है? क्या एक सैनिक जो अपने देश के लिए युद्ध करता है, हिंसा का दोषी है? वास्तव में वह दोषी नहीं है क्योंकि हिंसा करने में सैनिक के स्वार्थ की सिद्धि नहीं होती है, वह राज्य के लिए युद्ध करता है इसलिए राज्य ही इस हिंसा के लिए दोषी है। आदर्शवाद सिद्धान्त के अनुसार युद्ध को नैतिक अपराध बतलाया जाता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि नैतिक अपराध उस समय होता है जब आपस के

पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण युद्ध किया जाता है और जानबूझ कर एक दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण किया जाता है। युद्ध में दोनों पक्ष के सैनिकों का यह विचार नहीं होता है। वे एक दूसरे को न तो जानते ही हैं और न उनमें किसी प्रकार की द्वेष की भावना होती है। परन्तु ग्रीन का मत है कि वास्तव में राज्य दोषी है। क्योंकि युद्ध में मनुष्य के "जीवन के अधिकार" की अवहेलना होती है। जिस प्रकार मनुष्य को अपने जीवन का अन्त करने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार सैनिक बन कर भी उसे अपने जीवन का अन्त कर देने का अधिकार नहीं है। राज्य को युद्ध नहीं करना चाहिए।

जो लोग युद्ध के पक्ष में हैं उनका मत है कि नैतिकता की रक्षा करने के लिए भौतिक जीवन के अधिकार का बलिदान करना उचित है। इन अधिकारों का आधार नैतिकता है। नैतिकता की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है और इनकी रक्षा के लिए मनुष्य के भौतिक शरीरों का बलिदान किया जा सकता है। ग्रीन इस बात के विरुद्ध है। उसके अनुसार कुछ भी तर्क युद्ध के पक्ष में किया जाय, वास्तव में युद्ध एक दूषित कार्य है। जिस कार्य में 'मनुष्य के जीवन के अधिकार' पर आक्रमण होता है वह कार्य वास्तव में अनुचित है।

कुछ लोगों का यह मत है कि मनुष्यों के नैतिक स्तर को उच्च बनाने के लिए कभी-कभी युद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसा करने से लोगों की कायरता और अकर्मण्यता दूर होती है और लोग वीर बनते हैं और उनमें उत्साह परमार्थ, लोकहित, तथा परोपकार के भाव जागृत होते हैं तथा मनुष्य समाज की उन्नति होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसीडेन्ट टी. रूजवैल्ट (T. Roosevelt) का भी यही विचार था कि बहुत काल तक युद्ध न होने से लोगों में अकर्मण्यता आती है और वीरता का ह्रास होता है। बहुत से लोगों का यह मत है कि युद्ध से देश तथा मनुष्य समाज की उन्नति होती है। सीजर (Caesar) ने युद्ध करके गेल (Gaul) को विजय किया, अंग्रेजों ने युद्ध करके भारतवर्ष को विजय किया। इन विजयों के पश्चात् दोनों देशों में सभ्यता की उन्नति हुई। ग्रीन का मत है कि ऐसे विचार निर्मूल हैं। मनुष्यों की सभ्यता युद्ध पर निर्भर नहीं है। यदि युद्ध न हुए होते तब भी इन देशों में कालान्तर में इसी प्रकार सभ्यता की उन्नति होती। सभ्यता की उन्नति के लिए युद्ध की आवश्यकता नहीं है। ऐसे अन्य अनेक उपाय हैं जिनके द्वारा उन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है जो युद्ध द्वारा प्राप्त होते हैं। ग्रीन का विचार है कि किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए युद्ध करना प्राचीनकाल की असभ्य तथा अनुन्नत

उस निश्चित स्थान पर निश्चित कार्य करना उसका परम कर्तव्य है। उ
निर्दिष्ट कार्य करना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को समाज में यही
उसे अपने वर्तमान भाग्य से संतुष्ट रह कर, अपना निर्दिष्ट कार्य करन
है। जिस प्रकार एक घड़ी के प्रत्येक भाग (पुर्जे) का कार्य निश्चित है
प्रत्येक पुर्जा अपना निश्चित कार्य ठीक प्रकार से करता है तभी घड़ी
सकती है, ऐसा ही विचार ब्रैडले का है। जब प्रत्येक मनुष्य अप
ठीक प्रकार से करेगा तभी समाज स्थापित रह सकता है, अन्यथा समाज
होने की संभावना है। इस प्रकार ब्रैडले के सिद्धान्त में मनुष्य को
व्यक्तिगत उन्नति करने का अवसर नहीं प्राप्त होता।

बी० बोसांके (१८४८-१९२३)——बोसांके के आदर्शवादी सिद
आधार रूसो की लोकेच्छा है। उसने अपने सिद्धान्त में रूसो को
नैतिक इच्छा की व्याख्या की है और इसी के आधार पर उसने अपन
वादी सिद्धान्त स्थापित किया है। अत: बोसांके के सिद्धान्त को भल
समझने के लिए बोसांके के 'इच्छा सिद्धान्त' को समझना आवश
उसके आदर्शवादी सिद्धान्त के तीन मूलतत्व हैं (१) व्यक्तिगत
इच्छा तथा विवेकपूर्ण इच्छा का भेद, (२) व्यक्तिगत
इच्छा तथा समाज की सामान्य इच्छा का संबंध, और (३) र
सर्वसाधारण की सामान्य इच्छा का प्रतीक है।

(१) बोसांके ने स्वाभाविक इच्छा और विवेकपूर्ण इच्छा की
व्याख्या की है। उसका मत है कि मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा
मनुष्य की अन्त:प्रेरणा से है। मनुष्य की वह इच्छा जो उसके
स्वभाव अथवा भावुकता से प्रभावित होती है उसकी स्वाभाविक
कहलाती है। स्वाभाविक इच्छा में स्वार्थ का सम्मिश्रण होता है। इ
में उसके अविवेक का प्रदर्शन होता है। बिना विचारे और बिना
प्रयोग किये जो इच्छा केवल भावुकता से प्रभावित होती है वही स्व
इच्छा कहलाती है। मनुष्य जब इस इच्छा को प्रकट करता है उ
उसमें स्वार्थ का भाव होता है। यह इच्छा शुद्ध इच्छा नहीं है, य
इच्छा है। प्रत्येक मनुष्य समय समय पर इसी इच्छा द्वारा प्रेरि

सम्मिश्रण होता है, यही सर्वश्रेष्ठ इच्छा समझी जाती है। इसका मूल आधार लोकहित है। (२) स्वाभाविक इच्छा सदैव व्यक्तिगत होती है, उसका अन्य पुरुषों की स्वाभाविक इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। परन्तु विवेकपूर्ण इच्छा इसके बिल्कुल विपरीत है। विवेकशील इच्छा का संबंध अन्य लोगों की विवेकशील इच्छा से होता है। जब एक व्यक्ति की विवेकपूर्ण इच्छा अन्य व्यक्तियों की विवेकपूर्ण इच्छा से संबद्ध हो जाती है तब उसे सामान्य इच्छा या लोकेच्छा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अकेले मनुष्य का कोई जीवन नहीं है। मनुष्य का सामाजिक जीवन ही वास्तविक जीवन है। समाज में रहकर ही मनुष्य लोकहित का कार्य कर सकता है और अपना और दूसरों का भला कर सकता है। सामान्य इच्छा केवल समाज में ही संभव हो सकती है अतः मनुष्य के जीवन के लिए समाज अत्यंत आवश्यक है। (३) राज्य वास्तव में समाज का ही एक रूप है। बोसांके का मत है कि समाज और राज्य में कोई भेद नहीं। राज्य भी एक समाज है। राज्य और समाज में केवल इतना भेद ही है कि राज्य समाज से अधिक उन्नत है, समाज का राजनैतिक स्वरूप ही राज्य है। मनुष्य का सामाजिक जीवन राज्य पर ही निर्भर है। राज्य सामान्य इच्छा या लोकेच्छा का प्रतीक है। मनुष्य का सर्वसामान्य जीवन राज्य के विधि-विधानों पर ही निर्भर है। बिना राज्य व्यवस्था के मनुष्य का सामाजिक जीवन असंभव है। राज्य ही जनसाधारण में व्यवस्था और शांति स्थापित रखता है और राज्य में रहकर ही मनुष्य को व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता है।

बोसांके ने मनुष्य के सामाजिक जीवन पर बड़ा ज़ोर दिया है। उसका मत है कि मनुष्य का जीवन आदि से अन्त तक पूर्ण रूप से सामाजिक है। उसके जीवन का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जो सामाजिक न हो। सम्मिलित जीवन व्यतीत करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। अकेला रहकर मनुष्य अपना जीवन कभी नहीं व्यतीत कर सकता। न तो अकेले जीवन में मनुष्य सुख तथा शांतिपूर्वक रह सकता है, न वह किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकता है। अतः मनुष्य सर्वसामान्य हित के लिए समाज के रूप में संगठित हुआ है, क्योंकि वह जानता है कि सर्वसामान्य हित में ही उसका व्यक्तिगत हित गर्भित है। अतः मनुष्य सदैव सम्मिलित जीवन पसन्द करता है।

बोसांके ने एक स्थान पर लिखा है कि "एक संस्था एक से अधिक मनुष्यों के मनों के मनोभावों तथा प्रयोजनों का प्रतीक है, वह स्थायी रूप से उनका सामूहिक रूप है।" आगे चलकर वह फिर लिखता है कि "संस्थाओं में हमको

व्यक्तिगत मनों का वह संयुक्त विन्दु मिलता है कि जिसे सामाजिक मन कहते हैं। यहाँ हमको एक ऐसा आदर्श तत्व मिलता है जोकि एक विश्वव्यापी दृष्टि से सामाजिक है तथा विशिष्टरूप में वह व्यक्तिगत मन है।" *

बोसांके के संस्थासंबन्धी विचार—बोसांके का मत है कि प्रत्येक सामाजिक संस्था अथवा संवास व्यक्तियों के चित्तों की पारस्परिक संबद्ध चित्त-वृत्तियों का एक जटिल सामूहिक रूप है। प्रत्येक व्यक्ति का चित्त संवास अथवा समाज की सामूहिक चित्तवृत्तियों से प्रभावित है। समुदाय अथवा समाज का प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रभाव अन्य सदस्यों पर डालता है। समाज की भिन्न भिन्न नैतिक संस्थाएँ कुटुम्ब, पड़ोसी, समुदाय तथा राष्ट्रीय राज्य हैं इनमें राज्य सर्वश्रेष्ठ संस्था है। यह संस्था वास्तव में नैतिक आदर्श है। राज्य सब प्रकार के समुदायों तथा संवासों के समनुनय का प्रतीक है। यह अन्य सब संस्थाओं का संचालन करता है और व्यवस्था तथा शांति स्थापित रखता है मनुष्य के जीवन के लिए राज्य अत्यन्त आवश्यक संस्था है।

आलोचना—आदर्शवादी सिद्धान्त के विरोधियों ने इस सिद्धान्त को कोरा सिद्धान्त वतलाया है। उनका मत है कि यह सिद्धान्त अध्यात्मवाद से सम्बन्ध रखता है। वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त का मनुष्यों के व्यावहारिक जीवन में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इन लोगों ने आदर्शवाद को स्वप्नदर्शी वतला कर इसका खंडन किया है। विलियम जेम्स (James) का कथन है कि आदर्शवादी सिद्धान्त एक ऐसा हेतुवादी सिद्धान्त है जो वास्तव में धार्मिक कहा जा सकता है, परन्तु उसका वास्तविक जीवन के व्यावहारिक कार्यों तथा सुख दुख से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नितांत बौद्धिक सिद्धान्त है। यह केवल काल्पनिक है। यह सिद्धान्त मनुष्यों की बौद्धिक शक्तियों से सम्बन्ध रखता है। मनुष्य संबंधी अन्य व्यावहारिक विषयों से इस सिद्धान्त का कोई संबंध नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य को जनसमूह की प्रेक्षा तथा इच्छा का प्रतीक समझा गया है और मानव प्रकृति की अन्य वातों की उपेक्षा की गयी है। इसमें संदेह नहीं कि आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य को एक अत्यन्त उच्चादर्श संस्था समझा गया है।

कुछ लोगों का मत है कि आदर्शवादी सिद्धान्त केवल काल्पनिक है इसमें वास्तविक तत्व कुछ नहीं है, और 'रामराज्य' एक काल्पनिक विचार है आदर्शवाद के विरोधियों के ये विचार युक्तिसंगत नहीं हैं। आधुनिक का

तक जो कुछ सभ्यता तथा अन्य सब प्रकार की उन्नति हुई है वह सब कल्पना तथ विचारशक्ति के आधार पर ही हुई है। वास्तविक उन्नति के पूर्व मनुष्य कल्पना ही करते हैं फिर कल्पना को कार्य रूप में परिणत करते हैं। संसार में जितनी औद्योगिक उन्नति हुई है और जितने भी आविष्कार हुए हैं इन सबका आधार कल्पना ही है। मनुष्य की विचारशक्ति में इन सब उन्नतियों और आविष्कारों ने प्रवेश किया और विचारशक्ति द्वारा ही मनुष्य इन कार्यों में सफल हुए। 'रामराज्य' की कल्पना के आधार पर आधुनिक काल में समाज के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। राज्य के दोषों को भी 'रामराज्य' के आधार पर ही दूर करने का प्रयत्न दार्शनिक कर रहे हैं। वे इस कार्य में बहुत कुछ अंश तक सफल भी हुए है। दासता की प्रथा को दूर करना तथा यंत्रकलों, तथा कर्मशालाओं में कार्य करनेवाले स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों की दशा को सुधारना, आदर्शवादी लोगों के प्रयत्नों का ही फल है।

कुछ लोगों का मत है कि आदर्शवाद कोरा सिद्धान्त है, अध्यात्मवाद से और राज्य से इसका कुछ संबंध नहीं है। वास्तव में यह विचार निर्मूल है। आदर्शवाद ने वास्तविक तथा व्यावहारिक कार्यों का मूल आधार सिद्धांत को ही माना है, आदर्शवादियों का मत है कि व्यावहारिक उन्नति सिद्धान्त के आधार पर ही होती है। वैज्ञानिक उन्नति का आधार भी विज्ञान सिद्धान्त है। बिना सिद्धान्त के विज्ञान साक्षात्कार होना असम्भव है। इसी प्रकार सरकार अथवा व्यावहारिक राजनीति का आधार भी राजनीति सिद्धान्त है। गार्नर (Garner) का कथन है कि राजनैतिक सिद्धान्त के समान आचार-शास्त्र यह बतलाता है कि किस प्रकार कार्य करना चाहिए और कैसी स्थिति होनी चाहिए और यह भी बतलाता है कि वास्तव में दशा क्या है। जब किसी वस्तु की पूर्ण उन्नति हो जाती है तब उस वस्तु की क्या दशा होती है और उसके क्या लक्षण होते हैं। अतः राजनीतिक दार्शनिक समुचित रूप से आदर्शवाद की कल्पना कर सकता है और अपनी विचारशक्ति के अनुसार उसका निरूपण कर सकता है*। वास्तव में आदर्शवादियों की कल्पनाओं को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है। आदर्शवाद कोरा सिद्धान्त नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने से वास्तव में 'रामराज्य' की स्थापना हो सकती है।

यथार्थवादियों का मत है कि आदर्शवाद सिद्धान्त के अनुसार कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया जा सकता और आदर्शवादियों के विचार तथा कार्य

---

*जे० डबल्यू० गार्नर---पोलीटिकल साइंस ऐन्ड गवर्नमेण्ट, पृष्ठ २३८।

केवल काल्पनिक हैं। ये कल्पनाएँ और विचार कभी सफलतापूर्वक कार्यरूप में परिणत नहीं किये जा सकते। केवल इस सिद्धान्त के आधार पर कि मनुष्यों को समाज में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, राजनीतिक समस्या का हल नहीं होता है। वास्तव में यथार्थवादियों ने अपने कथन में अतिशयोक्ति की है। आदर्शवाद को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है। यथार्थवादियों के मत का सर हेनरी जोन्स (Sir Henry Jones) ने इस प्रकार खंडन किया है 'यथार्थवादियों ने अपना निजी सिद्धान्त स्थापित नहीं किया है बल्कि आदर्शवाद के दोषों पर ही अपना अस्तित्व स्थापित रक्खा है और जो जो समस्याएँ आदर्शवाद से हल नहीं हुई हैं, उन्हीं पर वे प्रकाश डालते हैं।'

आदर्शवादियों का मत है कि मनुष्य की प्रेक्षा तथा विचारशक्ति के कारण और विवेकपूर्ण प्रेक्षा के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई है। यदि मनुष्यों ने अपनी युक्तिमूलक विचारशक्ति से कार्य न लिया होता तो आज राज्य इस रूप में दिखाई न देता। यदि अति प्राचीनकाल से अब तक मनुष्यों की प्रगति तथा राज्य के विकास पर विचार किया जाय तो पता चलता है कि मनुष्यों की सभ्यता की उन्नति और राज्य की उत्पत्ति और विकास मनुष्यों की प्रेक्षा तथा विचारशक्ति के विकास के साथ साथ हुआ है। राज्य के विकास तथा उत्पत्ति का आधार वास्तव में मनुष्य की युक्ति अथवा प्रेक्षा है। यदि यह न होती तो विकास का परिणाम यह न होता कि आज एक सुसंगठित जीवन युक्तिमूलक प्रणाली के रूप में दिखाई देता जिसे, हमारी विचारशक्ति अनुभव कर रही है, बल्कि एक निषिद्ध, परिभ्रांत तथा आन्तरिक प्रेरणा द्वारा संचालित असभ्य और असंगठित रूप में यह जीवन दिखाई देता जिसका प्रेक्षा तथा विचारशक्ति से कुछ संबंध न होता और ऐसा जीवन निरर्थक होता।* आदर्शवादी इस बात को स्वीकार करते है कि जितनी भी उन्नति आज संसार में दिखाई देती है वह केवल प्रेक्षा के आधार पर ही नही हुई है बल्कि इस उन्नति में मनुष्य के स्वभाव तथा उसकी आन्तरिक प्रेरणा ने भी बड़ा कार्य किया है। परन्तु उनका यह विश्वास अवश्य है कि प्रेक्षा के दृष्टिकोण से भी इस प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है, अर्थात् प्रेक्षा और विचारशीलता का भी इस प्रगति में बहुत कुछ अंश तक एक विशेष भाग है क्योंकि मनुष्य की विचारशक्ति उसकी टेव तथा आन्तरिक प्रेरणा का पथप्रदर्शन करती हैं। टेव

श्रौर ग्रान्तरिक प्रेरणा मनुष्य की विचारशक्ति पर विजय प्राप्त न कर सकतीं।

हाब्सन (Hobson) ने आदर्शवाद को 'पुराणप्रियता का प्रपं कहा है क्योंकि आदर्शवादी वस्तुओं के दिव्य अधिकार का प्रचार क हैं, अरस्तू ने दासता को आदर्श प्रथा माना है। हैगिल ने युद्ध बड़ी प्रशंसा की है श्रौर उसे अनिवार्य बतलाया है। ग्रीन ने अपने उदारव में कुछ पूंजीवादी सिद्धान्तों का भी सम्मिश्रण किया है। परन्तु वास्तव शुद्ध आदर्शवाद इससे भिन्न है। शुद्ध आदर्शवाद में इन बातों के लिए व स्थान नहीं है। आदर्शवाद में राज्य विधानों की अधिक आवश्यकता नहीं इस सिद्धान्त में मनुष्य स्वयं सत्कर्म करता हुआ आध्यात्मिक उन्नति करता राज्य मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक कार्यों में कम-से-कम हस्तक्षेप क है। इसीलिए इस सिद्धान्त के विरोधी कहते हैं कि आदर्शवाद नकारात सिद्धान्त है।

बोसांके का मत है कि आदर्शवाद एक संकुचित तथा कठोर सिद्धान आदर्शवाद के विरोधियों का विचार है कि आदर्शवादी सिद्धांत यूनान के सम छोटे छोटे नगर राज्यों में कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है परन्तु आ कल की परिस्थिति में, जब कि बड़े बड़े राज्य श्रौर साम्राज्य स्थापित हो हैं आदर्शवादी सिद्धान्त की स्थापना असम्भव है। प्राचीनकाल में यूनान समाज तथा राज्य में कोई भेद न था। उस समय आजकल के समान भिन्न प्रकार के समाज तथा संवास न थे, मनुष्य का जीवन अत्यन्त साधा था। उस समय आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य कार्य हो सकता थ श्रौर जिस प्रकार राजनीतिक संगठन यूनानी लोग चाहते अपने समय में स पित कर सकते थे। उस समय आजकल की सी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा औद्यो व्यावसायिक तथा श्रम-संबंधी समस्याएं न थीं। परन्तु आधुनिक काल में अ प्रकार की संस्थाएँ संवास तथा समाज अस्तित्व में आ गये हैं। अनेक प्र की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। इन समस्याओं के कारण त अनेक प्रकार के धर्मों की स्थापना के कारण कोई राज्य आदर्शवादी सिद्ध के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता। आदर्शवादियों की यह यु न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती है। वास्तव में यह युक्ति बहुलवादियों की है यह कहते हैं कि राज्य भी अन्य संवास तथा समाजों के समान एक सं अथवा समाज है। वास्तव में राज्य अन्य सब प्रकार के संवासों से श्रेष्ठ राज्य अन्य संवासों में समन्वय स्थापित कर सकता है। राज्य शांति

व्यवस्था स्थापित करने के लिए बल का प्रयोग करता है। यदि राज्य बल का प्रयोग न करे तो अराजकता फैल जायगी। मनुष्यों में अच्छे कम होते हैं और बुरे अधिक, यदि राज्य बल का प्रयोग करके व्यवस्था स्थापित न करेगा तो बुरे लोग अच्छे लोगों पर अत्याचार करने लगेंगे। आधुनिक काल के सब संवासों को ठीक ठीक चलाने के लिए राज्य को ऐसे विधान बनाने की आवश्यकता है जिनसे सब संवासों में परस्पर समन्वय स्थापित हो और किसी प्रकार के दूषित कार्य न किये जायँ। आधुनिक काल में जितनी बुराइयाँ मनुष्य समाज में फैली हुई हैं उनका अन्त करने के लिए आदर्शवाद ही का आश्रय लेना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। महात्मा गांधी का अहिंसावाद आदर्शवाद से ही संबंध रखता है। आधुनिक काल के बड़े बड़े राजशास्त्रवेताओं का मत है कि देश तथा विश्व का हित गांधीवाद द्वारा ही हो सकता है। यदि गांधीवाद का आश्रय लेकर राजनीति का संचालन किया जाय तो वास्तव में विश्वव्यापी शांति स्थापित हो सकती है।

आदर्शवाद भौतिकवाद के विरुद्ध है। संसार की उन्नति भौतिकवाद द्वारा नहीं हो सकती। मनुष्यों को बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आदर्शवाद ही सहायक हो सकता है। अनुभव इस बात का साक्षी है कि भौतिकवाद विश्व में शांति स्थापित रखने में बाधक है। दो महायुद्ध भौतिकवाद की उन्नति के कारण ही हुए हैं, और तीसरा युद्ध होने की संभावना है। यदि लोग भौतिकवाद की ओर अपनी चित्त-वृत्ति को लगायेंगे तो संसार में कदापि शांति स्थापित न रह सकेगी और लोगों में नास्तिकता के विचार फैलेंगे। यह आवश्यक है कि अब आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान देने से ही संसार में शांति स्थापित हो सकती है। बोसांके का कथन है कि आदर्शवादी सिद्धान्त इतना कठोर और असंभव नहीं है जैसा कि इस सिद्धान्त के विरोधियों का विचार है। यह सिद्धान्त समय समय पर परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार ग्रहण किया जा सकता है और आधुनिक काल के बहुलवाद के अनुसार भी उसे संयोज्य बनाया जा सकता है।

जोड (Joad) ने इस सिद्धांत का यह कहकर खंडन किया है कि यह सिद्धांत असत्य, अस्थिर तथा निर्मूल है और राज्यों के वैदेशिक नीति संबंधी कार्यक्षेत्रों में विवेकशून्य कार्यों के करने की भयानक अनुज्ञप्ति प्रदान करता है। जोड का कथन है कि आदर्शवादी सिद्धांत के अनुयायी राज्य तथा समाज को समान समझते हैं। मैकईवर का भी यही विश्वास है कि आदर्शवादी

तथा काल्पनिक बतलाया गया है। मैकईवर का यह भी विश्वास है, कि 'समुदाय का मन तितिक्षतापूर्ण होता है परन्तु राज्य रूपी समुदाय का नहीं।' वास्तव में जोड और मैकईवर ने इस सिद्धांत को निर्मूल कहकर इसका खंडन किया है, परन्तु हमारा विचार है कि यह सिद्धान्त इतना दोषपूर्ण नहीं है। यदि ठीक प्रकार से आदर्शवाद का अनुकरण किया जाय और कार्य रूप में परिणत किया जाय तो वर्तमान काल के जितने भी प्रचलित दोष समाज में दिखाई देते हैं उनका अन्त हो जाय और मनुष्यों का जीवन सुख तथा शांतिमय हो जाय।

जोड का यह विश्वास है कि आदर्शवादी राज्य को सर्व शक्तिमान संस्था मानते हैं और राज्य को ही मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति का साधन मानते हैं। वास्तव में जोड का यह विश्वास मिथ्या है। आदर्शवादियों का यह मत नहीं है, वे राज्य को सर्वशक्तिशाली कदापि नहीं मानते न उनका यही विश्वास है कि केवल राज्य ही मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति का साधन है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि ग्रीन आदि अंग्रेज दार्शनिकों ने राज्य के कार्य-क्षेत्र को कितना सीमित किया है। अतः जोड का यह कथन कि "राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है, व्यक्तियों का अस्तित्व राज्य के लिए नहीं है।" बिल्कुल असत्य है। ग्रीन, बोसांके आदि ने राज्य का ध्येय मनुष्य मात्र की व्यक्तिगत उन्नति करना अवश्य बतलाया है परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य का अस्तित्व मनुष्यों के लिए ही है अथवा मनुष्यों का अस्तित्व राज्य के ही लिए है। कुछ जर्मन आदर्शवादियों ने तो राज्य के हित को मनुष्यों के व्यक्तिगत हित से पृथक् तथा उच्च समझा है। इसलिए हम जोड के मत से सहमत नहीं है।

मैकईवर (Mac Iver) का मत है कि आदर्शवादी सिद्धांत में राज्य के मूर्तिकरण की पराकाष्ठा है, राज्य के व्यक्तित्व को बहुत महत्व दिया गया है। व्यक्तियों के समूह को व्यक्ति का रूप दिया है। मानव-समाज का मानवीकरण किया है। मनुष्यों की भौतिक दशा की मानसिक दशा से तुलना की है। मैकईवर का विचार है कि इस प्रकार की तुलना करना युक्तिसंगत नहीं है। उसका विचार है कि 'स्वाभाविक इच्छा' और 'विवेकपूर्ण इच्छा' का जो भेद आदर्शवादियों ने बतलाया है वह भी निर्मूल तथा काल्पनिक है। मैकईवर के 'इच्छा' संबंधी विचार भी निराधार है। ऊपर स्वाभाविक इच्छा तथा विवेकपूर्ण इच्छा की आलोचना में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आदर्शवादियों का यह मत न्यायसंगत है, आदर्शवादियों ने राज्य को सावयव-संस्थान माना है। वास्तव में

राजनीतिक समाज एक सावयव संस्थान है। प्रत्येक संवास, समुदाय तथा स
संगठित रूप एक में सावयव-संस्थान का प्रतीक है। इनका बहुमत ही सामान्य
अर्थात् सामूहिक इच्छा है। इस सामान्य इच्छा की अवहेलना नहीं की जा सक
सामान्य इच्छा की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम धर्म है।
समाज की नैतिक व्यवस्था है। वास्तव में राज्य एक जीवित अवयवी शरी

आदर्शवाद का वास्तविक स्वरूप—इसमें सन्देह नहीं कि जर्मन आदश
और अंग्रेजी आदर्शवाद में बड़ा भेद है। जर्मन आदर्शवाद को हम उग्र आदर्श
और अंग्रेजी आदर्शवाद को संयत आदर्शवाद कह सकते हैं। आधुनिक काल के
शास्त्रवेत्ता उग्र आदर्शवाद के विरुद्ध हैं, उनका मत है कि उग्र आदर्शवाद में
को दैवी रूप दिया गया है। मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामूहिक अस्तित्व को
ही के लिए बतलाया है। राज्य के हित को बहुत महत्व दिया गया है और
के लिए बलिदान होना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य बतलाया गया है। अन्तर्राष्
विषयों में भी राज्य के व्यक्तित्व को ही अधिक महत्व दिया है। राज्य के व्य
गत हित के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधानों की अवहेलना की जा सकती है। र
की सर्वोच्चसत्ता को स्वेच्छाचारी माना है। इन आदर्शवादियों ने एक सत्ता
राज्य को सर्वश्रेष्ठ समझा है। इन सब बातों के साथ-साथ राष्ट्रीय राज्य
आदर्श राज्य माना है। आधुनिक काल की राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति
देखते हुए यह सिद्धांत व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता है। जर्मन आदर्शवादि
व्यक्ति को राज्य के ध्येय की पूर्ति का साधन माना है। यह बात अनुचित
अव्यावहारिक है। अंग्रेजी आदर्शवाद वास्तव में व्यावहारिक और युक्तिस
प्रतीत होता है। अंग्रेजी आदर्शवादी सिद्धांत में मनुष्यों की व्यक्तिगत तथा स
हिक उन्नति का साधन राज्य को बतलाया गया है। राज्य का यह कर्तव्य बतल
गया है कि वह मनुष्यों की व्यक्तिगत बौद्धिक, नैतिक तथा भौतिक प्रगति
सहायता दे। जो बाधाएँ मनुष्य की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति में बा
हों उनका निरोध करे। मनुष्यों को स्वतंत्रतापूर्वक अपने-अपने कार्य करने
इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य मनुष्यों को दुष्कर्म करने की आज्ञा
है। ऐसे कार्यों को रोकना राज्य का परम कर्तव्य है। केवल रोकना ही
कर्तव्य नहीं है बल्कि ऐसे कार्य करनेवालों को समुचित दंड देना भी राज्य
परम कर्तव्य है। दंड व्यवस्था भी एक विशेष प्रकार की गयी है। दंड ऐसा
कि जिससे अन्य लोगों को शिक्षा मिले और वैसा अपराध करने का साहस
करें, और दंड संशोधनात्मक भी होना चाहिए। अपराधी को सुधारना भी र

की है कि वह समाज में एक सुयोग्य पुरुष बनकर पुनः प्रवेश कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में राज्य को बहुत सी अन्तर्राष्ट्रीय बातों पर ध्यान रखते हुए राज्य कार्यों का संचालन करना आवश्यक बतलाया है। राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करना और अन्तर्राष्ट्रीय विधानों को मानना भी आवश्यक समझा है। अतः ग्रीन आदि अंग्रेज आदर्शवादियों का सिद्धांत अधिक श्रेष्ठ तथा व्यावहारिक है। यह कोरा काल्पनिक आदर्श नहीं है। आधुनिक पाश्चात्य तथा अमेरिका के राज्य शास्त्र-वेत्ताओं ने इसी आदर्शवाद का समर्थन किया है।

विशेष अध्ययन के लिए देखिए—

टी० एच० ग्रीन—*लैकचर्स आन दी प्रिंसिपल्स आफ पौलीटिकल आब्लिगेशन*
एम० पी० फॉलेट—*न्यू स्टेट*
जे० ड्यूई—*जर्मन फिलॉसॉफर्स ऐण्ड पौलिटिक्स*
एफ० एच० ब्रैडले—*ऐथिकल स्टडीज*
बी० बोसांके—*फिलासाफिकल थ्योरी आफ दी स्टेट*
ई० बारकर—*पौलीटिकल थॉट इन इंगलैंड फ्रॉम स्पेन्सर टु टुडे*
जे० डब्ल्यू गार्नर—*पौलीटिकल साइन्स ऐण्ड गवर्नमेण्ट*
आर० एम० मैकईवर—*माडर्न स्टेट*
सी० ई० एम० जोड—*माडर्न पौलीटिकल थ्योरी*
सर हेनरी जोन्स—*आइडीयलिज्म एज ए प्रैक्टिकल क्रीड*

अध्याय १३

उपयोगितावाद

सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में एक नवीन सिद्धांत का संस्थापन हुआ। सन् १६७२ में रिचार्ड कम्बरलैंड (Richard Cumberland) ने एक नवीन ग्रंथ प्रकाशित किया। उसमें उसने उपयोगितावाद सिद्धांत पर अपने आरम्भिक विचार प्रकट किए। ये विचार इतने उन्नत तथा परिपक्व न थे और न विशेष रूप से इतने संगठित थे कि उन्हें सिद्धांत के नाम से संबोधित किया जाता। फ्रांसिस हचिसन (Francis Hutchison) पर इन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने इन विचारों को अधिक उन्नत किया और सर्वप्रथम इस सिद्धांत को सूत्रबद्ध किया। इस उपयोगितावाद सिद्धांत को हचिसन ने "अधिकतम् लोगों का अधिकतम् हित" नाम से संबोधित किया। उसने इस सूत्र का प्रयोग करके दार्शनिक संसार में हलचल मचा दी। उस समय के दार्शनिकों तथा राजशास्त्रवेत्ताओं पर इस सूत्र का बड़ा प्रभाव पड़ा। इंगलैंड के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता तथा दार्शनिक जेरमी बेन्थम (Jeremy Bentham) ने वास्तव में इस सूत्र को एक सिद्धांत का रूप दिया। बेन्थम के विचारों पर प्रीस्टले (Priestley) के लेखों का बड़ा प्रभाव पड़ा। प्रीस्टले के लेखों के आधार पर बेन्थम ने वास्तव में अपने उपयोगितावाद सिद्धांत को उन्नत किया। बेन्थम से पूर्व रिचार्ड कम्बरलैंड, फ्रांसिस हचिसन, प्रीस्टले आदि दार्शनिकों ने उपयोगितावाद सिद्धांत पर अपने विचार प्रकट किये थे परन्तु उन लोगों की व्याख्या इतनी पूर्ण न थी कि उनमें से सब अथवा किसी एक को उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रवर्त्तक कहा जा सके। उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रवर्तक कहलाने का श्रेय केवल बेन्थम को ही है। क्योंकि उसने उपयोगितावाद को वास्तव में सिद्धांत के रूप में संसार के सामने रखा है। बेन्थम ने उपयोगितावाद सिद्धांत की परिभाषा हमारे सामने रखी। उसकी पूर्ण रूप से व्याख्या की और उस सिद्धांत का उस समय की राजनीतिक स्थिति में प्रयोग किया।

उपयोगितावाद सिद्धांत के मतानुयायियों का विचार है कि मनुष्य स्वभाव

से ही सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य केवल एक ही भावना से संचालित होते हैं। वह भावना है सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति। अतः जब मनुष्य कोई कार्य करता है तो उसमें केवल यही भावना रहती है कि कम से कम दुःख और अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति हो। यही भावना मनुष्यों को समाज के रूप में संगठित किये हुए है। इसी भावना को लिए हुए मनुष्य एक दूसरे से अपना संबंध स्थापित रखते हैं। समाज में मनुष्यों का व्यक्तिगत संबंध इसी भावना पर निर्भर है। राज्य की स्थापना भी इसी आधार पर हुई है। उपयोगितावादियों का मत है कि राज्य के विधानों का निर्माण भी इसीलिए किया जाता है कि लोगों को सुख की प्राप्ति हो। "अधिकतम् लोगों का अधिकतम् सुख" सूत्र को ही उपयोगितावादी राज्य का आधार मानते हैं। उनका मत है कि इस सिद्धांत के अनुसार राज्य मनुष्यमात्र के लिए एक अत्यंत आवश्यक संस्था है। राज्य द्वारा ही लोकहित संभव है, अन्यथा नहीं।

अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति ने इंगलैंड के लोगों की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा में बड़ा परिवर्तन कर दिया। औद्योगिक कर्मशालाओं (Factories) के स्थापित हो जाने से कृषि तथा पशुपालन का कार्य छोड़कर बहुत से लोगों ने कर्मशालाओं में जीविकोपार्जन के लिए कार्य करना आरम्भ कर दिया क्योंकि यंत्रकलों के आविष्कार के कारण भूमिपतियों ने यंत्रों से कृषि का कार्य करना आरम्भ कर दिया। बीस-बीस से लेकर पचास-पचास तक लोगों का कार्य एक कल से लिया जा सकता था, परिणाम यह हुआ कि बहुत से लोगों का जीविकोपार्जन का साधन जाता रहा और उन्होंने कर्मशालाओं में कार्य करना आरम्भ कर दिया। कर्मशालाओं के स्वामी इन श्रमिकों से अधिक से अधिक कार्य लेते थे और इन्हें कम वेतन देते थे। इनको अवकाश भी कम देते थे। श्रमिकों की ऐसी शोचनीय दशा देखकर लोगों ने इंगलैंड में आन्दोलन किया और श्रमिकों के लिए उपयोगी विधान निर्माण कराने के लिए प्रयत्न किया गया। इस प्रयत्न में उपयोगितावादियों ने विशेष रूप से भाग लिया और वे इस कार्य में सफल भी हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से सुधार आन्दोलन की प्रगति हुई। राजनीतिक क्षेत्र में 'यद्भाव्यंनीति' (Laissez Faire) की ओर राजशास्त्रवेत्ताओं का ध्यान आकृष्ट हुआ। पूंजीपति अपने लाभ के लिए विधान निर्माण कराने का प्रयत्न करने लगे, दूसरी ओर व्यक्तिवादियों ने यह आन्दोलन आरम्भ किया कि राज्य को उद्योग व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसे समय में बेन्थम और उसके अनुयायियों ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाया और अपने उपयोगितावाद सिद्धांत का स्पष्टीकरण

किया और इस सिद्धांत को शासन प्रणाली में प्रयोग करने पर जोर दिया। बेन्थम ने इस प्रकार अपने सिद्धांत की व्याख्या की 'उपयोगिता ही लोकहित है'। मनुष्य के सुख को निर्धारित करने वाली यही वस्तु है और इसी के द्वारा मनुष्य को सुख प्राप्त हो सकता है। उपयोगितावादियों का मत है कि उपयोगिता ही मनुष्य के जीवन का मूल सिद्धांत है, मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यों का आधार उपयोगिता ही है। इसो सिद्धांत के द्वारा मनुष्य का हित हो सकता है। मनुष्य का उद्देश्य सुख प्राप्त करना है। प्रत्येक व्यक्ति सदैव सुख प्राप्त करने की भावना रखता है। इसी उद्देश्य से उसके संपूर्ण कार्यों का संचालन होता है। सुख की प्राप्ति समाज में रहकर ही संभव हो सकती है। समाज से पृथक् होकर सुख प्राप्त करना असंभव है। अतः मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन अनिवार्य तथा आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक सभ्य समाज राजनीतिक रूप से संगठित है इसलिए 'राजनीतिक समाज' अथवा 'राज्य' में मनुष्य के सुख की प्राप्ति राज्य के विधानों पर निर्भर है। राज्य का आधार नैतिक सिद्धांत है। बिना नैतिक सिद्धांत के राजनीतिक सिद्धांत अपूर्ण है। इस प्रकार उपयोगितावादी आचार-शास्त्र को राज्य की शासन प्रणाली का आधार मानते हैं।

जैरमी बेन्थम (१७४८-१८३२)—जिस प्रकार अरस्तू आधुनिक राजनीतिक विज्ञान का पिता कहा जाता है उसी प्रकार बेन्थम को उपयोगितावाद सिद्धांत का पिता कहा जाता है। बेन्थम से पूर्व कुछ अंग्रेज दार्शनिकों ने उपयोगितावाद पर अपने विचार प्रकट किये थे परन्तु उनमें से किसी ने उपयोगितावाद को सिद्धान्त का रूप नहीं दिया। बेन्थम ने उपयोगितावाद को एक सिद्धांत का रूप दिया और उस सिद्धांत को तत्कालीन क्षेत्र में प्रयोग किया और वह ऐसा करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ। बेन्थन बाल्यावस्था से ही वड़ा कुशाग्र बुद्धि था। उसके पिता ने उसे शिक्षा प्राप्त करने के लिए आक्सफोर्ड (Oxford) भेजा परन्तु वहाँ की शिक्षा से वह सतुष्ट न हुआ। इसके पश्चात् वह लंदन के लिन्कन्स इन (Lincoln's Inn) विद्यालय में विधिसंबंधी शिक्षा प्राप्त करने के लिये गया। वहाँ उसने बड़ी रुचिपूर्वक विधि संबंधी शास्त्रों का अध्ययन किया और इस विषय में निपुणता प्राप्त की। उसने ब्लैकस्टन (Blackstone) का लिखा हुआ एक ग्रंथ पढ़ा जिसमें उसने ब्रिटिश विधि तथा विधानों की बड़ी प्रशंसा की थी। इस ग्रंथ का उस पर उलटा प्रभाव पड़ा। उसका यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश विधान वास्तव में प्राचीन काल के लोगों के रीति रिवाजों पर निर्भर हैं। उसका विश्वास था

कि वे विधि-विधान इंगलैंड की तत्कालीन राजनीतिक दशा के लिए अपर्याप्त तथा अपूर्ण हैं और उनमें क्रांतिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इससे पूर्व वह प्रीस्टले की 'एसे आन गवर्नमेंट' (Essay on Government) का अध्ययन कर चुका था। उसमें उसने एक स्थान पर यह पढ़ा कि 'राज्य का वास्तविक ध्येय अधिकतम् लोगों के अधिकतम् सुख का अभिवर्द्धन करना है, यदि राज्य इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए शासन करता है तो राज्य श्रेष्ठ है अन्यथा नहीं।' प्रीस्टले के इन वाक्यों का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने इस सूत्र का पूर्ण रूप से विवेचना करके इसके आधार पर उपयोगितावाद सिद्धांत की स्थापना की। वैज्ञानिक दृष्टि से इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उसने कई बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे। इस प्रकार उसने उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रचार किया। सन् १७७६ में उसने 'फ्रेगमेंट आन गवर्नमेंट' (Fragment on Government) नामक एक ग्रंथ लिखा। उसमें उसने इंगलैंड की तत्कालीन शासन-पद्धति तथा विधि-विधानों का खंडन किया और उनमें समूल परिवर्तन करने का आग्रह किया। उसने इसी उद्देश्य को सामने रखकर अन्य अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें निम्नलिखित तीन ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं—

(१) इन्ट्रोडक्शन टु दी प्रिंसिपल्स आफ मॉरल्स ऐण्ड लैजिस्लेशन (Introduction to the Principles of Morals and Legislation)

(२) डिस्कोर्स आन सिविल ऐण्ड पीनल लेजिस्लेशन (Discourse on Civil and Penal Legislation) और

(३) ए थ्योरी आफ पनिश्मेंट्स ऐण्ड रिवार्ड्स (A Theory of Punishments and Rewards)

बेन्थम ने इन ग्रंथों में इंगलैंड की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा सुधारने के लिए बहुत सी योजनाओं का आयोजन किया है। उसने केवल इंगलैंड के लिए ही विधि तथा विधानों का निर्माण नहीं किया। उसने रूस, फ्रांस, मैक्सिको, चिली आदि अन्य देशों के लिए भी विधान-निर्माण का कार्य किया। उसका यह विचार था कि उसके सिद्धांत केवल इंगलैंड के लिए ही नहीं हैं बल्कि इनका प्रयोग बिना भौगोलिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का विचार किये संसार के प्रत्येक राज्य में किया जा सकता है। अतः उसने संसार के अनेक देशों की विधि-स्मृतियाँ तैयार कीं और इन्हीं स्मृतियों के आधार पर उन देशों ने अपने विधान-निर्माण का कार्य किया। उसका मत था कि किसी राज्य के लिए विधान-निर्माण करने के लिए उस देश के प्राचीन रीति-रिवाजों पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए बल्कि उस देश की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखकर

विधाननिर्माण का कार्य करना चाहिए। अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड निवासियों ने बेन्थम के सिद्धांत पर कुछ ध्यान न दिया क्योंकि फ्रांस की राज्य-क्रांति का इंगलैंड पर विपरीत प्रभाव पड़ा। फ्रास में क्रांतिकारियों ने अपने राजा-रानी को गिलोटीन (कुल्हाड़ी द्वारा गला कटवाने की प्रथा) की भेंट चढ़ा दिया और अनेक हत्याएँ कीं। परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड में राजनीतिज्ञों ने सब प्रकार के राजनीतिक परिवर्तनों का विरोध किया। क्योंकि उन्हें इस बात का भय था कि कहीं इंगलैंड में भी ऐसा ही भयंकर परिणाम न हो। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में वहाँ के लोग बेन्थम के सिद्धांतों की ओर आकर्षित हुए और जिन जिन सुधारों की बेन्थम ने प्रस्तावना की थी वे सब सुधार इंगलैंड में किये गये।

बेन्थम का उपयोगितावाद सिद्धांत (Utilitarianism)—बेन्थम का मत है कि प्रत्येक मनुष्य दुःख, सुख रूपी दो सर्व प्रधान स्वामियों के अधीन है, ये दोनों स्वामी प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह निर्णय करते हैं कि अमुक कार्य अच्छा है और अमुक बुरा, अर्थात् मनुष्य के लिए कार्य की उपयोगिता ही यह निर्धारित करती है कि कौन सा कार्य उचित है और कौन सा अनुचित। कोई कार्य जितना अधिक सुख देगा उतना ही अधिक अच्छा समझा जायगा और जितना अधिक दुःखदायी होगा उतना ही अधिक बुरा। इस प्रकार प्रत्येक कार्य की उपयोगिता पर उस कार्य की अच्छाई-बुराई निर्भर है। उपयोगिता वह गुण है जो मनुष्य को लाभ, प्रसन्नता, सुख और शांति देता है और उसके व्यक्तिगत तथा सामूहिक सर्व प्रकार के हितों का कारण बनता है। अथवा यों कह सकते हैं कि उपयोगिता ऊपर वर्णन किये हुए गुणों के विपरीत जो अवगुण हैं उनका निरोध करती है। बेन्थम का कथन है कि 'सुख' का अर्थ 'आनन्द' है। सम्पूर्ण आनन्दों में समान गुण हैं परन्तु उन गुणों के प्राबल्य तथा कार्यकाल में अन्तर है। कोई आनन्द अधिक प्रबल होता है और कोई कम। इसी प्रकार कोई आनन्द अधिक काल तक रहता है और कोई क्षणिक होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि सुख का अर्थ है दुःख की अनुपस्थिति अथवा दुःख पर सुख का प्राबल्य। इस प्रकार उपयोगितावाद सिद्धांत की व्याख्या करते हुए बेन्थम ने सुख दुःख की विवेचना की है और अन्त में यह सिद्ध किया है कि आनन्द के स्रोत चार हैं—भौतिक, धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक। इन चारों स्रोतों द्वारा मनुष्य को जो सुख प्राप्त होता है उसका माप भी उपयोगिता ही है। इन चारों स्रोतों द्वारा मनुष्य को सुख तो प्राप्त होता है, परन्तु बेन्थम ने इसमें मनुष्य की चित्तवृत्ति के लिए

कोई स्थान नहीं रखा है। सुख दुःख अधिकतर मनुष्य की चित्त-वृत्ति
निर्भर है। जो मनुष्य संतोषी है वह केवल थोड़े से धन की प्राप्ति से ही
सुखी हो सकता है और पूर्ण आनन्द का अनुभव कर सकता है। इसके वि
रीत एक अत्यंन्त लोभी और कृपण बहुत सा धन होते हुए भी दुखी रहता
और उसे अधिकाधिक धन प्राप्त करने की लालसा बनी रहती है। वेन्थम
आत्मा के प्रभाव को उपयोगितावाद में कोई स्थान नहीं दिया है। सुख,
तो वास्तव में आत्मा (मन) पर निर्भर है। गीता में श्रीकृष्ण जी ने
है कि "प्रीति और द्वेष को त्याग कर जिसने अपनी इंद्रियों को अपने
में कर लिया है उसने विषय का सेवन किया तो भी वह आनन्द ही प
है। चित्त के प्रसन्न होने से सब दुखों का नाश हो जाता है और प्रसन्न
वालों की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। जिसका मन शांत नहीं र
उसे आत्मज्ञान की बुद्धि नहीं रहती, जो आत्मा का ध्यान (आत्मचिन्त
नहीं करता उसे शांति प्राप्त नहीं होती। जिसे शांति नहीं मिलती
सुख किस प्रकार मिल सकता है?"† वेन्थम के उपयोगितावाद में सुख
परिणाम की ओर ध्यान दिया गया है उसके गुण की ओर नहीं। व
ने उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रयोग विधान-निर्माण कार्य और राजनी
क्षेत्र में किया और वह उसमें पूर्ण रूप से सफल हुआ। उसका कथन है
विधान का निर्माण इस उद्देश्य से होना चाहिए कि मनुष्य-समाज में प्र
व्यक्ति को उस विधान से लाभ पहुँचे और सब को समान सुख पहुँचाने
प्रयत्न किया जाय। राजनीतिक संस्था का संगठन इस प्रकार किया
कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति (जो वास्तव में इस योग्य है) को शासन प्र
में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो। अर्थात् उपयोगितावाद सिद्धांत के अनु
जनतंत्र शासन सर्वश्रेष्ठ है। जनतंत्र शासन पद्धति ही एक ऐसी पद्धति
जिसमें जनसाधारण को शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर प्राप्त

---

† राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥
—गीता, अध्याय २।

सकता है। वास्तव में उपयोगितावाद सिद्धांत व्यक्तिवाद का पक्षपाती है। बेन्थम ने इस सिद्धांत को व्यक्तिवाद के दोष से बचाने के लिए इस सिद्धांत का नाम 'अधिकतम् लोगों का अधिकतम् सुख" रखा और अब उपयोगितावाद का यही अर्थ समझा जाता है।

बेन्थम के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति—बेन्थम के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति किसी प्रकार के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार नहीं हुई है। उसका कथन है कि उपयोगिता ही के कारण मनुष्य राजनीतिक समाज के रूप में संगठित हुआ है। राज्य स्थापित करने का ध्येय यह है कि मनुष्य को सुख पहुँचे। राज्य मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक हितों की रक्षा करता है इसलिए मनुष्य के लिए उपयोगी है। राज्य में रहकर मनुष्य को राज्य द्वारा निर्माण किये हुए विधानों का पालन करना पड़ता है। इससे मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। स्वतंत्रता में बाधक होते हुए भी राजनीतिक संगठन में रहना अधिक श्रेष्ठ है। अराजकता की दशा अत्यंत भयंकर और दुखदायी है अतः अराजकता की दशा की अपेक्षा राजनीतिक दशा में संगठित रहना अधिक न्यायसंगत तथा उचित है। क्योंकि राज्य की स्थापना मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामाजिक हितों की रक्षा के लिए उपयोगी होने के कारण हुई है, इसलिए उपयोगिता ही बेन्थम के मतानुसार राज्य की स्थापना का कारण है। बिना उपयोगिता के राजनीतिक समाज की कल्पना करना असभव है।

बेन्थम के मतानुसार अधिकार—बेन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत के अनुसार नैसर्गिक अधिकार कोई वस्तु नहीं है। उसका कथन है कि जिस प्रकार नैसर्गिक अधिकार कोई वस्तु नहीं है उसी प्रकार नैसर्गिक विधान भी कोई वस्तु नहीं है। उसके मतानुसार राज्य की सर्वोच्च सत्ता विधान निर्माण करती है, विधानों का निर्माण लोक हित के लिए होता है। विधानों द्वारा अधिकतम् लोगों का हित होता है। अधिकतम् लोगों के हितों की उपयोगिता ही विधानों का वास्तविक ध्येय है। जितना अधिक ये विधान इस ध्येय को पूर्ण करने में सफल होंगे उतने ही अधिक श्रेष्ठ ये समझे जायँगे। मनुष्य के अधिकारों की उत्पत्ति इन्ही विधानों द्वारा होती है। बिना विधानों के अधिकार का अस्तित्व संभव नहीं है। स्वतन्त्रता, समानता तथा अन्य सब प्रकार के मानव अधिकारों का आदिस्रोत राज्य के विधान है। ये सब अधिकार विधानों पर ही निर्भर हैं और ये ही विधान मनुष्य को सब अधिकारों को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। विधानों का वास्त-

विक ध्येय लोकहित की रक्षा करना, समानता स्थापित रखना और 'अधिक-तम् लोगों को अधिकतम् सुख' प्राप्त कराना है। विधान निर्माण राज्य की सर्वोच्च सत्ता द्वारा होता है। वेन्थम के मतानुसार विधान सर्वोच्च सत्ता की इच्छा का प्रतीक है। सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा ही विधान है। सर्वोच्च सत्ता विधान का निर्माण करती है। वेन्थम का यह विचार हाब्ज के विचारों से बहुत कुछ समानता रखता है। हाब्ज भी राज्य की सर्वोच्च सत्ता ही को विधान का निर्माता और आदिस्रोत समझता है। भेद केवल यही है कि वेन्थम उपयोगिता को विधान का ध्येय समझता है अतः लोकहित के लिए उपयोगी होना ही विधानों का वास्तविक ध्येय है।

वेन्थम के मतानुसार सर्वोच्च सत्ता—वेन्थम के मतानुसार सर्वोच्च सत्ता का अधिकार अपरिमित तो नहीं है परन्तु अनिश्चित अवश्य है। जब तक सर्वोच्च सत्ता का अधिकार किसी प्रत्यक्ष अनुबन्ध द्वारा सीमित न किया जाय तब तक वह पूर्ण सत्ता का अधिकारी है। राजा सर्व-सर्वा है। यदि राजा को क्रांति का भय है तो वह अपने कार्यों को सीमित कर सकता है परन्तु उसके कार्यों का ध्येय लोकहित होता है। लोकहित के लिए वह विधान निर्माण करता है। वेन्थम ने अधिकार-विधान-लिपियों (Bill of Rights) का निरोध करते हुए सर्वोच्च सत्ता को पूर्ण अधिकार सौंपा है। सर्वोच्च सत्ता एक-सत्तात्मक भी हो सकती है और लोक-सत्तात्मक भी। यदि जनतंत्र राज्य है तो सर्वोच्च सत्ता जनता के चुने हुए लोगों के हाथ में रह सकती है। जनतंत्र में भी जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर है वे पूर्ण रूप से राज्य के संचालक तथा सर्वोच्च सत्ताधारी हैं। वेन्थम का मत है कि अलिखित विधान द्वारा शासन नहीं करना चाहिए। वह लिखित विधान के पक्ष में है। उसका कथन है कि शासन लिखित विधान द्वारा होना चाहिए। लिखित विधान द्वारा शासन करने से जनता को अपने अधिकार और कर्तव्यों का पूर्ण रूप से बोध होता है। प्रत्येक अधिकार के साथ तत्संबंधी कर्त्तव्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों का उपभोग करते हुए तत्संबंधी कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। अधिकारों और कर्तव्यों का आधार लोकहित तथा उपयोगिता है। यदि अधिकतम् लोगों के अधिकतम् हित के आधार पर अधिकारों का उपभोग और कर्त्तव्यों का पालन होता है तो विधान ठीक है, यदि विधानों द्वारा इन ध्येयों की पूर्ति नहीं होती तो विधान दोषपूर्ण है। विधान-निर्माण कार्य में उपयोगिता का ध्यान रखना पड़ता है। मनुष्य के व्यक्तिगत अधिकारों का स्रोत सर्वोच्च सत्ता है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि बेन्थम नैसर्गिक अधिकारों को स्वीकार नहीं करता है। उसका कथन है कि वास्तव में नैसर्गिक अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं है। ये केवल कल्पना मात्र हैं। वह केवल दो प्रकार के अधिकारों को मानता है—एक नैतिक अधिकार और दूसरे वैधानिक अधिकार। इनके अतिरिक्त वह और किसी प्रकार के अधिकारों को नहीं मानता। इसी प्रकार उसने तीन प्रकार के कर्त्तव्यों के पालन करने का आदेश किया है—एक नैतिक दूसरे राजनैतिक और तीसरे धार्मिक। इन कर्त्तव्यों के अतिरिक्त मनुष्य को और किसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। इन अधिकारों के संभोग और कर्त्तव्यों के पालन करने में उपयोगिता का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि नैतिक, राजनीतिक, तथा धार्मिक कर्त्तव्यों और नैतिक तथा वैधानिक अधिकारों का आधार उपयोगिता ही है।

बेन्थम का विचार है कि सर्वोच्च सत्ता का आज्ञा-पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का वैधानिक कर्त्तव्य है। यदि कोई व्यक्ति सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा का उल्लंघन करता है तो वह विधान की अवहेलना करता है और दंड का भागी है। किसी व्यक्ति को सर्वोच्च सत्ता अथवा राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए और न उसका विरोध ही करना चाहिए। राजा का विरोध करने का किसी को भी वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं है परन्तु उपयोगिता के आधार पर यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि राजा की आज्ञा पालन करने की अपेक्षा उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने में हित है तो उसे राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने का नैतिक अधिकार और उसका नैतिक कर्त्तव्य है। यहाँ भी बेन्थम ने उपयोगिता पर अधिक जोर दिया है अर्थात् उसने यह स्पष्ट कहा है कि इन दोनों बातों पर भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि राजा की आज्ञा पालन करने में अधिक अहित है अथवा उसका विरोध करने में। यदि राजा का विरोध करने की अपेक्षा उसकी आज्ञा पालन करने में अधिक अहित है तो लोगों का यह नैतिक अधिकार और नैतिक कर्त्तव्य है कि उसका विरोध किया जाय। इस प्रकार व्यक्ति राजा के विरुद्ध क्रांति कर सकते हैं परन्तु क्रांति का आधार भी उपयोगिता ही है। बेन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत में राजा को बड़ा उच्च स्थान दिया गया है। प्रत्येक दशा में उसकी आज्ञा पालन करने का आदेश किया गया है परन्तु इस सिद्धांत द्वारा राजा के विरुद्ध क्रांति करने की भी आज्ञा दी गयी है।

बेन्थम और शासन सुधार—बेन्थम इंगलैंड की तत्कालीन शासन-

प्रणाली से असंतुष्ट था। उसका विचार था कि इंगलैंड की शासन प्रणाली दोश-पूर्ण है और उसमें सुधार करने की आवश्यकता है। उसने इंगलैंड की राजतंत्र शासन प्रणाली के विरुद्ध अपने विचार प्रगट किये और वहाँ के अभिजात-भवन (House of Lords) के प्रति भी अपना असंतोष प्रगट किया। बेन्थम को इन दोनों प्रकार की संस्थाओं में विश्वास न था। उसने इंडलैंड की शासन प्रणाली में कुछ सुधार करने की योजना की प्रस्थापना की। उसने यह अभिस्तुति (recommendation) की कि पार्लिमेंट का अधिवेशन वार्षिक होना चाहिए। उस समय इंगलैंड में सब वयस्क स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्राप्त न था अतः उसने यह भी संस्तुति की कि व्यापक वयस्क मताधिकार सबको प्राप्त होना चाहिए और गुप्त मतपत्र द्वारा मतदान प्रणाली प्रचलित करनी चाहिए। बेन्थम के जीवन काल में तो ये सुधार न हो सके परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में ये सब सुधार कार्यरूप में परिणत किये गये। वह जनतंत्र अथवा गणराज्य के पक्ष में था। उसका मत है कि जनतंत्र अथवा गणराज्य सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है। इस शासन प्रणाली में सर्वोच्च सत्ता जनता के हाथ में रहती है। इस शासन प्रणाली द्वारा लोकहित संबंधी कार्य अधिक सफलतापूर्वक हो सकते हैं। जहाँ सर्वोच्च सत्ता जनता के हाथ में होती है वहाँ राज्य में सब प्रकार की उन्नति हो सकती है। ऐसे राज्य में लोग अधिक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं और लोगों को व्यक्तिगत अथवा सामाजिक उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता है। एक अच्छे जनतंत्र अथवा गणराज्य ही में लोग शारीरिक, बौद्धिक, और आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। बेन्थम का मत है कि सरकार को व्यापार संबंधी कार्यों में 'यद्भाव्यं नीति' (Laissez faire) का अनुसरण करना चाहिए। उसने यद्भाव्यं नीति का समर्थन करते हुए कहा है कि सरकार को उन्मुक्त व्यापार (Free Trade) नीति अपनानी चाहिए और राज्य को जनता के व्यक्तिगत व्यापार में और व्यापार संघों के कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेत नहीं करना चाहिए।

बेन्थम ने केवल राजनीतिक सुधार ही करने का प्रयत्न नहीं किया, उसने इंगलैंड के लिए एक विशाल विधि-संग्रह (Code) प्रकाशित किया। उसने विधि, विधान संबंधी अनेक ग्रंथ रचे। उसने अन्तर्राष्ट्रीय-विधानस्मृति बनायी, संविधान-शास्त्र का निर्माण किया, अर्थ-विधान, व्यवहार-विधान (दीवानी कानून) दंड-विधान, न्याय-शास्त्र आदि अनेक ग्रंथ लिखे। वह उस समय में इंगलैंड में प्रचलित दंड-विधान से बहुत असंतुष्ट था, उसने

ऊपर बतलाया जा चुका है कि बेन्थम नैसर्गिक अधिकारों को स्वीकार नहीं करता है। उसका कथन है कि वास्तव में नैसर्गिक अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं है। ये केवल कल्पना मात्र हैं। वह केवल दो प्रकार के अधिकारों को मानता है—एक नैतिक अधिकार और दूसरे वैधानिक अधिकार। इनके अतिरिक्त वह और किसी प्रकार के अधिकारों को नहीं मानता। इसी प्रकार उसने तीन प्रकार के कर्त्तव्यों के पालन करने का आदेश किया है—एक नैतिक दूसरे राजनैतिक और तीसरे धार्मिक। इन कर्त्तव्यों के अतिरिक्त मनुष्य को और किसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए वाध्य नहीं किया जा सकता है। इन अधिकारों के संभोग और कर्त्तव्यों के पालन करने में उपयोगिता का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि नैतिक, राजनीतिक, तथा धार्मिक कर्त्तव्यों और नैतिक तथा वैधानिक अधिकारों का आधार उपयोगिता ही है।

बेन्थम का विचार है कि सर्वोच्च सत्ता का आज्ञा-पालन करना प्रत्येक व्यत्ति का वैधानिक कर्त्तव्य है। यदि कोई व्यक्ति सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा का उल्लंघन करता है तो वह विधान की अवहेलना करता है और दंड का भागी है। किसी व्यक्ति को सर्वोच्च सत्ता अथवा राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए और न उसका विरोध ही करना चाहिए। राजा का विरोध करने का किसी को भी वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं है परन्तु उपयोगिता के आधार पर यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि राजा की आज्ञा पालन करने की अपेक्षा उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने में हित है तो उसे राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने का नैतिक अधिकार और उसका नैतिक कर्त्तव्य है। यहाँ भी बेन्थम ने उपयोगिता पर अधिक जोर दिया है अर्थात् उसने यह स्पष्ट कहा है कि इन दोनों वातों पर भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि राजा की आज्ञा पालन करने में अधिक अहित है अथवा उसका विरोध करने में। यदि राजा का विरोध करने की अपेक्षा उसकी आज्ञा पालन करने में अधिक अहित है तो लोगों का यह नैतिक अधिकार और नैतिक कर्त्तव्य है कि उसका विरोध किया जाय। इस प्रकार व्यक्ति राजा के विरुद्ध क्रांति कर सकते हैं परन्तु क्रांति का आधार भी उपयोगिता ही है। बेन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत में राजा को बड़ा उच्च स्थान दिया गया है। प्रत्येक दशा में उसकी आज्ञा पालन करने का आदेश किया गया है परन्तु इस सिद्धांत द्वारा राजा के विरुद्ध क्रांति करने की भी आज्ञा दी गयी है।

बेन्थम और शासन सुधार—बेन्थम इंगलैंड की तत्कालीन शासन-

प्रणाली से असंतुष्ट था। उसका विचार था कि इंगलैंड की शासन प्रणाली दोश-पूर्ण है और उसमें सुधार करने की आवश्यकता है। उसने इंगलैंड की राजतंत्र शासन प्रणाली के विरुद्ध अपने विचार प्रगट किये और वहाँ के अभिजात-भवन (House of Lords) के प्रति भी अपना असंतोप प्रगट किया। वेन्थम को इन दोनों प्रकार की संस्थाओं में विश्वास न था। उसने इंडलैंड की शासन प्रणाली में कुछ सुधार करने की योजना की प्रस्थापना की। उसने यह अभिस्तुति (recommendation) की कि पार्लिमेंट का अधिवेशन वार्षिक होना चाहिए। उस समय इंगलैंड में सब वयस्क स्त्री-पुरुपों को मताधिकार प्राप्त न था अतः उसने यह भी संस्तुति की कि व्यापक वयस्क मताधिकार सबको प्राप्त होना चाहिए और गुप्त मतपत्र द्वारा मतदान प्रणाली प्रचलित करनी चाहिए। वेन्थम के जीवन काल में तो ये सुधार न हो सके परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में ये सब सुधार कार्यरूप में परिणत किये गये। वह जनतंत्र अथवा गणराज्य के पक्ष में था। उसका मत है कि जनतंत्र अथवा गणराज्य सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है। इस शासन प्रणाली में सर्वोच्च सत्ता जनता के हाथ में रहती है। इस शासन प्रणाली द्वारा लोकहित संबंधी कार्य अधिक सफलतापूर्वक हो सकते हैं। जहाँ सर्वोच्च सत्ता जनता के हाथ में होती है वहाँ राज्य में सब प्रकार की उन्नति हो सकती है। ऐसे राज्य में लोग अधिक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं और लोगों को व्यक्तिगत अथवा सामाजिक उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता है। एक अच्छे जनतंत्र अथवा गणराज्य ही में लोग शारीरिक, बौद्धिक, और आध्यात्मिक उन्नति कर सकसे हैं। वेन्थम का मत है कि सरकार को व्यापार संबंधी कार्यों में 'यद्भाव्यं नीति' (Laissez faire) का अनुसरण करना चाहिए। उसने यद्भाव्यं नीति का समर्थन करते हुए कहा है कि सरकार को उन्मुक्त व्यापार (Free Trade) नीति अपनानी चाहिए और राज्य को जनता के व्यक्तिगत व्यापार में और व्यापार संघों के कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेत नहीं करना चाहिए।

वेन्थम ने केवल राजनीतिक सुधार ही करने का प्रयत्न नहीं किया, उसने इंगलैंड के लिए एक विशाल विधि-संग्रह (Code) प्रकाशित किया। उसने विधि, विधान संबंधी अनेक ग्रंथ रचे। उसने अन्तर्राष्ट्रीय-विधानस्मृति बनायी, संविधान-शास्त्र का निर्माण किया, अर्थ-विधान, व्यवहार-विधान (दीवानी कानून) दंड-विधान, न्याय-शास्त्र आदि अनेक ग्रंथ लिखे। वह उस समय में इंगलैंड में प्रचलित दंड-विधान से बहुत असंतुष्ट था, उसने

जो दंड-विधान रचा उसमें अपराधियों को सुधारने की बहुत सी नवीन योजनाएँ शासकों के सामने रखीं। उसका अभिप्राय केवल दंड-विधान का निर्माण करना ही नहीं था, उसने अपराधियों के भविष्य जीवन के सुधारने के लिए बड़ी अच्छी योजनाएँ तैयार कीं, जिनके द्वारा अपराधियों को कारागार में जीवनोपार्जन के साधनों की शिक्षा देने और कारागार से बाहर निकलकर श्रेष्ठ लोगों की भाँति जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देने की योजना बनायी। कारागार के सुधार की योजना में उसने एक विशेष प्रकार के कारागार निर्माण कराने का आदेश किया। उसका कथन है कि कारागार एक चक्र के रूप में निर्माण किया जाना चाहिए जिसके मध्य (केन्द्र) में कारागार के अध्यक्ष का गृह तथा कार्यालय होना चाहिए जिससे वह सम्पूर्ण कारागार के निवासियों का सरलतापूर्वक निरीक्षण कर सके और अपने कार्यालय से सब ओर को दृष्टिपात कर सके। उसका मत है कि अपराधियों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि जिसके द्वारा वह कारागार से बाहर जाकर अपराध न करें और सम्मानपूर्वक परिश्रम करके अपना जीवनोपार्जन कर सकें। अतः उन्हें कारागार में भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्यम और व्यवसायों की शिक्षा दी जाय। दंड ऐसा दिया जाय जिससे लोगों को शिक्षा मिले और लोग अपराध करने का साहस न करें। बेन्थम की इस प्रकार की योजनाओं को लोगों ने ग्रहण किया और शनैः शनैः उसकी योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं। जो जो सुधार की योजनाएँ उसने बनायीं वे सब आज कार्य रूप में परिणत दिखायी देती हैं। उसका विचार है कि राज्य के विधि, विधानों का पूर्ण ज्ञान साधारण जनता को होना चाहिए जिससे वे उनका पालन करें और उनका उल्लंघन न करें। वर्तमान समय में जितनी लोकहित संबंधी योजनाएँ शासन प्रणालियों में दिखायी देती हैं उनमें से अधिकतर बेन्थम की ही प्रचलित की हुई हैं। उसका मत है कि मुद्रण यंत्रालयों को प्रकाशन की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। और शासन को उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

जेम्स मिल (James Mill) १७७३-१८३६—जेम्स मिल बेन्थम का अनुयायी और साहचर्यात्मक मनोविज्ञान का ज्ञाता था। उसने उपयोगितावाद सिद्धांत में साहचर्यात्मक मनोविज्ञान का प्रयोग किया और उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रचार किया। उसका कथन है कि बाह्य परिस्थिति और शिक्षा का मानव समाज के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता

है। जन्म के समय मनुष्यों की योग्यता समान होती है परन्तु पालन पोषण, शिक्षा और अन्य परिस्थितियों के कारण उनके जीवन में अत्यंत परिवर्तन और असमानता हो जाती है अतः मनुष्य की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। मनुष्य की रुचि का निरीक्षण करके उसे उसकी चित्तवृत्ति के अनुसार उपयुक्त शिक्षा देकर उसकी अन्तः स्थित तथा प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहिए। उसका मत है कि प्रत्येक कार्य की नैतिक श्रेष्ठता उस कार्य की उपयोगिता पर निर्भर है। जितना अधिक कोई कार्य उपयोगी होगा उतनाही वह श्रेष्ठतम् समझा जायगा। अतः विधि तथा विधानों की अच्छाई उनकी उपयोगिता पर निर्भर है। वही विधि और विधान श्रेष्ठ हैं जिनके द्वारा अधिकतम् लोगों को अधिकतम् सुख की प्राप्ति होती है और यदि उनका प्रभाव इसके विपरीत है तो वे खोटे हैं। इस प्रकार उपयोगिता के आधार पर उसने विधानों की अच्छाई और बुराई को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इसके साथ-साथ मिल का यह भी विश्वास है कि स्वभावतया मनुष्य दुखों से बचने और उनके निवारण तथा सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार अपने ही हित को ध्यान में रखकर प्रत्येक मनुष्य कार्य करता है, और ऐसा करने में वह अन्य पुरुषों के हितों को आघात पहुँचाता है। ऐसी दशा में शासन का यह कर्त्तव्य है कि मनुष्यों को इस प्रकार के अनधिकृत कार्य करने से वञ्चित रखे। इसीलिए शासन को विधि, विधान बनाने की आवश्यकता होती है। इन विधि, विधानों द्वारा शासन मनुष्यों को एक निश्चित सीमा के भीतर अपने कार्यों को सीमित रखने का आदेश करता है, और मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक हितों की रक्षा करता है। इस उद्देश्य के लिए राज्य में सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की आवश्यकता है।

मिल के उपयोगितावाद में राजतंत्र, कुलीनतंत्र अथवा जनतंत्र को कोई विशेष वरीयता (preference) नहीं दी गयी है। उसके सिद्धांत के अनुसार प्रतिनिधिक शासन-पद्धति सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है। उसका विचार है कि इस प्रकार की शासन-प्रणाली में शासन-कर्त्ता पक्षपात तथा स्वार्थ-सिद्धि के कार्य नहीं कर सकते क्योंकि लोगों के प्रतिनिधि उनके कार्यों का निरीक्षण करते रहेंगे और लोकसभाओं द्वारा उचित विधानों का निर्माण करके शासकों के कार्यों पर अवरोध स्थापित करते रहेंगे। मिल का कथन है कि प्रतिनिधि भी अधिक नहीं होने चाहिए और उनका कायकाल भी

अधिक नहीं होना चाहिए जिससे वे स्वेच्छाचारी होकर मनमाना कार्य न करने लगें। यदि प्रजा के प्रतिनिधि न्यून संख्या में होंगे और थोड़े काल के लिए निर्वाचित होंगे तो वे अपने पदों पर योग्यतापूर्वक कार्य करेंगे और उन्हें इस बात का भी ध्यान रहेगा कि यदि वे अच्छा कार्य करेंगे तो उन्हें पुनः निर्वाचन का अवसर प्राप्त होगा। मिल उन लोगों को मताधिकार देने के पक्ष में नहीं है जो लोग दूसरों पर आश्रित हैं अथवा किसी प्रकार से दूसरों के प्रभाव में हैं क्योंकि उसका विचार है कि ऐसे लोग स्वतंत्रता पूर्वक अपने विवेक के अनुसार अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते हैं और इस प्रकार का मत देना व्यर्थ है। अतः स्त्रियों और बच्चों को तथा अन्य ऐसे व्यक्तियों को जो दूसरों पर आश्रित हैं मत प्रदान करने का अधिकार नहीं देना चाहिए। बेन्थम व्यापक वयस्क मताधिकार के पक्ष में है। मिल व्यापक वयस्क मताधिकार का विरोध करता है। वह तो व्यापक पुरुष-मताधिकार के भी विरुद्ध है। उसका विश्वास है कि सब मनुष्यों में मताधिकार का प्रयोग करने की समान योग्यता नहीं है। बहुत से लोग ऐसे हैं जो मताधिकार का उचित प्रयोग नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को मताधिकार से वञ्चित रखना चाहिए अन्यथा उनको मताधिकार देने से लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक संभावना है। मिल मध्यम वर्ग के लोगों को मताधिकार तथा शासनाधिकार देने के पक्ष में है। उसका विचार है कि मध्यम श्रेणी का मानव-समाज ही राष्ट्र का उचित नेतृत्व कर सकता है। मिल ने अपने एक ग्रंथ में लिखा है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय स्मृति संग्रह करने की आवश्यकता है। बेन्थम की भाँति उसने भी इंगलैंड के न्याय संबंधी कार्यों में सुधार करने की इच्छा प्रकट की है। उसका विश्वास था कि इंगलैंड के तत्कालीन विधि तथा विधान दोष-युक्त थे और उनमें सुधार करने की आवश्यकता थी। उसने अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण (अदालत) स्थापित करने के लिए अपना विचार प्रकट किया है।

जॉन आस्टिन (John Austin) १७९०–१८५९—आस्टिन न्याय-शास्त्र मर्मज्ञ था। उसने न्याय-शास्त्र संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उसने न्यायशास्त्र की सहायता से उपयोगितावाद सिद्धांत की पुष्टि की है। जो सिद्धांत बेन्थम ने आचार शास्त्र द्वारा स्थापित किया, उसी को आस्टिन ने न्याय शास्त्र द्वारा सिद्ध किया। बेन्थम ने न्याय संबंधी मूल सिद्धांतों की स्थापना की और आस्टिन ने उन सिद्धांतों को न्याय शास्त्र द्वारा सिद्ध किया और उनकी पुष्टि की। वास्तव में आस्टिन न्याय शास्त्र मर्मज्ञ राज-

शास्त्रवेत्ता था। उसने न्याय को ही राजशास्त्र सिद्धांत का आधार बतलाया है। उसने नैसर्गिक और राजनैतिक विधानों की विवेचना करके इन दोनों प्रकार के विधानों में भेद बतलाया और उस भेद को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया। उसने विध्यात्मक विधि (Positive law) और वास्तविक नैतिकता (Positve morality) के भेद को भी स्पष्ट किया। उसका कथन है कि वास्तव में विधान के दो भेद हैं—एक ईश्वरीय विधान और दूसरा मानवीय। फिर उसने मानवीय अर्थात् मनुष्य-कृत विधान के भी दो भेद किये हैं—एक तो वे विधि जो राजनीतिक संस्था द्वारा निर्माण किये जाते हैं और दूसरे वे जो राजनीतिक संस्था द्वारा निर्माण नहीं किये जाते बल्कि अन्य संस्थाओं द्वारा निर्माण किये जाते हैं। जो विधान राजनीतिक संस्था द्वारा निर्माण किये जाते हैं वही विध्यात्मक विधान हैं। राजनीतिक संस्था को अन्य संस्थाओं से विशिष्ट समझा गया है। आस्टिन ने विध्यात्मक विधि की परिभाषा इस प्रकार की है कि "मनुष्य के आचरण का नियमन करने के लिए विधि एक निर्धारित श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्ति की हुई इच्छा है जिसमें इस इच्छा की अवहेलना करने पर दंड देने की व्यवस्था भी सम्मिलित है।" अर्थात् राजनीतिक दृष्टि से 'विधान' में तीन बातें आवश्यक हैं—(१) विधि एक 'आज्ञा' है। यह ऐसी साधारण आज्ञा नहीं है जो किसी व्यक्ति द्वारा किसी भी व्यक्ति को दी जा सके। वह एक विशेष प्रकार की आज्ञा है। क्योंकि उसी आज्ञा को विधि कहा जा सकता है जिसकी अभिव्यक्ति एक निर्धारित और निश्चित श्रेष्ठ-व्यक्ति-विशेष द्वारा की जाय। (२) उस आज्ञा की अभिव्यक्ति एक निर्धारित श्रेष्ठ-व्यक्ति-विशेष द्वारा होगी। यह व्यक्ति निश्चित रूप से सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होगा। सर्व श्रेष्ट निश्चित होने पर उसे आज्ञा देने का पूर्ण अधिकार है। उसकी इच्छा ही आज्ञा है। उसकी आज्ञा का पालन करना सब व्यक्तियों का परम धर्म है। उसकी आज्ञा की अवहेलना करना पाप है। इसलिये उसकी इच्छा अथवा आज्ञा की अवहेलना करनेवाले अथवा उसकी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले के लिये (३) दंड की व्यवस्था की गयी है। जो व्यक्ति उसकी आज्ञा की अवहेलना करेगा अथवा उसका उल्लंघन करेगा वह दंड का भागी होगा। अतः आस्टिन के मतानुसार राजनीतिक दृष्टि में एक सर्व-श्रेष्ठ पुरुष को विधि निर्माण करने का पूर्ण अधिकार है और उसका उल्लंघन करनेवाले को उसे दंड देने का पूर्ण अधिकार है। यही विध्यात्मक विधान है। इस प्रकार विधि की व्याख्या करके आस्टिन ने विध्यात्मक विधि और नैतिक अथवा नैसर्गिक विधि

(वास्तविक नतिकता) का भेद स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और वह इस कार्य में सफल भी हुआ है। आस्टिन पहला राज-शास्त्र-वेत्ता है जिसने न्यायशास्त्र और आचार शास्त्र के भेद को स्पष्ट किया और विधि तथा आचार-शास्त्र की विभिन्नता को प्रकट किया। इन दोनों के कार्यक्षेत्रों का स्पष्टीकरण करने में आस्टिन सफल हुआ है।

आस्टिन और उपयोगितावाद सिद्धांत—हाब्ज, लॉक और रूसो के विपरीत, आस्टिन इस बात को नहीं मानता कि राज्य की उत्पत्ति सामाजिक अनुबन्ध द्वारा हुई है। सामाजिक अनुबन्ध सिद्धांत में उसका विश्वास नहीं है। वह उपयोगितावाद सिद्धांत के आधार पर राज्य की उत्पत्ति मानता है। उसका मत है कि राज्य एक सावयव संस्था है। राज्य मनुष्य समाज के लिये उपयोगी है। राजनीतिक शासन संगठन की उपयोगिता के कारण राज्य की स्थापना हुई। मनुष्य समुदाय के अधिकांश लोग अराजकता की अपेक्षा किसी प्रकार के शासन संगठन को अधिक उपयोगी समझते हैं इसलिये उपयोगिता के कारण राज्य की स्थापना हुई है। राज्य में रह कर ही मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ सब प्रकार की शारीरिक, आत्मिक और बौद्धिक उन्नति कर सकता है। मनुष्य राज्य में रहकर इसलिये उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं करता कि वह ऐसा करने के लिये किसी प्रकार के अनुबन्ध द्वारा वाध्य है बल्कि वह इसलिये उसकी आज्ञाओं का पालन करता है कि वह वहुत काल से उसकी उपयोगिता के कारण ऐसा करता चला आ रहा है और अब आज्ञा पालन करना उसका स्वभाव वन गया है। एक विवेकशील पुरुष राज्य की स्थापना और उसके अस्तित्व का कारण उसकी उपयोगिता ही समझता है। राज्य का ध्येय 'अधिकतम् लोगों का अधिकतम् सुख' है। जव तक राज्य इस उद्देश्य को पूरा करता है तब तक उसका अस्तित्व न्याय संगत है, अन्यथा नहीं। आस्टिन के मतानुसार राज्य से पृथक् किसी व्यक्ति का कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं है और न सुख ही किसी एक वस्तु पर निर्भर है। सुख प्राप्ति के आधार अनेक हैं। राज्य के विधानों से पृथक् मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकारों का स्रोत राज्य के विधान हैं। राज्य के विधानों द्वारा स्वीकृत अधिकारों का उपभोग करने का प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी है। अथवा यों कह सकते हैं कि मानव अधिकारों की उत्पत्ति राज्य के विधानों द्वारा होती है। मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकार विधानों के आधीन हैं और विधानों का

पालन करते हुए ही मनुष्य अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकता है और राज्य द्वारा उनका संरक्षण कर सकता है।

आस्टिन ने 'सम्राट्' की व्याख्या इस प्रकार की है "यदि एक ऐसा निश्चित-श्रेष्ठ पुरुष जो अपने समान किसी (अन्य) श्रेष्ठ व्यक्ति की आज्ञा पालन करने का अभ्यस्त न हो (और जो) एक निश्चित समाज के अधिकांश (भाग) से आज्ञा पालन कराने का अभ्यस्त हो, ऐसा निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति उस समाज का सत्ताधिकारी (Sovereign) है और (उस सत्ताधिकारी सहित) वह समाज एक स्वतंत्र तथा राजनीतिक समाज है।"* इस व्याख्या से पता चलता है कि आस्टिन के मतानुसार सत्ताधिकारी (अथवा सर्वोच्चसत्ता) कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। न उसके मतानुसार सर्वोच्चसत्ता जनता के ही हाथ में है। उसके मतानुसार सर्वोच्चसत्ता लोगों के उस निश्चित भाग के हाथ में है जो सर्वोच्चसत्ता का प्रयोग करते हैं। उसके मतानुसार (सर्वोच्च सत्ताधिकारी) सम्पूर्ण विध्यात्मक विधानों का स्रोत है। ऐसी सर्वोच्चसत्ता की आज्ञा पालन करने के लिये सब लोग तत्पर रहते हैं। स्वभावतया लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। सब प्रकार के रीति-रिवाज तथा विधि, विधानों की वह सर्वोच्चसत्ता स्रोत है। आस्टिन नैसर्गिक अधिकारों को नहीं मानता है। परन्तु सम्पूर्ण वैधानिक अधिकारों और कर्तव्यों का स्रोत वह सर्वोच्चसत्ता को मानता है। आस्टिन वास्तव में सम्पूर्ण राज्य को ही सर्वोच्चसत्ता मानता है। सम्पूर्ण राज्य की सर्वोच्चसत्ता के प्रतीक एक अथवा अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। जिस प्रकार हाब्ज ने सर्वोच्चसत्ता को पूर्ण स्वेच्छाचारी और वैधानिक अवरोधों से परे माना है उसी प्रकार आस्टिन ने भी सर्वोच्चसत्ता को पूर्ण स्वेच्छाचारी, वैधानिक अधिकार और कर्तव्यों के बंधनों से स्वतंत्र माना है क्योंकि वह उनसे परे है तथा उनका स्रोत है। सर्वोच्चसत्ता असीम है, अर्थात् उसकी शक्ति और अधिकारों की कोई सीमा नहीं है और ये शक्ति और अधिकार अविभाज्य हैं।

आस्टिन के मतानुसार नागरिक स्वतंत्रता कोई विशेष महत्व नहीं रखती है। वैधानिक विधि, विधानों को पालन करते हुए मनुष्य जिस स्वतंत्रता का अनुभव कर सकता है केवल उतनी ही स्वतंत्रता का उपभोग करने का वह अधिकारी है। इस प्रकार की स्वतंत्रता वह उस रीति, रिवाज और परम्परा-

---

* ज्रिस्प्रूडेंस, पुस्तक १, पृष्ठ २२६।

गत स्वतंत्रता का उपभोग करने का भी अधिकारी है जो लोगों को प्राप्त है और जिनका वे उपभोग करते चले आ रहे हैं। वास्तव में आस्टिन जनतंत्र शासन प्रणाली के विरुद्ध है।

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) १८०६-१८७३— जॉन स्टुअर्ट मिल, जेम्स मिल का पुत्र था। जॉन पर उसके पिता और आस्टिन की शिक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने बैन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत का बड़े ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। उसने बैन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत को अपूर्ण पाया और उसमें संशोधन किया। बैन्थम के मतानुसार जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, सब सुख समान हैं केवल परिमाण का भेद है अर्थात् कोई सुख थोड़े काल तक रहता है और कोई अधिक काल तक। वह सुख में गुण संबंधी कोई भेद नहीं मानता है। जॉन स्टुअर्ट मिल का मत बेन्थम के मत से भिन्न है। जॉन स्टुअर्ट मिल सुखों में परिणाम तथा गुण संबंधी दोनों प्रकार का भेद मानता है। उसका मत है कि सुख उच्चकोटि के भी होते हैं और निम्न श्रेणी के भी। एक स्थान पर उसने कहा है कि "एक मूर्ख के संतुष्ट जीवन से सुकरात जैसे एक दार्शनिक का सा असंतुष्ट जीवन अधिक श्रेष्ठ है, एक संतुष्ट सूअर के जीवन से एक असंतुष्ट मूर्ख का जीवन अधिक श्रेष्ठ है।" मिल के उपयोगितावाद का दिग्दर्शन करने के लिए उसके दो ग्रंथों का अवलोकन करना अत्यंत आवश्यक है। 'आन लिबर्टी' तथा 'कंसीडरेशन्स आन रिप्रैजेन्टेटिव गवर्नमेंट' (On Liberty and Considerations on Representative Government) में उसने नवीन दृष्टिकोण से उपयोगितावाद सिद्धांत की व्याख्या करके उसे राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग किया है। उसका मत है कि समाज की स्थापना किसी सामाजिक अनुबन्ध द्वारा नहीं हुई है। राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति लोकहित के लिए हुई है। यदि लोकहित का ध्येय मनुष्य को सामाजिक संगठन बनाने के लिए प्रेरित न करता तो शासन प्रणाली कभी अस्तित्व में नहीं आ सकती थी। लोकहित और लोक इच्छा ही के आधार पर राजनीतिक समाज और शासनप्रणाली की स्थापना हुई है। एक संकलित मानव समुदाय के सदाचार, सच्चरित्रता, सद्बुद्धि आदि गुणों का अभिवर्द्धन करते हुए लोकहित संबंधी उन्नति करना ही शासन का मुख्यउद्देश्य है। भौतिक सुखों की अपेक्षा वह आध्यात्मिक सुख को अधिक श्रेष्ठ समझता है इसलिये उसने मानव समाज की आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उन्नति को अधिक महत्व दिया है, और उसका विश्वास है कि इन्हीं बातों की

उन्नति पर वास्तव में मनुष्य समाज की उन्नति निर्भर है। अतः वह राज्य को एक आदर्श संस्था मानता है।

मिल के मतानुसार स्वतंत्रता—'लिबर्टी' नामक पुस्तक में मिल का 'स्वतंत्रता' से अभिप्राय 'नागरिक अथवा सामाजिक स्वतंत्रता' से है। इस पुस्तक में उसने इस बात की विवेचना की है कि एक व्यक्ति के अधिकार पर मनुष्य समाज किस सीमा तक और किस प्रकार का अवरोध प्रयोग कर सकता है। उसने मानव स्वतंत्रता के क्षेत्र को तीन भागों में विभाजित किया है—

(१) अन्तःकरण की स्वतंत्रता—इसमें मनुष्य की आन्तरिक अथवा आत्मिक स्वतंत्रता सम्मिलित है। इस स्वतंत्रता से मिल का यह अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता पूर्वक प्रत्येक बात को अनुभव करने और उस पर विचार तथा मनन करने का अधिकार है।

(२) व्यवसाय करने की स्वतंत्रता—प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय अथवा कार्य करने का अधिकार है। केवल इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारे किसी कार्य से मनुष्य समाज के किसी अन्य पुरुष के व्यक्तिगत अधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप तो नहीं होता अथवा किसी पर हमारे कार्य का दूषित प्रभाव तो नहीं पड़ता।

(३) संगठन करने की स्वतन्त्रता—मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार एक दूसरे के साथ मिलकर संवास बनाने और संगठन करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। केवल इतना ही ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के संगठन अथवा संवासों का समाज पर दूषित प्रभाव न पड़े।

मिल का कथन है कि शासन को मनुष्यों के व्यक्तिगत कार्यों में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करना चाहिये। वह उद्योग-व्यापार सम्बन्धी विषयों में यद्भाव्यं नीति (Laissez faire) के पक्ष में है। उसका विचार है कि शासन को मनुष्यों के उद्योग-व्यापार में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करना चाहिए। लोगों को अपनी इच्छानुसार उद्योग-व्यापार करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। वह उन्मुक्त व्यापार (Free trade) के पक्ष में है।

शिक्षा प्रणाली के विषय में मिल का विचार है कि प्रत्येक मनुष्य को उसके धर्म के अनुसार शिक्षा मिलनी चाहिए। शिक्षा संबंधी विषयों पर राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए न राज्य को राजकीय शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करने की आवश्यकता है। शासन को शिक्षा संबंधी विषयों में हस्तक्षेप न करके व्यक्तिगत प्रयत्नों को प्रोत्साहित करना चाहिये। उसका

कथन है कि शासन द्वारा शिक्षा में हस्तक्षेप करने से सब शिक्षा संस्थाओं में एक सी नीति का अनुसरण करने के कारण एक से ही नागरिक उत्पन्न होंगे और लोगों को व्यक्तिगत प्रयत्न तथा प्रतियोगिता करने का अवसर भी न मिलेगा। संभव है कि व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा शिक्षा संबंधी कार्य अधिक अच्छा हो सके। वास्तव में मिल व्यक्तिवादी सिद्धांत का पुजारी है। उसने अपने उपयोगितावाद सिद्धांत में व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण किया है।

मिल के मतानुसार शासन प्रणाली—मिल के मतानुसार प्रतिनिधिक शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है। उसका कथन है कि सर्वोच्चसत्ता सामूहिक रूप से सम्पूर्ण जनता के हाथ में होनी चाहिये। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को कभी कभी शासन में भाग लेना चाहिये जिससे वह इस बात का अनुभव करे कि मेरा शासन में हाथ है। उसका मत है कि "क्योंकि राज्य के सब लोग शासन-प्रबंध में भाग नहीं ले सकते हैं इसलिये प्रतिनिधिक शासन प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है।" शासन का कार्य केवल देख भाल और व्यवस्था स्थापन करना होना चाहिये। उसका कथन है कि "प्रत्येक अन्य शासन प्रणाली के समान प्रतिनिधिक शासन प्रणाली के दोष और भय को दो शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, अज्ञानता और अयोग्यता, अथवा अधिक सौम्य शब्दों में यों कह सकते हैं कि अधिकारी वर्ग की अपर्याप्त मानसिक योग्यता। द्वितीय, इस बात का भय कि उस (अधिकारी वर्ग) पर ऐसे हितों का प्रभाव हो जो साधारण जन समुदाय के हितों के विरुद्ध हों।"* मिल को इस बात का भय था कि बहुमत अल्पमतों पर अत्याचार कर सकता है और अपने हितों के लिये अल्पमतों के हितों पर आघात कर सकता है अतः उसने प्रतिनिधिक शासन प्रणाली में आनुपातिक प्रतिनिधित्व को अधिक महत्व दिया है। उसका मत है कि यदि 'सर्वोपरि व्यवस्थापक संसद' (Parliament) में आनुपातिक प्रतिनिधित्व निर्वाचन पद्धति द्वारा सदस्य भेजे जायँगे तो बहुमत अल्पमतों पर अत्याचार न कर सकेगा। उसके विधान निर्माता पढ़े लिखे और श्रेष्ठ पुरुष होने चाहिये जो साधारण लिखना पढ़ना और गणित जानते हों। ऐसे सब स्त्री पुरुषों को व्यापक वयस्क मताधिकार प्राप्त होना चाहिये। उसका यह भी विचार है कि श्रेष्ठ विद्वान पुरुषों को बहुत मताधिकार प्राप्त होना चाहिये। वह गुप्त मतदान प्रथा के विरुद्ध है।

* यूटलिटेरियनिज्म, लिबर्टी ऐन्ड रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेंट आफ जे० एस० मिल, ए० डी० लिन्डसे द्वारा सम्पादित, पृष्ठ २४३।

क्योंकि उसका विचार है कि मतदान केवल अधिकार ही नहीं है, मतदान तो एक पवित्र प्रन्यास है जिसका उत्तर-दायित्व प्रत्येक मतदाता ही को अनुभव करना चाहिये। लार्ड भवन को वह एक आवश्यक अंग समझता है। उसका कथन है कि विधेयक उपलेखन लार्ड-भवन का महत्वपूर्ण कार्य है। पार्लियामेंट के सदस्यों को किसी भी प्रकार का वेतन देने का उसने विरोध किया है।

मिल का उपयोगितावाद सिद्धान्त—मिल बेन्थम का शिष्य था परन्तु उसका उपयोगितावाद सिद्धांत बेन्थम के सिद्धात से भिन्न था। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, उसने बेन्थम के सिद्धांत में संशोधन किया। बेन्थम के मतानुसार सब सुख समान हैं केवल परिमाण का भेद है। कोई सुख थोड़े काल तक रहता है और कोई अधिक काल तक। कोई सुख तीव्र होता है और कोई साधारण। मिल सुखों में परिमाण तथा गुण दोनों प्रकार का भेद मानता है। उसके मतानुसार सुख उच्च कोटि के होते हैं और नीच श्रेणी के भी। बेन्थम ने व्यक्तिवाद के आधार पर उपयोगितावाद सिद्धांत को माना है। मिल ने उपयोगितावाद में व्यक्तिवाद और सामाजवाद का सम्मिश्रण किया है। उसका मत है कि उत्पादन के लिये सहयोग की आवश्यकता है। अतः मिल की आर्थिक नीति बेन्थम से भिन्न है। बेन्थम ने उद्योग व व्यापार में व्यक्तिगत प्रतियोगिता और यद्भाव्यं नीति का समर्थन किया है परन्तु मिल ने इसमें 'सहयोग द्वारा उत्पादन' करने की नीति का सम्मिश्रण और कर दिया है।

उपयोगितावाद सिद्धांत का राजनीतिक क्षेत्र में बड़ा प्रभाव पड़ा है। आधुनिक काल के सम्पूर्ण शासन सम्बन्धी सुधार उपयोगितावाद के आधार पर ही हुए हैं। राजनीतिक समाज में आज हम बेन्थम और मिल के सिद्धांत का पूर्णरूप से प्रचार देख रहे हैं। जिन जिन सुधारों को मिल और बेन्थम ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था उन सब को आज हम कार्यान्वित होते देख रहे हैं।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

जे. एस. मिल—*आन लिबर्टी*
जे. एस. मिल—*रिप्रैजन्टेटिव गवर्नमैन्ट*
ऐच. जे. लैस्की—*पोलीटिकल थॉट इन इंगलैंड फ्राम लॉक टु बेन्थम*
जेम्स मिल—*एसे आन गवर्नमैन्ट*

कोलमैन फिलिप्सन--दी क्रिमिनल ला रिफॉर्मर्ज
जे. एस. रीव्ज--इंगलिश यूटिलिटेरियन्स
ऐल. स्टीफन—इंगलिश यूटिलिटेरियन्स
डब्ल्यू. ग्रेहम—इंगलिश पौलीटिकल फिलॉसफी
आर. जी. गैटिल—हिस्ट्री आफ पौलीटिकल थॉट
डब्ल्यू ए. डनिंग--पौलीटिकल थ्योरीज फ्राम रूसो टु स्पेन्सर
डबल्य. ऐल. डेविड्सन--पौलीटिकल थॉट इन इंगलैन्ड, दी यूटिलीटेरियन्स फ्राम बेन्थम टु मिल।
ऐफ. डब्ल्य. कोकर--रीडिंग्स इन पौलीटिकल फिलासफी
आई. ब्राउन—इंगलिश पौलीटिकल थ्यौरी
जेरमी. बेन्थम—फ्रैग्मैन्ट आन गवर्नमैन्ट
आस्टिन—जूरिस्प्रुडैन्स
ई. आल्वी—हिस्ट्री आफ इंगलिश यूटिलीटेरियनिज्म
सी. एम. ऐटकिन्सन—जेरमी बेन्थम

अध्याय १४

व्यक्तिवाद

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में स्वेच्छाचारी शासकों के अधिकार बहुत विस्तृत हो गये थे। प्रजा को व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों में पूर्णरूप से कार्य करने का अधिकार प्राप्त न था। सम्राट् की इच्छा ही विधान का रूप धारण किये थी। सम्राट् बड़े बड़े सरदारों तथा भूपतियों की सहायता से शासन करते थे। करों का भार जन साधारण पर था। राजकोष की अधिकतर आय जन साधारण से प्राप्त किये हुये करों द्वारा होती थी परन्तु कर-दाताओं को शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। ऐसी दशा में साधारण जनता बहुत दुखी थी। सम्राटों के अधिकार इतने अधिक थे कि वे चाहे जो कुछ कर सकते थे, चाहे जिसे पकड़वा कर कारागार में डाल सकते थे और चाहे जितना दंड दे सकते थे। सारे संसार में अधिकतर ऐसी ही शासन प्रणाली कार्य कर रही थी। ऐसे समय में फ्रांस में क्वेने (Quesnay) ने अठाहवीं शताब्दी में एक नवीन सिद्धांत का प्रचार किया। उसका मत था कि नैसर्गिक व्यवस्था के अनुसार शासन प्रबन्ध होना चाहिये। उसके अनुयायी अधिभूतवादी (Physiocrats) कहलाये। अधिभूतवादी अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने प्रकट किया कि राज्य को मनुष्यों के उद्योगधंन्धों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। राज्य का कर्तव्य केवल उन नैसर्गिक नियमों का पालन करना है और उनकी ही रक्षा करना है जिनके द्वारा राज्य में उत्पादन की वृद्धि हो। अधिभूतवादियों ने राज्य की सर्वोच्च-सत्ता पर आक्रमण किया और उद्योग–व्यापार के लिये पूर्ण स्वतंत्रता का आन्दोलन किया। ऐडम स्मिथ (Adam Smith) नामक प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थ-शास्त्रवेत्ता ने अपनी 'वैल्थ आफ नेशन्स' (Wealth of Nations) नामक पुस्तक में इस बात का समर्थन किया कि राज्य को जनता के आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इसके पश्चात् रिकार्डो (Ricardo) माल्थुस

(Malthus) आदि अंग्रेज लेखकों, डि टाकविल(De Tocqueville) आदि फ्रेंच लेखकों और कैन्ट (Kant), फिख्टे (Fichte) विल्हेल्म हम्बोल्ट (Wilhelm Humboldt) आदि जर्मन लेखकों ने भी अपने-अपने ग्रंथों में इस बात का समर्थन किया।

सन् १७९१ में विल्हेल्म हम्बोल्ट (Wilhelm Humboldt) ने यह विचार प्रकट किया कि "शासन को जहाँ तक हो सके न्यूनातिन्यून शासनकार्य करना चाहिए। वही शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे कम शासन करती है। शासन का सर्व-प्रथम कर्तव्य यह है कि वह अपने राज्य के व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास करे।" एक जर्मन विद्वान् रिख्टर (Richter) का कथन है कि "व्यक्तित्व का सब स्थानों पर प्रसार करना चाहिए" और स्पर्जन (Spurgon) का कथन है कि "अत्यन्त महान् कार्य व्यक्तियों द्वारा ही किये जाते हैं। बहुधा सैकड़ों पुरुष अधिक कार्य नहीं करते हैं और समुदाय (Company) तो ऐसा कभी नहीं करते हैं। इकाइयाँ—अकेले व्यक्ति ही शक्ति हैं। वस्तुतः वैयक्तिक प्रयत्न ही महान् वस्तु है।" ई० एच० चेपिन (E. H. Chepin) का कथन है कि "सेनाओं ने जातियों की उन्नति नहीं की है और न राष्ट्रों ही ने, बल्कि यत्र-तत्र युगानुसार एक व्यक्ति उठ खड़ा हुआ है और उसने संसार पर अपनी छाया डाली है।" एमर्सन (Emerson) ने अपने 'प्रोग्रेस एन्ड कल्चर' नामक ग्रंथ में लिखा है कि "साहित्यिक इतिहास शक्तिशाली अल्पसंख्यक (अर्थात्) एक ही व्यक्ति का लेख-संग्रह है।"

व्यक्तिवादी राज्य को अनावश्यक समझते हैं। जिस प्रकार अराजकतावादी (Anarchists) राज्य को एक आवश्यक किन्तु दोषपूर्ण वस्तु समझते हैं उसी प्रकार व्यक्तिवादी भी राज्य को एक आवश्यक बुराई समझते हैं। व्यक्तिवादियों का मत है कि राज्य का कार्य शांति और व्यवस्था स्थापित रखना है। राज्य का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर देना चाहिए। राज्य का कार्य-क्षेत्र जितना विस्तृत होता है उतना ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अवरोध होता है और व्यक्तिगत स्वाधीनता में बाधा पड़ती है। मनुष्य स्वभावतया अहंकारी और अज्ञानी है। वह इन परम्परागत दोषों के वशीभूत होकर अपने निजी स्वार्थ के लिए अन्य व्यक्तियों के स्वत्वों पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है। अतः मनुष्य की इस प्रकार की कुप्रवृत्तियों का अवरोध करने के लिए राज्य की आवश्यकता है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध व्यक्तिवादी जे० एस० मिल (J. S. Mill) का कथन है कि "अन्त में राज्य की योग्यता उन व्यक्तियों

की योग्यता है जो उसमें निवास करते हैं।" उसने अपनी 'लिबर्टी' नामक पुस्तक की भूमिका में एक स्थान पर लिखा है कि "व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में सामूहिक मत के उचित हस्तक्षेप की एक सीमा है। उस को ज्ञात करना और अनधिकृत हस्तक्षेप से उसे सुरक्षित रखना मनुष्य संबंधी हितों के लिए इतना अनिवार्य है जितना कि उसे राजनीतिक स्वेच्छाचारिता से सुरक्षित रखना।" उसने एक स्थान पर लिखा है कि "व्यक्तित्व को कुचलनेवाली वस्तु ही स्वेच्छाचारिता है, चाहे किसी भी नाम से उसे संबोधित किया जाय।" रूसो ने अपनी ऐमाइल (Emile) नामक पुस्तक के पांचवें भाग में लिखा है कि "नगर से पृथक् करके लोगों का अध्ययन करो तो तुम वास्तव में उन्हें समझ सकते हो।" रस्किन (Ruskin) ने अपनी 'अन्टू दिस लास्ट' (Unto This Last) नामक पुस्तक के चतुर्थ निबन्ध में लिखा है कि "जो देश अत्यधिक श्रेष्ठ और सुखी व्यक्तियों का पालन पोषण करता है वही देश अत्यंत धनी है।" एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी व्यक्तिवादी ज्यूल्स साइमन (Jules Simon) का कथन है कि राज्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह अनुपयोगी हो जाय और अपनी मृत्यु के लिए स्वयं तैयारी करे।"* एक प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता फ्रीमन (Freeman) ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है कि "किसी रूप में भी आदर्श राज्य मनुष्य की अपूर्णता का चिह्न है †।"

व्यक्तिवादियों के मतानुसार राज्य का अस्तित्व केवल इसीलिए है कि अपराध होते हैं और राज्य का विशेष कर्तव्य केवल अपराधों का निरोध करना है। किसी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक कार्य में सहायता करना राज्य का कर्तव्य नहीं है। जब कभी राज्य इस प्रकार के कार्य अपने हाथ में लेता है जैसे यातायात, डाक तार इत्यादि, तो वह मनुष्य के निजी कार्यों, व्यवसायों और व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है। इसी आधार पर व्यक्तिवादी राजकीय शिक्षा, स्वच्छता, टीका लगाना, उद्योग, व्यापार, शुद्ध अन्न आदि संबंधी उन सब विधि विधानों का विरोध करते हैं जो व्यापार आदि में हस्तक्षेप करते हैं और व्यक्तियों के सामाजिक जीवन में बाधा डालते हैं। उनका विचार है कि राज्य को

---

* "लि गवर्नमैन्त दां दिमॉक्रैति" भाग १, पृष्ठ २४, (लावेलिये द्वारा उद्धृत (Quoted by Lavelaye)

† एसेज़—पृष्ठ ३५३

यद्भाव्यं नीति (Laissez faire) का अनुकरण करना चाहिए और व्यक्तिगत व्यापार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य का कार्य केवल धन, जन की रक्षा करना और शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित रखना है। उसका कार्य है अपराधियों को दंड देना। इन कार्यों को पूर्ण करने पर राज्य का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है और उसके उद्देश्यों का अन्त हो जाता है।

इंगलैंड के प्रसिद्ध व्यक्तिवादी हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) का कथन है कि "किसी राष्ट्र की संस्थाएँ और आस्थाएँ (beliefs) उसके (व्यक्तिगत) आचरण पर निर्भर हैं।" † स्पेन्सर कट्टर व्यक्तिवादी था उसका मत है कि 'राज्य का अस्तित्व मनुष्य के जन्मजात तथा परंपरागत अहंभाव और कुप्रवृत्ति का परिणाम है, अतः राज्य रक्षक होने की अपेक्षा कहीं अधिक भक्षक है।" उसका कथन है कि "चाहे यह बात सत्य हो या असत्य कि मनुष्य अधर्म के ढांचे में ढाला गया है परन्तु यह वास्तव में सत्य है कि राज्य की उत्पत्ति अतिक्रमण से हुई है। राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के अप्राकृतिक कार्यों में उचित अवरोध स्थापित करने के लिए और एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के अत्याचारों से बचाने के लिए हुई है। अतः जब मानव समाज अपनी पूर्ण आचारिक अवस्था पर पहुँच जायगा तब शासन की आवश्यकता न रहेगी।" एक स्थान पर उसने लिखा है कि 'शासन वास्तव में अनैतिक (immoral) है। उसका अस्तित्व इसीलिए ही नहीं है कि अपराध होते हैं। यदि ऐसा हो तो अपराधों का अंत ही होते शासन का अन्त भी हो जाना चाहिए'। उसका विचार है कि यह कल्पना निर्मूल है कि शासन का अस्तित्व सदैव के लिए है। स्पेन्सरका विचार है कि उद्योग, व्यवसाय तथा वाणिज्य आदि के लिए शासन को विधान निर्माण करने का अधिकार नहीं है। शासन को पंजीयन (Registration) संबन्धी, संक्रामक रोग-काल में पृथक्करण संबन्धी अथवा अनिवार्य शिक्षा संबन्धी विधि, विधान निर्माण करने का कोई अधिकार नहीं है। इन कार्यों के करने का अधिकार केवल लोगों को ही होना चाहिए। राज्य को लोगों के इन कार्यों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। राज्य के हस्तक्षेप से लोगों के व्यक्तिगत स्वत्वों पर अतिक्रमण होता है।

कान्ट (Kant), फिक्टे (Fichte), हम्बोल्ट (Humboldt)

---

† सोशल स्टेटिक्स, अध्याय १६—५।

लेबूले (Laboulaye), जे० एस० मिल (J. S. mill) आदि व्यक्तियों का विचार भी राजनीतिक क्षेत्र में हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) के समान है। इन लोगों का मत है कि मनुष्य की व्यक्तिगत, शारीरिक आत्मिक और बौद्धिक उन्नति तभी संभव है जब शासन मनुष्यों के कार्यों में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करे। राज्य जनता के कार्यों में जितना अधिक हस्त-क्षेप करेगा उतनी ही लोगों की उन्नति में बाधा पड़ेगी।

व्यक्तिवाद की उत्पत्ति और विकास—गार्नर के कथनानुसार "व्यक्ति-वाद की उत्पत्ति अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में अतिशासन (over—Government) के दोषों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई है *।" अधिभूतवादी (Physiocrat) अर्थशास्त्र-वेत्ताओं ने सर्व-प्रथम इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में स्वेच्छाचारी निरंकुश शासकों का बोलबाला था। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है इन शासकों का शासनाधिकार इतना बढ़ा हुआ था कि लोगों को वास्तव में किसी प्रकार की भी स्वतंत्रता प्राप्त न थी। सामाजिक, धार्मिक तथा उद्योग व्यवसाय संबंधी सब विषयों में निरंकुश शासकों के विधानों की कठोरता का कष्ट साधारण जनता को अत्यन्त दुःख-दायी जान पड़ता था। ऐसे समय में क्वेने (Quesnay) तथा उसके अनु-यायियों ने अधिभूतवाद सिद्धांत (Physiocracy) की स्थापना की। इस सिद्धांत के अनुयायियो ने तत्कालीन निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन की तीव्र आलोचना की और मानव अधिकारों की रक्षा के लिए आन्दोलन आरम्भ किया। अधिभूतवाद सिद्धांत का मूलतत्व यह था कि लोगों के उद्योग-व्यापार संबंधी कार्यों के लिए राज्य को विधान बनाकर उनमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लोगों को उत्पादन का कार्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार करने देना चाहिए और राज्य को ऐसे प्राकृतिक नियमों की जो उत्पादन में सहायक हैं रक्षा करनी चाहिए। राज्य को इस कार्य में किसी प्रकार के प्रति-बंध न लगाने चाहिए †। सिजविक (Sidgwick) ने भी अपने 'पोली-टिकल इकानामी' नामक ग्रंथ में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। इन लोगों ने राज्य की सर्वशक्तिमत्ता (omnipotence of the State) का विरोध किया और उद्योग-व्यापार में स्वतंत्रता की माँग उपस्थित की।

---

* जे० डब्ल्यू० गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस, पृष्ठ २७६।

† सिजविक—पौलीटिकल इकानामी, पृष्ठ ३९९ से तुलना करो।

सन् १७७६ में इंगलैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्र वेत्ता ऐडम स्मिथ (Adam Simth) ने 'वैल्थ आफ नेशन्स' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया और उसमें इस बात का प्रतिपादन किया कि राज्य को लोगों के अर्थ संबंधी विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। स्मिथ ने 'श्रम द्वारा उत्पादन की हुई वस्तुओं के उन्मुक्त आदान-प्रदान तथा श्रमिकों से स्वतंत्रतापूर्वक सेवा लेने में अवरोध स्थापित करने वाले तत्कालीन प्रचलित विधि विधानों की निन्दा की, और उन्हें अनिष्टकारी तथा पातक बतलाया* ।" ऐडम स्मिथ के पश्चात् अंग्रेज अर्थशास्त्रवेत्ता केर्नीज (Cairnes), रिकार्डो (Ricardo), माल्थस आदि, फ्रेंच विज्ञान बास्तिया (Bastiat), डि टाकविल (De Tocpueville), डुनायर (Dunnoyer), लियों से (Leon Say), टेन (Taine), आदि और जर्मन दार्शनिक कान्ट (Kant), फिख्टे (Fichte), वान हम्बोल्ट (Von Homboldt), ईयोटवास (Eotvos) आदि ने इस बात का समर्थन किया कि आर्थिक विषयों में जनता को स्वाभाविक स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। तत्पश्चात् आधुनिक काल में इसी सिद्धांत का समर्थन लेबुले (Laboulaye), माइकेल (Michel आदि फ्रेंच विद्वानों ने किया। इसी समय इंगलैंड में हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill), वेमिस (Wemiss), आर्जाइल (Argyle), ब्रूस स्मिथ (Bruce Smith), डोनिस्थॉर्प (Donisthorpe) आदि ने इसी व्यक्तिवाद सिद्धांत का समर्थन और प्रचार किया।

हम्बोल्ट (१७७६–१८३५)—व्यक्तिवाद पर सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रथम ग्रंथ प्रशा (Prussia) निवासी विद्वान् विलहैल्म हम्बोल्ट (Wilhelm Humdoldt) ने लिखा था। उस समय प्रजा की राजनीतिक दशा ऐसी थी कि वहाँ यह ग्रंथ उसके जीवन काल में प्रकाशित न हो सका। उसकी मृत्यु के पश्चात् यह ग्रंथ सन् १८५२ में प्रकाशित हुआ। उसमें उसने इस प्रमेय (Proposition) का संकलन किया कि राज्य को प्रजा के कार्यों में केवल उतना ही हस्तक्षेप करना चाहिए जितना प्रजा की पारस्परिक शांति तथा व्यवस्था और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने में आवश्यक हो। राज्य को इस सीमा से बाहर नहीं जाना चाहिए। केवल इसी उद्देश्य से राज्य लोगों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधक हो सकता है अन्यथा नहीं। उसका कथन

* गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ २७६–२७७

है कि नागरिकों की व्यक्तिगत उन्नति का ध्यान राज्य को सदैव रहना चाहिए। अतः राज्य को ऐसा कार्य करना चाहिए जो स्वयं लोगों से न हो सके, जैसे शांति स्थापित रखना। हम्बोल्ट का मत है कि राज्य को जनता के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसने अपने ग्रंथ में लिखा है कि राज्य को लोगों के उद्योग, व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा, वाणिज्य आदि विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और इस प्रकार के कार्यों में लोगों को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता होनी चाहिए। यद्यपि हम्बोल्ट के ऐसे विचार थे परन्तु अपने जीवन के अन्तिम काल में वह प्रशा का शिक्षा-मंत्री था और उसने बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना की और उसे आर्थिक सहायता दिलायी गयी। इस विश्वविद्यालय का सम्पूर्ण व्यय राजकीय सहायता द्वारा किया गया।

स्पेन्सर—हम्बोल्ट के पश्चात् इंगलैंड में स्पेन्सर ने व्यक्तिगत सिद्धांत की विस्तृत रूप से विवेचना करते हुए उसका समर्थन किया और यद्भाव्यंनीति* को लोकप्रिय बनाने का सफल प्रयत्न किया। इस विषय पर उसने "सोशल स्टैटिक्स एण्ड मैन वर्सस दी स्टेट" (Socil Statics and Man versus the State) नामक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा और उसमें इस सिद्धांत की विस्तार पूर्वक विवेचना की। स्पेन्सर ने उनमें लिखा है कि मनुष्य की कुप्रवृत्तियों तथा अहंभाव के कारण राज्य की स्थापना हुई है। वह रक्षक होने की अपेक्षा अभिधावक (aggressor) है। मनुष्य की दुष्टता को रोकने के लिए और मनुष्यों को पारस्परिक अनधिकृत अतिक्रमण से बचाने के लिए राज्य की स्थापना हुई है। एक आदर्श राजनीतिक समाज में किसी प्रकार की दुष्टता नहीं होनी चाहिए। ऐसे आदर्श राजनीतिक समाज के स्थापित होते ही राज्य का अन्त हो जाना चाहिए। क्योंकि आदर्श समाज में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके मतानुसार राज्य एक नैमित्तिक संस्था है। पूर्व अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य की प्राप्ति राज्य कार्य द्वारा नहीं होती, उसे सुख की प्राप्ति तभी होती है जब उसे अकेला छोड़ दिया जाय और उसके साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाय। यदि एक ओर तो मनुष्य की स्वतंत्रता में शासन द्वारा हस्तक्षेप किया जाय और उसके अनेक कार्यों में बाधा डाली जाय और दूसरी ओर से उसे सहायता देने का प्रयत्न किया जाय तो ऐसी दशा में उससे हानि ही होगी, लाभ न होगा। शासन का कार्यक्षेत्र

---

*'व्यक्तिवाद' अथवा 'यद्भाव्यंनीति' ये दोनों नाम एक ही सिद्धांत के हैं।

"नकरात्मक नियमन कर्त्ता" (Negatively regulative) होना चाहिए अर्थात् शासन को चाहिए कि वह लोगों के दोषों को दूर करे और जो कार्य वे स्वतंत्रतापूर्वक अधिक भली प्रकार कर सकते हैं उनमें सहायता रूपी हस्तक्षेप करके उन्हें सुखी बनाने का प्रयत्न न करे। "न्याय करना और मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा करना" ही राज्य का उचित कर्तव्य है। जब राज्य इससे अधिक करने का प्रयत्न करता है तो वह अपनी सीमा का उल्लंघन करता है और अपने उद्देश्य में असफल होता है। प्राचीन काल से चले आने वाले मनुष्यों के अधिकारों को विधान के रूप में परिवर्तन कर देना चाहिए। उसे नवीन विधान बनाने का कोई अधिकार नहीं है। यदि राज्य नवीन विधि, विधान बनाकर उनको कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता है तो वह मनुष्यों के नैसर्गिक अधिकारों पर अनधिकृत आक्रमण करता है। उसके मतानुसार "एक व्यक्ति का केवल एक अधिकार है और वह है अन्य व्यक्तियों के साथ समान स्वतंत्रता का अधिकार, राज्य का केवल एक कर्तव्य है और वह कर्तव्य है उस अधिकार की हिंसा तथा कपट (धोखे) से रक्षा करना" * ।

राज्य का कार्यक्षेत्र —स्पेन्सर के मतानुसार राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यंत सीमित रहना चाहिए। उसने राज्य द्वारा निर्माण किये हुए वाणिज्य, व्यापार, स्वास्थ्य, टीका, पंजीयन (Registration), संक्रामक रोग के समय पृथकीकरण, राजकीय शिक्षा, दीन-जन-सहायता, डाक-तार, मुद्रिका, आदि संबंधी विधि-विधानों की निन्दा की है क्योंकि उसका विचार है कि इन विषयों में शासन को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। उसका विचार है कि राज्य जो धन दीन-जनों की सहायता में व्यय करता है उसे यदि श्रमिकों की दशा सुधारने में लगाये तो अधिक अच्छा होगा। राज्य द्वारा शिक्षा में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। उसका कथन है कि "अपने बच्चों को शिक्षा देने के लिए अथवा अन्य लोगों के बच्चों को शिक्षा देने के लिए किसी मनुष्य की सम्पत्ति लेने की राज्य को आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसा करने से उस व्यक्ति के हितों की रक्षा नहीं होती, अतः यह बात दोषपूर्ण है।" अधिकारों की रक्षा करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप न्यायसंगत है। बच्चों की शिक्षा की उपेक्षा करने में बच्चों के अधिकारों का उल्लंघन नहीं होता है। इसी प्रकार यह विचार भी मिथ्या है

*गार्नर— इन्ट्रोडक्शन टू पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ २७९—२८० ।

कि राज्य का कर्तव्य प्रजा के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। हाँ, राज्य को उपद्रवों को अवश्य रोकना चाहिए। उसने स्वच्छता संबंधी कर लगाने की निन्दा की है और कहा है कि इस प्रकार के कर लेना नैतिक विधानों का उल्लंघन करना है। इसी आधार पर उसने मुद्राचलन (Currency) संबंधी विधानों का विरोध किया है। उसका मत है कि मुद्राचलन संबंधी विधान बनाकर राज्य मनुष्यों के नैतिक अधिकारों पर आघात पहुँचाता है और मनुष्यों के समान स्वतंत्रता संबंधी नियमों का उल्लंघन करता है क्योंकि वह मनुष्यों के वस्तुओं के अदल बदल तथा विनिमय (Exchange) संबंधी नैसर्गिक अधिकारों में हस्तक्षेप करता है। इसी प्रकार उसने जन-वास्तु-कर्म तथा राजकीय गृह निर्माण कार्यों की भी निन्दा की है। उसका कथन है कि राज्य को केवल उन्हीं गृहों के निर्माण कराने का अधिकार है जो राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। लोक-निर्माण का कार्य उसे अपने हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं है। डाक-तार विभाग को अपने हाथ में लेकर राज्य जनता के स्वयं पत्रवाहन कार्य-में हस्तक्षेप करता है और उनके अधिकारों पर अतिक्रमण करता है।

डॉनिस्थोर्प (Donisthorpe), आवरन हार्बर्ट (Auberon Herbert) आदि स्पेन्सर के अनुयायियों के विचार और भी अधिक तीव्र हैं। उन्होंने केवल राजकीय शिक्षा, दीन-जन सहायता, कर्मशाला (Factory), तथा खान निरीक्षण, घातक वस्तुओं का व्यापार नियमन, टीका, संक्रामक रोग में पृथक्करण, स्वास्थ्य, सार्वजनिक-मनोरंजन, मदिरा, क्रय-विक्रय निरोध आदि संबंधी विधि विधानों का ही विरोध नहीं किया है, उन्होंने तो ऐसे विधानों का भी विरोध किया है, जैसे विवाह संबंधी विधान, तथा अन्य ऐसे विधान जिनसे मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में बाधा पड़ती है। इन लोगों का मत है कि राज्य को केवल ऐसी ही बातों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है, जैसे मनुष्य के अधिकारों का अन्य मनुष्य की अनधिकृत अतिक्रमण से रक्षा करना।

जे० एस० मिल० (१८०६-१८७३)—मिल कट्टर व्यक्तिवादी था उसने अपनी 'लिबर्टी' (Liberty) नामक पुस्तक में व्यक्तिवाद का समर्थन किया है और बतलाया है कि जनता के कार्यों में शासन को- हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसने मानव स्वतंत्रता को तीन भागों में विभाजित किया है। (१) उसका कथन है कि मनुष्य की अन्तःकरण संबंधी स्वतंत्रता मनुष्य का जन्म-जात अधिकार है, उसमें किसी को हस्तक्षेप नहीं करना

चाहिए। मनुष्य को स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने और विचार प्रकट करने का अधिकार है। वह सब प्रकार के प्रायोगिक, काल्पनिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने का अधिकार है। इस अधिकार का निरोध उसी समय हो सकता है जब उससे दूसरे व्यक्ति को आघात पहुँचे अथवा उसके अधिकार पर अनधिकृत अतिक्रमण हो। जब तक किसी व्यक्ति के अधिकार प्रकट करने से दूसरे को हानि नहीं होती है तब तक उसे ऐसा करने से शासन को नहीं रोकना चाहिए।

(२) मिल ने इस बात का समर्थन किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार जीविकोपार्जन संबंधी कार्य करने का पूर्ण अधिकार है। जब तक व्यक्ति अपनी जीविकोपार्जन संबंधी कार्य करता हुआ दूसरों के कार्यों में रोड़ा नहीं डालता है तब तक राज्य को उसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। चाहे एक व्यक्ति अन्य लोगों की दृष्टि में मूर्खता का कार्य करे अथवा दूषित कार्य करे परन्तु यदि उस कार्य से अन्य व्यक्तियों के कार्य में रुकावट नही होती है तो उसे रोकने का अधिकार किसी को नहीं है। वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कार्यक्षेत्र की सीमा का उल्लंघन उसी समय करता है जब वह अन्य लोगों के कार्यों में बाधक होता है, अन्यथा नहीं।

(३) मनुष्य को अपनी इच्छानुसार एक दूसरे के साथ सहयोग करने, संवास बनाने और समाज के रूप में संगठित होने का भी पूर्ण अधिकार है। शासन को मनुष्य के इस प्रकार के संगठन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार नही है। परन्तु जब यह संवास अथवा समाज अन्य लोगों के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक अधिकारों पर आघात पहुँचाये अथवा उनपर अनधिकृत अतिक्रमण करे तो राज्य को उसमें हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार है।

मिल का विचार है कि जिस समाज में लोगों को इस प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त नही है वे लोग वास्तव में स्वतंत्र नहीं है चाहे वे किसी भी प्रकार के शासन द्वारा शासित क्यों न हो। उसका कथन है कि जब हम इच्छानुसार प्रत्येक कार्य करें और दूसरों के अधिकारों पर आघात न पहुँचा कर अपने निजी हित संबंधी कार्यों में संलग्न रहें और ऐसा करने में कोई

हमारे कार्यों में बाधक न हो तो वास्तव में हम स्वतंत्र हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर, स्वास्थ्य, मन और चित्त का पूर्ण स्वामी है।

मिल के मतानुसार विचार करने की स्वतंत्रता में लिखकर अथवा बोलकर विचार प्रगट करने की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है। अर्थात् मनुष्यों को इच्छानुसार विचार करने और भाषण द्वारा अथवा लेख द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक विचार प्रगट करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार की सीमा का उल्लंघन तभी होता है जब वह अन्य व्यक्तियों के इस प्रकार के अधिकारों पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है।

अपनी पुस्तक "लिबर्टी" के दूसरे अध्याय में मिल मुद्रण-निरोध संबंधी विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखता है कि "किसी व्यक्ति के विचार अन्य सब लोगों के विचारों के विरुद्ध हैं। यदि वह एक व्यक्ति (समाचार पत्रों द्वारा) अपने विचार प्रकट करे और अन्य लोग उसके विचार प्रकट करने में बाधा डालें तो वह उतना अन्याय करेंगे जितना कि वह एक व्यक्ति अन्य सब लोगों के विचारों को प्रकट करने से रोक कर करता है। अर्थात् सब लोग यदि एक व्यक्ति को विचार प्रगट नहीं करने देते हैं तो वे उतना ही अन्याय करते हैं जितना कि वह एक व्यक्ति अन्य सब लोगों को विचार प्रकट करने से रोककर करता है। किसी को भी इस प्रकार से बाधक होने का अधिकार नहीं है। मिल का विचार है कि कभी किसी को विचार प्रकट करने से नहीं रोकना चाहिए क्योंकि संभव है कि जिस मनुष्य को अपने विचार प्रकट करने से रोका जा रहा है उसका विचार ठीक हो और उसे रोकने वालों का विचार असत्य हो। यदि किसी व्यक्ति का विचार असत्य है तो भी उसे प्रकट करने देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर उसकी असत्यता सब पर प्रकट हो जायगी। कभी ऐसा भी हो सकता है कि उसके विचारों में किसी अंश तक सत्य हो तो उसे ग्रहण करने के लिए सबको उद्यत रहना चाहिए। अतः मिल का मत है कि प्रत्येक दशा में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रतापूर्वक विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार है और राज्य को इसमें मुद्रणनियंत्रण विधान द्वारा बाधक नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार मिल का यह भी विचार है कि व्यक्तिगत धर्मसंबंधी विषयों में भी किसी को बाधक नहीं होना चाहिए। न किसी को यही अधिकार है कि वह दूसरों के धर्म को घृणा की दृष्टि से देखे। मादक वस्तुओं के क्रय-विक्रय संबंधी विधानों के विषय में मिल का मत है कि किसी प्रकार का भी निरोध कानून बनाना अन्याय है। मनुष्यों को

विधान बनाकर मादक द्रव्यों का प्रयोग करने से नहीं रोकना चाहिए। बल्कि शिक्षा तथा उपदेश द्वारा मादक द्रव्यों के दोष दिखलाकर लोगों में उससे अरुचि उत्पन्न करना चाहिए। शिक्षा के संबंध में मिल का विचार है कि राज्य को राजकीय शिक्षा संस्थाएँ नहीं खोलनी चाहिए। ये कार्य जनता के हैं, जनता को ही करने चाहिए, क्योंकि राज्य द्वारा शिक्षा देने में एक ही प्रकार के शिक्षित लोग उत्पन्न होंगे जैसे कल द्वारा एक समान वस्तुएं उत्पादित होती हैं। ऐसा भी संभव हो सकता है कि राज्य द्वारा स्थापित शिक्षा-संस्थाएँ इतनी अच्छी और सफल न हो सकें जितनी व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा हो सकती हैं।

राज्य के साथ व्यक्ति का संबंध—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बहुत समय से यह प्रश्न चला आ रहा है कि मनुष्य का अन्य सामाजिक संगठनों के साथ क्या संबंध है? क्या समाज की भलाई के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान कर सकते हैं? इस संबंध में लोगों के दो प्रकार के विचार हैं। एक विचार तो यह है कि राज्य रूपी राजनीतिक समाज के हित के लिए मनुष्य के व्यक्तिगत हितों का बलिदान कर देना चाहिए। ऐसा विचार जर्मन आदर्शवादियों का है। इन आदर्शवादियों में कान्ट (Kant), हेगिल (Hegel) आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। दूसरे प्रकार के विचारवाले मिल, स्पेन्सर आदि व्यक्तिवादी हैं जिनका मत है कि राज्य का कार्यक्षेत्र केवल शांति और व्यवस्था स्थापित रखना है और इसके अतिरिक्त राज्य को मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार उन्नति करने का अवसर मिलना चाहिए।

प्रत्येक राज्य में एक सर्वोच्च-सत्ता होती है। उसकी इच्छा सर्वमान्य है। यह इच्छा एक व्यक्ति की, एक सम्राट् के रूप में, हो सकती है और वह लोकगण की इच्छा एक निर्वाचित अध्यक्ष (President) के रूप में भी हो सकती है। अर्थात् सर्वोच्च-सत्ता एक, अनेक अथवा सार्वजनिक संस्था के रूप में हो सकती है। व्यक्तिवादियों का मत है कि सर्वोच्चसत्ता चाहे किसी के हाथ में हो परन्तु उसका कार्य मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति में बाधा डालने वाले अवरोधों का निरोध करना है। गैटिल का मत है कि "अकेली सर्वोच्चसत्ता स्वेच्छाचारिता है और वह स्वतंत्रता की घातक है, अकेली स्वतंत्रता अराजकता है और वह सर्वोच्चसत्ता का नाश करती है।" † उसका

---

† प्रो० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइंस, पृष्ठ ३८४।

कथन है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सर्वोच्चसत्ता पर ही निर्भर है। परन्तु व्यक्तिवाद सिद्धांत के अनुयायियों का कथन है कि राज्य को जनता के कार्य में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करना चाहिए।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लक्षण—व्यक्तिगत स्वतंत्रता दो प्रकार की है। एक सामाजिक स्वतंत्रता (Civil Liberty) और दूसरी राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty)।

समाज में मनुष्य के अधिकार हैं। साधारणतया मनुष्य के जीवित रहने के, जीविकोपार्जन करने के और सम्पत्ति रखने के जन्मजात अथवा नैसर्गिक अधिकार समझे जाते हैं। परन्तु बहुधा ऐसा देखा गया है कि कभी कभी इन अधिकारों की उचित सीमा नहीं दिखाई पड़ती है और एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के इसी प्रकार के अधिकारों पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है। ऐसी दशा में एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता होती है जो बलपूर्वक प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य समाज में अपने अधिकारों की सीमा के भीतर रखे और उसे दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों पर अनधिकृत अतिक्रम करने से रोके। इसलिए राज्य की आवश्यकता होती है। व्यक्तिवादियों का मत है कि राज्य वास्तव में एक आवश्यक दूषित वस्तु है। बर्गेस (Burgess)‡ के मतानुसार स्वतंत्रता में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं:—

(१) व्यक्तिगत स्वतंत्रता।

(२) न्यायालय में समानता का व्यवहार।

(३) निजी संपत्ति की सुरक्षा।

(४) विचार करने और भाषण तथा लेख द्वारा विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता।

(५) अन्तःकरण संबंधी स्वतंत्रता।

राज्य में भी मनुष्यों के अनेक व्यक्तिगत अधिकार हैं। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य में अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। व्यक्तिवादियों का मत है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार उद्योग, व्यवसाय, व्यापार आदि करने का अधिकार है। राज्य को भिन्न भिन्न प्रकार के विधि, विधान बनाकर उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुष्य को राज्य में रहकर अपनी उन्नति करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। राज्य को स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, व्यापार और व्यवसाय

---

‡ बर्गेस—पोलीटिकल साइंस ऐण्ड कॉन्स्टीट्यूशनल लॉ, पुस्तक १, पृष्ठ १७८।

संबंधी विधान बनाकर मनुष्य के व्यक्तिगत कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के विधान बनाकर राज्य मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण करता है। राज्य को केवल वही विधान बनाने चाहिए जिनके द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत कार्यों में बाधा डालनेवाले अवरोधों का निरोध हो।

सामाजिक स्वतंत्रता और राजनीतिक स्वतंत्रता में एक और भी भेद है। प्रत्येक राज्य में देशी और विदेशी दोनों प्रकार के लोग होते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से अवयस्क, अपराधी तथा विक्षिप्त भी होते हैं। ऐसी दशा में सब लोगों को सामाजिक और राजनीतिक अधिकार समान रूप से प्राप्त नहीं हो सकते। अतः यह आवश्यक है कि राज्य में सब व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जाय। उन्हें न्याय की दृष्टि में समान समझा जाय। उन्हें मनुष्य समाज में समान सामाजिक अधिकार प्राप्त हों। यही सामाजिक स्वतंत्रता है। परन्तु उन्हें राज्य कार्य में समान रूप से भाग लेने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। राज्य के हित के लिए यह आवश्यक है कि विदेशी, विक्षिप्त, अवयस्क तथा अपराधी को राज्य कार्य में भाग लेने से वंचित रखा जाय। ऐसे व्यक्तियों को निकाल कर अन्य व्यक्तियों को राज्य कार्य में भाग लेने का अधिकार हो सकता है। राजनीतिक समानता केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त हो सकती है जो वयस्क, नागरिक, ठीक बुद्धि वाले हैं और अपराधी नहीं हैं, अथवा किसी अन्य राज्य के कर्मचारी नहीं हैं। राजनीतिक समानता के अधिकारी केवल ऐसे ही लोग हो सकते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है शासन कार्य में भाग लेने की समानता। अतः सामाजिक समानता तथा स्वतंत्रता सबको प्राप्त हो सकती है परन्तु राजनीतिक समानता तथा स्वतंत्रता सबको प्राप्त नहीं हो सकती, राजनीतिक समानता और स्वतंत्रता राज्य में एक सीमित जनसंख्या को ही प्राप्त हो सकती है। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ भी शासन कार्य में भाग लेने की स्वतंत्रता है। व्यक्तिवादी सिद्धांत के अनुयायी भी इस भेद को मानते हैं और यद्यपि वे सब लोगों को सामाजिक स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं परन्तु वे सबको राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कराने के पक्ष में नहीं हैं। व्यक्तिवादी भी इस बात को मानते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता विदेशी, विक्षिप्त, अपराधी तथा अवयस्क को प्राप्त नहीं हो सकती।

अमेरिकन व्यक्तिवादी—ऊपर यूरोपीय व्यक्तिवादियों के मतों का वर्णन किया जा चुका है। यूरोपीय व्यक्तिवादियों में जर्मन तथा अंग्रेज व्यक्ति-

वादी विशेष रूप से वर्णन करने योग्य थे, उनके सिद्धांतों का वर्णन भी किया जा चुका है। इन यूरोपीय व्यक्तिवादियों के अतिरिक्त कुछ अमेरिकन व्यक्तिवादी भी हैं। इन व्यक्तिवादियों में जाफरसन (Jefferson) मैडिसन (Madison) और पेन (Paine) अधिक प्रसिद्ध हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्य में इन लोगों ने व्यक्तिवाद सिद्धांत का समर्थन किया। इन लोगों का भी यूरोपीय व्यक्तिवादियों के समान यही मत है कि शासन को मनुष्यों के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतंत्रता की रक्षा करने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुष्यों को व्यक्तिगत उन्नति करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। उनको सब प्रकार के उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार स्वतंत्रता पूर्वक करने देना चाहिए और भाँति-भाँति के विधानों द्वारा कर तथा अन्य प्रतिबंध लगाकर उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। अमेरिकन व्यक्तिवादी प्रजातंत्रवादी हैं वे मनुष्यों को समान रूप से राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता दिलाने के पक्ष में हैं। जाफरसन का मत है कि लोगों को आधुनिक काल के तड़क-भड़क के जीवन से बचना चाहिए। उसके मतानुसार जीवन का आनन्द ग्रामीण, सरल (सादा) जीवन व्यतीत करने में है।

विलोबी (Willoughby) ने निम्नलिखित चार बातों के आधार पर व्यक्तिवाद की पुष्टि की है*।

(१) मनुष्य के स्वभाव में स्वार्थ एक विश्वव्यापी वस्तु है।

(२) कालान्तर में प्रत्येक व्यक्ति स्वहित संबंधी बातों को पूर्ण रूप से जानता है और वास्तव में स्वच्छन्द (arbitrary) अवरोधों की अनुपस्थिति में उनके अनुसार कार्य करता है।

(३) वाह्य अवरोधों की अनुपस्थिति में प्रतियोगिता स्वतंत्रतापूर्वक हो सकती है और होती है।

(४) ऐसी स्वतंत्र प्रतियोगिता में सदैव मनुष्य की उच्चकोटि की उन्नति की संभावना होती है। क्योंकि ऐसी दशा में प्रतिकूल बातों से बचता हुआ प्रत्येक व्यक्ति जिस कार्य को पूर्ण रूप से कर सकता है उसी को करता है। इस प्रकार (व्यक्तिगत उन्नति से) सब की भलाई होती है।

व्यक्तिवाद की आलोचना—गैटिल† ने इन चार बातों की आलोचना करते हुए लिखा है कि—

---

* विलोबी—नेचर आफ दी स्टेट, पृष्ठ ३२६।

† गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस, पृष्ठ ३८४।

(१) मनुष्य के कार्यों का आधार केवल स्वार्थ ही नहीं है, परमार्थ भी है।

(२) अनिवार्य शिक्षा, स्वच्छता, श्रम संबंधी विधान आदि कुछ बातें ऐसी हैं जिनके विषय में लोग अपने हित की बातों को भली प्रकार नहीं समझ सकते अतः अन्य व्यक्तियों के सामूहिक कार्यों द्वारा उनके हितों की अवश्य रक्षा होनी चाहिए।

(३) जब तक प्रतियोगिता करने वालों की शक्ति समान न हो तब तक प्रतियोगिता नहीं हो सकती है। ऐसी दशा में शासन दुर्बल पक्ष की सहायता करके प्रतियोगिता को नष्ट न करके उसे स्थापित करता है।

(४) 'योग्यतम का बचा रहना' (Survival of the fittest) सिद्धांत को मानव समाज पर प्रयोग करना अनुचित है। सामूहिक प्रयत्न अनुचित कार्य का निरोध कर सकता है और जहाँ अवरोध का निरोध करने की आवश्यकता है वहाँ उसका निरोध भी कर सकता है।

व्यक्तिवाद के समर्थकों का विचार है कि न्याय की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। जब प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करेगा तो वह अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण उन्नति कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की संपूर्ण शक्तियों की सामंजस्य प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि राज्य उसके कार्यों में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करे; क्योंकि उसके कार्य में प्रत्येक अवरोध उसकी प्रेरणा शक्ति और उसके स्वावलंबी भावों का नाश करता है, उसके स्वतंत्र उत्तरदायित्व का ह्रास करता है, उसकी शक्ति का नाश करता है और उसके आचरण को भ्रष्ट करता है। यही विचार कान्ट, फिख्टे, हम्बोल्ट और जॉन स्टुअर्ट मिल का है।

मनुष्य की व्यक्तिगत सामंजस्ययुक्त (Harmonious) उन्नति के लिए स्वतंत्रता अनिवार्य है। हम्बोल्ट का कथन है कि मनुष्य का वास्तविक ध्येय उसके विवेक द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह ध्येय मनुष्य की सामंजस्य प्रगति के लिए आवश्यक है। अतिशासन से केवल स्वतंत्रता का ही ह्रास नहीं होता बल्कि वह कार्य करने की कृत्रिम प्रणाली स्थापित करता है और राष्ट्रीय समानता स्थापित करता है। इससे समाज मृतप्राय हो जाता है। मिल का भी इस विषय में ऐसा ही मत है। उसका कथन है कि अतिशासन से मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्तियों का ह्रास होता है और मनुष्य अपनी इच्छा तथा विवेकानुसार अपनी उन्नति के लिए जो कार्य करना चाहता है उसे करने में असमर्थ होता है। उन्मुक्त प्रतियोगिता मनुष्य की उन्नति करती है, उसकी प्रेरणा शक्ति को प्रबल

करती है और आत्म विश्वास को बढ़ाती है। अतिशासन केवल उद्योग-वर्द्धक प्रयत्नों का ही ह्रास नहीं करता, वह चरित्र की उन्नति में भी बाधक होता है और मनुष्य के व्यक्तिगत स्वाभाविक प्रयत्नों में हस्तक्षेप करके व्यक्तित्व तथा मौलिकता का ह्रास करता है और उसे समाज के नीचे स्तर पर पहुँचाता है। व्यक्तिवादी सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि संसार में उच्चकोटि की सभ्यता की उन्नति व्यक्तिवाद के कारण हुई है और इसी के कारण बौद्धिक तथा भौतिक उन्नति हो रही है। स्पेन्सर का कथन है कि अतिशासनीय राज्य में "प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के समान है।"शासन द्वारा उद्योग पर अधिकार वास्तव में स्वेच्छाचारिता है। यह कर्मण्यता की स्वतंत्रता का ह्रास करके उसे संयमित करता है और अवरोध स्थापित करके कर्म-कौशल का ह्रास करता है, झगड़े तथा असंतोष फैलाता है तथा अनुचित हस्तक्षेप करके भाँति-भाँति के दोष उत्पन्न करता है।" *उसका कथन है कि पदाधिकार मोह तथा सामाजिक हस्तक्षेप मनुष्यों की स्वाभाविक तथा स्वस्थ उन्नति का निरोध करते हैं। इसके विपरीत स्वतंत्रता व्यक्तिगत चरित्र को शक्तिशाली बनाती है, उसकी उन्नति करती है और मानव समाज की प्रगति में सहायक होती है।

व्यक्तिवादियों का यह भी विचार है कि यद्भाव्यं नीति का मूल आधार वैज्ञानिक है। यह सिद्धांत विकासवाद पर निर्भर है; क्योंकि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद इस सिद्धांत का समर्थन करता है कि योग्यतम् व्यक्ति ही जीवित रहता है और उन्नति करता है, अन्य नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य स्वार्थभावना द्वारा प्रेरित होकर कार्य करता है और जिस कार्य को वह अपने विवेक द्वारा स्वहित के लिए उचित समझता है उसी को करने के लिए प्रेरित होता है। व्यक्तिवादियों का मत है कि इस सिद्धांत के अनु-सार चलने पर अयोग्य और दुर्बल लोगों का नाश होता है और सर्वश्रेष्ठ पुरुष जीवित रहते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ समाज की स्थापना होती है और उसकी उन्नति होती है।

व्यक्तिवादियों का मत है कि पूर्व अनुभव भी इसी सिद्धांत को स्थापित करता है कि राज्य द्वारा मनुष्यों के कार्यों में हस्तक्षेप न होना ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत है। इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि राज्य विधान द्वारा मनुष्यों के बहुत से कार्यों का नियमन करता था। बाजार में प्रत्येक वस्तु का मूल्य निर्धारित करना, मनुष्यों के पहनने के लिए कपड़े तथा उनकी

---

* स्पेन्सर—सोशल स्टैटिक्स, पृष्ठ १३५

बनावट निश्चित करना, दिन में कितने बार भोजना करना, क्या क्या कार्य करना, कहाँ तथा किस प्रकार रहना, सब बातें राज्य विधानों द्वारा निश्चित की जाती थीं। कर्मशालाओं में कार्य करने का समय तथा अन्य कर्मशाला संबंधी अनेक नियम राज्य बनाता था। "सन् १७६५ में इंगलैंड में पुरशासकों (Magistrates) को रोटी के मूल्य के अनुसार श्रमिकों की मजदूरी निश्चित करने का अधिकार था।" "सन् १८२४ तक इंगलैंड में पार्लमेंट का यह विधान प्रचलित था कि राजकीय विनिमय (Royal Exchange) से दस मील से अधिक दूरी पर वस्तुनिर्माणकर्त्ता अपनी कर्मशालाएँ नहीं बना सकते थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में सब स्थानों पर अनेक प्रकार के उद्योगों पर शासन का कठोर तथा अनुचित नियंत्रण था। राज्य ही इस बात को निश्चित करता था कि किसको कहाँ कार्य करना चाहिए, किसको क्या सामान प्रयोग करना चाहिए तथा किस परिस्थिति में भिन्न भिन्न प्रकार के व्यापार करने चाहिए।" †

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में उद्योग व्यापार में राज्य द्वारा अनुचित हस्तक्षेप किया जाता था। बक्ल (Buckle) का कथन है कि उस समय शासकों का यह विश्वास था कि बिना कठोर विधानों के उद्योग धंधे और व्यापार की उन्नति नहीं हो सकती है। यह एक मानी हुई बात थी कि बिना अन्य देशों के उद्योग, व्यापार में बाधा डाले हुए अपने देश के उद्योग व्यापार की उन्नति नहीं हो सकती है। बक्ल इस बात पर यह आश्चर्य प्रकट करता है कि ऐसी परिस्थिति में सभ्यता की उन्नति किस प्रकार संभव हो सकती है।

व्यक्तिवादियों का मत है कि उन लोगों का विचार मिथ्या है जो यह समझते हैं कि राज्य सर्वज्ञ है और वह भूल नहीं कर सकता है अथवा वह मनुष्यों की व्यक्तिगत योग्यता और आवश्यकता को समझता है और उन्हें प्रत्येक कार्य में सहायता दे सकता है। व्यक्तिवादी कहते हैं कि अनुभव से यह प्रकट होता है कि राज्य की आविष्कार करने अथवा नवीन कार्य आरम्भ करने की शक्ति उन व्यक्तियों की इन शक्तियों से अधिक नहीं होती जो उसमें निवास करते हैं। राज्य क्रियात्मक अथवा सूचनात्मक संस्था नहीं है वह तो केवल आलोचनात्मक, निर्णयात्मक, तथा सहयोगात्मक संस्था है जो समाज की प्रगति का आधार नहीं है वल्कि केवल सहायक

---

† गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ २८६।

मात्र है। शासन प्रत्येक कार्य को सुचारुरूप से नहीं कर सकता। प्रत्येक कार्य को सुचारुरूप से करने के लिए व्यक्ति-विशेषों की आवश्यकता है। अतः राज्य में सब प्रकार की उन्नति तथा आविष्कार का कारण व्यक्ति का कार्य है। राज्य उनकी उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निरोध कर सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य का और कोई कार्य नहीं होना चाहिए।

व्यक्तिवाद के विरोधियों ने भी इस सिद्धांत के विरुद्ध बड़ी बड़ी युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। सबसे पहली युक्ति जो उन्होंने प्रस्तुत की है वह यह है कि अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि राज्य एक दूषित संस्था नहीं है। इतिहास इस बात का प्रतीक है कि भूतकाल में सभ्यता की जितनी उन्नति हुई है वह सब बुद्धिमत्ता द्वारा संचालित राज्य कार्यों द्वारा ही हुई है। यह सत्य है कि कभी कभी राज्य ने अपना ध्येय प्राप्त करने के लिए ऐसे कार्य किये हैं जिनसे लोक का अहित हुआ है। इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि राज्य एक दूषित तथा सदैव लोक का अहित करने वाली संस्था है। स्पेन्सर का यह विचार कि "राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपराध होते हैं और अपराधों का अन्त होते ही राज्य के अस्तित्व की आवश्यकता का अन्त हो जाता है और एक पूर्ण आदर्श चरित्र वाले लोगों के राज्य में शासन की आवश्यकता ही नहीं है" बिलकुल मिथ्या और निर्मूल है। आधुनिक काल के जटिल समस्यापूर्ण मनुष्य समाज में राज्य का कर्त्तव्य केवल नकारात्मक, नियमात्मक और निरोधात्मक ही नहीं है। राज्य का कर्त्तव्य दोष तथा अपराधों को रोकना, दुष्टों को दंड देना और लोकहित संबंधी कार्य करना है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर मनुष्यों को एक दूसरे की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। अपने व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकता के लिए संपूर्ण आवश्यक कार्य मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। अनेक आवश्यकताओं के लिए उसे अन्य व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्य व्यक्तियों के सहयोग से बहुत से कार्य करने पड़ते हैं। आधुनिक काल में सभ्यता की उन्नति के कारण जीविकोपार्जन के अगण्य साधन हो गये हैं। जीविकोपार्जन के साधनों की रक्षा करने के लिए मनुष्यों को संवास स्थापित करने पड़ते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि एक संवास के हित का दूसरे संवास के हित से संघर्ष होता है और परस्पर झगड़ा होता है। ऐसी दशा में शांति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिए एक राजनीतिक संस्था की आवश्यकता होती है जो अन्य प्रत्येक संवासों के कार्यक्षेप की सीमा

निर्धारित कर सके और उनमें परस्पर शांति और व्यवस्था स्थापित रख सके। ज्यों ज्यों सभ्यता की उन्नति होती जायगी त्यों त्यों राज्य के कार्य और उनकी शक्ति बढ़ती जायगी।

वास्तव में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से व्यक्तिवाद सिद्धांत का विरोध अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि उद्योग, धंधे तथा कर्मशालाओं के बढ़ जाने से मनुष्यों की जनसंख्या इन स्थानों पर अधिक बढ़ती जा रही है। लोगों को रहने को घर और खाने को भोजन मिलना कठिन हो रहा है। ऐसी दशा में अब राज्य को पग पग पर मनुष्यों को व्यक्तिगत तथा सामूहिक सहायता देने की अत्यंत आवश्यकता प्रतीत होती है और राज्य वास्तव में सफलतापूर्वक इन कार्यों में सहायता कर रहा है। यदि आज राज्य इस प्रकार की सहायता करना बन्द कर दे तो विशेषकर नगरों के लोग बेघर हो जायँ और सहस्त्रों मनुष्य अपने सामान और स्त्री-बच्चों समेत जनमार्गो पर पड़े हुए दिखाई पड़ें और खाने को भोजन भी न मिले। अब यद्भाव्यंनीति (Laissez Faire) के विरोधी बढ़ते जा रहे हैं। अतः लैवेलिये (Laveleye) का कथन है कि "ज्यों ज्यों सभ्यता की उन्नति होती जायगी और मनुष्य एक दूसरे पर तथा समाज पर अधिकाधिक निर्भर होता जायगा त्यों त्यों लोगों की सामान्य इच्छाओं की तुष्टि करने के लिए राज्य का कार्यक्षेत्र आनुक्रमिक रूप से अवश्य अधिकाधिक बढ़ता जायगा। आधुनिक काल की सामाजिक दशा को देखते हुए स्पेन्सर का व्यक्तिवाद निर्मूल है। ‡

व्यक्तिवादियों का यह बड़ा संकुचित विचार है कि लोकहित के लिए यदि राज्य हस्तक्षेप करता है तो इससे मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। संभव है कि एक निर्धारित सीमा के भीतर राज्य के हस्तक्षेप द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात होता हो, परन्तु साधारणतया इस हस्तक्षेत से हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता है। बुद्धिमत्तापूर्ण राज्य प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज के कार्यक्षेत्रों को सीमित करके मनुष्यों की व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतंत्रता को विस्तृत करता है। गार्नर का विचार है कि इस प्रकार मनुष्यों के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक कार्यों में बाधा डालकर राज्य एक माली के समान कार्य करता है। जैसे माली एक फल के वृक्ष अथवा अंगूर की बेल को उसकी उन्नति करने के लिए काटता है उसी

‡ लेवेलिये—लि गवर्नमंत दां ला दी मॉक्राती, पुस्तक १, पृष्ठ ३८।

प्रकार राज्य भी करता है। क्योंकि माली के ऐसा करने से अच्छे फल लगते हैं और अन्त में सब को लाभ होता है। ‡

व्यक्तिवादियों का मत है कि शासन का कार्यक्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होता जायगा मनुष्यों की स्वतंत्रता का उतना ही अधिक ह्रास होता जायगा। यह विचार भी बड़ा दोषपूर्ण है। इससे यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार 'शासन' और 'स्वतंत्रता' इन दो शब्दों में विरोधाभास है। शासन स्वतंत्रता का बैरी और विरोधी है। वास्तव में ऐसा नहीं है। शासन स्वतंत्रता का विरोधी नहीं है। व्यक्तिवादियों की यह कल्पना मिथ्या है। सुव्यवस्थित तथा बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा संचालित शासन कार्यों द्वारा राज्य के निवासियों की केवल नैतिक, शारीरिक और बौद्धिक उन्नति ही नहीं होती बल्कि राज्य शक्तिशाली होता है, तथा स्वार्थी लोगों के अनुचित कार्यों का नियंत्रण करके जनसाधारण को व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति करने की स्वतंत्रता प्राप्त होती है। इस प्रकार मनुष्य की निहित शक्तियों का विकास होता है, भाँति भाँति के आविष्कार होते हैं और उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश की उन्नति होती है। व्यक्तिवादियों का यह सिद्धांत निर्मूल है कि शासनीय नियमन और नियंत्रण मनुष्य की व्यक्तिगत प्रेरणाशक्ति, आत्मविश्वास, स्वावलम्बन, आदि गुणों का ह्रास करके तथा व्यक्तिगत अन्य मानसिक गुणों की संपूर्ण तथा सांमजस्यपूर्ण प्रगति में बाधा डालकर उसके आचरण को भ्रष्ट करता है। आचरण की उन्नति केवल स्वतंत्रता से नहीं होती है। आचरण की उन्नति के लिए अनुशासन तथा निरोध की अत्यंत आवश्यकता है। व्यक्तिवादियों की यह कल्पना निराधार है कि शासन का कार्यक्षेत्र ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों मनुष्य निर्बल होता है। मनुष्य का पूर्ण विकास तभी समझा जा सकता है जब उसकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो। उसकी नैसर्गिक उन्नति कोई उन्नति नहीं है। मनुष्य की उन्नति समाज द्वारा ही हो सकती है। समाज से पृथक् रहकर मनुष्य कभी किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता है। और राज्य एक उन्नत राजनीतिक संवास अथवा समाज है जो मनुष्य की सर्व प्रकार की उन्नति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

व्यक्तिवाद में एक बड़ा भारी दोष यह है कि यह सिद्धांत शासन

---

‡ गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस, पृष्ठ २६१।

के नियमन को वर्णन करने में अतिशयोक्ति करता है। शासन के नियमन को वह वृहद् रूप देता है और शासन के नियमन द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों को बड़ा सूक्ष्म रूप देता है। व्यक्तिवादी स्वतंत्रता के वास्तविक लक्षणों की कल्पना करने में भूल करते हैं और स्वतंत्रता की उन्नति की उचित सीमा निर्धारित करने में भी भूल करते हैं। वे लोग यह बात ठीक नहीं समझते हैं कि मनुष्य का समाज के साथ क्या संबंध है ? यदि वे इस बात की ठीक ठीक कल्पना कर लें कि मनुष्य समाज का एक अंग है और वह समाज से पृथक् नहीं है तो वे इस प्रकार के विचार कभी न प्रकट करें। वास्तव में वे मनुष्य को समाज से पृथक् समझकर उसकी व्यक्तिगत महत्ता पर अधिक जोर देते हैं। उनका सिद्धांत है कि मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति से समाज की उन्नति होती है। वे लोग व्यक्तिगत उन्नति को अधिक महत्व देते हैं परन्तु उन्हें इस बात का आभास नहीं होता कि बिना समाज की उन्नति हुए व्यक्तिगत उन्नति असंभव है। समाज से पृथक् व्यक्ति की कल्पना करना ऐसा है जैसे "ऊँची दीवार" में केवल "ऊँचाई" की कल्पना करना अथवा मनुष्य की कल्पना न करके भूत, प्रेत की कल्पना करना। इसका अभिप्राय यह है कि वास्तव में मनुष्य समाज से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रखता है। उसका अस्तित्व केवल समाज के एक अवयव के रूप में है।

इसमें संदेह नहीं कि किसी समय शासन के किसी कार्य से जनता का अहित हुआ हो अथवा शासन के किसी विधान से लाभ की अपेक्षा हानि हुई हो, तो इसका यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि शासन के ऐसे कार्यों अथवा विधानों से सदैव ही लोक का अहित होगा। भूतकाल में ऐसा हुआ है कि शासन के कार्यों से कभी कभी लोक का अहित हुआ है। ऐसा भी हुआ है कि शासन के विधानों से जनता का लाभ न होकर हानि हुई है। इसी प्रकार के कार्यों अथवा विधानों के कारण व्यक्तिवादियों ने यह परिणाम निकाल लिया है कि शासन के कार्यों अथवा विधानों से भविष्य में भी सदैव ही जनता को हानि ही पहुँचेगी। व्यक्तिवादियों का यह विचार भ्रमात्मक और निर्मूल है। व्यक्तिवादियों ने शासन की छोटी छोटी त्रुटियों को बड़ा विराट् रूप दे दिया है और सब प्रकार के शासन को अवांछनीय घोषित कर दिया है। शासन प्रणाली भी तो अनेक प्रकार की होती है। स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश शासन दोषयुक्त हो सकता है। कुलीन तंत्र भी दोषयुक्त हो सकता है और जनतंत्र भी बुरा हो सकता है। परन्तु जहां वास्तव में प्रतिनिधित्व, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, शासन प्रणाली

कार्य करती है और उसमें श्रेष्ठ, बुद्धिमान् और निःस्वार्थी लोगों के हाथ में शासन कार्य है वहाँ की जनता को रामराज्य का सुख प्राप्त होता है और ऐसे शासन वाले राज्य में लोगों की शारीरिक, आत्मिक, बौद्धिक आदि सब प्रकार की उन्नति होती है। अतः यह विचार करना कि क्योंकि शासनों ने भूलें की हैं अथवा शासकों ने भूलें की हैं इसलिए शासन प्रणालियाँ दोषयुक्त हैं, बिलकुल मिथ्या है।

व्यक्तिवादियों का यह विचार भी मिथ्या है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात को राज्य की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझता है और प्रत्येक व्यक्ति को स्वहित संबंधी कार्य स्वतंत्रतापूर्वक करने देना चाहिए, राज्य को उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि एक व्यक्ति के स्वहित संबंधी कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा तो वह स्वतः अपनी उन्नति करता चला जायगा और व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामाजिक उन्नति अपने आप होती जायगी। वास्तव में व्यक्तिवादियों की यह कल्पना निर्मूल है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को स्वहित संबंधी कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाय तो वह अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए सब प्रकार के बुरे भले कार्य करने को उद्यत होता जायगा और अन्य व्यक्तियों के हितों पर आघात पहुँचायेगा और उनके हितों पर अनधिकृत अतिक्रमण करेगा। परिणाम यह होगा कि मनुष्य एक दूसरे की हत्या करने को उद्यत होता जायगा और पूर्णरूप से अराजकता फैल जायगी। व्यक्तिवादियों के सिद्धांत के अनुसार यदि आज राज्य का अन्त कर दिया जाय और सब प्रकार की शासन प्रणाली उठ जाय तो हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि हमारे देश की क्या दशा हो जायगी। सत्य तो यह है कि "जिसकी लाठी उसकी भैंस" अर्थात् शक्ति सिद्धांत की स्थापना हो जायगी अथवा यों कहिए कि लोगों को मत्स्य-न्याय का आश्रय लेना पड़ेगा। बली निर्बल पर अत्याचार करेगा। इस बात को मिल आदि व्यक्तियों ने स्वीकार किया है।† मिल ने अपनी 'लिबर्टी' नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि "बहुमत अल्प-मत पर अत्याचार करता है।" सिजविक (Sidgwick) का भी यही विचार है कि बहुधा जनता अपने हित के विषय में ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सकती‡। बेल्जियम के प्रसिद्ध लेखक

† देखिए मिल की 'एसे आन लिबर्टी'।

‡ देखिए सिजविक की 'पौलीटिकल इकानामी,' पृष्ठ ४१६।

लेवेलिये (Laveleye) का मत है कि "यदि प्रत्येक मनुष्य अपने हितों, कर्त्तव्यों और अधिकारों को स्पष्ट रूप से समझ सके, उनके विषय में ठीक ठीक निर्णय कर सके, उनके अनुसार कार्य कर सके, स्वेच्छा से सुकर्म कर सके और कुकर्मों से बच सके तो (वास्तव में) राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता न रहेगी और हम स्वतंत्र शासन का उपभोग कर सकेंगे †। परन्तु वास्तव में बात तो यह है कि लोग अज्ञानी और मूर्ख अधिक संख्या में होते हैं और विद्वान् और चतुर न्यून संख्या में होते हैं। अज्ञानी लोग उन बुरी बातों की कल्पना कभी नहीं कर सकते जिनके विषय में वे बिलकुल अज्ञानी हैं। अतः वे कभी स्वयं अच्छे मार्ग पर नहीं चल सकते। उन्हें अच्छा मार्ग बताने के लिए बुद्धिमान् मनुष्यों की आवश्यकता है। इससे सिद्ध होता है कि राज्य एक अत्यंत आवश्यक संस्था है जिसके बिना राज्य की भाँति भाँति की जटिल समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं और न राज्य के लोगों की तथा राष्ट्र की उन्नति ही हो सकती है।

संसार में आधुनिक काल में जितने भी राज्य हैं उन सबकी शासन प्रणालियों की ओर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि शासन ने जनता के लगभग सभी कार्यो पर नियंत्रण कर रखा है। लोगों के भोजन, वस्त्र, स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, धर्म, संवास आदि सब बातों पर अपना अधिकार कर रखा है। इन सब विषयों के संबंध में शासन विधानों की रचना करता है और इन विधानों द्वारा ये सब कार्य सफलतापूर्वक हो रहे हैं। इन विधानों द्वारा वास्तव में लोकहित हो रहा है। सब प्रकार की व्यक्तिगत अथवा सामूहिक उन्नति होती दिखायी दे रही है।

व्यक्तिवाद सिद्धांत के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा चुका है। साधारण पाठक इन तर्कों में पड़कर भ्रम में पड़ सकता है। अतः यह आवश्यक है कि यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि वास्तव में कौन सा पक्ष अधिक प्रबल है। व्यक्तिवाद सिद्धांतवादियों का मत ठीक है अथवा इस सिद्धांत के विरोधियों का ? व्यक्तिवाद सिद्धांत के पक्ष-विपक्ष में जितने तर्क उपस्थित किये गये हैं उनपर विचार करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वास्तव में व्यक्तिवादियों का पक्ष प्रबल है। व्यक्तिवाद में अनेक दोष होने पर भी हमारा निर्णय यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर प्रत्येक दशा में मनुष्यों को व्यक्तिगत

---

† लेवेलिये—लि गवर्नमेंत दां ला दी मॉक्राती, पृष्ठ २४।

सब प्रकार की उन्नति करने में राज्य को न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करना चाहिए और इस प्रकार की उन्नति के मार्ग में आने वाले अवरोधों का निरोध करना चाहिए। गार्नर का कथन है कि "यद्भाव्यंनीति" के विपक्ष में सब कुछ कहने के पश्चात् यह अवश्य मानना पड़ेगा कि साक्ष्य का गुरुभार (weight of evidence) इसी के पक्ष में है। यह उपक्षेप (proposition) अत्यधिक दशाओं में विश्वसनीय है कि मनुष्य विषय का सबसे अच्छा निर्णायक है जो उसके व्यक्तिगत सुख का अनुदायक है और वह उन्मुक्त तथा स्वतंत्र प्रतियोगिता के अनुक्रम में अत्यधिक समृद्ध होगा और इस अनुक्रम (System) को कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। सिजविक और कैर्नीस (Sidgwik and Cairnes) ने भी प्रदर्शित किया है कि इस मार्ग से विशेष दशाओं में उस समय हटना चाहिए जब यह विश्वास करने के लिए पूर्ण अनुभूतिमूलक (empirical) कारण हों कि यह साधारण धारणा (general assumption) असत्य है" ‡

विशेष अध्ययन के लिए देखिए—

डॉनिस्यॉर्प—*इन्डिवीडुअलिज्म*

डुपों-वाइट—*लस्इन्दिवी दुएल ए ल ता*

हैडले—*इकॉनामिक्स*

लैवेलिये—*लि गवर्नमेंट दां ला दीमांक्राती*

मैके—*प्ली फॉर लिबर्टी।*

मैक्कंक्नी—*स्टेट ऐण्ड दी इन्डिवीडुअल*

मिल—*पौलीटिकल इकॉनामी तथा लिबर्टी*

मान्टेग्यू—*लिमिट्स आफ इन्डिवीडुअल लिबर्टी*

ब्रूस स्मिथ—*लिबर्टी ऐण्ड लिबरलिज्म*

स्पेन्सर—*ड्यूटी आफ दी स्टेट*

" —*लिमिट्स आफ स्टेट ड्यूटी*

---

‡ जे० डब्ल्यू० गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस, पृष्ठ २९८।

स्पेन्सर—पूअर ला

,, —ऐडुकेशन

,, —सोशलस्टटिक्स ऐण्ड मैन वर्सस दी स्टेट

गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस

गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस

सिजविक—ऐलीमैन्ट्स आफ पौलिटिक्स

विलोवी—नेचर आफ दी स्टेट

अध्याय १५

समाजवाद

पंडित जवाहरलाल नेहरू का विश्वास है कि संसार के धंधे और भारत के प्रश्नों की समस्यापूर्ति का केवल एक मार्ग है और वह समाजवाद है। समाजवाद के अतिरिक्त कोई दूसरी विधि नहीं दिखाई देती जिससे अपने देश-बन्धुओं की दरिद्रता और हीन दशा दूर की जा सके।

समाजवाद का उदय—संसार परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन ही समाजवाद का आदि कारण है। मनुष्य व्यष्टि सत्ता से समष्टि सत्ता की ओर बढ़ रहा है। यह उसका प्राकृतिक विकास है। आदिकाल में मनुष्य जंगलों में किसी प्रकार फल-फूल पर ही अपना जीवन व्यतीत करता था। उसके समस्त कार्य अपने शरीर तक सीमित हुआ करते थे। वह स्वयं ही अपने भोजन का प्रबंध करता था और स्वयं ही अपने शरीर की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध करने को प्रस्तुत रहता था। उस समय न तो पति था न पत्नी वरन् केवल नर तथा मादा मात्र ही हुआ करते थे। उस समय न तो कोई शासक था और न कोई शासित। सभी अपने-अपने शासक तथा शासित थे। कानून का उस समय भय नहीं था। सब अपनी इच्छानुसार कार्य किया करते थे। परन्तु ज्यों ज्यों मानव जीवन का विकास होता गया त्यों त्यो उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता छिनती गयी। मनुष्य क्रमशः सामाजिक जीव बनता गया और उसके परिवार तथा कुटुम्ब बन गये। कुटुम्ब का एक कुलपति बना और उसकी आज्ञा का पालन आवश्यक हो गया। कुटुम्ब में शारीरिक रचना के आधार पर सब के कर्तव्य निश्चित किये गये। क्रमशः इसी भांति जातियों का अभ्युदय हुआ और फिर जातियों से राज्य तथा साम्राज्य आदि बने।

यह विकास केवल मनुष्य के जीवन में ही नहीं वरन् भौतिक संसार में भी हुआ। आदिकाल में मनुष्य के विश्रामस्थान वृक्षों की मोटी-मोटी डालें तथा मोटे-मोटे पत्थर के टुकड़े हुआ करते थे, वे पेड़ की पत्तियों से अपना शरीर ढक

लिया करते थे। परन्तु जैसे-जैसे आदि मनुष्य सामाजिक बनता गया वैसे-वैसे उसकी समस्याएँ भी जटिल होती गयीं; और उसका प्रभाव भौतिक संसार पर भी पड़ा। मनुष्य ने वस्त्र का आविष्कार किया। भाल, बरछी तथा आधुनिक वैज्ञानिक शस्त्रों को बनाया। परमाणु बम भी बनाया। सागर पर चलने वाले जलपोत तथा वायु में उड़नेवाले वायुयान बनाये गये। इतना ही नहीं, दूरदर्शक यन्त्र तथा रेडियो का भी आविष्कार किया गया। रेलगाड़ी, तार आदि अब प्राचीन युग की वस्तुएँ हो गयीं। आधुनिक आविष्कारों से पृथ्वी के प्रत्येक स्थान परस्पर सम्बन्धित हैं। वर्तमानकाल में एक देश का सम्बन्ध दूसरे देश से तथा प्रत्येक देश का उस देश के प्रत्येक प्राणी से इतना घनिष्ठ हो गया है कि एक साधारण घटना विश्वव्यापी युद्ध का रूप धारण कर सकती है। कोई भी मनुष्य अब समाज तथा राष्ट्र से भिन्न नहीं रह सकता। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी राष्ट्र की सीमा के अन्तर्गत है और उसे उस राष्ट्र के शासन का विधान मानना पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य धीरे-धीरे व्यष्टि सत्ता से समष्टि सत्ता की ओर झुकता जा रहा है और उसकी दिन प्रतिदिन की समस्याएँ साधारण से जटिल बनती जा रही हैं।

इन समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेक विद्वान् भिन्न-भिन्न समयों पर अपने मत प्रकट करते रहे हैं। धार्मिक विचार इनमें सब से प्राचीन है। कारण यह है कि प्राचीन समय में सर्व-साधारण का ज्ञान इतना परिष्कृत नहीं था जितना आधुनिक समय में है। सर्व-साधारण में तर्कशक्ति इतनी अधिक न थी जितनी आजकल देखी जाती है। अतः उसे ठीक रास्ते पर लाने के लिए धर्म तथा ईश्वर की सहायता ली गयी। धर्म मनुष्य के जीवन का प्रधान अंग बन गया। कुछ ही दिनों में पादरियों तथा अन्य धर्म-पदाधिकारियों का इतना प्रभुत्व बढ़ गया कि जनता के लिए वे भार स्वरूप हो गये। जो धर्म मनुष्य के सुधार के लिए उपयुक्त हुआ था वही कुछ समय पश्चात् लोगों को प्राचीन मालूम पड़ने लगा और सर्व-साधारण के लिए वह भार-स्वरूप हो गया। पहिले कहा जा चुका है कि मनुष्य व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर हो रहा है। और यह संसार परिवर्तनशील है। परिवर्तन ही मनुष्य का जीवन है। परिवर्तन में ही मनुष्य-जीवन का अस्तित्व है। फलस्वरूप धर्म का भी प्रतिक्रिया होना आवश्यक था। अतः साम्राज्यवाद के प्रारंभकाल में बड़े-बड़े विप्लव हुए। बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ हुईं। कभी पोप और रोम का सर्वोच्च-

पदाधिकारी या अपने प्रभुत्व को बढ़ा लेता, कभी राजा अपने प्रभुत्व का विस्तार करता। जनता पोप के अत्याचारों तथा उसके अमानुषिक धर्म से ऊब उठी थी, वह किसी नवीन विचारधारा को अपनाना चाहती थी। अतः उसने साम्राज्यवादी विचारधारा का समर्थन किया जिससे यूरोप में पुनर्जागरण हुआ। जनता ने धर्मांधता छोड़कर तर्क को अपनाया और उन्होंने पोप के विरुद्ध अपने राजाओं का साथ दिया। पोपशाही का आतंक घटने लगा और यूरोप की भूमि पर छोटे छोटे राज्यों का उदय हो गया जो भविष्य में बड़े बड़े साम्राज्य बन गये। इस साम्राज्यवाद के युग में बड़े बड़े प्रतिभाशाली सम्राट् हुए। भारत में उस समय मुसल-मानों का राज्य था। यहाँ मुहम्मद तुगलक तथा अलाउद्दीन जैसे प्रभुत्वशाली राजा हुए। यूरोप में साम्राज्यवादी युग में नेपोलियन जैसे प्रतिभाशाली पुरुष फ्रांस की गद्दी पर बैठे। रूस में जार का आतंक फैला। परन्तु इन बड़े बड़े सम्राटों का दिन भी निकट था। उन्हें भी धर्म-पदाधिकारियों के समान दुर्गति सहनी पड़ी। साम्राज्यवाद के अंत के लिए समाजवाद का जन्म हुआ।

इसका जन्म फ्रांस की राज्यक्रांति के समय से माना जाता है परन्तु तब से अब तक इसके रूप में परिवर्तन होता रहा है और अब इसका रूप पहिले से बिल्कुल भिन्न हो गया है। आरम्भ में समाजवाद का विरोध साम्राज्यवाद से था परन्तु साम्राज्य के न रहने पर इसका रूप परि-वर्तित हो गया और अब यह पूँजीवाद का विरोध करता है।

समाजवाद को इस नवीन रूप में परिवर्तित करने का श्रेय सर्व प्रथम कार्लमार्क्स को है। मार्क्स ने अर्थशास्त्र की समुचित व्याख्या की और एक नये सिद्धान्त की पुष्टि की। सन् १८४८ ई० में कार्लमार्क्स ने साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) प्रकाशित कर समाजवाद के दर्शन को विश्व के सामने रखा इससे पूर्व भी यूरोप के राष्ट्रों में समाजवादी विचारों का प्रचार था परन्तु अब तक समाजवादी संगठन इतना दृढ़ और अन्तर्राष्ट्रीय नहीं था। कार्लमार्क्स के पूर्व हेगिल के दार्शनिक विचारों का यूरोप में विशेष रूप से प्रभाव पड़ा था। हेगिल के पहिले के सभी विद्वान् संसार को स्थिर अथवा जड़रूप में स्वीकार करते थे परन्तु हेगिल ने इसको सदैव परिवर्तनशील माना है और इसी को हम (Hegelian Dialect) या विरोध—समन्वयमूलक पद्धति मानते है। "उसके मत से यह दृश्यमान जगत एक साथ ही सत्य और

मिथ्या है। निरपेक्षाभाव की तुलना में यह जगत मिथ्या है और भाव के प्रकाशरूप में यह सत्य है। दृश्यमान जगत के अन्तराल में जो सार सत्य है, वह अवश्य ही ईश्वर के भावरूप में वर्तमान है, परन्तु यह सत्य भी कम प्रकाश्य है। यह जड़ जगत जो हमें दृश्यमान होता है, वह भाव की ही अभिव्यक्ति है और यह भाव ही सार सत्य है; जिसे हम जड़ जगत कहते हैं, वह सार सत्य नहीं गौण है। सृष्टि के मूल में भाव के रूप में जो सार सत्य है, उसके क्रम विकास की एक धारा विशेष का हैगिल ने प्रतिपादन किया है वह इस भाँति है—"जब हम किसी सत्य का आविष्कार करते हैं उसी समय उसके विपरीत सत्य का सन्धान भी हमें मिलता है। ये दोनों सत्य परस्पर विरोधी और परस्पर विवादमान हैं। ज्ञान के मार्ग पर जब हम कुछ और अग्रसर होते हैं तो हम देखते हैं कि ये दोनों परस्पर विरोधी सत्य एक ही वृहत सत्य के दो पार्श्व हैं। इन दो विरोधी सत्यों के समन्वय से एक नवीन सत्य का उदय होता है। यही विरोध-समन्वय मूलक सिद्धांत है।"

मार्क्स ने हैगिल की पद्धति का तो अनुसरण किया परन्तु उसके आदर्श को स्वीकार नहीं किया। मार्क्स ने हैगिल के आदर्शवाद का समुचित खण्डन किया है। हैगिल ने ज्ञान की अपेक्षा जीवन को गौण समझा। यदि उसके विचारों की समुचित व्याख्या की जाय तो स्पष्ट होगा कि मानवजीवन का लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति है। परन्तु मार्क्स ने इस विचार का खण्डन किया है। उसके विचार से मनुष्य में मानवता तथा मानवीय उदात्त गुणों का जो विकास हुआ है, वह भावों की विकास-क्रिया का क्रम नहीं है। समाज में रहकर मनुष्य अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो उद्योग करता है, उससे उसकी क्षमता में वृद्धि होती है और क्रमशः यह क्षमता-वृद्धि उसकी सतत् कार्यशीलता का परिणाम है, भावों के विकास का नहीं।

मार्क्स ने केवल एक नये मत का ही प्रतिपादन नहीं किया बल्कि उसने अपने मत के प्रचार के लिए एक संघ भी बनाया। इस संघ का कार्य केवल यूरोप तक ही नहीं सीमित रहा प्रत्युत समग्र संसार में फैल गया। मार्क्स का यह आन्दोलन पूंजीपतियों के विरुद्ध था। उसके विचार से पूंजी एक ऐसी शक्ति है जो समाज के समस्त अंगों पर अपना प्रभुत्व रखती है। दूसरे शब्दों में समाज की आर्थिक रचना ही वह आधार है जिस पर मनुष्य के अन्य कार्यक्षेत्रों की प्रणालियाँ समाजव्यवस्था, राज्यव्यवस्था, साहित्यकला

तथा राजनियम स्थिर है। आर्थिक व्यवस्था ही समाज की नींव है। मनुष्य के अन्य कार्य, साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक उसी के आश्रित हैं।

कार्लमार्क्स लिखता है—"सामाजिक उत्पादन-व्यवस्था में जिसमें मनुष्य संलग्न रहते हैं, वे ऐसे निश्चित संबंध स्थापित करते हैं जो उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं होते। ये उत्पादन संबंध उत्पादन की भौतिक शक्तियों की एक निर्दिष्ट विकसित अवस्था से मिलते-जुलते हैं। इन्हीं उत्पादन संबंधों के योग से समाज की आर्थिक प्रणाली का निर्माण होता है। समाज का यही आधार है, जिसपर विधि और राजनीतिक भवन का निर्माण होता है।" इसी आधार पर उसने इतिहास का पूर्ण आर्थिक विवेचन किया और संसार को यह स्पष्ट किया कि संसार में जितने विप्लव तथा जितनी क्रांतियां होती हैं, उनका मूलभूत कारण अर्थ रहा है। सेना, शासक तथा राष्ट्र आदि विप्लव के सहायक मात्र हुआ करते हैं। मानव जैसे जैसे प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करता चला जा रहा है वैसे वैसे उत्पादक साधनों में परिवर्तन स्वाभाविक रूप से होता चला जा रहा है और इसीलिए समाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक है।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने इसी विकासक्रम का विवेचन इन शब्दों में किया है—"उत्पादन-शक्तियों के विकास की एक मुख्य अवस्था में हम सामन्त और कृषक के स्थान में पूंजीपति और श्रमिक इन दो आधारभूत नये वर्गों को प्रभुत्व में आते हुए देखते हैं। सामाजिक संगठन के इस वर्गाधार के परिवर्तन का यही कारण था कि उत्पादक शक्तियों की एक नयी धारा आ गई थी। जब हम चाहे इच्छानुसार कोई संबंध, उत्पादन शक्तियों में परिवर्तन किये बिना स्थिर नहीं कर सकते। पूंजीवादी युग में उत्पादन की शक्तियों का जो विकास है, उसके भीतर हम स्वामी और सेवक का ठीक प्राचीनकालीन संबंध स्थापित नहीं कर सकते। इसी प्रकार दास-प्रथा के युग में उत्पादन की शक्तियों का जो विकास हुआ था उससे आधुनिक पूंजीपति और श्रमिक नहीं उत्पन्न हो सकते थे। उत्पादक शक्तियों की जैसी अवस्था होती है, सामाजिक उत्पादन के प्रयत्न में हम उत्पादक शक्तियों का जो स्वरूप तैयार करते हैं, उन्हीं के अनुरूप उत्पादन सम्बन्ध स्थापित होते हैं। उत्पादक सम्बन्धों को जोड़ कर समाज का आर्थिक ढांचा

बनता है और आर्थिक ढाँचे के आधार पर राजनीतिक और सांस्कृतिक ढाँचे की दीवार खड़ी होती है।"

यद्यपि मार्क्स आधुनिक समाजवाद का जन्मदाता कहा जाता है परन्तु यह विशेष ध्यान देने की बात है कि आधुनिक समाजवाद मार्क्स के सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है। आधुनिक समाजवाद मार्क्स के सिद्धान्तों से कहीं आगे बढ़ चुका है और उसमें अन्य नवीन सिद्धान्त भी आकर मिल गये हैं। आधुनिक युग के समाजवादी नेता, आचार्य हेराल्ड लास्की तथा आचार्य नरेन्द्रदेव आदि समाजवाद के प्राचीन रूप में संशोधन कर उसे और भी विकसित कर रहे हैं।

सारांश में हम कह सकते हैं कि समाजवाद का विकास आदिकाल से आरंभ हुआ और अब तक हो रहा है और भविष्य में भी जब तक संसार में मानव जाति रहेगी तब तक उसमें विकास का क्रम अबाध्यरूप से होता रहेगा। संभव है यह संसार किसी दिवस एक शासनसूत्र में बँधकर 'वसुधैव कुटुम्बकम" के भाव को पूर्ण करे।

समाजवाद की व्याख्या—जिस युग से होकर हमारा जीवन-स्रोत बह रहा है वह समाजवाद का युग है। आधुनिककाल में यह शब्द बड़ा व्यापक हो गया है। बड़े बड़े शहरों से लेकर ग्राम तक के स्त्री पुरुष समाजवाद के नाम से परिचित हो गये हैं। भारतवर्ष में जब तक अंग्रेजों का राज्य था तब तक समाजवादी नेता कांग्रेस में रहकर कार्य करते थे परन्तु जैसे ही स्वतन्त्रता-संग्राम समाप्त हो गया वैसे ही समाजवादी नेताओं ने अपना एक भिन्न अस्तित्व स्थापित कर लिया है। फलस्वरूप समाजवादी विचार भारतवर्ष में बड़ी देर से प्रारम्भ हुआ और यहाँ के लिए यह नितांत नवीन है। परन्तु संसार के अन्य उन्नतिशील देशों में यह विचार अब बड़ा प्राचीन हो चुका है और प्रायः प्रत्येक नागरिक समाजवाद से पूर्ण परिचित है। अतः समाजवाद की व्यापकता दृष्टिकोण में रखते हुए इसकी एक व्याख्यात्मक आलोचना पाठकों के लिए अति उपयोगी होगी।

समाजवाद एक प्रकार का प्रगतिशील आन्दोलन है, अतः इसकी परिभाषा नहीं बनायी जा सकती। कारण यह है कि यदि हम इस आन्दोलन के विषय में किसी समय में कोई परिभाषा देते हैं तो दूसरे समय में वह उपयुक्त नहीं प्रतीत होगी और हमें उस समय की परिस्थिति के लिए दूसरी परिभाषा बनानी पड़ती है। एक साधारण उदाहरण इसके लिए पर्याप्त होगा। यथा, प्रत्येक देश की निर्धन जनता ने अपने अपने देश के

पूँजीपतियों का विरोध किया और महान क्रांति का आयोजन किया परंतु किसी देश में वह आन्दोलन विशाल मिल के श्रमिकों द्वारा चलाया गया, किसी देश में वह कृषकों द्वारा चलाया गया और इसी आधार पर उन आन्दोलनों के नाम भी भिन्न भिन्न हुए। भारतवर्ष का ही दृष्टांत ले लीजिए। समाजवाद के ही अन्तर्गत दो भिन्न दलों का संगठन है। एक श्रमिक दल है जिसमें बड़ी बड़ी मिलों और कल कारखानों के श्रमिक हैं और एक किसान पार्टी है जिसमें देहात के खेतिहर हैं। पहिला दल देश के पूंजीपतियों के विरोध में है और दूसरा देश के जमींदारों का विरोध करता है। यद्यपि एक कृषक भी एक मजदूर का शोषण करता है परन्तु वर्तमान परिस्थिति में उनका आपस में कोई विरोध नहीं। इतनी असाध्यता होने पर भी विद्वानों ने समाजवाद की परिभाषा देने का पूर्ण प्रयत्न किया परन्तु समस्त परिभाषाएँ या तो एकांगी हैं अथवा पक्षपात-पूर्ण हैं। दो एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

जर्मन विद्वान् तथा अर्थशास्त्रवेत्ता रोशर (Roscher) के कथनानुसार समाजवाद उन सामान्य प्रवृत्तियों की ओर अधिक ध्यान देता है जो मनुष्य के स्वभावानुगत नहीं हैं। यदि इस अर्थशास्त्रवेत्ता के कथन का तात्विक विवेचन या वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो उसके विवेचन की सत्यता कहाँ तक है स्पष्ट हो जाय। इसका निर्णय कौन कर सकता है कि अमुक वस्तु मनुष्य के स्वभावानुगत है और अमुक नहीं है? मनुष्य का स्वभाव तो ऐसा विचित्र है कि हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य का स्वभाव अमुक प्रकार का है। इसी प्रकार एक दूसरा विद्वान् हर्नशा (Hearnshaw) पक्षपात रहित नहीं है। जब वह यह कहता है कि समाजवाद केवल दो श्रेणियों के मनुष्यों को आकर्षित करता है, प्रथम पापी और द्वितीय विक्षिप्त व्यक्ति। ऐसे विद्वान् के विचार से तो भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा अन्य विदेशी समाजवादी विद्वान् पापी अथवा विक्षिप्त व्यक्ति हैं।

"समाजवाद की परिभाषा में कठिनाई उत्पन्न होने का कारण उसकी बहुमुखी प्रतिभा है। समाजवाद का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। मिल-मालिक तथा मजदूरों की समस्याओं से लेकर राष्ट्र का कर्तव्य क्या है, और उसकी सीमा कहाँ तक है, आदि प्रश्न समाजवाद के अन्तर्गत आते हैं। एक सज्जन ने समाजवाद को शेषनाग तक कह डाला। जब तक आप एक सिर का खण्डन करें तब तक दूसरा सिर निकल आता है। समाजवाद

की वृद्धि रावण के वंश की भाँति बड़ी शीघ्रतापूर्वक होती जा रही है। अतः समाजवाद की परिभाषा करना अत्यंत दुःसाध्य है।

तीसरे समाजवाद, जैसा हमें विश्वास है, एक प्रकार का दर्शन तथा धर्म है। समाजवाद एक प्रकार का जीवन अथवा जीवन का एक ढंग है। यह एक आदर्श है अतः जिस प्रकार हम अन्य वस्तुओं की परिभाषा निश्चित कर सकते हैं, ठीक उसी रूप में हम समाजवाद की परिभाषा नहीं निश्चित कर सकते। समाजवाद एक प्रकार का ऐसा अंकुरित वृक्ष है जिसकी परिभाषा द्वारा कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। यह एक प्रकार का जीवित आन्दोलन है और उसके लिए हम एक व्यवस्था निश्चित करके उसे निर्जीव नहीं बना सकते। समाजवाद के लिए भविष्य में अनेक आशायें की जा सकती हैं। उसमें नूतन विचारों के लिये बहुत बड़ा स्थान सुरक्षित है। समाजवाद में हिंदूधर्म की भाँति परस्पर विरोधी विचार भी समाविष्ट हो सकते हैं। यदि कोई समाजवादी विद्वान् किसी विशेष व्यवस्था का प्रतिपादन करता है तो दूसरा समाजवादी उस व्यवस्था की कटु आलोचना उपस्थित कर सकता है। समाजवाद समय के परिवर्तन के साथ अपनाया जा सकता है और वह समाज के प्रत्येक प्राणी के लिए उपयुक्त हो सकता है। समाजवाद वृद्ध, युवक स्त्री तथा बच्चों सब के लिए योजनाएं प्रस्तुत करता है। यह नहीं कि अमुक व्यक्ति युवक है और केवल वही समाजवाद के प्रगतिशील नियमों पर चल सकता है अन्य उससे वंचित रहें। दूसरे यह कि वह जीवन के तथा समाज के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डालता है। समाजवाद समाज की सामूहिक सुविधा को लक्ष्य बनाकर अग्रसर होता है। वह केवल कुछ चुने हुए अपने दल के लोगों की ही सुविधा को ध्यान में नहीं रखता। समाजवाद एक प्रकार का राजनीतिक स्वतन्त्रता का संग्राम है जिसका क्रम निरंतर चलता रहा है। यह प्रजातन्त्र में भविष्य की एक व्यवस्था है। स्वतन्त्रता जिसके सुख को हम प्रजातन्त्र में अनुभव करते हैं बिना समाजवादी व्यवस्था के निरर्थक है। बिना समाजवादी व्यवस्था के प्रजातन्त्र किसी एक दल के केवल कुछ मनुष्यों के सुख का साधन मात्र है। ऐसे प्रजातन्त्र से समाज को कोई विशेष लाभ नहीं होता। ऐसे प्रजातन्त्र में केवल कुछ लोग आनन्द मनाते हैं और दूसरे दुःखी रहते हैं।

इतनी कठिनाई होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि समाजवाद के लिए परिभाषा की आवश्यकता नहीं। इसकी परिभाषा इतनी ही आव-

श्यक है जितनी अन्य वादों की। बिना परिभाषा के हम किसी वाद के दृष्टिकोण को ही नहीं समझ सकते। अभिप्राय केवल इतना ही है कि समाजवाद की कोई वैज्ञानिक परिभाषा नहीं हो सकती। समाजवाद का उद्देश्य तथा लक्ष्य समझने के लिए अधोलिखित कुछ परिभाषाएँ उपस्थित की जा रही हैं।

सेलार्स (Sellars) के अनुसार समाजवाद एक प्रजातन्त्र आन्दोलन है जिसका उद्देश्य समाज की आर्थिक व्यवस्था का जब कभी जहाँ तक न्यायसंगत हो और अधिक से अधिक जहाँ तक किया जा सके सुधार है। जिससे प्रत्येक को अधिकतम् स्वतन्त्रता तथा न्याय में अधिकार प्राप्त हो।

According to Sellars it is a democratic movement whose purpose is the securing of an economic organization of society which will give the maximum possible at one time of justice and liberty.

हुगन (Hughan) के अनुसार यह एक राजनैतिक आन्दोलन है जो श्रमिकों द्वारा चलाया गया है और जिसका उद्देश्य मिल मालिकों के सम्मिलित शोषण को बन्द करना है, और ऐसी प्रजातन्त्र-व्यवस्था स्थापित करना है जिसमें उत्पादन यंत्र तथा वितरण-शक्ति समाज के अधिकार में हो।

Hughan defines socialism as the political movement of the working class which aims to abolish exploitation by means of the collective ownership and democratic management of the basic instrument of production and distribution.

"एक बार श्रीयुत ब्राउघान से एक न्यायाधीश ने पूछा कि समाजवाद क्या है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि समाज के सुधार के लिए प्रत्येक प्रेरणा का नाम समाजवाद है। इस पर न्यायाधीश ने कहा तब तो हम सभी समाजवादी हैं। अभियुक्त ने उत्तर दिया कि संक्षिप्त रूप में हम भी कुछ ऐसा ही समझते हैं।"

लिटर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पैरोल डि फिलासफी पाजिटिव' में लिखा है कि समाजवाद राष्ट्र के स्वरूप में परिवर्तन करने के लिए एक प्रेरणा है जिसके लिए आर्थिक व्यवस्था का विचार एक सुन्दर पथ है और इसका प्रचार श्रमिकों द्वारा किया जा रहा है।"

"वेस्टकॉट के विशप ने एक पत्र में जो हल नगर की चर्च कांग्रेस में प्रथम अक्तूबर १८६० को पढ़ा गया था और जिसका अब पुस्तक रूप बन गया है, लिखा है कि समाजवाद की सर्वश्रेष्ठ पहिचान यह है कि वह व्यक्तिवाद के विरुद्ध है। समाजवाद तथा व्यक्तिवाद मानवता के दो विपरीत दृष्टिकोण हैं व्यक्तिवाद मानवता को ऐसे परमाणुओं-द्वारा विरचित समझता है जो परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। इसके ठीक विपरीत समाजवाद मानवता को एक प्राणी समझता है जिसके विभिन्न प्रकार के मनुष्य विभिन्न अंगमात्र हैं और एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। इस प्रकार समाजवाद और व्यक्तिवाद अपने लक्ष्य तथा कार्यप्रणाली दोनों में भिन्न हैं। समाजवाद की कार्यप्रणाली का आधार सहकारिता है और व्यक्तिवाद की कार्यप्रणाली का आधार प्रतिस्पर्धा है। समाजवाद का उद्देश्य सार्वजनिक सेवा है, और व्यक्तिवाद का उद्देश्य समाज में अपना व्यक्तित्व स्थापित करना है। समाजवाद ऐसे संघ का प्रतिपादन करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के उत्कर्ष का पूर्ण परिचय देने का अवसर प्राप्त हो। व्यक्तिवाद मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रखता है और भविष्य में जनता की शुभ-कामना करता है।

'समाजवाद क्या नहीं है—जिस प्रकार मध्यवर्ती युग में राजाओं तथा सामन्तों का आतंक जनता पर छाया हुआ था, प्रजातन्त्र का नाम लेना बड़ा अपशकुन समझा जाता था। इसी प्रकार आजकल समाजवाद का नाम लेना एक प्रकार से देश के प्रति विद्रोह करना समझा जाता है। समाजवाद के शत्रु इसको अनेक नामों से पुकार कर इसे पददलित करना चाहते हैं। कोई इसे अराजकतावाद के नाम से पुकारता है तो कोई इसे साम्यवाद के नाम से पुकारता है। अतः यह स्पष्ट करना परमावश्यक है कि समाजवाद इन दोनों से अपनी एक भिन्न सत्ता रखता है। वह न तो अराजकतावाद है और न साम्यवाद ही है।

समाजवादी समाज में एक न्यायोचित ढंग से परिवर्तन चाहता है। समाजवाद में यह विशेष ध्यान दिया जाता है कि कोई भी परिवर्तन अन्यायपूर्ण रीति से न किया जाय। परन्तु अराजकतावाद न्यायोचित तथा अन्यायोचित विधि का विचार नहीं करता। समाजवाद का सिद्धान्त अधिक विधान का सिद्धान्त है और इसका आधार राज्य सत्ता है। परन्तु अराजकतावाद का सिद्धान्त आर्थिक विकेन्द्रीकरण पर आश्रित है और अराजकतावाद

प्रगतिशील तथा आदर्शवादी है। किसी ने अराजकतावाद की उपहासास्पद आलोचना की है कि विक्षिप्त व्यक्तिवाद ही अराजकतावाद है।

कुछ लोग समाजवाद का अर्थ परिवर्धित कर्मचारी वर्ग समझते हैं। परन्तु यह ऐसे विचारक हैं जो शासन व्यवस्था को एक बाहर की वस्तु समझते हैं। यदि हम यह मान लें कि सरकार शासित व्यक्तियों द्वारा बनाई गयी है तो प्रजा उस प्रकार का एक अनावश्यक अंग बन जाती है और यह कहना कि परिवर्धित कर्मचारी वर्ग ही समाजवाद है असत्य सिद्ध होता है।

श्रीयुत ब्राउला लिखते हैं कि समाजवाद व्यक्तिगत संपत्ति का समर्थन नहीं करता और यह चाहता है कि सारी संपत्ति राष्ट्र की हो और राष्ट्र ही सब से काम लेने का अधिकारी हो और उपज को राष्ट्र ही सब में समान रूप से वितरित करे। परन्तु ब्राउला का यह कथन वास्तविकता से अधिक दूर है। समाजवाद यह कभी नहीं चाहता कि समस्त संपत्ति राज्य के आधीन रहे। समाजवाद तो केवल इतना चाहता है कि उत्पादक साधनों पर राज्य का अधिकार हो। समाजवाद सीमित वृत्त में निजी संपत्ति का समर्थन करता है।

फिलन्ट महोदय अपनी पुस्तक समाजवाद (Socialism) में लिखते हैं कि समाजवाद की दो भिन्न शाखायें हैं; प्रथम साम्यवाद और दूसरी समूहवाद है। यह दोनों वाद समाजवाद के अन्तर्गत स्पष्टरूप से आते हैं और यह दोनों वाद बड़ी सरलतापूर्वक पहचाने जा सकते हैं। फिलन्ट महोदय का ही दूसरा प्रमाण लीजिये; वह लिखते हैं कि प्रत्येक साम्यवादी समाजवादी है परन्तु प्रत्येक समाजवादी साम्यवादी नहीं है। कारण यह है कि यह समाजवाद के अन्तर्गत दो विभिन्न सिद्धांतों को सम्मिलित किया जाता है। परन्तु समाजवाद का एक विशेष सिद्धांत जो साम्यवाद को बिलकुल पृथक् कर देता है यह है कि साम्यवाद प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतानुसार समान वितरण को लक्ष्य में रखता है, किन्तु समाजवाद का लक्ष्य यह है कि वितरण सबकी उत्पादन-क्रिया के अनुसार होना चाहिए। जो जिस श्रेणी का कार्यकर्त्ता हो और जितना वह कार्य कर सकता हो उसी के अनुसार उत्पति का वितरण भी होना चाहिए। समाजवाद केवल व्यक्तिगत में वृद्धि के साधनों को रोकना चाहता है परन्तु साम्यवाद तो व्यक्तिगत संपत्ति का समर्थक ही नहीं है।

दूसरे समाजवाद विकासवादी है और साम्यवाद क्रांतिकारी है। साम्यवाद समाजवाद से कम स्पष्ट और अधिक काल्पनिक तथा अधिक

नौकरशाही है। समाजवाद राष्ट्रवादी है परन्तु साम्यवाद का अन्तिम लक्ष्य राष्ट्र की अन्त्येष्टि क्रिया कर देना है।

इन कटु आलोचनाओं के अतिरिक्त भी अनेकों अनुचित धारणाएँ समाजवाद के विरुद्ध फैली हुई हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया जा रहा है।

कुछ लोगों का विचार है कि समाजवाद धर्मविरोधी है। समाजवाद ईश्वर में विश्वास नहीं करता और न पूजा-गृहों को ही कोई महत्व देता है। प्रत्युत यह मंदिर, मस्जिद तथा गिर्जा-गृहों को पाठशालाओं तथा विश्व-विद्यालयों में परिणत कर देना चाहता है।

परन्तु यह लांछन वास्तविकता से अत्यंत परे है। समाजवाद अनीश्वर-वादी नहीं है और न वह पूजा-गृहों को पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में परिणत ही करना चाहता है। सत्य यह है कि समाजवाद ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दोनों का ही समान दृष्टि से आदर करता है। एक समाजवादी के लिए जितना आदरणीय तथा आवश्यक एक पुजारी है उतना ही आदरणीय तथा आवश्यक एक भंगी भी है। समाजवादी व्यवस्था में यह नहीं होगा कि पुजारी को इतना भोजन मिले कि वह अपनी तोंद के भार को न सह सके और भंगी को इतना कम मिले कि वह हड्डियों का एक पञ्जर बना रहे। समाजवादी व्यवस्था में तो दोनों को उनके परिश्रम के अनुकूल ही भोजन तथा वस्त्र आदि मिलेंगे। पुजारी को भी, यदि वह अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेगा, भूखा मरना होगा।

कुछ लोगों की धारणा यह है कि समाजवाद पारिवारिक जीवन का विरोधी है, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रांतिमूलक है। समाजवाद का परिवार से कोई विरोध नहीं है। समाजवाद तो एक आर्थिक आन्दोलन है। वह समाज की आर्थिक त्रुटियों की ओर अधिक ध्यान देता है। समाजवाद यह कदापि नहीं चाहता कि पिता-पुत्र, पति-पत्नी तथा भाई-भाई का संबंध विच्छेद हो। समाजवाद तो भ्रातृ-भावना को प्रोत्साहन देना चाहता है। समाजवाद यह चाहता है कि केवल कुटुम्ब में ही नहीं बल्कि संसार में एक प्राणी दूसरे प्राणी को अपना भाई समझे। समाजवाद 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का विशेष समर्थक है।

कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि समाजवाद शील, सदाचार, सभ्यता तथा संस्कृति का विरोधी है। परन्तु यह धारणा भी निर्मूल तथा भ्रांतिपूर्ण है। समाजवाद मानवता की अभिवृद्धि चाहता है संस्कृति की

रक्षा चाहता है, वह नैतिकता का उत्थान चाहता है और सभ्यता की रक्षा चाहता है। वह संस्कृति तथा सभ्यता का कदापि विरोधी नहीं है।

कुछ लोग समाजवाद की निन्दा करने के लिए यह भी कहते हैं कि समाजवाद औद्योगिक केन्द्रीयकरण चाहता है, जिसका फल यह होगा कि हस्तकला अवनत हो जायगी। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। औद्योगिक केन्द्रीयकरण से हस्तकला संगठित रूप में अधिक विकसित होगी। आधुनिक यंत्रों द्वारा कार्य करने से मनुष्य का समय भोजन तथा वस्त्र की सामग्री के उत्पादन में कम लगेगा इसलिए शेष समय विद्याध्ययन तथा अन्य उपयोगी कलाओं के सीखने में व्यतीत होगा और हस्तकला की वृद्धि होगी।

समाजवाद की व्यवस्था—आज का युग अतीत के युग से कहीं आगे बढ़ चुका है। उत्पत्ति के अनेकों साधन उपलब्ध हो गये हैं। मशीनों से जुताई बुवाई का काम लिया जाता है। सिंचाई के लिए नहरों का नवीन आयोजन हो रहा है। यातायात के साधन में बड़ी वृद्धि हो गई है। रेल तार, तथा हवाई जहाज आदि के साधन मानव के लिए उपलब्ध हैं। परन्तु हाय रे मानव समाज! यह समस्त साधन केवल कुछ मनुष्यों के हित के लिए ही उपयुक्त हो रहे हैं। समाज के अधिकांश मनुष्य इस साधन के लाभ से वंचित रह जाते हैं। कहाँ तक कहा जाय और किससे कहा जाय? भारतवर्ष में अभी ऐसे मनुष्य हैं जिन्होंने अभी तक रेलगाड़ी तक नहीं देखी है। भारत को ही नहीं वरन् संसार की बड़ी दयनीय दशा है। रेलगाड़ी के तृतीय श्रेणी के डिब्बे में जब हम खचाखच भीड़ देखते हैं और उसी के पास जब हम प्रथम श्रेणी के डिब्बे को देखते हैं जिसमें केवल एक ही व्यक्ति विश्राम करता रहता है तो हमें अत्यन्त क्षोभ होता है। प्रथम श्रेणी के डिब्बे में जहाँ केवल एक ही मनुष्य रहता है, पंखे की भी सुविधा रहती है। परन्तु तृतीय श्रेणी में जहाँ गर्मी के कारण अत्यन्त आकुलता रहती है कोई पंखे का प्रबंध नहीं होता। कृषक दिनरात कार्य करता करता थक जाता है परन्तु सायंकाल को उसे उचित भोजन भी नहीं प्राप्त होता। उसके बच्चों की अध्ययन की सुविधा को कौन कहे भोजन भी पेटभर नहीं मिलता। मनुष्य जाति के कुछ बच्चे भयानक रोगों से पीड़ित तपड़ते हुए सड़कों पर इधर-उधर घूमा करते हैं परन्तु किन्हीं महाशय के कुत्ते के लिए डाक्टर साहब दौड़-धूप मचाते हैं।

ऐसा क्यों है? क्या कारण है कि एक मनुष्य को भोजन तक न मिले और दूसरा अन्न का अपव्यय करे? एक समाजवादी इसका कारण

स्पष्ट करते हुए लिखता है कि उत्पादन के समस्त साधनों पर थोड़े से व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों का अधिकार है। भूमि, भोजन, पूँजी और अन्य आर्थिक व्यवस्थाओं पर केवल अल्प व्यक्ति नियंत्रण रखते हैं। प्राचीन अधिकारों के नाम पर ये थोड़े से व्यक्ति संसार की संपत्ति पर अपना पैतृक अधिकार बनाये हुए हैं। चाहे बेटा कितना ही निकम्मा क्यों न हो परन्तु उसे भोग के अनेकानेक साधन उपस्थित हैं। ये अल्प-व्यक्ति समाज की आवश्यकताओं को बिना ध्यान दिये अपनी भोग-विलास की सामग्री अधिक पैदा कराते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि निर्धन अपने भोजन और वस्त्र के लिए तरसते रहते हैं और संपत्तिशाली अपनी विलासिता में निमग्न रहते हैं। ये समाज के विशाल समुदाय को शिक्षा तथा संस्कृति से वंचित किये रखते हैं जिससे समाज की दशा सुधरने में विलम्ब हो रहा है। अशिक्षा का तो निर्धन तथा पददलित समाज पर इतना प्रभाव है कि चमार अपने को सदैव के लिए हीन ही समझे रहता है। उससे यदि कहा जाय कि तुम पढ़-लिखकर कोई ऊँची नौकरी करो तो उसका स्वभावतः यही उत्तर होगा कि हमारे भाग्य में चमार का जन्म ही लिखा था तो मैं विद्या कैसे पढ़ लूं। इस धनी समुदाय ने अधिकांश जनता को अशिक्षित बना दिया है जिससे उन्हें अपनी स्थिति का कभी ध्यान भी नहीं होता और वह अपनी इस पददलित स्थिति में पूर्ण संतुष्ट है। इन बेचारे निर्धनों को इस धनिक वर्ग ने इतना गुलाम बना डाला है कि वे अपने मालिक के सामने चारपाई आदि पर बैठना भी उचित नहीं समझते।

परन्तु क्या इन श्रमिकों की यही हीन ही दशा सदैव बनी रहेगी ? जिन्होंने अपना रक्त बहाकर देश की अनेक योजनाओं को पूर्ण किया है, जिन्होंने समय पड़ने पर समाज के लिए अपने को बलिवेदी पर चढ़ा दिया है। जिनके सहयोग के बिना संसार का कोई भी अनुसंधान तथा आविष्कार संभव नहीं हुआ है। प्रत्येक आविष्कार में इन निर्धन व्यक्तियों का ही विशेष हाथ रहा है। तो क्या इनकी दशा सदैव ही दयनीय बनी रहेगी ? यह कभी नहीं हो सकता। इनकी अवस्था में परिवर्तन अवश्य होगा।

[illegible] ने लिखा है कि 'एक भी विचार, एक भी आविष्कार, जिसका [illegible] में हुआ है, ऐसा नहीं है जिसे सबकी संपत्ति न कहा जाय। ऐसे हजारों [illegible] आविष्कारक हुए हैं जो दरिद्रता में ही मर गए [illegible] मस्तिष्क से वे [illegible] निकली हुई हैं जिन्हें आज मानवीय [illegible] कहा जाता है। प्रत्येक देश का यही इतिहास है—यही

रात्रि का जागरण, वही दरिद्रता, वही निराशायें वही हर्ष और वही अज्ञात मजदूरों की कई पीढ़ियों द्वारा किये गये आंशिक सुधार जिनके बिना अधिक से अधिक उर्वरा कल्पना शक्ति व्यर्थ सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त एक बात और है। प्रत्येक नवीन आविष्कार एक योग है—ऐसे असंख्य आविष्कारों का परिणाम है, जो यंत्र-शास्त्र और उद्योग-धंधों के विशाल क्षेत्र में उससे पहिले हो चुके हैं। विज्ञान और उद्योग, ज्ञान और प्रयोग, आविष्कार और व्यवहारिक सफलता, मस्तिष्क और हाथ का कौशल, मन और स्नायु का श्रम यह सब साथ साथ कार्य करते हैं। प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक प्रगति और मानव संपत्ति में प्रत्येक वृद्धि भूत तथा वर्तमान में सम्मिलित मानसिक और शारीरिक श्रम का फल है।"

"अतः जब प्रत्येक कार्य समाज द्वारा किया गया है तो समाज कोही उसका फल भी मिलना चाहिए न कि समाज के कुछ चुने हुए व्यक्तियों को। परन्तु आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन किये बिना यह असंभव है और सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिए मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रचलित आर्थिक व्यवस्था का नाश और उसके स्थान पर एक नवीन व्यवस्था की स्थापना करना और समाज में मौलिक परिवर्तन करना एक ऐसी घटना है जो विधानवाद द्वारा संभव नहीं है। क्योंकि इस परिवर्तन का स्थापित स्वार्थ विरोध करेगा और आर्थिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन संभव न होगा। अतः क्रांति के द्वारा राज्यसत्ता पर समाजवादियों का आधिपत्य आवश्यक है। राज्यसत्ता पर समाजवादियों का अधिकार हो जाने पर ही समाजवादी व्यवस्था कार्य रूप में परिणत की जा सकती है।"

"वह समाजवादी व्यवस्था जिसे समाजवाद प्राप्त करना चाहता है सेलर्स (Sellars) के विचार से निम्न प्रकार की है :—

प्रथम—समस्त उत्पादक साधनों—भूमि कल-कारखानों, आकर, बैंकों रेलों, जहाजों, जंगलों आदि पर समाज का अधिकार होगा। श्रमिक तथा पूँजीपति न रहेंगे। प्रत्येक व्यवसायिक क्षेत्र में सहयोग समितियों की स्थापना की जायगी। जमींदारी प्रथा का अन्त हो जायगा और कृषक अपनी भूमि लगान पर दूसरों को न दे सकेंगे। सहकारिता के सिद्धांत पर कृषि की जायगी।

द्वितीय—इस प्रकार समाज में प्रचलित वर्ग संघर्ष का अन्त हो जायगा। पूँजीपति, श्रमिक, जमींदार और किसान जैसे वर्ग न रहेंगे। सब

मनुष्य अपने परिश्रम का फल भोगेंगे। कोई व्यक्ति किसी के परिश्रम का लाभ न उठा सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति को समाज में समान अधिकार मिलेगा। उसे समाज में प्रत्येक प्रकार की सुविधा मिलेगी।

तृतीय—वस्तुओं का दुरुपयोग कम कर दिया जायगा। आधुनिक व्यवस्था में धन व्यर्थ व्यय किया जाता है। अमेरिका में लगभग ६ सहस्त्र पत्र बाजार में रखे जाते हैं परन्तु उनमें आधे भी नहीं बिकते। संसार के व्यक्तियों को अन्न भोजन के लिये नहीं मिलता परन्तु संयुक्त राष्ट्र में गेहूँ इसलिये जला दिया गया जिससे गेहूँ का मूल्य घट न जाय। पैदावार अधिक हो गयी थी और यह भय था कि यह गेहूँ बाजार में रख दिया जायगा तो गेहूँ के दाम कम हो जायेंगे। केवल इतना ही नहीं देश की रक्षा के लिये आजकल एक बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ती है जो समाज के लिये अन्य उपयोगी कार्य में लायी जा सकती है। इस प्रकार के एक नहीं अनेक उदाहरण पाये जाते हैं जिनसे व्यर्थ व्यय होता है। समाजवादी व्यवस्था में ये व्यय बन्द हो जायेंगे।

आजकल बड़ी बड़ी कम्पनियों तथा बड़े बड़े राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण समाज को बड़ी हानियाँ उठानी पड़ रही हैं। कम्पनियाँ अपने लाभ के लिए दूसरी कम्पनियों की अपेक्षा कम दामों में सामग्री बेचना चाहती हैं और इसके लिये वे अमानुषिक कार्य कर डालती हैं जिससे समाज को हानि उठानी पड़ती है। कभी कभी ऐसा होता है कि एक कम्पनी दूसरी कम्पनी को नष्ट करने के लिए उसकी समस्त सामग्री को लेकर उसे हीन दशा में कर देती है और उसके पश्चात् उसे बाजार में रखती है और जो उसे लेता है वह हानि में रहता है। अतः लोग उस कम्पनी के बने हुए माल को घृणित दृष्टि से देखने लगते हैं। समाजवाद में भी प्रतिद्वन्द्विता चलेगी परन्तु उस प्रकार की नहीं कि उससे देश को हानि हो। परन्तु वह प्रतिद्वन्द्विता इस भांति चलेगी जिससे देश को लाभ हो। उदाहरण के लिए उत्पादन कार्यों के लिए प्रतिद्वन्द्विता चलेगी।

चतुर्थ—समाजवाद संसार की दुर्दशा दूर करने के लिए यथो-[illegible] समाज के सम्मुख प्रस्तुत करता है। आधुनिक युग में कितने ही ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जो आर्थिक स्थिति के कारण उन्नति नहीं कर सकते। उनके [illegible] हैं और समाज में उन्हें [illegible] के कारण [illegible] नहीं मिलता। परन्तु समाजवाद समाज के सामने ऐसी व्यवस्था उपस्थित करता है कि उसमें प्रत्येक [illegible] व्यक्ति को यथोचित स्थान प्राप्त होगा।

पञ्चम—समाजवादी व्यवस्था से हमारी सुषुप्त शक्ति का पुन-[illegible]गिरण होगा। आधुनिक व्यवस्था में तो अधिकांश मनुष्य अशिक्षित हैं [illegible]ौर जो शिक्षित भी हैं उनको अनुकूल शिक्षा नहीं मिली है जिससे हमारी [illegible]धिकांश शक्ति सुषुप्त अवस्था में ही है। जब प्रत्येक को अपनी शक्ति का [illegible]रिचय देने का अवसर मिलेगा तो उस समय समाज में आज से भी कहीं [illegible]ड़े वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दिखाई पड़ेंगे।

षष्ठ—समाजवादी व्यवस्था में हमारा कार्य बड़ी सुगमता से और [illegible]म समय में हो जायगा। हमें अधिक कार्य करने की आवश्यकता न [illegible]ड़ेगी। अधिकांश कार्य मशीनों द्वारा किया जायगा और जो समय तथा [illegible]रिश्रम छोटी-छोटी योजनाओं को पूर्ण करने में लगता है वह लम्बी [illegible]ोजनाओं में नहीं लगेगा। खेती तथा अन्य उद्योग धन्धों पर राष्ट्र का [illegible]धिकार रहेगा। छोटे हलों के स्थान पर बड़े बड़े ट्रैक्टरों से जुताई होगी। [illegible]जस काम के लिए आज १०० आदमी लगे हुए हैं उसे मशीनों द्वारा [illegible]माजवादी व्यवस्था में केवल एक ही मनुष्य कर सकेगा। कार्य सभी के [illegible]लए उसकी बुद्धि तथा बल के अनुसार अनिवार्य होगा। इस प्रकार समाज [illegible]ी व्यवस्था में मनुष्य का समय बहुत बच जायगा। उसे अपनी जीविका [illegible]ेवल कुछ घंटों के काम करने से ही मिल जायगी। शेष समय वह अन्य [illegible]किसी उपयोगी कार्य में लगा सकेगा।

सप्तम—समाजवाद इस प्रकार एक सुन्दर तथा सुदृढ़ समाज की [illegible]स्थापना करेगा। न तो उसमें कोई व्यक्ति आलस्य करेगा और न [illegible]निष्क्रिय ही बनने पायेगा। इसके अतिरिक्त किसी को अत्यन्त कार्य भी [illegible]न करना पड़ेगा। प्रत्येक के लिए उसकी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार [illegible]कार्य निश्चित हो जायगा। इस प्रकार सब को मानसिक शांति भी मिलेगी। आधुनिक समाज में क्या है? जो एक सच्चा सैनिक बन सकता है उसे दफ्तर का बाबू बनना पड़ता है और जो एक पुलिस का काम कर सकता है उसे एक शिक्षक बनना पड़ता है। इससे समाज में अत्यन्त असंतोष फैला हुआ है। समाज में कोई भी कर्मचारी अपने कर्तव्य का पालन सुचारु रूप से नहीं कर रहा है और न उस कार्य में उस मनुष्य की कोई रुचि ही होती है। इसके फलस्वरूप समाज को बड़ा कष्ट उठाना पड़ रहा है। जो जैसा है वही चिन्तित और दुखी है।"

"सारांश यह है कि समाजवाद का अभिप्राय हानिकारक प्रतिद्वंद्विता का अन्त कर देना है। पूंजीवाद को समाप्त कर देना है और उसके स्थान

पर उत्पादक यंत्रों का पुनर्वितरण करना है। इस भाँति पैतृक अधिकारों की इतिश्री हो जायगी।

समाजवाद की आलोचना तथा प्रत्यालोचना

(१) आलोचना—समाजवाद के आलोचक यह कहते हैं कि समाजवाद का अभिप्राय परिवर्धित कर्मचारी राज्य (extended bureaucracy) है। प्रत्येक वस्तु पर सरकार का अधिकार होगा। कोई भी वस्तु व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होगी। प्रत्येक मनुष्य सरकारी कर्मचारी बन जायगा और प्रत्येक का कार्य सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जायगा। इस प्रकार प्रत्येक के कार्य का फल भी सरकार द्वारा निश्चित किया जायगा।

प्रत्यालोचना—यद्यपि यह आलोचना सुन्दर है परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि समाजवादी प्रजातन्त्र में जो कुछ मनुष्य सीखे हैं वह पैतृक संपत्ति नहीं है। सरकार कोई शासन करनेवालों की जाति नहीं है। उससे डरने की आवश्यकता क्या है? और दूसरे सरकार पर नियन्त्रण रखने के लिए अन्य संस्थाओं की वृद्धि हो रही है। सरकार भी एक प्रकार की संस्था है जिसे मनुष्य चलाते हैं। सरकार कोई बाहर की वस्तु नहीं है। अतः उससे डरने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

(२) आलोचना—कुछ आलोचक समाजवाद पर यह आक्षेप लगाते हैं कि यह हमें वर्ग-संघर्ष की शिक्षा देता है और यह निर्धनों का धनवानों पर एक प्रकार का आक्रमण है।

प्रत्यालोचना—वर्ग-संघर्ष साम्यवाद की शिक्षा है। समाजवाद की शिक्षा यह नहीं है। हाँ कुछ सीमा तक यह कहा जा सकता है कि यह निर्धनों का धनवानों पर एक प्रकार का आक्रमण है परन्तु समाजवाद पर यह आलोचना भी लागू नहीं होगी क्योंकि समाजवाद समाज के हित के लिए है। यह समाज का अहित नहीं चाहता। प्रत्येक [illegible] में [illegible] का अधिकार है।

(३) आलोचना—कुछ [illegible] समाजवाद पर यह आक्षेप लगाते हैं कि समाजवाद में मनुष्य स्वतः काम करना पसन्द न करेगा। प्रत्येक [illegible] चाहेगा कि [illegible] कम-से-कम काम करे और [illegible] नहीं। इस प्रकार समाज का सारा काम

विकृत रूप में होगा। न तो किसी कार्य को कोई प्रारंभ करेगा और न उसे किसी कार्य के करने में उत्साह ही रहेगा।

प्रत्यालोचना—परन्तु समाजवाद के ये आलोचक मनुष्य के स्वभाव को ठीक रूप से नहीं पहचान सके हैं। मनुष्य में सब से अधिक चाह समाज में सम्मान पाने की है। इसका ज्वलंत उदाहरण हमें आज भी देखने को मिलता है। कितने ही सैनिक अपनी वीरता का पदक प्राप्त करने के लिए अपने प्राण तक दे देते हैं। यदि सैनिकों में केवल यह भावना हो कि वह केवल अपने लाभ के लिए ही लड़ाई लड़ेंगे तो संभव है कि अपने प्राणों की बलि देकर कोई भी अपने देश की रक्षा न करे। अतः यह कहना कि समाजवाद में मनुष्य कम-से-कम कार्य करेगा और किसी कार्य को वह उत्साह के साथ नहीं करेगा नितांत भ्रममूलक है।

४—आलोचना—कुछ आलोचकों का यह मत है कि समाजवाद में उत्पत्ति कम हो जायगी।

प्रत्यालोचना—यह आक्षेप भी ठीक नहीं है। इसका कारण ऊपर दिया जा चुका है। मनुष्य संघ प्रेरणा से अधिक काम करेगा और आधुनिक यंत्रों द्वारा काम करने पर, जो सब के लिए अभी उपलब्ध नहीं है, उत्पादन आज से कई गुना बढ़ जायगा। और यदि हम इस बात को भी मान लें कि समाजवाद में उत्पादन कम हो जायगा तो भी अन्य कारणों के बल पर हम इसे ठुकरा नहीं सकते। उत्पादन की ही आयोजना तक हम अपने को आधुनिक युग में सीमित नहीं कर सकते। उत्पादन से भी आवश्यक आज के युग में वितरण की समस्या हो रही है। अतः यह आलोचना कि समाजवाद में उत्पादन कम होगा ठीक नहीं है।

५—आलोचना—समाजवाद के आलोचक समाजवाद की आयोजनाओं पर यह आक्षेप लगाते हैं कि बड़े बड़े उद्योग धन्धे जितनी भली विधि से व्यक्तिगत कम्पनियों द्वारा किये जा सकते हैं उतनी अच्छी तरह से सरकार द्वारा नहीं किये जा सकते।

प्रत्यालोचना—यह आक्षेप भी उचित नहीं हैं, कारण यह कि सरकार एक बहुत बड़ी संस्था है और वह व्यक्तिगत कम्पनियों से अपेक्षाकृत किसी भी उद्योग को बड़े पैमाने पर चला सकती है। अतः जितना ही बड़ा उद्योग धंधा होगा उतना ही अधिक उसमें लाभ भी

होगा। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से तो सरकार द्वारा चलाये गये उद्योग-धंधे अधिक लाभप्रद होंगे। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि सरकार में इतनी शक्ति है जिससे वह अपने कार्य के अतिरिक्त देश के अन्य व्यवसायों को भी अपना सके। इसके लिए तो हमें तर्क-वितर्क करने की भी आवश्यकता नहीं है। हमारे सन्मुख प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित हैं। पोस्ट आफिस की व्यवस्था, रेलवे का प्रबंध तथा नहरों का प्रबंध सरकार के ही हाथ में है और ये बड़ी सुन्दरता पूर्वक चलाये जा रहे हैं। क्या इसी प्रकार अन्य उद्योग धन्धे भी सरकार द्वारा नहीं चलाये जा सकते ?

६—आलोचना—समाजवाद कुछ लोगों के अनुसार मनुष्य को नीचे की ओर लाने का एक साधन है। अभिप्राय यह कि समाजवाद सबको निर्धन बनाना चाहता है।

प्रत्यालोचना—ऐसे लोगों के विचारों को क्या कहा जाय ? बेचारे इसके अतिरिक्त कुछ सोच ही नहीं सकते। ऐसा क्यों न सोचा जाय कि समाजवाद सब को ऊपर उठाने का एक साधन है। दूसरे यह कि समाजवाद किसी की योग्यता तथा शक्ति को कोई आघात भी नहीं पहुँचाता प्रत्युत उसे अपनी शक्ति तथा योग्यता बढ़ाने का अधिक अवकाश देता है। समाजवाद तो आशावादी सिद्धान्त है। उसे विश्वास है कि समाजवादी व्यवस्थाओं से मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है।

७—आलोचना—कुछ लोगों का कथन है कि मनुष्य धन से भी अधिक व्यक्तित्व की भावना रखता है और इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर समाजवाद ध्यान नहीं देता। प्रत्येक को अपनी रुचि के अनुसार और अपनी भावना के अनुसार कार्य करने में अधिक आनन्द आता है। उसे अपनी रुचि के अनुसार काम करने में अधिक संतोष मिलता है। अतः व्यक्तिगत संपत्ति मनुष्य को अपना व्यक्तित्व प्रकट करने का सर्वोत्तम अवसर प्रदान करती है।

प्रत्यालोचना—व्यक्तित्व प्रकट करने के लिए अन्य उपाय भी तो [illegible] है। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तित्व को प्रकट करने के लिए [illegible] को ही साधन बनाया जाय। [illegible] तथा [illegible] आदि [illegible] व्यक्तित्व [illegible] था। गांधी के द्वारा

व्यक्तित्व को प्रकट करना तो समाज के लिए घातक है। कारण यह कि संपत्ति का प्रभाव दूसरे व्यक्ति के जीवन पर भी पड़ता है। एक के वैयक्तिक लाभ के लिए सैकड़ों के जीवन नष्ट हो सकते हैं।

समाजवाद के कुछ दोष—यद्यपि समाजवाद समाज में भविष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा क्रमिक विकासशील सिद्धांत है परन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु के गुण तथा दोष हुआ करते हैं। समाजवाद महान् गुणों से सुसज्जित होते हुए भी दोष-रहित नहीं है। अभी हमने समाजवाद के आलोचकों का समाजवाद पर आक्षेप तथा समाजवादियों द्वारा उसका उत्तर उपस्थित किया है परन्तु अब हम समाजवाद के कुछ विशेष दोषों को स्पष्ट करने जा रहे हैं। यह दोष समाजवाद के मार्ग में प्रत्यक्ष बाधक हैं।

(१) समाजवाद केन्द्रीकरण का बड़ा पक्ष करता है। वह मनुष्य के प्रत्येक व्यवसाय पर सरकार का नियंत्रण चाहता है। इसका फल यह होगा कि सरकार के कार्य बहुत बढ़ जायँगे और सरकार इतने अधिक व्यवसायों पर पूर्ण रूप से नियंत्रण न कर सकेगी। सरकार के पास अभी जितने कार्य हैं उन्हीं का भार उठाना कठिन हो रहा है तो और कार्यभार वह किस प्रकार सहन कर सकेगी। यद्यपि पोस्टआफिस, रेलवे तथा नहरें सरकार द्वारा नियंत्रित हैं परन्तु इसका क्या प्रमाण है कि सरकार का नियंत्रण इन व्यवसायों पर बड़ा अच्छा है और कार्य बड़ी सुन्दरता से हो रहा है ? दूसरा प्रमाण हमारे पास इंगलैंड के पोस्टआफिस और तारघर का है जो एक कम्पनी की संरक्षिता में चल रहा है और बड़ी उत्तमता के साथ चल रहा है। यह संभव हो सकता है कि कार्यभार बढ़ जाने से समाजवादी राष्ट्र अपने ही भार से दब जाय। सरकार के कार्य के संचालन का जहाँ तक प्रश्न है समाजवाद आवश्यकता से अधिक आशावादी है।

(२) आधुनिक युग में मनुष्य का नैतिक विकास इतना नहीं हुआ है कि अपने स्वार्थों के लिए षड्यन्त्र न करे। जब कि मनुष्य आजकल अपने थोड़े से लाभ के लिए अपने भाई का गला काट सकता है तो क्या समाजवादी व्यवस्था हो जाने पर मनुष्य का स्वभाव एकदम परिवर्तित हो जायगा। समाजवादी व्यवस्था में सभी देवता नहीं

होंगे। उनमें भी क्रोध, लोभ, तथा मोह होगा। जब ऐसा है तो क्या मनुष्य उस समय समाज का भयानक अहित नहीं कर सकेगा? क्रोध में तथा असंतोष में मनुष्य यह भूल जाता है कि वह क्या करने जा रहा है। अतः समाजवादी व्यवस्था में जितने ही व्यवसायों का केन्द्रीकरण होगा उतने ही षड्यन्त्र तथा भ्रष्टाचार बढ़ेंगे।

(३) मनुष्य का स्वभाव जैसा आधुनिक युग में है उसे दृष्टि में रखते-हुए हम यह कह सकते हैं कि समाजवाद उन्नति के लिए अत्यन्त लाभकारी नहीं होगा। केवल आंशिक लाभ की संभावना की जा सकती है। उतना लाभ जितना कि समाजवादी बतलाते हैं होना अत्यन्त कठिन है। कारण यह है कि आज के युग का साधारण व्यक्ति संघहित की प्रेरणा से नहीं प्रेरित है वरन् उसे महान् स्वार्थी भावनाएँ दबाये हुए हैं। आज का मनुष्य समाजवादी व्यवस्था में आलसी तथा स्थिर बन जायगा। उससे हम आशातीत फल की आशा नहीं रख सकते। वह स्वतः किसी कार्य का प्रारंभ नहीं करेगा। फलतः नवीन आवश्यकतायें नयी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं पनप सकतीं।

(४) मनुष्य शक्तियों का एक भण्डार है। वह क्रियाहीन नहीं रह सकता। स्पर्धा उसकी प्रवृत्ति है। वह दूसरे की अपेक्षा अपने को अधिक सुखी रखने के लिए कोई न कोई मार्ग ढूँढ निकालेगा। जहाँ एक ने अपनी सुविधा का प्रबन्ध किया वहीं अमानुषिक प्रतिद्वंद्विता प्रारम्भ हो जायगी और यह परिस्थिति समाजवाद के लिए अत्यन्त भयानक होगी।

भारतीय समाजवाद—भारतवर्ष सदैव से ही एक धर्म प्रधान देश रहा है। यह देश वह देश है जहाँ पर संसार के बड़े बड़े धर्म प्रचलित हुए। भौतिकवाद पर विचार करना भारतवर्ष में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। वह साहित्य व्यर्थ समझा जाता था जिसमें राम-नाम न लिया गया हो। वह विद्या व्यर्थ समझी जाती थी जिसमें राम नाम न [illegible]। वह मनुष्य का जीवन निरर्थक समझा जाता था जिसने भगवान् का भजन न किया हो। "[illegible] के [illegible] जीवन के [illegible], [illegible] [illegible] समाजवाद के [illegible] [illegible] [illegible] महान् समझा जाता था। [illegible] का सुख [illegible] ही [illegible] जीवन के

उद्धार के लिए पर्याप्त था। सारा समाज चार वर्णों में तथा सारा जीवन चार आश्रमों में विभाजित था। प्रथम वर्ण के लोग ब्राह्मण कहलाते थे जो समाज के हित के लिए केवल चिन्तन ही किया करते थे। द्वितीय वर्ण के लोग क्षत्रिय थे जिनका कार्य समाज को बाह्य आक्रमणों से बचाना तथा समाज की आंतरिक व्यवस्था को ठीक रखना था। तीसरी श्रेणी के मनुष्य समाज की धन-धान्य से मदद करते थे और चौथी श्रेणी के लोग समाज की अन्य प्रकार की सेवा करते थे।

परन्तु अब युग परिवर्तित हो चुका है। लगभग एक हजार वर्ष तक यहाँ विदेशियों का प्रभुत्व रहा है। इस पराधीनता में प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चुकी है। हाँ देश की धार्मिक कट्टरता ने अपनी पुरानी संस्कृति के कुछ चिह्नों को बचा रखा है। हमारे समाज में नाम के लिए अब भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र उपस्थित हैं परन्तु समाज का वह आधार जिस पर वर्ण-व्यवस्था बनायी गयी थी टूट चुका है। अब तो ब्राह्मण लालची, क्षत्रिय देशद्रोही, वैश्य अपनी ही पेट पूजा का ध्यान रखनेवाले तथा शूद्र हठधर्मी हो गये हैं। आधुनिक काल में सब अपने उदर-पोषण में संलग्न रहते हैं।

दूसरे आधुनिक आविष्कारों ने संपूर्ण संसार को एक सूत्र में जोड़ दिया है। प्रत्येक देश की संस्कृति तथा सभ्यता आपस में मिल गयी है। कोई भी देश अपने को अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव से अलग नहीं रख सकता। इसलिए भौतिकवादी जगत का भारतवर्ष पर बड़ा प्रभाव पड़ रहा है और हमारा जीवन विषमताओं और कृत्रिम असमानताओं से दूषित होता जा रहा है। जैसे जैसे औद्योगीकरण का अधिकाधिक विकास होता जायगा वैसे वैसे भारत भी यूरोप बनता जायगा। आजकल भारत में पूंजीवाद का आतंक छाया हुआ है। किसान हल चलाता है और भूखों मरता है परन्तु कर वसूल करने के ठेकेदार आनन्द उड़ा रहे हैं। भारत का मजदूर सायंकाल को बड़ी कठिनाई के साथ अपना पेट भरता है परन्तु उसी के परिश्रम की रोटी खानेवाले मिनिस्टरों का निमंत्रण चलाते हैं जिसमें लाखों का व्यय होता है। मिनिस्टर लोग भी, जो उन्हीं किसानों तथा श्रमिकों के कारण इतने ऊँचे पद के अधिकारी बनते हैं, क्या दावत खा-खाकर यह समाज की सेवा करते हैं? मंत्री लोगों की कौन कहे छोटे कर्मचारी भी अपने पद से लाभ उठा रहे हैं।

इसलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भारत की इस परिस्थिति

को सुधारने के लिए क्या करना चाहिए ? इस समय भारत में तीन विचार-धाराएँ काम कर रही हैं। प्रथम गांधीवादी विचारधारा जिसका अभिप्राय यह है कि भारत की संस्कृति के लिए यूरोपीय समाज की रूप-रेखा उचित न होगी अतः भारत की प्राचीन वर्ण व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जाय। दयानन्द सरस्वती इस विचारधारा के आदि प्रवर्तक हैं। दूसरी विचारधारा भारत में समाजवाद का समर्थन करती है। उसकी दृष्टि में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना द्वारा ही वर्तमान समस्याओं का समाधान हो सकता है। इसके समर्थक श्री जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द बोस तथा आचार्य नरेन्द्र देव आदि हैं। तीसरी विचारधारा पूँजीवाद का समर्थन करती है परन्तु यह विचारधारा पनप नहीं रही है और इसका कोई महत्व नहीं है।

समाजवादी विचारधारा तथा गांधीवादी विचारधारा में कुछ बातों में अन्तर है और कुछ बातों में समानता है। गांधीवाद का अभिप्राय यह है मानवता को उत्कर्ष मिलना चाहिए। समाज कभी वर्गविहीन नहीं हो सकता है अतः वर्ग के रहते हुए भी मनुष्य का आर्थिक शोषण नहीं होना चाहिए। परन्तु समाजवाद एक वर्गविहीन समाज बनाना है। समाजवाद राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रबल समर्थक है। गांधीवाद तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का समर्थक है ही। गांधीवाद तथा समाजवाद दोनों ही पूँजीवाद का अन्त करना चाहते हैं।

परन्तु दोनों के मार्ग में बड़ा अन्तर है। एक आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर निर्भर है और दूसरा उग्र भौतिकवादी है। एक अहिंसा का विशेष ध्यान रखता है परन्तु दूसरा अहिंसा को उतना महत्व प्रदान नहीं करता। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि समाजवाद हिंसा का प्रचारक है वरन् बात ऐसी है कि यदि समाज सुधार में हिंसा की आवश्यकता पड़े तो समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार उसमें कोई दोष नहीं है परन्तु गांधीवाद के अनुसार हिंसा कभी भी नहीं हो सकती। इतना ही नहीं बल्कि मन, कर्म तथा वचन से भी हिंसा नहीं होनी चाहिए।

गांधीवाद तथा समाजवाद में जो विशेष अन्तर है वह यह है कि समाजवाद केन्द्रीकरण का समर्थन करता है और गांधीवाद विकेन्द्रीकरण का समर्थक है। गांधीवाद का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकता की वस्तु स्वयं उत्पन्न करे और अपनी आवश्यकता को जितना कम कर सके करे। समाजवाद इस सिद्धांत का विरोधी है। समाजवाद के अनुसार मशीनों का उपयोग जहाँ तक हो सके वहाँ तक किया जाना

चाहिए जिससे मनुष्य कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक पदार्थ उत्पन्न कर सके।

गांधीवाद त्याग, अहिंसा, सत्य तथा आत्मबल को अधिक उत्तम समझता है परन्तु समाजवाद के लिए यह कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। गांधी जी ने लिखा है—"मैं चाहता हूँ कि हिन्दोस्तान में प्रत्येक निवासी को खाना और कपड़ा मिले, जिसका अभिप्राय है कि पैदावार के साधनों पर पूरे समाज का अधिकार रहे। वे उसे उसी तरह मुक्त और स्वच्छंद प्राप्त हों जैसे वायु और जल। उनका उपयोग दूसरे के शोषण के लिए बिल्कुल बन्द कर दिया जाय।" इसी आधार पर आज के समाजवादी यह घोषित करते हैं कि समाजवाद में तथा गांधीवाद में कोई मौलिक अन्तर नहीं।

जब तक भारतवर्ष को स्वतन्त्रता प्राप्त न थी गांधीवादी तथा समाजवादी दोनों दलों ने एक होकर काम किया। दोनों दलों का लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्त करना था अतः उस समय आपस में विरोध नहीं प्रकट होने दिया। परन्तु १५ अगस्त सन् १९४७ में जब भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी तो उन दोनों दलों को एक साथ काम करने में कठिनाई होने लगी और कुछ ही दिन पश्चात् समाजवादियों ने गांधीवादियों का साथ छोड़ दिया। गांधीवादी उस समय शक्तिशाली थे। अतः गांधीवादी सरकार नियुक्त रही परन्तु उन्होंने अपने को गांधीवादी नाम नहीं दिया न उन्होंने गांधी जी के किसी सिद्धान्त को ही अपनाया। उनमें से बहुतों ने समाजवादी सिद्धान्त अपनाने की घोषणा की परन्तु उसे कार्यरूप म बहुत कम परिणत कर पाये हैं। ऐसे अवसर पर बहुत से समाजवादी नेताओं ने सरकारी पद से हटना उचित न समझा और वे बराबर सरकार के साथ काम करते रहे।

गांधीवाद और समाजवाद—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (गीता)

संसार का परिवर्तन क्रम सदैव समान गति से नहीं चलता। कभी परिवर्तन द्रुत और कभी मन्द गति से होता है। जब कभी समाज में अस्त-

व्यस्तता छा जाती है, मानवजाति दुःख-ग्रस्त हो जाती है, समाज में किसी प्रकार का नियम नहीं चल पाता, मनुष्य अत्यन्त दुखी तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है तब किसी न किसी महान् व्यक्ति का उदय होता है। वह समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन का नेतृत्व करता है। महात्मा जी हमारे ऐसे ही व्यक्तियों में से एक थे। महात्मा जी का जन्म एक पराधीन देश में हुआ था। उनकी मृत्यु के कुछ महीनों पहिले तक भारत की पवित्र भूमि विदेशी आततायियों द्वारा पदाक्रांत थी। उन विदेशियों ने भारत के शोषितों का शोषण कर इसे दुर्भिक्ष बना डाला था। जो भारत एक समय गौतम के उपदेश का संसार में प्रचार करता था, संसार को सत्य तथा अहिंसा की शिक्षा देता था, जो भारत किसी समय संसार का मुकुट कहा जाता था, जो भारत किसी समय संसार का नेतृत्व करता था, जो भारत किसी समय संसार को शिक्षा तथा संस्कृति का दीप दिखाता था दुख है कि वही भारत एक रोटी के टुकड़े के लिए दूसरे के सामने हाथ पसार रहा था। दूसरे से तन ढकने के लिए वस्त्र की भिक्षा माँग रहा था। बात बात में दूसरों का मुँह ताकना पड़ रहा था। जो भारत राणा सांगा तथा राणा प्रतापसिंह ऐसे वीरों का उत्पन्न करने-वाला था वही भारत आज के कुछ दिन पूर्व गीदड़ों का शावक बन गया था। भारत इतना निर्बल हो गया था कि उसमें शस्त्र उठाने की शक्ति न रह गयी थी। ऐसे समय में परिवर्तन अवश्यम्भावी था। इस परिवर्तन का नेतृत्व करने महात्मा जी रंगमंच पर आये। सशस्त्र क्रांति संभव न थी। गांधी जी ने आत्मबल का सहारा लिया। सत्य, अहिंसा तथा सत्याग्रह उनके शस्त्र बने। ये शस्त्र संसार के लिए अपूर्व थे। वे इसके घात को न समझ सके। उनकी तोपें तथा तलवारें इस नवीन शस्त्र के सामने निष्फल हो गयीं और भारत स्वतन्त्र हो गया।

महात्मा जी का प्रभाव केवल भारत में ही नहीं था। उन्होंने संग्राम का ढंग ही बदल दिया। आजतक संसार में जितने क्रांतिकारी परिवर्तन हुए थे वे केवल भयंकर विनाशकारी शस्त्रों द्वारा हुए थे परन्तु भारत की स्वतन्त्रता का संग्राम शांति के शस्त्र द्वारा हुआ। वह प्रेम के अस्त्र द्वारा पूर्ण हुआ। गांधी जी की संसार को यही देन है। गांधी जी के पूर्व राजनीतिक संसार छल, द्वेष, आडम्बर तथा हिंसा का भण्डार मात्र था। सब से बड़ा राजनीतिक ज्ञाता वही समझा जाता था जो दूसरे को अधिक से अधिक अपने मायाजाल में जकड़ सकता था

परन्तु गांधी जी ने राजनीतिक संसार को उलट दिया। उन्होंने प्रेम, सत्य तथा अहिंसा को अन्तर्राष्ट्रीय महत्व दिया। गांधी जी की देन केवल राजनीतिक ही नहीं वरन् धार्मिक भी है। महात्मा जी सब से पहिले धार्मिक थे फिर और कुछ। उनके सारे सिद्धान्त आध्यात्मिकता से परिपूर्ण थे। समाज को उनकी धार्मिक देन राजनीतिक देन की अपेक्षा अधिक है। हम गांधी जी के किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त को नहीं समझ सकते जब तक कि हम उनके धार्मिक विचारों को पूर्णरूप से न समझ लें। गांधीजी अद्वैतवादी तथा आवागमन पर विश्वास करनेवाले थे। वे प्रत्येक कार्य ईश्वर का भजन समझकर करते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया था कि आत्मा का नाश नहीं होता केवल शरीर परिवर्तित होता रहता है। उन्हें श्रीमद्भगवद्गीता पर बड़ा विश्वास था और उन्होंने उसका अनुवाद भी किया है। अनासक्तयोग नामक पुस्तक में वे लिखते हैं कि जब कभी हमें किसी प्रकार की शंका होती है तो मैं गीता की शरण में जाता हूँ। और मेरी सारी शंकाओं का समाधान वहीं हो जाता है। गीता के अनुसार वे कर्मयोगी भक्त कहे जा सकते थे। उन्होंने अपना जीवन गीता के बारहवें अध्याय के अनुसार बनाया था जिसके श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

श्लोक—योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

अर्थ—जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है वह भक्ति-युक्त पुरुष मेरे को प्रिय है।

श्लोक—समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

अर्थ—और जो पुरुष शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख दुःखादि द्वंद्वों में सम है और (सब संसार में) आसक्ति से रहित है।

श्लोक—तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन-केन चित्।
अनिकेतः स्थिर मतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

अर्थ—तथा जो निन्दा स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है एवं जिस किस प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान पुरुष मेरे को प्रिय है।

इसी विश्वास पर गांधी जी ब्रिटिश सरकार की कठिन-से-कठिन यातनाओं को भोग सके और उन्हें तनिक भी कष्ट न हुआ। इसी विश्वास के बल पर वे अपने से विमुख को भी हृदय से प्रेम करते थे। जिन्ना साहब से, जो उनके घोर विरोधी थे, गांधी जी ने प्रेम किया। कहाँ तक कहा जाय उन्होंने अपने हत्यारे को भी क्षमा प्रदान किया।

इस प्रकार गांधी जी ने एक नये दर्शन का प्रतिपादन किया जो संसार के लिए अपूर्व था। इस दर्शन को हम गांधीवाद के सिवा अन्य कुछ नहीं कह सकते। यद्यपि गांधी जी स्वयं यह कहते हैं कि गांधीवाद जैसी कोई भी वस्तु नहीं है परन्तु गांधी जी ने जिस मत का प्रतिपादन किया वह गांधीवाद के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता। गांधीवाद के मूलतत्व सत्य और अहिंसा हैं। गांधी जी का सत्य एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए अहिंसा एकमात्र साधन है। निष्क्रिय प्रतिरोध, सविनय अवज्ञा और असहयोग यह तीनों अहिंसा के ही अंग हैं।

निष्क्रिय प्रतिरोध के संबंध में गांधी जी स्वयं लिख गये हैं कि निष्क्रिय प्रतिरोध कष्टसहन द्वारा अधिकार का साधन है। यह शस्त्रों द्वारा प्रतिरोध के विपरीत है। "जब मैं किसी कार्य को करने से अस्वीकार करता हूँ जो मेरी आत्मा के विरुद्ध है तो मैं आत्मशक्ति का प्रयोग करता हूं। आत्म-कष्ट ऐसे अवसरों पर अवश्यम्भावी है।"

गांधी जी का विचार अहिंसा के संबंध में यह है कि अहिंसा एक सबल पुरुष का शस्त्र है निर्बल का नहीं। बलवान् आत्मा ही अहिंसा का प्रयोग कर सकती है। निषेधात्मक रूप में अहिंसा का यह अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति को मानसिक तथा शारीरिक कष्ट न दिया जाय। किसी व्यक्ति के प्रति द्वेषभावना होना भी हिंसा है। विधेयात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है प्रेम। सच्चा अहिंसावादी उस व्यक्ति के प्रति जो अपने को शत्रु समझता है, प्रेम का व्यवहार करता है घृणा का नहीं, ऐसी सक्रिय अहिंसा में सत्य और अभय होता है। जिस व्यक्ति से प्रेम किया जाता है उसे धोखा नहीं दिया जा सकता। अतः अहिंसा बिना सत्य तथा अभय के नहीं हो सकती और यह दोनों ही बलवान् पुरुष ही कर सकते हैं। सत्याग्रह के लिए अहिंसा परमावश्यक है और इसी प्रकार सविनय अवज्ञा में भी अहिंसा ही आधार है।

गांधी जी ने केवल राजनीति में ही नहीं वरन् अर्थनीति में भी आत्म-बल का सहारा लिया है। विदेशी व्यापार के शोषण से बचने के लिए

उन्होंने व्यक्तिगत रूप में देशी ढंग पर सूत कातने तथा नमक बनाने का आग्रह किया। यद्यपि सूत कातने की नीति आधुनिक अर्थनीति के विपरीत थी, उसे सफलता मिलना बड़ा कठिन था परन्तु गान्धी जी के आत्मबल ने उसे सफलीभूत कर दिया। केवल इस चर्खा-नीति ने विदेशी कम्पनियों के व्यापार को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। खादी ने भारत को केवल आर्थिक ही सहायता नहीं पहुँचायी बल्कि खादी ने धनी तथा निर्धन का अन्तर कम कर दिया। उसने कृत्रिम तथा ठाट-बाट के जीवन में क्रांति पैदा कर दी। सामाजिक जीवन के मूल में जो आधुनिक यंत्रों के कारण संघर्ष और प्रतियोगिता की वृद्धि हो रही थी उसे खादी ने आगे बढ़ने से रोका। खादी ने पूंजीपतियों के शोषण को रोका।

यह ठीक है कि खादी ने उस समय भारत का बड़ा उपकार किया परन्तु यह योजना तभी तक सम्भव थी जब तक भारत परतंत्र था। कारण यह है कि खादी की नीति से स्वतन्त्र भारत की उत्पादन शक्ति का ह्रास होगा और अब उस नीति का अनुसरण करना भारत के हित के लिए घातक सिद्ध होगा।

गांधी जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह केवल भारतीय राजनीतिक तथा आर्थिक आन्दोलनों तक सीमित न थी। गांधी जी ने भारतीय संस्कृति में भी एक विप्लव खड़ा कर दिया। वह शूद्रों की दयनीय दशा से बड़े द्रवित थे अतः उन्होंने उनके उत्थान का भी व्रत लिया। वे भंगी टोले में रहते थे। उन्हीं के साथ उठते तथा बैठते थे। उन्हें हर प्रकार की शिक्षा देते थे। वे उन्हें हरिजन तथा हरिभक्त के नाम से पुकारते थे। उनके साथ भजन-भाव भी करते थे। उनका भारत के उच्च वर्ण के लोगों से यही अनुरोध था कि वे उनके साथ प्रेम का वर्ताव करें। यद्यपि अछूतोद्धार के आदि प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी थे परन्तु गांधी जी ने उस आन्दोलन को सक्रियता तथा जीवन प्रदान किया। क्रमशः हरिजनों की दशा धीरे-धीरे सुधरने लगी और आशा है कि कुछ दिनों बाद पूर्णरूपेण सुधर जायगी।

गांधी जी ने भारतीय कृषकों के निस्तेज जीवन को चेतना प्रदान की। ग्रामोद्योग का पुनरुद्धार, गांधीवाद के रचनात्मक कार्यक्रम का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। बम्बई कांग्रेस ने ग्रामोद्योगों के उद्धार के लिए एक प्रस्ताव पास किया जिसके नेता श्री जे० सी० कुमारप्पा थे। यह प्रस्ताव गांधी जी के तत्वावधान में पास किया गया था और इसके द्वारा अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ स्थापित हुआ। यह संघ अपने जन्मकाल

से ही ग्रामोद्योगों के लिए सतत् परिश्रम कर रहा है। ग्रामोद्योगों में अनेक प्रकार के स्थानीय महत्व के उद्योगों का सुधार किया गया। ग्रामोद्योग आन्दोलन ने ग्रामीणों के सुषुप्त जीवन को पुनर्जीवन प्रदान किया। उनमें नये उत्साह का संचार हुआ।

इसके अतिरिक्त गांधी जी ने भारतीय शिक्षापद्धति में सुधार किया। उनका विचार था कि भारतीय शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के स्थान पर हिंदुस्तानी हो। यह विषय बड़ा गहन था। भारत में अनेक स्थानीय भाषाएँ प्रचलित थीं और गांधी जी के इस विचार की अनक आलोचनाएँ तथा प्रत्यालोचनाएँ हो रही हैं। अब भी इस समस्या का पूर्णरूप से समाधान नहीं हुआ है। गांधी जी ने भारतीय कला-कौशल की उन्नति के लिए स्कूलों में बेसिक शिक्षा की आयोजना बनायी। संयुक्त प्रान्त में यह शिक्षा कुछ अंश में सफल हुई परन्तु अन्य प्रान्तों में यह आयोजना सफल न हो सकी।

साम्प्रदायिक वैषम्य भारत की उन्नति का सदैव से रोड़ा रहा है। भारतवर्ष जैसे देश में सब कुछ किया जा सकता है परन्तु यहाँ से साम्प्रदायिक वैषम्य नहीं हटाया जा सकता। कबीरदास जी तथा गुरू नानक आदि इस वैषम्य को मिटाने का प्रयत्न आज के बहुत दिन पूर्व कर चुके थे परन्तु उनको सफलता न मिली। सफलता मिलने की कौन कहे, उन्होंने नये सम्प्रदायों का निर्माण कर दिया। बड़े ही दुःख की बात है कि इसी साम्प्रदायिकता ने महात्मा जी के प्राण भी ले लिये। वे हिंदू-मुसलमान समस्या को न सुलझा सके।

इस प्रकार यदि हम देखें तो पता चलेगा कि गांधीवाद एक व्यापक विचारधारा तथा एक कार्यप्रणाली है जिसका विकास महात्मा गांधी के व्यक्तित्व पर निर्भर है। गांधीवाद में निश्चित् तथा स्पष्ट सिद्धान्तों की अपेक्षा कार्यप्रणाली का महत्व अधिक है। गांधीवाद तो वस्तुतः उनके जीवन तक ही सीमित था परन्तु अब भी उनके शिष्य उसे प्रतिष्ठित कर रहे हैं।

समाजवाद का मूल्य—जिस प्रकार पहले भारत में स्वतन्त्रता का नाम लेने पर लोगों को नाना प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं उसी प्रकार आज समाजवाद तथा साम्यवाद का नाम लेने पर लोगों को यातनाएँ भोगनी पड़ रही हैं। कहाँ तक कहा जाय अमेरिका के लाजएँजिलस के विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हेरोल्ड लास्की को भाषण देने से वंचित कर दिया गया। हो सकता है कि समाजवाद का युग अभी कुछ दिन पश्चात्

आये परन्तु यह आन्दोलन प्रत्येक समाज तथा राजनैतिक संस्था के लिए उपयोगी है। यद्यपि इससे प्रत्यक्ष भलाई अधिक नहीं प्रतीत होती परन्तु परोक्षरूप से इसमें अनकों भलाइयां हैं।

इस आन्दोलन ने समाज की पहली भलाई यह की है कि विदेशों में श्रमिकों तथा किसानों को पूंजीपतियों तथा भूपतियों के हथकण्डों से मुक्ति मिली। श्रमिकों तथा कृषकों के संघ बने और उन्होंने संगठित रूप से अपनी मांगों को सरकार के सम्मुख उपस्थित किया। उनकी मांग को सरकार ने विवश होकर पूर्ण किया। इस आन्दोलन के पूर्व फ्रांस तथा रूस के कृषकों तथा श्रमिकों पर बराबर अत्याचार किये जाते थे। किसानों को सरकारी पशुओं को अपने उद्यानों से हटाने पर दण्ड दिया जाता था। श्रमिकों के ऊपर से यह विपत्ति समाजवादी आन्दोलन ने ही हटायी।

समाजवाद को दूसरा श्रेय यह है कि इस आन्दोलन ने जनता में त्याग की भावना उत्पन्न की। लोगों में समाज के लिए प्रेम उत्पन्न हुआ। समाज में एक प्रकार की जागृति फैली जो भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूपों में पायी जाती है।

तीसरे इस आन्दोलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए हमें भौतिक शक्तियों की आवश्यकता है। भौतिक शक्ति के बिना आध्यात्मिक विकास पूर्णरूप से नहीं हो सकता। समाजवादी आन्दोलन के कारण व्यक्तिवादी आन्दोलन की प्रगति स्थगित हो गयी और व्यक्तिवादी आन्दोलन की एक निश्चित सीमा निर्धारित हो गयी।

चौथे, समाजवाद यह स्पष्टरूप से घोषित करता है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। कभी कभी मनुष्य को परिस्थितिवश ऐसे भी कार्य करने पड़ते हैं जो उसकी इच्छा के विरुद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए सन् १९४२ ई० में कोई भी भारतीय नवयुवक सरकारी सेना में नहीं जाना चाहता था परन्तु परिस्थितिवश भारत के अनेक नवयुवकों ने सरकारी सेना में भर्ती होना स्वीकार कर लिया।

पाँचवें, भारत जैसे देश के लिए जहाँ मनुष्य उपाधियों पर लट्टू होते थे समाजवाद बड़ा उपयोगी सिद्ध हो गया। इसके अतिरिक्त आज के प्रजातन्त्र राष्ट्रों के लिए भी यह आन्दोलन अत्यन्त उपयुक्त होगा। बिना समाजवादी व्यवस्था के प्रजातन्त्र कुछ भी महत्व नहीं रखता।

छठें, समाजवाद के आन्दोलन ने समाज में इस प्रेरणा को जन्म

से ही ग्रामोद्योगों के लिए सतत् परिश्रम कर रहा है। ग्रामोद्योगों में अनेक प्रकार के स्थानीय महत्व के उद्योगों का सुधार किया गया। ग्रामोद्योग आन्दोलन ने ग्रामीणों के सुषुप्त जीवन को पुनर्जीवन प्रदान किया। उनमें नये उत्साह का संचार हुआ।

इसके अतिरिक्त गांधी जी ने भारतीय शिक्षापद्धति में सुधार किया। उनका विचार था कि भारतीय शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के स्थान पर हिंदुस्तानी हो। यह विषय बड़ा गहन था। भारत में अनेक स्थानीय भाषाएँ प्रचलित थीं और गांधी जी के इस विचार की अनक आलोचनाएँ तथा प्रत्यालोचनाएँ हो रही हैं। अब भी इस समस्या का पूर्णरूप से समाधान नहीं हुआ है। गांधी जी ने भारतीय कला-कौशल की उन्नति के लिए स्कूलों में बेसिक शिक्षा की आयोजना बनायी। संयुक्त प्रान्त में यह शिक्षा कुछ अंश में सफल हुई परन्तु अन्य प्रान्तों में यह आयोजना सफल न हो सकी।

साम्प्रदायिक वैषम्य भारत की उन्नति का सदैव से रोड़ा रहा है। भारतवर्ष जैसे देश में सब कुछ किया जा सकता है परन्तु यहाँ से साम्प्रदायिक वैषम्य नहीं हटाया जा सकता। कबीरदास जी तथा गुरू नानक आदि इस वैषम्य को मिटाने का प्रयत्न आज के बहुत दिन पूर्व कर चुके थे परन्तु उनको सफलता न मिली। सफलता मिलने की कौन कहे, उन्होंने नये सम्प्रदायों का निर्माण कर दिया। बड़े ही दुःख की बात है कि इसी साम्प्रदायिकता ने महात्मा जी के प्राण भी ले लिये। वे हिंदू-मुसलमान समस्या को न सुलझा सके।

इस प्रकार यदि हम देखें तो पता चलेगा कि गांधीवाद एक व्यापक विचारधारा तथा एक कार्यप्रणाली है जिसका विकास महात्मा गांधी के व्यक्तित्व पर निर्भर है। गांधीवाद में निश्चित् तथा स्पष्ट सिद्धान्तों की अपेक्षा कार्यप्रणाली का महत्व अधिक है। गांधीवाद तो वस्तुतः उनके जीवन तक ही सीमित था परन्तु अब भी उनके शिष्य उसे प्रतिष्ठित कर रहे हैं।

समाजवाद का मूल्य—जिस प्रकार पहले भारत में स्वतन्त्रता का नाम लेने पर लोगों को नाना प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं उसी प्रकार आज समाजवाद तथा साम्यवाद का नाम लेने पर लोगों को यातनाएँ भोगनी पड़ रही हैं। कहाँ तक कहा जाय अमेरिका के लाजएँजिल्स के विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हेरोल्ड लास्की को भाषण देने से वंचित कर दिया गया। हो सकता है कि समाजवाद का युग अभी कुछ दिन पश्चात्

दिया कि जब तक समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो जाय तब तक कोई भी व्यक्ति विश्राम न करने पाये। सभी समाज के सेवक बनें।

इस प्रकार समाजवाद आधुनिक युग के सम्मुख भविष्य के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है। इस आन्दोलन की वास्तविकता में यदि कोई कुछ सन्देह करता है तो भले ही करे परन्तु भविष्य के लिए यह आन्दोलन बड़ा ही उपकारी होगा।

विशेष अध्ययन के लिए देखिए—

रौबर्ट फ्लिट—*सोशलिज़्म*

कार्ल मार्क्स—*डास कैपीटल*

जी० डी० एच० कोल—*दी वर्ल्ड आफ लेबर, ह्वाट मार्क्स रियली मेन्ट*

प्रिंस क्रोपोटकिन—*दॉ ग्रेट फ्रेंच रिवोल्यूशन*

सिडनी वेब—*हिस्ट्री आफ ट्रेड यूनियनिज़्म एन्ड इन्डसटियल डिमांक्रेसी*

यच० स्पेंसर—*सोशल स्टडीज, दॉ मैन वरसस दॉ स्टेट*

जे० स्पारगो—*कार्लमार्क्स, हिज लाइफ एन्ड वर्क्स*

ई० आर० ए० ऐलीमैन—*दॉ इकनामिक इन्टरप्रटेशन आफ हिस्ट्री*

ज० आर० मक्डोनल—*सोशलिज़्म एन्ड गवर्नमेन्ट, दॉ सोशलिज़्म मूवमेन्ट*

डी० किर्कुप—*हिस्ट्री आफ सोशलिज़्म*

आर० इन्जर—*माडर्न सोशलिज़्म*

एफ० एन्जिल्स—*सोशलिज़्म, यूरोपियन ऐन्ड साइंटिफिक*

मार्क्स एन्ड एफ० एन्जिल्स—*दॉ कम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो*

यल० बी० बाउडिन—*दॉ थ्योरटिकल सिस्टम आफ कार्लमार्क्स*

मैक्स बयर—*हिस्टी आफ ब्रिटिश सोशलिज़्म, दॉ लाइफ आफ कार्लमार्क्स*

समाज विज्ञान

समाज और गांधीवाद

अध्याय १६

साम्यवाद

जीव-विज्ञान के अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्राणीमात्र के जीवन का लक्ष्य मानसिक उन्नति है। संसार का प्रत्येक प्राणी मानसिक उन्नति का प्रयत्न कर रहा है। आधुनिक सभ्यता मनुष्य के आदिकाल से की हुई उन्नति का फल है। मनुष्य ने आदिकाल से सतत् परिश्रम किया जिसके फलस्वरूप हमें आधुनिक युग का चमत्कार दृष्टिगोचर हो रहा है। आज के नवीन यंत्रों का बीजारोपण बहुत पहिले ही हो चुका था। जैसे जैसे मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होता जा रहा है वैसे वैसे उसकी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्यायें भी जटिल होती जा रही हैं। आदिकाल में मनुष्य की समग्र समस्याएँ केवल उसके शरीर तक सीमित थीं। परन्तु जैसे जैसे उसका विकास होता गया वैसे वैसे उसका सम्पर्क अन्य पुरुषों से भी होता गया। उसी के फलस्वरूप आज के युग में हम यह देख रहे हैं कि कोई भी मनुष्य समाज से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य जन्म से ही किसी न किसी समाज का सदस्य होता है। जन्म से ही वह पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी होता है। जन्म से ही उसे किसी न किसी धर्म और देश का सदस्य होना पड़ता है। जन्म से ही मनुष्य को सामाजिक बन्धनों तथा नियमों को मानना पड़ता है। वह जिस समाज में रहता है उसी के अनुकूल उसकी शिक्षा तथा दीक्षा भी होती है। वह किसी भी कुल का क्यों न हो उसे पाठशाला के नियमों को मानना पड़ेगा। वह गुरु की आज्ञा की अवहेलना करके पाठशाला में शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। धीरे धीरे सारा संसार एक सूत्र में बँधता चला जा रहा है। आज से ६०० वर्ष पूर्व अमेरिका को कौन जानता था? वहाँ की सभ्यता हमारे संसार में क्या महत्व रखती थी? अफरीका तथा आस्ट्रेलिया आदि प्रदेशों का उन दिनों क्या महत्व था? परन्तु वही देश

आज संसार की महत्वपूर्ण शक्तियों पर अधिकार रखते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का राष्ट्रपति आज संसार की शक्तियों पर अपना प्रभुत्व रखता है। संसार के भोजन की समस्या आज संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के हाथ में है।

"जैसे जैसे हमारी सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक समस्याएँ जटिल होती जा रही हैं वैसे वैसे उनको सुलझाने के लिए नये नये सिद्धांतों तथा मतों का प्रतिपादन भी होता जा रहा है। भिन्न भिन्न समस्याओं के लिए भिन्न भिन्न मत तथा वाद उपस्थित किये जा रहे हैं। यदि हम आज के युग को वादों का युग कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। किसी विद्वान् का यह भी कहना है कि आधुनिक युद्ध वादों का युद्ध है। जब एक समुदाय के आदर्श दूसरे समुदाय के आदर्श से भिन्न होते हैं तो आदर्शों की भिन्नता के कारण स्वार्थों में भी भिन्नता आ जाती है जिसका फल युद्ध होता है। आधुनिक युग में अनेक वादों का जन्म हो चुका है जिनमें प्रमुख साम्यवाद, अराजकवाद, बहुलवाद, एकतावाद, फासीवाद, नाजीवाद बोल्शेविक मतवाद, साम्राज्यवाद और संघवाद हैं। इन सभी वादों में जो अत्यन्त प्रगतिशील वाद है वह है साम्यवाद। अतएव इसे प्रगतिवाद भी कहते हैं।"

साम्यवाद—संभवत: आधुनिक युग का कोई भी शिक्षित व्यक्ति साम्यवाद या कम्यूनिजम के नाम से अपरिचित न होगा। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति साम्यवाद की रूपरेखा का ज्ञान रखता है। परन्तु यदि किसी से पूछा जाय कि साम्यवाद की परिभाषा क्या है तो संभव है बड़ा से बड़ा विद्वान् उत्तर देने में असमर्थ होगा। साम्यवाद इतना व्यापक होते हुए भी परिभाषित नहीं है और न इसकी कोई परिभाषा की ही जा सकती है। साम्यवाद की परिभाषा न होने के कारण हैं। साम्यवाद एक परिवर्तनशील वाद है। इसमें प्रगति है। देश तथा परिस्थिति के अनुकूल इसकी रूपरेखा बदल जाती है। साम्यवाद प्लेटो के समय में कुछ और था और अब कुछ और हो गया है। साम्यवाद कार्लमार्क्स के समय में कुछ था परन्तु अब कुछ और ही है। कार्लमार्क्स जो साम्यवादी सिद्धान्तों का जन्मदाता कहा जाता है, और लेनिन तथा स्टेलिन के सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर आ चुका है।

फिर भी कुछ विद्वानों ने साम्यवाद की परिभाषा करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। निम्नांकित कुछ उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं।

राबर्ट फिलन्ट महोदय के विचार से साम्यवाद समाजवाद की एक प्रमुख विचारधारा है। इसमें सन्देह नहीं कि साम्यवाद का जन्म समाजवाद

से ही हुआ है परन्तु साम्यवाद और समाजवाद में आकाश और पाताल का अन्तर है। साम्यवाद क्रांतिवादी है परन्तु समाजवाद क्रमिक विकासवादी है। समाजवाद का यह विश्वास है कि शासन सत्ता पर समाजवादियों को वैधानिक रूप से अधिकार मिल जायगा। साम्यवाद इस विचार का विरोध करता है। साम्यवाद का विश्वास है कि आधुनिक शासनसत्ताधिकारी अपने अधिकार की रक्षा पशुबल से करेंगे। इसलिए आधुनिक शासन-पद्धति के विनाश के लिए क्रांति आवश्यक है। दूसरे समाजवाद उत्पत्ति के वितरण में आवश्यकता का ध्यान नहीं रखता। समाजवादी व्यवस्था के अनुसार उत्पत्ति का वितरण मनुष्य के श्रम तथा श्रम की श्रेणी के अनुसार होना चाहिए। साम्यवादी इस व्यवस्था की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार उत्पत्ति का वितरण श्रम तथा आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए। प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान नहीं बनाया है। समाज के सभी मनुष्यों की शक्ति तथा आवश्यकता में कुछ न कुछ अन्तर होता है। किसी को मिष्ठान्न अधिक प्रिय है तो किसी किसी को चटपटा पदार्थ अधिक प्रिय है। किसी को शाकाहारी भोजन प्रिय है तो किसी को मांसाहारी। किसी मनुष्य की रुचि अध्ययन-अध्यापन के कार्य में अधिक होती है तो किसी की सैनिक रुचि होती है और अपनी रुचि के अनुकूल ही आवश्यकता में अन्तर होता है। इसलिए साम्यवाद उत्पत्ति के वितरण में आवश्यकता का भी ध्यान रखता है।

जे० डब्लू० नोयज महोदय जो अमरीकी समाजवाद के इतिहास (History of American Socialism) के लेखक हैं, साम्यवाद के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए लिखते हैं कि साम्यवाद जीवन के ऐक्य का व्यावहारिक रूप है। उनका विचार यह है कि जीवन का ऐक्य ही साम्यवाद की नींव है। जीवन के ऐक्य का अभिप्राय यह है कि सभी आत्माएँ जो हमें अनेक पिण्डों में दिखलाई पड़ती हैं एक हैं। हिन्दू दर्शन ने इसी को अद्वैतवाद के नाम से पुकारा है। सम्पत्ति का सम्बन्ध जीवन से है और संसार के सभी प्राणी एक जीवन अथवा एक आत्मा से संबंधित हैं अतः हम सब की भलाई भी एक ही होनी चाहिए। यह पदार्थ मेरा है और वह तुम्हारा है इस प्रकार का अन्तर नहीं होना चाहिए। अपने मत को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि जहाँ विभिन्न मनुष्यों में जीवन-ऐक्य नहीं है वहाँ साम्यवाद का कोई आधार नहीं है। कुटुम्ब में जो साम्यवाद पाया जाता है उसका आधार जीवन-ऐक्य है। पति-पत्नी तथा पिता-पुत्र

आज संसार की महत्वपूर्ण शक्तियों पर
अमेरिका का राष्ट्रपति आज संसार की शा
है। संसार के भोजन की समस्या आज संयु

"जैसे जैसे हमारी सामाजिक, राष्ट्री
होती जा रही हैं वैसे वैसे उनको
तथा मतों का प्रतिपादन भी होता जा
लिए भिन्न भिन्न मत तथा वाद उपस्थि
के युग को वादों का युग कहें तो
का यह भी कहना है कि आधुनिक यु
के आदर्श दूसरे समुदाय के आ
भिन्नता के कारण स्वार्थों में
होता है। आधुनिक युग में अ
प्रमुख साम्यवाद, अराजकवाद, व
बोल्शेविक मतवाद, साम्राज्यवाद
अत्यन्त प्रगतिशील वाद है वह है
कहते हैं।

साम्यवाद—संभवतः आधुनि
साम्यवाद या कम्यूनिज्म के नाम से
व्यक्ति साम्यवाद की रूपरेखा का ज्ञान र
जाय कि साम्यवाद की परिभाषा क्या है ते
उत्तर देने में असमर्थ होगा। साम्यवाद इतना
नहीं है और न इसकी कोई परिभाषा की ही
परिभाषा न होने के कारण हैं। साम्यवाद
इसमें प्रगति है। देश तथा परिस्थिति के अनु
जाती है। साम्यवाद प्लेटो के समय में कुछ और
गया है। साम्यवाद कार्लमार्क्स के समय में कुछ था
ही है। कार्लमार्क्स जो साम्यवादी सिद्धान्तों का जन
और लेनिन तथा स्टेलिन के सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर

फिर भी कुछ विद्वानों ने साम्यवाद की परि
प्रयत्न किया है। निम्नांकित कुछ उदाहरण उद्धृत कि

राबर्ट फ्लिन्ट महोदय के विचार से साम्यवा
प्रमुख विचारधारा है। इसमें सन्देह नहीं कि साम्यवाद

धनी तथा निर्धनी सब को समान अधिकार प्राप्त हों और कोई भी व्यक्ति दूसरे के श्रम का शोषण न कर सके।

स्कुफ़ल (Sechaffle) महोदय लिखते हैं कि साम्यवाद निम्न-सिद्धान्तों का कट्टर प्रतिपादक है:—

"उत्पादक यंत्रों पर व्यक्ति विशेष का अधिकार न होना चाहिए प्रत्युत समुदाय का अधिकार होना चाहिए। चाहे वह उत्पादन यंत्र भूमि-सम्पत्ति के रूप में हो चाहे कल-कारखाने के रूप में हो। उद्योग का संगठन समाज द्वारा होना चाहिए न कि पूंजी विनाशकारी प्रतिद्वंद्वी पूंजी-पतियों द्वारा। जिस प्रकार उत्पत्ति के साधनों पर समाज का अधिकार होना आवश्यक है उसी प्रकार वितरण पर भी समाज का अधिकार होना आवश्यक है। वितरण श्रमिकों के कार्य तथा उसकी विशेषता के अनुसार होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक श्रमिक जितना कार्य करे तथा जिस प्रकार का कार्य करे उसे उसी के अनुसार वितरण में भाग मिलना चाहिए। इस प्रकार उत्पादक केवल श्रमिक मात्र रह जायेंगे। वे धनिकों के दास नहीं रहेंगे क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रह जायगी। संपत्ति पर समाज का अधिकार होगा और उत्पादन के यन्त्रों पर समाज का अधिकार होने के कारण सब सबके लिए कार्य करेंगे। इस प्रकार भविष्य में श्रमिक तथा पूंजीपति का भेद मिट जायगा, हानि तथा लाभ का प्रश्न भी मिट जायगा। लाभ जो आधुनिक युग में पूंजीपतियों का व्यक्तिगत रूप में होता है वह राष्ट्र का होगा। जो अधिक श्रम करेगा तथा जो उच्चकोटि का परिश्रम करेगा वह अन्य लोगों से अधिक सुखी भी रहेगा। जो व्यक्ति किसी उत्पादन क्षेत्र में कार्य न करके सार्वजनिक सेवा करेगा उसे राष्ट्र की ओर से उसकी सेवा के अनुकूल फल मिलेगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साम्यवाद एक राज्यप्रणाली है तथा समाज संगठन है जिसमें उद्योग धन्धों का स्वामित्व व्यक्तिगत मनुष्यों के हाथ में न रहकर सम्पूर्ण जनता के हाथ में रहेगा। साम्यवाद सर्वाधिकार-वाद का समर्थक तथा पोषक है। साम्यवाद के अनुसार राष्ट्र का कर्तव्य केवल शासन करना ही नहीं है वरन् प्रत्येक व्यक्ति की सुख-सुविधा का भी साधन उपस्थित करना है। राष्ट्र का कर्तव्य प्रत्येक व्यक्ति को कार्य देना तथा प्रत्येक को भोजन देना भी है। सभी मनुष्य राष्ट्र के हैं। राष्ट्र

में जीवन का ऐक्य है। इंग्लैंड तथा अन्य देशों के प्रचलित विधान भी कुल के कुलपति तथा कुलपत्नी में जीवन के ऐक्य को स्वीकार करते हैं। बाइबिल भी स्त्री तथा पुरुष के एकत्व को स्वीकार करता है। बाइबिल घोषित करता है कि अपने पड़ोसी को अपने जैसा ही प्रेम करो। साम्यवाद व्यवहार रूप में केवल कुछ मात्रा में ही किया जा सकता है। पूर्ण साम्यवाद व्यवहृत नहीं हो सकता। साम्यवाद का व्यवहार वहीं संभव हो सकता है जहाँ कुटुम्ब जैसा वातावरण हो।

इसी प्रकार साम्यवाद के मीमांसक इसे भिन्न-भिन्न रूपों में समझते हैं। एक प्रगतिशील आन्दोलन होने के कारण साम्यवाद की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। वर्तमानकाल का साम्यवाद प्राचीनकाल के साम्यवाद से नितांत भिन्न है। जन-साधारण की धारणा यह है कि साम्यवाद, मार्क्सवाद, लेनिनवाद तथा स्टेलिनवाद के समन्वय का फल है परन्तु ऐसा समझना साम्यवाद के नाम को कलंकित करना है। साम्यवाद न तो मार्क्सवाद है, न लेनिनवाद है और न स्टेलिनवाद ही है।

आधुनिक साम्यवाद एक दर्शन है। साम्यवाद आवश्यक परिवर्तनों द्वारा आर्थिक तथा राजनैतिक असमानता को दूर करने की एक प्रणाली है। आधुनिक युग में साम्यवाद एक प्रकार की राजनैतिक तथा आर्थिक नीति के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इस संसार में एक ओर बड़े बड़े करोड़पति, लक्ष्मीपति तथा भूमिपति पड़े हुए हैं तथा दूसरी ओर नंगे-भूखे भिखमंगों का संसार है। एक ओर अल्पसंख्यक पूंजीपति हैं जो विलासिता के गहन तिमिर में निमग्न हैं और दूसरी ओर निराश्रय श्रमिक हैं जिनको निरंतर कठिन परिश्रम के उपरांत भी भरपेट भोजन नहीं मिलता। नंगे और भूखों की संख्या पूंजीपतियों तथा भूमिपतियों की अपेक्षा अत्यन्त अधिक है। नंगे तथा भूखे शारीरिक बल में भी पूंजीपतियों से अधिक हैं। परन्तु सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था ऐसी बन गयी है जिससे ये निर्धन श्रमिक पूंजीपतियों के दास बने हुए हैं। धनिक वर्ग अपनी सम्पत्ति के बल से राष्ट्र के उच्चतम पदों पर अधिकार बनाये हुए हैं और निर्धनों को समृद्ध नहीं होने देते। बेचारे निर्धन शिक्षा तथा संस्कृति से वंचित कर दिये जाते हैं जिससे उनको अपनी दीन दशा का ज्ञान भी नहीं होने पाता। साम्यवाद इन निर्धनों के कष्ट को मिटाने के लिए एक आन्दोलन है। साम्यवाद का आदर्श एक नवीन राष्ट्र का निर्माण करना है जिसमें

धनी तथा निर्धनी सब को समान अधिकार प्राप्त हों और कोई भी व्यक्ति दूसरे के श्रम का शोषण न कर सके।

स्कफ़ल (Sechaffle) महोदय लिखते हैं कि साम्यवाद निम्न-सिद्धान्तों का कट्टर प्रतिपादक है:—

"उत्पादक यंत्रों पर व्यक्ति विशेष का अधिकार न होना चाहिए प्रत्युत समुदाय का अधिकार होना चाहिए। चाहे वह उत्पादन यंत्र भूमि-सम्पत्ति के रूप में हो चाहे कल-कारखाने के रूप में हो। उद्योग का संगठन समाज द्वारा होना चाहिए न कि पूंजी विनाशकारी प्रतिद्वंद्वी पूंजी-पतियों द्वारा। जिस प्रकार उत्पत्ति के साधनों पर समाज का अधिकार होना आवश्यक है उसी प्रकार वितरण पर भी समाज का अधिकार होना आवश्यक है। वितरण श्रमिकों के कार्य तथा उसकी विशेषता के अनुसार होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक श्रमिक जितना कार्य करे तथा जिस प्रकार का कार्य करे उसे उसी के अनुसार वितरण में भाग मिलना चाहिए। इस प्रकार उत्पादक केवल श्रमिक मात्र रह जायेंगे। वे धनिकों के दास नहीं रहेंगे क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रह जायगी। संपत्ति पर समाज का अधिकार होगा और उत्पादन के यन्त्रों पर समाज का अधिकार होने के कारण सब सबके लिए कार्य करेंगे। इस प्रकार भविष्य में श्रमिक तथा पूंजीपति का भेद मिट जायगा, हानि तथा लाभ का प्रश्न भी मिट जायगा। लाभ जो आधुनिक युग में पूंजीपतियों का व्यक्तिगत रूप में होता है वह राष्ट्र का होगा। जो अधिक श्रम करेगा तथा जो उच्चकोटि का परिश्रम करेगा वह अन्य लोगों से अधिक सुखी भी रहेगा। जो व्यक्ति किसी उत्पादन क्षेत्र में कार्य न करके सार्वजनिक सेवा करेगा उसे राष्ट्र की ओर से उसकी सेवा के अनुकूल फल मिलेगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साम्यवाद एक राज्यप्रणाली है तथा समाज संगठन है जिसमें उद्योग धन्धों का स्वामित्व व्यक्तिगत मनुष्यों के हाथ में न रहकर सम्पूर्ण जनता के हाथ में रहेगा। साम्यवाद सर्वाधिकार-वाद का समर्थक तथा पोषक है। साम्यवाद के अनुसार राष्ट्र का कर्तव्य केवल शासन करना ही नहीं है वरन् प्रत्येक व्यक्ति की सुख-सुविधा का भी साधन उपस्थित करना है। राष्ट्र का कर्तव्य प्रत्येक व्यक्ति को कार्य देना तथा प्रत्येक को भोजन देना भी है। सभी मनुष्य राष्ट्र के हैं। राष्ट्र

का प्रत्येक व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार है। राष्ट्र जिससे जो उचित समझे कार्य ले सकता है।

साम्यवाद का विकास—साम्यवाद का प्रथम आचार्य प्लेटो (Plato) हुआ था जिसका जन्म आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व हुआ था। इस आचार्य का जन्म यूनान में हुआ। उस समय की राज्य-व्यवस्था इस आचार्य को प्रिय न थी अतः उसने एक आदर्श राज्य की कल्पना की जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अधिक सुख मिले। प्रत्येक को अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुकूल कार्य मिले और प्रत्येक की आवश्यकता पूर्ति हो। परन्तु प्लेटो का साम्यवाद काल्पनिक जगत का एक स्वर्णिम स्वप्न था। वह आदर्शमात्र था। अपनी ही त्रुटियों के कारण वह व्यवहार जगत से दूर था। प्लेटो का विचार यह था कि यदि शासक तथा सैनिक साम्यवाद के सिद्धान्त को नहीं अपनायेंगे तो वह राष्ट्र के हित की अपेक्षा अपने स्वार्थों को महत्व देंगे जिससे जनता की भलाई न हो सकेगी। अरस्तू (Aristotle) ने अपने गुरु के विचारों का खण्डन किया और निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किया:—

(१) साम्यवाद की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य को अधिक संतोषप्रद होती है।

(२) साम्यवादी आर्थिक नीति की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति की नीति उच्चतर है।

(३) चरित्र निर्माण के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति सहायक है।

(४) व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा सहृदयता की सहायक है।

(५) सम्पत्ति पर अधिकार एक प्रकार का सुख है।

परन्तु आधुनिक साम्यवाद का प्रारम्भ कार्लमार्क्स तथा एञ्जिल्स के समय से माना जाता है। आधुनिक साम्यवाद का आदि-आचार्य कार्ल-मार्क्स माना जाता है और १८४८ का साम्यवादी घोषणापत्र तथा दास कैपिटल साम्यवाद की गीता समझी जाती है। साम्यवाद समय के साथ और भी अधिक विकसित हुआ। साम्यवादी दो आचार्यों का और भी उदय हुआ। उनमें से प्रथम का नाम लेनिन और दूसरे का नाम स्टैलिन है। वर्तमान शताब्दी का साम्यवाद स्टैलिन से अधिक प्रभावित है। इस प्रकार आधुनिक साम्यवाद के कार्लमार्क्स, लेनिन तथा स्टैलिन त्रिदेव हैं।

मार्क्सवाद जो सर्वप्रथम सोने का स्वप्न समझा जाता था अवसर पाकर लेनिन द्वारा अंकुरित तथा स्टेलिन द्वारा परिपुष्ट हुआ।

मार्क्स के अनुसार समाज ३ श्रेणियों से होकर चलता है। प्रथम आदि-साम्यवाद, द्वितीय ऐतिहासिक समाज जैसा आधुनिक युग में है, और तृतीय उच्चतर साम्यवाद। तृतीय अवस्था आदि-साम्यवाद को तथा ऐतिहासिक सामाजिक अवस्था को सम्बद्ध करती है। प्रथम अवस्था से द्वितीय अवस्था तक परिवर्तन अबाध मन्दगति से होता है। परन्तु द्वितीय अवस्था से तृतीय अवस्था में परिवर्तन द्रुतगति से और अचानक होता है। अन्य दार्शनिक मार्क्स के इस सिद्धांत का खण्डन करते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति जिसका उद्भव मार्क्स ने ऐतिहासिक समाज में दिखलाया है असत्य है। कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति उतने ही प्राचीनकाल से चली आ रही होगी जितने प्राचीनकाल से मानवता। व्यक्तिगत संपत्ति का उदय मानवता के साथ हुआ होगा। क्रमिक विकास का सिद्धान्त जो आधुनिक समय में सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त माना जाता है इस कथन का समर्थन करता है। इस भांति मार्क्स के सिद्धान्तों से क्रमिक विकास के सिद्धांन्तों का परस्पर विरोध उत्पन्न होता है।

मार्क्स ने हेगल के द्वन्द्वात्मक तर्क से प्रारम्भ कर तीन अन्य सिद्धांतों को उन्नत, किया। प्रथम, इतिहास की आर्थिक व्याख्या, द्वितीय, वर्गवाद की व्यापकता तथा तृतीय, सामाजिक क्रांति की अनिवार्यता। अतः हम अब सर्वप्रथम इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर विचार करेंगे।

इतिहास की आर्थिक व्याख्या—मार्क्स ने जो इतिहास की आर्थिक व्याख्या की वह सर्वप्रथम किसी के समझ में न आई। तत्कालीन विद्वानों ने जैसा ही चाहा वैसा ही तर्क उस व्याख्या के खण्डन के लिए प्रस्तुत कर दिया। मार्क्स ने अपने द्वन्द्व न्याय में यह प्रतिपादित किया है कि मानव जीवन तथा ऐतिहासिक घटनाओं का आधार मनुष्य की दैनिक आवश्यकताएँ हैं। जैसे जैसे मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं में परिवर्तन होता है, वैसे वैसे मनुष्य के सामूहिक जीवन में भी परिवर्तन हुआ करता है। आदिकाल से अवतक ज्यों ज्यों मनुष्य का जीवन सामाजिक बनता गया है, त्यों त्यों मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं का प्रभाव समाज पर अधिक व्यापक होता गया है। नवीन विचारधारा सर्वप्रथम अनीश्वरवादी तथा नितांत भ्रममूलक समझी गयी। जिस मनुष्य ने युगों से यह समझ रखा था कि संसार में जब अपार दुःखसमुद्र उमड़ने लगता है; पाप पृथ्वी पर घोर

रूप में छा जाता है ; महात्मा पुरुषों के लिए बचाव की कोई भी सुविधा नहीं रह जाती तो भगवान् स्वयं अवतरित होते हैं और साधु पुरुषों की रक्षा तथा दुष्टों का संहार करते हैं ; वह इस समष्टिवादी सिद्धान्त पर क्यों विश्वास करने लगा। वह तो ऐसे सिद्धान्तों को अवश्य ही अनादर की दृष्टि से देखेगा।

समाज व्यक्तिगत जीवन के संबंधों से बना है। जहाँ एक व्यक्ति के जीवन का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति के जीवन से नहीं है वहाँ हम समाज की रचना नहीं मान सकते। यद्यपि समाज की रचना में अन्य शक्तियाँ कार्य करती हैं परन्तु विशेषतया समाज की मुख्य शक्ति एक व्यक्ति का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति के संबंध और इसी भाँति समाज के प्रत्येक मनुष्य का संबंध समाज के साथ होने में है। यह समाज के संबंध स्थितशील नहीं हैं वरन प्रक्रिय हैं और यही कारण है कि समाज में निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है। दूसरे, समाज के एक मनुष्य का सम्बन्ध समाज के अन्य मनुष्यों के साथ आर्थिक व्यवहारों द्वारा प्रगट होता है। यद्यपि मनुष्य के व्यवहारों में अन्य वस्तुओं का भी समावेश होता है परन्तु सर्व प्रथम व्यवहार जो स्वाभाविक सम्बन्धों का निर्माता है, आर्थिक व्यवहार है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि मनुष्य अपना संबंध क्यों दूसरे व्यक्ति से बनाये रखना चाहता है तो यही उत्तर मिलेगा कि जिससे उसकी वह आवश्यकताएँ जो उसके जीवन के लिए नितांत उपयोगी हैं पूर्ण हों। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना वह जीवित ही नहीं रह सकता। फलस्वरूप आर्थिक आवश्यकता ही समाज का मूल कारण है। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली इस शक्ति को यदि हम "उत्पादन शक्ति" कहें तो अत्युक्ति न होगी।

उत्पादन-शक्ति के दो मुख्य अंग हैं। प्रथम, प्रकृति स्वयं कुछ साधनों को उपस्थित करके उत्पादन क्रिया को सफल करती है। द्वितीय, मनुष्य परिश्रम करके उन प्राकृतिक साधनों का उपयोग करता है। इस प्रकार उत्पादन शक्ति पर प्रकृति तथा मनुष्य दोनों का योग होता है। उत्पादन पर इन दोनों शक्तियों का प्रभाव पड़ता है या इस प्रकार कहिए कि बिना इन दोनों शक्तियों के योग के उत्पादन नहीं हो सकता है। उत्पादन की मात्रा में सदैव से विकास होता रहा है। आदि काल में जितना परिश्रम करके मनुष्य जो उत्पादन करता था आज उसी परिश्रम से वह उससे अधिक पदार्थ उत्पन्न कर सकता है। उत्पादन की शक्ति में आदि-

काल से आज तक निरन्तर अवाध-गति से विकास होता रहा है। यह विकास भविष्य में भी अवश्यम्भावी है। उत्पादन में विकास के दो कारण हैं; प्राकृतिक साधनों में परिवर्तन हो जाना तथा मनुष्य की श्रम-शक्ति में यन्त्रों के प्रयोग द्वारा विकाश होना। अतएव "उत्पत्ति के साधनों" अथवा "उत्पादन शक्ति" में होने वाला क्रमिक विकास ही इतिहास की प्रक्रिया का संचालक है। इसी को हम कार्यक्षमता, शक्ति का विकास भी कह सकते हैं।

यदि हम इतिहास के पृष्ठों को उलट-पुलट के उसकी समीक्षा करें तो पता चलेगा कि समाज में आदिकाल से जो बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं, बड़े-बड़े विप्लव हुए हैं उनका आदि कारण उत्पादन के साधनों का विकास ही है। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त करके ही मनुष्य किसी योजना में सफल हो सकता है। इतिहास में जितने विप्लव हुए हैं उनके आदि कारण उत्पादन शक्ति के स्वामी ही रहे हैं। इन स्वामियों की प्रति-स्पर्धा तथा अनधिकार प्रयत्नों ने ही किसी देश विशेष के ऊपर वाह्य आक्रमणकारियों को आमंत्रित किया है। आज के युग का इतिहास प्रायः इन्हीं सम्पत्तिशालियों का इतिहास रहा है। इतिहास के पृष्ठों को उलटने से पता चलेगा कि प्राचीनकाल में भूमि आदि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के लिए संघर्ष हुआ करता था। तत्पश्चात यह निश्चित हो गया कि कौन स्वामी तथा कौन दास रहेगा। एक वर्ग ने दूसरे वर्ग को सदैव के लिए दासवृत्ति के लिए वाध्य किया। यूनान आदि देशों में स्वामी तथा सेवकों में अधिकारों के लिए कलह हो जाया करती थी। अन्त में भूपतियों ने सेवकों को इस पर वाध्य किया कि वे कुछ भूमिकर देकर ही भूमि का उप-योग कर सकते हैं। मध्ययुग में कर देकर भूमि का उपयोग करना एक प्राचीन प्रणाली के रूप में स्वीकृत हो गया था। प्रत्येक कृषक भूमि का कर देना अपना एक महत्वपूर्ण कर्तव्य समझता था। परन्तु ज्यों-ज्यों कृषक अपने भूपति के सम्मुख झुकता गया त्यों-त्यों भूपति उसे करों के बोझ से दवाता गया। एक समय ऐसा आ गया जब कृषक भूपति के बोझ को सहन न कर सका और वह प्रतिक्रिया के लिए वाध्य हुआ। कृषक में आत्मबल तथा आत्मचेतना जागृत हुई। अब वह अकारण ही कर देने का विरोध करने लगा। फलस्वरूप सम्पत्तिशालियों तथा कृषकों का वर्ग-युद्ध प्रारंभ हुआ। समय पाकर वर्ग-संघर्ष ने उग्ररूप धारण कर लिया। जर्मनी का "किसान युद्ध" चीन का "ताईपिंग विद्रोह" तथा रूस का "प्रकाग्राफ विद्रोह"

इस संघर्ष के ज्वलंत उदाहरण हैं। भारतवर्ष में भी अनेक युद्ध हुए जिनका आदि कारण वर्ग संघर्ष ही था। मद्रास के मोपला विद्रोह को साम्प्रदायिक विद्रोह कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः वह किसानों का ही युद्ध था। जिस प्रकार यूरोप के वर्ग संघर्ष ने मध्य युग में धार्मिक रूप धारण कर लिया था उसी प्रकार भारत में वर्ग संघर्ष ने हिन्दू-मुस्लिम रूप धारण कर लिया। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि इन सभी युद्धों की प्रेरणा उत्पादन के साधनों पर अधिकार प्राप्त करने के लिये ही हुई है। साम्प्रदायिक तथा राष्ट्रीय युद्ध उस वर्ग संघर्ष के एक अंग मात्र है। वर्ग-संघर्ष प्रधान है अन्य युद्ध उसी के गौण रूप हैं।

प्राचीन काल में भूमि ही प्रमुख उत्पादन का साधन था, अतः उस युग में युद्ध केवल भूमि पर अधिकार प्राप्त करने के लिये ही हुआ करते थे। परन्तु जैसे जैसे उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होता गया वैसे वैसे युद्ध का लक्ष्य भी परिवर्तित होता गया। 'मध्ययुग प्रधानतया औद्योगिक उन्नति का युग रहा। इसी युग में बड़े बड़े यंत्रों तथा उद्योगों का जन्म हुआ। सागर पर जलपोत इसी युग में प्लावित हुए। इसी युग में एक देश का व्यापारिक संबंध दूसरे देश से स्थापित हुआ। उत्पादन शक्ति भूमि से उठ कर उद्योग धंधों पर केन्द्रित हुई। अतः सामन्तों के हाथ से उत्पादन शक्ति उठकर पूंजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हुई। मध्य युग में संसार छोटे छोटे राज्यों में बँटा था जो व्यापार के लिये बाधक था। व्यापारियों को अनेकों स्थानों पर चुंगी आदि कर देना पड़ता था। अतः सम्पत्तिजीवी वर्ग ने इन छोटे छोटे राज्यों को प्रजातांत्रिक युद्ध के द्वारा समाप्त कर दिया। केवल छोटे छोटे राज्यों का अन्त कर देने से ही संपत्तिजीवियों का मार्ग निष्कंटक नहीं हुआ। उन्हें अपने उत्पादित पदार्थों के विक्रय के लिये ऐसे हाट की भी आवश्यकता पड़ी जिसमें वे अपने पदार्थों का विक्रय कर सकें। यह हाट कोई ऐसा ही स्थान हो सकता था जहाँ की जन-संख्या अधिक हो और वहाँ औद्योगिक जागरण न हुआ हो। जब तक किसी देश पर स्वामित्व न हो तबतक उसके औद्योगिक जागरण को तथा पूंजीवादी व्यापार को सफल नहीं बनाया जा सकता था। अतः पूंजीवादी तथा औद्योगिक देश को एक आधीनस्थ कृषिप्रधान देश की आवश्यकता हुई। पूंजीवादी इस व्यापारिक नीति को आधुनिक युग में साम्राज्यवाद के नाम से पुकारते हैं। फलतः मध्य युग का पूंजीवाद सामन्तों के बंधनों से मुक्त होकर साम्राज्यवाद की ओर अग्रसर हुआ।,,

लेनिन का कथन है कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अन्तिम रूप है। जिन उत्पादक साधनों पर स्वामित्व प्राप्त कर पूंजीवाद सामन्तवाद का अन्त कर देता है उन्हीं उत्पादक शक्तियों के कारण श्रमजीवियों का जागरण होता है और भविष्य में यह आशा की जाती है कि श्रमजीवी वर्ग पूंजीवाद का विनाश कर देगा। पूंजीवादी समाज में पूंजीपतियों की संख्या अल्प तथा श्रमजीवियों की संख्या अधिक होती है। अतः श्रमिकों की लड़ाई श्रमिकों के नेतृत्व में लड़ी जाने पर अवश्यमेव श्रमिकों की विजय होगी। श्रमिकों के इस संघर्ष में एक अनोखी बात और है। वह यह कि प्राचीन काल से आज तक जितने वर्गों का स्वामित्व समाज पर रहा उन सभी ने अपने स्वार्थों के लिये सारे समाज को पददलित किया। परन्तु श्रमजीवी वर्ग में अन्य किसी वर्ग का समावेश न होने के कारण यह समाज का सदैव ही शुभचिंतक रहेगा। श्रमिकों का शासन स्थापित हो जाने से वर्ग संघर्ष का अन्त हो जाता है और विश्वशांति का मार्ग खुल जाता है। शोषक तथा शोषित वर्ग की अनुपस्थिति में कोई स्थापित स्वार्थ न होने के कारण संघर्ष का अन्त हो जायगा और मानवता का पुनर्विकास होगा।

वर्ग युद्ध की व्यापकता—वर्ग संघर्ष का दिग्दर्शन हम इतिहास की आर्थिक व्याख्या के साथ कर चुके हैं। जिस प्रकार मानवता के विकास के लिये किसी समय अज्ञान जनित धर्म की आवश्यकता थी उसी प्रकार आधुनिक युग में वर्ग संघर्ष की आवश्यकता है। उन्नत समाज की रचना के लिये श्रेणी संघर्ष के अन्तिम स्वरूप समन्वय की आवश्यकता है। अतः समष्टिवादी समाज की स्थापना के लिये वर्ग संघर्ष की अत्यंत आवश्यकता है।

वर्ग संघर्ष के इस नवीन सिद्धांत का आधुनिक युग के पूंजीवादी विरोध करते हैं। कारण यह है कि इस सिद्धांत के मान लेने से इन्हें आर्थिक हानि होने की संभावना है। पूंजीवादियों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी विद्वान् हैं जो वर्ग संघर्ष के सिद्धांत का विरोध करते हैं। पूंजीवादियों का विरोध तो केवल अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये ही है परन्तु अन्य लोग अज्ञानता वश विरोध करते हैं। वर्ग संघर्ष का सिद्धांत उनकी समझ में अभी नहीं आ सका है। वर्गसंघर्ष के विरोधी यह कहते हैं कि समाज की रचना का आधार उत्पादन की शक्तियों पर प्रभुत्व नहीं है किन्तु श्रम विभाग है। मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिये श्रम विभाजन

कर लिया है, परन्तु ऐसा कहना नितान्त भ्रमपूर्ण है। समाज में श्रम-विभाजन उत्पादन शक्तियों पर स्वामित्व प्राप्त करने पर ही संभव हो सका है। वमपुलिस का जमादार स्वेच्छा से जमादारी नहीं चाहता परन्तु विवश होकर उसे वह कार्य करना पड़ता है। उसी प्रकार प्रारम्भिक समय में जब वर्णव्यवस्था बनी होगी तो शूद्र सेवाकार्य के लिये अवश्य ही विवश किये गये होंगे। शूद्रों ने स्वेच्छा से सेवा धर्म को नहीं अपनाया होगा।

समाज की आदिम अवस्था में जब उत्पादन शक्तियों का विकास नहीं हुआ था तो श्रम विभाजन का भी प्रश्न नहीं था। समाज में पति-पत्नी नहीं हुआ करते थे। उस समय केवल नर तथा नारी ही हुआ करते थे। अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक को परिश्रम करना पड़ता था। बड़ी कठिनाई से जीवन व्यतीत होता था। भविष्य के लिए कुछ भी नहीं बचता था। परन्तु शनैः शनैः मनुष्य का मस्तिष्क विकसित होता गया। मनुष्य ने कृषिविद्या का अध्ययन किया तथा उसने पशुपालन करना आरम्भ किया। अब उसे दैनिक जीवन की आवश्यकता से अधिक सामग्री प्राप्त होने लगी अतः उसे अब संचय की आवश्यकता हुई। खाद्य पदार्थ अधिक दिनों तक संचित नहीं किये जा सकते थे अतः मनुष्य ने विनिमय के साधन खोज निकाले। विनिमय के लिए मनुष्य ने धातुओं का आश्रय लिया। इस भाँति संचय और विनिमय ने मानव समाज में दो विरोधी वर्ग स्थापित कर दिये। प्रथम वर्ग तो वह था जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व था और द्वितीय वह जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विवश होकर अपने श्रम को स्वामियों के हाथ में बेच देता था।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि यह वर्गसंघर्ष मानव समाज के इतिहास की वस्तु है न कि किसी देश या जाति के इतिहास की। यह वर्गसंघर्ष प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल में था। कोई भी ऐसा देश नहीं था जहाँ यह वर्गसंघर्ष व्यापक न रहा हो। जिस देश में उत्पादन के साधन अधिक विकसित हुए वहाँ यह संघर्ष अधिक विकसित हुआ परन्तु जिस देश में उत्पादन के साधन विकसित न हुए वहाँ यह संघर्ष बन्द रहा। यही कारण है कि आधुनिक उन्नत देशों में यह वर्गसंघर्ष बड़े विकराल रूप को धारण किये हुए है और जो देश अभी अवनत दशा में हैं उनमें वर्ग संघर्ष उतना व्याप्त नहीं है। मार्क्स के पूर्व भी विद्वान्

वर्गसंघर्ष को मानते थे परन्तु वह यह नहीं मानते थे कि उत्पादन शक्ति के साथ ही साथ संघर्ष का रूप भी परिवर्तित हो जाया करता है।

राज्य संस्था के उद्भव का कारण भी वर्गसंघर्ष ही है। राज्य संस्था का बाह्य रूप निष्पक्ष सा प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में यह निष्पक्ष नहीं है। राज्य पर स्वतः उसी वर्ग का प्रभाव होता है जो समाज में अधिक शक्तिशाली होता है। राज्य संस्था यदि समर्थ वर्ग की सहायता न करे तो उसका अस्तित्व ही कठिनाई में पड़ जाय। मार्क्स के विचार से तो राज्य संस्था पूंजीवादियों द्वारा निर्मित है और वह इसीलिए है कि श्रमजीवी वर्ग के आन्दोलनों को अधिक न बढ़ने दे। राज्य संस्था के विविध अंग जैसे पुलिस, सेना, न्याय विभाग तथा कारागृह आदि केवल इसीलिए थे कि श्रमजीवी किसी प्रकार भी क्रांति न कर सकें। मार्क्स के विचार से राज्य संस्था शोषितों के दमन के लिये ही एक शक्ति है। आधुनिक राज्य संस्था के बल पर ही शोषण करनेवाला वर्ग दलितों पर अनेक प्रकार का अत्याचार करता है। राज्य संस्था ऐसा वातावरण उत्पन्न करती है जिससे श्रमिकों का शोषण संभव हो सके। राज्य संस्था इसीलिये श्रमजीवियों के लिये हितकर नहीं है और क्रांति द्वारा उस संस्था का अन्त कर देना श्रमजीवियों का प्रथम कर्तव्य होगा।

पूंजीपतियों के विरुद्ध यह क्रांति किसी देश विशेष की वस्तु नहीं है, बल्कि संसार के समस्त श्रमिकों को उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिये एक साथ प्रयत्न करना है। संसार के समस्त श्रमिक जबतक एक साथ सम्मिलित नहीं होते तब तक यह क्रांति संभव नहीं हो सकती। यदि किसी देश विशेष में श्रमिक क्रांति सफल भी हो जायगी तो उस देश के श्रमिकों पर अन्य पूंजीवादी देश अवश्य आक्रमण करेंगे और ऐसे कठिन अवसर की रक्षा के लिये उस देश के श्रमिकों को केवल श्रमजीवी प्रधान राज्य स्थापित करना अनिवार्य होगा। अतः श्रमिकों का आन्दोलन जब तक पूर्ण संसार में व्याप्त नहीं हो जाता तब तक उनको श्रमिक प्रधान राज्य की स्थापना करनी होगी।

कुछ लोगों को संदेह है कि श्रमिकों का जो सामयिक राज्य स्थापित होगा वह केवल श्रमिकों का ही हित चाहेगा और दूसरे एक नवीन राज्य संस्था भी उत्पन्न हो जायगी। इस प्रकार न तो वर्गसंघर्ष का ही अन्त होगा और न राज्य संस्था का ही अन्त होगा। अन्तर केवल इतना होगा कि

पहले पूंजीवादियों का उत्पादन-शक्तियों पर प्रभाव था और अब श्रमिकों का प्रभाव रहेगा।

मार्क्स इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देता है :—

"When in the course of development the distinctions of classes have vanished, and when all production is concentrated in the hands of associated individuals, public authority loses its political character. Political power in the proper sense is organised power of one class for the suppression of another. When the Proletariat, in its struggle against the middle class , united itself perforce, so as to form a class constituted itself by way of revolution the ruling class, and as the ruling class forcibly abolishes the former conditions of production, it abolishes therewish at the same time the very foundation of the opposition between classes, does away with the classes altogether and by that very fact with its own domination as a class. The place of the former bourgeois society, with its classes and class contracts, is taken by an association of workers, in which the free development of each is the condition of the free development of all."

—साम्यवादी घोषणापत्र १८४८

'जब' साम्यवाद के उन्नत काल में वर्गविहीन समाज का निर्माण हो जाता है और जब समस्त उत्पत्ति सामाजिक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाती है तब सार्वजनिक प्रभुत्व राजनीतिकता से विच्छिन्न हो जाता है। राजनीतिक शक्ति विशेषतया एक वर्ग-व्यवस्थित शक्ति है जो दूसरे वर्ग के अतिक्रमण के लिये प्रयुक्त होती है। जब श्रमजीवी मध्यम वर्ग के विरोध के लिये बलपूर्वक अपने को संगठित करता है और क्रांति द्वारा अपना वर्ग निर्मित करता है तो स्वामी वर्ग अपनी उत्पत्ति की समस्त अवस्था को हटाने के लिये विवश हो जाता है और तत्काल ही वर्गसंघर्ष समाप्त हो जाता है। वर्गसंघर्ष के मूल मंत्र—उत्पादन के स्वामित्व के समाप्त होते ही समाज भी वर्गविहीन हो जाता है। एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व नहीं रह जाता। मध्यम वर्ग व उसकी श्रेणियों के स्थान पर एक ऐसे श्रमजीवी संगठन का उदय होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति सामाजिक उन्नति के साथ समाविष्ट होती है।

सामाजिक क्रांति की अनिवार्यता—क्रांति तथा शांति एक ही सिद्धांत के दो विभिन्न पक्ष हैं। एक की अनुपस्थिति में दूसरा नहीं रह सकता। शांति के लिये ही क्रांति की आवश्यकता हुआ करती है। जब कभी समाज में व्यभिचार तथा अत्याचार बढ़ा है, उसी काल में क्रांति अनिवार्य हो गयी है। मानसिक, सामाजिक, शारीरिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार की शांति के लिये क्रांति की आवश्यकता है। साधारण जनता की धारणा है कि क्रांति अप्राकृतिक है। परन्तु वास्तव में यह उनका भ्रममात्र है। क्रांति अप्राकृतिक नहीं वरन् अति प्राकृतिक है। प्रकृति स्वयं परिवर्तनशील है और जब यही परिवर्तन तीव्र गति से होने लगता है तो क्रांति का रूप धारण कर लेता है। प्राचीन काल में लोगों की धारणा यह रही है कि हमारी असद् इच्छाओं का प्रगट रूप हिंसा है तथा सद् इच्छाओं का रूप अहिंसा। इसी सद् इच्छा को गीता में निष्काम बुद्धि कहकर पुकारा है। परन्तु गीता स्वयं क्रांतिकारी विचारों का समर्थन करती है। उदाहरण के लिये जब अर्जुन संग्राम के प्रति वैराग्य प्रकट करता है और धनुष बाण को रख देता है—

"एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोक संविग्न मानसः ॥"

तब श्रीकृष्णजी उसको युद्ध के लिये बाध्य करते हैं और कहते हैं कि—

"क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥"

अतः यह कहना कि सद् इच्छाओं का स्वरूप अहिंसा है, भ्रांतिपूर्ण है। सद्इच्छाओं का व्यावहारिक रूप सत्य हुआ करता है। सत्य मार्ग का अनुसरण करनेवाला वीर कभी भी हिंसा तथा अहिंसा की चिंता नहीं करता। सत्यानुगामी द्वारा की गयी हिंसा, हिंसा नहीं होती क्योंकि वह निष्काम भाव से की जाती है दूसरे क्रांति का यही अभिप्राय नहीं है कि वह सशस्त्र ही हो। कोई भी परिवर्तन जब तीव्र गति से होने लगता है तो हम उसे विप्लव या क्रांति का रूप देते हैं। गांधी जी ने राजनीतिक संसार में जो परिवर्तन किया है हम उसे भी क्रांति कह सकते हैं।

हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं कि संसार के विकास का क्रम सदैव समान गति से नहीं चलता। कभी वह द्रुतगति से होता है तो कभी मन्द गति से। यदि हम इस विकास सिद्धांत की समीक्षा करें तो पता चलेगा कि क्रमिक विकास सदैव ही द्रुत विकास के लिये साधन उपस्थित करता

है। जिस प्रकार फुटबाल में क्रमिक रूप से वायु भरते रहने से एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि फुटबाल फट जाता है ठीक उसी प्रकार क्रमिक विकास क्रांति की नींव बनाने का कार्य करता है। क्रमिक विकास ऐसा वातावरण उपस्थित कर देता है कि क्रांति का होना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि हम द्वितीय संसार महायुद्ध के इतिहास का अध्ययन करें तो पता लगेगा कि संसार की राजनीतिक शक्तियों ने जर्मनी को शस्त्र उठाने के लिए वाध्य किया जिसके फल स्वरूप द्वितीय संसार का महायुद्ध हुआ। आज भी वे क्रान्तिकारी शक्तियाँ अपना कार्य अबाध गति से कर रही हैं। रूस तथा अमेरिका में द्वेष भावना उत्तरोत्तर बढ़ती चली जा रही है। इसका फल भी हम देखेंगे कि एक तृतीय महासमर अनिवार्य रूप से होगा।

अब हमें यह देखना है कि एक समष्टिवादी वर्ग-विहीन समाज की रचना के लिये सशस्त्र क्रांति की आवश्यकता है कि नहीं ? कुछ भारतीय विद्वानों का यह मत है कि अब संसार हिंसात्मक क्रांति से अहिंसात्मक क्रांति की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसे तार्किकों के लिये क्या उत्तर किया जा सकता है जब कि संसार में पहिले से अधिक भयानक बम तथा अन्य विनाश-कारी यंत्रों का उत्तरोत्तर आविष्कार होता जा रहा है। आज के संसार को देखकर यह कल्पना करना कि संसार अहिंसा की ओर अग्रसर हो रहा है नितान्त भ्रम है। अतः यह विश्वास करना कि समष्टिवादी समाज की रचना के लिये अब शस्त्रों की आवश्यकता नहीं है केवल स्वप्न है, अतः यदि श्रमजीवी वर्ग को अपना आन्दोलन संसारव्यापी बनाना है और पूंजीपतियों के मायाजाल से मुक्त होना है तो उन्हें सशस्त्र क्रांति करनी होगी ऐसा विचार साम्यवादियों का है।

साम्यवाद की आलोचना तथा प्रत्यालोचना—समाजवाद की समस्त आलोचनाएँ साम्यवाद पर लागू होती हैं जिनका उत्तर समाजवाद की समालोचना नामक शीर्षक में दिया जा चुका है। उन आलोचनाओं के अतिरिक्त साम्यवाद पर अन्य कई आलोचनाओं का आरोपण किया जाता है, उनमें से प्रमुख आलोचनाओं को प्रस्तुत किया जाता है।

आलोचना—साम्यवादी व्यवस्था में राज्यसत्ता का अन्त हो जायगा। साम्यवाद के आलोचकों के लिये यह असंभव सी बात है। राज्य सत्ता का अन्त होना देश में अराजकता को आमंत्रित करना है।

प्रत्यालोचना—साम्यवाद में जब कभी 'राज्यसत्ता की समाप्ति"

का शब्द प्रयुक्त हुआ है तो उसका अभिप्राय यही रहा है कि राज्यसत्ता में जो दमनशक्ति का प्रयोग होता है साम्यवादी व्यवस्था में उसका ह्रास हो जाता है न कि सरकार के प्रबंधकारी शरीर का। पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था में राज्यसत्ता की आवश्यकता न रहेगी बल्कि प्रबंध करने के लिये सरकार का स्वरूप एक यंत्र की भांति होगा। कार्ल मार्क्स तथा एन्जिल्स ने अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन में केवल पांच स्थलों पर ही "राज्यसत्ता का ह्रास हो जायगा" शब्द का प्रयोग किया है और प्रत्येक स्थल पर उसका यही अभिप्राय निकलता है कि राज्यसत्ता की दमनकारी शक्ति का ह्रास हो जायगा। मार्क्स के विचार से राज्य एक वर्ग की विशेष शक्ति है और वह वर्ग अपने विरोधी दलित वर्ग के दमन के लिये ही राज्यशक्ति का प्रयोग करता है। अतः जब पूर्ण साम्यवाद की स्थापना हो जायगी तो वर्ग संघर्ष समाप्त हो जायगा और फलतः राज्यसत्ता भी समाप्त हो जायगी। इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि राज्य का जो प्रबंधक रूप है वह भी समाप्त हो जायगा। विभिन्न प्रकार के प्रबंधों के लिये उस समय भी सरकार की आवश्यकता रहेगी। साम्यवादी व्यवस्था में सरकार रहेगी परन्तु जब तक पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक श्रमिकों का राज्यसत्ता पर अधिकार रहेगा। कारण यह है कि उनको अपने प्रतिद्वंन्द्वी पूंजीवादी वर्ग से सदैव सचेत रहना है और पूंजीवादी वर्ग के दमन के लिये राज्यसत्ता की आवश्यकता पड़ेगी।

२. आलोचना—द्वितीय अभियोग जो साम्यवाद पर लगाया जाता है वह यह है कि साम्यवाद कुछ समय के लिये श्रमजीवियों के निरंकुश शासन का प्रतिपादन करता है कि साम्यवाद यह आशा करता है कि साम्यवाद की स्थापना के लिये श्रमजीवी वर्ग अपने निरंकुश शासन को स्वयं हटा लेगा। यह कोरी कल्पना है।

प्रत्यालोचना—प्रत्येक आन्दोलन के पूर्ण होने में कुछ समय की आवश्यकता है। कोई भी आन्दोलन विद्युत की चमक की भांति अचानक नहीं पूर्ण हो जाया करता। फिर साम्यवादी आन्दोलन तो संसारव्यापी आन्दोलन है। संसार के समस्त श्रमजीवियोंको जागृत करने का आन्दोलन है। इसके लिये तो अनेक वर्षों का समय चाहिए। दूसरे प्रत्येक देश के श्रमजीवी एक साथ नहीं जागृत हो सकते। अतः आन्दोलन के प्रारम्भ से लेकर पूर्ण होने तक एक सुव्यवस्थित संचालन केन्द्र की आवश्यकता होगी। इस आवश्यकता की

पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि साम्यवादी आन्दोलन की पूर्णता तक श्रमजीवियों का निरंकुश शासन बना रहे।

साम्यवादी व्यवस्था के पूर्ण होने के साथ ही वर्गसंघर्ष का अन्त हो जायगा। समाज में शोषक तथा शोषित नहीं रह जायँगे। समाज का प्रत्येक व्यक्ति श्रमजीवी ही रहेगा। इसलिये राज्यसत्ता में दमनशक्ति का होना भी कोई महत्व की वस्तु नहीं रह जायगी। जब दमनशक्ति के लिये उपयुक्त लक्ष्य ही नहीं रह जायगा तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।

साम्यवाद के आलोचक और भी कई प्रकार की आलोचनाएँ उपस्थित करते हैं परन्तु वे महत्वपूर्ण न होने के कारण यहाँ नहीं दी जा रही हैं।

विशेष अध्ययन के लिए देखिए—

एच० लास्की—*कम्यूनिज़्म*

मैक्स बेयर—*लाइफ आफ कार्ल मार्क्स*

एल० बी० बाउडिन—*दॉ थ्योरेटिकल सिस्टम आफ कार्ल मार्क्स*

क्रिस्टफर नारबर्ग—*आपरेशन मास्को*

मार्क्स तथा एफ ऐंजिल्स—*दॉ कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो*

एफ० ऐंजिल्स—*सोशलिज़्म यूरोपियन ऐन्ड साइन्टिफिक*

सी० गाइड, ऐंड सी० रिस्ट—*हिस्ट्री आफ इकनामिक थाट*

एल० एच० हेनी—*हिस्ट्री आफ इकनामिक थाट*

टी० किरकुप—*हिस्ट्री आफ सोशलिज़्म*

मार्क्स—*डास कैपीटल*

जी० डी० एच० कोल—*ह्वाट मार्क्स रियली मेन्ट*

प्रिंस क्रोपोट्किन—*दॉ ग्रेट फ्रेंच रिवोल्यूशन*

प्राउधान—*ह्वाट इज़ प्रापर्टी*

ई० आर० ए० सेलोमैन—*दॉ इकनामिक इन्टरप्रिटेशन आफ हिस्ट्री*

ज० स्पार्गो—*कार्ल मार्क्स, हिज लाइफ एन्ड वर्क*

आई० डी० लेवाइन—*दॉ मैन लेनिन*

आई० डी० लेवाइन—दॉ मैन स्टेलिन
जे० स्टॅलिन—लेनिनिज्म
ट्राटस्की, लिग्रन—दॉ हिस्टी आफ रशियन रिवोल्यूशन
ट्राटस्की, लिग्रन—दॉ रिवोल्यूशन बिट्रे ड
जवाहर लाल नेहरू—दॉ सोवियट सिस्टम
एल० ट्राटस्की—दॉ डिफेंस आफ टेररिज़्म

अध्याय १७

अराजकवाद

"प्रत्येक मनुष्य अपनी सरकार है, प्रत्येक अपना नियम, प्रत्येक धर्म का निर्धारण करे तथा प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपनी एक पद्धति हो।"

जोसिया वारेन

बादशाह दुनियां के हैं मोहरे मेरी शतरंज के,

दिल्लगी की चाल है सब शर्त सुलहो जंग के।

स्वामी राम

अराजकवाद की परिभाषा—राजनीति विज्ञान के अन्य वादों की भांति अराजकवाद भी एक वाद है। जिस प्रकार अन्य सिद्धांतों तथा वादों के अपने लक्ष्य तथा ध्येय हैं उसी प्रकार अराजकवाद का भी अपना एक लक्ष्य है। जनसाधारण की धारणा है कि अराजकवाद कुछ अराजकता से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार देश में किसी प्रकार के सुव्यवस्थित शासन की अनुपस्थिति में, अत्याचारी तथा पापी बढ़ जाते हैं उसी प्रकार अराजकवाद में भी पापी तथा अत्याचारी अनेक प्रकार के उपद्रव करेंगे। परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। अराजकवादी यह कहते हैं कि जितने प्रकार के अत्याचार प्रस्तुत समय में हो रहे हैं वह आधुनिक समय की अव्यवस्थित तथा अनुचित शासन प्रणाली के ही कारण हो रहे हैं। सब दुखों का मूल कारण आधुनिक शासन-व्यवस्था ही है। यदि सरकार न रहेगी तो प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होगा और उसे किसी प्रकार का कष्ट न रह जायगा। अतः अराजकवाद का प्रधान उद्देश्य यही है कि सरकार की दमनशक्ति को नष्ट करे जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपने उत्कर्ष के लिए पूर्ण अवकाश मिले।

सुखसम्पति राय भण्डारी ने अराजकवाद को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"अराजकवाद ही अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है, इसका सिद्धांत

है कि समाज पर भीतरी या वाहरी नियन्त्रण न रखना चाहिए।" परन्तु अराजकवाद अपने उद्देश्य को ठीक रूप से नहीं स्पष्ट करता और न यह सिद्धान्त ही प्रतिपादित करता है कि समाज पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रहे। अराजकवाद शब्द का प्रयोग भाषा तथा साहित्य में अच्छे भाव में नहीं प्रयुक्त होता। जहाँ भी कहीं अधिक राज्य विप्लव तथा अन्य किसी प्रकार से शांति भंग हुई हम यही कह उठते हैं कि अराजकता फैल गई है। दूसरे यह कहना कि अराजकवाद किसी भी प्रकार का समाज पर नियंत्रण नहीं चाहता नितांत असत्य है। बीसवीं सदी का अराजकवाद केवल सरकार की दमनशक्ति का ही विरोध करता है। अराजकवादी समाज में तो मनुष्य अपने सामाजिक नियम बनाने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होगा। समाज पर दमनकारी शक्तियों के स्थान पर प्रेम का नियंत्रण रहेगा। यदि कोई व्यक्ति समाज के हानिकारक कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसे प्रेमपूर्ण शब्दों में समझाकर सुधारा जायगा—पुलिस की लाठी शक्ति द्वारा नहीं।

अराजकवाद के प्रतिपादकों ने अराजकवाद की कोई परिभाषा नहीं दी है और न अराजकवाद अपने इतिहासकाल में किसी विशेष सिद्धान्त के साथ अटल ही रहा है। अराजकवाद सदैव एक प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील आन्दोलन रहा है। समय समय पर इस आन्दोलन में आवश्यक परिवर्तन होते रहे हैं। अतः इसकी परिभाषा करना नितांत कठिन है। परन्तु "सुप्रसिद्ध विद्वान इ० वी० जेनकर ने अपनी पुस्तक "अराजकवाद" में अराजकवाद की परिभाषा निम्न प्रकार की है:—

"Anarchism means, in its ideal sense, the perfect unfettered self-government of the individual and, consequently, the absence of any kind of external government."

"अराजकवाद का अर्थ, आदर्श भाव में पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्तिगत अनियंत्रित स्वराज्य है जिसका अभिप्राय किसी भी वाह्य सरकार की अनावश्यकता है।" अराजकवाद के लिए किसी सीमा तक यही परिभाषा मान्य भी हो सकती है

अराजकवाद का विकास—अराजकवादी विचार अत्यन्त प्राचीन है। अराजकवादी विचार उतने ही प्राचीन हैं जितने कि राष्ट्रवादी विचार। राष्ट्र ने जब से दमन नीति का अनुसरण किया होगा अराजकवाद का

तभी से आविर्भाव भी हुआ होगा। प्रकृति का नियम है सत्य को स्थिर रखना तथा असत्य को परिवर्तित कर देना। असत्य का परिवर्तन तथा विवर्तन आदि काल से ही प्रकृति का नियम रहा है। राष्ट्र की दमनकारी नीति असत्य है अतः इस नीति में परिवर्तन तथा विवर्तन आवश्यक है। अराजकवाद राष्ट्र की इसी दमनकारी नीति का फल है।

अराजकवाद भी अन्य वादों की भांति प्राचीन काल में अवैज्ञानिक तथा असंयत था। इसको वैज्ञानिक रूप देने वाला एक यूनानी था जिसका नाम जेनो था। इसका जन्मकाल ३४२ ई० पूर्व तथा मृत्युकाल २५७ ई० पूर्व माना जाता है। इस यूनानी दार्शनिक ने राष्ट्र के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने की नीति की आलोचना की थी और इसी समय से आधुनिक अराजकवाद का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है।

प्राचीनकाल में अराजकवाद का विकास नहीं हुआ। कारण यह था कि राष्ट्रशक्ति उस समय उतनी व्यापक नहीं थी जितनी आधुनिक युग में। ज्यों ज्यों राष्ट्र-शक्ति ने मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया त्यों त्यों अराजकवादी विचारों का भी प्रचार बढ़ा। जिस वेग से राष्ट्र की दमन नीति में वृद्धि होती गयी उसी वेग से अराजकवादी विचारों का भी प्रचार बढ़ता गया। युग के परिवर्तन के साथ जनता राष्ट्र के अधिकतर संपर्क में आती गयी। नये युग के साथ नये नये देशों का अनुसंधान तथा नये नये यंत्रों का आविष्कार होगया। इन आविष्कारों तथा अनुसंधानों के कारण जनता में नई ज्योति जागृत हुई। मनुष्य में मानसिक परिवर्तन हुआ। मध्य युग में इन परिवर्तनों का बड़ा वेग रहा। यही कारण है कि अराजकवाद भी मध्य युग में अपनी पूर्ण उन्नति पर रहा।

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक अराजकवादी दार्शनिक उत्पन्न हुए जिन्होंने अराजकवादी आन्दोलन को प्रगति प्रदान की। इन वैज्ञानिकों में विलियम गाडविन का नाम सर्व-प्रथम आता है। गाडविन पहिले टोरीवादी, फिर ह्विगवादी और प्रगतिवादी और तत्पश्चात अराजकवादी में परिवर्तित हुए। उन्होंने राजनैतिक न्याय पर एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में इन्होंने प्रायः व्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया है।

गाडविन के विचार से समाज विभिन्न प्रकार के मनुष्यों का समूह मात्र है। मनुष्य में प्रत्येक गुण पूर्णरूप से पहिले से ही विद्यमान रहते हैं जो समय समय पर विकसित हुआ करते हैं। आविष्कार तथा अनुसंधान उस पूर्णता की झलकमात्र है। इतिहास के दिग्दर्शन मात्र से हमें अनुमान

हो जायगा कि मनुष्य में तर्क शक्ति का सदैव से विकास होता रहा है। गाडविन का विश्वास है कि मनुष्य समाज में एक अचल नियम व्यवहृत हो रहा है और समाज के अन्य नियम उसी नियम के आधार पर अवलम्बित हैं। सम्पत्ति सदैव से ही समाज के लिए समस्या रही है और उसका समाधान प्रजातन्त्र आदि व्यवस्थाओं से नहीं किया जा सकता। गाडविन का विचार है कि इस समस्या की पूर्ति तभी हो सकती है जब उसका पुनर्वितरण किया जाय। प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण उन्नति का तथा समाज में प्रत्येक सुविधा का अधिकार है। परन्तु वह किसी भी सुधार को हिंसात्मक क्रियाओं द्वारा नहीं करना चाहता था। वह केवल शिक्षा द्वारा ही मनुष्य की उन्नति तथा समाज में सुधार का प्रतिपादक था।

उसका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क जन्मकाल में पूर्णरूप से स्वच्छ होता है। उसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता और न उस मस्तिष्क में पिछले जन्म की ही कोई झलक होती है। प्रत्येक विद्या तथा प्रत्येक वस्तु वह इसी जन्मकाल में सीखता है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य में जन्म से ही विचार-शक्ति होती है। बस, मनुष्य का कार्य केवल इतना ही है कि वह अपनी विचार-शक्ति का परिवर्धन करे। यह शक्ति प्रत्येक में समान होती है। यह विश्व कारणमात्र है। इसका नियमन स्थिर नैतिक नियमों द्वारा होता है। प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र उसके वातावरण पर अवलम्बित है। जिस प्रकार मनुष्य का वातावरण होता है वैसे ही उसका चरित्र बनता है। समाज में किसी का किसी वस्तु पर जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है। समाज में जो उच्च तथा निम्नवर्ग दिखाई पड़ते हैं वे सब कृत्रिम हैं। परन्तु समाज के प्रति प्रत्येक के कर्तव्य अवश्य हैं। समाज में प्रत्येक को प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। सरकार के नियम दमन-शक्ति के आधार पर स्थिर हैं अतः मनुष्य उनके पालन करन के लिए बाध्य नहीं है। हमें केवल सत्य का आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि सत्य प्रत्येक में समानरूप से वर्तमान है, सत्य की दृष्टि में सभी समान हैं अतः सत्य ही हमारी सरकार है और उसी के अनुसार हमें वर्तना चाहिए। गाडविन के विचार से आधुनिक ढंग की सरकार एक दूषण है। कारण यह है कि इसका आधार शक्ति का उपयोग है। सरकार व्यक्तिगत विचारों को अपनी प्रबल शक्ति से दबा देती है और इस दबाव से अंतःकरण के विचार दब जाते हैं। सरकार का यह कार्य बड़ा क्रूर तथा निर्दयतापूर्ण है। सरकार, वह चाहे जिस प्रकार की हो, सदैव शक्ति का उपयोग

करती है और इसीलिए गाडविन प्रत्येक प्रकार की सरकार का विरोध करता है। वह जनमत से बनी हुई सरकार का भी विरोध करता है। कारण यह है कि जनमत किसी भी असत्य वस्तु को सत्य में परिवर्तित नहीं कर सकता। अतः शनैः शनैः सरकार का विनाश कर देना आवश्यक है। सरकार के आधुनिक रूप को छोटे समान भागों में विभाजित कर देना चाहिए। यह विभाग अपने प्रत्येक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र होने चाहिए। कुछ समय के लिए जब तक कि जनता का पूर्ण जागरण नहीं हो जाता सरकार के यह छोटे रूप अन्याय को बचाने के लिए समर्थ होंगे। जब समाज पूर्णरूप से जागृत हो जायगा तो इनकी भी आवश्यकता नहीं रह जायगी। उस समय प्रत्येक मनुष्य अपना शासक स्वयं बन जायगा।

गाडविन ने आधुनिक सरकार के विधान, नियम तथा न्यायालयों का भी विरोध किया। कारण यह है कि वे दमनकारी शक्ति से संबंधित हैं। यही नहीं, उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी घोर विरोध किया। कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता की घातक है। व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्पत्तिहीन को विवश करती है कि वह दूसरे की इच्छानुसार कार्य करे। व्यक्तिगत सम्पत्ति नैतिक उन्नति की बाधक तथा मानसिक अवनति का कारण है। व्यक्तिगत सम्पत्ति पापों को बढ़ानेवाली तथा युद्ध का आदि कारण है। अतः वह सम्पत्ति के पुनर्वितरण का प्रतिपादक है।

"अराजकवाद का दूसरा दार्शनिक प्राउधन है। प्राउधन ने गाडविन के अराजकवादी विचारों का समर्थन किया। प्राउधन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का और भी तीव्र स्वर से विरोध किया। उसके विचार से व्यक्तिगत सम्पत्ति एक प्रकार की चोरी है। यह चोरी सम्पत्तिवान समाज के प्रति करता है। बड़े बड़े सम्पत्तिवान समाज पर धन के लोभ से डाका डालते हैं। न्याय की दृष्टि से समस्त श्रमिकों का सम्पत्ति पर समानरूप से अधिकार है। उत्पादन की उत्तमता अधिक प्रशंसनीय तथा संतोषप्रद है परन्तु अभिप्राय यह नहीं है कि वितरण में विषमता की जाय। समस्त सम्पत्ति का उत्पन्न करने वाला केवल श्रमिक है। सम्पत्तिवान तथा सम्पत्ति धन के उत्पादक नहीं हैं। अतः धनिकों का जो उत्पादन में भाग नहीं लिए हुए हैं वितरण में भी भाग नहीं होना चाहिए। सरकार भी उतनी ही दूपित संस्था है जितनी कि सम्पत्ति। और दूपित सम्पत्ति के ही आधार पर दूषित सरकार भी संभव है। समाज के लिए यह दोनों ही संस्थाएँ हानिकारक हैं। प्राउधन ने समाजवादी राष्ट्र की सार्वजनिक सम्पत्ति का भी घोर विरोध किया है।

प्राउधन के विचार से सम्पत्ति का किसी भी रूप में होना हानिकारक है चाहे वह सार्वजनिक सम्पत्ति हो चाहे वह ट्रेड यूनियन की हो।

प्राउधन ने मार्क्सवाद का समर्थन केवल इसलिए नहीं किया कि मार्क्सवाद विध्वंसकारी नीति का समर्थक है। मार्क्स क्रांतिकारी विचारों तथा विनाशकारी कूटनीति का प्रतिपादक था। प्राउधन के आदर्शवादी समाज में मनुष्य कुछ अंश में श्रमिक रहेगा और कुछ अंश में वह समाज के अन्य उपयोगी कार्यों में सहकारी रहेगा। परन्तु वह किसी भी रूप में सरकार का समर्थन नहीं करेगा और न वह पूंजीवाद को ही स्वीकार करेगा।

प्राउधन के पश्चात् अराजकवाद का प्रचार करने वाला बाकुनिन हुआ। प्रारम्भिक अराजकवाद अपनी उदार नीति के कारण असफल रहा। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये शक्ति तथा उसी के अनुरूप नियमों की आवश्यकता होती है। शक्ति तथा साधन के बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। अतः बाकुनिन ने अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण नहीं किया। बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन ने अराजकवाद को क्रांतिकारी रूप दिया। अपने उद्देश्य तथा लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक प्रकार के साधन उपयुक्त हो सकते हैं। कर्तव्य साधन के लिए विस्फोटक बम फेंकना तथा अन्य विध्वंसकारी साधनों का उपयोग करना, किसी प्रकार का दोष नहीं है। वर्ग संघर्ष जो एक साम्यवादी विचार है अराजकवाद में भी स्वीकृत कर लिया गया। इस प्रकार प्रिंस क्रोपाटकिन तथा बाकुनिन ने एक साम्यवादी अराजकवाद की व्यवस्था समाज के सम्मुख उपस्थित की।

अराजकवादी समाज—अराजकवादी एक आदर्श समाज की कल्पना करते हैं। उनका कथन है कि समाज में प्रत्येक प्रकार का पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। परन्तु उसे पूंजीपति तथा अधिकारी वर्ग निर्धनों को उपयोग नहीं करने देते। अन्न तथा वस्त्र मनुष्य को केवल थोड़े से परिश्रम से इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं कि वह उनका वायु तथा जल की भांति उपयोग कर सकता है। मनुष्य की उपभोग शक्ति सीमित है। अतः वह निर्दिष्ट मात्रा से अधिक किसी भी वस्तु का उपभोग नहीं कर सकता और उतनी मात्रा में वह उसे केवल थोड़े से समय में प्राप्त कर सकता है। मनुष्य का शेष समय समाज के अन्य निर्माणकारी कार्यों में लगेगा।

समाज में दमन शक्तिशाली सरकार न होगी। समाज छोटे छोटे समुदायों में विभक्त होगा। यह समुदाय अपना प्रबन्ध स्वतन्त्ररूप से स्वयं करेंगे।

समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज के प्रबंध करने में पूर्ण सहयोग देगा। प्रत्येक आवश्यक कार्य में वह कटिबद्ध रहेगा। प्रत्येक मनुष्य उत्पादन तथा वितरण में अपना कर्तव्य पालन करेगा। विद्या का लाभ उठायेगा। क्रीड़ास्थल पर मनोरंजन करेगा तथा समाज की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहेगा। इन समुदायों में से कोई स्थानीय महत्व के होंगे परन्तु कोई संघीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के होंगे। इन समुदायों का रूप वही होगा जो मध्य युग में श्रमिक समुदाय तथा स्वतन्त्र नगरों का था। परन्तु उनमें आधुनिक औद्योगिक महत्व की समस्त वस्तुएं समाविष्ट होंगी।

अराजकवादी आदर्श समाज में चर्च का कोई महत्व न होगा। वह केवल पूजनगृह मात्र रह जायगा। वह एक व्यवस्थित संस्था के रूप में नहीं रहेगा। उसे सुधार करने का कोई अधिकार नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपना धर्म स्वयं निर्णय करेगा। अराजकवादियों के विचार से चर्च एक अत्याचारी संस्था है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बाधक है। वह जन्म से ही अपना अधिकार प्रकट करने लगती है और मृत्युपर्यन्त वह मनुष्य को अपने बंधनों में जकड़े रहती है।

अराजकवादी समाज में धर्म का रूप बदल जायगा। प्रत्येक व्यक्ति समान समझा जायगा और वह अपने पूजन के विधि-विधान में पूर्ण स्वतंत्र होगा। न किसी को कुरान का बोझ ढोना पड़ेगा न किसी को बाइबिल रटना पड़ेगा।

समाज के प्रत्येक उत्पादन यंत्र पर सब का समान अधिकार होगा। यदि आवश्यकता पड़ेगी तो एक समुदाय दूसरे समुदाय के सहयोग से कार्य करेगा। बड़े बड़े आधुनिक उद्योग-धन्धों पर किसी एक समुदाय का स्वामित्व न रहेगा बल्कि जितने समुदायों का अधिकार उचित होगा उतने समुदाय उसके अधिकारी होंगे। वेतन प्रथा सहयोग के कार्य को सुगम करेगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति केवल उपभोग की सामग्री तक ही सीमित रहेगी।

यदि किन्हीं दो समुदायों में या दो व्यक्तियों में दैवयोग से किसी प्रकार की कलह होगी तो उस समस्या को सुधारने के लिए एक बोर्ड होगा, यह बोर्ड स्थानीय होगा और प्रत्येक प्रकार की कलह को सम्हालने के लिए सशक्त होगा।

अराजकवाद की आलोचना—अराजकवादी राष्ट्र की दमनकारी शक्ति का विरोध करता है। राष्ट्र की प्रबन्धकारिणी संस्था का विरोध अराजकवाद कदापि नहीं करता। समाज के समस्त दुर्गुण राष्ट्र की दमनकारी

नीति के कारण ही हैं। अतः अराजकवादी जब राष्ट्र को समाप्त करने का प्रचार करता है तो उसका यही अभिप्राय होता है कि वह राष्ट्र की दमनकारी शक्ति की समाप्ति चाहता है। अराजकवादी के विचार से यदि राष्ट्र की सत्ता मिटा दी जाय तो समाज पुनः पूर्ववत् सुखी हो जायगा। राष्ट्र के अन्त के साथ ही साथ समाज में समस्त दुर्गुणों का भी अन्त हो जायगा।

अराजकवाद यद्यपि हमारे सन्मुख बड़े सुन्दर सामाजिक चित्र उपस्थित करता है परन्तु वह पूर्ण निर्दोष नहीं है।

(१) हम यह निस्संदेह स्वीकार कर सकते हैं कि नैतिक उन्नति मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति है। परन्तु हम यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं कि राष्ट्र नैतिकता का पूर्णरूप से नाश कर देता है, राष्ट्र ही सब दुखों की जड़ है या, राष्ट्र का नैतिकता से कोई भी प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता। राष्ट्र का नैतिकता से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। राष्ट्र ऐसे वातावरण उत्पन्न कर सकता है जिससे नैतिक उन्नति पर प्रभाव पड़े। राष्ट्र भले ही किसी व्यक्ति की भावनाओं को दबाता हो परन्तु वह उसकी उच्च भावनाओं का नाश कभी नहीं कर सकता। राष्ट्र ही सब दुखों का कारण भी नहीं है। हमारा जीवन तभी संभव तथा सुखी बन सकता है जब कि राष्ट्र का प्रत्येक अंग अपने कर्तव्य का पालन करे। अतः राष्ट्र हमारे दुखों की अपेक्षा सुखों का साधन अधिक है।

(२) अराजकवादियों का यह कथन कि स्वतन्त्रता ही मनुष्य का सर्व-श्रेष्ठ सुख है कुछ असत्यसा प्रतीत होता है। कारण यह है कि स्वतन्त्रता का सुख किसी वस्तु या भावना के निमित्त होता है। स्वतन्त्रता स्वयं कोई सुख की वस्तु नहीं है। जब तक स्वतन्त्रता से हमें कुछ प्राप्त न हो जाय और हम उससे किसी प्रकार का लाभ न उठा सकें तब तक स्वतंत्रता हमारे लिए कोई महत्व की वस्तु नहीं होती। स्वतन्त्रता किसी हेतु के लिए होती है। अहेतुकी स्वतन्त्रता से तो समाज में विशृंखलता ही फैलेगी। दूसरे बिना शक्ति के स्वतन्त्रता का अस्तित्व होना भी संभव नहीं है। स्वतन्त्रता के लिए शक्ति तथा अधिकार दोनों की आवश्यकता है। शक्तिमय अधिकार तथा स्वतन्त्रता एक दूसरे के पूरक हैं। संसार का कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो अपने समुदाय को पूर्ण स्वतन्त्र कर सके; भविष्य के समाज में भी ऐसा होना असंभव है। प्रत्येक संस्था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कुछ न कुछ नियंत्रण रखती है। ऐसी कोई भी संस्था नहीं है जो बिना किसी नियंत्रण के लाभकारी प्रतीत हो।

अराजकवादी मनुष्य की प्रकृति का चित्रण ठीक ठीक नहीं करते। अराजकवादियों का कथन है कि राष्ट्र ने मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करके उसकी नैतिकता तथा उसके चरित्रबल को गिरा दिया है। यदि राष्ट्र का अस्तित्व मिट जायगा तो समाज पुनः पूर्व नैतिक तथा चरित्रबल प्राप्त कर लेगा। उसमें नैतिक तथा चरित्रबल इतने उच्चस्तर पर पहुँच जायगा कि मद, मोह क्रोध तथा लोभ आदि दोष उसमें नहीं होंगे। परन्तु उनकी यह धारणा नितांत भ्रमपूर्ण है। रूसो आदि दार्शनिकों ने भी पहिले ऐसा ही सोचा था परन्तु उनको अपनी भुल को सुधारना पड़ा। मनुष्य समाज अपने इन दुर्गुणों को आजीवन प्रयत्न करने पर भी नहीं छोड़ पाते। प्रेमचन्द जी के उपन्यास में भले ही ऐसे उन्नत व्यक्ति मिल जायें परन्तु समाज में महात्मा पुरुष विरले ही होते हैं। गौतमबुद्ध तथा महात्मा गांधी सर्वत्र नहीं होते। मनुष्य समाज के इतिहास के अध्ययन से यही पता चलेगा कि आधुनिक स्थिति मनुष्य के कई युगों की उन्नति का फल है।

(३) अराजकवादियों का विचार है कि शिक्षा तथा प्रोत्साहन से वे मनुष्य के स्वभाव को पूर्णतया परिवर्तित कर देंगे। यदि वे मनुष्य के स्वभाव को आधुनिक युग में नहीं उन्नति कर सकेंगे तो भविष्य में किसी-न किसी समय वह ऐसा करने में अवश्य ही समर्थ होंगे। परन्तु उनका यह स्वर्णिम स्वप्न राष्ट्र की अनुपस्थिति में सत्य होना असंभव है। राष्ट्र की अनुपस्थिति में वे किसी प्रकार भी अपने सुधारों को कार्यान्वित नहीं कर सकेंगे। मनुष्य की नैतिक तथा चारित्रिक परिस्थिति इतनी असंतोषप्रद है कि यदि इसी अवस्था में राष्ट्र का अस्तित्व मिटा दिया जाय तो समाज में विश्रृंखलता आजायगी। मनुष्य एक दूसरे को अपना शत्रु समझने लग जायेंगे। कोई किसी का विश्वास नहीं कर सकेगा। जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत चरितार्थ हो जायगी। मनुष्य का एक विध्वंशकारी हिंसक चित्र सामने उपस्थित हो जायगा।

(४) अराजकवादी अपने मत प्रतिपादन करते समय मनुष्य को एक पूर्ण प्रेम की मूर्ति स्वीकार कर लेते हैं। उनका कहना यह है कि जिस प्रकार एक कुटुम्ब में प्रेम के बल पर घर का समस्त कार्य चलता है और सभी सुखी रहते हैं, किसी कानून अथवा नियम की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार राष्ट्र में राष्ट्र के नष्ट हो जाने पर सारा संसार एक कुटुम्ब की भांति वर्तेगा और उसे किसी भी प्रकार की सेना तथा

पुलिस की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। परन्तु मनुष्य के लिए यह कल्पना कर लेना मनुष्य को मनुष्य श्रेणी से ऊपर समझ लेना है। उसके दुर्गुणों को छिपा देना है। सूक्ष्म अध्ययन से पता चलेगा कि मानव अभी उस स्तर पर नहीं पहुँच पाया है। अतः राष्ट्र की शक्ति का रक्षक के रूप में होना परम आवश्यक है।

(५) अराजकवादियों की यह धारणा है कि मनुष्य का मनोबल राष्ट्रशक्ति के स्थान पर उपयुक्त हो सकेगा। परन्तु उनकी यह भी धारणा निर्मूल है। विनाशकारी तथा निर्माणकारी दोनों ही प्रकार की मनुष्यों में आन्तरिक प्रेरणा है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि राष्ट्र के स्थान पर मनोबल का प्रयोग हो सकेगा ?

(६) अराजकवादी यह आशा करते हैं कि मानव समाज के उपयोग से अधिक उपभोग के पदार्थ संसार में उपस्थित हैं परन्तु आधुनिक राष्ट्र की व्यवस्था कुछ ऐसी है कि वह पदार्थ उपभोग के लिए नहीं मिलते। युद्ध और कलह के कारण वह अतुल परिमाण में नष्ट कर दिये जाते हैं। उनका यह कहना कुछ अंश में सत्य अवश्य है कि कलह और युद्ध में पदार्थ नष्ट हो जाते हैं परन्तु उनका यह कथन कि आवश्यकता से अधिक पदार्थ संसार में है निश्चय ही असत्य है। आधुनिक अनुसंधानों से पता चलता है कि संसार के मनुष्यों को जितने पदार्थों की आवश्यकता है उतना उत्पन्न ही नहीं होता।

अराजकवादियों का यह कहना है कि पृथ्वी की उत्पादन-शक्ति आधुनिक यंत्रों से बढ़ जायगी परन्तु आधुनिक कृषि वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी की उर्वरा शक्ति शनैः शनैः कम होती जा रही है और कुछ दिन पश्चात् यदि अन्य कोई अनुसंधान न हुआ तो खाद्य पदार्थों का जुटाना मानव समाज की विकट समस्या बन जायगी।

अराजकवाद तथा साम्यवाद—मार्क्सवाद तथा अराजकवाद का एक ऐतिहासिक बिलगाव है और दोनों वादों में बड़ा अन्तर है। मार्क्स साम्यवादी नेता था और बाकुनिन अराजकवादी। इन दोनों वादों में ऐतिहासिक बिलगाव के अतिरिक्त सैद्धान्तिक अन्तर भी है।

(१) साम्यवाद राष्ट्र के विरोध में राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की नीति का अनुसरण करता है। साम्यवाद राष्ट्र की शक्ति का विरोध करने के लिए एक सुव्यवस्थित साम्यवादी दल का समर्थन करता है। परन्तु अराजकवादी आधुनिक राष्ट्र शक्ति से केवल सम्बन्ध-विच्छेद मात्र

स्वीकार करता है। अराजकवाद एक प्रकार का प्रजातांत्रिक सुधार चाहता है। अराजकवाद किसी दलबन्दी के पक्ष में नहीं है।

(२) साम्यवादियों के प्रधान शत्रु पूँजीवादी हैं। राष्ट्र पूँजीपतियों का ही पक्ष लेता है अतः उसका भी विरोध अनिवार्य हो जाता है। परन्तु अराजकवादियों के लिए राष्ट्र एक अनावश्यक संस्था है।

(३) साम्यवादी घोर केन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं। वे सर्वाधिकार वादी हैं। परन्तु अराजकवादी घोर विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं।

परन्तु कुछ कुछ बातों में दोनों वादों में साम्य भी है।

(१) दोनों वादों के विचारों से वैयक्तिक सम्पत्ति के नाश के साथ-साथ राष्ट्र का भी नाश हो जायगा।

(२) दोनों वाद राष्ट्र-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज का निर्माण करना चाहते हैं। अन्तर केवल इतना है कि साम्यवा राष्ट्र के पूर्ण विनाशकाल तक श्रमजीवी वर्ग का शासन रहेगा।

अराजकवाद का पतन—(१) अराजकवाद के पतन का सर्वप्रथम कारण यह था कि यह आन्दोलन अव्यवस्थित था। इसके कार्यक्रम आवश्यकता से अधिक नम्र थे।

(२) अराजकवाद एक परिवर्तनशील आन्दोलन था। इसके प्रतिपादकों के विचारों में साम्य न था। जो जिस प्रकार से चाहता था उसकी टीका कर लिया करता था।

(३) अराजकवाद के एक अत्यन्त प्रसिद्ध दार्शनिक ने उस आन्दोलन को आत्मबल द्वारा ही बढ़ाने की शिक्षा दी जिसका अप्रत्यक्षरूप से फल यह हुआ कि यह आन्दोलन मृतक आन्दोलन हो गया।

(४) अमेरिका के विभिन्न प्रदेशों में जहाँ व्यक्तिवादी आन्दोलन हेनरी डेविड आदि की अध्यक्षता में जागृत हो उठे, व्यक्तिवादियों ने सत्याग्रह के अहिंसावादी मार्ग का अनुसरण किया। जनता का झुकाव व्यक्तिवादियों की ओर अधिक हुआ। फलस्वरूप अराजकवादी आन्दोलन की गति मन्द पड़ गई।

(५) अराजकवादियों ने हिंसात्मक भीषण क्रांतियों में कार्य करना प्रारंभ कर दिया जिससे जनता में हाहाकार मच गया। वह राजनियमों का सशस्त्र विरोध करने लगे जिससे इस आन्दोलन की गति पर हानिकारक प्रभाव पड़ा। अमेरिका आदि देशों में जहां इनका प्रभाव अधिक था, बड़े-

बड़े उपद्रव हुए जिनमें अराजकवादियों का भाग अधिक था। फलतः जनत अराजकवादी विचारों से घृणा करने लगी।

प्रथम संसार महासमर में अराजकवादियों के आन्दोलन का प्राय अन्त हो चुका था परन्तु स्पेन आदि देशों में यह आन्दोलन द्वितीय महासम तक चलता रहा। द्वितीय महासमर में अराजकवादी अपने देश के हितसाधन के लिए समाजवादियों तथा साम्यवादियों से मिल गये और इस प्रकार अराजकवादी आन्दोलन का पूर्णतया पतन हो गया।

अब अराजकवादी आन्दोलन महत्वहीन हो चुका है। इसके सिद्धान्त की पूर्ण आलोचना हो चुकी है और इस दल का नाश हो चुका है। राजनीति विज्ञान में अब अराजकवाद प्राचीनवाद हो गया है।

विशेष अध्ययन के लिए देखिये:--

यच० सीसिल—*लिबर्टी एन्ड औथोरिटी*
ए० हरबर्ट—*दॉ राइट् एन्ड रौंग ऑफ कम्पलशन वाई स्टेट*
डब्लू० यस० मैक्केचायन—*दॉ स्टेट एन्ड दी इन्डीवीडुअल*
टी० मैके—*ए प्ली फॉर लिबर्टी*
यफ० सी० मान्टेग्यू—*दॉ लिमिट ऑफ इण्डीवीडुअल लिबर्टी*
डी० जी० रिशी—*प्रिंसिपिल्स ऑफ स्टेट इन्टरफीयरेन्स*
सी० ई० मेरियन—*हिस्ट्री ऑफ दॉ थ्यौरी ऑफ सावरेन्टी सिन्स रूसो*
यफ० जे० सी० हर्नशा—*दॉ सोशल एन्ड पौलीटिकल थिंकर्स ऑफ दी रिवोल्यूशनरी ईरा*
प्राउधान—*ह्वाट इज़ प्रापर्टी*
यफ० के० ब्राउन—*लाइफ ऑफ विलियम गॉडविन*
आर० जी० गैटिल—*हिस्ट्री ऑफ पौलीटिकल थॉट*
सी० के० पाल—*विलियम गॉडविन, हिज फ्रैन्डस एड कन्टेम्पोरेरीज़*
टी० यच० ग्रीन—*प्रिंसिपल्स ऑफ पौलीटिकल ओब्लीगेशन*
जेम्स स्टुअर्ट मिल—*ऑन लिबर्टी*

अध्याय १८

फासीवाद

फासीवाद (Fascism) राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण वाद है। इस वाद का प्रारम्भ हेगल के तार्किक सिद्धान्तों से हुआ। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इटली तथा जर्मनी आदि देश ऋण के भारों से कराहने लगे। उनकी आन्तरिक अवस्था अस्त व्यस्त हो गयी। इटली को महायुद्ध में भाग लेने का कोई लाभ न रहा। संसार की राजनीति में उसका स्थान नगण्य रहा। अतः इटली के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने को सशक्त बनाये। उस समय इटली में मुसोलिनी जैसा विद्वान तथा पथ प्रदर्शक उपस्थित था। मुसोलिनी ने देश की परिस्थिति सुधारने के लिए तथा उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए फासीवादी (Fascism) सिद्धान्तों का प्रचार किया और उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर देश के नवयुवकों का एक दल बनाया। वारसेलीज की सन्धि के पश्चात् इस मत का प्रचार बड़े वेग से हुआ और इटली के नवयुवक देश की मर्यादा के लिए संगठित हुए। इस वाद का विश्व-व्यापी महत्व मुसोलिनी के जीवन के साथ-साथ प्रारम्भ हुआ और उसकी मृत्यु के साथ ही इस वाद की भी समाप्ति हो गई।

फासीवाद (Fascism) एक प्रकार का उग्र सर्वाधिकारवादी आन्दोलन था। इस आन्दोलन का फासीवाद नाम इसके विरोधियों ने दिया। फासीवाद शब्द की उत्पति लैटिन के (Fascio) से हुई और उसका अर्थ होता है 'समूह' अथवा 'गट्ठर'। फासीवाद दल बड़ा सुव्यवस्थित तथा शक्तिशाली था। इस दल का संगठन बड़ा सशक्त था अतः इसके विरोधियों ने इस दल को फासीदल (Fascist Party) के नाम से सम्बोधित किया और उसी के अनुसार इस मत का नाम (Fascism) फासीवाद पड़ा। यह आन्दोलन सर्वाधिकारवादी है। यूरोप की भूमि पर सर्वाधिकारवादी आन्दोलन तीव्र रूप में आया; रूस में बोलशेविक मतवाद के रूप में

में, जर्मनी में नाजीवाद के रूप में तथा इटली में फासीवाद के रूप में । बोलशेविक मतवाद (Bolshevism) तथा फासीवाद में महान् अन्तर है । परन्तु फासीवाद (Fascism) तथा नाजीवाद (Nazism) में अन्तर अधिक नहीं है। फासीवाद तथा नाजीवाद में कोई सैद्धांतिक मतभेद नहीं है। एक ही मत इटली में फासीवाद (Fascism) तथा जर्मनी में नाजीवाद (Nazism) के नाम से पुकारा गया है। पिछले महायुद्ध में फासी तथा नाजीवादी देश धुरी (Axis) शक्तियों में थे और इन्होंने अपने अस्तित्व के लिए संसार के अन्य समस्त देशों से युद्ध किया। द्वितीय विश्व युद्ध में धुरी शक्तियों (Axis powers) की पराजय तथा विपक्षियों की जय हुई। रूस ने मित्र शक्तियों (Allied powers) का साथ दिया। पराजय के साथ साथ नाजी तथा फासी दल की भी समाप्ति हो गयी। नाजी तथा फासीवादी दलों पर प्रतिबन्ध लग गया। इन दोनों दलों के साथ साथ यह दोनों वाद भी समाप्त हो गये। एक राजनीति-वैज्ञानिक के लिए यह आवश्यक है कि वह फासीवाद (Fascism) तथा नाजीवाद (Nazism) का सूक्ष्म निरीक्षण करे और उसकी विशेषताओं तथा कुरीतियों से शिक्षा ग्रहण करे। इस अध्याय में हम फासीवाद (Fascism) की मीमांसा करेंगे और यह पता लगायेंगे कि इस सिद्धांत के उत्थान तथा पतन के क्या कारण थे ? इस आन्दोलन की विशेषताएँ क्या थीं ? उससे समाज को क्या हानि और क्या लाभ हुए ?

फासीवाद का उदय (Rise of Fascism)—प्रथम महायुद्ध में इटली ने जर्मनी के विरुद्ध मित्र शक्तियों का साथ दिया था। पाँच साल के भीषण समर के पश्चात् जर्मनी की पराजय तथा मित्र शक्तियों की विजय हुई। सारा योरुप ऋण के भार से दब गया। मित्रराष्ट्रों ने वर्साई में जर्मनी से संधि की जिसमें जर्मन उपनिवेशों तथा संग्राम से बचे हुए सामान का वितरण हुआ। मित्र शक्तियों में इंगलैंड, अमरिका, फ्रांस तथा रूस मुख्य थे। संधि में वितरण निष्पक्ष न हुआ। इंगलैंड, अमेरिका तथा फ्रांस ने अपनी अपनी सुविधा देखी और जर्मनी के समस्त उपनिवेश इन्हीं तीनों देशों ने ले लिये। इटली को कोई भी उपनिवेश न मिला। संग्राम से बचे हुए पदार्थों से भी इटली को कोई लाभ न हुआ। इटली ने मित्र शक्तियों का साथ दिया। परन्तु मित्र शक्तियां इतनी स्वार्थी निकलीं कि अपने सहायकों का तनिक भी ध्यान न दिया। इस घटना से इटली की जनता को असंतोष हुआ और अपनी दशा पर जनता को ग्लानि उत्पन्न

हुई। जनता में संगठन करने की तथा अपने देश को सशक्त बनाने की भावना जाग्रत हुई। अतः वर्साई की संधि फासीवाद के विकास का सर्वप्रथम कारण है।

इटली निवासी सदैव से ही अध्यात्मवादी थे। इटली निवासियों की प्रकृति है कि वह अपना आदर्श आध्यात्मिक तथा उच्चतम कोटि का बनायें। उस समय की समाजवादी व्यवस्था उनकी प्रकृति के विरुद्ध थी। कार्लमार्क्स के भौतिक वादी विचारों से वे संतुष्ट न थे। वे समाजवादी उग्र अर्थनीतिको भी अपनाना चाहते थे। साम्यवाद (Communism) की साम्यव्यवस्था उनको प्रिय न थी। अपने देश में वे आर्थिक सुधार तो अवश्य चाहते थे परन्तु समाजवादी नीति के अनुसार नहीं, वर्ग संघर्ष के मूल रूप को भी स्वीकार करने से वे नहीं घबराते थे परन्तु साम्यवाद की उग्रनीति इटली के कोमल हृदय वाली जनता को प्रिय न थी। अतः उन्होंने फासीवादी नीति का अनुसरण किया।

बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में इटली एक व्यवसायिक देश था। वह यूरोप के अन्य देशों से अधिक सम्पन्न था। यूरोप के समस्त व्यवसाय का इटली केन्द्र था। इटली ही यूरोप का धर्म गुरू भी था। जनता अभी उस गौरव को भूल न सकी थी। उसकी स्मृति पट पर वह स्वर्णिम युग यदा कदा आभासित हुआ करता था। इटली निवासी अभी अपनी गुरुता का विस्मरण न कर सके थे। उनमें उस युग की पुनस्थापना के स्वप्न थे और वह केवल इटली के लिए प्राणों की भेंट देने से सम्भव हो सकता था। वे किसी भी समय अपने देश के गौरव के लिए अपने प्राण अर्पित करने के लिए प्रस्तुत थे। यही कारण है कि इटली निवासी मुसोलिनी की पुकार पर अपने प्राणों की वलि देने के के लिए सन्नद्ध हुए। मुसोलिनी फासीवादी Fascist विचारों के पूर्व ही इटली भूमि उनके लिए एक देवी थी और वे उसके लिए सदैव कटिबद्ध थे।

इटली यद्यपि एक कृषिप्रधान देश था परन्तु व्यवसायिक देशों के सम्पर्क में रहने के कारण इटली में भी औद्योगिक कलाओं का विकास हुआ था। अन्य उन्नत देशों की भांति उसे भी उपनिवेश की आवश्यकता थी। अन्त में मुसोलिनी की छत्रछाया में इटली निवासी अपने देश का गौरव बढ़ाने के लिए प्रस्तुत हुए। इस प्रकार फासीदल के साथ-साथ फासीवाद भी विकसित हुआ।

मुसोलिनी अपने जीवन के प्रारम्भ काल में सोरेल (Sorel) की शिक्षा से अत्यन्त प्रभावित था। वह वर्ग संघर्ष तथा हड़ताल आदि का पूर्ण विश्वासी था परन्तु वारसेल्लीज की संधि के पश्चात् उसका विचार परिवर्तित हो गया। प्रथम अगस्त १९२२ की हड़ताल ने मुसोलिनी को अपना भाग्य

बनाने का पूर्ण सुअवसर प्रदान किया। इस हड़ताल के अवसर पर मुसोलिनी तथा फासीदल के 'अन्य स्वयंसेवकों ने जनता की भरपूर सहायता की और जनता का उन्होंने विश्वास प्राप्त कर लिया।

१९२२ ई० के अक्तूबर मास में मुसोलिनी ने रोम पर अपना अधिकार प्राप्त कर लिया। रेल, तार तथा अन्य सार्वजनिक विभागों पर मुसोलिनी ने अपना प्रभुत्व जमा लिया। यह सब प्रायः शान्तिपूर्ण कार्य थे। सरकार मुसोलिनी का कुछ न कर सकी और उसके अधिकारियों ने त्यागपत्र समर्पित कर दिये। इटली के राजा ने मुसोलिनी को अपनी सरकार स्थापित करने के लिए आमन्त्रित किया जिसे मुसोलिनी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और ३० अक्तूबर १९२२ को मुसोलिनी ने फासीवाद सरकार की स्थापना की और उसी दिन से वह इटली का निर्विघ्न संचालक रहा।

आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में मुसोलिनी के पास कोई कार्यक्रम न था अतः शक्ति प्राप्त करते ही उसने घोषणा कर दी कि इटली को किसी प्रकार के कार्यक्रम की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसे कार्य की आवश्यकता है। प्रारम्भ में उसने अपने मन्त्रिमण्डल में सभी दल के नेताओं को स्थान दिया था परन्तु तदनन्तर उसने सभी राजनैतिक दलों को कुचल दिया और इटली की भूमि पर १९२६ के पश्चात् केवल फासीवादी दल ही रह गया। अपने दल का सर्वोच्च नेता होने के कारण वह इटली का पूर्ण अधिकारी बन गया। मुसोलिनी अपने जीवनपर्यन्त फासीदल का तथा इटली का नेता रहा। उसकी मृत्यु के उपरान्त इटली की पराजय हुई और फासीदल पर प्रतिबन्ध लग गया।

फासीवाद विचारधारा (Ideology of Fascism)—फासीवाद द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तीव्र प्रगति में था और संसार के आकर्षण का केन्द्र बना था। जनता फासीवाद ज्ञान के लिए बड़ी उत्सुक थी। विद्वानों ने फासीवाद के सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा की परन्तु वे फासीवाद के दर्शन को न समझ सके। दार्शनिक को फासीवाद का कोई सुव्यवस्थित सिद्धान्त न मिला। फासीवाद अपने युग के लिए एक नवीन वाद था। इस वाद के समस्त सिद्धान्त राष्ट्र कर्तव्य (national action) के रूप में थे। राष्ट्र कर्तव्य का केन्द्र था। फासीवाद राष्ट्र के लिए महान् से महान् त्याग करने के लिए प्रस्तुत था। फासीवाद (Fascism) व्यक्तिवाद (Individualism) तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी था। फासीवादी विचारों के अनुकूल व्यक्ति राष्ट्र से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। राष्ट्र के लिए कोई मनुष्य तथा समुदाय न्योछावर किया जा सकता है। मनुष्य जीवन का मूल्य तभी तक है जब तक वह राष्ट्र का एक प्राणी है। फासीवाद

को यदि हम अराजकवाद का विलोम कहें तो अत्यन्त उपयुक्त होगा। यदि अराजकवाद मनुष्य की स्वतंत्रता के सम्मुख राष्ट्र का कोई महत्व नहीं रखता तो फासीवाद ठीक उसी के विपरीत राष्ट्र के हित के लिए मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का कोई महत्व नहीं रखता। फासीवाद (Fascism) पूंजीवाद (Capitalism) का भी विरोधी है। फासीवाद पूंजीवादियों को उसी सीमा के अन्तर्गत स्वीकार कर सकता है जिससे देश तथा राष्ट्र का हित हो। फासीवाद पूंजीपतियों के मनमाने कर्मों का विरोध करता है। वे अपनी पूंजी को केवल स्वार्थ का साधन नहीं बना सकते। उनका कर्तव्य है कि वे देश के हित के लिए अधिक उत्पादन करें। यदि कोई पूंजीपति ऐसा करने में असमर्थ है तो उसे उसका दण्ड भोगना पड़ेगा। राष्ट्र उसे दण्ड देगा। फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का भी विरोधी है। फासीवादियों के विचार से अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद केवल कल्पना मात्र है। युद्ध प्रकृति का एक नियम है और इसका निवारण कभी नहीं हो सकता। प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को बढ़ाये। यदि उसे अपने साधन में आवश्यकता पड़े तो युद्ध भी करे। विश्वशान्ति मूर्खों की एक कल्पना है। इस संसार में न कभी शान्ति थी और न भविष्य में कभी रहेगी। प्रजातंत्र शासन से देश की आवश्यकता कभी भी पूरी नहीं हो सकती। अतः प्रजातंत्र शासन उन्नति का बाधक है। फासीवाद का सबसे बड़ा विरोधी साम्यवाद (Communism) ही है। साम्यवाद के वर्गसंघर्ष के सिद्धान्तों को तो फासीवाद (Fascism) स्वीकार करता है परन्तु उसकी शासन पद्धति तथा कार्य व्यवस्था का फासीवाद (Fascism) घोर विरोधी है। साम्यवाद पूंजीपतियों तथा श्रमिकों में भेद डालता है और इस प्रकार राष्ट्र के कार्य में तथा उसकी उन्नति में बाधा उत्पन्न करता है। इसलिए साम्यवादी विचारों को किसी राष्ट्र में स्थान नहीं मिलना चाहिए। दूसरे साम्यवाद (Communism) श्रमिक सत्तात्मक राज्य की व्यवस्था करता है जो एक उन्नत राष्ट्र के लिए उपयोगी न होगा।

फासीवाद (Fascism) राष्ट्र के घोर कर्म में विश्वास करता है। मुसोलिनी ने स्वयम् लिखा है कि फासीवाद (Fascism) एक धार्मिक धारणा है जिसमें मनुष्य का संबंध उच्चतर नियमों के साथ हो जाता है उसे एक प्रकार का मनोरन्न प्राप्त होता है जिसके द्वारा वह आध्यात्मिक समाज का एक सदस्य बन जाता है। उसे आध्यात्मिक समाज में जागृति प्राप्त होती है। फासीवाद की इस स्थान पर भौतिकवादी मार्क्सवाद से पृथकता स्पष्ट है। फासीवादी राष्ट्र को आध्यात्मिक दृष्टि से देखता है। उसके लिये राष्ट्र एक

देवता है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य उस राष्ट्र देवता की सेवा करना है। मनुष्य के समस्त अधिकार उस देवता के दान हैं। राष्ट्र देवता यदि किसी मनुष्य के प्राणों की इच्छा करे तो मनुष्य का कर्तव्य है कि उसे अपनी बलि दे।

१६१६ के एक वक्तव्य में मुसोलिनी कहता है कि हमने अपने प्रत्येक विरोधी का नाश कर दिया है। प्रत्येक सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया है और प्रत्येक सुख-स्वप्न का त्याग कर दिया है। स्वच्छ, काले तथा लाल प्रत्येक के प्रलोभनों को हमने मानवता के लिये ठुकरा दिया है। हमें किसी भी प्रकार के नियम में विश्वास नहीं है और न हम स्वर्ग तथा मुक्ति में ही विश्वास करते हैं। हमें केवल मनुष्य के सुख की चिंता है। हम मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता, जीवन तथा सुख की कामना करते हैं। उनके प्रत्येक सुख तथा सुविधा का हमें ध्यान रहता है। हम उन समस्त कठिनाइयों तथा दोषों से युद्ध करने को प्रस्तुत हैं जो उसके मार्ग के बाधक हैं। आधुनिक काल में दो धर्म हमारे मस्तिष्क में आन्दोलन मचाये हुए हैं। एक लाल धर्म है दूसरा काला है। यह दोनों धर्म संसार में अपना प्रभुत्व पाने की चेष्टा कर रहे हैं। लाल धर्म का केन्द्र मास्को में है और काले धर्म का रोम में। हम इन दोनों धर्मों को पैरों से ठुकराते हैं। *

फासीवाद का विश्वास है कि मनुष्य किसी कार्य को भावना तथा कल्पना द्वारा प्रेरित होकर करता है। मनुष्य यह नहीं चाहता कि मैं अपनी सरकार स्वयं बनाऊँ और अपनी व्यवस्था स्वयं करूँ। वह केवल इतना ही चाहता है कि मैं किस प्रकार अपने जीवन को अधिक सुखमय बनाऊँ? इसलिये वह अपने जीविकोपयोगी साधनों में प्रवृत्त होता है। मनुष्य स्वयं इस योग्य भी नहीं है कि वह अपनी व्यवस्था कर सके। इसे सदैव अपनी व्यवस्था के लिए योग्यतम मनुष्यों की आवश्यकता है। साम्यवादियों का सिद्धांत भ्रममूलक है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी आन्दोलन की कल्पना विनाशकारी है। अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का सिद्धांत असत्य है। इस प्रकार का आन्दोलन कभी भी संभव नहीं हो सकता। यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है कि इटली की भूमि पर कभी भी प्रजातन्त्रवाद सफल नहीं हुआ था और इटली निवासियों में प्रजातन्त्रात्मक शासन के भी गुण कभी भी जागृत नहीं हुए थे। उनके लिए उपयुक्त बातें नवीन न थीं। सदैव से एकतन्त्रात्मक शासन की ओर उनकी प्रवृति रही है।

---

* आर० एच० एस० क्रासमैन द्वारा उद्धृत op. cit p. 268.

इटली की भूमि पर प्रजातन्त्र सदैव ही असफल रहा है। उस भूमि पर इंगलैंड की शासन-पद्धति कभी भी सफल नहीं हो सकी है। अतः फासीवाद को इटली में पनपने का पूर्ण अवकाश मिला। फासीवाद विरोधी दल को कभी भी नहीं सहन कर सकता था। जिस किसी ने फासीवादी सिद्धान्तों की आलोचना की अथवा उसकी कार्य व्यवस्था तथा कार्यक्रम के दोष दिखलाये वही राष्ट्र का शत्रु हो गया। (Matteotti) मेटियोटी की मृत्यु इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। फासीवाद इस प्रकार एकतंत्र सत्तावादी था। उत्पादक तथा व्यवसायिक संस्थाओं को कुछ अंश में स्वतंत्रता प्राप्त थी।

फासीवाद घोर राष्ट्रवादी था परन्तु इसवाद की राष्ट्रीयता बड़ी संकुचित तथा सीमित थी। फासीवाद राष्ट्रहित साधन के लिए युद्ध की प्रत्यक्ष घोषणा करता था। वे राष्ट्रहित के लिए (Machiavelli) मैक्यिाविली के सिद्धान्तों को मानते थे। राष्ट्र के लिए किसी भी प्रकार का कर्म दूषित तथा हेय नहीं था। फासीवाद की प्रत्यक्ष घोषणा थी कि भूमध्य सागर पर इटली का अधिकार होना चाहिए। इसी आधार पर इटली ने अबीसीनिया के प्रति युद्ध छेड़ा था। अबीसीनिया पर विजय के लिए इटली निवासियों ने बड़े भीषण अत्याचार किये। फासीवाद का राष्ट्रवाद इतना संकुचित था कि वह संसार की शांति का घातक बन गया। मुसोलिनी के विचार से, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायरों का एक स्वप्न था। साम्राज्यवाद जीवन का प्राकृतिक नियम था। मुसोलिनी का कहना था कि इटली का विस्तार इटली के लिए जीवन तथा मरण का प्रश्न है। इटली के लिए केवल दो मार्ग हैं। एक विस्तार का और द्वितीय मृत्यु का।"

फासीवादी इटली में स्त्रियों का महत्व बच्चा उत्पन्न करने तक सीमित था। फासीवाद जैसे आन्दोलन के लिए यह आवश्यक था कि वह एक सुदृढ़ सेना का संगठन करे अतः इटली में उस स्त्री का महत्व अधिक था जो बच्चे अधिक पैदा कर सकती थी। कारण यह कि उन बच्चों पर इटली का भविष्य निर्भर करता था। अधिक बच्चे पैदा करनेवाली स्त्रियों को सरकार की ओर से पुरस्कार प्रदान किये जाते थे। अविवाहित मनुष्यों पर कर अधिक लगता था और विवाहितों पर कम। परन्तु इतना होने पर अधिकांश अविवाहित जीवन की अभिलाषा करते थे। जनवृद्धि के लिए अनेक उपाय उपयुक्त होते थे परन्तु फिर भी भारतवर्ष की भांति वेश्याओं की दूकान नहीं होती थी। सरकारी आज्ञा थी कि समाज में प्रत्यक्ष व्यभिचार

नहीं किया जा सकता। भारत के लिये तो यह बड़ी ही लज्जाजनक बात है कि स्वतंत्रता प्राप्त होने पर भी वेश्याओं की दूकानें खुली हुई हैं।

फासीवाद इटली में चर्च (church) का महत्वपूर्ण स्थान था। चर्च देश की मित्र संस्था थी। यद्यपि मुसोलिनी का ईश्वर में कोई विश्वास नहीं था, परन्तु देश हित के लिए यह आवश्यक था कि वह चर्च को अपना मित्र बनाये। फासीदल (Fascists) विश्वासियों की एक सेना समझी जाती थी। चर्च से अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिए फासीवादियों ने चर्च से संधियाँ भी की थीं। संधि का मूल कारण यह था कि चर्च की सहायता के बिना फासीवाद इटली में कभी पनप ही नहीं सकता था। इटली निवासी प्रथम आध्यात्मिक फिर और कुछ होते हैं। अतः फ़ासीदल (Fascists) के लिए यह आवश्यक था कि वह चर्च को अपना मित्र बनाये।

फासीवाद की एक विशेपता और भी है वह फासीवाद का राजतन्त्र में विश्वास। मुसोलिनी के हाथ में जब शक्ति आयी तो उसने राजा के प्रति कृतज्ञ रहने की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार जो मुसोलिनी किसी समय में समाजवादी नेता था और जनता को समाजवादी सिद्धान्तों की शिक्षा देता था अवसर पाकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए राजतन्त्र का पक्षपाती हो गया। इसे हम फासीवाद की अवसरवादिता कहें अथवा उसकी राजतन्त्र में भक्ति, कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता।

फासीवादी आर्थिक कार्यक्रम (The Fascist Economic Programme)—फासीदल (Fascist Party) जिस समय शक्ति में आया उस समय इटली की अवस्था ठीक न थी। राष्ट्र मण्डल में इटली की कोई गणना न थी। बाह्य स्थिति से भी अधिक भयानक इटली की आन्तरिक अवस्था थी। अनेक दलबन्दियाँ थीं। जनता का विश्वास सरकार से हट गया था। देश पर ऋण का भार लदा हुआ था। देश में साम्यवादी शक्तियाँ वर्गसंघर्ष का पाठ पढ़ा रही थीं जिससे अनेक स्थानों पर हड़ताल हुआ करती थी। देश की उत्पत्ति कम हो गई थी। अतः फासी-वादी दल का प्रथम कर्तव्य यह था कि वह देश की उत्पत्ति को बढ़ाये। उसकी आंतरिक शक्तियों में अच्छे सम्बन्ध स्थापित करे। श्रमजीवी तथा पूंजीपतियों में सुन्दर सम्बन्ध स्थापित करे जिससे देश की उत्पादन शक्ति बढ़े और संसार में इटली की मर्यादा बढ़े।

फासीवादी दल (Fascist Party) में प्रायः मध्यमवर्ग (middle class) के लोग सम्मिलित थे जो अपनी पूंजी तथा अन्य अधिकारों को

सार्वजनिक हित के लिए त्यागने को प्रस्तुत थे अतः इन्हीं लोगों की सम्मति से फासीवाद के समस्त कार्यक्रम बनाये गये। मध्यम वर्ग ने यह प्रस्ताव किया कि व्यक्तिगत पूँजी की रक्षा की जाय और उसी के अनुसार देश के समस्त पूँजीपतियों को संगठित किया गया। देश के श्रमिक आन्दोलन को कुचल दिया गया। उनके पत्र तथा पत्रिकायें बन्द कर दी गई। उनके प्रत्येक संगठन को कुचलने का प्रयत्न किया गया।

फासीवाद का कार्यक्रम यह नहीं था कि देश के श्रमिक आन्दोलन को कुचल कर पूँजीपतियों के प्रभुत्व को स्थापित किया जाय। श्रमिक आन्दोलन को केवल इसलिऐ दबाया गया था जिससे देश के पूँजीपति उत्पादन कार्य में अपनी पूंजी, अधिक से अधिक लगायें और देश की उत्पादन शक्ति बढ़े। वर्ग संघर्ष उग्र न हो सके। फासीवादियों का प्रयत्न यह था कि पूँजीपति तथा श्रमिकों को ऐसे सूत्र में बाँधा जाय जिससे देश की उत्पादन शक्ति इतनी बढ़ जाय कि वह स्वावलम्वी हो जाय। संसार में इटली की मर्यादा रखने के लिए यह आवश्यक था। डाक्टर राम ने फासीवादी दल की इस नीति को निम्न शब्दों में लिखा है। "राष्ट्रीय स्वावलम्बन के कार्यक्रम में किसानों को आर्थिक सहायता, हस्तकलाकारों को प्रोत्साहन तथा छोटे व्यवसायियों की रक्षा सम्मिलित है। यह कार्यक्रम देश के प्रबन्ध तथा राष्ट्र की रक्षा के लिए जन उपयोगी साधनों का राष्ट्रीयकरण भी चाहता है। स्वावलम्बी राष्ट्र के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने वाह्य व्यवसायों पर नियंत्रण रखे। उत्पादन के विशेष पदार्थों को सीमित करके, स्थानीय तथा स्वावलंबी आर्थिक शक्ति को प्रोत्साहन दे करके, प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके तथा वाह्य व्यवसाय पर नियंत्रण रखके स्वावलम्बी राष्ट्र आर्थिक शक्ति को, अपनी ही सीमा तक सीमित * रखेगा।" इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पूंजीपतियों तथा भूपतियों का पक्ष ग्रहण करना स्वाभाविक था।

फासीवाद इस प्रकार बड़े-बड़े पूंजीपतियों के पक्ष में अधिक था और छोटे पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के पक्ष में कम। एक ओर फासीवाद ने पूंजीपतियों पर नियंत्रण लगाया कि वह देश की उत्पादन शक्ति का उपयोग केवल स्वार्थ के लिए न कर सकें और दूसरी ओर श्रमिकों पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि वह अपने कार्य को स्थगित न कर सकें। पूंजीपतियों के लिए नियम बनाये गये। यदि वे किसी उद्योग को ठीक रूप से नहीं चला सकते थे तो उनसे वह उद्योग छीन लिया जाता था चाहे वह कृषि उद्योग हो अथवा कोई अन्य उद्योग हो। रेल, तार बिजली घरों तथा

यातायात के अन्य साधनों का राष्ट्रीयकरण किया गया। यदि किसी पूंजीपति का उद्योग सुचारू रूप से नहीं चल रहा है तो वह राष्ट्र की सम्पति बन जायगी और राष्ट्र उद्योग को चलायेगा। श्रमिकों के लिए भी नियम बन गये कि वह किसी भी उद्योग को स्थगित नहीं कर सकते। अकारण किसी कार्य को स्थगित करना देश-द्रोह था। श्रमिकों को इस देश-द्रोह के लिए कठिन से कठिन दण्ड दिये जाते थे। श्रम को उचित रूप से चलाने के लिए राज आज्ञा बनाई गई जिसे श्रम-राजपत्र (Labour charter) कहते हैं। श्रम-राजपत्र (Labour charter) का कुछ उद्धरण दे देना यहाँ अनुपयुक्त नहीं होगा।

प्रथम धारा (Article I)—इटली का राष्ट्र एक प्रकार का प्राणी है जिसका एक विशेष उद्देश्य तथा जीवन है। इसके अंग उन मनुष्यों के व्यक्तिगत अंग से और उनके व्यक्तिगत जीवन से अधिक उच्च तथा महत्वपूर्ण हैं जिनके द्वारा यह राष्ट्र निर्मित है। फासीवादी राष्ट्र राजनीतिकता, परन्तु सभापति पद पर जब तक नियुक्त रहता था फासीवादी दल का किसी भी आर्थिकता तथा आध्यात्मिकता की एक मिश्रित एकाई है।"

द्वितीय धारा (Article II)—"प्रत्येक प्रकार का श्रम चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक एक प्रकार का कर्तव्य है और केवल इसी कारण से राष्ट्र के प्रबंध के अन्तर्गत आता है। राष्ट्रीय विचार से प्रत्येक प्रकार की उत्पत्ति राष्ट्रों की शक्ति बढ़ाने के लिये तथा उत्पादकों के हित के लिये होती है"। (*)

इस राजपत्र के उपर्युक्त विषयों में हम देखेंगे कि श्रमिकों का विशेष ध्यान दिया गया है और उनके श्रम का विचार किया गया है। परन्तु यह सब केवल इसीलिए था कि तत्कालीन वर्गसंघर्ष अधिक उग्र न हो सके। श्रमिकों को रक्षा के लिए पूंजीपतियों के विरुद्ध नियम बनाये गये। ३ अप्रैल १९२६ का नियम अपनी १८वीं धारा में घोषित करता है कि "जो स्वामी अकारण अपने व्यवसाय अथवा उद्योग धन्धों को केवल इसलिए स्थगित कर देता है कि श्रमिक अपने नियमपत्र को पुनः बनायें और अपने वेतन कम करने पर विवश हों तो राष्ट्र उसे १०,००० लायर से लेकर १००,००० लायर तक का दण्ड दे सकता है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि फासीवाद पूंजीपतियों का पक्षपाती होते हुए भी देश के श्रमिकों का ध्यान रखता था।

---

*स्टेट इन रिलेशन टु लेबर इन इंडिया।

फासीवाद के कुछ आलोचकों का मत है कि फासीवादी राष्ट्र में केवल श्रमिक तथा पूंजीपति हो सकते हैं, अन्य स्वतन्त्र व्यवसाय संगठित रूप में नहीं हो सकते। यह ठीक है कि फासीवादी राष्ट्र में बड़े बड़े उद्योग-धन्धों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। परन्तु यह कहना कि बड़े व्यवसाय और उद्योगों पर केवल पूंजीपति ही अधिकार पा सकते हैं ठीक नहीं है। कितने ही व्यवसाय इटली में संगठित श्रमिकों द्वारा ही चलाये जाते थे। उनके लिए राष्ट्र ने अलग नियम बनाया था। कितने ही व्यापारिक संगठनों में श्रमिक तथा पूंजीपतियों का स्वतंत्र सम्बन्ध होता था। इटली में व्यवसायिक समितियाँ न्याययुक्त समझी गई थीं और उनके लिए राष्ट्र ने एक नया विधान बनाया था। ये सब व्यवसायिक तथा औद्योगिक समितियाँ तथा संघ (syndicates and corporations) फासीवादी राष्ट्र के सहायक अंग समझे जाते थे। श्रम-राजपत्र की छठीं धारा में (Article 6) में उनके कार्य निम्न प्रकार से लिखे गये हैं।

"व्यवसायिक समितियां (Syndicates) न्याययुक्त हैं और उनके श्रमिक तथा पूंजीपति न्याय के सम्मुख समान अधिकारी हैं। वे शासन के नियमों का पालन करते हैं और देश की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करते हैं। औद्योगिक संघ (Corporations) एक प्रकार से पूंजी तथा श्रम को संगठित करते हैं और प्रत्येक हित का समन्वय करते हैं। औद्योगिक संघ देश की उत्पत्ति बढ़ा कर राष्ट्र का हित करते हैं और पूंजीपति तथा श्रमिक दोनों वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः ये संघ देश के नियमों द्वारा राष्ट्र के अंग स्वीकृत किये जाते हैं।"

१९२६ में १३ भिन्न प्रकार के व्यवसायिक संघों को राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई थी। १९२९ ई० तक इन संघों में ३,७९८,००० स्वामी ८,०४८,००० मजदूर तथा १४३,००० मानसिक कार्य करने वाले श्रमिक सम्मिलित हुए थे। इटली में व्यवसायिक संघों का इतना महत्व था कि मंत्रिमण्डल में एक मंत्री केवल इस विभाग के लिए नियुक्त हुआ था। इन संघों के लिए नियम बनाना एक राष्ट्रीय सभा (national council) के हाथ में था। इस सभा के सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसायिक संघों (syndicates) के द्वारा चुने जाते थे। प्रत्येक संघ अपना सदस्य अनुपात के अनुसार भेजता था। सदस्यों में श्रमिक तथा पूंजीपतियों का अनुपात बराबर होता था। इस सभा को बड़े-बड़े अधिकार प्राप्त थे। देश की आर्थिक आयोजना बनाने,

आर्थिक नीति को निर्धारित करने तथा किसी आयोजन को चलाने तक का अधिकार इस सभा को था।

श्रमिकों की सुविधा के लिए अन्य भी उपयोगी नियम बनाये गये थे। उनका वेतन निश्चित मात्रा से कम नहीं हो सकता था। श्रम के समय सीमित कर दिये गये थे। नियमित श्रम से अधिक कोई भी पूंजीपति बिना वेतन बढ़ाये श्रमिकों से काम नहीं ले सकता था। सप्ताह में श्रमिकों के लिए रविवार की छुट्टी निश्चित कर दी गयी थी। रविवार की छुट्टी के अतिरिक्त उनको सप्ताह में एक दिन की आधी छुट्टी मिलती थी। उनकी शिक्षा तथा स्वास्थ्य का सरकार की ओर से प्रबन्ध हो गया था। प्रत्येक श्रमिक को कार्य दिलाने में सरकार अपना उत्तरदायित्व समझती थी।

२६ मार्च सन् १९२८ में श्रम विनिमय (Labour Exchange) का विभाग खोला गया जिसका नियमन एक सभा द्वारा होता था। इस सभा के सदस्य श्रमिक तथा पूंजीपति समान संख्या में होते थे। व्यवसायिक संघ (syndicate) के भी सदस्य उसके अनुपात के अनुसार होते थे। इस सभा का सभापति फासीवादी दल (Fascist party) का एक सदस्य होता था। परन्तु सभापति पद पर जब तक नियुक्त रहता था फासीवादी दल का किसी भी प्रकार पक्षपात नहीं करता था। श्रम-विनिमय विभाग का मंत्री व्यवसायिक संघ का सदस्य होता था। कारण यह था कि यह श्रमिकों की परिस्थिति का तत्कालीन ज्ञान रखता था और उन्हीं का यह एक सदस्य भी होता था। पूंजीपति जब किसी श्रमिक को कार्यच्युत करता था तो उसे श्रम-विनिमय को पूर्ण विवरण देना पड़ता था। उसे कार्यच्युत करने का कारण भी देना पड़ता था। रिक्त स्थान पर उसे अन्य श्रमिक केवल श्रम विनिमय विभाग से ही प्राप्त हो सकता था और उसे रिक्त स्थान की पूर्ति करनी पड़ती थी।

श्रम विनिमय विभाग (LabourExchange) का कर्तव्य यह था कि वह श्रमिकों को श्रम प्राप्त करने में सुविधा प्रदान करे और पूंजीपतियों को योग्य श्रमिक दे। दोनों वर्गों में संघर्ष न उत्पन्न होने दे। श्रमिकों की तथा उनकी आवश्यकता की एक सूची बनाये जिससे उसी के अनुकूल श्रमिकों की शिक्षा हो सके। श्रम विनिमय विभाग (Labour Exchange) प्रत्येक श्रमिक को कार्य प्राप्त करने में सहायता देता था और यथाशक्ति सभी श्रमिकों को कार्य दिलाता था। जिन श्रमिकों को कार्य नहीं मिलता था उनको राष्ट्र से जीविका मिलती थी। परन्तु यह जीविका पर्याप्त न थी। वृद्धों

तथा बच्चों के लिए सरकार की ओर से कुछ सहायता मिलती थी। जिन श्रमिकों के कुटुम्ब बड़े थे उनको उसी अनुपात के अनुसार सरकार की ओर से सहायता मिलती थी।

श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के विग्रह को सुलझने के लिए श्रम-न्यायालयों (Labour Courts) की स्थापना की गई थी। श्रम न्यायालय में तीन न्यायाधीश तथा दो नागरिक होते थे। केवल वही नागरिक श्रम न्यायालय (Labour Courts) के सदस्य होते थे जो श्रम तथा उत्पत्ति के विशेषज्ञ होते थे। स्वामी तथा श्रमिकों के बखेड़े पहिले समझौते से निश्चय करने का प्रयत्न किया जाता था। यदि समझौते से विग्रह शान्त न होता तो श्रम-न्यायालय द्वारा उसका न्याय होता था। व्यक्तिगत कलह श्रम-न्यायालय में नहीं लाये जा सकते थे। केवल सामूहिक कलह ही इस न्यायालय में निबटाये जाते थे। इस न्यायालय की आज्ञा का पालन दोनों दलों के लिए आवश्यक होता था। आज्ञा की अवहेलना करने-वाला दल राजदण्ड का भागी होता था। कलह साधारण रीति से ही शान्त हो जाता था। इस न्यायालय में १९३९ तक केवल दो ही झगड़े पहुँचे। प्रथम कलह धान के श्रमिकों की अपने स्वामियों से थी जिसका न्याय २८ जून सन् १९२७ में हुआ था और द्वितीय कलह समुद्र-कर्मचारियों की थी जिसका निर्णय २८ जून १९२८ को हुआ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फासीवादी राष्ट्र देश की आर्थिक महत्ता पर अधिक ध्यान देता है और व्यक्तिगत आवश्यकता पर कम। वह साम्यवादी वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में विश्वास करता है परन्तु उसका विश्वास है कि ऐसे संघर्ष का समन्वय भी सम्भव है। परस्पर दो विरोधी वर्गों में जिस प्रकार समझौता हो उसी प्रकार श्रमिक तथा पूंजीपतियों का भी समन्वय सम्भव हो सकता है। मुसोलिनी का कथन है कि वर्गसंघर्ष सम्पत्तिवान देशों की विलासिता है। इटली निर्धन देश है और उसे यह विलासिता स्वीकृत नहीं है। वर्गसंघर्ष हिंसक उपायों से कदापि नहीं शान्त हो सकता। एक वर्ग दूसरे वर्ग को कदापि नहीं मिटा सकता। अतः वर्गसंघर्ष को शान्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों दलों को समझाया जाय।

फासीवादी श्रमनीति की आलोचना—इस नीति के आलोचक यह कहते हैं कि इस नीति के कारण श्रमिकों का स्वतंत्र व्यवसायिक संघ राष्ट्र के कर्मचारियों के अन्तर्गत हो गया। भिन्न-भिन्न व्यवसायिक संघों की स्वतंत्रता छिन गई। फासीवादी राष्ट्र (Fascist State) में केवल एक दल की ही

सरकार सदैव रहती है अतः स्वतंत्र व्यवसायिक संघ एक दल के निरंकुश शासन द्वारा शासित होते हैं। फासीवादी दल के विरुद्ध वे कोई कार्य नहीं कर सकते। राष्ट्र व्यवसायिक संघों से जिस प्रकार चाहता है उस प्रकार का कार्य लेता है। पूंजीपति तथा श्रमिक दोनों दलों को एक निश्चित नियम में बांधता है। उनको निश्चित नियमों पर चलने के लिए विवश करता है।

सामूहिक श्रम संसर्ग (Contract) श्रम की उन्नत प्रणाली का बाधक है। वह श्रम की श्रेणी को अवनत कर देता है। श्रमिकों को अवस्था को भी इस प्रकार का संसर्ग अवनत कर देता है। इस प्रणाली से श्रमिकों की शक्ति का क्षय तथा उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती है। उनके आर्थिक संकट बढ़ जाते हैं। श्रम न्यायालय (Labour Courts) एक प्रकार की निर्जीव संस्था है। यह संस्था श्रमिक आन्दोलन के वेग को हीन कर देती है। यह अर्थनीति आवश्यकता से अधिक केन्द्रीयकरण का पक्ष करती है जिससे देश की जनता का विकास रुक जाता है। इस नीति से देश के नवयुवकों की नेतृत्व शक्ति का ह्रास होता है।

विशेष अध्ययन के लिए देखिये—

एच० ई० गोड—*ह्वाट इज़ फासिजम*

गिसेप—*फासिजम*

पी० एन० राय—*मुसोलिनी एन्ड दॉ कल्ट आफ इटालियन यूथ*

जे० एस० बार्नस—*यूनीवर्सल आस्पेक्ट्स आफ फासिजम*

सर एफ० फाक्स—*इटली टुडे*

एच० ई० गोड—*दॉ मेकिंग आफ कारपोरेटिव स्टेट*

सी० म० क्रासवेल—*दॉ सिस्टम आफ़ फासिजम*

एम० डब्लू० हावर्ड—*फासिजम : ए चैलेंज टू डिमोक्रेसी*

बी० मुसोलिनी—*माई आटोबायोग्राफी*

वी० एम० शर्मा—*मुसोलिनी*

जी० टी० गैरट—*मुसोलिनीज़ रोमन एम्पायर*

एच० फाइनर—*मुसोलिनीज़ इटली*

डब्यू० वाई० इलियट—*दॉ प्रागमेटिक रिवाल्ट इन पालिटिक्स*

तथा बच्चों के लिए सरकार की ओर से कुछ सहायता मिलती थी। जिन श्रमिकों के कुटुम्ब बड़े थे उनको उसी अनुपात के अनुसार सरकार की ओर से सहायता मिलती थी।

श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के विग्रह को सुलझने के लिए श्रम-न्यायालयों (Labour Courts) की स्थापना की गई थी। श्रम न्यायालय में तीन न्यायाधीश तथा दो नागरिक होते थे। केवल वही नागरिक श्रम न्यायालय (Labour Courts) के सदस्य होते थे जो श्रम तथा उत्पत्ति के विशेषज्ञ होते थे। स्वामी तथा श्रमिकों के बखेड़े पहिले समझौते से निश्चय करने का प्रयत्न किया जाता था। यदि समझौते से विग्रह शान्त न होता तो श्रम-न्यायालय द्वारा उसका न्याय होता था। व्यक्तिगत कलह श्रम-न्यायालय में नहीं लाये जा सकते थे। केवल सामूहिक कलह ही इस न्यायालय में निबटाये जाते थे। इस न्यायालय की आज्ञा का पालन दोनों दलों के लिए आवश्यक होता था। आज्ञा की अवहेलना करने-वाला दल राजदण्ड का भागी होता था। कलह साधारण रीति से ही शान्त हो जाता था। इस न्यायालय में १९३९ तक केवल दो ही झगड़े पहुँचे। प्रथम कलह धान के श्रमिकों की अपने स्वामियों से थी जिसका न्याय २८ जून सन् १९२७ में हुआ था और द्वितीय कलह समुद्र-कर्मचारियों की थी जिसका निर्णय २८ जून १९२८ को हुआ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फासीवादी राष्ट्र देश की आर्थिक महत्ता पर अधिक ध्यान देता है और व्यक्तिगत आवश्यकता पर कम। वह साम्यवादी वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में विश्वास करता है परन्तु उसका विश्वास है कि ऐसे संघर्ष का समन्वय भी सम्भव है। परस्पर दो विरोधी वर्गों में जिस प्रकार समझौता हो उसी प्रकार श्रमिक तथा पूंजीपतियों का भी समन्वय सम्भव हो सकता है। मुसोलिनी का कथन है कि वर्गसंघर्ष सम्पत्तिवान देशों की विलासिता है। इटली निर्धन देश है और उसे यह विलासिता स्वीकृत नहीं है। वर्गसंघर्ष हिंसक उपायों से कदापि नहीं शान्त हो सकता। एक वर्ग दूसरे वर्ग को कदापि नहीं मिटा सकता। अतः वर्गसंघर्ष को शान्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों दलों को समझाया जाय।

फासीवादी श्रमनीति की आलोचना—इस नीति के आलोचक यह कहते हैं कि इस नीति के कारण श्रमिकों का स्वतंत्र व्यवसायिक संघ राष्ट्र के कर्मचारियों के अन्तर्गत हो गया। भिन्न-भिन्न व्यवसायिक संघों की स्वतंत्रता छिन गई। फासीवादी राष्ट्र (Fascist State) में केवल एक दल की ही

घेरा। जर्मनी एक उद्योग-प्रधान देश था। वहाँ की अधिकांश भूमि अनुपजाऊ है। देश में जंगल, पहाड़ अधिक हैं। केवल कुछ भागों में कृषि होती है। खाद्यान्न समस्त जनता के लिए नहीं उत्पन्न होता। खाद्यान्न विदेश से मँगाना पड़ता है। १६१६ की शांति संधि के अनुसार जर्मनी के प्रमुख औद्योगिक केन्द्र जर्मनी से निकाल कर अन्य देशों को दे दिये गये। डानजिग जो जर्मनी का प्रमुख बन्दरगाह था अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार में कर लिया गया। जर्मनी की प्रमुख नदियाँ जिनके द्वारा जलयात्रा की जा सकती थी अन्तर्राष्ट्रीय आधिपत्य में आ गयीं। जर्मनी के समस्त उपनिवेश विजेता राष्ट्रों ने आपस में बाँट लिए। एक ओर जर्मनी के प्रधान औद्योगिक देश छीन लिए गये, देश के प्रमुख यातायात के साधनों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर लिया गया और दूसरी ओर जर्मनी के हाट (बाजार) भी उससे छीन लिए गये। जर्मनी की ६.५ करोड़ जनता के लिए यह जीवन और मरण का प्रश्न था। ब्रिटिश द्वीप समूह की जनता गणना में जर्मनी से कम थी परन्तु ब्रिटेन का अधिकार संसार के चौथाई भाग पर था। इस अत्याचार से ही विजेतावर्ग संतुष्ट न था। जर्मनी के ऊपर युद्ध के व्यय का ऋण भी लादा गया। ऋण का भार इतना अधिक था कि जर्मनी उसे कभी नहीं चुका सकता था। १६२३ में फ्रांस तथा बेल्जियम अपने ऋण लेने के लिए इतने उद्विग्न हो उठे कि उन्होंने जर्मनी के एकमात्र आधार प्रदेश रूर पर अधिकार कर लिया। जर्मनी शक्ति से इन दोनों देशों के अधिकार को नहीं रोक सकता था। उस समय वह सिंह जिसके गर्जन से संसार थर्रा उठता था अपनी पराजय के कारण आहत होकर अप्रतिभ, निर्जीव तथा शक्तिहीन हो गया था। जिन जर्मन सैनिकों की चाल से फ्रांस तथा बेल्जियम की धरा थर्रा जाती थी आज वही जर्मन सैनिक फ्रांस तथा बेल्जियम की सामूहिक शक्ति के आगे रूर की खानों की रक्षा न कर सके।

जर्मन सरकार ने फ्रांस तथा बेल्जियम की इस उद्दण्डता का निष्क्रिय विरोध किया। यह निष्क्रिय विरोध जनता के लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ। जनता की आर्थिक दशा अत्यन्त भयानक हो गयी। रूर की रक्षा का केवल एकमात्र सहारा बच रहा था। वह यह था कि देश की वस्तुओं का मूल्य बढ़ा दिया जाय। वस्तु-मूल्य की जो दशा आजकल चीन में है ठीक वही दशा १६२३ में जर्मनी की हो गयी थी। यदि इस स्थल पर जर्मनी के तत्कालीन मार्क का मूल्य डालरों के रूप में दे दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

अध्याय १६

नाज़ीवाद्

नाज़ीवाद के ग्राविर्भाव के कारण—प्रकृति अत्यन्त नियमबद्ध है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण के साथ है। प्रथम महासमर के पश्चात् बहुत समय तक जर्मनी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों द्वारा पदाक्रांत था। किसी को स्वप्न में भी यह आशा न थी कि यह पद-दलित देश पुनः संसार की संयुक्त शक्तियों के सम्मुख सिंह की भाँति गर्जन करेगा। परन्तु जैसी किसी को आशा न थी वैसा ही हुआ। जर्मन देश जो महासमर के पश्चात् निर्जीव बना दिया गया था समय और अवसर की औषधि पाकर जीवित हो उठा। जर्मनी ने अपने पुनर्जीवनकाल में कुछ नवीन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। इस परिच्छेद में हम भी उसी नवीन सिद्धान्त की समीक्षा करेंगे। सर्व-प्रथम हम उन कारणों का विवेचन करेंगे जिनके कारण मृतप्राय जर्मन राष्ट्र पुनः जीवित हो उठा और जिसके द्वारा नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। इन्हीं नवीन सिद्धान्तों को हम नाज़ीवाद के नाम से पुकारते हैं। नाज़ीवाद जर्मनी के उत्थान के लिए उतना ही आवश्यक था जितना मछली के लिए जल। जर्मनी के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह वर्साई की सन्धि के विरुद्ध अपना पैर बढ़ाये और इस प्रतिक्रिया के लिए नाजीवाद का होना अनिवार्य था। नाज़ीवाद की उग्रता का कारण हिटलर की स्वेच्छा न थी। वरन् देश की परिस्थिति थी। देश की विषम परिस्थितियों के निवारण के लिए यह आवश्यक था कि भूतपूर्व जर्मन राष्ट्र-पिता हिटलर किसी उग्र नीति का अनुसरण करे।

वर्साई की संधि के पश्चात् जर्मन देश को महान् आर्थिक संकट ने आ

के अनुकूल जर्मनी अपनी सामरिक शक्ति नहीं बढ़ा सकता था। निम्न ब्योरे से पता चलेगा कि संधि ने जर्मनी को, जो १६१३ में सर्वप्रथम सामरिक शक्ति था, न्यूनतम स्थान दे दिया गया। यह स्थान जर्मन देश-वासियों के आत्म-सम्मान के नितांत प्रतिकूल था। वे अपनी इस आत्मनिन्दा को कभी भी सहन नहीं कर सकते थे। वे अपने सैनिक कौशल का एक बार पुनः प्रदर्शन चाहते थे। वे संसार की महान् शक्तियों में बराबरी का स्थान चाहते थे और किसी के सम्मुख झुकना नहीं चाहते थे। वे एक ऐसे नेता के मिलने की आशा में थे जो उनकी शक्तियों का समुचित उपयोग कर सके। उन्हें अपना देश प्राणों से अधिक प्यारा था। वे प्राणों की आहुति देकर देश को गौरवान्वित करना भली भाँति जानते थे। उन्हें अपने पूर्वजों की कृतियाँ अभी स्पष्टरूप से स्मरण थीं। पूर्वजों के नाम पर वे कलंक नहीं लगाना चाहते थे। सौभाग्य से उनकी शक्तियों को संचित कर उसे क्रिया-शील बनाने के लिए हिटलर जैसा नेता भी उन्हें मिल गया। हिटलर ने चिर संचित जर्मन राष्ट्र की सैनिक शक्ति का पुनस्संगठन प्रारम्भ कर दिया। द्वितीय महासमर के प्रारम्भ के पूर्व जर्मन राष्ट्र को उसने एक महान् शक्ति-शाली सैनिक राष्ट्र बना दिया। यह सैनिक-शक्ति नाजीवाद का प्रधान अंग रही। जो शक्ति या जो राष्ट्र नाजीवाद के सिद्धान्तों का विरोध करते थे उनके साथ शक्ति का उपयोग किया गया। फलतः जर्मनी का निःशस्त्री-करण ही उसके सैनिक पुनस्संगठन का कारण बन गया। जर्मनी के निःशस्त्री-करण ने जर्मनवासियों को अधिक शक्तिशाली संगठन बनाने के लिए आन्दोलित कर दिया।

नाजीवाद के उत्थान का तृतीय कारण यह था कि प्रथम विश्व-महासमर के पश्चात् पार्लियामेन्ट पद्धति के प्रतिकूल यूरोपीय भू-मण्डल में एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। रूस में यह आन्दोलन साम्यवाद के रूप में आया। इटली में यह आन्दोलन फासीवाद के रूप में आया। स्पेन में यह आन्दोलन राजतन्त्र के रूप में आया और जर्मनी में यह नाजीवाद के रूप में आया। केवल फ्रांस में पार्लियामेन्ट पद्धति देश के शासन के लिए उपयुक्त होती रही। परन्तु फ्रांस में भी यह पद्धति अधिक सफल नहीं रही। फ्रांस का मंत्रिमण्डल इतना अधिक परिवर्तित होता रहा कि वहाँ की सरकार की कोई भी नीति निश्चयात्मक नहीं रही। रूस की साम्यवादी नीति उग्र भौतिकवादी थी और जर्मन प्रदेश सदैव से ही अध्यात्मवादी रहा है। जर्मनी एक धर्मप्रधान देश था अतः रूस की साम्यवादी नीति उस

मई	१९२१ में	१ डालर	मूल्य में	जर्मनी के	६२	मार्क के	समान था
सितम्बर	,,	,,	,,	,,	१०५	,,	,,
*नवम्बर	,,	,,	,,	,,	२७०	,,	,,
जुलाई	१९२२	,,	,,	,,	४९३	,,	,,
अगस्त	,,	,,	,,	,,	१२००	,,	,,
नवम्बर	१९२२	,,	,,	,,	८०००	,,	,,
†जनवरी	१९२३	,,	,,	,,	४०,०००	,,	,,
नवम्बर	,,	,,	,,	,,	४,२००,०००,०००,०००		

ऐसी भयानक परिस्थिति में जर्मनी का व्यापार स्थगित हो गया। जर्मनी में मार्क का कोई मूल्य न रह गया। कर्मचारी वर्ग में जिनकी आय निश्चित थी हाहाकार मच गया। सरकारी कार्य में बाधा उपस्थित होने लगी। ऐसी परिस्थिति तत्कालीन सरकार की शक्ति के परे थी। तत्कालीन सरकार में अनेक दलों के सदस्य थे जिसके कारण सरकार किसी निश्चित नीति का निर्धारण नहीं कर सकती थी। अतः उस परिस्थिति को सम्हालने के लिए एक उग्र तथा सशक्त दल की आवश्यकता थी जो निश्चित रूप से किसी नीति को निर्धारित कर देश को संकट से बचाता।

जर्मनी अपनी सामरिक शक्ति के लिए सदैव प्रसिद्ध था। इतिहास के पृष्ठों को उलटने से पता चलेगा कि जर्मन सैनिक यूरोप की भूमि पर सदैव अद्वितीय रहा है। जर्मनी के दक्षिणी-पश्चिमी भाग की जनता का तो प्रायः सैनिक वृत्ति पर ही जीवन-निर्वाह होता रहा है। वारसेल्ज की सन्धि के पश्चात् जर्मन सेना जो यूरोपीय भूभाग में अधिकतम थी। न्यूनतम कर दी गई। संधि की इस नीति से जनता को बड़ी क्षति पहुँची। जनता को इससे मानसिक कष्ट हुआ। जर्मन देशवासियों ने सैनिक जीवन को सर्वश्रेष्ठ जीवन समझा था। वे सैनिक वृत्ति को गौरव की दृष्टि से देखते थे। उन्हें कृपक तथा श्रमिक का जीवन प्रिय न था। सन्धि के नियमों

---

* नवम्बर १९२१ में कुछ समय के लिए मार्क का मूल्य स्थगित हो गया था।

† जनवरी १९२३ में जब फ्रांस तथा वेल्जियम की सेनाओं ने रूस पर अधिकार कर लिया उसके पश्चात् मार्क का मूल्य आश्चर्यजनक रूप से घट गया।

"यह अत्यन्त आवश्यक है कि जर्मनी को यूरोपीय भूमि पर एकमात्र सर्व शक्तिमान राष्ट्र का स्थान दिया जाय और उसके साथ उसी रूप में व्यवहार किया जाय।"

(लार्ड सभाभवन में लार्ड लोथियन
१ ली मई १९३५)

येही शब्द 'टाइम्स' नामक पत्रिका में "इंगलैण्ड की परराष्ट्र नीति" के विषय में इंगलैंड सरकार की आज्ञानुसार पुनः उद्धृत किये गये। "वरसाई की संधि के अनुसार नीति का अनुसरण करने से यूरोप में शांति नहीं स्थापित हुई" अतः अब हमारे लिए आवश्यक है किसी अन्य नीति का अनुसरण किया जाय। वातावरण तथा परिस्थिति पूर्व से भिन्न हो चुकी है अतः नीति का परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है।

"Do not yet impose upon this country the obligation of interpreting literally the general terms of every article of the covenant. No other country, it can safely be said, has the slightest intention of giving practical effect everywhere to, for instance, Article 10 and Article 16."

(The Times editorial on "British Foreign Policy" May, 3rd, 1935).

"इस देश को नियम की प्रत्येक धारा को अक्षरशः पालन के लिए वाध्य न करो। यह समुचित रूप से कहा जा सकता है कि कोई भी देश उदाहरणार्थ धारा १० तथा धारा १६ को कार्यान्वित करने का इच्छुक नहीं है।"

(टाइम्स की संपादकीय टिप्पणी में 'ब्रिटिश परराष्ट्र नीति'
३ मई १९३५)

केवल फ्रांस की ही शक्ति को वाधित करने के हेतु नहीं वरन् रूस की साम्यवादी शक्ति को विनष्ट करने के लिए भी इंगलैंड की सरकार ने जर्मनी को प्रोत्साहन देने की नीति का अनुसरण किया। ब्रिटिश परराष्ट्र नीति की कुशलता तथा दूरदर्शिता थी कि यूरोप की समस्त शक्तियों को

देश में नहीं सफल हो सकती थी। उग्र भौतिकवाद वहाँ के देशवासियों के सर्वथा प्रतिकूल था। स्पेन का राजतन्त्र वहाँ सहायक शक्तियों द्वारा पनपने नहीं दिया जा सकता था। कारण यह था कि राजतन्त्र अमेरिका तथा इंगलैण्ड के हितों का घातक था। राजतन्त्र के द्वारा यह संभव था कि जर्मनी पुनः सशक्त हो उठता। इंगलैण्ड, फ़्रांस, तथा अमेरिका ही मित्र राष्ट्रों में प्रधान थे। अतः जर्मनी को एक प्रजातन्त्र-पार्लियामेन्ट पद्धति वाली सरकार समर्पित की गयी। यह पद्धति जर्मनी की भूमि पर कभी भी सफल नहीं हो सकती थी। दूसरे जर्मनी की नवीन सरकार में और भी अनेक दोष थे। सर्वप्रथम दोष तो यह था कि पार्लियामेन्ट के सदस्यों के निर्वाचन के लिए जो प्रथा जर्मनी में व्यवहृत थी उससे सभा भवन बहुदलवाला हो गया था। सदस्यों के विचार प्रत्येक विधेयक में विलग हो जाते थे। किसी भी विधेयक पर सदस्यों की सर्व-सम्मति नही मिलती थी। प्रत्येक दल के सदस्य विधेयकों पर अपना विभिन्न राग अलापा करते थे। अतः जर्मन सरकार के लिए किसी निर्धारित नीति पर चलना असम्भव हो गया था। किन्तु जर्मन देश को एक सशक्तदल की आवश्यकता थी। उस आवश्यकता की पूर्ति नाजीवाद ने की।

चतुर्थ कारण जो नाजीवाद के उत्थान का ही कारण नहीं बल्कि उसकी सफलता का भी कारण था वह था मित्र राष्ट्रों का आपस में मतभेद होना। मित्र राष्ट्र जिनकी नीति ही जर्मनी में संचालित होती थी एक दूसरे का ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। फ्रांस यूरोपीय महाद्वीप में सर्वश्रेष्ठ सैनिक शक्ति था। महायुद्ध के उपरान्त फ़्रांस की शक्ति शनैः शनैः बढ़ती ही जा रही थी। इंगलैण्ड फ़्रांस की इस बढ़ती हुई शक्ति को संशक दृष्टि से देखता था। इंगलैण्ड यह नहीं चाहता था कि फ़्रांस यूरोपीय स्थल पर सर्व-शक्तिशाली बने। अतः जब फ़्रांस मित्र शक्तियों से जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को दबाने के लिए अनुरोध करता था तो इंगलैण्ड फ़्रांस के इस प्रस्ताव का विरोध करता था। जब कि १९३५ में जर्मनी प्रत्यक्षरूप से युद्ध के लिए सैनिक शक्ति का संगठन कर रहा था उस समय लार्ड सभाभवन में लार्ड लोथियन ने निम्न भाषण दिया था—

"Germany must be given a position appropriate to a nation which would normally be regarded as the most powerful single state in Europe."

(Lord Lothian in the House of Lords,
1st May, 1935)

"यह अत्यन्त आवश्यक है कि जर्मनी को यूरोपीय भूमि पर एकमात्र सर्व शक्तिमान राष्ट्र का स्थान दिया जाय और उसके साथ उसी रूप में व्यवहार किया जाय।"

(लार्ड सभाभवन में लार्ड लोथियन
१ ली मई १९३५)

येही शब्द 'टाइम्स' नामक पत्रिका में "इंगलैण्ड की परराष्ट्र नीति" के विषय में इंगलैंड सरकार की आज्ञानुसार पुनः उद्धृत किये गये। "वरसाई की संधि के अनुसार नीति का अनुसरण करने से यूरोप में शांति नहीं स्थापित हुई" अतः अब हमारे लिए आवश्यक है किसी अन्य नीति का अनुसरण किया जाय। वातावरण तथा परिस्थिति पूर्व से भिन्न हो चुकी है अतः नीति का परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है।

"Do not yet impose upon this country the obligation of interpreting literally the general terms of every article of the covenant. No other country, it can safely be said, has the slightest intention of giving practical effect everywhere to, for instance, Article 10 and Article 16."

(The Times editorial on "British Foreign Policy" May, 3rd, 1935).

"इस देश को नियम की प्रत्येक धारा को अक्षरशः पालन के लिए वाध्य न करो। यह समुचित रूप से कहा जा सकता है कि कोई भी देश उदाहरणार्थ धारा १० तथा धारा १६ को कार्यान्वित करने का इच्छुक नहीं है।"

(टाइम्स की संपादकीय टिप्पणी में 'ब्रिटिश परराष्ट्र नीति'
३ मई १९३५)

केवल फ्रांस की ही शक्ति को वाधित करने के हेतु नहीं वरन् रूस की साम्यवादी शक्ति को विनष्ट करने के लिए भी इंगलैंड की सरकार ने जर्मनी को प्रोत्साहन देने की नीति का अनुसरण किया। ब्रिटिश परराष्ट्र नीति की कुशलता तथा दूरदर्शिता थी कि यूरोप की समस्त शक्तियों को

लड़ाकर अपनी सत्ता को उसने स्थिर बनाये रखा। हिटलर ने प्रथम फ्रांस को नष्ट किया तत्पश्चात् रूस से भिड़ गया और उसे भी महान् क्षति पहुँचायी। परन्तु अपनी इस नीति का परिणाम इंगलैंड को भी सहना पड़ा। इंगलैंड की साम्यवादी विरोधी नीति की झलक स्पष्ट रूप से लायड जार्ज के समय समय पर वक्तव्यों में मिलती है। उदाहरणार्थ निम्न प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है।

'If the powers succeeded in overthrowing Nazism in Germany what would follow? Not a Conservative, Socialist or Liberal regime, but extreme communism. Surely that could not be their object. A communist Germany would be infinitely more formidable than a communist Russia. The Germans know how to run their communism effectively. They would entreat the Government to proceed cautiously."

Lloyd George, speeeh at Barmouth
September 22, 1933.

"यदि शक्तियाँ नाजीवाद को जर्मनी से नष्ट करने में सफल हुई तो फिर क्या होगा? कन्जरवेटिव, लिबरल तथा समाजवादी नहीं वरन् घोर साम्यवादी प्रभुत्व होगा। साम्यवादी जर्मनी रूस से अधिक सशक्त होगा। जर्मन यह समझते हैं कि साम्यवाद को किस प्रकार क्रियात्मक रूप दिया जायगा। वह अपनी सरकार को सावधानी से चलायेंगे।"

लायडजार्ज का बारमाउथ का वक्तव्य,
सितम्बर २२, १९३३

एवं पुनः उसी प्रकार का वक्तव्य धारा सभा में २८ नवम्बर, १९३४ को दिया था जिसका उद्धरण उसी रूप में अधोलिखित पंक्तियों में दिया जा रहा है।

"In a very short time, perhaps in a year or two the conservative elements in this country will be looking to Germany as the bulwark against communism in Europe. She is planted right in the centre

of Europe, and if her defence breaks down against the communists--only two or three years ago a very distinguished statesman said to me, 'I am not afraid of Nazism, but of communism, and if Germany is seized by the communists, Europe will follow, because the German could make a better job of it than any other country. Do not let us be in a hurry to condemn Germany. We shall be welcoming Germany as our friend."

Lloyd George in the House of Commons,
November 28th. 1934

"कुछ ही काल में, संभवतः साल दो साल में, हमारे देश का कंजरवेटिव दल यह देखेगा कि जर्मनी यूरोप में साम्यवाद के विरोध में एक प्राचीर अथवा गढ़ हो जायगा। यूरोप के ठीक मध्य में वह स्थित है। दो या तीन वर्ष पूर्व मुझसे जर्मनी के एक कुशल राजनीतिज्ञ ने कहा था कि मुझे नाज़ीवाद से नहीं वरन् साम्यवाद से भय है। यदि जर्मनी कम्युनिस्टों से परास्त हो जाता है और उस पर कम्युनिस्ट अधिकार हो जाता है तो युरोप भी कम्युनिस्ट हो जायगा। कारण यह है कि अन्य देशों की अपेक्षा जर्मनी इसे अधिक अच्छे रूप में कार्यान्वित करेगा। जर्मनी को धिक्कारने में हमें जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। हम जर्मनी का एक मित्र की भांति स्वागत करेंगे।"

(सार्वजनिक धारा-सभाभवन में लायड जार्ज,
नवम्बर २८, १९३४)

नाज़ीवाद के उत्थान की श्रेणियाँ—नाज़ी आन्दोलन का सुसंगठित रूप से प्रारंभ बवेरिया में हुआ। उत्तरी जर्मनी इसकी जन्मभूमि नहीं है यद्यपि यह आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर उत्तरी जर्मनी में ही पहुँचा परन्तु इसका जन्म बवेरिया में हुआ। इसका पिता अन्टोन ड्रेक्सेलर (Anton Drexeler) था। यह एक ताला बनानेवाला लोहार था। ध्यान देने का विषय है कि जर्मनी के उस उग्र प्रचरित आन्दोलन का जनक एक लोहार था कि जिसके बीभत्स रूप को देखकर युद्धकाल में बड़े बड़े राष्ट्र थरथरा रहे थे। इस आन्दोलन की प्रारंभिक नीव १९१९ में पड़ी थी। उस समय इसके केवल २८ सदस्य थे। आन्दोलन का भी कोई विशेष लक्ष्य न था।

१९१९ में इसी स्थान पर कुर्ट ईजनर (Kurt Eisner) ने अपनी क्रांतिकारी एवं स्वतन्त्र समाजवादी सरकार बनायी थी। तत्पश्चात् कुछ दिनों के लिए साम्यवादी सरकार को पदच्युत कर सामाजिक प्रजातन्त्र सरकार ने अपना पैर जमाया। सामाजिक प्रजातन्त्र सरकार का भी जीवन अधिक समय का न रहा। इसे हटाकर समाजवादी मंत्रिमंडल स्थापित हुआ। ऐसी परिस्थिति के बीच हिटलर ने नाजीदल का संगठन प्रारंभ किया था। हिटलर आस्ट्रिया निवासी था। यह बहुत कुलीन घराने का नहीं था। १९१२ में यह आस्ट्रिया से जर्मनी में आया। प्रथम विश्व-महासमर में यह एक सैनिक था और नायक का पद उसको प्राप्त था। युद्ध में इसे योद्धा पदक भी प्राप्त हुए थे। सर्वप्रथम जब यह नाज़ी दल में सम्मिलित हुआ तो उसमें केवल ६ सदस्य ही सक्रिय थे अन्य सदस्य निष्क्रिय थे। प्रारंभ में जब हिटलर ने इस दल का संगठन प्रारंभ किया था तो इस दल की कोई निर्धारित नीति न थी। इसकी एकमात्र विशेषता यह थी कि १९१८ की जर्मनी की पराजय को यह पराजय नहीं स्वीकार करता था। इस दल का यह विशिष्ट सिद्धान्त था कि जर्मनी राष्ट्र तथा जर्मन निवासी अजेय हैं। इनको युद्ध में कोई भी नहीं परास्त कर सकता। प्रारंभकाल में यह दल कभी बवेरिया को जर्मन सत्ता से अलग करने में संलग्न हो जाता था और कभी जर्मन राष्ट्र-निर्माण में। कुछ समय पश्चात् इस दल ने यह निश्चित कर लिया कि जर्मन राष्ट्रनिर्माण ही हमारा उद्देश्य है। १९२० तक इस दल का यह लक्ष्य अत्यन्त स्पष्ट हो गया।

१९२३ में लूडेन डोर्फ जो एक घोर सेनावादी था इस दल में सम्मिलित हुआ। लूडेन डोर्फ गत युद्ध में एक अच्छे अधिकारी पद पर आसीन था। हिटलर की क्रियात्मक प्रणाली को देखकर यह नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी (National Socialist German Workers' Party), जैसा कि नाज़ीदल का उस समय नाम था, की ओर अत्यंत आकर्षित हुआ। लूडेन डोर्फ ने इस आन्दोलन को सैनिक रूप प्रदान किया। तत्कालीन सरकार को अपदस्थ करने के लिए १९२३ में हिटलर ने एक षड्यन्त्र की रचना की। बवेरिया की सरकार को इस षड्यन्त्र का पता लगा गया और उसने इस आन्दोलन को कुचल दिया। हिटलर ने जिस क्रांति के लिए षड्यन्त्र रचा था वह स्थगित हो गई। हिटलर बन्दी बनाकर कारागार में भेज दिया गया। उसे ५ वर्ष के लिये कठिन कारावास का दण्ड मिला परन्तु कुछ दिनों पश्चात् वह कारागृह से मुक्त कर दिया गया।

कारागृह के स्वतन्त्र समय में उसने मेन काम्फ (Mein Kampf) नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक भावी नाजी कार्यक्रम की तालिका बन गयी। इस पुस्तक में उसने नाजीवाद के उद्देश्य तथा लक्ष्य को निश्चित रूप से निर्धारित कर दिया। भविष्य के समस्त नाजीवाद के कार्य उक्त पुस्तक के आधार पर ही किये गये।

कारागृह से मुक्त होते ही हिटलर ने अपने दल का पुनः संगठन प्रारम्भ कर दिया। शनैः शनैः इस दल में अनेक अन्य दलों का सम्मिश्रण होता गया और उसी के अनुसार उस दल का नाम भी बदलता गया। सर्वप्रथम १६१६ में इस दल का नाम जर्मन वर्कर्स पार्टी (German Workers' Party) था। तत्पश्चात इस दल का नाम १६२० में (National Socialist German Workers' Party) नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी पड़ा। कालान्तर में इस दल का पुनः नामकरण हुआ। कालान्तर में यही दल नाजी दल के नाम से संसार में विख्यात हुआ। इस दल के कार्यक्रम को प्रारम्भ में सर्वप्रथम गाट फ़्राइट फेडर ने उग्रकारी रूप में जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया था। यद्यपि उस समय यह जर्मनी की मानहानि का प्रतिक्रियात्मक कार्य ही समझा जाता है परन्तु नाजीवाद के भावी कार्यक्रम का बीज उसमें छिपा था। उस समय का नाजी-दल-कार्यक्रम गाटफ़्राइड फेडर (Gottfried Feder) ने १५ परिच्छेदों में दिया था जिसमें व्यवसायिक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति आदि के हरण के प्रस्ताव किये गये थे। प्रारम्भ में किसी ने इस आन्दोलन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया तथापि यह प्रस्ताव स्पष्टरूप से मित्र शक्तियों के विरोध में थे। निम्न और मध्यम कोटि के लोगों का झुकाव इस आन्दोलन की ओर विशेषरूप से रहा और प्रायः वही लोग इस आन्दोलन के दीप बने और इसे सफल बनाया। इस आन्दोलन में विशेषतया विद्यार्थी तथा सैनिकवर्ग के लोगों ने भाग लिया। उच्च तथा धनिक वर्ग के लोग इस आन्दोलन में बहुत कम आये। उच्च वर्ग के लोग यद्यपि इस दल में प्रत्यक्षरूप से नहीं आये परन्तु उन्होंने इसके परिवर्धन में किसी प्रकार की बाधा भी नहीं उपस्थित की। अपरंच वे समय समय पर इस दल को सहायता ही देते रहे। अनेक विद्यार्थी इस दल में केवल इस हेतु आये कि इस दल की प्रवृत्ति सैनिक थी। उन्हें इसके कार्यक्रम में इतना आकर्षण न था जितना कि इस दल की सैनिक प्रवृत्ति में। विगत युद्ध के सैनिक पदाधिकारियों ने इस दल में सम्मिलित होकर इस दल को प्रमुखतया सैनिक बना दिया। उन्होंने इस दल को सैनिक वेष-भूषा

में रंग दिया जिससे दर्शकों का आकर्षण बढ़ा और वे उत्साहपूर्वक नाज़ीदल में सम्मिलित होने लगे। दल की शक्ति बढ़ाने के लिए अन्य उपाय भी प्रयुक्त हुए। दल की शक्ति बढ़ाने के अनेक प्रकार के विज्ञापन तथा प्रकाशन किये गये। हिटलर तथा अन्य नेताओं की वाक्पटुता ने उमंग भरे देश के नवीन वीरों में प्राण भर दिये; वे अपने प्राणों की आहुति देने के लिए प्रहर्षित हो प्रांजलि के साथ हिटलर के वचनों के पालन के लिए सन्नद्ध हुए।

१९२८ के साधारण चुनाव में नाज़ीदल, जर्मन पीपल्स मूवमेन्ट फॉर फ़्रीडम (German People's Movement for Freedom) के साथ मिलकर ३२ सदस्य धारासभा में उपस्थित कर पाया था। परन्तु नाज़ीदल से इस दल की अनबन हो गई और १९१८ के निर्वाचन में जर्मन पीपल्स मूवमेन्ट फॉर फ़्रीडम दल ने हिटलरदल का साथ छोड़ दिया अतः उस समय केवल १२ सदस्य ही नाज़ीदल के धारा सभा में निर्वाचित हो सके। परन्तु नाज़ीदल की शक्ति १९१८ के पश्चात् बड़े वेग से परिवर्धित हुई। १९१८ के पश्चात् संसार में एक प्रकार का आर्थिक संकट आ पड़ा। संसार की समस्त व्यवहृत वस्तुओं का अवमूल्यन हो गया। जर्मनी देश के लिए यह महान् कष्ट का समय था। जर्मन प्रदेश में सर्वत्र वाह्य संपत्ति व्यवहृत होती थी। सरकार का प्रत्येक कार्य परराष्ट्र ऋण पर अवलम्बित था। अमेरिका के पूंजीपतियों ने अपनी पूंजी वापस ले ली और दिये हुए ऋण का ब्याज माँगना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार जर्मनी प्रदेश पर एक आर्थिक विपत्ति का वज्र टूट पड़ा और तत्कालीन सरकार इस विपत्ति का सामना न कर सकी। नाज़ी दल ने इस अवसर का पूर्ण लाभ उठाया। उन्होंने तत्कालीन दुःख का कारण तत्कालीन सरकार को बताया और उसे जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए धूम से प्रचार किया। फलतः १९३२ के चुनाव में जो जुलाई के महीने में हुआ था नाज़ीदल के २३० सदस्य निर्वाचित हुए। हिटलर हिन्डेनबर्ग के विरुद्ध सभापतित्व के लिए खड़ा हुआ। नाज़ीदल के पक्ष में कुल १/३ करोड़ पत्र प्राप्त हुए। वह केवल अल्पसंख्या से ही समस्त संख्या के अर्धभाग से कम था। हिटलर ने सरकार का विरोध किया और इस विरोध का फल यह हुआ कि १९३२ के नवम्बर मास में पुनः सदस्यों का चुनाव हुआ जिसमें नाज़ी दल के सदस्यों की संख्या १९६ थी और नाज़ी दल को कुल पौने दो करोड़ मत प्राप्त हुए थे। इसका अर्थ लोगों ने यह लगाया कि नाज़ी दल अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त हो चुका और शनैः शनैः उसकी शक्ति घटती ही जायगी। यदि

देश की आर्थिक स्थिति सँभल जाती तो संभव था ऐसा ही होता परंतु परिस्थिति धीरे धीरे और विकट होती गयी और हिंडेनबर्ग को वाध्य होकर हिटलर को मंत्रिमंडल में स्थान ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। हिटलर ने इस पद को स्वीकार नहीं किया। वह वड़ा ही दूरदर्शी था। उसको विश्वास था कि हिंडेनबर्ग को उसके सहयोग की आवश्यकता है। हिटलर के असहयोग में हिंडेनबर्ग को किसी भी नीति का अनुसरण करना कठिन हो गया। ३० जनवरी को पुनः निर्वाचन हुआ। पौने दो करोड़ मत नाजियों को प्राप्त हुए और संसद में २८८ नाजी सदस्य निर्वाचित हुए। हिंडेनबर्ग ने पुनः हिटलर से चान्सलर बनने के लिए अनुरोध किया और हिटलर ने इस बार इस पद को स्वीकृत कर लिया। इस वार हिटलर ने ५२ राष्ट्रवादी सदस्यों को मिलाकर अपना मंत्रिमण्डल बनाया। हिंडेनबर्ग ने भी हिटलर को मंत्रिमण्डल बनाने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाई। कारण यह था कि हिंडेनबर्ग का राष्ट्रवादी मित्र वान पेपन जिस पर उसे पूर्ण विश्वास था मंत्रिमण्डल में उपयुक्त स्थान पर नियुक्त हुआ। वान पेपन उपचान्सलर नियुक्त हुआ और उसे प्रशा का कमिश्नर निर्वाचित किया गया। यद्यपि वान पेपन प्रशा का कमिश्नर था परन्तु वहाँ की वास्तविक शक्ति नाज़ी कप्तान गोरिंग के हाथ में थी। वान पेपन केवल नाम मात्र का ही शासक था। जनवरी १९३३ से जब से हिटलर शक्तिशाली बना तभी से उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। क्रमशः वह जर्मनी का एकमात्र अनन्य शासक बन गया।

प्रारंभ में हिटलर का मंत्रिमंडल वड़ा शांत था परन्तु कुछ समय व्यतीत होने पर उसका रूप नितांत परिवर्तित हो गया। दुर्भाग्य से केन्द्रीय संसद भवन में अग्निकाण्ड हो गया और इसे साम्यवादियों का षड़यन्त्र बताकर साम्यवादी दल पर प्रतिबंध लगा दिया गया। राष्ट्रपति ने जनता के अधिकारों पर भी प्रतिवन्ध लगा दिया। सरकार ने Enabling Act (इनेबलिंगऐक्ट) संसद में स्वीकृत कराने के लिए संसद का पुनर्निर्वाचन कराया। यह निर्वाचन मार्च १९३३ को हुआ। इस बार ५२ प्रतिशत नाज़ी सदस्य संसद में आये और संसद ने Enabling Act (इनेबलिंग ऐक्ट) प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया। इस धारा के अनुसार संसद के सारे अधिकार मंत्रिमण्डल को प्राप्त हो गये। इस धारा के स्वीकृत होने पर संसद एक निष्क्रिय संस्था बन गयी और कुछ समय बाद वह सदैव के लिए समाप्त कर दी गयी। केन्द्रीय सरकार पर तो हिटलर का इस प्रकार अविरोध प्रभुत्व हो ही गया था, कुछ

दिन पश्चात् हिटलर हिन्डेनवर्ग की मृत्यु के उपरान्त जर्मनी का राष्ट्रपति भी बन गया। अब उसके अधिकार द्विगुण हो गये। इस समय वह राष्ट्रपति तथा मंत्रिमंडल का प्रधान दोनों स्वयं ही बना हुआ था। संसद ने तो अपने समस्त अधिकार पूर्व ही मंत्रिमंडल को समर्पित कर दिये थे। अब वह जर्मनी का अनन्य शासक बन गया था। उसे एकमात्र चिंता षड्यन्त्रों की रह गयी थी। इसके लिए उसने पहले ही गुप्तचर नियुक्त कर रखे थे जो प्रत्येक बात की सूचना हिटलर को दिया करते थे। १९३४ के वसंत ऋतु में कुछ षड़यंत्रकारी बन्दी बनाये गये और अभियुक्तों को हिटलर की उपस्थिति में ही प्राण-दण्ड दिया गया। इस प्रकार केवल १५ वर्ष के अनन्तर (१९१९-३४) हिटलर राष्ट्र का अनन्य शासक बन गया। नाजीदल के अतिरिक्त अन्य दलों पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिये गये। प्रान्तीय सरकारें पूर्णरूप से केन्द्रीय सरकार के आधीनस्थ कर दी गयीं। संसद के प्रत्येक अधिकार मंत्रिमंडल को दे दिये गये। मंत्रिमंडल का सर्वस्व चान्सलर था। हिटलर ने चान्सलर तथा राष्ट्रपति दोनों स्थानों का एकीकरण कर दिया था। अतः स्वयं हिटलर ही जर्मन सरकार बन गया था।

हिटलर ने अनुशासन पूर्णरूप से पालन होने के लिए समस्त विभागों पर नाजीदल के सदस्य नियुक्त कर दिये। न्यायविभाग, रक्षाविभाग तथा शिक्षाविभागों में नाजीदल की प्रचुरता हो गयी। प्रायः सभी विभागों से अनार्य निष्कासित कर दिये गये। पीपल्स कोर्ट (जन-न्यायालय) नामक एक नये न्यायालय की स्थापना की गयी। विरोधियों को इस न्यायालय में दण्ड दिया जाता था। विश्वविद्यालय तथा अन्य समस्त शिक्षालय मंत्रिमण्डल के आधीन तथा उसके निरीक्षण में कर दिये गये। इस प्रकार १९३४ तक जर्मनी के प्रत्येक कण में नाजीदल व्याप्त हो गया। मनुष्य जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं था जिस पर नाजीदल का कठोर नियंत्रण न लग गया हो। इस प्रकार जो दल १९१९ ई० में एक लोहार द्वारा प्रारंभ किया गया था १९३४ ई० तक जर्मन भूमि में प्रचण्ड रूप से छा गया था। जब से हिटलर शक्ति में आया तभी से नाजीदल तथा नाजी राष्ट्र परराष्ट्रों के लिए अनवरत रूप से कंटक की भाँति खटकने लगा था। हिटलर ने पुनः जर्मन सैनिकता को उत्कर्ष दिया और उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। शनैः शनैः उसने निकटवर्ती राष्ट्रों पर विजय प्राप्त की और १९३९ में द्वितीय महासमर का कारण बना। १९४५ में हिटलर महासमर में परास्त हुआ और नाजीदल सदैव के लिए परास्त हो गया।

राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) का अर्थ—नाजीवाद कोई सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित वाद नहीं है। ठीक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वह किन मूलभूत सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। नाजीवाद हमारे सम्मुख वर्साई संधि की प्रतिक्रिया के रूप में आया। उस समय यूरोप की प्रजातन्त्र संस्थाओं में जो दोष थे उनके विरोध में यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आन्दोलन उठ खड़े हुए। रूस के इस आन्दोलन ने साम्यवादी रूप धारण किया। इसका रूप इटली में फासीवाद के रूप में आया। स्पेन में इसने राजतन्त्र का रूप धारण किया और जर्मनी में यह नाजीवाद के नाम से पुकारा गया। वस्तुतः नाजीवाद का कोई दर्शन नहीं है। यह एक प्रकार का आन्दोलन था। नाजीवाद की प्रायः प्रत्येक वस्तु इटली के फासीवाद से मिलती-जुलती है। केवल रूप में थोड़ा सा अन्तर है। यदि नाजीवाद को फासीवाद का रूपान्तर कहा जाय तो अनुचित न होगा। फासीवाद इटली की भूमि पर जिस रूप में था जर्मनी की भूमि पर उसी रूप में नहीं पनप सकता था। जिस प्रकार किन्हीं-किन्हीं जन्तुओं को अपनी प्राण-रक्षा के लिए निवास स्थान की वनस्पति के अनुरूप अपने रंग को परिवर्तित करना पड़ता है उसी प्रकार फासीवाद को जर्मनी की भूमि पर जर्मनी के रंग में रँगना पड़ा। फासीवाद तथा नाजीवाद के मूलतत्वों में विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर केवल दोनों वादों के रंग में है।

नाजीवाद का दूसरा नाम राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) था। नाजीदल को राष्ट्रीय समाजवादी दल के नाम से पुकारते भी थे। नाजीवाद को पूर्णतया समझने के लिए हमें राष्ट्रीय समाजवाद का समझना अत्यन्त आवश्यक है। यही नाजीवाद का आधारभूत सिद्धान्त है। यही उसका प्रचार है, और यही नाजीवाद का प्राण है। इस वाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं:—

१—एक घोर सर्वाधिकारवादी राष्ट्र का निर्माण करना।

२—तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) का विरोध करना।

३—तत्कालीन उदार नीति (Liberal policy) का विरोध करना।

एक पत्रकार जर्मनी की राष्ट्रीय समाजवादी नीति को निम्न शब्दों में प्रदर्शित करता है:—"सैनिक तथा अनियन्त्रित शासन जर्मनी की परम्परा रही है। प्रधानतया यह बात प्रशा के लिए लागू होती है परन्तु हम उन उपायों से पूर्णरूप से परिचित हैं जिनके द्वारा बिस्मार्क ने जर्मन राष्ट्र

का एकीकरण किया। वही अधिकार-पिपासा जर्मन जाति में जागृत है। इसी के साथ समाजवाद का वह पक्ष जिससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि राष्ट्र का कर्तव्य आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन में भी है, सम्मिलित हैं। यह जर्मनी की सर्वदा स्थिर रहनेवाली समस्या है। इसके अतिरिक्त जर्मनी की अनेक अस्थिर समस्याएँ भी हैं। यह समस्यायें समय-समय पर विशेष महत्वपूर्ण क्रीड़ाएँ उत्पन्न करती रहती हैं। समय के साथ इन अस्थिर समस्याओं में परिवर्तन भी हुआ करता है। National Socialism (राष्ट्रीय समाजवाद) अपनी भावनाओं से परिपूर्ण जर्मनी में ही उत्पन्न हो सकता था। परन्तु इसकी प्रमुख विशेषता युद्धोत्तर यूरोप के पुनर्निर्माण में राष्ट्रीय तथा समाजवादी भावनाओं के सम्मिश्रण में है। अन्तर्राष्ट्रीयता एक छायामात्र है। वास्तव में राजनैतिक क्षेत्र में इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। अतः हमें नवीन राष्ट्रीयता की ओर ध्यान देना चाहिए जो वास्तविक तथा गंभीर है। यह साम्राज्यवादी भी नहीं है। इसका आकर्षण आर्थिक नीति पर है और राष्ट्रीय जीवन की सेवा ही इसका लक्ष्य है। अतः सूक्ष्म रूप से इसका कार्य व्यक्तिवादी उदार युग द्वारा छोड़े हुए आर्थिक संकट, जिसके कारण समाज में एक क्रांति मची हुई है, का निवारण करना है। ···नाज़ीदल ने जो इस समय अपने जातीय-जागृति के उद्देश्य को प्राप्त कर लिया है वह नितांत पृथक् वस्तु है। यह आन्दोलन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण आधारभूत विचारों का प्रतिनिधि है। वित्त तथा व्यापार संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय प्रत्यक्ष घटनाओं को ध्यान में रखते हुए, जर्मनों को एक नवीन आर्थिक व्यवस्था की ओर जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा सामाजिक न्याय के नियमों से निर्धारित हो, देखने से अब अधिक समय के लिए नहीं रोका जा सकता। पिछले अक्तूबर मास से जर्मनी को व्यापारिक आयात तथा निर्यात संग्राम में महान् क्षति पहुँची है। प्रत्यक्ष प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए तथा राजनैतिक, आर्थिक सत्यता को देखते हुए कोई भी मनुष्य देश के स्वावलम्बी होने की नीति का विचार नहीं कर सकता। राष्ट्रीय मितव्ययिता जिसकी व्यवस्था जर्मनी के लिए की गयी थी, ऐसी असहनीय खींचा-तानी में पल गयी कि जर्मनी को पिछले वर्षों में महान् क्षति उठानी पड़ी और इससे जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था क्षीण हो गयी।" †

१९१४-१८ की क्रांति प्रायः अन्तर्मुखी थी। इसका ध्येय देश की

---

† फ़ोर्टनाइटली रिव्यू, सितम्बर १९३२।

सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा ही था। रूस में उस समय साम्यवादी सरकार थी। संसार व्यापी साम्यवाद का प्रचार हमें इसीलिए सुनने में आता था कि रूस अपनी प्रणाली की रक्षा चाहता था। उसे पर-राष्ट्रों से भय था। यह भय इसलिए था कि पर-राष्ट्र साम्यवादी प्रणाली की आलोचना करते थे। अतः उसे भय था कि साम्यवादी व्यवस्था तथा प्रणाली को निकटवर्ती राष्ट्र कहीं नष्ट न कर डालें। इसी प्रकार पूर्व में जापान भी डर रहा था कि कहीं प्राचीन सभ्यता नष्ट न हो जाय। यद्यपि मंचूरिया में वह आधुनिक तथा नवीन यूरोपीय शस्त्रों का प्रयोग कर रहा था परन्तु उसे यूरोपीय रीति प्रिय न थी। वह यूरोपीय ढंग के वस्त्रों का प्रयोग नहीं चाहता था। भारत में महात्मा जी ने यूरोपीय नियन्त्रण के विरुद्ध आन्दोलन चलाया और उन्हें भी प्रायः उन्हीं लोगों से सहायता मिली जिन्हें यूरोपीय वेषभूषा आदि प्रिय नहीं थी।

इटली की क्रांति एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया थी। यह उदार तथा प्रजातन्त्र सत्ता, जिसके लिए इटली अभी परिपक्व नहीं हुआ था, के विरोध में थी। इसी प्रकार जर्मनी का नाज़ीवाद आन्दोलन भी अपनी चिरसंचित संपत्ति की रक्षा के लिए था। उसकी यह संपत्ति वित्त प्रधान न थी वरन् भावना प्रधान थी। गांधी जी के यरवदा चक्र की भाँति हिटलर अपनी साधारणता की ओर लौटना चाहता था। सब से अधिक महत्व की वस्तु इस क्रांति में यह थी कि यह भौतिकवादी आन्दोलन की प्रतिक्रिया थी। जर्मनी की क्रांति रूस की घोर भौतिकवादी प्रणाली के विरोध के लिए की गयी थी।

ऐसे देश में जहाँ निर्यात पर देशवासियों का जीवन अवलम्बित हो देश के स्वावलम्बन की बात सोचना कितना भ्रमपूर्ण है? ऐसे देश को स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा करना उस देशवासियों की जीविका की अवस्था को समुद्र के गर्त में ढकेलना नहीं तो और क्या है? परन्तु नाज़ीवाद इसका तर्कपूर्ण समाधान करता है। संसार का व्यापार आजकल निशाचरों के हाथ में चला गया है। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई है। किसी भी देश में शांति नहीं है। अतः जर्मनी को इस व्यापार पर आश्रित नहीं होना है और इस कष्टमय काल के निवारण के लिए जर्मन निवासियों को कष्टसहन की क्षमता प्राप्त करनी होगी। उनको कष्टसहन में ऐसा प्रवीण होना है कि कष्ट उनके लिए स्वाभाविक बन जाय। आपत्तिकाल के निवारण के लिए इस प्रकार नाज़ीवादियों ने जीवन का एक नवीन दर्शन जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया।

(Liberalism) उदारतावाद केवल शब्दों का आडम्बरमात्र है। उदारतावादी शक्तियाँ दूसरे देशों पर अपना प्रभुत्व बनाये हुए हैं अतः इस उदारतावाद (Liberalism) का अर्थ है सशक्त राष्ट्रों का निःशक्त राष्ट्रों पर अधिकार। इस मत के अनुसार सशक्त शक्तियाँ ही स्वतन्त्र होने योग्य हैं और निशःक्त शक्तियाँ (राष्ट्र) दासत्व के ही योग्य। उदारतावाद ने मनुष्यों को दो विपरीत श्रेणियों में विभाजित कर दिया है। प्रथम वह श्रेणी जो नियंता है और द्वितीय वह श्रेणी जो नियंत्रित है। इन महान् शक्तियों के अधिकार की सीमा निश्चित नहीं है ; इन शक्तियों में आन्तरिक प्रबंध ऐसा है कि एक वर्ग का मनुष्य उत्पादन करता है और दूसरे वर्ग का मनुष्य उसका फल भोगता है। बिना किसी नवीन पद्धति के प्रचार के इस परम्परा को नहीं परिवर्तित किया जा सकता। महान् शक्तियाँ अधिक हैं और शोषण योग्य देशों की कमी है अतः इन महान् शक्तियों में संघर्ष आवश्यक है। इसी कारण से युद्ध हुआ और उसमें जर्मनी परास्त हुआ। मात्रा में सशक्त शक्तियाँ प्रधानतया केवल तीन हैं अन्य सभी शक्तियाँ इन्हीं तीनों (फ्रांस, अमेरिका तथा ब्रिटेन) की उपनिवेश मात्र हैं।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयतावाद भी केवल आडम्बर मात्र है। इस वाद का भी अभिप्राय अशक्त जातियों का शोषणमात्र ही है। ब्रिटिश उपनिवेश इसी शोषण के लिए अभी स्वतन्त्र नहीं किये गये। फलतः ब्रिटिश उपनिवेशों में राष्ट्रीय जागरण हो गया है और वे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के हेतु स्वतन्त्रता संग्राम में तन्मय हैं। रूस ने अपने को स्वावलम्बी बना लिया है। जर्मनी विजित देश होने के कारण अभी स्वावलम्बी नहीं हो सका है। इस देश को व्यापार के लिए उपनिवेश नहीं मिल पाते हैं। फलतः इसे राष्ट्रीय समाजवादी होने के लिए वाध्य होना पड़ा, समाजवादी इसलिए कि राष्ट्र को जनता के लिए आर्थिक व्यवस्था करना है। देश के भीतर के वर्ग (पूँजीपति वर्ग तथा निर्धन वर्ग) संघर्ष ने राष्ट्रीय-संघर्ष का रूप धारण कर लिया है। निर्धन देशों ने पूँजीपति देशों के विरोध में क्रांति कर दी है। उस क्रांति के कारण जातीयता बड़ी उग्र हो चुकी है। इस क्रांति में महान् शक्तियाँ एक दूसरे को सहायता प्रदान कर रही हैं। वे एक दूसरे को बराबरी की दृष्टि से देखती हैं। वे निर्धन देशों के शोषण में एक दूसरे से ऐसे सहमत हैं जैसे यन्त्र के चक्र की दंतियाँ एक दूसरे से सहमत होती हैं और एक दूसरे के साथ ही चलती हैं। जर्मनी में समाजवाद ने एक नवीन ढंग से अपने कार्य को प्रारंभ कर दिया है जो इसके प्रतिकूल है।

"A conquered and oppressed people has no place either for an internationally-minded and internationally organised commerce or for an internationally-minded and internationally organised working class. Both must be re-organised on the national basis" (Hans Zahrer, June 1933)

"एक विजित तथा दलित जनसमूह में अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थित व्यवसाय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थित श्रमजीवी वर्ग के संघों के लिये स्थान नहीं है। यह अत्यन्त अनिवार्य है कि दोनों राष्ट्रीय आधार पर पुनर्व्यवस्थित किये जायें।" (हैन्स ज़ेहरर १९३३ जून)

अतः यह आवश्यक है कि राष्ट्र के अन्तरंग में व्यक्तिगत वर्ग-संघर्ष न हों। इससे राष्ट्र को क्षति पहुँचेगी।

नाज़ीवाद यह प्रतिपादित करता है कि आधुनिक क्रांतियाँ मध्यम वर्ग द्वारा चलायी जाती हैं। कारण यह है कि पूंजीपति सुसंगठित थे और श्रमजीवी भी सुसंगठित थे, केवल मध्यम वर्ग असंगठित था। अतः इसी वर्ग को विशेष क्षति उठानी पड़ी। इटली के फासीवाद तथा जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवाद ने रूसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से अपना संबंध विच्छेद कर लिया। नाज़ीवाद अपना समर्थन विशेषतः निम्न मध्यम वर्ग से पाता था। अतः इसका पराक्रम पूर्व के अन्य आन्दोलनों से अधिक था।

यह नया राष्ट्रीय समाजवाद प्राचीन समाजवाद द्वारा व्यवस्थापित वर्ग-संघर्ष को अस्वीकार करता है। मध्यम वर्ग पराजय के पश्चात् इतना निर्धन हो गया है कि इससे अब कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। अब श्रमजीवी वर्ग ही राष्ट्र का सर्वस्व हो गया है और उसमें तथा राष्ट्र में अब अन्तर नहीं रह गया है। अतः वर्ग-संघर्ष के विषय में कुछ सोचना ही मूर्खतापूर्ण है। नया राष्ट्रीय समाजवाद राष्ट्र संघर्ष में विश्वास करता है। यह संघर्ष राष्ट्र की आर्थिक स्वतन्त्रता के हेतु चल रहा है। सम्भव है संघर्ष के समय जीविका का आदर्श कुछ कम हो जाय।

"Large estates can no longer be defended when hundreds of thousands of men demand land for settlement purposes. Great wealth has no right to exist when nine-tenths of the people are poor;

large salaries can n o longer bepaid when the average income has fallen to a low level; and the security of a small class cannot be maintained if the existence of the rest of the people has become insecure. This form of Socialism does not appeal to social resentment, to the instincts of the lower class and to its desire to climb, but it insists upon social justice in order to bring about national unity. It cannot promise the worker that he will be rich but it promises him that he will be free."

—Hans Zahrer.

"बड़े बड़ भूपतियों की रक्षा अधिक समय तक नहीं हो सकती जब कि लक्ष-लक्ष जनता जीविकोपार्जन के लिए भूमि चाहती है। अपार सम्पत्तिशालियों को रहने का क्या अधिकार है जब कि जनता का ६० प्रतिशत भाग निर्धन है। बड़े बड़े वेतन अधिक समय तक नहीं दिये जा सकते जब कि औसत आय का स्तर अति नीचा हो गया है, तथा एक छोटे से वर्ग की सुरक्षा नहीं की जा सकती जब कि अन्य मनुष्यों का जीवन ही सुरक्षित नहीं है। इसी प्रकार का समाजवाद सामाजिक असंतोष को नहीं भड़काता न निम्न श्रेणी के लोगों की ऊपर चढ़ने की अस्फुट इच्छा को उकसाता है वरन् राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने के लिए यह न्माययुक्त सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता पर ज़ोर देता है। यह श्रमजीवियों को यह आशा नहीं दे सकता कि वह संपत्तिवान बन जायेंगे वरन् उन्हें यह आशा दिलाता है कि वे स्वतन्त्र हो जावेंगे।"

हैंन्स जहरर।

आश्चर्य इसमें नहीं है कि यह नवीन समाजवाद जातीय एकता तथा आर्थिक एकता के आधार पर राष्ट्रीय एकीकरण का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। आश्चर्य तो इसमें है कि जनता ने बड़े संतोष के साथ इस नवीन समाजवाद के दर्शन को स्वीकार कर लिया। परन्तु जनता ने तो सदैव ही किसी न किसी प्रणाली का अनुसरण किया है। यदि हम विचार करें तो हमें पता चलेगा कि संसार के प्राय: सभी धर्मों हिंदू, मुसलमान, सिख तथा ईसाई, में किसी न किसी रूप में अन्धविश्वास उपस्थित है और हम उन्हें

अन्धविश्वास स्वीकार भी करते हैं। परन्तु फिर भी हम अपने धर्म से विमुख नहीं होना चाहते। हम उसी अन्धविश्वासी धर्म की मर्यादा की रक्षा करना चाहते हैं। यदि जर्मनों ने अपने राष्ट्रीय समाजवाद रूपी धर्म में विश्वास कर लिया तो आश्चर्य ही क्या ?

नाज़ीवाद तथा अन्य सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ—नाज़ीवाद तत्कालीन सभी राजनैतिक संस्थाओं को दोषपूर्ण देखता है। साम्यवादी संस्थाएँ इसलिए दोषपूर्ण हैं कि वह जनता में वर्गसंघर्ष के सिद्धांतों को प्रतिपादित करती हैं, इस संघर्ष से जातीय एकीकरण जो राष्ट्रीय समाजवाद के अनुसार आवश्यक है, नहीं हो सकता। इस संघर्ष से राष्ट्र को आर्थिक क्षति पहुँचती है।

उदार प्रजातन्त्र संस्थाएँ इसलिए दोषपूर्ण हैं कि वे व्यक्तित्व पर अधिक ध्यान देती हैं जिसका अर्थ यह है कि समाज के निर्धनों का धनिकों द्वारा शोषण। समाज में कुछ धनी लोग हैं जिनकी क्रयशक्ति महान् है और अधिकांश ऐसे हैं जिनके पास क्रयशक्ति नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उदार नीति का पालन करना निर्धनों का शोषण करना है। लक्ष्मीपति निर्धनों को एक निश्चित वेतन पर काम करने के लिए बाध्य कर देते हैं। वह उनको उतना ही वेतन देते हैं जिससे उनकी जीविका चल जाय। निर्धन होने के कारण यह राजनैतिक परतन्त्रता में भी पड़ जाते हैं। उनके पास इतना धन नहीं होता कि वह किसी निर्वाचित क्षेत्र से सदस्यता के लिए खड़े हो सकें और एक धनी प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध निर्वाचन क्षेत्र में मत प्रदान कर सकें। धनिक अनेक प्रकार के षड़यन्त्रों द्वारा अपना निर्वाचन करा सकता है जो एक निर्धन के लिए दुर्लभ है। आधुनिक पार्लियामेंट पद्धति में धनिकों का ही प्रभुत्व है। ऐसी पद्धति जिन देशों में है उनमें केवल धनिक वर्ग के लोगों के लिए ही समस्त सुविधाएँ हैं। देश की अधिकांश जनता इन लक्ष्मीपतियों की आधीनता में दासत्व के दुःख भोग रही है। इसी प्रकार आधुनिक अन्तराष्ट्रीय संस्थाओं में भी इन्हीं धनिक देशों का और परोक्ष रूप से धनिक वर्ग का ही सर्वस्व है। निर्धन देश और निर्धन जनता तो दासता की शृंखला में बद्ध है। अतः उदार तथा प्रजातन्त्र संस्थाएँ जनता को दासत्व की शृंखला में बाँधे हुए हैं। वह निर्धनों का शोषण कर रही हैं।

नाज़ीवाद सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) है। राष्ट्र ही जनता का सर्वस्व है। व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र से अलग कुछ भी नहीं है। राष्ट्र व्यक्ति का ईश्वर है। जनता को राष्ट्र की सेवा का ही अधिकार है, फल

प्राप्त करने का अधिकार उसको नहीं है। निवेदन का जो कुछ प्रतिफल राष्ट्र दे दे वही पर्याप्त है। जनता का कार्य अपने कर्तव्यों को पूर्ण करना है। अधिकार प्राप्त करना उसका कर्तव्य नहीं है। इस सिद्धान्त ने "जर्मनी को बहुत महान् बना दिया और जर्मनवासियों को अतिन्यून।"

नाज़ीदल राष्ट्र तथा जनता में सामञ्जस्य स्थापित करता था। यह दल दोनों (राष्ट्र तथा निवासियों) के विचार विनियम का साधन था। इस दल का प्रमुख ही राष्ट्र प्रमुख था। दल के अधीनस्थ सदस्यों का कार्य राष्ट्र प्रमुख के शब्दों का जनता द्वारा अक्षरशः पालन करना था। यह दल देश में इस प्रकार व्याप्त था कि अन्य दल जर्मनी की भूमि पर किसी भी प्रकार पनप ही नहीं सकता था। यदि कोई किसी अन्य दल की स्थापना का प्रतिपादन करता था तो उसे तीन वर्ष के कठिन कारावास का दण्ड दिया जाता था और उसे जर्मनी देश में रहना कठिन हो जाता था। इस दल का प्रवन्ध प्रजातन्त्र प्रणाली से नहीं होता था। इसका प्रबन्ध ऊपर से नीचे की ओर था, नीचे से ऊपर की ओर नहीं। हिटलर के शब्द ही सब कुछ थे। अन्य कोई उनमें किंचितमात्र भी परिवर्तन नहीं कर सकता था।

देश की समस्त संस्थाएँ राष्ट्र संस्था के हित के लिए थीं। राष्ट्र-विमुख होकर कोई भी संस्था नहीं रह सकती थी। यहां तक कि धार्मिक संस्थाएँ भी राष्ट्र के अधीन कर दी गयी थीं। गिरजाघरों के उच्च पदाधिकारी भी राष्ट्र की ओर से नियुक्ति पाते थे। प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनेक पदाधिकारी नाज़ीदल के सदस्य नियुक्त कर दिये गये थे। इससे जनता में बड़ा हाहाकार मच गया और फिर सरकार ने अपनी नीति बदली। हिटलर को भगवान् माना जाता था। "Hitler is a new, a great and a more powerful Jesus Christ" हिटलर एक नवीन, एक बड़ा तथा अधिक शक्तिशाली ईसा है।

जर्मन देश में अनार्यो के लिए कोई स्थान न था। नाज़ीवाद ने एक नवीन सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था जिसके अनुसार आर्य ही सर्व-श्रेष्ठ और सर्वोन्नत जाति है। अन्य जातियाँ पशुओं से कुछ ही अधिक उन्नत हैं। अन्य जातियों में न तो शारीरिक बल ही अधिक है न और मानसिक ही। आर्य जाति में ही सभी गुण पाये जाते हैं। आर्य शारीरिक तथा मानसिक बल में अन्य लोगों से बहुत आगे हैं। जर्मनी में अधिकांश आर्य ही हैं। अन्य जातिवाले अथवा अनार्य इस देश की उन्नति के लिए घातक हैं। यहूदी लोग अनार्य हैं अतः इनको जर्मनी में रहने का कोई भी अधिकार नहीं है। यह जर्मनी की उन्नति में बाधक सिद्ध होंगे। इसी आधार पर

यहूदी लोगों को जर्मनी से निर्वासन की आज्ञा दी गई थी। डाक्टर विल्लीवाड हेन्सचल (Dr Willibacd Hentschel) लिखते हैं "एक सहस्त्र शुद्ध जर्मन रुधिरवाली लड़कियों को पकड़ो। उनको एक एकान्त शिविर में स्थान दे दो। तत्पश्चात् उनसे और जर्मनों, जो शुद्ध जर्मन हैं, से संयोग कराओ। यदि इस प्रकार के सौ भी शिविर स्थापित हो जांय तो एक बार में लाखों शुद्ध जर्मन रुधिर के बच्चे उत्पन्न होंगे।" ऐसे मूर्खतापूर्ण सिद्धान्तों पर राष्ट्र की नीति निर्धारित करनेवालों के लिए क्या कहा जाय ? जर्मनी को नवीन नीति निर्धारण में जिन लोगों ने दार्शनिक तर्क उपस्थित किये वे ही अनार्य थे। इनके अतिरिक्त जर्मनी में अनेकों प्रतिभाशाली पुरुष हुए हैं जो दैवात् अनार्य थे। दूसरे अनेकों जर्मन ऐसे हैं जो शुद्ध आर्य होते हुए भी अप्रतिभ हैं।

नाज़ीवाद आन्दोलन इतना घोर सर्वाधिकारवादी तथा व्यापक था कि कुटुम्ब तथा परिवार भी उसके नियंत्रण से नहीं बच सके। नारी-धर्म की इति श्री केवल शुद्ध रुधिर के शिशु उत्पादन में ही समझी जाती थी। हिटलर के अनुसार माताओं की शिक्षा निम्न प्रकार की होनी चाहिए—"स्त्री शिक्षा में हमें प्रमुख ध्यान उसकी शारीरिक उन्नति पर देना चाहिए। तत्पश्चात् आध्यात्मिक और मानसिक उन्नति पर ध्यान देना आवश्यक है। मातृत्व ही स्त्री शिक्षा का उद्देश्य है।"

शिक्षाविभाग पूर्णरूप से नाज़ीवाद द्वारा आवृत्त था। मेन कैम्फ (Mein Kampf) नाजीवाद की गीता मानी गई है और इसी पुस्तक में हिटलर ने अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है। डाक्टर रस्ट Dr. (Rust) जो प्रशा का शिक्षामंत्री था मार्च १९३३ में अपने विभाग को निम्न आज्ञा देता है :—

"मैं पाठशालाओं के कुलपतियों को यह सूचित करता हूँ कि वे विद्यालय के पाठ्य पुस्तक सम्बन्धी नियम का यथेष्ट पालन करें। नेता की (Mein Kampf) मेन कैम्फ नामक पुस्तक को अनिवार्य रूप से प्रथम स्थान दिया जायगा। यह अनिवार्य है कि कुछ दिन में ही प्रत्येक लड़का तथा लड़की इस पुस्तक का अध्ययन कर ले। प्रत्येक शिक्षक के लिए यह आवश्यक है, वह सच्चे राष्ट्रीय समाजवाद जैसा कि इस पुस्तक में प्रतिपादित है, के प्रमुख सिद्धान्तों को समझाये।"

जनता के साधारण व्यसन साधनों पर भी नाज़ीवाद का प्रकोप हो गया। सचल-चित्र-प्रदर्शन (Cinema), पाठशाला, नृत्यशाला तथा साहित्य

आदि सभी स्थलों पर नाज़ीवाद का प्रभाव था। ये स्थान नाज़ीधर्म के प्रचार के लिये अत्यन्त उत्तम समझे गये थे। अध्ययन पुस्तकों में नाज़ी प्रचार संबंधी वस्तुएँ आवश्यक थीं। प्राय: प्रत्येक जर्मन प्रत्येक दिन १५० बार हेल हिलटर (Heil Hitler) के नारे लगाता था। यहाँ तक कि जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं था जहाँ नाज़ीवाद का पाँव न अड़ा रहा हो। फासीवाद व्यापकता में नाज़ीवाद से अत्यन्त पीछे था। परन्तु यह नाज़ीवाद की चरम अवस्था थी। उसका पतन शीघ्र ही आने वाला था। बुझते समय दीपक अधिक दीप्तमान हो जाता है।

नाज़ीवादी परराष्ट्र नीति--नाज़ीवादी दर्शन के अनुसार युद्ध अनिवार्य है। युद्ध ही मनुष्य का उच्चतम आदर्श है। युद्ध से ही मनुष्य का उत्थान संभव है। शांति में मनुष्य पतित हो जाता है, युद्ध के ये सिद्धान्त मेन कैम्फ में प्रतिपादित किये गये हैं। उस पुस्तक के कुछ अवतरण नाज़ीवादी परराष्ट्रनीति का दिग्दर्शन कराने के लिए उद्धृत किये जा रहे हैं।

प्रथम "निरन्तर युद्ध से ही मानव समुदाय महान् बना है। शाश्वत शांति में मनुष्य समुदाय का पतन हो जायगा।"

इसी सिद्धान्त को कर्नल हर्ल ने फाउन्डेशन आफ़ जर्मन वार पालिटिक्स में इस प्रकार विकसित किया है—

संतोष दो प्रकार के होते हैं। एक संतोष कायरता के कारण होता है जो प्राकृतिक संतोष कहलाता है। तथा द्वितीय संतोप मिथ्या होता है जो दिखावट के लिये उपयुक्त होता है। यह कृत्रिम संतोष होता है। यह द्वितीय प्रकार का संतोष युद्ध का अमोघ अस्त्र तथा शस्त्र है। इस शस्त्र के प्रयोग से शत्रु सुरक्षा की चेतना नहीं रखता। शत्रु केवल धूम्र पट के निष्प्रयोजन प्रयोग से ही वशीभूत हो जाता है और आक्रमणकारी को अपने अन्य-अस्त्र-शस्त्रों को छिपाने का अवसर मिल जाता है।"

परन्तु दुःख की वात है कि जर्मनी परराष्ट्र नीति में इस अमोघ शक्ति का प्रयोग नहीं कर सका।

नेता की मेनकैम्फ नामक पुस्तक से हमें उसके परराष्ट्र नीति सम्वन्धी अन्य मन्तव्यों का भी आभास मिलता है।

द्वितीय युद्ध ही संधि का ध्येय था। जर्मनी परराष्ट्र से मैत्री केवल युद्ध के लिये करता था। "वह संधि जिसका अभिप्राय युद्ध नहीं है निरर्थक तथा निष्प्रयोजन है।"

तृतीय जर्मन परराष्ट्र नीति का मुख्य ध्येय अन्य राष्ट्रों को जो सुसैन्य थे नष्ट करना था।

"जर्मन राजनीति अपने वाह्य विकास के लिये सदैव और सर्वदा यह घोषित करेगी कि यूरोप महाद्वीप में दो स्थल शक्तियाँ नहीं रह सकतीं और न जर्मनी उसे रहने ही देगा। जर्मनी की राष्ट्र सीमा पर किसी सैन्य शक्ति की व्यवस्था करना चाहे वह राष्ट्र निर्माण के ही रूप में हो जर्मनी पर आक्रमण करना है। तुम प्रत्येक प्रकार से ऐसे राष्ट्र के अस्तित्व की संभावना को नष्ट करने का प्रयत्न करो। ऐसा करने का तुम्हारा अधिकार और तुम्हारा कर्तव्य भी है। तुम ऐसे प्रयत्न में शस्त्र का भी प्रयोग कर सकते हो यदि ऐसा राष्ट्र निर्मित हो चुका है तो तुम उसे पुनः नष्ट कर दो।"

चतुर्थ उपनिवेशों की पुनर्प्राप्ति के हेतु युद्ध अनिवार्य था। "यह अनिवार्य तथा स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाना चाहिए कि भगवान से प्रार्थना करने से अन्तर्राष्ट्रीय संघ हमारे खोये हुए उपनिवेशों को नहीं लौटायेगा।"

"दलित प्रान्त प्रार्थना करने से साम्राज्य की गोद में नहीं आयेंगे। उनको लाने के लिये एक पैनी कृपाण की आवश्यकता है। इस कृपाण का प्रयोग जनता की गृहनीति से संबंधित है। यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यह प्रयोग पूर्ण प्रतिम् के साथ किया है। परराष्ट्रीय नीति के लिये हमें शस्त्र में सहायकों की आवश्यकता है।"

पञ्चम जर्मन परराष्ट्र नीति का लक्ष्य अन्य देशों पर विजय प्राप्त करना था।

"युद्धोत्तर (१९१८ के महायुद्ध) के पूर्व जर्मन प्रदेशों को प्राप्त करना जर्मन परराष्ट्र नीति का ध्येय है। इन उपनिवेशों को प्राप्त करने से भूमि जनता की संख्या की अनुरूपता में आ जायगी।"

षष्ठ जर्मन परराष्ट्र नीति का उद्देश्य १९१४ में प्राप्त किये हुए प्रदेशों तक ही सीमित न था। जाति के विचार अपर्याप्त थे।

"१९१४ की सीमा प्राप्ति का अनुरोध तो राजनैतिक

उन्माद मात्र है। १६१४ की देश की सीमा तर्क-युक्त थी। परन्तु वास्तव में वह न तो जातीय एकीकरण के विचार से पूर्ण थी और न सामरिक भौगोलिक परिस्थित के विचार से ही उचित थी। १६१४ की जर्मन सीमा भविष्य के जर्मनी के हेतु है अन्य कुछ भी नहीं है।"

इसका अभिप्राय यह है कि १६१४ की जर्मनी की सीमा जर्मनी के भविष्य के विस्तार का एक साधन मात्र है। जर्मनी जब १६१४ की सीमा को प्राप्त कर लेगा तो उसे भविष्य में अभिवृद्धि के लिए अवसर मिल जायगा।

सप्तम

जर्मनी की परराष्ट्र नीति नवीन देशों की विजय के लिये थी। यह देश-विजय प्रायः पूर्वी देशों की विजय की ओर लक्ष्य करके थी। यह नीति विशेषतः रूसी प्रान्त तथा अन्य निकटवर्ती देशों की विजय के लिये थी।

"जर्मनी की यह औपनिवेशिक नीति केवल यूरोपीय भूमि पर ही कार्यान्वित हो सकती है। यदि किसी प्रकार का उपनिवेश यूरोप में प्राप्त किया जा सकता है तो वह रूस को ही हानि पहुँचाकर हो सकता है।"

"हमें अपनी दक्षिण-पश्चिम की निरन्तर यात्रा को समाप्त कर पूर्व के देशों पर दृष्टि डालनी चाहिए। जब हम यूरोप में भूमि के विषय में विचार करते हैं तो हमारे सम्मुख रूस तथा उसकी सीमा पर अन्य पूर्वी राज्य ही दिखायी पड़ते हैं। यहीं हमारा भाग्य हमें अग्रसर होने के लिये निर्देश देता है। पूर्व का यह महान् राष्ट्र नष्ट होने के लिये परिपक्व हो गया है।"

अष्टम

अपनी साम्राज्यवादी नीति के लिये जर्मनी इटली तथा ग्रेटब्रिटेन से संधि चाहता था जिससे कि फ़्रांस जो उसका घातक शत्रु था अकेला पड़ जावे। इससे सामरिक क्रियाओं के लिये महत्वपूर्ण स्थलों की सुरक्षा हो जायगी।

"ग्रेटब्रिटेन जर्मनी को, संसार की महान शक्ति के रूप में नहीं देखना चाहता था परन्तु फ्रांस हमें शक्तिहीन बनाना चाहता है। दोनों देशों की दृष्टि में महान् अंतर है। इस समय हमें संसार की शक्ति के लिये आकांक्षा नहीं करना है वरन् अपने अस्तित्व के लिये प्रयत्न करना है। हमें अपनी जाति का

एकीकरण करना है। हमें अपने बच्चों की रोटी का प्रबंध करना है। यदि हम इस दृष्टि से यूरोप की ओर देखते हैं तो हमें केवल दो सहायक दिखाई पड़ते हैं। प्रथम ग्रेटब्रिटेन तथा द्वितीय इटली।"

नवम जर्मनी की परराष्ट्र नीति का नवम लक्ष्य जो मेन कैम्फ नामक पुस्तक के अन्तिम अध्याय से प्रगट होता है, संसारव्यापी साम्राज्य था।

"जर्मनी अनिवार्य रूप से संसार में अपना स्थान प्राप्त करेगा यदि वह इस पुस्तक में दिये गये सिद्धांतों के अनुसार व्यवस्थित तथा अनुशासित किया गया।"

"जातीय विष के युग में जो राष्ट्र अपने उत्तमतम जातीय तत्वों को समुन्नत करेगा वह अवश्यमेव एक दिन संसार का प्रभु होगा।"

मेनकैम्फ नामक पुस्तक में दिये गये इन सिद्धांतों से द्वितीय युद्ध पूर्व जर्मनी की परराष्ट्र नीति अत्यन्त स्पष्ट हो गयी है। नाज़ीवाद ने सर्वप्रथम अपने देशवासियों को जाग्रत करने के लिये राष्ट्रीय समाजवाद के आडम्बर मय सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। पर उस नीति को परराष्ट्र नीति में नहीं माना। परराष्ट्रनीति में उसने अत्यन्त उग्र साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। यदि इस स्थल पर कुछ उद्धरण नाज़ीवादी सरकार द्वारा दिये गये वक्तव्यों तथा आदेशों से उद्धृत कर दें तो उक्त पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धांतों का स्पष्टीकरण हो जायगा।

"तृतीय साम्राज्य क्रिश्चियन जर्मन साम्राज्य का भविष्य होगा। यह साम्राज्य मध्य युग के जर्मन साम्राज्य तथा विस्मार्क के साम्राज्यवादी साम्राज्य का उत्तराधिकारी होगा। और यह मध्य यूरोप स्थित सब जातियों का एकीकरण कर देगा।"

(नेशनल सोशलिस्ट पोलिटिकल ए० वी० सी०, पृ० २६)।

"जातीय ऐश्वर्य के लिये उपनिवेश की आवश्यकता है।............इस संघर्ष में अयोग्य पोल तथा चैक लोगों का कुछ भी विचार नहीं किया जा सकता।.........जर्मन कृषकों के लिये स्थान रिक्त हो जाना चाहिए।"

(अलफ्रेड रोज़ेनवर्ग)

आज तक संसार में इतने स्पष्ट रूप से किसी राष्ट्र ने भी अपनी नीति नहीं निर्धारित की थी। साम्राज्यवादी परराष्ट्र नीति तो अनेक राष्ट्रों

की थी और है परन्तु किसी राष्ट्र ने अपनी नीति को इतने स्पष्ट शब्दों में न व्यक्त किया था और न करता है। इतने उग्र विचार होने पर भी किसी राष्ट्र ने जर्मनी की इस नीति में हस्तक्षेप नहीं किया। इसका कारण हम नाज़ीदल के उत्थान में समुचित रूप से दे चुके हैं। उसके पुनर्विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

जर्मनी ने शनैः शनैः अपनी नीति को क्रियात्मक रूप दिया। उसने वर्साई की संधि के अनेक नियमों का उल्लंघन किया। जर्मनी को अस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित किया और जर्मनी को एक महान् सैन्यबल बना दिया। १९३४ की जनवरी में रूस पर आक्रमण करने के लिये पोलैण्ड की सरकार से संधि हुई। डॉलफस की हत्या करा कर आस्ट्रिया पर अधिकार करने की निष्फल चेष्टा की गई। जन-मत-गणना (Flebiscite) कराकर १९३५ में सार प्रान्त जर्मनी में पुनः मिला लिया गया। १९३५ में आँग्ल-जर्मन नाविक संधि हुई जिसमें जर्मनी को इंगलैण्ड के ३५% प्रतिशत नाविक शक्ति का अधिकार प्राप्त हुआ। मार्च १९३६ में लोकार्नो की संधि को दोषपूर्ण घोषित कर राइन प्रदेश में पुनर्सैन्य स्थापित किया गया। तत्पश्चात् आस्ट्रिया, डानज़िग, पोलैण्ड, बेलजियम, फ्रांस आदि देशों पर जर्मनी ने विजय प्राप्त की और महासमर प्रारम्भ हो गया। यूरोपीय भूमि पर महासमर छिड़ते ही पूर्व में जापान ने भी सहायक राष्ट्रों के प्रतिकूल युद्ध घोषित कर दिया। सहायक राष्ट्रों में प्रमुख इंगलैण्ड, फ़ांस, अमेरिका, रूस तथा चीन थे और धुरी शक्तियों में जापान, जर्मनी तथा इटली।

युद्ध के प्रारम्भ में धुरी शक्तियों की बड़ी तीव्रता के साथ विजय होती रही परन्तु अन्त में धुरी शक्तियों की पराजय हुई और धुरी शक्तियों के प्रदेश पर सहायक शक्तियों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। जर्मनी की पराजय १९४५ में हुई। जर्मन राष्ट्र की पराजय के साथ साथ उस वाद का भी अन्त होगया जिसपर यह अवलम्बित था। कहा नहीं जा सकता कि भविष्य में क्या प्रतिक्रिया होगी।

नाज़ीवाद तथा उसकी नीति का जर्मनी को यही प्रतिफल मिला है।

अध्याय २०

राष्ट्रवाद

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में राष्ट्रवाद का प्रचार हुआ। उससे पूर्व राष्ट्रवाद को कोई जानता भी न था। सन् १७७२ में पोलैण्ड का विभाजन हुआ उसी समय से पोलैन्ड निवासियों को यह अनुभव हुआ कि "हम लोग एक जाति के हैं और एक देश के हैं। हमारी सभ्यता और संस्कृति समान है। हमारी भाषा और परंपरा गत रीति रिवाज समान है अतः हमको विभक्त करना अन्याय है।" इसके पश्चात् फ्रांस की क्रांति में फ्रांस के लोगों में राष्ट्रीयता के भावों का विकास हुआ और शनैः शनैः ये विचार संपूर्ण यूरोप तथा संसार के अन्य भागों में फैल गये।

राष्ट्र, राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रवाद—अठारहवीं शताब्दी के अन्त में केवल एक देश में रहने वाले समान सभ्यता और संस्कृति को मानने वाले तथा समान भाषा बोलने वाले और परम्परागत रीति रिवाजों के मानने वाले लोगों को राष्ट्र समझा जाता था। अतः सर्वप्रथम राष्ट्र के अस्तित्व के लिये पाँच बातें आवश्यक समझी जाती थीं—देश, सभ्यता, संस्कृति, भाषा और परम्परागत रीतिरिवाज। इसके पश्चात् इन पाँच बातों में धर्म भी सम्मिलित किया गया और राष्ट्र के लिये ये छः बातें अत्यन्त आवश्यक समझी जाने लगीं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रीयता के विचारों में कुछ परिवर्तन हुआ। 'राष्ट्र' और 'जाति' दो भिन्न-भिन्न बातें समझी जाने लगीं। 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ, 'एक राजनीतिक रूप में संगठित मनुष्य समाज जो एक देश में रहता हो और जो स्वतंत्र हो अथवा स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा हो" ऐसा समझा जाने लगा। 'जाति' शब्द में राजनीतिक कल्पना का सम्मिश्रण न रहा। एक समान रीति रिवाज वाले, समान भाषा बोलने वाले समान सभ्यता और संस्कृति को मानने वाले जिनका वंशीय मूल एक हो, ऐसे मनुष्य समुदाय के लिये 'जाति' शब्द का प्रयोग होने लगा। ब्लंशली (Bluntschli) ने जाति की परिभाषा इस प्रकार की है "एक परम्परागत मनुष्य समाज जिसमें भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले लोग सम्मिलित हों,

जिनके विचार, भाव, तथा स्वभाव एक से हों, जिनका जातीय मूल एक हो, जिनकी भाषा, रीति रिवाज और सभ्यता समान हों, और भूमि अथवा निवास-स्थान का विचार करके वह समाज यह अनुभव करता हो कि हम एक हैं और अन्य विदेशियों से बिल्कुल भिन्न हैं, ऐसे मनुष्य-समाज को जाति कहेंगे" * । अतः राष्ट्र (nation) और जाति (nationality) समान नहीं हैं। इन दोनों शब्दों में भेद है। राष्ट्र (nation) एक स्वतंत्र तथा स्वशासित देश को कहते हैं उसमें अनेक जाति (nationality) के लोग भी हो सकते हैं। स्विटजरलैन्ड एक राष्ट्र है वहाँ इतालियन, फ्रेंच तथा जर्मन जाति के लोग रहते हैं।

जिस प्रकार राष्ट्र और जाति में भेद है उसी प्रकार राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीयता में भी भेद है। राष्ट्र और जाति का भेद हमारे सामने दो भिन्न भिन्न कल्पनायें उपस्थित करता है। राष्ट्र में देशभक्ति का सम्मिश्रण है। एक राष्ट्र के लोगों में देशभक्ति के विचारों का होना आवश्यक है। 'जाति' में देशभक्ति के विचारों का होना आवश्यक नहीं है। परन्तु राष्ट्रवाद में देशभक्ति के विचारों की पराकाष्ठा होती है। राष्ट्रवादी लोग अपने देश के प्रेम में इतने अन्धे होते हैं कि वे अपने देश के हित के लिये दूसरे देशों पर अत्याचार करने को भी उद्यत हो जाते हैं। राष्ट्रवादी लोग अपने देश को देवता के समान समझते हैं उसके लिये अपने को बलिदान करने के लिये उद्यत रहते हैं। केवल यही नहीं राष्ट्रवादी अपने देश को राष्ट्र मानते हैं। भिन्न भिन्न जातियों का विचार न करके सब जाति के लोग मिलकर रहते हैं। भिन्न भिन्न भाषा रीति, रिवाज, सभ्यता, तथा संस्कृति के होते हुए भी राष्ट्रवादी आपस में अपने देश की उन्नति करने के लिये प्रेमपूर्वक रहते हैं। अन्य देशों तथा राष्ट्रों से अपने को बिलकुल भिन्न समझते हैं। अन्य राष्ट्रों से वे लोग अधिक सम्पर्क स्थापित करना स्वदेश के लिये अहितकर समझते हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी ने राष्ट्रवाद को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। यहाँ तक कि इस बात पर जोर दिया कि जर्मनी एक देश, एक दल, (party) एक राष्ट्र, एक भाषा-भाषी ही रहेगा। इनकी सभ्यता तथा संस्कृति भी एक ही रहेगी। इन विचारों से उत्तेजित होकर जर्मन निवासियों ने जो कुछ किया वह सब को विदित है।

---

* ब्लंशली—थ्योरी ऑफ़ दी स्टेट, पृष्ठ ६०।

राष्ट्रवाद के मूलतत्व—प्रत्येक सिद्धान्त के कुछ मूलतत्व हुआ करते हैं जिनके आधार पर वह सिद्धान्त स्थापित होता है। राष्ट्रवाद के मूलतत्व निम्नलिखित हैं:—

१. स्थानीय भूगोल—किसी देश के भूगोल का उस देश के निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक विशेष भूभाग में रहने वाले लोगों में परस्पर प्रेम हो जाता है और वे उस प्रेम के बंधन का अनुभव करते हैं। मनुष्य जिस ग्राम, नगर अथवा देश में जन्म लेता है उसे अपनी मातृ-भूमि अथवा पितृ-भूमि कहकर संबोधित करता है। जर्मन अपने देश को पितृ-भूमि कहते हैं। भारतवासी अपने देश को मातृ-भूमि कहते हैं। सम्भव है अपने देश में रहते हुए मनुष्य इस बात का अनुभव न करे परन्तु जब मनुष्य अपने देश से बाहर जाता है तब उसे पता चलता है कि मातृ-भूमि अथवा पितृ-भूमि बंधन क्या वस्तु है। जब हमें विदेश में अपने जन्मस्थान का कोई मिल जाता है तो उसके प्रति हमको बड़ा प्रेम होता है उसे अपने कुटुम्बी के समान समझते हैं। संसार में देखने में आता है कि जन्मभूमि का बन्धन बड़ा महत्व रखता है। यह बन्धन राष्ट्रीयता के भावों का जन्मदाता है और राष्ट्रीयता का मूल आधार है। एक विशेष भूभाग में रहने वाले अपने को अन्य भूभाग के रहने वाले लोगों से बिल्कुल भिन्न समझते हैं, चाहे उनका वंशीय मूल एक ही क्यों न हो। संसार के प्रत्येक भाग में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। अपने ही प्रान्त मे कमाऊँ और गढ़वाल के निवासी अपने को एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न समझते हैं। पहाड़ों और देशी (Hillman and plainsman) का प्रश्न बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। यूनान और रोमन में प्राचीन काल में पहाड़ी लोग अपने को देश के निवासियों से बिल्कुल भिन्न समझते थे और एक दूसरे को दूरस्थ विदेशियों की भाँति समझते थे। भौगोलिक परिस्थिति के कारण प्राचीन काल में यूनान के नगर राज्यों में आपस में बड़ा भेद भाव था। स्पार्टा (Sparta) नगर के रहने वाले ऐथन्स (Athens) नगर-निवासियों से अपने को भिन्न मानते थे। उनके रहन-सहन तथा शासन पद्धति बिल्कुल भिन्न थी। स्पार्टा निवासी शारीरिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देते थे और ऐथन्स निवासी मानसिक अथवा बौद्धिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देते थे।

मैजिनी (Mazzini) आधुनिक राष्ट्रवाद का जन्मदाता कहा जाता है उसका मत है कि "हमारा देश हमारी जन्म-भूमि है, यह घर हमें

ईश्वर ने दिया है। उसने इसमें एक बड़ा कुटुम्ब उत्पन्न किया है जिससे हम प्रेम करते हैं और जो हमें प्रेम करता है, जिसके साथ हमें सहानुभूति है, जिसे हम अन्य कुटुम्बों की अपेक्षा अधिक भली भाँति समझते हैं, जो एक निश्चित स्थान पर केन्द्रित हैं और समान जीवन व्यतीत करते हैं। हमारा देश एक सर्व-सामान्य कर्मशाला है, जहाँ ऐसी वस्तुओं का उत्पादन होता है जो संसार के काम आती है और जहाँ ऐसे उपकरण एकत्र हो सकते हैं जिनकी उपयोगिता का पूर्ण प्रयोग हो सकता है।" * बिना निश्चित भूमि के वास्तव में राष्ट्रीयता के भाव जागृत नहीं हो सकते हैं। यूरोप की भ्रमण करने वाली जिप्सी (Gypsies) जातियों में राष्ट्रीयता के भाव नहीं हैं क्योंकि वे किसी निश्चित भूभाग पर निवास नहीं करते हैं। टंड्रा की एस्किमो (Eskimos) जातियों में भी राष्ट्रीय भावना का अभाव है क्योंकि वे लोग भी चलते फिरते रहते हैं और किसी एक ही निश्चित स्थान पर निवास नहीं करते हैं और न कर ही सकते है। उन लोगों की भौगोलिक परिस्थिति ऐसी है कि जिससे वे इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य हैं। बी-जोजफ (B. Joseph) का भी विचार है कि राष्ट्रीयता में भूमि बड़ा महत्व रखती है। वास्तव में किसी स्थान की भौगोलिक परिस्थिति का वहाँ के निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उस देश की जलवायु उनके रहन-सहन पर बड़ा प्रभाव डालती है। जलवायु के अनुसार उनका रहन-सहन, उनके उद्योग धंधे, उनके कारबार आदि सब बातों में समानता होती है और यही समानता उनमें भ्रातृभाव उत्पन्न करती है।

राष्ट्र के लिये निश्चित भूमि की आवश्यकता तो अवश्य है परन्तु सम्पूर्ण संसार की भूमि को राष्ट्रीयता के अनुसार विभाजित करना बड़ी भारी भूल है। इसी भूल के कारण संसार में बड़े-बड़े अत्याचार और महा-युद्ध हो चुके हैं और हो सकते है। प्रोफेसरहेज (Professor Hayes) ने राष्ट्रीय निर्माण के लिये भौगोलिक आधार का विरोध किया है।

२—समान संस्कृति—संस्कृति भी राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण आधार है। मनुष्यों के समान विचार तथा समान आदर्श उनका राष्ट्रीय संगठन करने में बड़े सहायक होते हैं। प्रोफेसर हेज ने संस्कृति को राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण आधार बतलाया है। उसका कथन है कि मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय जिसकी संस्कृति समान है, वास्तव में एक राष्ट्र का स्वरूप है। संस्कृति

---

* मैजिनी—लाइफ ऐण्ड राइटिंग्स, पृष्ठ २७६।

की समानता में केवल विचारों की ही समानता सम्मिलित नहीं है। संस्कृति में बहुत बातें सम्मिलित हैं। संस्कृति में मनुष्यों के परम्परागत रीतिरिवाज, साहित्य, प्राचीन कथाएँ तथा गाथाएँ आदि अनेक बातें सम्मिलित हैं। जिनकी संस्कृति समान होती है उनके विचारों में भी समानता होती है। यह तो एक साधारण अनुभव की बात है कि जिन लोगों के विचार समान होते हैं उनमें आपस में परस्पर मित्रता हो जाती है। विचारों की समानता मनुष्यों का परस्पर संगठन करने में बड़ी सहायक होती है। जिस प्रकार भौगोलिक परिस्थिति मनुष्य समाज का संगठन करने में और राष्ट्रीयता के भी उत्पन्न करने में सहायक होती है उसी प्रकार संस्कृति भी राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न करने में सहायक होती है। बी० जोजफ का विचार है कि राष्ट्रीय साहित्य, शिक्षा, संस्कृति तथा कलाकौशल राष्ट्रीयता के कारण तथा परिणाम हो सकते हैं। उसका कथन है कि राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीय-परम्परा को उत्पन्न तथा स्थित करने का प्रयत्न करके और राष्ट्र के लिए राष्ट्रीय इतिहास को प्रिय बनाकर राष्ट्रीयता की प्रगति में बड़ा सहायक होता है।* वास्तव में साहित्य राष्ट्र का गौरव है। वाल्टेयर (Voltaire) बड़े गौरव के साथ कहा करता था कि "हमारी भाषा तथा साहित्य ने शार्लिमन (Charlemagne) की अपेक्षा कहीं अधिक विजय प्राप्त की है।"

साहित्य के समान शिक्षा ने भी राष्ट्रीयता के भावों की उन्नति करने में बड़ी सहायता की है। शिक्षा द्वारा किसी देश अथवा जाति में राष्ट्रीयता के भाव फूँके जा सकते हैं। शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा लाभ भी हो सकता है और हानि भी। शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता के कलुषित तथा संकुचित विचार भी उत्पन्न किये जा सकते हैं और श्रेष्ठ विचार भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। बी० जोजफ का विचार है कि शिक्षा एक राष्ट्र में नैतिक ऐक्य स्थापित करती है, गुण अवगुण अथवा बुराई भलाई को समझने के ज्ञान का विकास करती है और राष्ट्र के व्यक्तियों में पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करती है। जब संस्कृति तथा साहित्य की समानता का ह्रास हो जाता है तभी राष्ट्र के व्यक्तित्व का भी ह्रास हो जाता है। राष्ट्रीयता के भाव किसी देश अथवा जाति में उसी समय तक रहते हैं जब तक उस देश व जाति के लोगों के विचार समान रहते हैं और उनके दृष्टि-कोण में समानता

---

* बी० जोजफ—नेशनैलिटी, पृष्ठ ११४।

रहती है। जब तक उनकी भावनाएँ, इच्छाएँ तथा प्रवृत्तियाँ समान रहती हैं तभी तक उनमें राष्ट्रीय संगठन रह सकता है। किसी राष्ट्र का नाश उसकी संस्कृति पर कुठारघात करके बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

३—समान भाषा—भाषा भी राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण अंग है। रैम्जे म्यूर (Ramsay Muir) का विश्वास है कि "एक राष्ट्र के ढालने में भाषा की समानता वंश की समानता से अधिक महत्व रखती है।" उसका विचार है कि समान भाषा होने से साहित्य, महान विचारों का अन्तर्बोध, परम्परागत गीत तथा कथाएँ व गाथाएँ समान होती हैं। जे० एच० रोज (J. H. Rose) का विश्वास है कि भाषा की समानता बड़ा राजनीतिक महत्व रखती है। बी० जोज़फ़ (B. Joseph) का कथन है कि "राष्ट्रीयता का सबसे महत्वपूर्ण तत्व भाषा है"। वास्तव में भाषा की समानता द्वारा मनुष्यों का संगठन होता है और उनमें राष्ट्रीयता के भावों का विकास होता है। सन् १९०५ में जब लार्ड कर्जन (Lord Curzon) ने बंग-भंग किया था उस समय बंगाली भाषा बोलने वाले लोगों का विभाजन हो गया था उन लोगों ने इस बात का बड़ा विरोध किया। बंगालियों का यह विश्वास हुआ कि हमारी राष्ट्रीयता पर कुठारघात किया जा रहा है। बंगालियों ने रुष्ट होकर बड़े-बड़े अराजकता के कार्य किये परिणाम यह हुआ कि बंगाल को फिर एक करना पड़ा। जर्मन बोलने वाले लोगों का एक राष्ट्र बनाने के लिये हिटलर (Hitler) ने बड़ा प्रयत्न किया था। आधुनिक काल में भी राष्ट्र निर्माण में भाषा जो कार्य कर रही है सब को विदित है। अभी तक भारतवर्ष में बहुत से लोग भाषा के आधार पर प्रान्त बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन लोगों का यह विश्वास है कि उनकी राष्ट्रीयता का अस्तित्व तभी स्थापित रह सकता है जब समान भाषा बोलने वालों को पृथक पृथक प्रांतों में विभाजित कर दिया जाय। इस प्रकार की संकुचित राष्ट्रीयता वास्तव में देश के लिये अहितकर है। कुछ लोगों का मत है कि "समान भाषा-भाषी लोग समान रूप से विचार करते हैं और समान रूप से अपने विचार प्रकट करते हैं, अतः समान भाषा बोलने वालों का आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, भाव, प्रवृत्तियाँ आदि समान होती हैं। ये बातें राष्ट्रीयता के विकास में बड़ी सहायक होती हैं। यह देखने में आता है कि एक राष्ट्र में इन बातों की समानता पाई जाती है। भाषा और भी महत्व रखती है। भाषा ऐतिहासिक परम्परा स्थापित रखती है और लोगों को प्राचीन काल के राष्ट्रीय महान पुरुषों का स्मरण करा कर राष्ट्रीयता के भाव जाग्रत रखती है।

भाषा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करने में सहायक अवश्य होती है परन्तु यह भी देखने में आता है कि भाषा की समानता का ह्रास भी राष्ट्र निर्माण में बाधक नहीं होता है। रूस में अनेक भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ एक राष्ट्र के बंधन में बँधी हुई हैं। स्विटजरलैंड में तीन भाषाएँ बोलने वाले लोग एक राष्ट्र बनाये हुए हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्य में भी एक से अधिक भाषा बोलने वाले लोग एक राष्ट्र बनाये हुए हैं। संसार में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि भाषा किसी भी प्रकार से राष्ट्र निर्माण में बाधक नहीं हो सकती है। इसीलिये जे० एच० रोज (J. H. Rose) का यह विचार है कि "शिक्षा का प्रचार होने से राष्ट्र-निर्माण में भाषा का महत्व कम हो जायगा।" बी० जोज़फ का कथन है कि "जो लोग एक भाषा बोलते हैं उनमें परस्पर स्वाभाविक आकर्षण होता है।" * वास्तव में जोज़फ का यह विचार सत्य है। मैं जब कभी अपने देश से सैकड़ों मील की दूरी पर होता हूँ और किसी को ब्रजभाषा बोलते हुए सुनता हूँ तो मेरा चित्त उसकी ओर आकर्षित हो जाता है और हृदय में यह भाव उत्पन्न होता है कि यह व्यक्ति हमारी तरफ़ का है। कभी-कभी तो मैं यह पूछने को भी विवश हो जाता हूँ कि "आपका निवासस्थान कहाँ है ?" पोलैंड में अब भी यह देखने में आता है कि उनमें भाषा के कारण ही राष्ट्रीयता के भाव जागृत है।

४—सामान्य वंश—राष्ट्र निर्माण में वंशीय समानता बड़ा महत्व रखती हैं। वंशीय मूल के आधार पर बहुधा प्राचीन काल में लोग संगठन किया करते थे और मध्य काल में भी वंश के आधार पर लोगों ने राष्ट्रीय संगठन किया था। प्राचीन काल में यूनान में केवल यूनानियों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। वहाँ विदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। यूनानी लोग विदेशियों को अन्य वंश का समझते थे। ए० ई० जिमर्न (A. E. Zimmern) ने राष्ट्र निर्माण के लिये वंशीय मूल को आवश्यक समझा है। रोज का विचार है कि सभ्यता की अनुन्नत दशा में वंशीय मूल राष्ट्र निर्माण के लिये आवश्यक समझा जाता था। बेल्जियम के प्रसिद्ध विद्वान् लैवेलिये (Laveleye) का विचार है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यों की संस्कृति की उन्नति होती जायगी त्यों-त्यों उनके इस विचार का ह्रास होता जायगा कि वंशीय मूल राष्ट्र-निर्माण के लिये आवश्यक है। वास्तव में आधुनिक काल में इस बात का उदाहरण कहीं नहीं मिलता जहाँ लोगों ने वंशीय मूल के आधार

* बी० जोजफ़—नेशनैलिटी, पृष्ठ ६१।

पर राट्र का निर्माण कर रखा हो। बीसवीं शताब्दी में हिटलर ने वंशीय मूल के आधार पर राष्ट्र की स्थापना करने का प्रयत्न किया था उसने शुद्ध आर्य जाति को एक राष्ट्र में संगठित करने का पूर्ण प्रयत्न किया परन्तु उसे इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त न हो सकी। मैजिनी का विचार है कि राष्ट्र निर्माण के लिये वंशीयमूल आवश्यक नही है ब्राइस (Bryce) ने अवश्य एक स्थान पर यह लिखा है कि राष्ट्रीय भावना के विकास में वंश भी कुछ महत्व रखता है। हेज (Hayes) का कथन है कि वंशीय मूल राष्ट्र निर्माण के लिये आवश्यक अंग नही है असभ्य जातियों मे ही एक वंश के लोग दिखाई पड़ते हैं। पिल्सबरी (Pillsbury) का बिचार है कि "साधारणतया राष्ट्रीयता की निर्धारित करने में वंश कोई महत्व नही रखता है। किसी राष्ट्र में भी एक वंश के लोग नही हैं सब स्थानों पर मनुष्य वर्णसंकर हैं। (Man is everywhere a mongrel)—अधिकांश विद्वानों कायही मत है कि वंश राष्ट्रीयता के लिये कोई विशेष महत्व नहीं रखता है। इस विचार के लोग स्विटजरलैन्ड, कनाडा, अमेरिका के संयुक्त राज्य, आदि देशों का उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं कि इन देशों में भिन्न-भिन्न वंश के लोग रहते हैं और वंशीय मूल की विभिन्नता राष्ट्रीयता के भावों में किसी प्रकार से बाधक नहीं होती इन देशों के लोगों में राष्ट्रीयता के भाव के भाव पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्यों में सभ्यता फैलती जायगी त्यों त्यों वंशीय मल का प्रभाव कम होता जायगा।

आधुनिक काल की परिस्थिति न भी वंशीय मूल के प्रभाव को कम कर दिया है। वर्तमान युग के भिन्न-भिन्न प्रकार के आविष्कारों ने संसार में राष्ट्रीयता के भावों में वड़ा परिवर्तन कर दिया है। उद्योग व्यापार की उन्नति तथा यातायात की सुविधा के कारण लोगों में राट्रीयता के संकुचित विचारों का ह्रास होता जा रहा है। अनेक अन्तराष्ट्रीय संवासों (associations) के स्थापित हो जाने से राष्ट्रीयवातों की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है और ऐसे ही विचारों की अधिक उन्नति होती जा रही है।

४—समान धर्म— इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि प्राचीन काल में राष्ट्र निर्माण में धर्म का वड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन काल में जब मनुष्य अनुन्नत दशा में थे तब केवल धर्म ही एक ऐसी वस्तु थी जिसके आधार पर लोग अपना राष्ट्रीय संगठन करते थे। समान धर्म के लोग अपने को संगठित करके अपने आप को राष्ट्र रूप में परिवर्तित कर लेते थे। प्राचीन समय में यूनान में ऐसे धर्मिक स्थान थे जहां

दूर दूर के लोग आकर एकत्र होते थे और एक ही प्रकार से उन धार्मिक त्योहारों को मानते थे। इस प्रकार यूनानियों में राष्ट्रीयता के भावों की जागृति रहती थी। ईसाई धर्म के स्थापित होने पर ईसाई राष्ट्रों (Christian Nations) और ईसाई राज्यों (Christian States) की स्थापना हुई। पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) की स्थापना इसी आधार पर हुई थी। ईसाई राज्यों में धर्म का इतना प्रभाव रहा कि किसी किसी राज्य में केवल ईसाइयों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते थे, अन्य मतवलम्बियों को नहीं। धर्म ने वास्तव में राष्ट्रीयता के भावों का विकास करने और उनकी उन्नति करने में बड़ी सहायता की है।

स्काटलैण्ड में प्रोटेस्टैन्ट धर्म तथा जान नाक्स (John Knox) के विचारों ने राष्ट्रीयता के भाव जागृत करने में बड़ी सहायता की थी। मुसलमानों ने संसार के अनेक भागों में धर्म के आधार पर राष्ट्रों की स्थापना की और बहुत समय तक मुस्लिम राष्ट्र स्थापित रहे। महाराजा शिवाजी के समय में धार्मिक विचारों ने मराठा राज्य को स्थापित करने में सहायता की। रामदास तथा गुरु कोणदेव ने महाराष्ट्र देश में धार्मिक विचारों का प्रचार करके राष्ट्र का उत्थान करने का उपदेश दिया। भारतवर्ष में अत्याचारी मुसलमान बादशाहों का विरोध करने के लिये धर्म की रक्षा के नामपर शक्तिशाली मराठा राष्ट्र का संगठन करके मराठा साम्राज्य स्थापित किया। महाराणा रणजीतसिंह ने सिक्खों को एकत्र करके और उनमें राष्ट्रीयता के भावों की पूर्ण जागृति करके सतलज नदी से लेकर अफगानिस्तान तक सिक्ख राज्य स्थापित किया। इस प्रकार इतिहास में अनेक उदाहरण ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि धर्म के आधार पर लोगों ने राष्ट्रीय-संगठन किया है और राष्ट्रीय राज्य (Nation States) स्थापित किये हैं। भारतवर्ष में बीसवीं शताब्दी में धर्म के नाम पर राष्ट्रीयता के भाव जागृत करके यहाँ के मुसलमानों ने पाकिस्तान की स्थापना की। परन्तु यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि जब जब धर्म के आधार पर राष्ट्रीय भावों को जागृत करके राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की गई तब तब बड़ा अत्याचार और रक्तपात हुआ है। धर्म के नाम पर जब जब संगठन किया गया और राष्ट्रीयता स्थापित की गयी तब तब अन्य धर्म के अनुयायियों की हत्या कर व उनके नाश करने का प्रयत्न कर शुद्ध धार्मिक राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करने का प्रयत्न किया गया और सहस्त्रों और लाखों निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बच्चों की हत्या की गयी।

इतिहास के पढ़ने से पता चलता है कि धर्म ने वास्तव में राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़ी सहायता की है और यह भी पता चलता है कि धर्म के आधार पर राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़े-बड़े अत्याचार भी हुए हैं और कुछ काल तक इन राष्ट्रों की उन्नति भी हुई है परन्तु अन्त में सब राष्ट्र नष्ट हो गये और आज संसार में ऐसे राष्ट्रों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता है।

धार्मिक संस्थाएँ राष्ट्रीयता के भाव जागृत करने में बड़ी सहायक होती हैं परन्तु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं यह धार्मिक संस्थाएँ धर्मान्धता के भाव उत्पन्न न कर दें जिससे अन्य धर्मावलम्बियों के साथ परस्पर वैमनस्य हो जाय।

६—समान आर्थिक स्वार्थ—आर्थिक हित भी मनुष्यों में राष्ट्रीयता के भाव जागृत करने में बड़ा सहायक होता है। मध्यकालीन यूरोप में आर्थिक हित के आधार पर लोगों ने राष्ट्रीय संगठन किया था। भिन्न-भिन्न जातियों तथा वंशों के लोगों ने वहाँ शिल्पि-संघ (Guilds) स्थापित किये थे। शिल्पि-संघ के सदस्यों ने अपने आपको राष्ट्र के रूप में संगठित करके निकाय राज्यों (Guild States) की स्थापना की थी। बहुत काल तक ये निकाय राज्य यूरोप में स्थापित रहे। जापान और आस्ट्रेलिया में आधुनिक काल में उनकी आर्थिक दशा ने उनमें राष्ट्रीयता के भाव जागृत किये हैं। जापान निवासी छोटे-छोटे द्वीपों में निवास करते हैं। उनकी जन संख्या की वृद्धि होने पर उनके निवासस्थान अथवा देश का विस्तार समुद्र में नहीं बढ़ सकता। उनको नवीन भूमि की आवश्यकता हुई। उन्हें अपने उद्योग-धंधों की उन्नति करने के लिये हाट, बाजारों की आवश्यकता हुई जहाँ वे अपने सामान की खपत कर सकें। इन विचारों ने सम्पूर्ण जापानी द्वीपों के निवासियों में एकता तथा राष्ट्रीयता के भाव फूंके। परिणाम यह हुआ कि जापान संसार में सबसे प्रसिद्ध और शक्तिशाली हो गया। उसने अपनी शक्ति का प्रयोग करके अपने राज्य का विस्तार बढ़ाने का प्रयत्न किया जिसमें वह असफल रहा। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया में भी वहाँ के लोगों की आर्थिक दशा ने उनमें राष्ट्रीयता के भावों का विकास किया। उन्होंने राष्ट्रीय संगठन किया और यह भी अनुभव किया कि यदि उनमें राष्ट्रीय संगठन न हुआ तो जापान आदि अन्य देशों के लोग आकर उनके देश की आर्थिक अवस्था का लाभ उठायेंगे और अन्त में वे हीन दशा को प्राप्त होंगे। अतः उनमें राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। उन्होंने अपने आपको पूर्ण रूप

से संगठित किया। इस समय आस्ट्रेलिया निवासी एक श्रेष्ठ तथा समृद्ध राष्ट्र के रूप में संगठित हैं। उन्होंने अपने राष्ट्र की जापान आदि अन्य देशों के आर्थिक आक्रमण से रक्षा करने के लिये भांति-भांति के ऐसे विधान बना रखे हैं कि अब उनके देश में अन्य देश अनुचित आर्थिक लाभ नहीं उठा सकते।

जहाँ आर्थिक स्वार्थ राष्ट्रीयता के भावों का विकास करने में और उनको स्थित रखने में सहायक होता है वहाँ यह बात भी है कि ऐसी दशा में लोगों के विचार संकुचित हो जाते हैं और ऐसी जाति कूप मंडूक की भांति सबसे पृथक् रहने का प्रयत्न करती है। आधुनिक काल में वही जातियां और राष्ट्र उन्नति कर सकते हैं जो अपने आपको संपूर्ण विश्व का एक महत्वपूर्ण अंग समझें। राष्ट्रीय विचारों की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की वृद्धि करना अधिक उपयोगी है।

७—एक शासन तथा सर्वोच्च सत्ता—एक शासन भी राष्ट्रीयता के भावों का विकास करने में बड़ा सहायक होता है। एक श्रेष्ठ शासक अपने सुशासन द्वारा राष्ट्रीयता के भाव फैलने में बड़ा सहायक होता है। महाराजा शिवाजी ने लोगों पर अच्छा शासन करके महाराष्ट्र में मराठा राज्य स्थापित किया। मराठा लोगों में राष्ट्रीय भावों का विकास किया और भारत के बहुत बड़े भाग में वह राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। सिक्खों के महाराजा रणजीत सिंह ने भी पंजाब में राष्ट्रीय खालसा राज्य की स्थापना की। एक श्रेष्ठ राष्ट्रीय राज्य में किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होता है। सब धर्मों को समान समझा जाता है। सब धर्मों के अनुयायियों के साथ समान व्यवहार किया जाता है और सब संप्रदायों के लोग अपने को एक राष्ट्र की प्रजा समझते हुए सच्ची देश-भक्ति के साथ अपने राष्ट्र की रक्षा करते हैं।

बीसवीं शताब्दी में हिटलर और मुसोलिनी ने भी अपने-अपने देश के लोगों में राष्ट्रीय भावों को उत्तेजित किया और राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु उन्होंने राष्ट्रीयता के संकुचित विचारों का प्रचार किया। उन्होंने अपने धर्म, भाषा, संस्कृति, सभ्यता, आदि को अन्य राष्ट्रों की जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, सभ्यता आदि से अधिक श्रेष्ठ समझा। सबको समान न समझकर अन्य लोगों पर अत्याचार करना आरम्भ किया। अपने अपने देशों में उन्होंने राष्ट्रीयता के अशुद्ध विचार फैला कर अन्य देशों

पर आक्रमण किया और अन्त में बालू की भीत के समान गिरे और उनका नाश हुआ।

अंग्रेजों ने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के भावों का ह्रास किया। विदेशी राज्य अपने स्वार्थ के लिये तथा अपने राज्य को दृढ़ तथा स्थायी रखने के लिये अधीन राज्य की जनता के आचरण को भ्रष्ट करने, उसकी संस्कृति का नाश करने और उनमें द्वेष फैलाने का प्रयत्न किया करता है। अंग्रेज शासकों ने भी भारत में यही कार्य किया। भारतवर्ष के देशी राज्यों के शासकों में विलासिता को प्रोत्साहित किया। उनको इंगलैण्ड में शिक्षा दिलवा कर उनके विचार बदलने का प्रयत्न किया। भारतवर्ष में अंग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म, तथा अंग्रेजी रीति-रिवाज, रहन सहन, खानपान, का प्रचार करके भारत की प्राचीन संस्कृति पर कुठाराघात करके उनके राष्ट्रीयता के भावों को नष्ट करने का प्रयत्न किया।

शासक का अत्याचार राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित करने में बड़ा सहायक होता है। अंग्रेजों ने भारत में अत्याचार किया, उन्होंने जनमत को ठुकराया। अंग्रेजों के स्वेच्छाचारी शासन के कारण भारतवासियों की आँखे खुलीं। गोखले, तिलक, दयानन्द, गान्धी आदि ने भारतवासियों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया और विदेशी राज्य के दोष साधारण लोगों को बतलाये। लोगों में धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया। लोगों की आँखें खुलीं, राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ। अन्त में इन लोगों का प्रयत्न सफल हुआ और भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ।

कुछ विद्वानों का मत है कि शासन कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो वह राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न नहीं कर सकता। ऐसे विद्वानों में से रेमजे म्योर (Ramsay Muir) एक है, उसका कथन है कि "चाहे कितना ही श्रेष्ठ शासन क्यों न हो, शासन की एकता कभी राष्ट्रीयता का विकास नहीं कर सकती है।" जिमर्न (Zimmern) का कथन है कि "राष्ट्रीयता एक ऐसी आन्तरिक प्रेरणा है जो राजनीतिक अत्याचार द्वारा अस्वस्थ तथा तीक्ष्ण आत्मचेतना में परिवर्तित हो जाती है।" उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि सन् १८७० के फ्रैंको-प्रशन युद्ध के (Franco-Prussian War of 1870) पश्चात् फ्रांस में राष्ट्रीयता के भाव अत्यन्त तीव्र हो गये थे। स्पेन में मुसलमानों का शासन कई शताब्दियों तक रहा। उनके अत्याचारों ने स्पेन में राष्ट्रीयता के तीव्र भाव उत्तेजित किये। नैपोलियन (Napoleon) के युद्धों ने स्पेन निवासियों के हृदय में राष्ट्रीयता के भाव दुबारा

उत्तेजित किये। पोलैण्ड-भंग ने पोलैण्ड में राष्ट्रीयता उत्तेजित की। अंग्रेजों के अत्याचार और भेद-नीति (Divide and rule policy) के कारण आयरलैण्ड (Ireland) में राष्ट्रीयता का विकास हुआ और अन्त में आयरलैण्ड भी स्वतंत्र हुआ। परन्तु जोजफ का मत है कि "एक समुदाय का अत्याचार पर किया गया अत्याचार उस समुदाय को राष्ट्र में परिवर्तित नहीं कर सकता।" उसका विचार है कि विभाजित किये हुए समुदायों में से प्रत्येक अत्याचार करने वाले का प्रेम-पात्र तथा प्रिय बनने का प्रयत्न करता है और उन समुदायों में कभी ऐक्य स्थापित नहीं हो सकता है।

कुछ लोगों का मत है कि सर्वोच्च सत्ता द्वारा मनुष्यों में राष्ट्रीयता का विकास होता है। अर्थात् अनेक जाति अथवा धर्म के लोग एक सर्वोच्च सत्ता के अधीन रहते हुए अपने हितों को समान समझ कर राष्ट्रीयता के सूत्र में बँध जाते हैं। वेल्स (Wales), इंगलैण्ड (England) और स्काटलैण्ड (Scotland) के क्रमशः वैल्श, अंग्रेज और स्काट लोग एक अंग्रेज शासक की सर्वोच्च सत्ता के अधीन संगठित हैं। लैस्की (Laski) का यह मत है कि कि "राज-भक्ति निरर्थक वस्तु है। उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास इस बात का उदारण है कि राष्ट्रीय भावनाओं द्वारा राजभक्ति की भावनाओं में परिवर्तन हुआ है।" परन्तु इसके विपरीत स्विटजरलैण्ड का उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि एक श्रेष्ठ शासन द्वारा वास्तव में भिन्न-भिन्न जातियों के लोग भी राष्ट्रीयता के सूत्र में बँध सकते हैं। एक ही शासन के अधीन वहाँ जर्मन, फ्रेंच और इतालियन जाति के लोग एक राष्ट्र के रूप में संगठित हैं और सब प्रकार की उन्नति कर रहे हैं।

इससे प्रकट होता है कि शासन और एक सर्वोच्च सत्ता राष्ट्रीयता के भाव जागृत करने में सहायक हो सकते हैं। परन्तु वास्तव में एक जनतंत्र शासन में ही ऐसा सम्भव हो सकता है। जहाँ जनता के हाथ में अथवा जनता के प्रतिधियों के हाथ में सर्वोच्च सत्ता है वहीं राष्ट्रीयता का विकास हो सकता है क्योंकि ऐसे शासन में सदा लोक हित का ध्यान रखा जाता है।

८—लोकमत (Popular Will)—लोकमत भी राष्ट्रीयता का महत्व पूर्ण अंग है। लोकमत द्वारा राष्ट्रीयता के भावों का विकास होता है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने के लिये पहले मनुष्यों की चित्तवृत्ति पर राष्ट्रीयता के विशेष गुणों का प्रभाव डालना अत्यन्त आवश्यक है जिससे जनता की मनोवृत्ति इस प्रकार की हो जाय कि वह परस्पर सहयोग करके राष्ट्रीयता की उन्नति करे। जब तक लोगों में परस्पर

सहयोग करने की भावना न होगी राष्ट्रीयता स्थापित नहीं हो सकती है। राष्ट्रीयता लोगों की चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति और उनकी भावुकता का प्रतीक है। टौइनबी (Toynbee) के मतानुसार "राष्ट्र बनने की इच्छा" ही राष्ट्रीयता का प्रधान तत्व है। राष्ट्रवाद के जन्मदाता मेजिनी (Mazzini) के मतानुसार "लोकमत राष्ट्रीयता का आधार है।"

९—आन्तरिक-प्रेरणा (Instinct) कुछ विद्वानों का मत है कि आन्तरिक प्रेरणा भी राष्ट्रीयता का एक तत्व है। आन्तरिक-प्रेरणा को राष्ट्रीयता का तत्व मानने वालों का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार समाज में रहने का इच्छुक होता है। समाज में ही रहकर मनुष्य सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। यदि मनुष्य मनुष्य सामज से पृथककर दिया जाय तो वह किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता है। आन्तरिक प्ररणा के आधार पर मनुष्य बहुमत की आज्ञा पालन करने को प्रेरित होता है। मनुष्यों के राष्ट्र के रूप में संगठित करने के लिये उनकी अन्तरात्मा उन्हें प्रेरित करती है।

१०—ऐतिहासिक घटना (historical accident)—कुछ लोगों का मत है कि राष्ट्रीयता कोई विशेष वस्तु अथवा लक्षण नहीं है यह केवल एक ऐतिहासिक घटना है जो मानव समाज में विकास की अवस्था में स्वतः घटित होती है।

११—मुद्रण यन्त्र का प्रभाव (Press)—आधुनिक काल के कुछ विद्वानों का मत है कि राष्ट्रीयता मुद्रण यन्त्र द्वारा स्थापित होती है। जो लोग जनता को मुद्रण यन्त्र द्वारा अत्यधिक प्रभावित कर सकते हैं उन्हीं के मतानुसार जनमत हो जाता है। राष्ट्रीयता के भावों का प्रचार करने में मुद्रण यन्त्र का बड़ा हाथ है। परन्तु हमारा यह विचार है कि मुद्रण यन्त्र के आविष्कार से पूर्व प्राचीन काल में भी राष्ट्रीयता के भावों से लोग प्रभावित हुए हैं। अतः जो लोग मुद्रण यन्त्र को राष्ट्रीयता का तत्व समझते हैं वे बड़ी भूल करते हैं।

१२—देश-निष्कासन (exile)—लार्ड ऐक्टन (Lord Acton) ने देश-निष्कासन को राष्ट्रीयता का तत्व बतलाया है। उसने यहूदी तथा आयरिश (Jewish and Irish) जातियों के उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि निर्वासित लोगों के हृदयों में राष्ट्रीयता का विकास होता है।

१३—समान भाव, त्योहार, चिन्ह तथा रीति रिवाज—कुछ विद्वानों का मत है कि समान भाव, गीत, त्योहार, रीति, रिवाज, तथा एक राष्ट्रीय, धार्मिक तथा जाति, पताका राष्ट्रीयता के भावों की पोषक हैं। इन सब वस्तुओं द्वारा भी राष्ट्रीय भाव जागृत होते हैं।

डिजरायली (Disraeli) का कथन है कि "व्यक्ति जातिमंडलियां (Communities) बना लें परन्तु राष्ट्र की उत्पत्ति तो केवल संस्थाओं से ही हो सकती है। आर० डी० हिचकाक (R. D. Hitchcoek) का कथन है कि "शासन के आदेश राष्ट्र के लिये जीवन का भोजन (bread of life) हैं।" गारफील्ड (Garfield) का मत है कि "भूमि राष्ट्र का केवल शरीर है। जो लोग उसके पहाड़ों पर और घाटियों में निवास करते हैं।" हैनरी क्ले (Henry Clay) का मत है कि "एक राष्ट्र का चरित्र उसके भव्य कार्यों का योग है। वे (भव्य कार्य) सम्मिलित पैतृक धन बनते हैं, वे राष्ट्र के दायभाग (inheritance) हैं, वे वैदेशिक शक्तियों (राज्यों) को भयभीत करते हैं और हमारे (राष्ट्र के) लोगों को उत्तेजित करते हैं।" एस० स्माइल (S. Smiles) का कथन है कि "जिस प्रकार राष्ट्रीय ह्रास व्यक्तिग जीवन, आलस्य, स्वार्थ तथा दोषों का योग है उसी प्रकार राष्ट्र की उन्नति व्यक्तिगत उद्योग, ओजस्व (energy) तथा सद्गुणों का योग है।" सी० सुम्नर (C. Sumner) का कथन है कि "राष्ट्रों की वास्तविक महानता उस राष्ट्र की व्यक्तिगत महानता पर निर्भर है।" एमरसन (Emerson) ने अपनी "सिविलाइजेशन" नामक में पुस्तक लिखा है कि "प्रत्येक राष्ट्र की अपनी निजी मानसिक योग्यता होती है और उसकी अपनी निजी सभ्यता होती है।

राष्ट्र और राज्य—राष्ट्रवाद का वर्णन करने से पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि पाठकों को राष्ट्र और राज्य का भेद पूर्ण रूप से प्रकट कर दें क्योंकि ऐसा देखा गया है कि बात से लेखकों ने राष्ट्र और राज्य को एक ही बात समझा है। वास्तव में राष्ट्र और राज्य में बड़ा भेद है। अमेरिका के प्रसिद्ध राज-शास्त्रवेत्ता जे० डब्ल्यू गार्नर (J. W. Garner) के मतानुसार "राज्य एक वैधानिक अथवा राजनैतिक कल्पना है। राष्ट्र जातीय अथवा मानव वंशीय कल्पना है।"* उसका मत है कि राज्य और राष्ट्र में बड़ा भेद है। जो लोग राज्य और राष्ट्र को एक समझते

---

* जे० डब्ल्यू० गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ४५।

हैं वे बड़ी भूल करते हैं। गार्नर का कथन है कि "पूर्णरूप में राष्ट्र समाज का वह भाग है जो प्राकृतिक भौगोलिक सीमा द्वारा अन्य राष्ट्रों से पृथक् है, जिनका जातीय मूल एक है, जिसके निवासी एक भाषा बोलते हैं, जिनकी सभ्यता तथा संस्कृति एक सी है जिनका चरित्र एक सा है, जिनके रीति-रिवाज, साहित्य आदि एक से हैं।" * बर्गेस (Burges) का मत है कि राष्ट्र "वह जनसंख्या है जिसकी भाषा साहित्य, परम्परागत रीति-रिवाज, तथा इतिहास समान हैं, जिनमें भले बुरे की चेतना के समान भाव हैं और जो ऐसी भूमिपर वास करते हैं जिसमें भौगोलिक ऐक्य है।" ‡ बर्गेस ने जो राष्ट्र की परिभाषा की है उससे विदित होता है कि वह मानव-जातीय मूल को राष्ट्र का आवश्यक अंग नहीं समझता है। उसकी दृष्टि में मानव वंशीय उद्भव (ethnic origin) कोई महत्व नहीं रखता है। फ्रांस के प्रसिद्ध न्यायशास्त्रवेत्ता प्रेडियर-फोडेरे (Pradier Fodere) का मत है कि राष्ट्र "एक देश के निवासियों के समाज का ऐसा संगठत है जो एक भाषा बोलते हैं, जो एक ही विधान धारा शासित होते हैं, जिनका मानव वंशीयमूल एक है, जिनका भौतिक आचरण एक सा है, जिनका नैतिक स्भाव एक सा है तथा जिनके हित और भाव शताब्दियों के साथ रहने के कारण एक से हैं।" † एक स्थान पर उसने यह भी लिखा हैं कि "वंशीय एकता, निवासियों की भाषा की समानता, तथा रीति-रिवाज और धर्म की समानता से राष्ट्र बनते हैं।" अर्जेन्टाइन के प्रसिद्ध न्याय-शास्त्र वेत्ता कैल्वो (Calvo) ने अन्यर्राष्ट्रीय विधान के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ लिखा है उसमें उसने भी राष्ट्र के विषय में अपने विचार इसी प्रकार प्रकट किये हैं। उसने राष्ट्र की कल्पना के लिये वंशीय मूल तथा जातीय और भाषा सम्बन्धी समानता को अत्यन्त महत्वपूर्ण बतलाया है।

लेकी (Lecky) का मत है कि राष्ट्र के अस्तित्व के लिये वंशीय समानता की आवश्यकता नहीं है। वह वंशीय मूल को राष्ट्रीयता का आधार नहीं मानता है। मनुष्यों के रंग सम्बन्धी भेदों को राष्ट्रीयता निर्धारित करने में प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि राष्ट्रीयता निर्धारित करने में "रंग एक अस्पष्ट तथा छलने वाला पथप्रदर्शक है।= वह इस बात को स्वीकार करता

* बर्गेस—पोलिटिकल साइंस एन्ड कॉन्स्टीट्यूशनल ला, पुस्तक १—पृष्ठ २।
‡ प्रेडियर—फोडेर-प्रेसे दि ड्रोइट इन्न० त पब० पुस्तक, पृष्ठ १२५ १२६।
† प्रेडियर—फोडेर-प्रेसेदि ड्रोइट इन्न० त पब० पुस्तक, पृष्ठ १२५-१२६।
= लेकी—डिमाक्रेसी एन्ड लिबर्टी-पुस्तक, १ पृष्ठ ५।

है कि ऐसे बहुत से उदाहरण देखने में आते हैं जहाँ भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोग राष्ट्रीयता के पाश में बँधे हुए हैं। लैकी का विचार इस सम्बन्ध में कुछ भी हो, गार्नर के मतानुसार वंशीय समानता और भाषा की समानता राष्ट्रीय एकता के आधार हैं। राष्ट्र का अस्तित्व वास्तव में इन्हीं दो बातों पर निर्भर है। गार्नर का मत है कि वंशीय एकात्म्य (identity) से सम्बन्ध स्थापित होता है और भाषा की समानता लोगों को एक दूसरे में सम्पर्क स्थापित करने और उन्हें परस्पर मित्र बनाने में सहायक होती है। भाषा की समानता वास्तव में राष्ट्रीय एकता का अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार है। भाषा ही के द्वारा लोगों में परस्पर बौद्धिक तथा सामाजिक सम्पर्क स्थापित होता है। भाषा द्वारा ही मनुष्यों में राजनीतिक चेतना का विकास होता है और भाषा की समानता ही मनुष्यों में राजनीतिक विचारों की समानता स्थापित करती है। यूरोप के प्रसिद्ध न्यायाचार्य गम्प्लाविज (Gumplowicz) का विचार है कि सभ्यता की समानता राष्ट्रीय एकता का आधार है और भाषा द्वारा सभ्यता की समानता प्रकट होती है। अतः भाषा की समानता ही राष्ट्रीय समानता स्थापित करती है। उसके मतानुसार सभ्यता तथा भाषा की समानता का आधार वंशीय मूल नहीं है। उसका विचार है कि भाषा तथा सभ्यता का एकात्म्य प्राचीन इतिहास पर निर्भर है। यदि कुछ लोग बहुत काल तक एक ही भाषा बोलते हुए और एक ही प्रकार की सभ्यता में रहते रहे तो उनमें राष्ट्रीयता के भावों का विकास हो जाता है अतः राष्ट्रीय समानता इतिहास पर ही निर्भर है। इस बात को सिद्ध करने के लिये उसने इटली, स्पेन, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों के उदाहरण देकर बतलाया है कि इन देशों में राष्ट्रीय राज्य स्थापित हैं। इन देशों के लोगों के हृदय राष्ट्रीयता के विचारों से ओत-प्रोत हैं परन्तु इनमें से किसी भी देश में एक ही वंश के लोग नहीं रहते हैं। इन देशों में भिन्न-भिन्न वंश के लोग रहते हैं और भिन्न-भिन्न वंशों से उत्पन्न होने पर भी ये लोग राष्ट्रीय बन्धन में बँधे हुए हैं। इनमें शनैः शनैः समान भाषा तथा समान सभ्यता का विकास हो गया है।* धर्म की समानता मध्यकाल में राष्ट्रीयता का आधार समझी जाती थी परन्तु आधुनिक काल में धार्मिक स्वतंत्रता के विचारों की उन्नति के कारण धर्म राष्ट्रीय समानता का आधार नहीं समझा जाता है।

राष्ट्र और राज्य में बड़ा भेद है। एक राज्य में अनेक जातियाँ हो

---

* गम्प्लाविज—ऐलीमीन्स स्टेट्सरुक्ट—पृष्ठ १११।

सकती हैं † और तिसपर भी वह राष्ट्रीय राज्य हो सकता है। अंग्रेजों के राज्य की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न वंश के लोग हैं। दक्षिणी कैनेडा के फ्रेंच, दक्षिण अफ्रीका के डच, आयरलैण्डके कैल्ट्स आदि जातियों के लोग अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित हैं। हंगेरी राज्य में ट्यूटन, रूमानियन, स्लैव आदि जातियों के लोग निवास करते हैं। बेल्जियम में फ्लैमिश तथा फ्रेंच लोग रहते हैं। रूस में फिन, तातार, लिथ्युऐनियन, स्लैव आदि जातियों के लोग निवास करते हैं। स्विट्जरलैण्ड में जर्मन, इटालियन और फ्रेंच जातियों के लोग रहते है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में ट्यूटन, हब्शी, जर्मन इटालियन, आइरिश, स्कैन्डिनेवियन आदि जातियाँ निवास करती हैं। इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि एक ही राज्य में भिन्न-भिन्न जातियों के लोग निवास करते हैं और ये सब जातियाँ प्रेम-पूर्वक साथ-साथ सहयोग करती हुई अपनी सभ्यता, संस्कृति, उद्योग-व्यवसाय की उन्नति करती हुई अपने देश की उन्नति करती हैं और अन्य देशों से युद्ध होने पर जातीय पक्षपात को छोड़ कर स्वदेश हित के लिये स्वजातियों से युद्ध करने को तत्पर होती हैं।

इसके विपरीत यह भी देखने में आता है कि एक ही वंश के लोग एक से अधिक राज्यों में पाये जाते हैं। स्कैन्डिनेवियन जाति (Scandinavian race) के लोग नार्वे (Norway), स्वेडन (Sweden) और डेनमार्क (Denmark) में निवास करते हैं। जर्मन जाति के लोग ऐलसास (Alsace), लोरेन (Lorraine), स्विटजरलैण्ड (Switzerland), हालैण्ड (Holland), श्लैस्विग (Schleswig) और आस्ट्रिया (Austria) में निवास करते हैं। स्लैव (Slav) जाति के लोग यूरोप के अनेक राज्यों में पाये जाते हैं। एक ही राज्य में भिन्न-भिन्न जातियों का अस्तित्व अथवा भिन्न-भिन्न राज्यों में एक ही जाति का अस्तित्व राष्ट्रीयता में किसी प्रकार बाधक नहीं होता है।

राष्ट्रवाद का विकास (Growth of Nationalism)—सृष्टि के प्रारम्भ में राष्ट्रवाद का क्या रूप था, इसका ज्ञान हम केवल इतिहास से प्राप्त कर सकते हैं। इतिहास से हमको पता चलता है कि प्रारम्भ में मनुष्य कुटुम्ब के रूप में संगठित थे। मनुष्य स्वभाव से ही संघचारी (gregarious) है। अतः वे संघ अथवा कुटुम्ब के रूप में संगठित थे। कुटुम्बों और

† गिलक्राइस्ट—देखो [illegible] पृष्ठ १११।

वंशों की वृद्धि हो जाने पर वे वन जातियों के में संगठित हुए। पहले तो वे निश्चित स्थानों पर रहते ही न थे। उस समय वे आधुनिक काल के यूरोपीय जिप्सियों की भाँति अपनी सुविधा के अनुसार अपने निवासस्थान में परिवर्तन करते रहते थे। जब एक स्थान पर मनुष्य तथा पशुओं के भोजन की कमी हो जाती थी तो दूसरे स्थान पर पहुँच जाते थे। अपने साथ थोड़ा सामान और पशु रखते थे जिनपर सामान लादते थे, उनका दूध पीते और भोजन न प्राप्त होने पर उनको मार कर खा लिया करते थे। कुटुम्ब अथवा वंशीय जीवन ही उनका राष्ट्रीय जीवन था। इसी अवस्था में कुछ उन्नति होने पर उनमें पितृसत्तात्मक समाज (Patriarchal Society) की स्थापना हुई। लोगों ने एक ही स्थान पर निवास करना आरम्भ किया और वंश के अथवा जाति के वृद्ध पुरुष को उस कुटुम्ब अथवा वंश तथा जाति का स्वामी समझा जाने लगा। उस वृद्ध पुरुष को वंश व जाति के सब व्यक्तियों पर और उनकी सम्पति पर पूर्ण अधिकार था। ऐसे जीवन में हमें एक प्रकार की राष्ट्रीयता की झांकी मिलती है। ऐसी अवस्था में उन लोगों को वास्तव में राष्ट्रीयता का ज्ञान तो न था परन्तु उनका रहन-सहन, रीति-रिवाज भाषा की समानता तथा एक ही वृद्ध पुरुष के अधीन रहने के कारण हम कह सकते हैं कि वे राष्ट्रीयता के सूत्र में बँध गये थे। उनमें अपने वंश और कुटुंब के लिये प्रेम हो गया था; वे एक ही शासक की आज्ञाओं का पालन करते थे। जिस भूमि पर रहते थे उससे प्रेम करते थे। जो अन्य जाति अथवा वंश उनपर आक्रमण करता था अथवा उनकी भूमि तथा संपत्ति पर अतिक्रमण करता था उसका पूर्णरूप से विरोध करते थे और अपना जीवन बलिदान करने को उद्यत हो जाते थे। यही उनकी राष्ट्रीयता के भाव थे जिनका उनको अनुभव नहीं होता था। यह उनका स्वभाव बन गया था।

इस जीवन की उन्नति हुई और इसके पश्चात् इतिहास हमको उनके जीवन के विकास की अगली श्रेणी में ले जाता है। इस श्रेणी की दशा का ज्ञान हमको प्राचीन काल के यूनान-निवासियों की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा का इतिहास पढ़ने से होता है। उस समय यूनानी लोग छोटे-छोटे नगर राज्यों में विभाजित थे। प्रत्येक नगर-राज्य पूर्ण रूप से स्वतंत्र था। प्रत्येक नगर-राज्य का शासन-प्रबन्ध एक-दूसरे से भिन्न था। उनकी शिक्षा-प्रणाली भी एक दूसरे से भिन्न थी। उनके राष्ट्रीय विचार भी संकुचित थे। वे अपने नगर को ही अपना देश मानते थे। अन्य नगरों से पृथक् रहते थे और बहुधा नगरों में एक दूसरे से युद्ध हुआ करते थे। यूनान के स्पार्टा (Sparta)

सकती है।† और तिसपर भी वह राष्ट्रीय राज्य हो सकता है। अंग्रेजों के राज्य की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न वंश के लोग हैं। दक्षिणी कैनेडा के फ्रेंच, दक्षिण अफ्रीका के डच, आयरलैण्डके कैल्ट्स आदि जातियों के लोग अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित हैं। हंगेरी राज्य में ट्यूटन, रूमानियन, स्लैव आदि जातियों के लोग निवास करते हैं। बेल्जियम में फ्लैमिश तथा फ्रेंच लोग रहते हैं। रूस में फिन, तातार, लिथ्युऐनियन, स्लैव आदि जातियों के लोग निवास करते हैं। स्विट्जरलैण्ड में जर्मन, इटालियन और फ्रेंच जातियों के लोग रहते हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्य में ट्यूटन, हब्शी, जर्मन इटालियन, आइरिश, स्कैन्डिनेवियन आदि जातियाँ निवास करती हैं। इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि एक ही राज्य में भिन्न-भिन्न जातियों के लोग निवास करते हैं और ये सब जातियाँ प्रेम-पूर्वक साथ-साथ सहयोग करती हुई अपनी सभ्यता, संस्कृति, उद्योग-व्यवसाय की उन्नति करती हुई अपने देश की उन्नति करती हैं और अन्य देशों से युद्ध होने पर जातीय पक्षपात को छोड़ कर स्वदेश हित के लिये स्वजातियों से युद्ध करने को तत्पर होती हैं।

इसके विपरीत यह भी देखने में आता है कि एक ही वंश के लोग एक से अधिक राज्यों में पाये जाते हैं। स्कैन्डिनेवियन जाति (Scandinavian race) के लोग नार्वे (Norway), स्वेडन (Sweden) और डेनमार्क (Denmark) में निवास करते हैं। जर्मन जाति के लोग ऐलसास (Alsace), लोरेन (Lorraine), स्विटजरलैण्ड (Switzerland), हालैन्ड (Holland), श्लैस्विग (Schleswig) और आस्ट्रिया (Austria) में निवास करते हैं। स्लैव (Slav) जाति के लोग यूरोप के अनेक राज्यों में पाये जाते हैं। एक ही राज्य में भिन्न-भिन्न जातियों का अस्तित्व अथवा भिन्न-भिन्न राज्यों में एक ही जाति का अस्तित्व राष्ट्रीयता में किसी प्रकार बाधक नहीं होता है।

राष्ट्रवाद का विकास (Growth of Nationalism)—सृष्टि के प्रारम्भ में राष्ट्रवाद का क्या रूप था, इसका ज्ञान हम केवल इतिहास से प्राप्त कर सकते हैं। इतिहास से हमको पता चलता है कि प्रारम्भ में मनुष्य कुटुम्ब के रूप में संगठित थे। मनुष्य स्वभाव से ही संघचारी (gregarious) है। अतः वे सब प्रथम कुटुम्ब के रूप में संगठित थे। कुटुम्बों और

---

† [illegible]—[illegible] खंड [illegible]—पृष्ठ १११ ।

वंशों की वृद्धि हो जाने पर वे वन जातियों के में संगठित हुए। पहले तो वे निश्चित स्थानों पर रहते ही न थे। उस समय वे आधुनिक काल के यूरोपीय जिप्सियों की भाँति अपनी सुविधा के अनुसार अपने निवासस्थान में परिवर्तन करते रहते थे। जब एक स्थान पर मनुष्य तथा पशुओं के भोजन की कमी हो जाती थी तो दूसरे स्थान पर पहुँच जाते थे। अपने साथ थोड़ा सामान और पशु रखते थे जिनपर सामान लादते थे, उनका दूध पीते और भोजन न प्राप्त होने पर उनको मार कर खा लिया करते थे। कुटुम्ब अथवा वंशीय जीवन ही उनका राष्ट्रीय जीवन था। इसी अवस्था में कुछ उन्नति होने पर उनमें पितृसत्तात्मक समाज (Patriarchal Society) की स्थापना हुई। लोगों ने एक ही स्थान पर निवास करना आरम्भ किया और वंश के अथवा जाति के वृद्ध पुरुष को उस कुटुम्ब अथवा वंश तथा जाति का स्वामी समझा जाने लगा। उस वृद्ध पुरुष को वंश व जाति के सब व्यक्तियों पर और उनकी सम्पति पर पूर्ण अधिकार था। ऐसे जीवन में हमें एक प्रकार की राष्ट्रीयता की झांकी मिलती है। ऐसी अवस्था में उन लोगों को वास्तव में राष्ट्रीयता का ज्ञान तो न था परन्तु उनका रहन-सहन, रीति-रिवाज भाषा की समानता तथा एक ही वृद्ध पुरुष के अधीन रहने के कारण हम कह सकते हैं कि वे राष्ट्रीयता के सूत्र में बँध गये थे। उनमें अपने वंश और कुटुंब के लिये प्रेम हो गया था; वे एक ही शासक की आज्ञाओं का पालन करते थे। जिस भूमि पर रहते थे उससे प्रेम करते थे। जो अन्य जाति अथवा वंश उनपर आक्रमण करता था अथवा उनकी भूमि तथा संपत्ति पर अतिक्रमण करता था उसका पूर्णरूप से विरोध करते थे और अपना जीवन बलिदान करने को उद्यत हो जाते थे। यही उनकी राष्ट्रीयता के भाव थे जिनका उनको अनुभव नहीं होता था। यह उनका स्वभाव बन गया था।

इस जीवन की उन्नति हुई और इसके पश्चात् इतिहास हमको उनके जीवन के विकास की अगली श्रेणी में ले जाता है। इस श्रेणी की दशा का ज्ञान हमको प्राचीन काल के यूनान-निवासियों की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा का इतिहास पढ़ने से होता है। उस समय यूनानी लोग छोटे-छोटे नगर राज्यों में विभाजित थे। प्रत्येक नगर-राज्य पूर्ण रूप से स्वतंत्र था। प्रत्येक नगर-राज्य का शासन-प्रबन्ध एक-दूसरे से भिन्न था। उनकी शिक्षा-प्रणाली भी एक दूसरे से भिन्न थी। उनके राष्ट्रीय विचार भी संकुचित थे। वे अपने नगर को ही अपना देश मानते थे। अन्य नगरों से पृथक् रहते थे और बहुधा नगरों में एक दूसरे से युद्ध हुआ करते थे। यूनान के स्पार्टा (Sparta)

और एथन्स (Athens) उस समय सबसे प्रसिद्ध राज्य थे। स्पार्टा निवासी शारीरिक बल तथा सैनिक शक्ति के लिये प्रसिद्ध थे और एथन्स निवासी बौद्धिक शक्ति, शिक्षा तथा संस्कृति के लिये प्रसिद्ध थे। यूनान के नगर-राज्यों में राष्ट्रीय भावना का विकास हो गया था। यूनान निवासियों में स्थानीय देशभक्ति की मनोवृत्ति अधिक थी। एक नगर दूसरे नगर के प्रभाव से बचने का प्रयत्न करता था। प्रत्येक नगर के निवासी यह प्रयत्न करते थे कि उनपर दूसरे नगर के आचार विचारों का प्रभाव न पड़ने पाये। यूनान निवासियों में राष्ट्रीय भावना का पूर्ण रूप से विकास हो गया था। प्रत्येक नगर-निवासी अपने नगर की भाषा, रीति-रिवाज, भूमि, साहित्य तथा संस्कृति की रक्षा करने के लिये अपने प्राणोंकी आहुति देने को तत्पर रहता था।

कालान्तर में रोमन लोगों (Romans) ने यूनान को विजय कर लिया और यूनान रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। रोमन साम्राज्य स्थापित होने पर यूनानी संकुचित राष्ट्रीयता का अन्त हो गया। यूनान पर रोमन विचारों का प्रभाव पड़ा। रोमन लोगों में राष्ट्रीयता के भावों का अभाव था। रोमन-निवासी एक साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे परन्तु वे उसमें सफल न हो सके। रोमन लोगों में एक देश अथवा एक राष्ट्र का भाव का भी जाग्रत न हो सका। उनको सदा संपूर्ण रोमन साम्राज्य का ध्यान रहा। सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य में एक ही शासन था और एक ही विधान। संपूर्ण प्रान्त केन्द्रीय शासन द्वारा शासित होते थे। बी० जोसफ (B. Joseph) ने ठीक कहा है कि "रोमन साम्राज्य में भाँति-भाँति तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल-तत्वों का सम्मिश्रण था। और इन मूलतत्वों की संस्कृति में एकजातीयता का अत्यधिक ह्रास होने के कारण रोमन साम्राज्य राष्ट्रीयता के रूप में नहीं बन सकता था।"† कुछ काल पश्चात् रोमन साम्राज्य का भी अन्त हुआ और राष्ट्रीयता के भावों का ह्रास होने के कारण लोग पुनः प्राचीन काल की उस दशा को प्राप्त हुए जब उनमें राष्ट्रीयता के भावों का विकास भी नहीं हुआ था। अथवा यों कहना चाहिये कि उस समय लोग वन-जातीय दशा (tribal stage) को प्राप्त हुए। इसका कारण यह था कि असभ्य ट्यूटन जातियों के आक्रमण ने रोम साम्राज्य को नष्ट कर दिया और रोमन सभ्यता नष्ट हो गई।

रोमन साम्राज्य के अन्त होने के पश्चात् यूरोप में वह समय आया

---

† बी० जोसफ-नेशनैलिटी, पृष्ठ १६८।

जिसे अन्धयुग (Dark Ages) के नाम से संबोधित करते हैं। यह अराजकता का समय था इस समय के विषय में इतिहास भी मूक है । इस समय के विषय में इतिहास हमें केवल इतना बतलाता है कि जिन सभ्य ट्यूटन जातियों ने रोमन साम्राज्य को नष्ट भ्रष्ट किया उन्होंने अपने विचारों के अनुसार शासन स्थापित किया और अपने ही विधानों द्वारा शासन किया। इस काल में किसी प्रकार की कला, साहित्य तथा विज्ञान सम्बन्धी उन्नति नहीं हुई। इस काल के पश्चात् मध्ययुग (Middle Ages) का आरम्भ हुआ। इन दोनों युगों में (अर्थात् काले युग तथा मध्य युग के आरम्भ में) राष्ट्रीयता के विचारों में किसी प्रकार की उन्नति न हुई। इन युगों में यूरोप में सामन्तवाद का बोलवाला था। शक्तिशाली सामन्तों ने सामन्तिक राज्य स्थापित कर लिये थे। उस समय के सामन्तिक राज्यों की दशा अठारहवीं शताब्दी के भारतीय देशी राज्यों के समान थी। ये सामन्त आपस में लड़ते भिड़ते रहते थे और अपनी प्रजापर अत्याचार करते थे। इसके अतिरिक्त यूरोप में उस समय धर्मसम्राट् (Pope) और भूमिसम्राट् (Emperor) में परस्पर विरोध बढ़ रहा था। पोप समझता था कि संपूर्ण ईसाइयों का सम्राट् मैं ही हूँ और एम्परर समझता था कि सम्राट् मैं हूँ। इन दोनों में बहुत काल तक राजनैतिक सर्वोच्च सत्ता के लिये परस्पर युद्ध होता रहा। इस युद्ध में कभी पोप को सफलता प्राप्त होती थी और कभी एम्परर को। ऐसी दशा में राष्ट्रीयता के भावों का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव था। क्योंकि इस प्रकार की अराजकता के साथ साथ लोगों के विचार भी उस समय राष्ट्रीयता के विकास के लिये सहायक न थे। उस समय लोगों की रुचि लैटिन भाषा सीखने की अधिक थी। यूरोप के अधिकतर देशों में लोग लैटिन भाषा पढ़ते थे। प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। प्रान्तीय भाषाओं से प्रेम न होने के कारण राष्ट्रीय चेतना नहीं होती थी।

ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया यूरोप की परिस्थिति में परिवर्तन होता गया। कुछ विद्वानों ने मातृ-भाषा सीखने और उससे प्रेम करने के लिए अपने देशवासियों से आग्रह किया। चौसर (Chaucer) ने इंगलैण्ड में और इटली में दांते (Dante) ने अपनी अपनी साहित्यिक रचनाओं में मातृ-भाषा का प्रयोग किया और लोगों में मातृ-भाषा का अध्ययन करने की रुचि उत्पन्न की और इस प्रकार ऐसे लोगों ने अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीयता के भाव अपने देशवासियों के हृदय में उत्पन्न किये। कुछ काल पश्चात् मैकिया-

वेली (Machiavelli) ने इटली में राष्ट्रवाद का पूर्ण-रूप से प्रचार किया और वह इस कार्य में सफल हुआ। जिस समय मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का प्रचार किया वह समय आधुनिक काल का आरम्भ समझा जाता है। आधुनिक काल के आरम्भ में इटली की दशा बड़ी हीन थी। उस समय इटली छोटे छोटे राज्यों में विभाजित था। पास-पड़ोस के अन्य देशों के सम्राटों ने अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए उसे रण-भूमि बना रखा था। इटली के लोगों का आचरण भी भ्रष्ट हो गया था। थोड़े से लोभ में फँसकर वे अन्य देश के सम्राटों के लाभ के लिये अपने देश का अहित करने के लिये तत्पर हो जाते थे। मैकिआवेली ने अपने देश निवासियों को संगठित किया। उनके दोषों को दूर किया। एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करने के लिये जोर दिया और धीरे-धीरे इटली को एक शक्तिशाली राज्य बना दिया। उसने इटली निवासियों में राष्ट्रीयता के भावों का संचार किया। इस प्रकार इटली एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। इटली की राष्ट्रीयता यूरोप के लिये आदर्श बन गई और अन्य यूरोपीय देशों ने उसका अनुकरण किया। उन्नीसवीं शताब्दी में मेज़िनी (Mazzini) ने इटली को इस दशा पर पहुँचा दिया।

चौदहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में चोसर (Chaucer), लैंगलैंड और वाइक्लिफ (Wycliffe) ने राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने में बड़ी सहायता की। चोसर ने दक्षिणी मिडलैण्ड भाषा में अनेक साहित्यिक ग्रन्थ रचकर अंग्रेजी को राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रयत्न किया। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक कैन्टरबरी टेल्स (Canterbury Tales) है जिसमें उसने चौदहवीं शताब्दी की इंगलैण्ड की सामाजिक दशा का दिग्दर्शन कराया है। लैंगलैंड के साहित्य का भी यही प्रभाव हुआ। उसकी पुस्तक 'विजन्स-आफ पियर्स प्लाउमैन' (Visions of Piers Plowman) नामक पुस्तक में उस समय के निर्धन तथा दरिद्र लोगों की दशा का वर्णन है और उसमें ईसाई धर्म के अत्याचारों और श्रमिकों की हीन दशा का भी वर्णन है। वाइक्लिफ ने ईसाइयों की धर्म-पुस्तक बाइबिल का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया। इन तीनों पुरुषों ने वास्तव में इंगलैण्ड में राष्ट्रीय साहित्य और संस्कृति का विकास किया और इंगलैण्ड एक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित होने लगा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में शतवर्षीय युद्ध ने अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में राष्ट्रीय भाव पूर्ण रूप से भर दिये। फ्रान्स के एक छोटे से गांव Domremi नामक स्थान में उत्पन्न हुई जोन आफ आर्क (Joan of Arc) नामक एक ग्रामीण लड़की ने फ्रान्स को अंग्रेजों द्वारा विजित होने से बचाया।

जोन फ्रांस में राष्ट्रीयता की रक्षक और राष्ट्रीयता की जन्मदात्री कही जाती है। उसने फ्रांस निवासियों के हृदयों में राष्ट्रीयता के भाव कूट-कूट कर भरे, वह कहा करती थी कि "अंग्रेजों के साथ शान्ति तभी रह सकती है जब वे अपने देश को लौट जायें।" उसने अपने देश के लिये अपनी वलि देकर यह उच्च आदर्श स्थापित किया कि "प्रत्येक सभ्य राष्ट्र में जब पूर्ण रूप से चैतन्य जीवन जागृत हो जाय तो उसे अपने भाग्य का निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है और फिर वह दूसरी जाति के अधीन होना सहन न करेगा।" * फ्रांस में आज भी जोन फ्रेंच राष्ट्र की देवी समझी जाती है।

इसी समय में धार्मिक युद्धों (Crusades) के कारण स्पेन Spain में भी राष्ट्रीयता के जागृत भावों को प्रोत्साहन मिला। पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीयता के भाव जागृत तो अवश्य हो गये थे परन्तु आपस के राजनीतिक और धार्मिक झगड़ों ने इन देशों में राष्ट्रीय भावना की प्रगति में बड़ी बाधा डाली।

'पुनरुत्थान' तथा सुधार (Renaissance and Reformation) के समय से यूरोप में आधुनिक काल आरम्भ होता है। पुनरुत्थान तथा सुधार ने यूरोप में राष्ट्रीयता के भावों को प्रोत्साहित करने में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। मुद्रणयंत्रों के आविष्कार के कारण प्राचीन विद्याओं का स्वाध्याय बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों का ध्यान मानव समाज की ओर आकर्षित हुआ और राष्ट्रीय भावों का उनमें पूर्णरूप से विकास हुआ। इसी को 'पुनरुत्थान' कहते हैं। पुनरुत्थान द्वारा यूरोप में राष्ट्रीय संस्कृति का विकास हुआ। 'सुधारण' द्वारा यूरोप में राष्ट्रीय धर्म का विकास हुआ। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मार्टिन लूथर (Martin Luther) ने जर्मनी में उस समम में प्रचलित ईसाई धर्म का खंडन किया क्योंकि उस समय ईसाई धर्म में अनेक प्रकार के दोष थे और धर्म के नाम पर पादरी बड़ा अत्याचार करते थे और उनमें बड़ा भ्रष्टाचार भी फैला हुआ था। सुधार आन्दोलन ने राज्यों को पोप से स्वतंत्र होकर राष्ट्रीय धर्म स्थापित करने में सहायता दी। इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड, जर्मनी आदि देशों में राष्ट्रीय धर्म स्थापित हुए। इस प्रकार पुनरुत्थान तथा सुधार आन्दोलनों ने क्रमशः सांस्कृतिक धार्मिक, राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया।

सुधार आन्दोलन ने राष्ट्रीय क्षेत्र में भी बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया।

---

* जे० ऐच रीज—नेशनैलिटी इन माडर्न हिस्ट्री।

वेली (Machiavelli) ने इटली में राष्ट्रवाद का पूर्ण-रूप से प्रचार किया और वह इस कार्य में सफल हुआ। जिस समय मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का प्रचार किया वह समय आधुनिक काल का आरम्भ समझा जाता है। आधुनिक काल के आरम्भ में इटली की दशा बड़ी हीन थी। उस समय इटली छोटे छोटे राज्यों में विभाजित था। पास-पड़ोस के अन्य देशों के सम्राटों ने अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए उसे रण-भूमि बना रखा था। इटली के लोगों का आचरण भी भ्रष्ट हो गया था। थोड़े से लोभ में फँसकर वे अन्य देश के सम्राटों के लाभ के लिये अपने देश का अहित करने के लिये तत्पर हो जाते थे। मैकियावेलो ने अपने देश निवासियों को संगठित किया। उनके दोषों को दूर किया। एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करने के लिये जोर दिया और धीरे-धीरे इटली को एक शक्तिशाली राज्य बना दिया। उसने इटली निवासियों में राष्ट्रीयता के भावों का संचार किया। इस प्रकार इटली एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। इटली की राष्ट्रीयता यूरोप के लिये आदर्श बन गई और अन्य यूरोपीय देशों ने उसका अनुकरण किया। उन्नीसवीं शताब्दी में मेजिनी (Mazzini) ने इटली को इस दशा पर पहुँचा दिया।

चौदहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में चौसर (Chaucer), लैंगलैंड और वाइक्लिफ (Wycliffe) ने राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने में बड़ी सहायता की। चौसर ने दक्षिणी मिडलैण्ड भाषा में अनेक साहित्यिक ग्रन्थ रचकर अंग्रेजी को राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रयत्न किया। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक कैन्टरबरी टेल्स (Canterbury Tales) है जिसमें उसने चौदहवीं शताब्दी की इंगलैण्ड की सामाजिक दशा का दिग्दर्शन कराया है। लैंगलैण्ड के साहित्य का भी यही प्रभाव हुआ। उसकी पुस्तक 'विजन्स-आफ पियर्स प्लाउमैन' (Visions of Piers Plowman) नामक पुस्तक में उस समय के निर्धन तथा दरिद्र लोगों की दशा का वर्णन है और उसमें ईसाई धर्म के अत्याचारों और श्रमिकों की हीन दशा का भी वर्णन है। वाइक्लिफ ने ईसाइयों की धर्म-पुस्तक बाइबिल का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया। इन तीनों पुरुषों के प्रयास से इंगलैण्ड में राष्ट्रीय साहित्य और संस्कृति का विकास हुआ और इंगलैण्ड एक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित होने लगा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में शतवर्षीय युद्ध में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में राष्ट्रीय [illegible]। [illegible] Domremi नामक ग्राम में [illegible] हुई जोन आफ आर्क (Joan of Arc) [illegible] फ्रांस को अंग्रेजों द्वारा विजित होने से बचाया।

जोन फ़ांस में राष्ट्रीयता की रक्षक और राष्ट्रीयता की जन्मदात्री कही जाती है। उसने फ़ांस निवासियों के हृदयों में राष्ट्रीयता के भाव कूट-कूट कर भरे, वह कहा करती थी कि "अंग्रेजों के साथ शान्ति तभी रह सकती है जब वे अपने देश को लौट जायें।" उसने अपने देश के लिये अपनी बलि देकर यह उच्च आदर्श स्थापित किया कि "प्रत्येक सभ्य राष्ट्र में जब पूर्ण रूप से चैतन्य जीवन जागृत हो जाय तो उसे अपने भाग्य का निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है और फिर वह दूसरी जाति के अधीन होना सहन न करेगा।" * फ्रांस में आज भी जोन फ्रेंच राष्ट्र की देवी समझी जाती है।

इसी समय में धार्मिक युद्धों (Crusades) के कारण स्पेन Spain में भी राष्ट्रीयता के जागृत भावों को प्रोत्साहन मिला। पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीयता के भाव जागृत तो अवश्य हो गये थे परन्तु आपस के राजनीतिक और धार्मिक झगड़ों ने इन देशों में राष्ट्रीय भावना की प्रगति में बड़ी बाधा डाली।

'पुनरुत्थान' तथा सुधार (Renaissance and Reformation) के समय से यूरोप में आधुनिक काल आरम्भ होता है। पुनरुत्थान तथा सुधार ने यूरोप में राष्ट्रीयता के भावों को प्रोत्साहित करने में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। मुद्रणयंत्रों के आविष्कार के कारण प्राचीन विद्याओं का स्वाध्याय बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों का ध्यान मानव समाज की ओर आकर्षित हुआ और राष्ट्रीय भावों का उनमें पूर्णरूप से विकास हुआ। इसी को 'पुनरुत्थान' कहते हैं। पुनरुत्थान द्वारा यूरोप में राष्ट्रीय संस्कृति का विकास हुआ। 'सुधारण' द्वारा यूरोप में राष्ट्रीय धर्म का विकास हुआ। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मार्टिन लूथर (Martin Luther) ने जर्मनी में उस समम में प्रचलित ईसाई धर्म का खंडन किया क्योंकि उस समय ईसाई धर्म में अनेक प्रकार के दोष थे और धर्म के नाम पर पादरी बड़ा अत्याचार करते थे और उनमें बड़ा भ्रष्टाचार भी फैला हुआ था। सुधार आन्दोलन ने राज्यों को पोप से स्वतंत्र होकर राष्ट्रीय धर्म स्थापित करने में सहायता दी। इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड, जर्मनी आदि देशों में राष्ट्रीय धर्म स्थापित हुए। इस प्रकार पुनरुत्थान तथा सुधार आन्दोलनों ने क्रमशः सांस्कृतिक धार्मिक, राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया।

सुधार आन्दोलन ने राष्ट्रीय क्षेत्र में भी बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया।

---

* जे० एच रोज—नेशनैलिटी इन माडर्न हिस्ट्री।

इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करके राष्ट्रीय सम्राट् गद्दी पर बैठाये और इन राष्ट्रीय राजाओं के प्रति अन्ध राजभक्ति के भाव उत्पन्न किये। लोग इन राष्ट्रीय सम्राटों को देवतुल्य समझ कर उनके आदेशों को आंखें बंद करके मानने लगे। इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय राज्य तो स्थापित किये परन्तु इसमें दोष यह था कि इस आन्दोलन के कारण अनेक धार्मिक युद्ध हुए और प्रोटेस्टेंट (Protestant) तथा कैथोलिक (Catholic) धर्म के अनुयायियों ने एक दूसरे पर बड़े बड़े अत्याचार किये जिसके कारण यूरोप में बड़ा रक्तपात हुआ। ऐलीजाबेथ (Elizabeth) के समय में इंगलैण्ड में अवश्य पूर्ण रूप से शान्ति स्थापित रही। इस शान्ति के कारण वहां राष्ट्रीय जीवन की प्रगति को बड़ा प्रोत्साहन मिला। धार्मिक युद्धों के कारण फ्रांस और जर्मनी में भी बड़ा रक्तपात हुआ। १६४८ में वेस्टफेलिया की संधि (Treaty of Westphalia) हुई। इस संधि के द्वारा राज्यों की स्थापना हुई। इन राष्ट्रीय राज्यों को अन्य राज्यों ने स्वीकार किया। सत्रहवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप के देशों में राष्ट्रीयता के भाव पूर्ण रूप से उत्पन्न हो गये थे परन्तु जर्मनी और इटली में राष्ट्रीयता का प्रचार कुछ काल पश्चात् हुआ। सन् १७७२ के पोलैण्ड भंग ने जर्मनी में राष्ट्रीयता की लहर उत्पन्न कर दी और वहां राष्ट्रीयता के भाव शीघ्रता से उन्नति करने लगे।

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना फ्रेंच-क्रान्ति थी। फ्रेंच क्रान्ति ने फ्रांस में राष्ट्रीयता की प्रस्थापना की। फ्रेंच क्रान्ति ने "मनुष्य समाज को जातियों के रूप में संगठित करने की प्रणाली को पूर्ण रूप से स्थापित किया।"* फ्रेंच क्रान्ति ने जनतन्त्रात्मक राष्ट्रवाद का समर्थन किया, मातृ-भूमि के प्रति प्रेमभाव की वृद्धि की, राष्ट्रीय शिक्षा प्रारम्भ की, राष्ट्रध्वजा, राष्ट्रीय चिन्ह तथा राष्ट्रीय गान का प्रचार किया। फ्रेंच-क्रान्ति ने "लोकप्रिय-शासन सिद्धान्त और राष्ट्रीय भाग्य-निर्णय सिद्धान्त का संस्थापन किया।"† इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस निवासी एक शक्तिशाली जाति के रूप में परिणित हो गये। इसका प्रभाव यूरोप के अन्य देशों पर पड़ा। नैपोलियन (Napoleon) के युद्धों, [illegible] तथा [illegible]

---

* [illegible] —[illegible], पृष्ठ [illegible]।

† [illegible] —[illegible], पृष्ठ [illegible]।

शताब्दी के आरम्भ में होने वाले स्वच्छन्दवाद अथवा रोमांचवाद (Romanticism) ने यूरोप के देशों में राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित किया।

नैपोलियन के युद्धों का यूरोप के देशों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। देश देश में राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी में कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने राजनीतिक भावना को उत्तेजित किया, फ़िख्टे (Fichte) ने कहा कि "हम जर्मनों में ऐक्य की वह भावना उत्प्रेरित करना चाहते हैं जो उनके अंग-अंग को फड़का दे।" फिख्टे की राष्ट्रीय उमंग का हैगिल (Hegel) पर बड़ा प्रभाव पड़ा। हैगिल ने राष्ट्रीय उमंग से उत्प्रेरित होकर राज्य को देव तुल्य पूज्य समझा और राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने के लिये बड़ा प्रयत्न किया। उसने राष्ट्रीय राज्य को सर्वोच्च स्थान दिया और राज्य के प्रति लोगों में अत्यन्त भक्ति के भावों का संचार किया। बिस्मार्क (Bismark) ने फिख्टे और हैगिल के विचारों से प्रभावित होकर राष्ट्रीय भावना को कार्यरूप में परिणत किया। जर्मनी को पूर्णरूप से शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य बनाने के लिये उसने 'रक्त तथा लोह' (Blood and Iron) नीति का अनुसरण किया। बिस्मार्क की 'रक्त तथा लोह' नीति ने जर्मनी को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य बना दिया। उसने इस नीति-द्वारा सम्पूर्ण जर्मन जाति को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। इस नीति के अनुसार उसने ऐल्सास-लोरेन (Alsace Lorraine) को जर्मनी में अनुयोजित (annex) किया। बिस्मार्क के समकालीन ट्रीट्शके (Treitsche) ने 'केवल राष्ट्रीय राज्य' स्थापित करने के सिद्धान्त की प्रस्थापना की। उसने इस बात की घोषणा की थी कि एक दिन ऐसा आयेगा जब संसार की सब जातियाँ राष्ट्रीय राज्य स्थापित करेंगी। उसके राष्ट्रीय विचारों ने अतिक्रमणकारी (aggressive) रूप धारण किया। ट्रीट्शके ने सैनिकवाद (Militarism) का भी प्रचार किया। उसका मत है कि शक्ति के दृष्टिकोण से राज्य का प्रतिनिधित्व "केवल राष्ट्र ही करता है।" उसने राष्ट्र का आध्यात्मिक अस्तित्व नहीं माना है। उसके विचारों से प्रभावित होकर हिटलर (Hitler) ने राष्ट्रवादी सिद्धान्त को और अधिक उग्ररूप दिया। राष्ट्रीयता का उग्ररूप हिटलर के कृत्यों में पूर्ण रूप से प्रकट हुआ।

इटली पर भी नैपोलियन के युद्धों का प्रभाव पड़ा और जर्मनी

के समान वहाँ भी राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। इसी समय (अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी में) इटली में भी राष्ट्रीय ऐक्य स्थापित हुआ। इटली का राष्ट्रीय संगठन करने में दांते (Dante) मैकियावेली (Machiavelli) और कैवूर (Cavour) ने जो प्रयत्न किया वह सबको विदित है। परन्तु वास्तव में मेजिनी (Mazzini) को ही इटली में राष्ट्रवाद का जन्मदाता कहा जाता है। मैजिनी का आदर्श बड़ा उच्च था। उसने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक सिद्धान्त का रूप दिया। उसका कथन है कि "मेरे लिये राष्ट्रीयता एक ऐसी पवित्र वस्तु है जो मानव-हित तथा मानव प्रगति का श्रमोपकरण (instrument of labour) है।" एक स्थान पर उसने यह भी लिखा है कि "प्रत्येक जाति का एक विशेष उद्देश्य है जो मानव समाज के साधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिये सहयोग करता है। यही उद्देश्य राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयता एक पवित्र वस्तु है।" मेजिनी के मतानुसार राष्ट्रीयता निर्धारित करने के लिये भौगोलिक आधार अधिक महत्व रखता है। उसने लोकमत को राष्ट्रीयता की आधारशिला बतलाया है। वह वंशीय मूल को राष्ट्रीयता के लिये आवश्यक नहीं समझता है। मेजिनी का विश्वास है कि "सच्चे सिद्धान्त के अनुसार अपने देश के लिये श्रम करने में हम मानव समाज के लिये श्रम करते हैं।" मेजिनी के देशभक्ति के विचार संकुचित न थे। वह एक धार्मिक पुरुष था और मानव जाति में उसे पूर्ण विश्वास था। उसी की प्रेरणा से प्रेरित होकर इटली-नवयुवक (Young Italy Party) ने यह शपथ ली थी कि "ईश्वर के नाम पर, इटली के नाम पर, इटली के पवित्र देश पर न्यौछावर होने वालों के नाम पर जिन्होंने देशी तथा विदेशी [illegible] के कारण अपने प्राण दिये हैं,......जिस देश ने मुझे जन्म दिया है और जो मेरे बच्चों की जन्मभूमि होगा उस देश के प्रति जो मेरा प्रेम है उसकी शपथ लेकर......[illegible]

[illegible]

समर्पित करता हूँ।" इस दल ने अपनी शपथ के अनुसार देश का निर्माण करने में पूर्ण सहायता दी थी।

प्रथम महायुद्ध ने यूरोप को राष्ट्रीय राज्यों के रूप में संगठित करने में बड़ी सहायता की। राष्ट्रीयता के आधार पर यूगोस्लैविया (Yugo-slavia), रूमानिया (Roumania), जैको-स्लोवाकिया (Czecho-Slovakia), आदि स्वयं-शासित राज्यों की स्थापना की गई और पोलैन्ड का विस्तार बढ़ाया गया। इसी आधार पर ऐल्सास-लोरेन (Alsace Lorraine) फ्रांस को दिये गये और दक्षिणी स्लैस्विग (Schleswig) डेनमार्क (Denmark) को सौंपा गया। नाज़ी जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना पराकाष्ठा पर पहुँची। जर्मनी से यहूदी आदि अन्य जातियों का निष्कासन करके एक जाति, एक भाषा, एक धर्म, एक वंश, तथा एक देश के आधार पर जर्मनों का संगठन करके हिटलर ने सम्पूर्ण संसार को युद्ध की अग्नि में झोंक कर एक बड़ी संख्या में संसार के मानव समाज की आहुति दी और स्वयं भी उसी में स्वाहा हुआ।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रथम महायुद्ध से पूर्व कुछ तुर्की देश-भक्त विद्वानों ने यूरोप की अन्य जातियों की देखा-देखी अपने देश में राष्ट्रीयता स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु उस समय उन्हें कुछ विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। अंत में मुस्तफा कमाल पाशा ने टर्की में पूर्ण रूप से राष्ट्रीय राज्य स्थापित किया। उसने सम्पूर्ण तुर्की को राष्ट्रीयता के सूत्र में बाँध कर एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। उसने एक देश, एक भाषा, एक साहित्य और एक संस्कृति स्थापित की। उसने टर्की के उच्च राजकीय कर्मचारियों को आदेश दिया कि अन्य देश की जातियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित न करें। आज वही देश एक सुसंगठित राष्ट्रीय राज्य है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध संगठन करके लोगों ने बोल्शेविक (Bolshevic) आन्दोलन किया और रूसी सम्राट् की हत्या करके राष्ट्रीय संगठन करने का प्रयत्न किया। आज रूस में अनेक प्रकार की भाषायें, संस्कृति जातियाँ तथा धर्मों के होते हुए भी रूसी लोग राष्ट्रीयता के संगठन में बँधे हुए हैं। द्वितीय महायुद्ध में राष्ट्रीय संगठन के कारण रूस ने हिटलर जैसे दिग्विजयी के दाँत खट्टे किये और अपने को संसार में सबसे शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य सिद्ध किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से जापान में राष्ट्रीयता के भाव जागृत

हुए। जापान में राष्ट्रीयता के भावों को उत्तेजना देने वाला विशेष कारण या यूरोपियन जाति के लोगों का जापान में पदार्पण करना। जापानवालों को यह सहन न हुआ कि वहाँ कोई अन्य जाति आकर उनके देश पर अपना अड्डा बनाये। जापान की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसके कारण जापान को एक राष्ट्रीय राज्य बनाने में बड़ी सहायता मिली। जापान को पहले से ही संसार की अन्य सब जातियों से प्रकृति ने ही पृथक् कर रखा था। उनका वंश, उनकी भाषा, उनकी संस्कृति, उनके रीति रिवाज अन्य सब जातियों से भिन्न हैं। वहाँ केवल एक ही धर्म है। इन बातों ने वहाँ राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़ी सहायता दी। जापान राष्ट्रीय राज्य का सबसे श्रेष्ठ उदाहरण है।

चीन और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का अभाव रहा है। चीन में धार्मिक विभिन्नता तो अवश्य है परन्तु वहाँ भाषा, साहित्य, संस्कृति तथा जाति की विभिन्नता नहीं है। चीन में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विदेशियों के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन हुआ और राष्ट्रीयता के भावों की जागृति हुई। वहाँ राष्ट्रीय राज्य भी स्थापित हुआ परन्तु कुछ राजनीतिक कारणों के प्रभाव से चीन में लगभग १३ वर्ष तक गृह युद्ध हो रहा है जिसके कारण वहाँ राष्ट्रीयता पूर्णरूप से स्थापित न हो सकी। आज चीन राष्ट्र साम्यवादी होकर प्रतिगमनशील हो रहा है।

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जिसमें लगभग २०० भाषायें बोली जाती हैं। यहाँ सब धर्मों के मानने वाले रहते हैं और यहाँ अनेक प्रकार के रीति रिवाज हैं। अंग्रेजी राज्य ने भारतवर्ष को संगठित करने का प्रयत्न किया। भारतवर्ष में अंग्रेजी का प्रचार करके भारत-वासियों को इस योग्य कर दिया कि वे एक भाषा में वार्तालाप कर सकें। भारतवर्ष में कई वंश के लोग रहते हैं। इतनी विभिन्नता होते हुए भी बहुत सी बातें ऐसी हैं जो भारतवर्ष को एक राष्ट्रीयता सूत्र में बांधने में सहायक हुई हैं। भारतवर्ष की भौगोलिक दशा ने भारत को एक राष्ट्र बनाने में बड़ी सहायता दी है। [illegible]

और महात्मा गांधी ने भारतवासियों में राष्ट्रीयता के भाव फूंके और १९४७ में भारतवर्ष में स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य स्थापित हुआ। सरदार पटेल ने बुद्धमानी और चतुराई से साढ़े पांच सौ से अधिक राज्यों में विभाजित भारतवर्ष को एक महान् राष्ट्र में संगठित किया और उन सब राज्यों का अन्त किया। आज भारतवर्ष सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों में गिना जाता है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जगलुल पाशा ने मिश्र देश में राष्ट्रीय संगठन किया। मिश्र को अंग्रेजों की अधीनता से मुक्त किया। सन् १९२२ में अंग्रेजों ने मिश्र को स्वतंत्र किया। आज मिश्र भी एक उन्नतशील राष्ट्रीय राज्य है।

अरब लोग अभी तक पूर्ण रूप से राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हुए हैं। इसका कारण यह है कि अरब निवासी उत्तरी अफ्रीका, अरब, सिरिया, ईराक, ईरान, आदि देशों में फैले हुए हैं। इसलिये उनका संगठन होना कठिन है। अरब देश में भी मुस्लिम अरब और ईसाई अरब लोगों में परस्पर ऐसा वैमनस्य चला आ रहा है कि वे अरब देश में भी राष्ट्रीयता का बंधन सफलतापूर्वक स्थापित नहीं कर सकते हैं। इस धार्मिक विरोध के अतिरिक्त एक यह कठिनाई भी है कि वे लोग शिक्षित बहुत कम हैं। अशिक्षित होने के कारण भी उनमें राष्ट्रीयता का अभाव है। एक और कारण है जो उन्हें राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं होने देता है। वे लोग बड़े दरिद्री, और निर्धन हैं। निर्धनता के कारण उन्हें अन्य धनी देशों के आश्रित रहना पड़ता है अतः अरब लोगों का राष्ट्र रूप में संगठिन होना कठिन है।

जातीयता तथा आत्म निर्णय (Nationality and Self-determination)–सन् १८१५ वियेना कांग्रेस (Congress of Vienna) की संधि के समय से यूरोप में यह विचारधारा फैली कि एक जाति, एक राष्ट्र, अर्थात् एक जाति के लोगों का एक राज्य बने। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस विचारधारा में एक नवीन सिद्धान्त का सम्मिश्रण आ गया। वह था 'जातीय-आत्म-निर्णय-सिद्धान्त' अर्थात् प्रत्येक जाति को अपने देश पर स्वयं शासन करना चाहिये। अब राज-शास्त्र वेत्ताओं के दो मत हो गये। एक मतवाल तो कहते हैं कि एक जाति का एक राज्य हो और दूसरे मतवाले कहते हैं कि एक राज्य में अनेक जातियों वाला राज्य श्रेष्ठ है और ऐसे राज्य की उन्नति होतीं ही। जे० ऐस० मिल ने अपने 'रिप्रैजैन्टेटिव गवर्नमेन्ट' (Representative Government) नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "स्वतंत्र संस्थाओं के लिये यह एक अनिवार्य स्थिति है कि शासनों की सीमायें

जातियों (की सीमाओं) के साथ समावृत्त (Coincide) होनी चाहिये।" रैमज़े म्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "सम्पूर्ण आधुनिक युग का अनुभव इस बात का प्रतीक है कि जहाँ दृढ़ आत्मीयता के आधार पर वास्तविक जातीयता का अस्तित्व है; वहाँ उस जाति तथा संसार के हित के लिये यह आवश्यक है कि वह उतनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ले जितनी उसकी विशिष्ट विचारधारा तथा जीवन की प्रगति के लिये अनिवार्य है। यह स्वतन्त्रता इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि उसे इस बात का विश्वास अनुभव हो कि उसके विशेष मस्तिष्क तथा आचरण की अभिव्यक्ति के लिये उसके पास पर्याप्त साधन हैं। केवल इसी प्रकार वह जाति उस वैचित्र (Variety) में अपना पूर्णरूप से अनुदाय (Contribution) प्रदान करने योग्य होगी जो पाश्चात्य सभ्यता की शक्ति (बनी हुई) है।"

कुछ राजशास्त्र-वेत्ताओं का मत इस सिद्धांत के बिल्कुल विरुद्ध है। लार्ड ऐक्टन (Lord Acton) का कथन है कि "जातीयता सिद्धांत (अर्थात् 'एक जाति, एक राज्य' सिद्धांत) समाजवाद सिद्धांत की अपेक्षा आधुनिक अनर्गल (adsurd) तथा अधिक अपराधी (criminal) है।" ज़िमर्न (Zimmern) का कथन है कि "अधिक काल व्यतीत होने पर राष्ट्रीय राज्य सिद्धांत की वही दशा होगी जो हेनरी अष्टम (Henry VIII) तथा लूथर (Luther) के राष्ट्रीय-धर्म सिद्धांत की हुई।" बी० जोसफ़ (B. Joseph) का मत है कि "एक जाति, एक राज्य सिद्धांत बड़ा भयानक है और संसार की उन्नति में विशेष रूप से बाधक है।" एक स्थान पर वह लिखता है कि 'विचार करने से यह विदित होता है कि एक जाति और एक राष्ट्र को एकात्मिकता देनेवाला सिद्धांत नितान्त भ्रांतिपूर्ण तथा वास्तव में निराधार है।"* इसी विषय का वर्णन करते हुए आगे चलकर वह लिखता है कि "संसार में शांति और व्यवस्था स्थापित रखने की आशा केवल उसी दशा में हो सकती है जब कि अनेक जातियों के लोग एक राज्य में सम्मिलित होकर सहयोग करें और साथ ही साथ प्रत्येक (जाति) अपना निजी राष्ट्रीय जीवन व्यतीत करे।' प्रोफ़ेसर हाकिंग (Prof. Hocking) का भी यही मत है कि "किसी जाति को राज्य बनाने का विशिष्ट अधिकार नहीं है।" रैमज़े म्योर ने एक स्थान पर लिखा है कि "केवल अनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वतं-

* बी जोजफ—नैशनैलिटी, पृष्ठ ३२४।

श्रता श्रौर ऐक्य (स्थापित करने) का अधिकार है। मनुष्यों के समान जातियों को भी अपने अधिकारों का उपार्जन (earn) करना चाहिये। एक जाति को अपना अस्तित्व स्थापित रखने का अधिकार तभी हो सकता है जब वह अपने अधिकारों का प्रयोग अभियाचक (claimant) और जन-साधारण के लाभ के लिये करे।" हाकिंग का कथन है कि एक जाति को तभी सम्पूर्ण सत्ताधारी स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने देना चाहिये जब उनमें निम्नलिखित गुण विद्यमान हों:—

(१) वह अपनी सम्पत्ति का समुचित प्रवन्ध कर सके और प्रकृति उत्पादन स्रोत तथा मूलधन की वृद्धि कर सके।

(२) वह अच्छे विधान बना सके और श्रेष्ठ न्याय व्यवस्था स्थापित कर सके।

(३) समुचित शासन प्रवन्ध कर सके।

(४) व्यापार सम्बन्धी कार्य, ऋण चुकौती तथा पर्यटन संबंधी कर्तव्यों को समझे और उनका पालन करे।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में समुचित भाग ले, राजदूत रखे, पंच बने, संधि आदि करे और विशेष कर ऐसे स्त्री पुरुष उत्पन्न करे जो अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में उचित तथा गौरवपूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकें।

(६) युद्ध के समय विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सके।

राष्ट्रवाद सिद्धान्त की आलोचना—बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने राष्ट्रवाद को एक आदर्श सिद्धान्त माना है और उसे देवतुल्य पूज्य समझा है। बहुतों का मत है कि यह सिद्धान्त नितान्त अनर्गल तथा दोषपूर्ण है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा लोकहित का घातक है। सी० जे० ऐच० हेज़ (C. J. H. Hayes) ने राष्ट्रवाद की परिभाषा इस प्रकार की है कि "राष्ट्रवाद में जातीयता, राष्ट्रीय-राज्य तथा राष्ट्रीय देशभक्ति का सम्मिश्रण है," † बी० जोसफ (B. Joseph) आदि का विचार है कि राष्ट्रवाद व्यक्तिगत मनुष्य तथा मानव समाज रूपी शृंखलाओं के ज़ोड़ने वाली एक कड़ी है। इन लोगों का यह भी विश्वास है कि 'राष्ट्रवाद' मनुष्य को व्यक्तिगत स्वार्थ परायणता तथा वर्णरहित विश्वबन्धुता से उन्मुक्त करता है, इससे मनुष्यमात्र का कल्याण होता है, यह आध्यात्मिक शान्ति का साधन है और अन्तर्राष्ट्रवाद की प्रथम सीढ़ी है। एक व्यक्ति जितना अधिक राष्ट्रीय भावों से

† सी० जे० ऐच० हेज-ऐसे आन नेशनलिज्म, पृष्ठ २५७।

ओतप्रोत होगा उतना ही वह अन्य जातियों के राष्ट्रीयता के भावों को अनुभव कर सकेगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि में वे यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कुटुम्बियों से प्रेम करता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं है, कि वह अन्य कुटुम्बों से घृणा करता है अथवा घृणा करेगा। जिमर्न (Zimmern) का विचार है कि यदि राष्ट्रवाद को राजनीतिक तथा आर्थिक कार्य क्षेत्रों से पृथक् रखकर उसे केवल सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यों तक ही सीमित रखा जाय तो वास्तव में राष्ट्रवाद धन्य है। हमारा विचार है कि ऐसा असम्भव है अर्थात् राष्ट्रवाद राजनीति तथा आर्थिक कार्य क्षेत्र से पृथक् नहीं किया जा सकता। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'नेशनलिज्म' नामक एक सुन्दर लेख में राष्ट्रवाद को आत्मजाप (Self-idolatry) तथा "स्वार्थ सिद्धि का राजनीतिक और आर्थिक संगठन" बतलाया है। उनका विश्वास है कि पाश्चात्य राष्ट्रवाद द्वेष-भावनापूर्ण अतिक्रमणकारी और अन्य राष्ट्रों को विजय करने की प्रवृत्ति से परिपूर्ण है, अन्य जातियों को सब प्रकार से शोषण करने के लिये स्थापित किया गया है, पाश्चात्य राष्ट्रवाद में मानवता और आध्यात्मिकता का ह्रास है। यह निर्जीव यांत्रिक (Mechanical) सिद्धांत है जो व्यक्तित्व का नाश करता है और एक जाति के लोगों को एक ही साँचे में ढालता है। इससे विश्ववान्धवता तथा मौलिकता के भावों का ह्रास होता है। हेज़ (Hayes) ने भी राष्ट्रवाद की तीव्र आलोचना की है। उसने राष्ट्रवाद के दो भेद किये हैं। उसके मतानुसार राष्ट्रवाद दो प्रकार का है—एक तो वास्तविक जिसे ऐतिहासिक कह सकते हैं और जिसका विकास मानव समाज के विकास के साथ हुआ है। वह इस सिद्धान्त को श्रेष्ठ समझता है और इसका समर्थन करता है, परन्तु दूसरी प्रकार के राष्ट्रवाद के वह विरुद्ध है और इसका उसने खंडन किया है। दूसरी प्रकार का राष्ट्रवाद उसने "राष्ट्रवाद कृत्रिम" बतलाया है। उसका विचार है कि कृत्रिम राष्ट्रवाद स्वजाति के प्रति व्यक्तिगत मिथ्या अंहकार की चित्तवृत्ति से उत्पन्न होता है और इसके आधार पर अन्य जातियों अथवा राष्ट्रों से द्वेष किया जाता है। इस प्रकार का राष्ट्रवाद संसार में कभी उन्नति नहीं कर सकता है। शिलीटो (Shillito) का कथन है कि 'राष्ट्रवाद मनुष्य का द्वितीय धर्म बन गया है' उसके अपने निजी देवता, गुरु, महन्त, पूजा रीति-रिवाज और त्योहार हैं और भावुक, आवेशपूर्ण तथा अन्तः प्रेरणा युक्त है। उसके अनुयायी उसके अन्धभक्त हैं। इन राष्ट्रवादियों का एक विशेष ध्येय है। वह

ध्येय है अन्य राष्ट्रों को विजय करना, उन पर अत्याचार करना और उनका शोषण करना। वास्तव में यह राष्ट्रवाद सैनिकवाद है।

राष्ट्रवाद सिद्धान्त प्रत्येक जाति को अपने वंशीय मूल, साहित्य, संस्कृति, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज के आधार पर संगठित करना सिखाता है। इस सिद्धान्त के मानने वाले अन्य जातियों से द्वेष करते हैं, उन्हें अपने देश से निर्वासित करते हैं। अन्य जातियों तथा देशों को विजय करके अपने राष्ट्र के हित के लिये उनका शोषण करते हैं। अन्य देशों तथा जातियों से संबंध न रखने के लिये भांति-भांति के विधान बनाते हैं और आयात-निर्यात-कर-भित्ति (Tariff wall) स्थापित करते हैं। और निर्बल जातियों पर अत्याचार करते हैं। उनमें न्याय-शीलता का भाव लेशमात्र नहीं होता है। सी० जे० ऐच० हेज़ (G. J. H. Hayes) ने अपनी 'ऐसे आन नेशनलिज़्म' नामक पुस्तक में इस विषय पर एक अत्यन्त रोचक उदाहरण दिया है। उसने लिखा है कि "चिली में वालपरायजो नामक एक नगर में एक शराब की भट्ठी में मदिरापान करने वालों में कुछ झगड़ा हो गया। उन मदिरापान करने वालों में अमेरिका के संयुक्त राज्य का एक नाविक सैनिक भी सम्मिलित था। झगड़े में उस सैनिक की हत्या हुई। परिणाम यह हुआ कि संयुक्त राज्य (अमेरिका) की सरकार ने सन् १८९१ में चिली की सरकार से ७५००० डालर क्षति-पूर्ति के रूप में प्राप्त किये। हेज़ ने अनेक उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि राष्ट्रवाद ने ही साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन दिया है। हेज़ का कथन है कि "व्यावसायिक सैनिकवादी ही वास्तव में अमर्यादित राष्ट्रवादी हैं।" राष्ट्रवाद यह सिखाता है कि "मेरा देश बुरा या भला जैसा भी है, मेरा देश है।" राष्ट्रवाद मिथ्या वंशीय अभिमान उत्तेजित करके अन्य जाति तथा वंश के लोगों पर अत्याचार करने को प्रेरित करता है। दक्षिणी अफ्रीका और अमेरिका में क्रमशः भारतवासियों और हब्शियों पर जो अत्याचार हो रहे हैं वह सबको विदित हैं। लार्ड ह्यू सिसिल (Lord Hugh Cecil) ने 'देश भक्ति' को, आलोचकों को चकनाचूर करने वाली आततायी की गदा बतलाया है।

परन्तु वास्तव में राष्ट्रवाद इतना कुत्सित तथा घृणित सिद्धान्त नहीं है जैसा उसको ऊपर चित्रित किया गया है। राष्ट्रवाद एक अन्तः प्रेरणा है। ऐतिहासिक विकास के समान मानवजाति के विकास के साथ साथ इसका भी विकास हुआ है। यह एक वास्तविक सिद्धान्त

है और मनुष्य के जीवन के सदृश इसका भी अस्तित्व है। एक अमेरिकन यहूदी ने लिखा है कि चाहे लोग अपने वस्त्र, राजनीति, पत्नियाँ, धर्म तथा सिद्धान्त का परिवर्तन कर लें, परन्तु वे अपने दादाओं (grand-fathers) का परिवर्वन नहीं कर सकते। वास्तव में राष्ट्रीयता मनुष्य की प्रकृति में सम्मिलित है। राष्ट्रवाद में बहुत से गुण हैं। केवल इतना ही प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि उसमें स्वार्थ के स्थान पर परमाथ होना चाहिये। हेज का कथन है कि यदि राष्ट्रवाद और शुद्ध देशभक्ति को एक समान समझ लिया जाय तो वह (राष्ट्रवाद) मानव हित के लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा। बी० जोसफ ने लिखा है कि 'एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय संसार का अभिप्राय है सर्वश्रेष्ठ जीवन व्यतीत करती हुई जातियों का एक संसार।* —वास्तव में शुद्ध राष्ट्रवाद संसार के हित के लिये कल्याणकारी है। वर्तमान राष्ट्रवाद से संकुचित भावों को पृथक् करने पर यह एक आदर्श सिद्धान्त सिद्ध होगा और अन्तर्राष्ट्रवाद स्थापित करने में सहायक होगा।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये:—

ए० टायनबी—*नेशनैलिटी एण्ड दी वार*
ए० ई० जिमर्न—*नेशनैलिटी एण्ड गवर्नमेन्ट*
जे० एँच० रोज—*नेशनैलिटी इन माडर्न हिस्ट्री*
डब्ल्यू० बी० पिल्सबरी—*साइकालौजी आफ नेशनैलिटी ऐन्ड इन्टरनेशनलिज्म*
जे० ऐस० मिल—*रिप्रैज़ैन्टेटिव गवर्नमैन्ट*
ऐच० जे० लैस्की—*ए ग्रामर आफ पोलिटिक्स*
सी० जे० ऐच० हेज—*एसेज़ आन नेशनलिज्म*
जी० पी० गूच—*नेशनलिज्म*
आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—*इण्डियन नेशनैलिटी*
रैमज़े म्यूर—*नेशनलिज्म ऐन्ड इन्टरनेशनलिज़्म*

---

* बी० जोसफ नेशनैलिटी, पृष्ठ ३२८

अध्याय २१

अन्तर्राष्ट्रवाद

प्राचीनकाल में मनुष्यों का जीवन इतना जटिल न था जितना वर्तमान काल में है। उस समय लोग ग्रामों अथवा छोटे-छोटे नगरों में रहा करते थे। जीवन अत्यन्त साधारण था; जीवन की आवश्यकताएँ न्यूनातिन्यून थीं। भोजन, वस्त्र, रहन-सहन, रीति-रिवाज में कोई आडम्बर न था। उस समय के जीवन और इस समय के जीवन में धरती आकाश का अन्तर हो गया है। अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति ने मनुष्य को कुछ का कुछ बना दिया है। आधुनिक युग के वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार का रूप ही परिवर्तित कर दिया है। रेल, वाष्प पोत, वायुयान, जल-थल तार, दूरभाष (telephone), रेडियो आदि के अविष्कारों ने संसार के दूरस्थ देशों के नगरों को प्रान्तीय नगरों की भाँति निकटवर्ती बना दिया है। आज हम संसार के किसी भी भाग के मनुष्य से कुछ क्षणों में वार्तालाप कर सकते हैं। संसार के किसी कोने में होने वाली घटना आज सम्पूर्ण संसार में खलबली उत्पन्न कर सकती है। एक राजनैतिक हत्या सारे संसार को युद्ध की अग्नि में झोंक सकती है। एक संक्रामक रोग संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक कुछ दिनों में फैल सकता है। एक सप्ताह के भीतर ही पैरिस अथवा लंदन के फैशन की नकल भारत में हो सकती है। नगर से दूर एक छोटी सी कर्मशाला (factory) में एक श्रमिक पर किये हुए अन्याय अथवा अत्याचार का प्रभाव कुछ ही दिनों में सम्पूर्ण संसार में हलचल मचा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (International Labour Organization) संसार के किसी कोने में किसी भी श्रमिक को अपना आदेश मनवा सकता है। सिनेमा, समाचार-पत्र, आकाशवाणी आदि द्वारा क्या नहीं हो सकता है? आज संसार के एक नगर में होने वाला साम्प्रदायिक युद्ध संपूर्ण संसार में साम्प्रदायिक युद्ध आरम्भ कर सकता है। आधुनिक काल में वास्तव में हमारा जीवन पूर्णरूप से अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। अब प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सदस्य समझता है। डाक्टर नारवुड (Dr. Nor-

wood) का कथन है कि "हम एक दूसरे से सम्बद्ध हैं" संसार म सभ्य समाज को उन्नति के लिये अपनी चित्त-वृत्ति को अन्तर्राष्ट्रीय बनाना पड़ेगा। बिना ऐसा किये उन्नति नहीं हो सकती है।

अन्तर्राष्ट्रवाद केवल काल्पनिक भावुकता ही नहीं है जो स्वार्थ सिद्धि के लिये प्रयोग में लाया जाय और केवल शान्ति के समय में इसका प्रचार तथा अनुकरण किया जाय और दो जातियों में युद्ध छिड़ने पर उसकी अवहेलना करके एक या दूसरी युद्ध करनेवाली जाति का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हो जाया जाय। अन्तर्राष्ट्रवाद वास्तव में एक ऐसा सिद्धांत है जिस पर चलकर मानव समाज का कल्याण हो सकता है और विश्व में पूर्ण शान्ति स्थापित रह सकती है, परन्तु इसके लिये स्वार्थ को सर्वथा त्याग देने की अवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रवाद को केवल स्वप्नलोकवाद भी न समझना चाहिये। न राष्ट्रवाद सिद्धांत को मृगतृष्णा ही समझना चाहिये। स्वप्नलोकवादी राष्ट्रवादियों का विचार है कि एक क्षण में एक राष्ट्रवाद द्वारा संसार में एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति की स्थापना हो सकती है। वास्तव में ऐसी कल्पना निर्मूल है। वास्तविक राष्ट्रवादियों का यह विचार है कि प्रत्येक राष्ट्र पूर्ण रूप से स्वतंत्र रहता हुआ अपनी व्यक्तिगत उन्नति करता हुआ, कुछ विशेष विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करके तथा कुछ विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग करता हुआ अपनी तथा संसार के अन्य राष्ट्रों की उन्नति कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रवाद का विकास (Growth of Internationalism)- इतिहास के पढ़ने से पता चलता है कि अन्तर्राष्ट्रवाद का विकास यूनान के छोटे-छोटे नगर राज्यों से हुआ है। इन नगर राज्यों में अन्तर्राष्ट्रवाद के अंकुर विद्यमान थे। यद्यपि यूनान के नगर राज्य एक दूसरे से पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे और प्रत्येक की शिक्षा; संस्कृति तथा शासन पद्धति भी एक दूसरे से भिन्न थी परन्तु इन विभिन्नताओं के होने पर भी कुछ बातें ऐसी थीं जिनसे हमको यह विश्वास होता है कि वहाँ के भिन्न-भिन्न नगरों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित था। यूनानी अन्तर्राष्ट्रीय विधानों के अनुसार कार्य करते थे। जिस प्रकार आधुनिक काल में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का पालन करते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में यूनानी लोग भी कुछ विशेष नियमों का पालन करते थे जिन्हें हम आजकल अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत मानते हैं। यूनानी राज्य युद्ध करते थे और संधियाँ भी

करते थे। युद्ध के बीच में मृत सैनिकों की अन्तिम क्रिया-कर्म करने के लिये अस्थायी संधियाँ करते थे। एक राज्य दूसरे राज्य में अपने राजदूत भेजता था। राजदूतों के सम्बन्ध में वैसे ही नियमों का पालन किया जाता था जैसे आजकल किया जाता है। राज्य संघ और राष्ट्र संघ स्थापित किये जाते थे। पारस्परिक राज्यों का झगड़ा निपटाने और निर्णय करने के लिये पंच, पंचायत तथा अस्थाई न्यायालयों की स्थापना की जाती थी। इनके खेलकूद और त्योहारों में भी अन्तर्राष्ट्रीयता विद्यमान थी। उनका धर्म और इनकी पूजा में भी अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव थे। इतनी बातों में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध होने पर भी ये राज्य वास्तव में एक दूसरे से द्वेष रखते थे और विदेशी आक्रमण के समय पूर्ण रूप से सहयोग नहीं कर सकते थे। इसलिये इन राज्यों का शीघ्र नाश हो गया और अधिक कालतक स्थापित न रह सके।

लगभग उसी काल में जब यूनान की सभ्यता उच्च शिखर पर थी वहाँ पर द्वन्द्वमुक्तवाद सिद्धान्त (Stoicism) का प्रचार हुआ द्वन्द्वमुक्तवादियों ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि संसार के सब मनुष्य समान हैं और एक दूसरे के भाई हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने को एक विश्व-व्यापी संस्था का सदस्य समझना चाहिये। अतः यूनान के द्वन्द्ववादियों ने सबसे प्रथम संसार में विश्व-बंधुता की शिक्षा दी। द्वन्द्ववादियों ने नैसर्गिक विधान (natural law) की स्थापना की। इन विचारों का पाश्चात्य राज-शस्त्रवेत्ताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा। नैसर्गिक विधान का रोमन लोगों ने प्रयोग किया और इसी के आधार पर रोमन लोगों ने अपने विधान-निर्माण किये। अन्त में यही विधान अन्तर्राष्ट्रीय विधान के रूप में परिणत हुए।

यूनानी नगर राज्य को रोमन लोगों ने विजय किया और यूनान को रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया। रोम आरम्भ में नगर राज्य के रूप में था। रोमवालों ने सबसे पहले इटली के छोट-छोटे राज्यों को एक साम्राज्य के रूप में संगठित किया। इसके पश्चात् उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति की वृद्धि करके अन्य देशों को विजय करके रोम साम्राज्य की स्थापना की। रोमन लोगों का विचार सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने का था। आरम्भ में रोमवालों ने अपने आस-पास के नगर-राज्यों को विजय करके उनके साथ समानता का व्यवहार किया परन्तु कालान्तर में उन्होंने इन नगर राज्यों को अधीन राज्य बनाकर रोमन साम्राज्य स्थापित किया। रोमन साम्राज्य में सब राज्यों के नागरिकों को समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त

थे। विशेषता केवल इतनी ही थी कि सम्पूर्ण साम्राज्य में रोमन विधान के अनुसार ही शासन होता था और रोमन विधान ही सब रोमन साम्राज्य के नगरों में लागू था। ये रोमन विधान वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधान थे जिनका सब नगर पालन करते थे। इन्हीं विधानों द्वारा सम्पूर्ण साम्राज्य में न्याय होता था। न्यायालयों में सबको समान अधिकार प्राप्त थे, किसी के साथ किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता था। रोमन शासन की अन्तर्राष्ट्रीय नीति यह थी कि वे अन्य राज्यों में भेद-भाव उत्पन्न करके सफलतापूर्वक शासन करने का प्रयत्न करते थे। अतः अन्य राष्ट्र मिलकर कभी रोमन शासन का विरोध नहीं कर सकते थे। सर्व प्रथम भेद-नीति (फूटनीति) का प्रचार रोमन लोगों ने किया और फिर अन्य साम्राज्य-वादियों ने इस नीति का अनुसरण किया। ये लोग दो राज्यों में परस्पर भेद डालकर एक राज्य का पक्ष लेकर दूसरे को दबा कर अपने अधीन कर लेते थे। कालान्तर में यही नीति अंग्रेजों ने भी भारतवर्ष में प्रयोग की थी। रोमन लोगों के विधानों में परदेशी संबंधी विधान (Jus gentium) बड़ा महत्व रखता है। इसके अनुसार रोमन विधान केवल रोम साम्राज्य के लोगों पर ही लागू होता था अथवा रोम के मित्र राष्ट्रों में लागू होता था अन्य लोगों पर रोमन विधान लागू नहीं होता था। रोम वालों ने सर्वप्रथम भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों को एक शासन संगठन में संगठित किया और इस प्रकार आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीयता की नींव डाली। रोमन लोग ही वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय विधान के जन्मदाता कहे जाते हैं।

रोम साम्राज्य में सब देशों तथा नगरों के नागरिकों को समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। न्यायालयों में भी सबको समान समझा जाता था। सब प्रांतों में समान शासन-प्रणाली द्वारा शासन किया जाता था। इन्हीं बातों से आधुनिक काल के अन्तर्राष्ट्रवाद की स्थापना हुई है। रोम वालों ने अन्तर्राष्ट्रीयता के विचारों की उन्नति अनेक प्रकार से की, सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने के लिये लैटिन भाषा की शिक्षा रोमन साम्राज्य में अनिवार्य कर दी गई थी। लैटिन भाषा के अनिवार्य करने से रोमन साम्राज्य के साहित्य में समानता आई और इसका परिणाम यह हुआ कि रोम साम्राज्य निवासियों की संस्कृति में समानता आ गई।

मध्यकालीन यूरोपियन राज्यों ने रोमन विधानों के आधार पर अपने-अपने विधान निर्माण किये। इसका परिणाम यह हुआ कि रोमन अन्य-देशी विधान (Jus gentium) का प्रभाव मध्यकालीन यूरोपीय साम्राज्यों पर

पड़ा। मध्यकालीन यूरोप पर रोमन विश्वबन्धुता सम्बन्धी विचारों का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। पोप-राज्य तथा पवित्र रोमन-साम्राज्य (Holy Roman Empire) विश्वबन्धुता के भावों से पूर्णरूप से प्रभावित थे। इनका सार्वभौमिक स्वरूप था। मध्य युग में यूरोप में पोप बड़ा शक्तिशाली था। संपूर्ण ईसाई धर्म के माननेवाले पोप के अधीन थे। सब ईसाई राज्यों के निवासियों के लिये धार्मिक, बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक विषयों में पोप की सम्राटों से अधिक आज्ञा पालन की जाती थी। पोप की आज्ञा का उल्लंघन सम्राट् भी नहीं कर सकते थे। यदि कोई सम्राट् पोप की आज्ञा अथवा इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करते थे तो पोप घोषणा द्वारा उस सम्राट् को सम्राट् पद के अयोग्य घोषित कर देता था और प्रजा को उसकी आज्ञा न मानने का आदेश दे देता था। ऐसे अनेकों उदाहरण यूरोप के इतिहास में पाये जाते हैं। मध्य युग के अन्त में पोप का प्रभाव कम हो गया, सम्राटों ने अपने अधिकारों का बलपूर्वक प्रयोग किया और इस प्रकार पोप के प्रभाव का ह्रास हुआ। इस समय में भी पोप का निर्णय सर्वमान्य समझा जाता था और लोग उसके निर्णय को स्वीकार करते थे। मध्ययुग में धार्मिक अन्तर-राष्ट्रीयता का बोलबाला रहा।

आधुनिक युग का आरम्भ 'पुनरुत्थान' (Renaissance) और 'सुधारण' (Reformation) के समय से होता है। पुनरुत्थान-तथा सुधारण आन्दोलनों ने यूरोप में पोप के नैतिक तथा धार्मिक प्रभाव का अन्त किया और वहाँ राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। आधुनिक-काल के आरम्भ होने से पूर्व ही यूरोप के कुछ राजनीतिज्ञों ने पोप के सिद्धान्तों का विरोध करके उसकी शक्ति को राजनीतिक क्षेत्रों में बहुत कम कर दिया था। मार्सीलियो (Marsiglio) और मैकियावेली (Machiavelli) ने विशेष रूप से पोप के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न किया और वे इस उद्देश्य में सफल हुए। लूथर ने पोप का बड़ी कठोरता से विरोध किया और सन् १५१० में अपना सर्वप्रथम लेख प्रकाशित किया जिसकी प्रतियाँ उसने धार्मिक तथा शिक्षा-संस्थाओं के द्वारों पर चिपका दीं। इस लेख में उसने पोप के दोषों का वर्णन किया, पोप मत का खंडन किया। उसने प्रोटेस्टैन्ट (Protestant) धर्म की स्थापना की। प्रोटस्टैन्ट धर्म के आरम्भ होते ही ईसाई धर्म के दो भाग हो गये। ईसाई धर्म का विभाजन होते ही पोप की शक्ति का नाश हो गया। पोप की शक्ति का नाश होते ही अन्तर्राष्ट्रवाद का ह्रास सा

प्रतीत हुआ। राष्ट्रीयता के विचारों ने ज़ोर पकड़ा और राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना आरम्भ हुई। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रवाद का ह्रास हुआ और उस समय के दार्शनिकों, कवियों तथा साहित्य लेखकों ने राष्ट्रवाद पर अनेक ग्रन्थ लिखे और कविताएँ रचीं परन्तु उस समय में भी हम शिल्पि-संघ तथा व्यापार संघों के रूप में अन्तर्राष्ट्रवाद के प्रभाव को पूर्णरूप से अनुभव करते हैं। रैमज़े म्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "जिस अनुपात में राष्ट्रीयता के भावों का विकास हुआ उसी अनुपात में सभ्यता के भावों का न रहता होता प्रतीत हुआ।* नैतिक और धार्मिक राष्ट्रवाद के स्थान पर आर्थिक राष्ट्रवाद की स्थापना हुई परन्तु यह अधिक काल तक प्रचलित न रह सका। राष्ट्रवाद का प्रभाव अधिक बढ़ जाने के कारण राष्ट्रीय वैमनस्य की वृद्धि हुई। राष्ट्रीय वैमनस्य के कारण राष्ट्रीय युद्ध छिड़ गये। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक अर्थात् इन चार शताब्दियों में यूरोप लगातार पारस्परिक राष्ट्रीय युद्धों का क्षेत्र बना रहा और इसी बीच में इन युद्धों से साम्राज्यवाद की उत्पत्ति हुई। शक्तिशाली राष्ट्रों ने निर्बल राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित करके उनका शोषण किया। अफ्रीका और एशिया में साम्राज्यवाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस के सम्राट हेनरी चतुर्थ ने यूरोप के लिये एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय योजना तैयार की जिसके अनुसार रूस और टर्की को छोड़कर यूरोप के अन्य राज्यों को "एक ईसाई धर्म जनतंत्र संघ" में सम्मिलित करना निश्चित किया गया था परन्तु यह योजना कार्य रूप में परिणत न हो सकी।

इसी प्रकार की एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सेन् पियरी (St. Pierre) ने भी निर्माण की थी जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया था कि सम्पूर्ण यूरोप एक समाज है किसी को एक दूसरे पर शासन करने का अधिकार नहीं है। यूरोप में शान्ति स्थापित रखने के लिये प्रत्येक राष्ट्र को एक दूसरे पर निर्भर रहना चाहिये। प्रत्येक राज्य के सम्राट को यह प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि वे एक दूसरे की सीमा पर अतिक्रम नहीं करेंगे, अपने अपने राज्यों में शान्ति स्थापित करेंगे और

---

* रैमज़े म्योर—नेशनलिज़्म ऐन्ड इन्टरनेशनलिज़्म, पृष्ठ, १३०।

अराजकता का नाश करके सम्राटों के अस्तित्व को बनाये रखेंगे। राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय युद्ध द्वारा करेंगे। इस कार्य के लिये यूट्रेक्ट (Utrecht) नगर निश्चित किया गया और यह निश्चित किया गया कि "प्रत्येक राज्य के घटकों (Agents) की वहाँ एक सभा होगी जिसे शान्ति का अधिकार होगा और जो मैत्रिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये और अपने निर्णयों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिये बहुमत द्वारा विधान निर्माण करेंगी।" यह योजना भी सफल न हुई।

इसके पश्चात् रूसो (Rousseau) ने भी एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना उपस्थित की। उसकी योजना का यह अभिप्राय था कि एक विशेष विधान के अनुसार यूरोप के सब राज्यों को एक संघ के रूप में संगठित किया जाय और प्रत्येक राज्य को इसमें सम्मिलित होने के लिये बाध्य किया जाय। जो राज्य इस संघ से पृथक होने का प्रयत्न करे उसे बलपूर्वक संघ में रखा जाय।

रूसो के पश्चात् बेन्थम (Bentham) ने भी अन्तर्राष्ट्र का समर्थन किया। उसने 'प्रिंसिपल्स आफ इन्टरनेशनल ला' (Principles of International Law) नामक ग्रन्थ रचा जिसमें उसने सर्वप्रथम "अन्तर्राष्ट्रीय" शब्द का प्रयोग अंग्रेजी भाषा में किया। बेन्थम शान्तिप्रिय व्यक्ति था। उसका कथन है कि "रक्षात्मक संधियों, साधारण प्रत्याभूतियों (guarantees), निःशस्त्रीकरण तथा औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का त्याग करने से ही युद्ध रोके जा सकते हैं।* उसने अनेक देशों के लिये विधान निर्माण किये और अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार में सहायता दी। उसने आयात-निर्यात-कर प्रणाली, देशोत्कर्ष के लिये दी जानेवाली सहायता तथा उपनिवेश स्थापित करने का विरोध किया। उसका विचार है कि ये बातें संसार की उन्नति में बाधक हैं और इनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सुव्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती।

कैन्ट (Kant) ने भी अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थन किया। उसने अपने "टुवर्ड्स ऐटरनल पीस" (Towards Eternal Peace) नामक पुस्तक में एक संघीय योजना प्रकाशित की। उसका विचार है कि इस संघीय योजना द्वारा संसार में शान्ति स्थापित हो सकती है। उसने इस पुस्तक में जिन तीन

---

* शूमँन—इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ ३३५–३३६।

बातों के लिये आदेश दिया है, वे ये हैं–(१) सम्पूर्ण स्वतन्त्र राज्यों का रक्षण, (२) निर्हस्तक्षेप तथा (३) शनैः शनैः स्थायी सेना का अन्त करना। वह सार्वभौम नागरिकता का पक्षपाती था। उसका मत है कि कि सब देशों में जनतन्त्रीय शासन स्थापित होना चाहिये।

नैपोलियन (Napoleon) ने भी संसार में शान्ति स्थापित करने के लिये राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को उचित समझा। उसकी इच्छा थी कि यूरोप के सब राज्यों को विजय करके राष्ट्रीय राज्य स्थापित किये जायें। राष्ट्रीय राज्य स्थापित करके उन्हें फ्रांस के नेतृत्व में एक संघ के रूप में परिणत करके उनका संगठन किया जाय, क्योंकि उसका विचार था कि राष्ट्रीयता के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीयता स्थापित हो सकती है और ऐसी अन्तर्राष्ट्रीयता चिरस्थायी होगी। इसीलिये उसने युद्ध (Napoleonic Wars) किये थे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास (Growth of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अंकुर हमको प्राचीन काल के हिन्दू ग्रन्थों में मिलते हैं। सहस्त्रों वर्ष पूर्व कुछ ऐसे नियम थे जिनका पालन प्रत्येक राज्य करता था। राजदूत के साथ किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार नहीं किया जाता था। रामायण और महाभारत काल में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। युद्ध के समय में भी कुछ नियमों का पालन किया जाता था। यूनान में भी कुछ ऐसे नियम थे जिनका पालन सब राज्य युद्ध तथा शान्ति से समय करते थे। इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। लिखित अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास रोमन विधान (Roman Law) से आरम्भ होता है। रोमन विधान के अनुसार रोमन साम्राज्य के सब नगरों में शासन प्रबन्ध होता था। न्यायालयों में भी रोमन विधान के अनुसार न्याय होता था। मध्यकालीन यूरोप के विधानों का आधार भी रोमन विधान (Roman Law) ही था। राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों का आधार भी रोमन विधान ही था। रोमन विधान का विदेशी संबन्धी विधान (Jus gentium) बड़ा महत्वपूर्ण था। इस विधान के अनुसार सब विदेशियों के समान अधिकार थे और विदेशों पर यही विधान समान रूप से लागू होता था। विदेश सम्बन्धी विधान (Jus gentium) के अतिरिक्त एक प्रकार का नैतिक नियम भी लागू था। कुछ ऐसे विषय थे जिनके सम्बन्ध में लोगों को तथा अन्य राज्यों को नैतिक कर्तव्य समझ कर उनका पालन करना पड़ता था। यद्यपि राज्य की ओर से उन नियमों का

उल्लंघन करने पर कुछ दंड नहीं मिलता था, परन्तु लोगों की दृष्टि में उनका उल्लंघन करना अनुचित तथा घृणित समझा जाता था। लोकलाज के भय से लोग इन नैतिक नियमों का पालन करते थे। ये नियम भी सब राज्यों के लिये बाध्य समझे जाते थे। रोमन विधान का यह एक विशेष अंग था कि न्याय की दृष्टि में सब नगरों के निवासी एक दूसरे के समान और स्वतंत्र हैं और कोई किसी के अधीन नहीं है। समानता के अधिकार को नैसर्गिक नियम समझा गया। इस प्रकार रोमन विदेशी संबंधी विधान और नैसर्गिक विधान (jus gentium and jus naturale) के आधार पर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास हुआ।

इनके पश्चात् यूरोप के कुछ न्याय-शास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्र-विधान सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे जिनमें उन्होंने प्राचीन काल से प्रचलित रीति-रिवाजों के आधार पर युद्ध तथा शान्ति के समय राज्यों द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों को वर्णन किया और परिस्थितियों के अनुसार उनमें कुछ परिवर्तन भी किये। ग्रोशस (Grotius) नामक प्रसिद्ध डच शास्त्रवेत्ता ने नियमों को लेखबद्ध किया। उसके पश्चात् बिन्करशूक (Bynkershock), वाटल (Vattel) आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का निर्माण किया जिनका प्रयोग यूरोप के राष्ट्रों ने अपने पारस्परिक संबंधों में किया। ये पूर्वकालीन अन्तर्राष्ट्रवादी समझे जाते हैं क्योंकि इनके विधानों में विशेषकर प्राचीन काल और मध्यकाल के रीति-रिवाजों तथा प्रचलित नियमों का वर्णन विशेष रूप से पाया जाता है। इन्होंने कुछ महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय अन्वेषणाएं नहीं की हैं। कैन्ट (Kant), वीटन (Wheaton), मैनिंग (Manning) तथा वूलज़े (Woolsey), लारेंस (Lawrence), हाल (Hall) आदि ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान की बड़ी उन्नति की है। इन्होंने नवीन अन्वेषणाएँ की हैं और उनके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय विधान को वह रूप दिया है जिस रूप में आज हम उसे प्रचलित देखते हैं। ग्रोशस वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधान का जन्मदाता समझा जाता है परन्तु वूलज़े, लारेंस, हाल आदि विद्वान् आधुनिक काल के अन्तर्राष्ट्रीय विधान निर्माता समझे जाते हैं।

समय-समय पर यूरोप में होने वाली संधियों ने तथा सभाओं ने भी अन्तर्राष्ट्रीय विधान के निर्माणों में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। राज्य तथा भूमि संबंधी विषयों पर अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विधान वैस्टफालिया

(Westphalia) की संधि (१६४८), यूट्रेख्ट (Utrecht) की संधि (१७१३) तथा पैरिस (Paris) की संधि (१७६३) में बनाये गये। वारसाई (Versailles) की संधि (१७८३) और पैरिस (Paris) की संधि (१८५६) में सर्वोच्चसत्ता संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का निर्माण किया गया। सन् १८६४ की जेनेवा की सभा (Geneva Convention) और १८६० की ब्रूसेल्स सभा (Brussels Conference) में अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य सम्बन्धी विधान बनाये गये जिनके द्वारा यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रों को युद्ध तथा शान्ति के समय किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों का संचालन करना चाहिये और किन-किन कर्तव्यों का पालन करना चाहिये।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस के सम्राट् ज़ार अलैक्ज़ेन्डर (Tsar Alexander) प्रथम ने सम्पूर्ण यूरोप में संघीय शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। अलैक्ज़ेन्डर "भावुकतावादी, आदर्शवादी, अहंवादी और परमार्थवादी था।" अर्थात् उसमें यह सब गुण एक साथ विद्यमान थे। उसने सन् १८६४ में होली ऐलाइंस (Holy-Alliance) नामक एक महत्वपूर्ण योजना बनाई जिसका ध्येय यूरोप के सब राष्ट्रों को संगठित करके एक संघ स्थापित करना था। इसी योजना में उसने यह रखा था कि एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत स्थापित की जाय और इसी योजना के अनुसार मध्यस्थ भी चुने जायें। इसी के आधार पर इंगलैंड और रूस ने सन् १८०५ में एक संधि की जिसके अनुसार इन दोनों राष्ट्रों ने यूरोप में संघीय शासन करने का और निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने का प्रयत्न किया और साथ ही साथ महान् शक्तिशाली राज्यों का सामना करने के लिये एक संगठन बना लिया। यूरोप में युद्धों के कारण यह योजना केवल कागज पर ही रही और कार्य-रूप में परिणत न हो सकी। वियना सभा (Congress of Vienna) के समय शान्ति स्थापित होने पर सन् १८१५ में रूस के ज़ार ने पुनः अपनी योजना उपस्थित की और उसके अनुसार रूस, प्रशा और आस्ट्रिया (Russia, Prussia and Austria) देशों के बीच 'पवित्र संधि' (Holy Alliance) स्थापित की। उस 'एलाइंस' में यूरोप में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सभायें कराईं। इस 'पवित्र

* रेमज़े म्योर—नेशनलिज्म एंड इन्टर नेशनलिज्म, पृष्ठ १५५।

संघि' ने यूरोप में शान्ति स्थापित रखने के लिये बड़ा प्रयत्न किया और इस उद्देश्य से उसने कई सभायें कीं। कुछ काल पश्चात् फ्रांस भी इस 'पवित्र संघि' में सम्मिलित हो गया । एक शान्ति-संघ (League of Peace) स्थापित किया गया परन्तु उसने कुछ काल पश्चात अत्याचार करना आरम्भ कर दिया । लगभग ३० वर्ष तक यूरोप में इस संघ ने शांति स्थापित रखी परन्तु यह शांति न्याययुक्त शान्ति न थी। रैमज़े म्योर के अनुसार इस लीग ने तीन महत्वपूर्ण कार्य किये । (१) इस संघ ने पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधान की स्थापना की; (२) इस संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय विषयों की स्वीकृति दी अर्थात् स्विटजरलैण्ड का तटस्थीकरण किया; (३) कुछ काल तक यूरोपीय संविधान (Concert) की स्थापना रही।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अन्तर्राष्ट्रीय विधान का पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से अन्तर्राष्ट्रीय विधान की बड़ी उन्नति हुई । इसमें बड़े महत्वपूर्ण विधानों का योग हुआ। सन् १८१५ में अन्तर्देश-नौचालन (Inland navigation) संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का निर्माण हुआ और यह निश्चित किया गया कि जो सरितायें कई स्वतन्त्र राज्यों में होकर प्रवाहित होती हैं उनमें किस विधान के अनुसार नौचालन होगा। दास-व्यापार विरोधी विधान भी बनाये गये। सन् १८५६ की पैरिस घोषणा (Declaration of Paris) द्वारा अति लाभ (Profiteering) को अवैध बतलाया गया और नौ-सैनिक उपरोध की व्याख्या की गई । सन् १८६४ तथा १८६८ की जेनेवा सभाओं (Geneva Conferences) में इस विषय पर विधान निर्माण किया गया कि युद्ध क्षेत्र में घायलों के प्रति कैसा बर्ताव होना चाहिये और उनकी सेवा शुश्रुषा किस प्रकार होनी चाहिये । परिणामस्वरूप युद्ध सेवा-समाज (Red Cross Society) की स्थापना हुई। सन् १८६७ में सेन्ट पीटर्सबर्ग (St. Petersburg) में एक सभा हुई जिसमें सभ्य देशों के पारस्परिक युद्ध में फटने वाली गोलियाँ तथा आग लगाने वाले बमों के प्रयोग के विरुद्ध तीव्र मत प्रदर्शन किया गया और इन वस्तुओं के प्रयोग का निषेध कर दिया गया। सन् १८८५ की बर्लिन सभा (Berlin Conference) में दास-व्यापार प्रथा को अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार अवैध ठहराया गया । इस प्रकार यूरोप में एक

अन्तर्राष्ट्रीयता विधान व्यवस्था हो गयी। सन् १८८७ में पुनः बर्लिन में एक सभा की गई जिसमें समस्त यूरोपीय देशों के लिये पुनर्मुद्रणाधिकार (copyright) सम्बन्धी विधानों का निर्माण किया गया। इन सभाओं के अतिरिक्त यूरोप में और भी सभाएँ बुलाई गईं जिनमें रेल, डाक, तार सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाये गये।

सन् १८९९ और १९०७ में हेग में अन्तर्राष्ट्रीय सभाएँ हुईं जो हेग कानफ्रेंसेज (Hague Conferences) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सभाओं में लगभग सभी बड़े-बड़े देशों ने भाग लिया। ये सभायें अस्त्र-शस्त्र नियमन करने के लिये हुई थीं। इनका वास्तविक ध्येय संसार के देशों का निःशस्त्रीकरण करना था। इन सभाओं को अपने उद्देश्य में कोई विशेष सफलता प्राप्त न हुई। परन्तु वे "युद्ध के समय प्रयोग होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधानों के दुहराने, उनका स्पष्टीकरण करने तथा उनको विधिबद्ध (codify) करने में सफल हुईं।" * प्रथम हेग सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत (Tribunal) की स्थापना की, यह एक नामावली थी जिसमें पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करने के लिये झगड़ा करने वाले राज्य अपना निर्णय कराने के लिये इस नामावली में से अपने पंच नियत कर सकते थे और इन पंचों का निर्णय उनको मानना अनिवार्य था। परन्तु इन पंचों से अपने झगड़ों का निर्णय कराना उनके लिये आवश्यक न था।

तटस्थ राज्य—उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्विटजरलैण्ड (Switzerland) को तटस्थता प्राप्त हुई अर्थात् संसार के सब राज्यों ने इस देश को तटस्थ (Neutral) देश स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार सन् १८३९ में बेल्जियम (Belgium) को भी तटस्थ राज्य मान लिया गया।

यूरोपीय-संविधा (European Concert)—सन् १८१५ में यूरोपीय संविधा की स्थापना हुई अर्थात् यूरोप के सब राज्यों ने मिलकर यह निश्चित किया कि सबको एकोन्मुख कार्य करना चाहिये। यदि कोई राज्य अनधिकृत अतिक्रम की चेष्टा करेगा तो उसे सब राज्य मिलकर दबाने का प्रयत्न करेंगे। यूरोपीय-संविधा के कारण कुछ काल

---

* रैमजे म्योर—नेशनलिज़्म ऐण्ड इन्टरनेशनलिज़्म, पृष्ठ, १७३।

तक यूरोप में शान्ति स्थापित रही और जब जब किसी राज्य ने अनुचित रूप से युद्ध करने की चेष्टा की तो अन्य सब राज्यों ने मिलकर उसे दबाया। परन्तु राज्यों का यह संगठन अधिक काल तक स्थापित न रह सका। यूरोप में राष्ट्रीयता के भाव बढ़े और यूरोप तीन भागों में विभाजित हो गया। इंगलैण्ड अपनी सुरक्षित प्राकृतिक भौगोलिक दशा के कारण पृथक् हो गया, जर्मनी एक त्रिगुण-मैत्री (Triple Alliance) बना कर पृथक हो गया और रूस और फ्रांस ने अपना पृथक् संगठन बना लिया। इसके पश्चात् सन् १६१६ तक कोई ऐसी प्रभावशाली राष्ट्रीय संस्था न थी जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित कर सकती।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १६१६ में पेरिस में एक संधि सभा (Peace Conference) बुलाई गई। लोग इस महासमर से बड़े भयभीत हो चुके थे और उन्हें यह विश्वास हो गया था कि यदि कोई शान्ति स्थापित करने वाला संगठन स्थापित न किया तो पृथ्वी पर से सभ्यता का नाश हो जायगा और लोग युद्ध में बलि जायेंगे। अतः विश्वशान्ति स्थापित करने के उद्देश्य को तथा कुछ दूसरे उद्देश्यों को सामने रख कर 'अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विलसन (President Woodrow Wilson) ने अपने चौदह विषयों की एक सूची इस संधि सभा के सामने उपस्थित की। इस सूची की चौदहवीं बात यह थी कि विशिष्ट प्रतिश्रव (covenant) द्वारा समान रूप से छोटे-बड़े राज्यों की शासन पद्धतियों की प्रादेशिक प्रतिष्ठा तथा राजनैतिक स्वतंत्रता की पारस्परिक प्रत्याभूति (guarantee) के लिये राष्ट्रों की एक साधारण सभा अवश्य बनानी चाहिये। अतः सन् १६२० में लीग आफ नेशन्स (League of Nations) की स्थापना हुई।

लीग के सदस्य—प्रारम्भ में वारसाई (Versailles) के संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले ही राज्य लीग के सदस्य थे। यदि कोई राष्ट्र इस बात का वचन देता था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का पालन करेगा और वायु, जल तथा स्थल सेना सम्बन्धी लीग के आदेशों का पालन करेगा, तो वह एेसेम्बली के दो तिहाई मत से सदस्य बनाया जा सकता था। यदि कोई राष्ट्र लीग को छोड़ना चाहे तो छोड़ सकता था। आरम्भ में केवल २४ राष्ट्र लीग के सदस्य थे, बाद में उनकी संख्या ६० तक पहुँच गई थी। अमरीका लीग का सदस्य न था।

लीग का कार्य-क्रम—लीग का कार्य-क्रम चलाने के लिये निम्नलिखित संस्थाएँ थीं—

(१) व्यवस्थापिका सभा (Assembly)

(२) परिषद् (Council)

(३) सचिवालय (Secretariat)

(४) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice)

(५) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (International Labour Organization)

(१) लीग व्यवस्थापिका सभा (League Assembly)–इस सभा के सदस्यों की संख्या इस प्रकार निश्चित की जाती थी कि प्रत्येक सदस्य राज्य को तीन सदस्य भेजने का अधिकार था। प्रत्येक राज्य की कार्यकारिणी इन सदस्यों को भेजती थी। तीनों सदस्य केवल एक सम्मिलित मत दे सकते थे। अर्थात् राज्य केवल एक मत (Vote) दे सकता था। लीग की व्यवस्थापिका सभा में सब सदस्य राज्यों को समान अधिकार प्राप्त थे। वहाँ छोटे बड़े राज्यों का कोई विचार नहीं किया जाता था। इस सभा के सदस्य अपने अपने राज्य के शासन का प्रतिनिधित्व करते थे। वे जनता के प्रतिनिध न थे। कभी-कभी राज्यों के प्रधानमंत्री भी इस सभा में सम्मिलित होते थे। यह सभा स्वयं ही अपना सभापति चुनती थी। लीग के उद्देश्य के अन्तर्गत जितने कर्तव्य आ सकते थे उन सब पर यह सभा विचार कर सकती थी। इस सभा की बैठक सितम्बर मास के प्रथम सोमवार को जेनेवा (Geneva) में हुआ करती थी। सदस्यों के बहुमत से सभा का कोई भी सदस्य इस सभा की बैठक करा सकता था। केवल फ्रेंच तथा अंग्रेजी भाषाओं का ही प्रयोग इस सभा में किया जाता था। लीग का कार्य विशेषकर उप-सभाओं द्वारा किया जाता था। अतः उसकी छः उप-सभाएँ थीं। इन उप-सभाओं द्वारा निश्चित प्रस्तावों पर संपूर्ण सभा में वाद-विवाद करके उनपर अन्तिम निर्णय दिया जाता था। इस सभा की कार्य-सूची सभापति के परामर्श से महामंत्री (Secretary General) बनाता था। इस कार्यसूची में पहले से ही वह प्रश्न लिख लिये जाते थे जिन पर सभा, परिषद् अथवा कोई सभासद विचार कराना अथवा पूछना चाहते थे।

व्यवस्थापिका सभा का कार्य—यह सभा दो-तिहाई बहुमतानुसार नये सदस्य बना सकती थी। बहुमत से यह सभा प्रतिवर्ष परिषद के स्थायी नौ सदस्यों में से तीन को चुना करती थी। यह सभा परिषद् के साथ मिलकर स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के १५ न्यायाधीशों तथा चार सहायक न्यायाधीशों को बहुमत द्वारा चुना करती थी। यह सभा परिषद् द्वारा मनोनीत किये हुए महामंत्री का बहुमत द्वारा अनुमोदन करती थी। धारा ३ के अनुसार यह सभा संसार में शान्ति स्थापित करने के लिये किसी भी कार्य पर विचार कर सकती थी। धारा ११ के अनुसार लीग के प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य था कि संसार की शांति भंग करनेवाली बातों की लीग को सूचना दे।

व्यवस्थापिका सभा के सदस्य अपने अपने राज्यों के शासन द्वारा भेजे हुए सदस्य होते थे अतः उनका निर्णय स्वतंत्र नहीं होता था। वे अपने अपने राज्य के शासनों के विचार प्रकट करते थे और उन्हीं का प्रतिनिधित्व करते थे। यह सभा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार तथा वादविवाद करती थी जिससे उन पर पूर्णरूप से प्रकाश पड़ जाता था।

(२) परिषद् (Council)—लीग की परिषद् में तीन प्रकार के सदस्य होते थे–स्थाई, अस्थाई और विशेष।

स्थायी सदस्य—अर्थात् वे मित्र राष्ट्र जिन्होंने प्रथम महायुद्ध में विजय प्राप्त की थी वे इस लीग के स्थायी सदस्य थे। ये सदस्य ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और और जापान थे। संयुक्त राज्य (अमेरिका) के लिये भी लीग में एक स्थायी स्थान रखा गया था परन्तु वहाँ की जनता अपने देश को लीग में सम्मिलित करना नहीं चाहती थी अतः अमेरिका का संयुक्त राज्य लीग का सदस्य न बन सका। जर्मनी को भी सन् १९२६ में लीग की स्थायी सदस्यता प्राप्त हुई परन्तु अन्त में उसने भी लीग को छोड़ दिया। स्थायी सदस्य ४ थे। व्यवस्थापिका सभा द्वारा इनकी संख्या न्यूनाधिक की जा सकती थी। कुछ काल पश्चात् इनकी संख्या ९ हो गई थी। इन सदस्यों को व्यवस्थापिका सभा चुनती थी अतः ये उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते थे। वर्ष में चार-बार परिषद् की बैठक होती थी और आवश्यकतानुसार अधिक हो सकती थी। परिषद् का कोई एक सदस्य बैठक करने की प्रार्थना कर सकता था और जो परिषद् के सदस्य नहीं थे ऐसे ३ सदस्य उसकी बैठक करा सकते थे। परिषद् के सभापति तथा उप-सभापति का चुनाव बहुमत द्वारा प्रतिवर्ष हुआ करता था और परिषद् के सदस्य

ही उनको चुना करते थे। अग्रिम वर्ष के लिये इनका पुनः निर्वाचन नहीं हो सकता था। परिषद् का अधिकार व्यवस्थापिका सभा के समान था। लीग संबन्धी किसी भी कार्य पर परिषद् विचार कर सकती थी। यह अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय करती थी। धारा ३ के अनुसार यदि लीग के सदस्य राज्यों में झगड़ा होने पर वे लीग की पंचायत तथा न्यायालय की शरण लेते थे तो उन्हें परिषद् में अवश्य अपना निर्णय करना पड़ता था। जब तक वह झगड़ा व्यवस्थापिका सभा अथवा परिषद् में विचाराधीन होता था तब तक वे राज्य परस्पर झगड़ा अथवा युद्ध नहीं कर सकते थे। सदस्य राज्यों की इच्छानुसार पारस्परिक संधियों द्वारा परिषद् के अधिकार बढ़ाये जा सकते थे। परिषद् की कार्यकारिणी (executive) शासन तथा निरीक्षण संबन्धी कार्य करती थी। परिषद् व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किये हुए प्रस्तावों को कार्यान्वित करता था। व्यवस्थापिका सभा तथा परिषद् के अधिकार ठीक ठीक निर्धारित नहीं किये गये थे। एक प्रकार से परिषद् पर व्यवस्थापिका सभा का नियंत्रण था। व्यवस्थापिका सभा अस्थायी सदस्य बना कर परिषद में अपनी शक्ति बढ़ा सकती थी। बहुत सी बातों में परिषद् और व्यवस्थापिका सभा मिल कर कार्य करते थे। पंच तथा न्यायाधीशों का चुनाव दोनों मिलकर करते थे। व्यवस्थापिका सभा अस्थायी सदस्य चुनकर 'आय-व्यय लेखा (budget) पर इच्छानुसार निर्णय करा सकती थी। परन्तु वास्तव में व्यवस्थापिका सभा का कार्य वैधानिक था अर्थात् उसका कार्य विधान बनाना था और परिषद् का कार्य उन विधानों को मनवाना था। परिषद् तथा सचिवालयों की सूचनाओं (Reports) पर व्यवस्थापिका सभा वाद-विवाद करती थी।

(३) सचिवालय (Secretariat)— लीग की स्थापना से पूर्व जो अन्तर्राष्ट्रीय सभाएँ हुआ करती थीं उनमें यह दोष था कि उनके साथ कोई स्थायी सचिवालय न था, अतः प्रस्ताव पास करने के पश्चात् उन सभाओं का अन्त हो जाता था। लीग की स्थापना के साथ एक स्थायी सचिवालय की स्थापना हुई। इस से लीग का अस्तित्व दृढ़ हो गया। स्थायी सचिवालय हो जाने के कारण कोई भी प्रस्ताव चाहे जब उसमें भेजा जा सकता था। वास्तव में स्थायी सचिवालय पूर्णरूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बन गयी जो प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य पर आवश्यक कार्रवाई करने लगी। सचिवालय का सबसे बड़ा अधिकारी महासचिव (Secretary General) होता था। इसकी नियुक्ति व्यवस्थापिका सभा के बहुमत से परिषद् करती

थी। यह अपने सहायक-सचिव तथा अन्य कार्यकर्ताओं को परिषद् की स्वीकृति द्वारा नियुक्त करता था। सचिवालय में ५०० कार्यकर्ता थे। सचिवालय का सम्पूर्ण-कार्य १२ भागों में विभाजित था जिनमें आर्थिक, व्यावसायिक, यातायात, निःशस्त्रीकरण, स्वास्थ्य, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, राजनैतिक आदि विभाग अधिक प्रसिद्ध हैं। राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय विभाग सहायक सचिवों के अधीन थे। अन्य विभाग संचालकों (directors) के अधीन थे। सचिवों का कार्य तत्वनिचय (data) एकत्र करना था। यह परिषद् तथा व्यवस्थापिका सभा के लिये कार्य सूची (agenda) भी तैयार करते थे। सभायें कराना, उनका निर्णय लेखबद्ध करना, उनके निर्णयों की अन्य सदस्य राष्ट्रों को सूचना देना और उनकी स्वीकृति लेना और स्वीकार न करने पर उचित कर्रवाई करना, ये सब कार्य सचिव ही करते थे। ये विभिन्न भाषाओं में पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करते थे जिनमें लीग के कार्यों का संपूर्ण विवरण होता था।

(४) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय (Permanent Cnurt of International Justice)—सन् १८९९ में प्रथम हेग सभा (First Hague Conference) ने एक स्थायी पंचायत की स्थापना की परन्तु वह सफल न हुई। वास्तव में यह एक न्यायाधीशों की सूची थी। सन् १९०७ में द्वितीय हेग सभा (Second Hague Conference) हुई। इस सभा ने कुछ न्यायाधीशों का एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित किया परन्तु यह निश्चित न होने के कारण कि इसमें कितने न्यायाधीश हों और किस प्रकार इनकी नियुक्ति हो, यह योजना भी असफल रही। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९२० में एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गयी। इसमें १९ न्यायाधीश और ४ सहायक न्यायाधीश थे। ५ वर्ष पश्चात् न्यायाधीशों की संख्या १५ कर दी गयी थी। न्यायाधीशों का कार्य-काल ९ वर्ष था। छोटे बड़े सब राज्यों से न्यायाधीश चुने गये थे। यदि कोई ऐसा राज्य अपना निर्णय कराना चाहता था जिसका कोई न्यायाधीश इस न्यायालय में न होता था तो वह राज्य न्यायाधीश चुन सकता था। यह न्यायालय हेग में था। इसके अधिकार और कार्य-क्षेत्र विस्तृत थे। यह न्यायालय चार प्रकार के मुकदमें कर सकता था। (१) अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का तात्पर्य समझना, (२) अन्तर्राष्ट्रीय विधान की व्याख्या करना, (३) अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का उल्लंघन करने पर क्षति-पूर्ति की मात्रा (reparation) निर्धारित करना और (४)

ऐसी स्थिति की रूप-रेखा निर्धारित करना कि जिसका उल्लंघन करना अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य का उल्लंघन करना समझा जाय।

यह चारों नियम अनिवार्य नहीं थे। लीग परिषद् ने एक वैकल्पिक धारा द्वारा इस विषय को ऐच्छिक कर दिया था अर्थात् जो राज्य-सदस्य चाहें अपना निर्णय लीग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से करायें और जो न चाहें न करायें। लीग के सदस्यों ने इस बात को भी स्वीकार कर लिया कि जिन विषयों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में न हो सकेगा उसे पंचायत से निर्णय करायेंगे। कुछ ऐसे भी अनिवार्य विषय रखे गये जिनका निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में कराना आवश्यक था। पत्तन (बन्दरगाह), जल मार्ग, रेल, अस्त्र-शस्त्र, मदिरा, यातायात, वायु-संचालन आदि विषय ऐसे थे जिनके सम्बन्ध में की हुई संधियों की व्याख्या के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय की आवश्यकता थी। इस न्यायालय में बहुमत द्वारा निर्णय दिया जाता था। इसके निर्णय की अपील नहीं होती थी। निर्णय करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि (international conventions), राष्ट्रों द्वारा स्थापित किये हुए नियमों, अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाजों सभ्य राष्ट्रों द्वारा माने हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधानों तथा विभिन्न राष्ट्रों के न्याय मर्मज्ञों द्वारा दिये हुए निर्णयों का प्रयोग करता था।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (International Labour Organization)--अन्तर्राष्ट्रवाद में श्रमिकों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। श्रम सम्बन्धी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ बहुत काल से कार्य कर रही हैं। सबसे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ 'इन्टरनेशनल वर्किंग मेन्स असोसियेशन' (International Workingmen's Association) के रूप में 'साम्यवादी घोषणा पत्र' (Communist manifesto) द्वारा सन् १८६४ में स्थापित हुआ था। यह ''प्रथम अन्तर्राष्ट्र' (First International) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् १८७३ में इसका अन्त हो गया। सन् १८८९ में 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्र (Second International) की स्थापना हुई। यह प्रथम महायुद्ध तक जीवित रहा। रूस में नवीन राजनैतिक तन्त्र के साथ 'तृतीय अन्तर्राष्ट्र' की स्थापना हुई। इन तीनों संस्थाओं ने श्रमिकों की दशा सुधारने का बड़ा प्रयत्न किया। सन् १९०६ की अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सभा (International Labour Conference) बर्न (Berne) में हुई। इस सभा में दो प्रस्तावों पर हस्ताक्षर किये गये। एक तो यह था कि [illegible] स्त्रियों से रात्रि में कारखानों में कार्य न

लिया जाय। दूसरा यह था कि दियासलाई में श्वेत फ़ास्फरस (Phosphorous) का प्रयोग न किया जाय। अनेक राष्ट्रों ने इन प्रस्तावों को माना। महायुद्ध में श्रमिकों को बड़े बड़े प्रलोभन दिये गये और उनसे कहा गया कि "आप लोगों को स्वामिभक्ति तथा श्रेष्ठ कार्य का बदला युद्ध के पश्चात् दिया जायगा" इसी प्रतिज्ञा के अनुसार वारसाई (Versailles) की संधि में "धारा तृतीय" (Sec. III) श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये रखी गई। यह 'धारा' श्रमिकों का 'महाधिकार पत्र" (Magna Carta) समझी गयी। इस श्रमिक संघ का प्रधान कार्यालय जेनेवा (Geneva) में स्थापित हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ के तीन अंग हैं।

(१) साधारण श्रमिक सभा— इस सभा में प्रत्येक सहयोग करने वाला राज्य चार सदस्य भेजता है जिनमें से दो राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं, एक पूंजीपतियों का और एक श्रमिकों का। इन सदस्यों को सदस्य राज्यों की सरकार चुनकर भेजती है। परन्तु सरकार इनको औद्योगिक संगठनों के परामर्श से चुना करती है। इन प्रतिनिधियों को व्यक्तिगत मत देने का अधिकार है। जो राज्य लीग के सदस्य नहीं हैं वे भी इस सभा में अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। व्यक्तिगत मत देने से इन प्रतिनिधियों को यह लाभ है कि पूंजीपतियों के प्रतिनिधियों के विरुद्ध अपना मत दे सकते हैं। दो तिहाई के बहुमत से इस सभा में निर्णय किया जाता है। इस सभा के निर्णय को कार्यान्वित करने से पूर्व वहाँ के राज्य की स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है। स्वीकृति के पश्चात् यह निर्णय विधान के समान समझा जाता है। परन्तु वास्तव में राज्यों ने इसको कोई विशेष महत्व नहीं दिया है।

(२) शासक-परिषद् (Governing Body)—इस परिषद् में २४ सदस्य हैं। १२ सरकार द्वारा, ६ नियोजकों (मालिकों) द्वारा और ६ श्रमिकों द्वारा भेजे जाते हैं। इनका कार्य-काल ३ वर्ष है। बारह सरकार द्वारा भेजे हुए प्रतिनिधियों में से आठ संसार के प्रसिद्ध औद्योगिक देशों के प्रतिनिधि होते हैं। ये प्रतिनिधि फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी, इटली, जापान, कैनेडा, भारतवर्ष और ग्रेटब्रिटेन, इन आठ देशों के हैं, अन्य चार सदस्यों को परिषद् स्वयं चुनती है। पूंजीपति और श्रमिक अपने अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। इस परिषद् की बैठकें वर्ष में ४ बार होती हैं। यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का एक संचालक नियुक्त करती है और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय के कार्य का निरीक्षण करती है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय-कार्यालय (International Labour Office)—इस कार्यालय का एक संचालक होता है जिसको परिषद् चुनती है। इस कार्यालय में ३५० विशेषज्ञ होते हैं, जो श्रम संबंधी सब विषयों की जानकारी रखते हैं। ये विशेषज्ञ संचालक द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। आर० ऐल० ब्यूअल (R. L. Buell) ने इस कार्य-के विषय में अपनी "इन्टर नेशनल रिलेशन्स" नामक पुस्तक में यह विचार प्रकट किये हैं कि "यह सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्बन्धी सूचनाएँ एकत्रित करके भिन्न-भिन्न प्रकार से उनका प्रकाशन करता है, वार्षिक सभाओं के लिये कार्य सूची बनाता है, भिन्न-भिन्न राष्ट्रों से श्रमिक संबंधी संधियों को मनवाता है और उनके शासन का निरीक्षण करता है।" वास्तव में यह कार्यालय अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का सचिवालय है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ ने संसार में श्रमिकों के कल्याण के लिये बड़े-बड़े कार्य किये हैं। यह संस्था अब भी स्थापित है। समय-समय पर यह संस्था अब भी श्रमिकों के हित के लिये कार्य करती रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ संसार में सबसे शक्तिशाली और दृढ़ संगठन है। इतना शक्तिशाली और दृढ़ संगठन संसार में कोई और नहीं है। श्रमिकों के हित संबंधी जो कार्य इस संघ ने किया है उनमें से यह भी हैं कि श्रमिकों से ८ घंटे से अधिक कार्य न लिया जाय, सप्ताह में ४८ घंटे से अधिक कार्य न लिया जाय। १४ वर्ष की आयु से कम के बालकों के लिये श्रम वर्जित है। भारतवर्ष में १४ वर्ष से कम आयु वाले बालक कोयले की खानों और कारखानों में कार्य नहीं कर सकते। अनेक देशों ने इन बातों को अपने अपने विधानों में सम्मिलित कर लिया है।

अन्य बातों में लीग को सफलता प्राप्त न हुई। वह जर्मनी से ऋण न चुकवा सकी, इटली का अबीसीनिया पर और जापान का मंचूरिया पर अत्याचार न रोक सकी। परिणाम यह हुआ कि सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। लीग उसे भी न रोक सकी। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने से लीग का भी अन्त हो गया। लीग ने इन कार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य भी किये। उसने संसार के देशों के अल्प-संख्यकों की रक्षा करने के लिये बहुत से विधान बनवाये जिनमें अल्प संख्यकों को उनकी संख्या के अनुपात के अनुसार शासन में भाग मिला। लीग ने अनेक सामाजिक, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग तथा धर्म सम्बन्धी सुधार किये। [illegible] को रोकने तथा ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करने का

भी उसने बड़ा प्रत्न किया। जहाँ जहाँ दासता की प्रथा प्रचलित थी उसको भी मिटाने का प्रयत्न किया। स्त्री तथा बच्चों के क्रय-विक्रय की प्रथा को भी संसार से मिटाने का बड़ा प्रयत्न किया। उसने शिशु-रक्षा तथा शिशु-कल्याण संबंधी कार्य किये। औषधि संबंधी अनेक नियम बना कर अफीम तथा अन्य हानिकारक वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर रोक लगाई।

संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organization)—जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर लीग का अन्त हो गया और इस महायुद्ध में संसार के लगभग सभी देशों ने भाग लिया। अन्त में सन् १९४५ में महायुद्ध समाप्त हुआ परन्तु इस महायुद्ध के समाप्त होने से पूर्व मित्र राष्ट्रों ने पुनः एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। पचास राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जिनके निवासियों की संख्या १ अरब ७० करोड़ थी, २६ जून १९४५ को सान फ्रांसिस्को में एकत्रित होकर यह निश्चय किया कि अपनी शक्ति को संगठित करके एक नवीन विश्व-व्यापी संस्था बनायी जाय। उस दिन सब प्रतिनिधियों ने एक अधिकारपत्र (Charter) पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापित हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना जनता के समान अधिकारों और आत्म-निर्णय के आधार पर राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण संबंध बढ़ाना, शान्ति व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिये अन्य उपाय करना, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से मानव अधिकारों तथा जाति भाषा, धर्म अथवा स्त्री-पुरुषों के भेदभाव से रहित सब के मूल अधिकारों के प्रति सम्मान उत्पन्न करना और उन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु राष्ट्रों के कार्य में सामंजस्य स्थापित करने के लिये एक केन्द्र रूप से कार्य करना।

संयुक्त राष्ट्र के आधारभूत सिद्धान्त—चार्टर की धारा में उन सिद्धान्तों का उल्लेख है जिनके अनुसार यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और इसके सदस्य कार्य करेंगे। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) राष्ट्र सदस्य सार्वभौम शक्ति सम्पन्न और समान हैं।

(२) सब राष्ट्र चार्टर के अनुसार अपने कर्तव्यों को सद्भावना से पालन करने के लिये वचनबद्ध हैं।

(३) सब राष्ट्र अपने झगड़ों का शान्ति पूर्ण ढंग से इस प्रकार निर्णय करने के लिये वचनबद्ध हैं, जिससे किसी प्रकार शान्ति, सुरक्षा और न्याय के भंग होने का भय न हो।

(४) अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में कोई राष्ट्र सदस्य किसी प्रदेश अथवा किसी देश की राजनैतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध न शक्ति का प्रयोग करेगा और न उसको धमकी देगा और न ऐसा आचरण करेगा जो संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों के विपरीत होगा।

(५) जो चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र कोई कार्रवाई करेगा तो सब राष्ट्र सदस्य उसे उस प्रकार की सहायता देने के लिये वचनबद्ध हैं और वे किसी ऐसे देश को सहायता नहीं देंगे जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र शान्ति और सुरक्षा के लिये कोई कार्रवाई कर रहा हो।

(६) शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये जहाँ तक आवश्यक होगा, यह संस्था व्यवस्था करेगी कि जो देश सदस्य नही हैं वे भी चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करेंगे।

(७) शान्ति रक्षा के लिये जब तक आवश्यक न होगा संयुक्त राष्ट्र उन विषयों में हस्तक्षेप न करेगा जो किसी देश के आन्तरिक कार्य क्षेत्र में आते है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य—इस संघ के मूल सदस्य वे राष्ट्र हैं जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र सभा (United Nations Conference) में, जो सान फ्रांसिस्को में हुई थी, भाग लिया था या जिन्होंने पीछे चार्टर पर हस्ताक्षर किये और उसको स्वीकार किया था। राष्ट्र संघ का कोई भी राष्ट्र सदस्य हो सकता है जो शान्ति में विश्वास करता हो और जो चार्टर के सिद्धान्तों से सहमत हो और उसके अनुसार कार्य करने को उद्यत हो। नवीन सदस्यों को सुरक्षा-समिति की अभिस्तुति (सिफारिश) पर साधारण सभा भरती करेगी। जो सदस्य चार्टर के सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करेगा वह सुरक्षा समिति (Security Council) की अभिस्तुति पर साधारण सभा के निर्णय से संघ से निकाला जा सकता है। अब तक ५७ राष्ट्र इस संस्था के सदस्य बन चुके हैं।

[illegible] अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय संसद (Parliament) नहीं है [illegible] प्रतिनिधित्व [illegible] । इसकी [illegible]

राष्ट्र ही इकाई है। राष्ट्र की सार्वभौमिकता पूर्ण रूप से मान्य कर ली गई है। संघ किसी राष्ट्र की जनता से सीधा संबंध स्थापित नहीं करता। राष्ट्र अब भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतंत्र और सर्व-शक्ति सम्पन्न है। लीग आफ नेशन्स (League of Nations) के समय से अभी तक राष्ट्र की इस सार्व-भौमिक भावना में कोई अन्तर नहीं हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में विश्व-राष्ट्र अथवा विश्व-सरकार जैसी कल्पना अभी कार्य रूप में परिणत होने में और समय लेगी। जब राष्ट्र सर्व-शक्ति सम्पन्न और सार्वभौम मान लिया गया है तो राष्ट्र पर केवल नैतिक प्रतिबन्ध ही है जिसके कारण वह संघ की आज्ञा का पालन करे। संघ की आज्ञाएँ किसी राष्ट्र की जनता पर बिना राष्ट्र की इच्छा के लागू नहीं हो सकतीं और राष्ट्र का कोई वैधानिक कर्तव्य नहीं है कि वह संघ के आदर्श का पालन करें। संघ के आदेश राष्ट्र के हित में कहाँ तक साधक हैं और उनका पालन करना चाहिये या नहीं, इसके निर्णय करने की स्वतंत्रता राष्ट्र की सरकार को है। केवल प्रतिबन्ध यही है कि यदि कोई राष्ट्र चार्टर के सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य करेगा तो वह संघ से निकाल दिया जायेगा। यह प्रतिबन्ध इतना पर्याप्त नहीं जो प्रत्येक राष्ट्र को संघ के हितों की रक्षा के लिये अपने स्वार्थ का त्याग करने पर बाध्य कर सके। यही संघ की अस्थिरता तथा उसके सफल होने में एक बड़ी भारी त्रुटि है जिसके कारण यह संघ लीग के समान ही असफल सिद्ध होगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण तथा उसके अंग—संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तृत है अतः उसकी व्यवस्था विभिन्न विभागों के रूप में है। चार्टर ने इन विभागों के लिये एक-एक समिति बनाई है।

(१) साधारण सभा (General Assembly)
(२) सुरक्षा परिषद् (Security Council)
(३) आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Social and Economic Council)
(४) संरक्षण परिषद् (Trusteeship Council)
(५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
(६) सचिवालय (Secretariat)

(१) **साधारण सभा**—साधारण सभा संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख विचारक विभाग है। राष्ट्र में जो स्थान संसद (Parliament)

को है वही रूप इसका है। इसके सदस्य राष्ट्र-संघ के सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। यद्यपि प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र इस सभा के अधिवेशनों में ५ प्रतिनिधि तक भेज सकता है परन्तु प्रत्येक राष्ट्र को केवल एक मत देने का अधिकार है। साधारण विषयों में प्रायः सभा का निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से लिया जाता है और महत्वपूर्ण विषयों के लिये दो-तिहाई मतों की आवश्यकता होती है। ये निर्णय संयुक्त राष्ट्र संघ के दूसरे विभागों तथा राष्ट्र सदस्यों के पास अभिस्तुति (Recommendations) के रूप में भेजे जाते हैं। सभा का अधिवेशन वर्ष में एकबार होता है और सभा चार्टर में दिये अथवा उसके उद्देश्य के अन्तर्गत संपूर्ण विषयों पर विचार कर सकती है। संघ के अन्य विभागों के अधिकार और कर्तव्यों पर विचार करने का इस सभा को अधिकार है। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और शिक्षा तथा स्वास्थ्य संबंधी विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने के लिये यह सभा स्वयं कार्यारम्भ कर सकती है अथवा संघ के अन्य विभागों तथा राष्ट्र सदस्यों के पास अपनी अभिस्तुति भेज सकती है। सुरक्षा-परिषद् के विचाराधीन विषय या विवाद पर साधारण सभा बहस तो कर सकती है परन्तु अपना मत वह उस समय तक नहीं प्रकट कर सकती जब तक कि उसकी माँग परिषद् न करे। दूसरे विभाग के कार्यों और कर्तव्यों पर विचार करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण साधारण सभा का संयुक्त राष्ट्रों में महत्वपूर्ण स्थान है। सुरक्षा-परिषद् सहित संघ के सभी अंग अपनी वार्षिक रिपोर्ट साधारण सभा को देते हैं। सभा इन रिपोर्टों पर विचार करती है। सुरक्षा परिषद् के ६ अस्थायी सदस्यों, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के १८ सदस्यों और संरक्षण-परिषद् के आवश्यक सदस्यों का निर्वाचन साधारण सभा करती है। सुरक्षा परिषद् और साधारण सभा पृथक-पृथक मत निर्णय करके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों को चुनती है। सुरक्षा -परिषद् की अभिस्तुति पर सभा नवीन सदस्यों को ग्रहण करती है और प्रधान सचिव (Secretary General) को नियुक्त करती है, जो सचिवालय (Secretariat) का प्रबन्ध करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ का आर्थिक नियंत्रण साधारण सभा के हाथ में है। वह बजट स्वीकार करती है और सदस्य राष्ट्रों में संघ के व्यय को बाँटती है। संयुक्त राष्ट्र संघ का व्यय सदस्य राष्ट्रों के चंदे से चलता है।

(२) सुरक्षा परिषद्—इस परिषद् में ११ सदस्य होते हैं जिनमें ५

स्थायी सदस्य हैं, चीन, फ्रांस, रूस, ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका। परिषद् के ६ अस्थाई सदस्य दो वर्ष के लिये साधारण सभा द्वारा चुने जाते हैं। उनका तुरन्त ही पुनः निर्वाचन नहीं हो सकता। सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एकमत होता है। परिषद् का सभापति एक महीने के लिये परिषद् अपने सदस्यों में से चुनती है। कार्य प्राणाली सम्बन्धी विषयों का निर्णय ११ सदस्यों में से ७ सदस्यों के बहुमत से हो सकता है। दूसरे विषयों के सम्बन्ध में भी निर्णय के लिये ७ मतों की ही आवश्यकता होती है लेकिन इन सातों में ५ स्थायी सदस्यों की सहमति से निर्णय हो सकता है। इनमें से यदि कोई सदस्य अपना मत न दे या वह मत लेते समय अनुपस्थित हो जाय तो प्रस्ताव गिर जाता है। सुरक्षा-परिषद् किसी भी ऐसे वाद-विवाद अथवा स्थिति की जांच कर सकता है जिससे दो या अधिक देशों के बीच आपसी संघर्ष बढ़ने की सम्भावना हो। ऐसे वाद-विवाद या स्थिति की सूचना परिषद् को इसके सदस्य, सदस्य-राष्ट्र, साधारण सभा अथवा प्रधान सचिव दे सकते हैं और कुछ दशाओं में वे राष्ट्र भी दे सकते हैं जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं। इस परिषद् का कार्य शान्ति स्थापित रखना है। जब शान्ति भंग होने की आशंका हो अथवा शान्ति भंग हो गयी हो अथवा जब आक्रमण हुआ हो तो सुरक्षा परिषद् सुरक्षा और शान्ति की पुनः स्थापना के लिये आवश्यक कार्रवाई कर सकती है। इसके अन्तर्गत यातायात, आर्थिक और कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है और यदि आवश्यकता हो, तो वायु, जल, तथा स्थल सेनाओं का प्रयोग भी किया जा सकता है। सुरक्षा-परिषद् की माँग पर और विशेष समझौतों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्य शान्ति व सुरक्षा स्थापित रखने के लिये सैन्य बल तथा अन्य आवश्यक सुविधाएँ देने के लिये चार्टर द्वारा वचन-बद्ध हैं। सुरक्षा-परिषद् के अधीन एक सैन्य दल समिति (Military-Staff Committee) है, जिसमें ५ स्थायी सदस्यों के चीफ आफ स्टाफ या उसके प्रतिनिधि रहते हैं। यह परिषद् को सैनिक विषयों के सम्बन्ध में परामर्श और सहायता देते हैं। साधारण सभा ने जनवरी सन् १९४६ में अणु-शक्ति समिति (Atomic Energy Commission) स्थापित की थी जो सुरक्षा परिषद् के निर्देशों के अनुसार कार्य करती है। फरवरी सन् १९४७ में सुरक्षा-परिषद् ने शस्त्रीकरण (conventional armament) के सम्बन्ध में भी एक कमीशन की स्थापना की थी।

(३) आर्थिक और सामाजिक परिषद्—**यह परिषद अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ,**

समाज, संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विषयों तथा मानव अधिकारों, और मूल स्वतंत्रता का अध्ययन करती है और इन पर अपनी रिपोर्ट और सिफारिशें प्रस्तुत करती है। जब आवश्यकता होती है, यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को भी बुलाती है। साधारण सभा की अनुमति से यह अपने अधिकार क्षेत्र में सदस्य-राष्ट्रों के लिये सेवा-कार्य की व्यवस्था भी करती है। इस परिषद् के १६ सदस्यों का निर्वाचन साधारण सभा द्वारा किया जाता है और कार्य के अनुसार समय-समय पर इसके अधिवेशन बुलाये जा सकते हैं। परिषद् में निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से होते हैं। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना से पूर्व विशेष समस्या संबंधी कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कार्य कर रही थीं। इनमें से एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है और दूसरी संयुक्त राष्ट्रीय खाद्य और कृषि संस्था है जिसकी स्थापना द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हुई थी। आर्थिक और सामाजिक परिषद् का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है इन विशेष संस्थाओं का संबंध संयुक्त राष्ट्र से स्थापित किया जाय और इनके कार्यों में समीकरण उत्पन्न किया जाय।

(४) संरक्षण परिषद्--जो देश अभी तक स्वाधीन नहीं हुए हैं और जो सदस्य राष्ट्र इन देशों का शासन प्रबन्ध करते हैं वे इन प्रदेशों के संबंध में कुछ विशेष कर्तव्य स्वीकार करते हैं। वे कर्तव्य हैं राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षण-प्रगति के लिये व्यवस्था करना, दुराचारिता को दूर करना, अच्छा व्यवहार करना, स्वायत्त शासन का विकास करना, आदि। जो राष्ट्र सदस्य गैर स्वाधीन प्रदेशों का शासन प्रबन्ध करते हैं वे प्रधान सचिव को इन प्रदेशों की स्थिति के संबंध में रिपोर्ट देंगे। ये रिपोर्टें साधारण सभा तथा अन्य विभागों के सामने विचारार्थ प्रस्तुत की जाती हैं ताकि संसार को इन प्रदेशों की प्रगति के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त होती रहे। ऐसे प्रदेशों के निरीक्षण और शासन प्रबन्ध के लिये संरक्षण परिषद् बनायी गयी है। संरक्षण परिषद् अपना कार्य साधारण सभा की अधीनता में करती है। सामरिक प्रदेशों के संबंध में सुरक्षा परिषद् राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक और शिक्षण विषयों पर संरक्षण परिषद् की सहायता प्राप्त करती है। संरक्षण परिषद् में वे राष्ट्र सदस्य हैं।

१--जो शासित प्रदेशों का प्रबन्ध करते हैं।

२--सुरक्षा परिषद् के वे स्थायी सदस्य हैं जो संरक्षित प्रदेशों का शासन-प्रबन्ध नहीं करते, और

३—इतने निर्वाचित सदस्य हैं जिनसे शासनादिष्ट, राष्ट्रों और अशासनादिष्ट राष्ट्रों की संख्या में समानता रहे। ये सदस्य ३ वर्ष के लिये साधारण सभा द्वारा चुने जाते हैं।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र का प्रधान न्यायालय है जिसका कार्य-स्थान हालैण्ड स्थित हेग नगर में है। इस न्यायालय के १५ न्यायाधीश सुरक्षा परिषद् और साधारण सभा द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से निर्वाचित किये जाते हैं। न्यायालय का कार्य विधान द्वारा संचालित होता है, जो संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का एक अंग है। अतः संयुक्त राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र की पहुंच इस न्यायालय तक हैं। प्रत्येग सदस्य राष्ट्र यदि वह वादी अथवा प्रतिवादी है तो न्यायालय के निर्णय को मानने के लिये वचन-बद्ध है। चार्टर तथा प्रचलित संधियों के अनुसार अथवा अन्तर्राट्रीय् प्रथाओं ने जिन विषयों की व्यवस्था की है, उनके संबंध में भी मुकदमे इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। वैधानिक झगड़ों का निर्णय करने के अतिरिक्त न्यायालय का एक महत्वपूर्ण कार्य उन वैधानिक विषयों के संबंध में परामर्श देना है जिनके संबंध में साधारण सभा, सुरक्षा परिषद् तथा अन्य विभाग और विशेष संस्थाएँ, जिनको साधारण सभा द्वारा अनुमति प्राप्त हो चुकी है वैधानिक मत जानना चाहें।

(६) सचिवालय—संयुक्त राष्ट्र का विशाल प्रबन्ध कार्य सचिवालय द्वारा दिन प्रतिदिन संचालित होता है। इसका कार्य दूसरे विभागों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार कार्य-क्रम की व्यवस्था करना है। इसका प्रमुख कर्मचारी प्रधान सचिव (Secretary General) है, जिसे सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा नियुक्त करती है। फरवरी १९४६ में नार्वे के तत्कालिक वैदेशिक मंत्री, ट्रिग्वीली को प्रधान सचिव की पदवी पर ५ वर्ष के लिये नियुक्त किया गया था। सचिवालय का कार्य आठ भागों में विभक्त है। ये क्रमशः सुरक्षा परिषद्, आर्थिक, सामाजिक, संरक्षण तथा देशों की जानकारी, विधान, सार्वजनिक जानकारी, सम्मेलन तथा सामान्य सेवायें और प्रबन्ध तथा अर्थ विषयक कार्यों से संबंध रखते हैं। सचिवालय के कर्तव्य पूर्ण-रूप से अन्तर्राष्ट्रीय हैं। सचिवालय का प्रत्येक सदस्य, चाहे वह किसी भी राष्ट्र का हो, अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी है। वह संसार की सेवा करता है और इस प्रकार अपने देश का सबसे अधिक हित साधन करता है।

आधुनिक काल में संसार के सब देशों की दृष्टि संयुक्त राष्ट्र की ओर लगी हुई हैं और आशा की जाती है कि यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक झगड़ों का निर्णय करने का पूर्ण प्रयत्न करेगी और विश्व में शान्ति स्थापित करने वाली एक शांति-संस्था बन जायगी।

आलोचना—जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है आधुनिक काल में सार्वभौम नागरिकता के विचारों का प्रसार अधिकाधिक होता जा रहा है। अब से सहस्त्रों वर्ष पूर्व भारतवर्ष में वैदिक काल में मानव समाज में सार्व-भौमिकता के विचार विद्यमान थे। मनुष्य अपने को एक ग्राम अथवा नगर का ही निवासी नहीं समझता था, वह अपने आपको सार्वदेशिक संगठन की एक इकाई समझना था। वैदिक काल में भारतवासियों के विचार का पता निम्न श्लोक से चलता है—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अर्थात् "यह मेरा है और यह दूसरे का है" ऐसा विचार तो क्षुद्र और संकुचित विचार वाले लोगों का होता है। उदार पुरुषों के लिये तो संपूर्ण संसार ही एक कुटुम्ब के समान है।

इस संसार में जब तक इस प्रकार के विचारों का प्रसार न होगा तब तक मानव समाज के कल्याण की आशा नहीं की जा सकती है। ज्यों-ज्यों विज्ञान तथा कलाकौशल की उन्नति होगी त्यों-त्यों यातायात तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के साधन अधिकाधिक बढ़ते जायेंगे। इस प्रकार के साधनों की वृद्धि के कारण स्वाभाविकतया मनुष्य का अन्य देशों के मनुष्यों से घनिष्ट संबंध होता जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि संसार की जातियों की पारस्परिक निर्भरता बढ़ती जायगी और एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता अनिवार्य हो जायगी। मानव समाज सार्व-भौमिकता की ओर बढ़ा चला जा रहा है। विश्व बन्धुता के भावों में वृद्धि होती जा रही है और वह समय निकट है जब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को एक विश्व-व्यापी संगठन का आवश्यक अंग समझेगा। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य समाज में पारस्परिक प्रेम का संचार किया जाय। दो महायुद्धों के अनुभव ने यह प्रकट कर दिया है कि युद्ध संसार में मानव समाज की उन्नति में बाधक होता है। इस-चित्तवृत्ति के कारण अनेक प्रकार के घातक तथा संहार करने वाले अस्त्र-शस्त्र तथा वस्तुओं का आविष्कार हो चुका है और

दिन-प्रति-दिन इसी चित्तवृत्ति के कारण मनुष्यों के हृदयों में शान्ति का अभाव हो रहा है। आणुविक शक्ति का अनुचित प्रयोग करके प्रलयकारी अणु-बम (Atom bomb) का आविष्कार किया गया है और इसी प्रकार के अन्य पदार्थों के आविष्कार में संसार के सभ्य कहलाने वाले राष्ट्र अब भी संलग्न हैं। जब तक इस प्रकार की मनोवृत्ति में परिवर्तन न होगा, संसार का कल्याण होना असंभव है। विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिये इस प्रकार की आणुविक शक्ति का प्रयोग मानव-समाज की उन्नति के लिये करना चाहिये। महात्मा गांधी के दिखाये हुए मार्ग पर चलना चाहिये और सत्य और अहिंसा को आदर्श बना कर प्रत्येक कार्य करना चाहिये। ऐसा करने से मानव समाज की आध्यात्मिक उन्नति होगी और विश्व में शांति-स्थापित होगी।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये:--

ऐच० जे० लेस्की—*ग्रामर आफ पॉलिटिक्स*
ऐच० ए० गिबन्स—*वर्ल्ड पॉलिटिक्स*
आर० ऐल० ब्युअल—*इन्टरनेशनल रिलेशन्स*
पी० टी० मून—*सिलेबस आन इन्टरनेशनल रिलेशन्स*
ऐल० ऐस० वुल्फ—*इन्टरनेशनल गवर्नमैन्ट*
ए० टायन बी०—*सरवे आफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स*
ऐफ० ऐल० शूमैन—*इन्टरनेशनल रिलेशन्स*
रेमजे म्मोर—*नेशनलिज्म ऐण्ड इन्टरनेशनलिज्म*

अध्याय २२

साम्राज्यवाद

समाज विज्ञान के कोष (Encyclopædia of Social Sciences) में साम्राज्यवाद का अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है "साम्राज्यवाद एक ऐसी नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य उत्पन्न तथा संगठित करना और उसे स्थापित रखना है, अर्थात् एकल तथा केन्द्रीयकृत इच्छा के अधीन न्यूनाधिक विभिन्न जातीय इकाइयों को संघटित किया हुआ एक बड़ा विस्तृत राज्य" † । अतः साम्राज्यवाद के तीन विशिष्ट लक्षण हैं, एक विस्तृत राज्य, दूसरा जातीय विभिन्नता और तीसरा शासन की केन्द्रीयता । ब्रिटिश साम्राज्य में एकल शासनीय केन्द्रीयता के अतिरिक्त अन्य दोनों लक्षण विद्यमान हैं ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि साम्राज्यवाद एक दूषित संगठन है जो विजयी जातियों ने विजय की हुई जातियों का शोषण करने के लिये स्थापित किया है । साम्राज्यवाद के विरोधियों का कथन है कि शक्तिशाली जातियाँ अपने आपको सभ्य जातियाँ घोषित करके निर्बल जातियों को विजय करके उनपर अपना शासन स्थापित कर लेती हैं और उनका आर्थिक शोषण करती हैं । शासक जातियाँ शासितों पर अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये उनसे व्यापार संबंधी लाभ उठाती हैं और युद्ध के समय उनसे अपनी इच्छानुसार धन-जन की सहायता लेती हैं । प्रोफेसर शूमन (Schuman) का कथन है कि "पाश्चात्य राष्ट्रीय राज्यों द्वारा संसार की अश्वेत (Non-European) जातियों पर सैन्य-बल द्वारा अपनी शक्ति का आरोपण करना ही साम्राज्यवाद है" * । इस विद्वान् का यह भी कथन है कि बल तथा हिंसात्मक साधनों द्वारा पराधीन राष्ट्रों पर विदेशी शासन आरोपण करना ही साम्राज्यवाद है । सी डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि अनेक भिन्न-भिन्न प्रदेशों तथा जातियों पर एक ही प्रकार की शासन प्रणाली तथा विविधि-विधान स्थापित करना ही साम्राज्यवाद है । प्रोफेसर हाकिंग (Prof. Hocking)

---

† ऐनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज ७–पृष्ठ ६०५ ।

* ऐफ० ऐल० शूमन–इन्टरनैशनल पॉलिटिक्स, पृष्ठ ४२८ ।

ने साम्राज्यवाद को "निष्ठुरता के आचार-शास्त्र" (Ethics of Severity) का अनुरूप "टालमटोल का आचार-शास्त्र" (Ethics of evation) वतलाया है । डी० टॉकविल (De Tocqueville) का कथन है "कि वड़े-वड़े साम्राज्यों के समान जन-साधारण के हित तथा स्वतंत्रता के लिये और कोई अहितकर वात नहीं है ।" जोन्सन (Johnson) का कथन है कि "वड़े-वड़े सम्राज्यों की प्रतिभा सुवर्णपत्रों के समान है। जिस प्रकार सुवर्ण की दढ़ता पत्र वनाने से जाती रहती है और उसमें नम्रता आ जाती है उसी प्रकार साम्राज्य निर्वल गौरव का प्रतीक है ।"

साम्राज्यवाद के समर्थकों ने साम्राज्यवाद को लोकहित का साधन वतलाया है । उनका मत है कि सभ्य जातियाँ असभ्य जातियों को अपना साम्राज्य स्थापित करके उनको सभ्य वनाती हैं और उनकी सव प्रकार की उन्नति करती हैं । साम्राज्यवादी वड़े-वड़े साम्राज्य स्थापित करने में अपना वड़ा गौरव समझते हैं । एक वार कैप्टेन जान स्मिथ (Captain John Smith) ने स्पेन के साम्राज्यों के विचारों को उद्धृत करते हुए कहा था कि स्पेन वालों का मत है कि "स्पैनिश राज्य पर कभी सूर्य अस्त नहीं होता है ।" सन् १६०४ में जे० चैम्वरलेन (J. Chamberlain) ने अपने भाषणों में कहा था कि "साम्राज्यवादियों के समान विचार करना सीखो ।" ड्रायडन (Dryden) का कथन है कि "सम्पूर्ण साम्राज्य प्रन्यास शक्ति (powers in trust) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।" ऐलेक्जेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) का कथन है कि "महादेशों के विषय में विचार करना सीखो ।" आधुनिक काल में चर्चिल (Churchill) जो द्वितीय महायुद्ध के समय में इंगलैण्ड का प्रधान सचिव था वड़ा कट्टर साम्राज्यवादी समझा जाता है ।

सर जार्ज कार्नवाल लुइस (Sir George Cornewall Lewis) नामक विद्वान् ने अपनी "ऐसे आन दी गवर्नमेन्ट आफ डिपैन्डेन्सीज (Essay on the Government of Dependencies) नामक पुस्तक में साम्राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है "सर्वोच्च "शासन के अधीन अनेक राज्यों (अर्थात् एक प्रवल राज्य तथा अधीन राज्यों सहित सम्पूर्ण राज्य) को प्रायः साम्राज्य के नाम से संबोधित किया जाता है ।"*

* सर जार्ज कार्नवाल लुइस—ऐसे आन दी गवर्नमेन्ट आफ डिपैन्डेन्सीज, पृष्ठ ७३ ।

अध्याय २२

साम्राज्यवाद

समाज विज्ञान के कोष (Encyclopædia of Social Sciences) में साम्राज्यवाद का अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है "साम्राज्यवाद एक ऐसी नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य उत्पन्न तथा संगठित करना और उसे स्थापित रखना है, अर्थात् एकल तथा केन्द्रीयकृत इच्छा के अधीन न्यूनाधिक विभिन्न जातीय इकाइयों को संघटित किया हुआ एक बड़ा विस्तृत राज्य" † । अतः साम्राज्यवाद के तीन विशिष्ट लक्षण हैं, एक विस्तृत राज्य, दूसरा जातीय विभिन्नता और तीसरा शासन की केन्द्रीयता । ब्रिटिश साम्राज्य में एकल शासनीय केन्द्रीयता के अतिरिक्त अन्य दोनों लक्षण विद्यमान हैं ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि साम्राज्यवाद एक दूषित संगठन है जो विजयी जातियों ने विजय की हुई जातियों का शोषण करने के लिये स्थापित किया है । साम्राज्यवाद के विरोधियों का कथन है कि शक्तिशाली जातियाँ अपने आपको सभ्य जातियाँ घोषित करके निर्बल जातियों को विजय करके उनपर अपना शासन स्थापित कर लेती हैं और उनका आर्थिक शोषण करती हैं । शासक जातियाँ शासितों पर अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये उनसे व्यापार संबंधी लाभ उठाती हैं और युद्ध के समय उनसे अपनी इच्छानुसार धन-जन की सहायता लेती हैं । प्रोफेसर शूमन (Schuman) का कथन है कि "पाश्चात्य राष्ट्रीय राज्यों द्वारा संसार की अश्वेत (Non-European) जातियों पर सैन्य-बल द्वारा अपनी शक्ति का आरोपण करना ही साम्राज्यवाद है" * । इस विद्वान् का यह भी कथन है कि बल तथा हिंसात्मक साधनों द्वारा पराधीन राष्ट्रों पर विदेशी शासन आरोपण करना ही साम्राज्यवाद है । सी डी० वर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि अनेक भिन्न-भिन्न प्रदेशों तथा जातियों पर एक ही प्रकार की शासन प्रणाली तथा विविधि-विधान स्थापित करना ही साम्राज्यवाद है । प्रोफेसर हाकिंग (Prof. Hocking)

---

† ऐनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज ७–पृष्ठ ६०५ ।

* ऐफ० ऐल० शूमन–इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, पृष्ठ ४२८ ।

ने साम्राज्यवाद को "निष्ठुरता के आचार-शास्त्र" (Ethics of Severity) का अनुरूप "टालमटोल का आचार-शास्त्र" (Ethics of evation) बतलाया है । डी० टॉकविल (De Tocqueville) का कथन है "कि बड़े-बड़े साम्राज्यों के समान जन-साधारण के हित तथा स्वतंत्रता के लिये और कोई अहितकर बात नहीं है ।" जोन्सन (Johnson) का कथन है कि "बड़े-बड़े साम्राज्यों की प्रतिभा सुवर्णपत्रों के समान है। जिस प्रकार सुवर्ण की दृढ़ता पत्र बनाने से जाती रहती है और उसमें नम्रता आ जाती है उसी प्रकार साम्राज्य निर्बल गौरव का प्रतीक है ।"

साम्राज्यवाद के समर्थकों ने साम्राज्यवाद को लोकहित का साधन बतलाया है । उनका मत है कि सभ्य जातियाँ असभ्य जातियों को अपना साम्राज्य स्थापित करके उनको सभ्य बनाती हैं और उनकी सब प्रकार की उन्नति करती हैं । साम्राज्यवादी बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित करने में अपना बड़ा गौरव समझते हैं । एक बार कैप्टेन जान स्मिथ (Captain John Smith) ने स्पेन के साम्राज्यों के विचारों को उद्धृत करते हुए कहा था कि स्पेन वालों का मत है कि "स्पैनिश राज्य पर कभी सूर्य अस्त नहीं होता है ।" सन् १९०४ में जे० चैम्बरलेन (J. Chamberlain) ने अपने भाषणों में कहा था कि "साम्राज्यवादियों के समान विचार करना सीखो ।" ड्रायडन (Dryden) का कथन है कि "सम्पूर्ण साम्राज्य प्रन्यास शक्ति (powers in trust) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।" ऐलेक्जेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) का कथन है कि "महादेशों के विषय में विचार करना सीखो ।" आधुनिक काल में चर्चिल (Churchill) जो द्वितीय महायुद्ध के समय में इंगलैण्ड का प्रधान सचिव था बड़ा कट्टर साम्राज्यवादी समझा जाता है ।

सर जार्ज कार्नवाल लुइस (Sir George Cornewall Lewis) नामक विद्वान् ने अपनी "ऐसे आन दी गवर्नमैन्ट आफ डिपैन्डैन्सीज (Essay on the Government of Dependencies) नामक पुस्तक में साम्राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है "सर्वोच्च "शासन के अधीन अनेक राज्यों (अर्थात् एक प्रबल राज्य तथा अधीन राज्यों सहित सम्पूर्ण राज्य) को प्रायः साम्राज्य के नाम से संबोधित किया जाता है ।"*

* सर जार्ज कार्नवाल लुइस—ऐसे आन दी गवर्न मेन्ट आफ डिपैन्डैन्सीज, पृष्ठ ७३ ।

सर जार्ज के मतानुसार अधीन राज्य प्राप्त करने की दो रीतियाँ हैं। एक रीति है उनको विजय करके अथवा स्वेच्छावश विलयन (voluntary cession) द्वारा, और दूसरी रीति है व्यवस्था-पत्र द्वारा अथवा उपनिवेश राज्य प्राप्त करना (by settlement)।

सर सार्ज के मतानुसार प्रभुताशील देश (dominant country) को अधीन देश से निम्नलिखित लाभ हैं †:—

१—प्रभुताशील देश को अधीन देश से प्राभूत (Tribute) अथवा भेंट और भूकर (revenue) मिलता है। प्राचीन काल में यूनान में ऐथेन्स नगर राज्य के अधीन जो राज्य थे वे एथेन्स (Athens) को प्राभूत देते थे। यह प्राभूत धन अथवा सैनिक सहायता के रूप में दिया जाता था। रोमन साम्राज्य के अधीन देश भी सर्वोच्च शासन इसी प्रकार का प्राभूत अथवा भूकर दिया करते थे। एशिया और भारतवर्ष में भी पिछली शताब्दी के आरम्भ तक ऐसी ही प्रथा थी। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का आरम्भ उपनिवेशों के रूप में हुआ है। कैनेडा और संयुक्त राज्यों में सबसे पहले यूरोपीय निवासियों ने उपनिवेश स्थापित किये थे। ये उपनिवेश पहले यूरोपीय राष्ट्रों के साम्राज्यों में सम्मिलित थे। शनैः शनैः उनमें राजनैतिक तथा राष्ट्रीय चेतना हुई और उन्होंने साम्राज्यों से पृथक् होने का प्रयत्न किया। संयुक्त राज्य (अमेरिका) पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने में सफल हुआ। परन्तु कैनैडा अब भी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है। कैनैडा अब ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अधिराज्य (dominion) है।

२—प्रभुताशील देश को अधीन देश से नौ-सेना संबंधी सहायता मिलती है। प्रभुताशील देश अधीन देश में अपने सैनिक केन्द्र स्थापित करता है।* प्राचीन काल में जब फारस वालों ने यूनान पर आक्रमण किया था तो उन्होंने अनेक अधीन देशों के सैनिकों से अपनी सेना का संगठन किया था। नैपोलियन (Napoleon) ने भी अपनी सेना का संगठन भी उन्हीं देशों के सैनिकों से किया था जिन देशों को उसने विजय किया था। जिब्राल्टर (Gibralter) माल्टा (Malta) और भूमध्य सागर के आयोनियां (Ionia) द्वीपों में पिछले महा युद्धों में अंग्रेजों ने अपने सैनिक केन्द्र स्थापित किये थे।

---

† पूर्व श्रोत, पृ० २०६।

* पूर्व श्रोत, पृ० २१२–२१४।

३—जब प्रभुताशील देश को अधीन देश से प्राभूत अथवा भूकर प्राप्त करना कठिन और असंभव हो गया तब प्रभुताशील देश ने अधीन देश से व्यापार करना आरम्भ किया और पूर्ण रूप से व्यापार संबंधी लाभ उठाया। प्रभुताशील देशों ने अधीन देशों से व्यापार संबंधी लाभ उठाने के लिये अनेक स्वार्थपूर्ण विधान बनाये और उन विधानों को बलपूर्वक अधीन देशों में प्रचलित किया। अधीन देशों से अपना व्यापार सुरक्षित रखने तथा पूर्ण रूप से लाभ उठाने के लिये ऐसे विधान बनाये जिनके अनुसार अधीन देश बिना प्रभुताशील देश की आज्ञा के किसी अन्य देश से व्यापार नहीं कर सकते थे और न अन्य देशों के पोतों (जहाजों) का ही प्रयोग कर सकते थे। यातायात तथा सामान लादने के लिये प्रभुताशील देशों के पोतों का प्रयोग करना अनिवार्य था। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि उसके ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् होने का विशेष कारण ऐसे ही व्यापार संबंधी विधान थे। भारतवर्ष में ईस्ट इंडिया कम्पनी (East India Company) को व्यापार संबंधी एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त था। इस कम्पनी को वस्तुनिर्माण, वितरण, निर्यात तथा आयात का एकाधिकार प्राप्त था जिसका परिणाम यह होता था कि व्यापार में भ्रष्टाचार फैलता था। लोग बिना महसूल दिये चोरी से माल ले जाते थे।

४—चौथा लाभ प्रभुताशील देशों को अधीन देशों से यह होता था कि अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को प्रवास के लिये अधीन देशों में भेज देते थे। अथवा लोग स्वयं स्वेच्छा से देश प्रवास कर जाते थे। मध्यकाल में धार्मिक अत्याचारों के कारण बहुत से लोग यूरोपीय देशों से अमेरिका चले गये थे। प्राचीन काल में रोमन साम्राज्य के अपराधियों को सार्डिनिया (Sardinia) के अस्वस्थ द्वीप में भेज दिया जाता था। इंगलैंड के अपराधियों को मध्यकाल में आस्ट्रेलिया (Australia) भेजा जाता था। आधुनिक काल में अंग्रेज भारतीय अपराधियों को अन्डमन (Andaman) द्वीपों को भेजते थे।

सर जार्ज के मतानुसार अधीन देशों को प्रभुताशील देशों से निम्नलिखित लाभ हैं:—*

---

* सर जार्ज कार्नवाल लुइस—आन दी गवर्नमेन्ट आफ डिपैन्डेंसीज, पृष्ठ २३५–२३८।

१—यदि अधीन देश स्वतंत्र रहेंगे तो उनकी निर्बलता के कारण उन पर शक्तिशाली देशों के अभिधावन (aggression) का भय रहेगा। शक्तिशाली निकटवर्ती देश उनकी निर्बलता का अनुचित लाभ उठायेंगे।

२—प्रधीन देशों को समय-समय पर प्रभुताशील देशों से आर्थिक सहायता मिलती रहती है और अन्य शक्तिशाली देश उन पर आक्रमण करने से भय खाते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि यदि वे उनपर आक्रमण करेंगे तो प्रभुताशील देश धन-जन से उनकी सहायता करेगा †। प्राचीन काल में रोमन साम्राज्य में रोम ने समस्त अधीन देशों में अच्छी-अच्छी सड़कें बनवाई थीं और अन्य प्रकार के लोकहित संबंधी कार्यों में धन से सहायता की थी। आधुनिक काल में ब्रिटिश पार्लमेंट ने अधीन देशों की सहायता के लिये अनेक आर्थिक सहायता संबंधी बिल पास किये थे। कैनेडा में नहर बनाने के लिये तथा भारतवर्ष में शिक्षा तथा उद्योग सम्बंधी उन्नति करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने पर्याप्त आर्थिक सहायता दी थी। सन् १८१३-१४ में जब माल्टा (Malta) में प्लेग की महामारी फैली थी उस समय ब्रिटिश सरकार ने वहाँ की स्थानीय सरकार को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी थी।

३—अधीन देशों को तीसरा लाभ यह होता है कि उन्हें प्रभुताशील देशों की सहायता के कारण अनेक प्रकार के व्यापारिक लाभ होते हैं। अधीन देश अन्य देशों से व्यापार करने के लिये अनुकूल व्यापारिक विधान बनवाने में सफल होते हैं और इस प्रकार अधीन देशों की व्यापारिक उन्नति होती है।

सरजार्ज के मतानुसार अधीन देशों के कारण प्रभुताशील देशों को निम्नलिखित हानि होती है:—†

१—प्रभुताशील देशों को अधीन देशों पर अधिक धन व्यय करना पड़ता है।

२—अधीन देशों के कारण प्रभुताशील देशों को अनेक व्यापार सम्बन्धी अवरोधों का सामना करना पड़ता है। अधीन देशों से जो सामान प्रभुताशील देश मोल लेता है उस पर अन्य देशों से मोल लिये हुए सामान पर लिये हुए आयात कर की अपेक्षा न्यून कर लेना पड़ता है और इस प्रकार अधीन देश को व्यापारिक लाभ पहुँचाना आवश्यक होता है।

३—कभी-कभी अधीन देशों के कारण प्रभुताशील देश को युद्ध में भी भाग लेना पड़ता है और इस प्रकार प्रभुताशील देश को धन-जन की हानि

---

† पूर्व स्रोत, पृष्ठ २४१–२४५।

होती है। इसका कारण यह होता है कि अधीन देश से अन्य निकटवर्ती शक्तिशाली राष्ट्र आर्थिक तथा भूमि संबंधी लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने पर प्रभुताशील देश युद्ध में भाग न ले तो अधीन देश से प्रभुताशील देश के प्रभुत्व पर अनेक प्रकार के संकट उपस्थित हो जाते हैं।

४—अधीन देशों के कारण प्रभुताशील देश में राजनैतिक भ्रष्टाचार फैलता है "इससे प्रभुताशाली देश में शासकीय संरक्षण पद्धति की (system of official patronage) उत्पत्ति अथवा उसका विस्तार होता है और इस प्रकार राजनतिक नैतिकता (political morality) का स्तर नीचा होता है।"

सर जार्ज के मतानुसार एक अधीन देश को अपनी अधीनता के कारण निम्नलिखित हानि होती है:—

१—अधीन देश के हित का विचार न करते हुए प्रभुताशील देश अपने ही हितों को ध्यान में रखते हुए उस पर शासन करते हैं। प्रभुताशील देश सदैव स्वहित पूर्ति के ही लिये अधीन देश पर शासन करते हैं। उनकी सम्पूर्ण-नीति स्वहित पर ही निर्भर रहती है।

२—वहुधा अधीन देश के लोगों की जाति प्रभुताशील देशों से भिन्न होती है। अधीन देश की भाषा, धर्म, संस्कृति आदि भी प्रभुताशील देश की भाषा, धर्म, संस्कृति आदि से बिलकुल भिन्न होती है, इसलिए प्रभुताशील देश सदैव अधीन देश में अपनी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि का प्रचार करने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि अधीन देश का पतन होता है।

३—प्रभुताशील देश जिस देश को विजय करके अपने अधीन करता है वह सदैव उस देश का चरित्र भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार उसका नैतिक पतन करके अपने प्रभुत्व की स्थायी स्थापना करने का प्रयत्न करता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका ने जापान पर अधिकार करके इस प्रकार का नैतिक पतन करने का प्रयत्न किया। अमेरिकन सैनिक तथा जनता का जापानियों के साथ सामाजिक संपर्क अनुचित रूप से घनिष्ट हुआ। परिणाम यह हुआ कि वर्णसंकर सन्तान की वृद्धि हुई और इस प्रकार जापान का नैतिक पतन हुआ।

४—प्रभुताशील देश अधीन देश में अपने ही विधि-विधान प्रचलित करता है और इस बात का ध्यान रखा जाता है कि अधीन देश की

किसी प्रकार से भी राजनैतिक उन्नति न होने पाय जिससे अधीन देश राजनैतिक चेतना के कारण प्रभुताशील देश से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले।

५--प्रभुताशील देश अधीन देश में कभी शिक्षा की उन्नति नहीं होने देता। वह अधीन देश की जनता को अशिक्षित रखने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि अधीन देश के निवासी पूर्ण रूप से शिक्षित न होने के कारण मानसिक उन्नति नहीं कर सकते हैं।

६--प्रभुताशील देश अपने युद्धों में अधीन देश को सम्मिलित कर के उससे धन-जन सम्बन्धी अनुचित लाभ उठाता है। अपने धन-जन को सुरक्षित रखते हुए अधीन देश के धन-जन का नाश करता है। प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों ने अपने अधीन देश भारतवर्ष से इस प्रकार का धन-जन सम्बन्धी अनुचित लाभ उठाया था और लाखों भारतवासियों को वलिदान के बकरों के समान युद्ध में कटवा दिया था।

७--प्रभुताशील देश अधीन देश के निवासियों को शासन से पृथक् रखने का प्रयत्न करता है। जनता के प्रतिनिधियों को शासन में भाग लेने से वंचित रखता है और अधीन देश के केवल ऐसे ही व्यक्तियों को शासन में भाग लेने देता है जो प्रभुताशील देश के हितों के लिये सहयोग दे सकें।

ऐफ० ऐल० शूमैन (F. L. Schuman) का कथन है कि साम्राज्यवाद अपने शिकारों (अधीन देशों) की भलाई न करके अपने ही देश की भलाई करता है। (It is no more the purpose of imperialism to confer benefit upon its victims than confer benefits upon the home country)*

साम्राज्यवाद की उत्पत्ति तथा विकास--अब से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व महाभारत काल में भारतवर्ष में एक विशाल आर्य साम्राज्य स्थापित था। महाभारत के पढ़ने से पता चलता है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा उत्तर में हिमालय पर्वत के उस पार वर्तमान चीन का कुछ भाग तथा पूर्व में पूर्वी द्वीपों तक आर्यों का साम्राज्य फैला हुआ था और अमेरिका की गिन्ती मित्र राष्ट्रों में थी। अमेरिका के राजा बभ्रुवाहन ने महाभारत में भाग लिया

* ऐल० एल० शूमैन--इम्पीरिअलिज्म ऐन्ड वर्ल्ड पालिटिक्स, पृष्ठ ४२३।

था। महाभारत काल के पश्चात् साम्राज्यवाद का अन्त हुआ और भारतवर्ष छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया।

इसके पश्चात् मिश्र, मैसोपोटामिया और चीन में साम्राज्यों की स्थापना हुई और इन देशों में साम्राज्यवाद का विकास हुआ। लगभग इन साम्राज्यों में परस्पर अनेक युद्ध हुए। ईसा से ३२०० वर्ष पूर्व मिश्र साम्राज्य स्थापित था। ईसा से लगभग १६४५ वर्ष पूर्व हामूरबी (Hammurabai) ने बाबुल साम्राज्य (Babylonian Empire) की स्थापना की थी। असीरिया (Assyria) में भी उस समय में साम्राज्य स्थापित था।

ईसा से लगभग ३३० वर्ष पूर्व मखदूनिया के फिलिप (Philip of Macedon) ने यूनान के नगर राज्यों की विजय करके साम्राज्य की स्थापना की। उसके पुत्र सिकंदर (Alexander the Great) ने एक बड़े विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसके साम्राज्य में यूयान, पश्चिमी एशिया, सीरिया, मैसोपोटामिया, मिश्र, बाबुल, अफगानिस्तान, फारस, तुर्किस्तान और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश सम्मिलित थे। परन्तु यह साम्राज्य चिरस्थायी न रह सका। उसकी मृत्यु के पश्चात् कोई ऐसा योग्य शासक न हुआ जो इस विशाल साम्राज्य को संगठित रख सकता। परिणाम यह हुआ कि सिकंदर की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण साम्राज्य उसके सेनापतियों में विभक्त हो गया और कुछ काल पश्चात् इस साम्राज्य का अन्त हो गया।

ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व इटली में रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई। लगभग २५ वर्ष तक रोमन साम्राज्य की वृद्धि होती रही और रोम वालों ने अपनी सैनिक शक्ति तथा शासन व्यवस्था को संगठित करके मध्य सागर के तटवर्तीय देशों में रोमन साम्राज्य की स्थापना की। रोम वालों का साम्राज्य लगभग ६०० वर्ष तक स्थापित रहा। रोमन लोगों ने अपने साम्राज्य की बड़ी उन्नति की। उन्होंने अपने साम्राज्य में बड़ी अच्छी सड़कें बनवायीं और एक समुचित विधि-व्यवस्था स्थापित की जो आज तक विद्यमान है। रोमन-विधि (Roman Law) आधुनिक काल में भी संसार में प्रसिद्ध है। रोमन साम्राज्य अपनी सबसे उन्नत दशा में सार्वभौम साम्राज्य हो गया। रोमन साम्राज्य की सीमा पश्चिम में इंगलैंड तक पहुँच गयी थी। पूर्व में इसकी सीमा लगभग भारतवर्ष की सीमा तक पहुँच गयी थी। सीज़र्स (Caesars) सम्राटों के समय में रोमन साम्राज्य ने सब प्रकार की उन्नति की। रोमन साम्राज्य में

भिन्न भिन्न प्रकार की जातियाँ तथा राष्ट्र सम्मिलित थे। रोमन साम्राज्य भी ६०० वर्ष से अधिक स्थिर न रह सका। रोमन साम्राज्य की राजनैतिक स्थिति में एक बड़ा भारी दोष यह था कि इस साम्राज्य में रोमन साम्राज्य के संपूर्ण निवासियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। लगभग ५० प्रतिशत लोग दास थे और अधिकांश नागरिकों की नैतिक दशा अच्छी न थी। अन्त में हूण तथा गॉथ (Huns and Goths) असभ्य जातियों ने जर्मनी तथा मध्य यूरोप से इटली में आक्रमण किया और रोमन साम्राज्य का अन्त किया।

रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् बहुत काल तक साम्राज्यवाद का संसार से अन्त सा हो गया था। मध्यकालीन यूरोप में साम्राज्य का ह्रास था और उस काल में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना तथा उन्नति हुई। इसके पश्चात् सन् १४९७ ईस्वी में पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा (Vasco de Gama) नामक नाविक नें भारतवर्ष का पता लगाने के लिये अपने देश से प्रस्थान किया और वह इस कार्य में सफल हुआ। पुर्तगाल निवासियों ने अफ्रीका, दक्षिणी एशिया और ब्राजील आदि देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी बीच में स्पेन ने मैक्सिको, पेरू, नेदरलैंडस आदि देशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया और यह साम्राज्य संसार में सबसे विस्तृत समझा जाने लगा और यह बात प्रसिद्ध हुई कि स्पेन साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता है। परन्तु स्पेन साम्राज्य भी बहुत समय तक स्थिर न रह सका क्योंकि स्पेन की शोषण-नीति, व्यापारिक एकाधिकार तथा धार्मिक अत्याचारों के कारण अधीन देशों में विद्रोह फैल गया और यह साम्राज्य भी छिन्न भिन्न हो गया।

१७वीं शताब्दी के आरम्भ में हॉलैण्ड वालों ने अफ्रीका, भारतवर्ष तथा दक्षिणी समुद्र के द्वीपसमूहों में अपना साम्राज्य स्थापित किया। लग-भग इसी समय में अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों ने भारतवर्ष, कैनेडा और उत्तरी अमेरिका के मध्य भाग में अपना साम्राज्य स्थापित किया। सन् १७५६ से १७६३ तक यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध में संसार में जहाँ जहाँ अंग्रेज और फ्रांसीसी थे वहाँ वहाँ वे आपस में लड़ने लगे। युद्ध का परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसी साम्राज्य का अन्त हुआ और ब्रिटिश साम्राज्य स्थायी रूप से स्थापित हो गया। परन्तु ब्रिटिश शासकों के दुर्व्यवहार के कारण अमेरिका ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् हो गया। सन् १८०४ में यूरोप में नेपोलियन ने फ्रेंच साम्राज्य की स्थापना

की। परन्तु यह साम्राज्य स्थायी न रह सका। नैपोलियन के समय में कॉसिका (Corsica) इटली, नेदरलैण्ड्स, स्पेन, नेपिल्स, स्वीटजरलैंड् आदि सब देश फ्रेंच साम्राज्य में सम्मिलित थे। फ्रेंच साम्राज्य अधिक काल तक स्थिर न रह सका और नैपोलियन के जीवन काल में ही इसका अन्त हो गया।

ब्रिटिश नौसेना की शक्ति इस समय संसार में सबसे अधिक प्रबल थी, इसी शक्ति ने फ्रेंच साम्राज्य का अन्त किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ब्रिटिश साम्राज्य की उन्नति होना आरम्भ हुआ और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक ब्रिटिश साम्राज्य संसार के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध साम्राज्य रहा है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश शक्ति का ह्रास हो गया और भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया।

सन् १८८० से १९४६ तक के समय में ब्रिटिश साम्राज्य सबसे समृद्धिशाली समझा जाता है। सन् १८८१ में मिस्र पर ब्रिटेन का अधिकार हुआ। इसी समय अफ्रीका में अन्य यूरोपीय जातियों ने सम्पूर्ण अफ्रीका को आपस में बाँटना आरम्भ कर दिया। सुदूर पूर्व में जापान ने एशिया में फैलना आरम्भ कर दिया। अमेरिका ने भी प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूहों में अपना प्रभुत्व स्थापित करना आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संसार में साम्राज्यवाद सबसे अधिक उन्नत दशा में था। चीन, भारतवर्ष, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका तथा पौलीनेशिया में, साम्राज्यवाद का बोल बाला हो गया। ऐफ० ऐस० शूमन का कथन है कि इस काल में "संसार के भूक्षेत्र का आधे से अधिक भाग और जनसंख्या का लगभग आधा भाग उपनिवेशों (colonies), रक्षित राज्यों (protectorates), नियोजित प्रदेशों (Mandates) और प्रभाव क्षेत्रों (Spheres of influence) के रूप में साम्राज्य राज्यों (Imperial States) के अधीन है।"*

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार में तीन बड़े साम्राज्य थे। उनमें सबसे विस्तृत ब्रिटिश साम्राज्य था। ब्रिटिश साम्राज्य में संसार के भूक्षेत्र का १।५ भाग और जनसंख्या का १।४ भाग सम्मिलित था। इस जनसंख्या का केवल १।६ भाग यूरोपियन जातियाँ थीं। दूसरे नम्बर का विस्तृत साम्राज्य फ्रांस का था। हालैण्ड साम्राज्य क्षेत्रफल तथा जनगणना में तीसरे नम्बर पर था।

इन साम्राज्यों के पश्चात् जापान, संयुक्त राज्य (अमेरिका), पुर्तगाल

और स्पेन का नम्बर था। परन्तु रूस की क्रांति के पश्चात् रूस के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या में बहुत वृद्धि हो गयी है। और प्रथम महायुद्ध के लगभग २० वर्ष पश्चात् अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ में क्षेत्रफल तथा जन-संख्या में रूस का ब्रिटिश साम्राज्य के पश्चात् दूसरा नम्बर हो गया था। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व संसार में साम्राज्य निम्न रूपों में स्थापित था:—

(१) रक्षित राज्यक्षेत्र (Protectorates)—इस प्रथा के अनु-सार अधीन देश के वैदेशिक तथा रक्षाविभाग प्रभुताशील देश के अधीन रहते थे तथा आन्तरिक विभागों में अर्थविभाग पर प्रभुताशील देश का अधिकार रहता था। सन् १९२८ से पूर्व मिस्र ब्रिटेन का रक्षित राज्य क्षेत्र था।

(२) अर्द्ध रक्षित राज्य-क्षेत्र (Semi-protectorates)—सन् १९२८ में ब्रिटेन ने मिस्र में स्वतंत्रता की घोषणा की थी। परन्तु वास्तव में उस समय मिस्र को पूर्ण रूप से स्वतंत्रता नहीं दी गयी थी। उस समय उसकी दशा अर्द्धरक्षित राज्यक्षेत्र की सी थी। क्योंकि उस घोषणा के अनुसार मिस्र संबंधी चार निम्नलिखित बातों पर ब्रिटेन ने अपना पूर्ण अधिकार कर रखा था :—

(क)—मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य संबंधी यातायात की रक्षा।

(ख)—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विदेशी अभिघावन (aggression) तथा हस्तक्षेप से मिस्र की रक्षा।

(ग)—मिस्र में अल्पमतों तथा वैदेशिक हितों की रक्षा तथा

(घ)—सूडान (Sudan)।

इसी प्रकार क्यूबा (Cuba) तथा हेटी (Haiti) संयुक्त राज्य अमेरिका के अधीन अर्द्धरक्षित राज्य थे।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय रक्षित राज्य क्षेत्र (International Protectorates)—सन् १९०६ की संधि द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने मिलकर अबीसीनिया (Abyssinia) को अपना रक्षित राज्यक्षेत्र बनाया था और यह निश्चय किया था कि इनमें से कोई देश अबीसीनिया पर अनुचित लालच की दृष्टि नहीं डालेगा, परन्तु वास्तव में इस संधि के अनुसार इन तीनों देशों ने अबीसीनिया पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और यह संधि केवल संसार की आँखों में धूल झोंकने के लिये थी।

---

* एफ० एल० शूमैन—इम्पीरियलिज्म एण्ड वर्ल्ड पालिटिक्स, पृष्ठ ३७४।

(४) पट्टेदारी राज्य (Leaseholds)—इस प्रथा के अनुसार प्रभुताशील देश अधीन देश को अपने राज्य का कुछ भाग एक निश्चित दीर्घ काल के लिये पट्टे पर सौंपने के लिये वाध्य करते थे। साधारणतया ९९ वर्ष के पट्टे पर भूमि लेने की प्रथा थी। वास्तव में इस प्रकार पट्टे पर प्राप्त की हुई भूमि का शासन प्रबंध प्रभुताशील देश के अधीन रहता था और केवल नाममात्र को अधीन देश का उसपर अधिकार रहता था। अथवा यों कह सकते हैं कि पट्टेदारी के समय में पट्टे पर लिया हुआ राज्यक्षेत्र प्रभुताशील देश का उपनिवेश बना रहता था। आर० एल० ब्युअल (R. L. Buell) का कथन है कि "पट्टेदारी का अन्त होने तक पट्टेदारी पर लिया हुआ राज्यक्षेत्र (प्रभुताशील देश का) उपनिवेश बना रहता है।"* सन् १८९८ में चीन ने रूस को मंचूरिया के पत्तन (वन्दरगाह) २५ वर्ष के लिये पट्टे पर दिये थे। चीन के पोर्ट आर्थर (Port Arthur) और डेरियन (Darien) पत्तनों पर जापान का पट्टेदारी अधिकार था। वीहाइ-वै (Weihaiwai) पर ब्रिटेन का पट्टेदारी अधिकार था। पनामा नहर (Panama Canal) के दोनों ओर पाँच पाँच मील की भूमि पर संयुक्त राज्य (अमेरिका) का पट्टेदारी अधिकार था।

(५) प्रभाव क्षेत्र (Spheres of Influence)—यह एक ऐसी प्रथा थी जिसके द्वारा प्रभुताशील देश किसी देश में व्यापारिक सुविधायें प्राप्त करके शनैः शनैः कालान्तर में उस पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लेता था अथवा उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलत करके उसे अपना एक प्रांत बना लेता था। साधारणतया जो देश अनुन्नत समझे जाते थे उन्हें फुसला कर सभ्य राष्ट्र उनसे व्यापारिक संधियाँ करके उनसे व्यापारिक संबंध स्थापित कर लेते थे। फिर शनैः शनैः अनुचित व्यापारिक अनुमोचन (Concessions) प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। जब उन्हें इस प्रकार की सुविधाएँ नहीं दी जाती थीं तो बलपूर्वक उनको वाध्य किया जाता था। यदि उनकी इच्छानुसार सुविधाएँ उनको न मिलती थीं तो कुछ न कुछ बहाना करके वे उनसे युद्ध करके उनका कुछ राज्य छीन लेते थे अथवा उनको अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लेते थे। अफ्रीका, एशिया, तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूहों में इस प्रकार का प्रभावक्षेत्र स्थापित करने का प्रयत्न किया गया और स्थापित भी हुआ, परन्तु सन् १९२१-२२ की वाशिंगटन कान्फ्रेंस (Washington Conference) ने चीन में इस प्रकार का प्रभाव

---

* आर० एल० ब्लुअल—इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ ४४३।

स्थापित होने से रोकने का सफल प्रयत्न किया। आर० एल० ब्युअल के मतानुसार प्रभाव क्षेत्र का अभिप्राय यह है कि जो राज्य प्रभाव क्षेत्र स्थापित करता है उसको "सब प्रकार की उत्कृष्टता (रियायत) अर्थात् ऋण देने, रेलें बनाने, खानें खोदने अथवा लोकनिर्माण (Public Works) संबंधी कार्य करने का एकाधिकार प्राप्त होता है।"† इसी प्रकार स्याम (Siam) ब्रिटेन तथा फ्रांस का प्रभाव क्षेत्र था।

(६) बहुराजकता (Condominium)—इस प्रथा के अनुसार एक निश्चित भूमि पर दो अथवा दो से अधिक देशों का अधिकार रहता है। ऐसा अधिकार इस आधार पर न्यायसंगत तथा उचित बताया जाता है कि यदि ऐसा न किया जायगा तो शक्तिशाली देश उस भूमि पर अधिकार करने के लिये आपस में युद्ध करेंगे और इस प्रकार शांति भंग होने की संभावना होगी। अतः दो अथवा दो से अधिक शक्तिशाली प्रदेश पारस्परिक संधियों द्वारा किसी भूक्षेत्र पर अपना अधिकार कर लेते हैं और अन्य देशों के हड़पने से उसकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(क) फ्रांस और ब्रिटेन का न्यू हीब्रीइड्स (New Hebrides) पर संयुक्त अधिकार।

(ख) फ्रांस, स्पेन और ब्रिटेन का मराक्को (Morocco) में टॅंजियर (Tangier) पर संयुक्त अधिकार।

(ग) ब्रिटेन और मिस्र का सूडान (Sudan) में नील (Nile) नदी पर संयुक्त अधिकार।

(७) आर्थिक नियंत्रण (Financial Control)—इस प्रथा के अनुसार एक अथवा अनेक शक्तिशाली तथा धनी राज्य किसी निर्धन अथवा आर्थिक संकट प्राप्त देश को आर्थिक सहायता देकर उसपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। आर० एल० ब्युअल का कथन है कि "अनेक ऐसे उदाहरण हैं कि पूंजीपति देश अपने सरकारी अधिकारियों द्वारा अथवा अपने देश के महाजनों (Bankers) के प्रतिनिधियों द्वारा स्वतंत्र अनुन्नत देशों के शासनों के भू कर (Revenue) तथा व्यय का नियंत्रण करते हैं।" *

(८) आयात-निर्यात-कर नियंत्रण (Tariff Control)—इस

---

† आर० एल० ब्युअल—इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ ४८७।

* पूर्व श्रोत, पृष्ठ ४५८।

प्रथा के अनुसार सभ्य कहलाने वाले शक्तिशाली देश अनुन्नतशील तथा निर्बल देश में अपनी व्यापारिक वस्तुओं का ढेर लगा देते हैं और उनको वहाँ उन देशों में बनी हुई वस्तुओं से अधिक सस्ता बेचते हैं । परिणाम यह होता है कि उन देशों की व्यापारिक उन्नति नहीं होती है और न वहाँ स्थानीय उद्योग-धंधों की भी उन्नति होती है। इस प्रकार वस्तुओं के मूल्य के रूप में वहाँ का धन शक्तिशाली देशों को चला जाता है, वे देश अनुन्नत तथा निर्धन ही रह जाते है। सन् १९११ में जापान में इस प्रकार का नियंत्रण स्थापित किया गया था। चीन, फारस, स्याम, मराक्को और टर्की में भी इस प्रकार का आयात-निर्यात-कर नियंत्रण स्थापित किया गया था। इस नियंत्रण का परिमाण यह होता था कि विदेशीय मालों पर अधिक कर नहीं लगाया जा सकता था और विदेशी व्यापारियों को खूब लाभ होता था।

(९) बहिर्देशीयता (Extra-territoriality)—इस प्रथा के अनुसार शक्तिशाली देश निर्बल देशों में अपने देश के रहनेवालों के लिये अपने ही देश के विधि-विधान लागू करते हैं और जिन विदेशी राज्यक्षेत्रों में ये लोग रहते हैं वहाँ निर्बल देशों का विधि-विधान विदेशियों पर लागू नहीं होता है। शक्तिशाली देश यह कहकर उसको अपना राजनैतिक क्षेत्र बना लेते हैं कि असभ्य तथा अनुन्नत देशों के विधि-विधानों का स्तर उनके देशों के विधि-विधानों से कहीं नीचा है इसलिये उन्हीं के विधि-विधानों द्वारा उनका नयय होना चाहिये। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का जापान पर १८९४ तक बहिर्देशीय नियंत्रण था। रूस का सन् १९२४ तक चीन पर इसी प्रकार का बहिर्देशीय अधिकार था। इस प्रकार का न्याय संबंधी अधिकार राजदूतों के न्यायालयों को था। वे अपने अधिकारों का अनुचित प्रयोग भी किया करते थे और अपने देशवासियों के ही हितों के अनुसार न्याय करते थे। कहीं कहीं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा इस प्रकार न्याय किया जाता था। ये न्यायालय भी पक्षपात से काम करते थे।

(१०) अनियमित नियंत्रण (Informal Control)—आर० ऐल० ब्युअल का मत है कि इस प्रथा के अनुसार शक्तिशाली देश भाँति भाँति के विधि-विधान-विरुद्ध अनुचित हस्तक्षेप द्वारा अनुन्नत देशों के शासन को उस समय तक स्वीकार नहीं करते जबतक उनकी कुछ अनुचित आर्थिक राजनैतिक तथा शासन संबंधी शर्तें अनुन्नत देश द्वारा स्वीकार नहीं कर ली जातीं। संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने अपनी नौसेना द्वारा निकारागुआ,

सेन्टोडोमिंगो तथा अन्य कैरिवियन स्थित द्वीपों में इस प्रकार की शर्तें बलपूर्वक मनवा कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। ब्रिटेन ने बलपूर्वक अपने वैदेशिक अर्थमंत्री फारस, मैसोपोटामिया और मिस्र में नियुक्त किये थे।

(११) मुक्त-द्वार-नीति (Open Door Policy)—इस नीति के अनुसार शक्तिशाली देश मिलकर निर्बल देश को बलपूर्वक वाध्य कर के अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिये उनसे ऐसी संधि कर लेते हैं जिसके द्वारा सब शक्तिशाली देशों को समान ब्यापार संबंधी अधिकार प्राप्त होते हैं। इस प्रकार शक्तिशाली देश निर्वल देशों से खूब व्यापारिक लाभ उठाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय जातियों ने चीन में इस नीति को प्रचलित करने के लिये उससे युद्ध किया था। इंगलैण्ड और अमरीका ने चीन में इस नीति द्वारा वहुत सी व्यापारिक सुविधायें प्राप्त की थीं।

(१२) नियोजित प्रदेश (Mandated Territory)—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९१९ में वारसाई की शान्ति सभा (Versailles Peace Conference) में सम्मिलित राष्ट्रों ने यह निश्चय किया था कि युद्ध में पराजित राज्यों से मुक्त किये हुऐ अनुन्नत उपनिवेश का शासन प्रवन्ध सभ्य तथा उन्नत विजयी राष्ट्रों को सौंप देना चाहिये। जिन देशों को यह शासन सौंपा जायगा वे अपने अपने देशों के सुशासन के लिये उत्तरदायी होंगे और जब तक शासित देश पूर्ण-रूप से स्वराज्य के योग्य न हो जायँगे तब तक उनका शासन विजयी देशों के सुपुर्द रहेगा। इस विचार से नियोजित प्रदेशों को तीन भागों में विभाजित किया गया। इन देशों का प्रवन्ध लीग आफ नेशन्स (League of Nations) को सौंपा गया और यह निश्चित किया गया कि प्रतिवर्ष शासक देश नियोजित प्रदेशों के शासन प्रवन्ध की विस्तृत रिपोर्ट लीग में प्रस्तुत किया करें। नियोजित प्रदेशों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया था। *

(अ)

नियोजित प्रदेश	क्षेत्रफल (मीलों में)	जनसंख्या	नियोजक प्रदेश
इराक	१७७,१४८	२,८४९,२८२ (१९२०)	ब्रिटेन
पैलेस्टाइन तथा ट्रान्सजॉर्डन	७०,०००	१,२९५,१५४ (१९३१)	ब्रिटेन
सीरिया तथा लेबनान	६०,०००	२,०४६,८५७ (१९२१)	फ्रांस

* एन० एल० मूर्मन—इम्पीरियलिज्म एन्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स, पृष्ठ ६१२।

(ब)

टंगानिका	३७३,४६४	४,३६३,४३८ (१६२१)	ब्रिटेन
रुग्रान्डा-उरुन्डी	२१,४२६	५,६०५,००० (१६२६)	बेल्जियम
टोगोलैण्ड (ब्रिटिश)	१३,२४०	२७५,६६८ (१६३१)	ब्रिटेन
टोगोलैण्ड (फ्रेंच)	२१,८६३	७३०,५०४ (१६३१)	फ़ांस
कैमरुन (ब्रिटिश)	३४,२३६	७,०५० (१६३०)	ब्रिटेन
कैमरुन (फ्रेंच)	१६६,४८६	१,६००,००० (१६२८)	फ्रांस

(स)

दक्षिणी-पश्चिमी-अफ्रीका	३२२,२६४	२७५,५२० (१६३०)	द० अफ्रीका
न्यूगिनी	६१,३००	४०४,४०० (१६३०)	आस्ट्रेलिया
उत्तरीय प्रसान्तशागर स्थितद्वीप समूह	८३०	६६,५६० (१६३०)	जापान
पश्चिमी सैमोआ	११३३	४४,५३५ (१६३१)	न्यूज़ीलैण्ड
नोरु	६	२,६६२ (१६३१)	ब्रिटेन

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार निम्न प्रकार से था।

ब्रिटिश साम्राज्य का क्षेत्रफल १३,२६०,००० वर्गमील था। इसकी जनसंख्या ४८,७०,००,००० थी अर्थात् संसार की सम्पूर्ण जनसंख्या का पाँचवा भाग थी। इस साम्राज्य में निम्न देश सम्मिलित थे:–

(१) ग्रेटब्रिटेन तथा उत्तरी आयर्लेंड का संयुक्त राज्य

(२) स्वयं शासित अधिराज्य–

(क) कैनेडा–इसका क्षेत्रफल ३ ६६५,००० वर्ग मील और जन-संख्या ११,२००,००० है। पहले यह देश ब्रिटेन के अधीन था। १८६७ ऐक्ट के अनुसार वहां एक राज्य-संघ स्थापित हो गया था। इसमें १० राज्य हैं।

(ख) आस्ट्रेलिया–इसका क्षेत्रफल १८,०८,६८० वर्ग मील तथा जन-संख्या ६,८००,००० है पहले यहाँ इंगलैंड के अपराधी भेजे जाते थे। शनैः शनैः यह उपनिवेश बन गया। सन् १६०१ के ऐक्ट के अनुसार यह देश भी स्वायत्त शासित अधिराज्य है। इसमें ६ राज्य सम्मिलित हैं।

(ग) न्यूज़ीलैन्ड–इसका क्षेत्रफल १०३,४०० वर्गमील है। इसकी जन-संख्या १,६००,००० है।

(घ) दक्षिणी अफ़्रीका–इसका क्षेत्रफल ४,७२,००० वर्ग मील तथा जन-

संख्या ६,६००,००० है। इसमें २०,००,००० यूरोपियन हैं। ५८ प्रतिशत जन संख्या हब्शियों की है। अन्य लोग भिन्न भिन्न यूरोपियन जातियों के हैं।

(ङ) उत्तरी आयलैंड–इसका क्षेत्रफल ५,२०० वर्गमील तथा जन-संख्या १,३००,००० है।

(३) औपनिवेशिक तथा अधीन साम्राज्य:–

(क) ब्रह्मा–इसका क्षेत्रफल २६२,००० वर्गमील तथा जन-संख्या १५,०००,००० थी। सन् १९३५ से पूर्व यह भारतवर्ष में सम्मिलित था परन्तु सन् १९३५ से यह भारतवर्ष से पृथक् कर दिया गया था।

(ख) भारतवर्ष–इसका क्षेत्रफल १,८०८,६८० वर्गमील तथा जन-संख्या ३७५,०००,००० थी।

ब्रह्मा तथा भारतवर्ष अब जनतन्त्र राज्य हैं।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अन्य योरोपीय साम्राज्यों का व्योरा मिम्न प्रकार से था:–

(१) फ्रेंच साम्राज्य—इसमें उत्तरी तथा मध्य अफ्रीका का बहुत बड़ा भाग, दक्षिणी चीन और दक्षिणी अमरीका का मध्यवर्तीय बहुत बड़ा भाग, भारतवर्ष का बहुत थोड़ा-सा भाग तथा मैडगास्कर सम्मिलित थे।

(२) डच साम्राज्य–इसमें ईस्ट इंडियन द्वीप समूह, जावा, सुमात्रा तथा एशिया और दक्षिणा अमेरिका के कुछ भाग सम्मिलित थे।

(३) इटालियन साम्राज्य—इसमें उत्तरी अफ्रीका में लीबिया, (Rhodes), ईजियन द्वीपसमूह तथा डैलमैटिया के कुछ नगर सम्मिलित थे।

(४) स्पेनिश साम्राज्य–आधुनिक काल के आरम्भ में स्पेन का साम्राज्य बहुत बड़ा था। इसके लिये कहावत प्रचलित थी कि स्पेन के साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता है। परन्तु द्वितीय युद्ध से पूर्व इस साम्राज्य में केवल पश्चिमोत्तर अफ्रीका सम्मिलित था।

(५) पोर्चुगीज साम्राज्य—इसमें दक्षिणी अफ्रीका का कुछ भाग सम्मिलित है।

(६) डेनिश साम्राज्य—डेनमार्क के साम्राज्य में ग्रीनलैंड तथा आइसलैंड सम्मिलित थे।

(७) संयुक्त राज्य (अमेरिका) का साम्राज्य—इसमें हवाई, फिलीपाइन्स, ऐलास्का तथा प्रशान्त महासागर स्थित कुछ द्वीप सम्मिलित थे।

(८) जापानी साम्राज्य—इसमें फारमोसा, कोरिया, सखालीन का कुछ भाग, मंचूरिया, जेहोल, मंगोलिया का कुछ भाग, तथा उत्तरी-चीन सम्मिलित थे।

साम्राज्यवाद की आलोचना—सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि साम्राज्यवाद संकुचित ग्रामीण राजनीति का अन्त करके सार्वभौम नागरिकता तथा विश्वबन्धुता के भावों को फैलाता है। परन्तु बहुत कम लोग ऐसे हैं जिनके ऐसे विचार हैं। अधिकतर लोगों का यही विश्वास है कि साम्राज्यवाद का ध्येय प्रतियोगितावाद तथा शोषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बड़े-बड़े विस्तृत साम्राज्य प्रभुताशील देशों के हितों की पूर्ति के लिये ही स्थापित किये गये हैं। साम्राज्यवाद का आरम्भ सामुद्रिक डकैती तथा दास-वाणिज्य के रूप में हुआ था। बार्न्स (Barnes) का कथन है कि यही बात ब्रिटिश साम्राज्य की आधारशिला थी।† साम्राज्यवाद के समर्थकों का यह कहना है कि असभ्य तथा पिछड़ी जातियों को सभ्य तथा उन्नतशील बनाने के लिये साम्राज्यवाद स्थापित किया गया है। परन्तु यह उद्देश्य मुख्य नहीं है। यह तो गौण उद्देश्य है। साम्राज्यवाद का मुख्य उद्देश्य वास्तव में अधीन देश से पूर्ण आर्थिक, व्यापारिक तथा युद्ध के समय में धन जन सम्बन्धी लाभ उठाना है। यह घोषित करना कि साम्राज्यवाद लोक के लिये स्थापित किया जाता है अथवा शासितों को शिक्षित, उन्नत तथा सभ्य बनाने को किया जाता है, असत्य तथा निर्मूल है। साम्राज्यवाद का मुख्य उद्देश्य आर्थिक लाभ और गौण उद्देश्य राजनैतिक अधिकार है। वास्तव में हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जिन राज्यों पर साम्राज्य स्थापित किया गया उन राज्यों के लोगों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक तथा राजनैतिक, किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं हुई। अधीन देशों में प्रभुताशील देशों ने जो जो सुधार किये वे सब अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये ही किये थे। प्रत्येक सुधार में इसी बात का ध्यान प्रभुताशील देश रखता है कि मुख्यतः उसी के हितों की पूर्ति हो; यदि अधीन देश की भलाई हो जाती है तो वह तो वह गौण रूप से होती है। साम्राज्यवाद ही संसार में महायुद्धों का कारण बना है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने अन्य साम्राज्यों की देखा-देखी अपने अपने साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया अथवा साम्राज्यवाद का नाश करने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि युद्ध हुए जिनमें अगण्य लोग स्वाहा हो गये और बहुत धन तथा सम्पत्ति का

---

† आर० ऐल० बार्न्स—दी ड्यूटी आफ ऐम्पायर, पृष्ठ ११

नाश हुआ। इसमें संदेह नहीं कि एक अफ्रीका का उदाहरण अवश्य ऐसा है जिसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वहाँ साम्राज्य की स्थापना से बड़ी उन्नति हुई है। वहाँ बहुत-सी कुरीतियों का अन्त किया गया है। परन्तु यह सुधार भी साम्राज्यवाद में गौण स्थान रखते हैं। साम्राज्य कभी इस उद्देश्य से स्थापित नहीं किया गया था कि अफ्रीका में इस प्रकार के सुधार किये जायँगे। व्यापार तथा दास वाणिज्य ही वहाँ साम्राज्य स्थापित करने के मुख्य कारण थे। इनकी पूर्ति के लिये वहाँ शान्ति स्थापित रखना अत्यन्त आवश्यक था, अतः ये सुधार भी स्वार्थ की पूर्ति के साधन मात्र थे। साम्राज्य-वादियों ने अधीन देशों में जो जो अत्याचार किये हैं वे सब इन साम्राज्यों का इतिहास पढ़ने से विदित होते हैं। साम्राज्यवाद किसी भी रूप में जनता का हितू नहीं हो सकता है।

हालैन्ड ने डच ईस्ट इन्डीज़ में अपनी भाषा, धर्म तथा संस्कृति का प्रचार किया। कांगो में बेलिजयन्स ने जो अत्याचार किये वे सब को विदित हैं। ऊष्ण कटिबन्ध स्थित अनेक देशों में प्रतिज्ञावद्ध श्रमिक प्रथा (Indentured Labour) द्वारा दासता का प्रचार था। दक्षिणी अफ्रीका तथा केन्या में थोड़े से श्वेतवर्ण के लोगों ने एक बहुत बड़ा भू-क्षेत्र अपने अधिकार में कर रखा था। दक्षिणी अफ्रीका के हब्शियों में श्वेतवर्ण के लोगों के विषय में एक कहावत प्रचलित है। वे श्वेतवर्ण के लोगों के विषय में यह कहा करते हैं कि "जब श्वेत वर्ण के लोग यहां पहले पहल आये तो उनके पास बाइबिल और हमारे पास भूमि थी परन्तु अब हमारे हाथ में बाइबिल और उनके हाथ में भूमि है।" बार्न्स ने लिखा है कि अफ्रीका में खानवाले प्रदेशों में हब्शियों की दशा बिल्कुल दासों की सी है। जिन स्थानों में वहाँ के निवासी रहते हैं उन स्थानों की दशा कारागार की सी है। श्वेतवर्ण के लोगों को हब्शियों से आठगुनी अधिक मजदूरी मिलती है और उनसे कम कार्य करते हैं। श्रम सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करने पर उनको (हब्शियों को) अधिक कठोर दंड मिलता है और अधिक अर्थ-दंड देना पड़ता है। बार्न्स का कथन है कि 'मानों के भेद-भाव ने दासता की प्रथा को अनावश्यक बना दिया है, क्योंकि वहां 'दासता की प्रथा' के नाम के अतिरिक्त अन्य सब बातें दासता की विद्यमान हैं।"† इस लेखक ने यह भी लिखा है कि हब्शियों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया जाता है, अनुबन्ध का उल्लंघन करने पर अठारह वर्ष से कम के श्रमिक को अन्य दण्डों के अतिरिक्त बेंत भी लगाये

† एन० बार्न्स—दी ड्यूटी आफ़ ऐम्पायर, पृष्ठ २५२।

जाते हैं। लियोनार्ड वुल्फ (Leonard Woolf) का कथन है कि सन् १९२४ में केन्या सरकार ने बीस लाख पौंड भूकर आय में से ४४,००० पौंड कारावासों पर व्यय किया और ३७,००० पौंड शिक्षा पर व्यय किया। वहाँ की सरकार की नीति यह है कि २,५००,००० हब्शी तथा ३६,००० एशिया निवासियों की जन-संख्या से १०,००० यूरोप निवासियों के लाभ के लिये कार्य लिया जाता है। एक बार मिश्र के विषय में व्याख्यान देते हुए रशदी पाशा (Rushdi Pasha) ने यह कहा था कि "ब्रिटिश लोग जान बूझकर मिश्र निवासियों को शिक्षा से वंचित रखते हैं और संसार में यह घोषित करते हैं कि हम स्वराज्य के अयोग्य हैं।" पारकर मून (Parker Moon) का कथन है कि "कांगो सरकार ने सन् १९२३ में अपने कुल आय व्यय (Budget) का केवल एक प्रतिशत शिक्षा पर व्यय किया था"।*

जब भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत था उस समय इस देश का भी ब्रिटिश लोगों ने कुछ कम शोषण नहीं किया। पारकर मून ने लिखा है कि "ब्रिटिश लोगों का भारतवर्ष में पदार्पण करने तथा वहाँ स्थापित होने का यह कारण है कि वे भारतवर्ष को लाभ पहुँचाना नहीं चाहते थे बल्कि ब्रिटेन को।" महात्मा गांधी ने एक बार अपने भाषण में कहा था कि "विधान द्वारा स्थापित ब्रिटिश शासन जनसाधारण का शोषण कर रहा है और कोई युक्त्याभास अथवा हाथ की सफाई (जादूगरी) ग्रामों में दिखाई देने वाले अस्थिपंजरों के कारण के विषय में आँखों में धूल नहीं झोंक सकती है।" निर्धनता के अतिरिक्त भारतवर्ष में उस समय केवल सात प्रतिशत जन-संख्या शिक्षित थी। यही दशा अन्य लोकहित संबंधी बातों की थी। भारतवर्ष की भूकर आय का बहुत बड़ा भाग सेना, पुलिस तथा कारावासों पर व्यय किया जाता था। यहाँ की आय का बहुत बड़ा भाग भारतवर्ष की सेवा से अवसर प्राप्त सिविल सर्विस के अफसरों को पेन्शन के रूप में दिया जाता था। व्यापार तथा उद्योग-धंधे सम्बन्धी ऐसे विधान बनाये जाते थे जिन से भारत का हित न होकर इंगलैण्ड का हित हो। यातायात कर लगाने में भी इसी बात का ध्यान रखा जाता था कि केवल ब्रिटिश लोगों की ही हितपूर्ति हो। ब्रिटिश साम्राज्य काल में सम्पूर्ण नीति भारतवर्ष में ब्रिटिशों की हित-पूर्ति के लिये ही थी।

---

* ऐल० बार्न्स—दी ड्यूटी आफ ऐम्पायर, पृष्ठ २५२।

"संयुक्त राज्य (अमेरिका) में १००० में २०० विद्यार्थी विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते हैं इसी प्रकार १००० में हवाई द्वीपों में १७५, फिलीपाइन्स में १२०, मडगास्कर और युगान्डा में ४०, डच ईस्ट इन्डीज़ और ब्रिटिश भारत मे ३८, हेटी में ३७, ट्यूनिस में २८, बेलजियन कांगों में २६, कोरिया में २० फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका तथा फ्रेंच कैमरून में ३, और पुर्तगीज ऐंगोला में १।† शूमैन का कथन है कि अनुन्नत तथा पिछड़ी हुई जातियों ने सभ्यता तथा ज्ञान की अपेक्षा श्वेतवर्ण के लोगों से संकट अधिक पाये हैं। उनका आर्थिक शोषण अधिक किया गया है और उनकी उन्नति नहीं हुई है।

वास्तव में किसी जाति को दूसरी जाति पर शासन करने का अधिकार नहीं है। साम्राज्यवादियों का ही यह सिद्धान्त है कि असभ्य जाति पर सभ्य जाति का शासन करने तथा उनकी उन्नति करने का अधिकार है। क्या संसार की सभ्य जातियों ने असभ्य जातियों का उद्धार करने का ठेका लिया है?

शूमैन का कथन है कि जब अधीन देश साम्राज्यवादी प्रभुताशील देशों के विरुद्ध स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये आग्रहपूर्वक लगातार अत्यन्त प्रयत्न करते हैं तो साम्राज्यवादी देश अधीन देश के प्रति निम्ननीति का प्रयोग करता है:—

१—अधीन देश के विरोध को कम करने के लिये प्रभुताशील देश उसे निर्बल बनाने का प्रयत्न करता है और बलपूर्वक विरोध को दबाता है।

२—अधीन देश के लोगों को भक्त बनाने के लिये वह उनको शिक्षा देता है, अनुनय करता है और दबाता है।

३—अधीन देश की भाषा, संस्कृति, आचार विचारों के स्थान पर अपने देश की भाषा, संस्कृति तथा आचार विचारों का प्रचार करता है।

४—अधीन देश के शासन को ऐसा बनाने का प्रयत्न करता है जो देखने में ऐसा प्रतीत हो कि वह जनतंत्रीय शासन है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता।

५—शासन स्थानीय लोगों के हाथ में होता है परन्तु उसमें इतने प्रतिबन्ध होते हैं कि प्रभुताशील देश अपनी इच्छानुसार ही शासन करता है और अधीन देश के लोगों को कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं होती है।

६—औपनिवेशिक शासन का प्रतिनिधित्व वहां के निवासी ऐसे राजा

---

† ऐफ० ऐल० शूमैन इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ ५९१।

महाराजाओं से कराया जाता है जो प्रभुताशील शासन के अत्यन्त भक्त होते हैं और उसीकी इच्छानुसार कार्य करते हैं।

७—इस बात का भी पूर्ण ध्यान रखा जाता है कि अधीन देश में कभी विधानमंडल का पूर्ण अधिकार कार्यकारिणी पर न हो जाय जिससे वह मनमानी कार्य उससे करा सके। अतः कार्यकारिणी को विधानमंडल से पृथक् तथा उससे स्वतंत्र रखा जाता है।

८—जब प्रभुताशील देश देखता है कि अधीन देश अत्यन्त शक्तिशाली हो गया है, और उस पर अधिक शासन करना असम्भव है तो वह बिना युद्ध किये चुपके से उसे छोड़कर भाग जाता है और उसे बड़ी सरलता से स्वतंत्र कर देता है जैसा कि ब्रिटेन ने भारतवर्ष में किया।

शूमैन ने ठीक कहा है कि जब तक अधीन देश निर्बल होता है और प्रभुताशील देश का विरोध पूर्ण रूप से नहीं कर सकता तब तक प्रभुताशील देश उस पर अत्याचार करता है और उसे कुचलने का प्रयत्न करता है, अपनी शक्ति को पूर्ण रूप से दिखाता है और उसे अधिकाधिक शासन की श्रृंखलाओं में जकड़ने के प्रयत्न करता है; अधीन देश के निवासियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से फूट डालने का प्रयत्न करता है और उनकी किसी प्रकार की उन्नति नहीं होने देता। एकबार वारसेस्टर के डीन (Dean of Worcestor) ने भारतवर्ष के विषय में भाषण देते हुए यह कहा था कि "आओ भारतवर्ष की कठिनाइयों के कारण का अवलोकन करें। वास्तव में हमारे शासन ने भारतवर्ष को बड़ा लाभ पहुँचवाया है। हमने बहुत काल तक लड़ाई झगड़ों को रोक कर वहाँ शान्ति स्थापित रखी है, हमने रेलें चलाई हैं। हमने अकाल में सहायता की है। हमने स्वास्थ्य की उन्नति की है। हमने उर्वरता की वृद्धि की है........हमने भारतवर्ष की भौतिक आवश्यकताओं के लिये बहुत कुछ किया है परन्तु हमने भारतवासियों के प्रेम को प्राप्त नहीं किया है। ऐसा क्यों नहीं किया है? क्योंकि हमने भारतवासियों की आत्मा को कष्ट पहुँचाया है"। नॉरमन टॉमस (Norman Thomas) नामक एक प्रसिद्ध समाजवादी नेता ने (जो संयुक्त राज्य अमेरिका का निवासी था) एकबार कटाक्ष में यह कहा था "बहुत से मनुष्य ६ फुट भूमि (जिसमें उन्हें अन्त में सोना है) के बाहर गर्व से इस कारण फूले नहीं समाते कि उनके पास एक साम्राज्य है।" प्रोफेसर हाकिंग (Prof. Hocking) का कथन है कि पाश्चात्य देशवासियों का यह विचार है कि जो बातें हमारे लिये अच्छी हैं

वह हरएक के लिये भी अच्छी हैं। अज्ञानतावश वह बहुत सी वस्तुओं का नाश कर देते हैं। अरब का उदाहरण देते हुए हाकिंग ने बतलाया है कि पश्चिम ने अरब वालों की संस्कृति का नाश किया है। पश्चिम के यह देखने के लिये आँखें नहीं हैं कि 'श्रेष्ठ जीवन, श्रेष्ठ विचार तथा भाषा, शिष्टाचार, आवभगत, बातचीत, भावुक कविता तथा आध्यात्मिकता में पूर्व आगे बढ़ा हुआ है।"

साम्राज्यवादी प्रभुताशील देश को भी अधीन देश से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। लीबिया के विषय में शूमैस ने लिखा है कि "औपनिवेशक अधिकारों का लीबिया एक पूर्ण उदाहरण है। कूटनीतिक शक्ति तथा गौरव के कारण प्रभुताशील देश के करदाताओं के सहारे उसपर अधिकार स्थापित कर रखा है। इससे संपूर्ण राष्ट्र (देश) को किसी प्रकार का आर्थिक लाभ नही है और जिन पूंजीपतियों तथा बड़े व्यक्तियों ने इसमें धन लगा रखा है उन्हें भी साधारण ही लाभ है।* आर्थिक लाभ कभी संपूर्ण राष्ट्र को नहीं हुआ करता है वह तो केवल थोड़े से पूंजीपतियों को ही होता है। पी० टी० मून (P. T. Moon) का कथन है कि "किसी औद्योगिक साम्राज्य ने जो उपनिवेश प्राप्त किये हैं उनमें (वस्तुओं की खपत के लिये) सब से बड़ा बाज़ार है" † तिस पर भी इंगलैंड की साधारण जनता को कोई विशेष लाभ नहीं है। लियोनार्ड बार्न्स (Leonard Barnes) का कथन है कि "वास्तव में उपनिवेश वर्गीय वित्त (class assets) हैं जो ऐसे व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते हैं जैसे पूंजी लगानेवाले तथा वस्तु-निर्माण करने वाले, परन्तु मजदूर जैसों को हानिकारक है। ‡

वास्तव में साम्राज्य से प्रभुताशील देश को हानि ही है, लाभ नहीं है। उपनिवेशों में उनकी रक्षा के लिए सेना रखनी पड़ती है। धन से सहायता करनी पड़ती है। प्रभुताशील देश की साधारण जनता को औपनिवेशिक व्यय का भार उठाना पड़ता है। जनता को अधिक कर देना पड़ता है। बड़े-बड़े पूंजीपतियों तथा उच्च शासन सम्बन्धी कर्मचारियों को ही इससे लाभ होता है। यह कहना कि बढ़ती हुई जन-संख्या को खपाने के लिये उपनिवेश आवश्यक है, निर्मूल है। उपनिवेश जन संख्या की वृद्धि की समस्या को हल नहीं कर सकता है। प्रभुताशील देश अधीन देश का वास्तव में सब प्रकार से

* एफ० एल० शूमेन—इन्टरनेशनल पालिटिक्स, पृष्ठ ४०६।

† पी० टी० मून—इम्पीरिअलिज्म एन्ड वर्ल्ड पालिटिक्स, पृष्ठ ५२०।

‡ एल० बार्न्स—फ्यूचर आफ कालोनीज, पृष्ठ ११।

शोषण ही करता है। अपने व्यापार की उन्नति करने के निमित्त अधीन देश के लिये अहितकर विधि-विधान बनाता है। प्रभुताशील देश सदैव अपने स्वार्थ के दृष्टिकोण से ही अधीन देश को देखता है और सब प्रकार उसका शोषण करके उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। प्रभुताशील देश के निवासी अपने को श्रेष्ठ समझते हैं और अधीन देश के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। बार्न्स का मत है कि "यह कहना सत्य तथा उचित है कि वर्तमान विशेषाधिकार प्राप्त दशा में ब्रिटेन का साम्राज्याधिकार शान्ति के लिये अक्षम्यणीय है।" लियोनार्ड बार्न्स के मतानुसार ब्रिटिश साम्राज्य का उद्देश्य निम्नलिखित है:—

(क) सब सदस्य राज्यों में शान्ति स्थापित रखना।

(ख) बाह्य अभिधावन के विरुद्ध रक्षा के लिये सहयोग की योजना।

(ग) सब सदस्य राज्यों के लिये व्यक्तिगत आर्थिक तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता। बार्न्स के ये सिद्धान्त अधीन राज्यों के लिये लागू नहीं हैं। ये केवल स्वयं शासित उपनिवेशों के सम्बन्ध में ठीक समझे जा सकते हैं।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व साम्राज्यवाद का बोलबाला था। संसार में वह दृढ़ता से स्थापित था। कोई नहीं जानता था कि कभी ऐसी भी लहर आ सकती है कि जो साम्राज्यवाद की जड़ को हिला सकती है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संसार में राजनीतिज्ञों के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया है। शोषक तथा शोषितों में भेदभाव बढ़ता चला जा रहा है। संसार साम्यवाद की ओर बड़ी शीघ्रता से बढ़ा चला जा रहा है। कोई नहीं कह सकता कि इन विचारों की लहर कहाँ जाकर रुकेगी। यूरोप तथा एशिया का बहुत बड़ा भाग साम्यवाद से प्रभावित हो चुका है। एटम बम तथा हाइड्रोजन बम संसार को भय से कम्पायमान कर रहे हैं। वास्तव में आधुनिक काल एक नवीन प्रकार के साम्राज्यवाद के आगमन की ओर ध्यान आकर्षित कर रहा है। यह साम्यवादी साम्राज्यवाद के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य (अमेरिका) इस लहर को रोकने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। अब देखना यह है कि इस कार्य में इन राष्ट्रों को कहाँ तक सफलता प्राप्त होती है। दूसरी ओर रूसी साम्यवादी साम्राज्य के विचारों की लहर बड़ी शीघ्रता से फैलती चली जा रही है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'दूर के ढोल सोहावने लगते हैं'।

---

* ल्यूनार्ड बार्न्स—फ्यूचर आफ कोलोनीज़, पृष्ठ २१-२२।

"संसार की साधारण जनता इस प्रकार के विचारों से बड़ी शीघ्रता के साथ प्रभावित होती चली जा रही है। संसार के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ शान्ति के लिय चिल्ला रहे हैं। शान्ति स्थापित रखने के लिये ये लोकसंहारी विस्फोटक पदार्थों के निर्माण में लगे हुए हैं। अभी ठीक ठीक यह ज्ञान नहीं हुआ है कि ये प्रलयकारी विस्फोटक पदार्थ किस राष्ट्र के पास अधिक संख्या अथवा अधिक मात्रा में हैं। इसीलिये राष्ट्र एक दूसरे से भयभीत हैं और इसी कारण अभी शान्ति स्थापित है। जिस दिन किसी राष्ट्र को यह पता चल गया कि हमारे पास अन्य राष्ट्रों से अधिक इस प्रकार की वस्तुएँ एकत्र हो गई हैं, उसी समय तृतीय महायुद्ध आरम्भ होने की सम्भावना हो जायगी और संसार के बहुत बड़े भाग में प्रलय जैसा विनाश होगा।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए:--

एफ० एल० शूमैन – इन्टरनेशनल पालिटिक्स।
डब्यू० ई० हॉकिंग– स्पिरिट आफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स।
पी० टी० मून - इम्पीरियलिज़्म ऐण्ड वर्ल्ड पालिटिक्स।
ल्यूनार्ड वुल्फ--इम्पीरियलिज़्म ऐण्ड सिविलीज़ेशन।
एम० ई० जिमर्न—थर्ड ब्रिटिश ऐम्पायर।
ल्यूनार्ड वार्न्स--ड्यूटी आफ ऐम्पायर।
ल्यूनार्ड वार्न्स—फ्यूचर आफ कॉलोनीज़।
एच० ए० गिवन्स—इन्ट्रोडक्शन टु वर्ल्ड पालिटिक्स।
जे० ए० हाव्सन--इम्पीरियलिज़्म, ए स्टडी।
सर जार्ज कार्नवाल लुइस—एसे आन दी गवर्नमेंट आफ डिपेन्डेन्सीज़।